अच्युत-ग्रन्थमालायाः (ख) विभागे प्रथमं प्रसूनम्

खण्डनखण्डखाद्य

कवितार्किकचूडामणि-श्रीहर्षप्रणीतम्

स्वर्गीय-पण्डित-श्रीचण्डीप्रसादसुकुल-

विरचित-भाषानुवादयुतम्

श्रीअच्युत-ग्रन्थमालाध्यक्षेण पं० श्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रि-साहित्याचार्येण

पं० श्रीगोविन्द-नरहरि-वैजापुरकर एम० ए० न्याय-वेदान्ताचार्येण च

सम्पादितम्

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालयः, काशी

खण्डनकार श्रीहर्ष

श्रीशङ्कर और श्रीसुरेश्वराचार्य के बाद वेदान्त-दर्शन के नये युग के प्रकरण-ग्रन्थ-लेखकों में एकमात्र खण्डन-खण्डखाद्यकार श्रीहर्ष का ही नाम लिया जा सकता है। मध्यकाल में टीका-टिप्पणी का ही युग चला। जिस प्रकार निर्भ्रान्त रूप से यह कहा जाता है कि श्रीउदयनाचार्य ने अपनी असाधारण प्रतिभा और ग्रन्थ-रचना-कौशल से द्वैतवादी न्यायमत को सर्वथा परिपुष्ट कर दिया, उसी प्रकार यह भी कहने में कोई अनौचित्य नहीं कि खण्डनकार ने द्वैतमत का जितना जबर्दस्त खण्डन किया, उतना और किसीने नहीं! श्रीचित्सुख, मधुसूदन, ब्रह्मानन्द आदि परवर्ती सुख्यात द्वैतभंजक ग्रन्थकारों ने खण्डनकार द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही अनुसरण किया है। इस तरह श्रीहर्ष दार्शनिक क्षेत्र में, विशेषकर अद्वैत वेदान्त-दर्शन के क्षेत्र में अपने युग के एक युगपुरुष ही कहे जा सकते हैं। साहित्य-क्षेत्र में भी 'नैषधीय-चरित' नामक महाकाव्य रचकर आपने तर्ककर्कश दार्शनिकता के साथ अपनी नवनीत-कोमल सहृदयता भी स्पष्ट कर दी। यह तो निश्चित ही है कि 'खण्डन'कार और 'नैषध'कार एक ही श्रीहर्ष हैं।

काल-निर्णय

ऐसे महान् विद्वान् के काल और चरित्र के विषय में जिज्ञासा का होना स्वाभाविक ही है। वैसे संस्कृत-साहित्य में श्रीहर्ष नाम के अनेक विद्वान् और कवि हुए हैं। जैसे: १. स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज के प्रसिद्ध सम्राट् 'हर्षवर्धन', जिन्होंने 'नागानन्द', 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' नाटिका लिखी हैं। २. श्रीकल्हण की 'राजतरङ्गिणी' (७।६११) में कथित एक सत्कवि। ३. भरत के 'नाट्यशास्त्र' के वार्तिककार, जो अभिनव गुप्त से भी पूर्व के हैं। किन्तु ये सभी १० वीं शताब्दी के पूर्व के हैं। ये 'लक्षणावली' (६८४-८५ ई०) लिखनेवाले श्रीउदयनाचार्य के खण्डनकर्ता श्रीहर्ष कभी नहीं हो सकते।

खण्डनकार श्रीहर्ष ने 'खण्डन' और 'नैषध' में स्वयं अपना कुछ परिचय दिया है। जैन-कवि राजशेखर ने अपने 'प्रबन्ध-कोश' (१३४८ ई०) में ग्रन्थकार के उन्हीं परिचयों को दुहराते हुए कान्यकुब्जेश्वर श्रीजयचन्द्र—जयन्तचन्द्र—को उनका आश्रयदाता बताया है। श्रीचाण्डू पण्डित ने भी 'नैषध-दीपिका' में इनका परिचय दिया है। दोनों परिचय बहुत कुछ मिलते हैं। इन जयचन्द्र का राज्यकाल ११६६ से ११६३ ई० माना गया है। ये कान्यकुब्ज देश के गाहडवाडवंशीय अन्तिम राजा हुए, जिन्हें ११६३ ई० में

मुसलमानों ने जीतकर अपदस्थ कर दिया। श्रीजयचन्द्र का ११८६ ई० का एक दानपत्र भी मिलता है[1]। उससे उनका काल स्पष्ट निर्णीत हो जाता है। कहा जाता है कि श्रीहर्ष 'ब्रह्मविद्याभरण' के लेखक श्रीअद्वैतानन्द के समकालीन थे, जिनका समय ११६६–६६ ई० बताया जाता है। नव्यन्याय के प्रवर्तक श्रीगङ्गेशोपाध्याय ने भी कहा है कि 'एतेन खण्डनकारमतमपास्तम्', जिनका समय ईसा की १३ वीं शती बताया जाता है। यह सब देखते हुए खण्डनकार का समय ईसा की १२ वीं शती का उत्तरार्ध सिद्ध होता है।

पाश्चात्य विद्वान् बूलर ने श्री श्रीहर्ष का यही काल (११६६ से ११६३ ई०) माना है। किन्तु श्री के. टी. तैलङ्ग इसे नहीं मानते। वे श्रीहर्ष को ६वीं या १० वीं शती का मानते हैं। बूलर के मत के खण्डन में वे तीन तर्क देते हैं : १. नैषध का उद्धरण भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में मिलता है। २. वाचस्पति मिश्र ने ११ वीं सदी में 'खण्डनोद्धार' लिखकर खण्डन का खण्डन किया है। और ३. सायणमाधव ने 'शंकर-दिग्विजय' में श्रीहर्ष को श्रीशंकराचार्य के समकालीन (७८८–८५० ई०) बताया है। किन्तु बूलर ने इनके इन तर्कों का खण्डन भी कर दिया है। वे कहते हैं कि 'सरस्वती-कण्ठाभरण' का काल निश्चित नहीं है और उसमें दिये गये उद्धरण भी सही नहीं। दूसरे तर्क के बारे में वे कहते हैं कि 'खण्डनोद्धार' के लेखक वाचस्पति षड्दर्शनों के टीकाकार वाचस्पति से भिन्न कोई नये वाचस्पति हैं। काशी के पण्डितों का भी यही विश्वास है। कारण वाचस्पति मिश्र ने अपने 'न्यायसूची-निबन्ध' में कहा है कि मैंने इसे विक्रम संवत् ८६८ (८४१ ई०) में रचा है[2]। तीसरे तर्क के बारे में बूलर कहते हैं कि सायण-माधव का वक्तव्य ऐतिहासिक विश्वसनीय नहीं है। कारण उन्होंने शङ्कर, बाण आदि को, जिनका परस्पर भिन्नकालिक होना निश्चित है, वहाँ एक साथ

---

१. "सोऽयं श्रीमज्जयन्तचन्द्रो विजयी अधिकारिपुरुषानाज्ञापयति बोधयत्यादिशति च 'विदितमस्तु भवतां यथोपरिलिखितैग्रामः सजलस्थलः सलोहलवणाकरः समत्स्याकरः सगर्तोषरः सगिरिगहननिधानः, समधुकाम्रवनवाटिकाविटपतृणयूतिगोचरपर्यन्तः सोर्ध्वाधश्चतुराघाटविशुद्धः स्वसीमापर्यन्तास्त्रिचत्वारिंशदधिकद्वादशशतवत्सर आषाढे मासि शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ रविदिने (अङ्कतोऽपि १२४३ आषाढ शुदि रवौ ७ अद्येह श्रीमद्वाराणस्यां गङ्गायां स्नात्वा विधिवन्मन्त्रवदेव मुनिमनुजभूतपितृगणाँस्तर्पयित्वा तिमिरपटलपाटनपटुमहसमुष्णरोचिषमुपस्थायौषधिपतिशकलशेखरं समभ्यर्च्य त्रिभुवनत्रातुर्भगवतो वासुदेवस्य पूजां विधाय प्रचुरपायसेन हविषा हविर्भुजं हुत्वा मातापित्रोरात्मनश्च पुण्ययशोऽभिवृद्धयेऽस्माभिर्गोकर्णकुशलतापूतकरतलोदकपूर्वं भारद्वाजगोत्राय भारद्वाजाङ्गिरसबार्हस्पत्येति त्रिप्रवराय राउत श्रीआढले पौत्राय राउत डोड राउत श्रीअणंगाय चन्द्रार्कं यावच्छासनीकृत्य प्रदत्तो मत्वा तथादीयमानभोगकरप्रभृतिनियतानियतसमस्तदायादाज्ञाविधेयीभूय दास्यथ" इत्यादि।

२. "न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥"

ला बिठाया है। अतः तैलङ्ग का यह कहना कि श्रीहर्ष ९ वीं, १० वीं सदी के हैं, विश्वसनीय नहीं है।

कुछ लोग श्रीहर्ष को अपने पिता को हरानेवाले नैयायिक श्रीउदयनाचार्य के प्रतिशोधकर्ता बताते हुए यहाँतक कहते हैं कि स्वयं श्रीहर्ष ने उदयन को पछाड़ा। उदयनाचार्य के यह कहने पर कि 'तू निरी गाय है', श्रीहर्ष की अकाट्य और उदयन की पराजय की हेतु युक्ति के रूप में वे यह श्लोक भी प्रस्तुत करते हैं :

"किं गवि गोत्वमथागवि गोत्वं यदि गवि गोत्वं मयि नहि तत्त्वम् ।
अगवि च गोत्वं यदि भवदिष्टं भवतु भवत्यपि सम्प्रति गोत्वम्'॥"

ये लोग अपनी पुष्टि में यह तर्क भी रखते हैं कि श्रीहर्ष उदयन-मत का खण्डन करते हुए उन्हें कहीं-कहीं मध्यमपुरुष, सर्वनाम द्वारा कुछ इस प्रकार सम्बुद्ध करते हैं, मानो उनसे साक्षात् शास्त्रार्थ कर रहे हों। किन्तु ऐतिहासिक सुदृढ प्रमाणों से जब वे जयचन्द्र (११६६-११९३) के आश्रित सिद्ध हो जाते हैं, तो ९८४-८५ ई० के श्रीउदयनाचार्य से उनकी भेंट या शास्त्रार्थ का प्रश्न ही नहीं उठता; बल्कि उनके पिता को भी लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व के नैयायिक-शिरोमणि प्रसिद्ध उदयनाचार्य द्वारा हराना बुद्धि में नहीं बैठता। संभव है, प्रसिद्ध उदयन-मत के अनुयायी, पर उदयन नाम के ही कोई अन्य पण्डित हों, जिन्होंने उनके पिता को हराया हो और उसका बदला चुकाने में श्रीहर्ष ने मूलभूत उदयनमत का खण्डन किया हो। अथवा पिता के प्रति अत्यन्त भावुक श्रीहर्ष को उनके विजेता उदयन नाम से ही चिढ़ हो गयी हो और उसी चिढ़ में उन्होंने नामसाम्य से प्रसिद्ध उदयनाचार्य का भी अपनी प्रौढ़ प्रतिभा से खण्डन कर दिया हो[२]। रह गयी खण्डन में मध्यम पुरुष के प्रयोग की बात! वह तो आचार्यों की शैली है। अपने पूर्ववर्ती आचार्य के मत के विवेचन में परवर्ती आचार्य मध्यम पुरुष का प्रयोग करते ही रहते हैं—कहीं आदर में, तो कहीं उपेक्षा में। एतावता इसे समकालिकता का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। इस तरह उपर्युक्त श्लोक भी किंवदन्ती से अतिरिक्त कुछ नहीं ठहरता।

कुछ लोग श्रीहर्ष को काव्यप्रकाशकार मम्मट के समकालीन बतलाते हुए कहते हैं कि श्रीहर्ष ने 'नैषधचरित' बनाकर अपने गौरव-प्रदर्शनार्थ उसे मम्मटभट्ट को दिखलाया। मम्मट ने आद्योपान्त पढ़कर कहा कि 'अरे! यदि मुझे पहले ही यह काव्य दिखलाया जाता, तो 'काव्य-प्रकाश' के दोष-परिच्छेद में दोषोदाहरण खोजने का मेरा प्रयास बच

---

१. अर्थात् मुझे आपने गाय कहा, तो बतायें कि गोत्व गाय में ही रहता है या गाय से भिन्नमें [...]गाय में ही रहता हो, तो वह मुझ में रह नहीं सकता, तब आपने यह कैसे कहा? यदि [...] गोत्व सिद्ध करना चाहें, तो फिर वह मेरी तरह आपमें भी गोत्व निर्बाध रहेगा।

[२]. [...] नैषधकार स्वयं कहते हैं कि यदि किसी व्यक्ति का वही नाम हो, जो अपने शत्रु [...] तेजस्वी उसे सहेगा? 'नामापि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमं सहन्ते।'

जाता, अर्थात् आपके काव्य में वे सभी दोष आ गये हैं। किन्तु यह बात भी विवेचकों की बुद्धि में नहीं बैठ सकती। कारण मम्मट का काल ईसा की ११वीं सदी का उत्तरार्ध माना गया है, क्योंकि उन्होंने अभिनव गुप्त (१०१५ ई० में जीवित) और पद्मगुप्त (१०१०ई० के आस-पास) के पद्यों को उद्धृत किया है तथा एक श्लोक भोज की दानशीलता में भी लिखा है। इधर काव्यप्रकाश की सर्वप्रथम टीका 'संकेत' माणिक्यचन्द्रसूरि ने ११६० ई० में बनायी है। इस प्रकार जहाँ मम्मट ११वीं सदी के उत्तरार्ध में हैं, वहीं श्रीहर्ष जयचन्द्र के सभापण्डित के नाते १२वीं सदी के उत्तरार्ध में आते हैं। अतः बीच के सौ वर्ष का अन्तर दोनों को कैसे मिला सकता है? इसलिए यह मत भी विशेष विश्वसनीय नहीं और न इसके कारण श्रीहर्ष एक सदी पीछे ही ढकेले जा सकते हैं।

हम समझते हैं कि खण्डनकार के समय-निर्धारण में स्वयं उनकी अन्तःसाक्ष्य ही विशेष महत्त्व की होगी। उनके 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्' इस श्लोक से ऐतिहासिकों ने जहाँ उन्हें जयचन्द्र (११६६–११९३ ई०) के राजपण्डित सिद्ध कर दिया है, वहीं खण्डन में उद्धृत उनकी एक अन्य कारिका भी उनके समय पर और प्रकाश डालती है[1]। उक्त कारिका में उन्होंने 'व्यक्तिविवेक'-कार महिमभट्ट का आदर के साथ उल्लेख किया है। इन महिमभट्ट का काल ११वीं सदी का मध्यकाल है, अधिक से अधिक ११वीं सदी के आरम्भ से पूर्व तो जा ही नहीं सकता। कारण उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' में अभिनव गुप्त का उद्धरण दिया है, जिनका काल ९८० से १०२० ई० है। इधर मम्मट ने (११वीं सदी का उत्तरार्ध) उनके द्वारा उद्भावित दोषों को अपने 'काव्यप्रकाश' में उद्धृत किया है। अतः श्रीहर्ष महिम भट्ट से पूर्व (११वीं सदी से पूर्व) कभी जा ही नहीं सकते। अब तक के अन्य प्रमाणों ने भी इसी बात की पुष्टि की है।

किन्तु इस तरह निर्णीत ईसा की १२वीं सदी का उत्तरार्ध भी श्रीहर्ष का स्थूलकाल ही कहा जायगा। उसकी सूक्ष्मता में उतरें, तो उनका जीवनकाल १२ वीं सदी का प्रथम चरण और उनकी ग्रन्थ-रचना का काल १२वीं सदी के द्वितीय चरण के आस-पास मानना पड़ेगा, ऐसा दीखता है। कारण नैषध या श्रीहर्ष का सर्वप्रथम उद्धरण करनेवाले हेमचन्द्र (१०८८–११७२ ई०) के शिष्य महेन्द्र सूरि ने 'अनेकार्थ-संग्रह' की टीका में जिन-जिनके नाम उद्धृत किये हैं, प्रायः वे सभी १२ वीं सदी के मध्य के बाद के नहीं हैं।

लेकिन ऐसा मानने पर एक आपत्ति यह आती है कि राजशेखर ने कहा है कि 'जयचन्द्र के शासन-काल में (११६६ से ११९३ ई०) श्रीहर्ष ने नैषध लिखा' क्या गति होगी? तो कहना होगा कि उनका यह कथन अक्षरशः सत्य जा सकता। कारण उन्होंने ११७४ ई० में जयचन्द्र के प्रधानमन्त्री की यात्रा का वर्णन किया है और उस यात्रा के पूर्व ही श्रीहर्ष की काश्मीर

१. 'दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने।
काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमादृत॥' (खण्डन, ४ परि०)

उल्लेख किया है। तथ्य यह है कि श्रीहर्ष नैषध लेकर ही काश्मीर गये थे। अतः उसकी रचना ११७४ से पूर्व हो चुकी थी। इसलिए जयचन्द्र के राज्यारंभ से ५ वर्षों (११६९से७३ ई०) के बीच ही किसी तरह नैषध का रचना-काल बैठाना होगा। इस तरह राजशेखर का यह कथन सत्य मानने के लिए कोई बाध्यता नहीं। सिवा इसके राजशेखर ने तो जयचन्द्र को गोविन्दचन्द्र का पुत्र बताकर (प्रबन्धकोष, पृ० ५५) दोनों के बीच के महाराज विजयचन्द्र की सत्ता ही मिटा दी। जयचन्द्र के दादा गोविन्दचन्द्र ११५४ ई० तक अवश्य थे[1] और जयचन्द्र ११६९ से सिंहासनारूढ हुए। इस बीच का काल उनके पिता विजयचन्द्र का राज्यकाल माना जा सकता है। इसीलिए श्रीहर्ष के ग्रन्थों में एक 'विजय-प्रशस्ति' का होना भी संगत होता है, जो विजयचन्द्र की प्रशस्ति में रची गयी होगी। नैषध के टीकाकार गदाधर तो श्रीहर्ष को स्पष्ट गोविन्दचन्द्र के आश्रित बताते हैं। इन सबसे स्पष्ट है कि श्रीहर्ष प्रथम गोविन्दचन्द्र के आश्रित हुए, उसके बाद विजयचन्द्र के और अन्त में जयचन्द्र के आश्रित हुए। इस तरह उनका जयचन्द्र का आश्रित होना भी संगत हो जाता है।

स्थान-निर्णय

काल-निर्णय होने के बाद श्रीहर्ष के स्थान-निर्णय का प्रश्न आता है। वास्तव में वे कहाँ के थे और कहाँ रहे?, इस विषयमें अबतक अनेक विद्वानों ने अनेक अनुमान लगाये हैं। उनकी माता का नाम 'मामल्लदेवी' था। ऐसा नाम दक्षिण भारतीय या काश्मीरी हो सकता है। इस तरह तो श्रीहर्ष दक्षिण भारत या काश्मीर के सिद्ध होते हैं। एक किंवदन्ती उन्हें मम्मट का भागिनेय भी बताती है।

इधर श्रीदासगुप्ता और श्रीनीलकमल भट्टाचार्य उन्हें बङ्गाली सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनके मत से गौडेश्वर के आश्रित होने के नाते वे गौड़ याने बंगाल के निवासी सिद्ध होते ही हैं। अन्य भी अन्तःसाक्ष्य पाये जाते हैं। जैसे विवाह के समय 'उलु' शब्द का उच्चारण और 'शंखवलय' का धारण, जिसका कि उनके 'नैषध' में दमयन्ती के विवाह के अवसर पर (१४।५१) उल्लेख है।

किन्तु ये सारे प्रमाण कितने व्यभिचरित हैं, यह डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल ने अपने 'नैषध-परिशीलन' की भूमिका में विस्तार से दिखलाया है। उनके सारे विवेचन का सारांश इतना ही है कि १. गौड़ देश की व्याप्ति बंगालतक ही सीमित नहीं, बल्कि बंगाल, गोंडवाना, गोंडा और कभी-कभी समस्त उत्तर भारतके लिए भी यह शब्द [illegible] हुआ है। २. उलु-शब्द का प्रयोग तो परकालीन साहित्य में विवाह-प्रसंग का [illegible] विषय ही बन गया। जैसे 'अनर्घराघव' में मुरारी कवि ने भी इस शब्द का [illegible]ह के प्रसंग में उल्लेख किया है, जब कि मुरारी कवि निश्चित ही काश्मीरी [illegible]। ३. शंखवलयका भी यही हाल है। कादम्बरी में श्रीबाण ने जाबाली-आश्रम-[illegible]खवलय का उल्लेख किया है, जो थे बिहारी और रहते थे थानेश्वर। बाण

---

[1] [illegible]श्वर रामकृष्ण भाण्डारकर के द्वितीय भ्रमण का विवरण, ई० १९०४-५ पृ० ४३,८७।

और श्रीहर्ष जैसे प्रतिभाशाली कवियों के लिए विभिन्न प्रान्तों के आचार-व्यवहार का ज्ञान कोई बड़ी बात नहीं।

श्रीहर्ष की चिन्तामणि-मन्त्र पर भक्ति, नल के विवाह में बारातियों के भोजन में मद्य-मांस का प्रयोग और श, ष, स; ण, न; व, ब; य, ज तथा ष, ल एवं ख की समानता भी उन्हें बङ्गाली नहीं सिद्ध कर सकती। मन्त्र-तन्त्रवाद केवल बङ्गाल की ही चलन नहीं। क्षत्रिय राजा के विवाह में मद्य-मांस का प्रयोग भी बंगाल के ही आचार को इंगित नहीं करता। उपर्युक्त शब्दों का साम्य भी आलंकारिकों ने तत्तत् अलंकार बनाने में मान लिया है। आचार्य श्रीरघुवर मिट्ठलाल शास्त्री तथा डा० सु० कु० दे ने तो अनेक पुष्ट प्रमाणों से श्रीहर्ष के बंगाली होने के वाद का खण्डन किया है।

कुछ लोग 'आदिशूर द्वारा साथ में लाये हुए चार ब्राह्मणों में एक ये हैं' यह कहकर श्रीहर्ष को वंगवासी सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु वह भी ठीक नहीं जँचता। कारण यदि आदिशूर उन्हें बंगाल में लानेवाले माने जायँ, तो श्रीहर्ष को अपने काव्य में उनका कुछ वर्णन तो करना ही चाहिए था। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने कान्यकुब्जेश्वर का वर्णन कर उनके द्वारा बहुमान करने की ही बात लिखी है। इसलिए यही निष्कर्ष निकलता है कि वे कान्यकुब्ज प्रान्त के थे। उनका विशेष निवास काशी या कन्नौज में होता था। प्रबन्धकोश और चाण्डू पण्डित द्वारा भी इसीका समर्थन होता है।

हम समझते हैं कि इस विषय में भी डा० चण्डिकाप्रसाद का अनुमान ही बहुत कुछ सही है, कारण उसमें अनेक अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य दिये गये हैं। वे लिखते हैं कि "यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय, तो नैषध में ही स्वयं श्रीहर्ष अपने प्रिय (जन्म) प्रदेश का उल्लेख करते पाये जाते हैं। चाहे हम इसे मनुष्य की दुर्बलता कहें, चाहे सहज धर्म होता यही है कि न चाहते हुए भी मनुष्य हृदय को प्रिय लगनेवाली वस्तु की ओर बरबस संकेत कर ही देता है। कालिदास ने मेघ को बे-रास्ते भी चलकर उज्जयिनी अवश्य पहुँचने की सलाह दी है[1]।

"श्रीहर्ष ने भी कीर (तोते) के मुख से नव-दम्पती नल-दमयन्ती का वर्णन करवाते हुए अपने प्रिय प्रदेश के प्रति अपना प्रेमोद्गार व्यक्त करवा दिया है। कीर कहता है: 'जिस प्रकार गङ्गा-यमुना दो नदियों का हार पहने, जन-मन को प्रिय लगनेवाले 'मध्यदेश' से युक्त तथा 'अन्तर्वेदि' प्रान्त से सुशोभित वसुमती को धारण किये हुए, चन्द्रमा के प्रकाश से उल्लासित (उर्मिल) सागर की शोभा होती है, उसी प्रकार धवल (मुक्ता) हार-समन्वित अतिरम्य कटिप्रदेशवाली प्रिया को गोद में लिये हुए आप उसके मुख-चन्द्र से प्रफुल्लित हो रहे हैं[2]।

---

१. 'वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रथितस्योत्तराशां।'
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः मेघदूत, पूर्वमेघ।

२ 'एतां धरामिव सरिच्छवि-हारिहारा-मुल्लासितस्त्वमिदमाननचन्द्रभा
बिभ्रद् विभासि पयसामिव राशिरन्तर्वेदिश्रियं जनमनःप्रियमध्यदे
(नैषध,

"यहाँ नल-दमयन्ती के लिए जिस उपमान की कल्पना की गयी, वह एक प्रकार से असंभव या अज्ञात वस्तु है। कहाँ सागर और कहाँ मध्यदेश? इतनी कठिन दूरी की उपेक्षाकर कवि ने मध्यदेश की भूमि को सागर की गोद में बैठाकर एक उपमान खड़ा किया है। जब सागर और नदी के संयोग से भी काम चल सकता था, तब मध्यदेश को बीच में लाने की क्या आवश्यकता थी? इसका केवल एक ही समाधान है कि वह प्रान्त कवि का अपना जन्मप्रान्त था। 'जनमनःप्रियम्' विशेषण इस भाव को और भी पुष्ट करता है।

"इतना ही नहीं, श्रीहर्ष ने उस प्रान्त की राजधानी 'महोदय' (कन्नौज) नगरी का भी नामोल्लेख करते हुए वर्णन किया है। वहीं कीर दमयन्ती की प्रशंसा करता हुआ कहता है : 'सुन्दरी, तुम भगवान् कामदेव की राजनगरी हो और तुम्हारे कुचों पर की गयी यह मकर-रचना उस राजा की मकरांकित पताका है। महोदय (कन्नौज या महान्-अभ्युदय) के महोत्सव से युक्त इस नगरी (तुम) में तुम्हारी भौंहों को कौन कामदेव का तोरण न कहेगा?'[1]

"यदि ये वर्णन दमयन्ती के स्वयंवर में आये हुए किसी नरेश के प्रसंग में किये गये होते, तो उनसे कोई अन्य संकेत समझा जाता। किन्तु यहाँ एक नितान्त भिन्न प्रसंग में अलङ्कार के सहारे कवि ने इन स्थानों का जिस भावना के साथ उल्लेख किया है, उससे उसका यही अभिप्राय निकाला जा सकता है कि इन स्थानों से कवि का कोई हार्दिक सम्बन्ध अवश्य था।

"बाह्य साक्ष्य से भी श्रीहर्ष का कन्नौज प्रान्त का होना सिद्ध होता है। फर्रुखाबाद जिले में कन्नौज के पास 'मीरासराय' नामक एक कस्बा है, जहाँ कन्नौज का रेलवे स्टेशन है। यहाँ विशेष बस्ती कान्यकुब्ज मिश्रों की है। ये लोग स्मार्त और शाक्त हैं और अपने को श्रीहर्ष का वंशज बतलाते हैं। इनका कहना है कि 'हम लोग पहले त्रिपाठी थे, परन्तु श्रीहर्ष ने एक यज्ञ किया, जिससे हम 'मिश्र' कहे जाने लगे। ये लोग श्रीहर्ष का किसी राजा द्वारा सम्मानित होना भी बतलाते हैं।

"इस प्रकार अन्तः तथा बाह्य दोनों साक्ष्यों के आधार पर श्रीहर्ष कन्नौज प्रान्त के ठहरते हैं। साथ ही उन्हें काशी से भी विशेष प्रेम था। चाण्डू पण्डित ने भी उनका काशी में निवास करना बतलाया है।[2] स्वयंवर-सभा में काशिराज का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने काशी का बड़े अनुराग के साथ वर्णन किया है : 'वाराणसी भूलोक से परे है, वहाँ मरना देवलोक में जा बसना है। अतएव उस तीर्थ में मरनेवालों को मुक्ति ही

---

१. 'चेतोभवस्य भवती कुचपत्रराज-धानीयकेतुमकरा ननु राजधानी।
अस्यां महोदयमहस्पृशि मीनकेतोः के तोरणं तरुणि न ब्रुवते भ्रुवौ ते॥'
(नैषध, २१। १३५)

[illegible] श्रीहर्ष [illegible] मुक्तिर्नेऽनुभूत[illegible]स्वरूपो गङ्गादर्शनादिना धर्मकर्म-[illegible]' इत्यादि। (चाण्डू पण्डित : नैषधदीपिका का प्रारम्भ)।

मिलती है। अन्यथा मुक्ति के अतिरिक्त स्वर्ग से बड़ा कौन पद है, जो अधिक आनन्द देगा[1] ?" आदि। अन्त में जब स्वयंवर में देवगण प्रसन्न होकर नल-दमयन्ती को वरदान देने लगते हैं, उसी प्रसंग में इन्द्र नल को एक यह भी वरदान देते हैं : 'राजन्, तुम्हारे निवास के लिए वाराणसी के समीप असी नदी के पास तुम्हारे नाम की नगरी होगी। मोक्षाभिलाषी होने पर भी काशी में तुम्हारा निवास इसलिए नहीं बनाया गया कि वहाँ रहकर तुम्हें दमयन्ती के साथ संभोग-सुख भोगने में संकोच करना पड़े[2]।"

"देवों के जितने वरदानों का नैषध में उल्लेख हुआ है, प्रायः सभी महाभारत में कहे गये हैं। किन्तु वाराणसी के समीप नल के नाम से बसनेवाली नगरी के वरदान का वहाँ कोई उल्लेख नहीं हुआ है। नल की कथा जहाँ-जहाँ मिलती है, कहीं भी इस वरदान की चर्चा नहीं है। अतः यह श्रीहर्ष द्वारा कल्पित ही समझ पड़ता है। अब प्रश्न उठता है कि इस कल्पना का आधार या मूल क्या है ? कवि ने यह एक नूतन वरदान क्यों दिलवाया ? इसका एकमात्र उत्तर यही समझ पड़ता है कि श्रीहर्ष के समय काशी के समीप, असी के समीप असी के उस पार कोई ऐसा गाँव या नगर रहा होगा, जिसका नाम नल के नाम पर पड़ता था तथा जो बहुत पुराना बसा हुआ बताया जाता था, जिसे देखकर कवि ने यह कल्पना कर डाली।

"इस कल्पना से यह भी सहज में अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रीहर्ष काशी में रहते समय या तो काशी के पास उसी नल-नामवाले गाँव में रहते थे या उस गाँव से इनका कोई विशेष-सम्बन्ध था। आज भी काशी के समीप असी के पार नरोत्तमपुर, नरियापुर (नलपुर) तथा नैषढ़ा (नैषधपुर) तीन गाँव हैं। इन्हींमें से किसी एक के प्रति श्रीहर्ष का यह संकेत ज्ञात होता है।"

श्रीशुक्लजी का श्रीहर्ष के स्थानसम्बन्धी यह अनुमान अभी तो अन्वेषकों के लिए अद्यतन और विशेष परिष्कृत मालूम पड़ता है। संभव है, इससे आगे इसके साधक-बाधक और भी प्रमाण प्रकाश में आयें। किन्तु आज इतने से सन्तोष मानने में कोई बाधा नहीं दीखती। कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र के सम्मानित आश्रित श्रीहर्ष का काशी में रहना इसलिए भी समर्थित हो सकता है कि उक्त नरेश का उन दिनों काशी पर भी शासन था, जो पीछे उद्धृत ११८६ ई० के उनके दानपत्र से स्पष्ट है। बहुत संभव है कि उक्त नरेश ने काशी-निवास के लिए श्रीहर्ष को यह नलपुर गाँव दिया हो, जिनकी कीर्ति-वैजयन्ती फहराने में नैषध के रूप में कवि ने अपनी समस्त कवि-प्रतिभा उड़ेल दी

---

१. "वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात्परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक् ॥"
—(नैषध, ११ । ११९)

२. "तवोपवाराणसि नामचिह्नं वासाय पारेसि पुरं पुराऽस्ति।
निर्वातुमिच्छोरपि तत्र भैमीसम्भोगसङ्कोचभियाऽधिकाशि ॥"
—(नैषध

है। इस प्रकार श्रीहर्ष का जन्मस्थान मध्यप्रदेश (अन्तर्वेदि) का कन्नौज और दूसरा प्रिय निवासस्थान वाराणसी सिद्ध होता है।

इस प्रकार श्रीहर्ष के समय और स्थान का कुछ निर्णय हो जाने के बाद उनके चरित्र और व्यक्तित्व का भी आभास प्राप्त करना प्रासंगिक होगा। इस विषय में कुछ तो यत्र-तत्र उनके उल्लेख और कुछ वृद्धपरम्परागत गाथाओं का आश्रय लिया जाय, जैसा कि स्वर्गीय त्यक्त-महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़ ने 'खण्डन-खण्डखाद्य' (विद्यासागरी-सहित, चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी का प्रकाशन, १९१२ ई०) की भूमिका में लिया है, तो उनका चरित्र इस प्रकार होगा।

चरित

श्रीहीर नामक एक पण्डित थे। उनकी पत्नी का नाम 'मामल्लदेवी' था। एक-बार श्रीहीर किसी राजसभा में पहुँचे, तो वहाँ उनसे एक महापण्डित से शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें श्रीहीर हार गये। तभी से पराभव के दुःख से अत्यन्त सन्तप्त हो उन्होंने भगवती दुर्गा का आराधन किया। उनकी आराधना से भगवती ने प्रसन्न हो उन्हें वर दिया कि आपको समस्त वादियों के खण्डन में कुशल पुत्र होगा।

भगवती की कृपा से मामल्लदेवी में उनके द्वारा पुत्र भी हुआ, पर पराभव का शल्य उन्हें चुभता ही रहा, जिससे वे असमय ही रोगाक्रान्त हो चल बसे। मरने के पूर्व उन्होंने पुत्र को बुलाकर कहा : 'वत्स ! मेरे विजेता को जीत कर जब तुम अपनी कीर्ति-वैजयन्ती फहराओगे, तभी परलोकगत भी मेरी आत्मा शान्ति पायेगी।' छोटे बालक ने पिता के समक्ष प्रतिज्ञा की कि 'जब तक आपके विजेता को जीत न लूँगा, तब तक लोगों को मुँह न दिखाऊँगा।'[१]

पिता के स्वर्गवास के बाद किसी तरह उनका और्ध्वदैहिक कर्म कर तथा अपने आप्तजनों पर परिवार का भार डालकर अत्यन्त दुःखित बालक श्रीहर्ष पिता की इच्छा को सफल करने के निमित्त देश-देशान्तरों में घूमा और चोटी के विद्वानों से भक्तिभाव-पूर्वक उसने विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। उन्हें एक साधक भी मिल गये, जिन्होंने उन्हें 'चिन्तामणि' नामक मन्त्र दे उसके अनुष्ठान की सलाह दी। किसी नदी के तीर भगवती त्रिपुरसुन्दरी के एक जीर्ण-शीर्ण मन्दिर में बैठ उन्होंने उक्त चिन्तामणि-मन्त्र का जपानुष्ठान किया।

इस तरह पाँच वर्ष तप करने के बाद भगवती त्रिपुराम्बा प्रसन्न हुईं और उन्होंने कहा : 'वत्स ! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो।' श्रीहर्ष ने कहा : मातः ! यदि सचमुच प्रसन्न हो, तो विद्यादान देकर अनुगृहीत करो।' वरदान देकर

---

१. स्वर्गीय श्रीभागवताचार्य ने अपनी 'खण्डन-भूमिका' में पिता-पुत्र की वचन-प्रतिश्रुति की यह लिखी है। "बचपन में पिता मर गये और माँ ने बालक को किसी प्रकार पाला। पाँच ने पर उसने किसीके मुख से पिता के अपमान की यह कथा सुनी और वह तप के लिए यही उन्होंने लिखा है।

भगवती अन्तर्भूत हो गयीं। चिन्तामणि-मन्त्र का जप और देवी के वर से श्रीहर्ष ने तर्क, अलङ्कार, वेद, वेदाङ्ग आदि निखिल विद्याओं में असाधारण पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। फलस्वरूप जल्पकथा में वे ऐसे अपूर्व उत्तर देने लगे, जिन्हें पण्डित भी समझ न पाते थे। किन्तु लोगों को वह समझ में न आने से उनके उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती थी। इसलिए पुनः उन्होंने वाग्देवी की उपासना की। वाग्देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा : 'वत्स, यह अतिप्रज्ञा भी तुम्हारे लिए अहितकर हो रही है। इसलिए मध्यरात्रि में सिर पर पानी डालो और जब वह पूरा तर हो जाय, तो दही खाकर सो जाओ। इससे कफ बढ़कर थोड़ी जड़ता आ जायगी। फिर तुम्हारी वाणी सभी समझ पायेंगे। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया और सफल-मनोरथ हुए।

फिर वे कान्यकुब्जाधीश्वर के दरबार में आये और दरबार के समक्ष दो श्लोक पढ़े। एक श्लोक राजा की प्रशंसा का था और दूसरा अपने पिता के विजेता उस बूढ़े पण्डित को लक्ष्य कर कहा गया था, जो दरबार में उपस्थित था। श्लोक इतना प्रभावशाली रहा कि उसे सुनते ही उक्त पण्डित ने अपनी हार मान ली। राजा ने प्रसन्न हो श्रीहर्ष को अपना राजकवि बना लिया, और ताम्बूल-द्वय और उच्च आसन दिया, जो तत्कालीन बहुत बड़ा सम्मान माना जाता होगा। वहाँ उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे, जिनमें खण्डनखण्ड-खाद्य और नैषधीय-चरित आज उपलब्ध हैं। राजा के विशेष आग्रह पर उन्होंने 'नैषधीय-चरित' महाकाव्य लिखा। कहा जाता है कि काश्मीर के साहित्य-ग्रन्थ और इनके नैषध की तुलना में भारती ने इनके ग्रन्थ के विरुद्ध निर्णय दिया और काश्मीर के ग्रन्थ को श्रेष्ठता दी ; कारण इन्होंने अपने ग्रन्थ में सरस्वती की निन्दा की थी। किन्तु श्रीहर्ष ने बाद में अपने उस अंश का स्पष्टीकरण कर उन्हें मना लिया।

ये अपना महाकाव्य लेकर काश्मीर के तत्कालीन राजा माधवदेव के पास गये, तो दरबारी पण्डितों ने इन्हें दरबार से मिलने नहीं दिया। एक दिन ये एक कुँए के पास जप करने बैठे थे। वहाँ दो कुमारियाँ दरबार के लिए जल भरने आयीं। दोनों में जल भरने पर कुछ विवाद हुआ और मार-पीट तक की नौबत आयी। अन्ततः झगड़ा राजा तक पहुँचा। राजा ने विवाद के साक्षी की माँग की। उन्होंने जपकर्ता को ही अपना एकमात्र साक्षी बताया। श्रीहर्ष दरबार में बुलाये गये। राजा द्वारा पूछने पर उन्होंने कहा कि 'मैं इनकी भाषा तो नहीं जानता, दोनों द्वारा कही वर्णानुपूर्वी को अवश्य सुना सकता हूँ।' उन्होंने अक्षर-अक्षर दोनों कुमारियों के विवाद की आनुपूर्वी कह सुना दी। राजा इनकी असाधारण धारणा-शक्ति पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और पूरा परिचय प्राप्त कर उसने इनका वस्त्र, आभूषण आदि से बड़ा सम्मान किया। काश्मीरनरेश से सम्मानित हो श्रीहर्ष पुनः अपने आश्रयदाता कान्यकुब्जाधीश्वर के यहाँ आकर रहने लगे।

नैषध और खण्डन की उक्तियों के प्रकाश में श्रीहर्ष के व्यक्तित्व का विचार किया जाय, तो कहना होगा कि वे समस्त विद्याओं एवं कलाओं में पूर्ण निष्णात थे। फिर भी किसीके गुणों को व्यक्त न करना वे वाणी की व्यर्थता मानते थे। वे राजसुख और राजवैभव का अनुभव कर चुके थे तथा विलास-सामग्रियाँ भी उन्हें पूर्ण सुलभ थीं। फिर भी वे उनके अधीन न होकर

व्यक्तित्व

जितेन्द्रिय बने रहे । उनका विश्वास था कि ज्ञान से निर्मल-चित्त पुरुष को विषयकनानता कभी आसक्त नहीं कर सकती। वे सिद्ध समाधियोगी थे। फिर भी उनका योगशुद्ध हृदय पिशुनता को कभी सहन नहीं कर सकता था। मुनिवृत्ति उन्हें प्रिय थी और अयाचित व्रत को वे सर्वोपरि मानते थे। फिर भी उन्होंने अनेक स्थलों पर दान की महत्ता और आवश्यकता मानी है। कृतज्ञता और उपकारी के प्रति प्रत्युपकार पर उनका विशेष आग्रह रहा। भगवद्भक्ति, धर्मनिष्ठा और आस्तिकता तो उनमें पदे-पदे दीखती है। फिर भी आपद्धर्म के लिए ('निषिद्धमप्याचरणीयमापदि') भी छूट दे उन्होंने अवसर का निर्वाह भी अच्छी तरह किया है। वे बौद्धमत के खण्डनकर्ता होते हुए भी उस मत के प्रति पूरी उदारता रखते थे। स्वयं ऋजुमार्ग के समर्थक होते हुए भी कुटिल व्यक्ति से सरलता बरतना उन्हें कभी पसन्द न था। चाटुकार तो वे थे ही नहीं। निर्भीकता उनकी रग-रग में भरी थी। फिर भी जनापवाद से उन्हें भय था (नैषध ३।५१), जब कि वे उसकी विशेष परवाह नहीं करते थे। कुल मिलाकर वे सर्वाङ्गपूर्ण व्यावहारिक और त्रिगुणातीत पारमार्थिक दोनों कूलों को जोड़नेवाले अद्वितीय सेतु कहे जा सकते हैं।

ग्रन्थ-रचना

इतने महान् प्रतिभाशाली सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थ और अनेक काव्य लिखे होंगे। किन्तु नैषध और खण्डन के अनुसार[१] अबतक उनके १० ग्रन्थों का पता चलता है, जिनमें आज केवल दो ही उपलब्ध हो रहे हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं :

१. अर्णव-वर्णन : इसमें नामानुसार समुद्र का वर्णन बताया जाता है। २. शिवशक्ति-सिद्धि : इसे कोई शिव नामक राजा की वीरता के वर्णनपरक बताते हैं तो कोई गौरी-गिरीश के माहात्म्य-वर्णनपरक मानते हैं। ३. साहसाङ्कचम्पू : इसमें 'साहसाङ्क' उपाधिधारी राजा का चरित्र वर्णित होगा, यह तो स्पष्ट ही है। किन्तु यह 'साहसाङ्क' कौन है, यही प्रश्न है। विक्रम को यह उपाधि प्राप्त थी, अतः इसे विक्रम-चरित्र-वर्णन भी कहा जा सकता है। किन्तु नैषध में 'नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृतः' इस प्रकार ग्रन्थकार द्वारा उल्लेख होने से और उसके टीकाकार नारायण के इस विवरण में कि 'नवो यः साहसाङ्कोपनाम राजेत्यादि' नवत्व विशेषण का स्वारस्य देखते हुए इसे 'अभिनवसाहसाङ्क' कान्यकुब्जेश्वर का ही वर्णन मानना ठीक दीखता है। ४. छन्दःप्रशस्ति : नाम से तो मालूम पड़ता है कि यह छन्दोग्रन्थ है, किन्तु कुछ लोग इसे छन्द नामक राजा की प्रशस्ति भी मानते हैं। ५. विजय-प्रशस्ति : यह तो प्रायः निर्विवाद है कि इस ग्रन्थ में कान्यकुब्जाधीश्वर गोविन्दचन्द्र के पुत्र और जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की प्रशस्ति का वर्णन है। श्रीहर्ष को बंगाली बतानेवाले इस 'विजय' को विजयसेन नामक बंग-

---

१. खण्डन और नैषध तो उपलब्ध ही हैं। 'ईश्वराभिसन्धि' का उल्लेख खण्डन में है। क्रमशः शेष ग्रन्थों का उल्लेख नैषध के निम्नलिखित स्थलों में है : ६।१६०; १८।१५४; २२।१५१; १७।२२२; ५।१३८; ५।१३८; ७।११० और ४।१२३।

नरेश बताते हैं; पर श्रीहर्ष बंगाली नहीं, यह पीछे सिद्ध किया ही जा चुका है। ६.गौडो-र्वीश-कुलप्रशस्ति : रघुवंश आदि की तरह इसमें भी गौडदेशीय राजवंश का वर्णन है। ७. ईश्वराभिसन्धि : यह ईश्वर की सत्ता का साधन करनेवाला ग्रन्थ होगा। फलतः अनी-श्वरमतवादी बौद्धों के खण्डनार्थ यह बनाया गया होगा। जहाँ अन्य भी 'अभिसन्धियों' के नाम दीख पड़ते हैं, वे कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं, प्रत्युत इसी ईश्वराभिसन्धि के प्रकरण हैं। ८. स्थैर्य-विचारण प्रकरण : यह बौद्धाभिमत क्षणिकत्व सिद्धान्त को खण्डन कर-वाला ग्रन्थ दीखता है। ९. नैषधीय-चरित : यह आज उपलब्ध है। इसमें नल-दमयन्ती की कथा वर्णित है और संस्कृत के पाँच महाकाव्यों में यह मुकुटमणि माना जाता है। १०. खण्डन-खण्ड-खाद्य : यह तो प्रस्तुत ग्रन्थ ही है।

अब प्रश्न उठता है कि इन ग्रन्थों की रचना में पौर्वापर्य का क्रम क्या है? शेष आठ ग्रन्थों के अनुपलब्ध होने से इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। फिर भी स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्रीरामभिश्र शास्त्री मानते हैं कि 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' 'ईश्वराभिसन्धि' के पूर्व और शेष ग्रन्थ उसके बाद रचे गये[1]। किन्तु खण्डन में ही 'शेपञ्च ईश्वराभिसन्धौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः' और 'अवोचाम च जल्पे' (श्रीशंकर मिश्र के अनुसार इस वाक्य में 'ईश्वराभिसन्धौ' यह अध्याहृत है) इस प्रकार वर्तमान और अतीत दोनों कालों का 'ईश्वराभिसन्धि' के लिए खण्डन में प्रयोग मिलता है। अतः खण्डन के भाषानुवादकार स्वर्गीय श्रीचण्डीप्रसाद सुकुलजी दोनों का समकालिक निर्माण मानते हैं। स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्रीभागवताचार्य लिखते हैं कि "नैषध में 'खण्डन-खण्डतोऽपि सहजात्' (षष्ठसर्गान्त) और खण्डन में 'तथाऽहमकथयं नैषध-चरितस्य परमपुरुपस्तुतौ सर्गे' इस प्रकार दोनों का एक दूसरे में उल्लेख होने से दोनों ग्रन्थ एक ही समय में रचे गये हों, ऐसा हमें लगता है। हमारे मित्र और खण्डन-रूप रत्नाकर के मन्दराचल स्वर्गीय श्रीमोहनलाल उदासीन कहते हैं कि वैदुष्य की परम परिपाकावस्था में ही खण्डन की रचना माननी चाहिए[2]।'

हमें यही अन्तिम मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस दृष्टि से आरंभ में 'ईश्वरा'-भिसन्धि' को छोड़ शेष सात ग्रन्थ, फिर 'नैषध' और सबसे अन्त में 'खण्डन-खण्डखाद्य' और 'ईश्वराभिसन्धि' का रचना-क्रम मानना अनुचित न होगा। विद्वत्ता के साथ अवस्था के परिपाक से भी अद्वैत-भावना का चरम उत्कर्ष करनेवाले खण्डन जैसे ग्रन्थ का ही मेल बैठता है।

खण्डन-खण्ड-खाद्य

बहिरङ्ग-परीक्षण के बाद अब प्रस्तुत ग्रन्थ का संक्षिप्त अन्तरङ्ग-परीक्षण भी कर लेना उचित होगा। इस ग्रन्थ का 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नाम तो प्रसिद्ध है ही, 'अनिर्वचनी-

---

१. श्रीभागवताचार्य : खण्डन-भूमिका। २. वही।

उन्होंने किया है। इस प्रकार विज्ञानवाद लेकर और पदार्थों को अनिर्वचनीय बनाकर जहाँ वे नैयायिकों का खण्डन कर देते हैं, वहाँ बाद में बौद्ध विज्ञानवाद का भी खण्डन कर अपना अद्वैत सद्वाद प्रतिष्ठित करते हैं।

वे कहते हैं कि मिथ्याभूत जगत् का आश्रय सत् मानना ही पड़ेगा। सत के बिना मिथ्यात्व की उपपत्ति ही नहीं हो सकती। किन्तु उस मिथ्या का आश्रय ज्ञान सर्वथा निरपेक्ष है। ज्ञान से भिन्न उसका आश्रय कोई पदार्थ नहीं है। नैयायिक उन्हें ज्ञान और विषय के सहभाव की जो अनुपपत्ति देते हैं, उस विषय में खण्डनकार कहते हैं कि ज्ञान और विषय का सहभाव नियत ही नहीं है, कारण अतीत के ज्ञान में व्यभिचार हो जाता है। वे ज्ञान और विषय का तादात्म्य भी नहीं मानते। कारण विषय नानारूप होते हैं, जब कि ज्ञान का प्रकाश एकरूप होता है। फिर प्रकाश आन्तर वस्तु है, जब कि विषय बाह्य। इस तरह ज्ञान और विषय का तादात्म्य कथमपि नहीं माना जा सकता। फलतः यही कहना होगा कि सद्रूप ज्ञान में ही सारे पदार्थ कल्पित या मिथ्या हैं। उनका सद्रूप, असद्रूप या सदसद्रूप से निर्वचन न हो सकने से वे अनिर्वचनीय हैं। 'अनिर्वचनीयतासर्वस्व' या खण्डन के निर्माण में श्रीहर्ष यही अभिप्राय रखते और सिद्ध करते हैं।

खण्डनकार ने इस ग्रन्थ में व्यावहारिक जगत् को अत्यन्त सत्य माननेवाले नैयायिकों के १६ पदार्थों या ७ पदार्थों (न्याय-वैशेषिक भेद से) का खण्डन किया है। सात पदार्थों का प्रसङ्गानुसार यत्र-तत्र खण्डन हुआ है। मुख्यतः गौतम के प्रमाण, प्रमेय आदि १६ पदार्थों का ही खण्डन है। आरंभ में ही उन्होंने प्रमाणादि-स्वीकार को कथा (वाद) का अंग मानने की बात का खण्डनकर 'लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' उनके इस सिद्धान्त पर पहला और जोरदार प्रहार किया है। फिर लक्षणों की बात आगे कर बताया कि आप जितने सारे पदार्थ मानते हैं, उनके कोई निर्दुष्ट लक्षण ही नहीं बन पाते। स्वयं प्रमाण और उनके अवान्तर भेदों का तथा लक्षण का ही जब लक्षण नहीं बन पाता, तो औरों की बात ही क्या ?

खण्डनोक्त विषयों के वर्गीकरण पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। ग्रन्थ की भूमिका में श्रीहर्ष ने सर्वप्रथम प्रमाणादि-स्वीकार के शास्त्रार्थहेतुकत्व का खण्डन किया है, यह हम ऊपर कह ही आये हैं। उसके बाद उन्होंने संक्षेप

खण्डन के प्रतिपाद्य विषय

में शून्यवाद और अद्वैत (स्वप्रकाश) वाद का प्रतिपादन कर दोनों में परस्पर भेद दिखलाया है। पश्चात् अद्वैत का साधन और भेद का खण्डन किया गया है। इसी प्रसंग में ग्रन्थ-निर्माण का प्रयोजन तत्त्व-निर्णय और विजय बतलाते हुए वाद, जल्प और वितण्डा—शास्त्रार्थके तीनों प्रकारों तथा शून्यवाद, अद्वैतवाद या भेदवाद सभीमें खण्डनोक्त युक्तियों का एक-सा उपयोग है, यह बतलाया। इस तरह ग्रन्थ की भूमिका समाप्त कर ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय शुरू होता है। फिर प्रथम परिच्छेद में—लक्षणसामान्य का और क्रमशः प्रमा, प्रमाण एवं उसके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धिरूप छः प्रकारों के लक्षणों का खण्डन किया गया। फिर असिद्ध, विरुद्ध, सव्यभिचार,

सत्प्रतिपक्ष और बाध इन पाँच हेत्वाभासों के लक्षणों का खण्डन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में—प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिबन्दी और अपसिद्धान्त इन पाँच निग्रहस्थानों का खण्डन किया गया है। तृतीय परिच्छेद में—केवल किंशब्दार्थ के निर्वचन का खण्डन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में—भाव, अभाव, विशिष्ट, द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, जाति (सामान्य), आधार, विषय-विषयीभाव, भेद, कारणत्व, वर्तमानादि काल, प्रागभाव, ध्वंसाभाव, संशय, भावाभाव-विरोध और तर्क का खण्डन किया गया है। इस प्रकार कतिपय प्रमुख पदार्थों का खण्डन करने के बाद ग्रन्थकार ने यह भी बता दिया कि जिन लक्षणों का विस्तार-भय से यहाँ खण्डन नहीं किया गया है, उनका भी इन्हीं युक्तियों से खण्डन कर लिया जाय।

ग्रन्थकार ने खण्डन में व्यवहृत अपनी खण्डन-युक्तियों का मार्मिक वर्गीकरण भी कर दिया है। वे कहते हैं :

'तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे।
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया॥'

अर्थात् किसीसे वाद करने का प्रसंग उपस्थित होने पर हमारे द्वारा इस ग्रन्थ में बतायी गयी युक्तियों के समान युक्तियों की कल्पना कर वादी पर विजय पायें। अथवा उन्हीं युक्तियों की योजना करें। यदि दैववश युक्तियों का स्फुरण न हो, तो घटक अन्य पदार्थों के निर्वचन का प्रश्न कर वादी को परास्त करें। वादि-विजय का श्रीहर्ष का यह शास्त्र अपने ढंग का अद्वितीय है। परवर्ती श्रीचित्सुखाचार्य, श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती आदि ने इन युक्तियों का उपयोग कर इसकी कार्यकारिता का प्रमाण उपस्थित कर दिया है।

इस प्रकार के वेदान्त-दर्शन के मूर्धन्य इस वादप्रधान दार्शनिक ग्रन्थ का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद सचमुच बड़ी टेढ़ीखीर है। कारण एक तो इसके कितने

आत्म-निवेदन

ही स्थल ऐसे हैं, जिनकी ग्रन्थियाँ बड़े-बड़े शब्दज्ञानियों से भी नहीं खुल पातीं। ग्रन्थकार स्वयं ही कहते हैं 'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया।' अर्थात् मैंने जान-बूझकर बड़े परिश्रम से इसमें ऐसी ग्रन्थियाँ बाँध दी हैं, जिन्हे प्राज्ञम्मन्य आसानी से न खोल पायें। दूसरे, इन शास्त्रार्थ-विचारों के अनुरूप शैली और शब्द संस्कृत में ही और उसमें भी तथोक्त परिष्कृत, दार्शनिक भाषा में ही सुलभ हो सकते हैं। साधारण संस्कृत में उन्हें रखा जाय, तो भी वे उतने परिष्कृत रूप में नहीं रह सकते। फिर प्राकृत भाषाओं की बात ही क्या ? फिर भी स्वर्गीय पूज्य श्रीचण्डीप्रसाद सुकुलजी ने आज से करीब ५० वर्ष पूर्व[1] राष्ट्रभाषा हिन्दी में इसे लाने का जो अपूर्व सत्साहस किया, तदर्थ हिन्दी-जगत् उनका सदैव ऋणी रहेगा।

कहना होगा कि वे बहुत कुछ इसमें कृतकार्य हुए। फिर भी जैसा कि ऊपर कहा गया है, हिन्दी में इसे लाना मूलतः स्वभाव से दुःशक है, अतः कुछ परिष्कार की

---

[1] १. इसका प्रथम संस्करण संवत् १९८५ में छपा, पर अनुवादक के कथनानुसार अनुवाद इससे १४ वर्ष पूर्व ही हो चुका था।

आवश्यकता सदैव बनी ही रहेगी। हमारे अध्यक्ष आदरणीय श्री श्रीकृष्ण पन्त जी ने इस द्वितीय संस्करण में मुझे इस सेवा का आदेश दिया, यह मैं उनकी महती कृपा मानता हूँ। किन्तु एक तो मेरा सीमित ज्ञान और दूसरे समय के अत्यधिक संकोच से जितना परिष्कार होना चाहिए, उतना मैं नहीं कर पाया। फिर भी इसका ध्यान रखने का प्रयत्न अवश्य किया है कि परिष्कार के मोह में अपदार्थ न बन जाय। कहीं-कहीं आवश्यक टिप्पणियाँ भी बढ़ा दी गयी हैं। अन्त में परिशिष्ट में खण्डन में ग्रन्थकार द्वारा प्रणीत अकाराद्यनुक्रमसहित कारिकाएँ और ग्रन्थ में उद्धृत विभिन्न ग्रन्थों के वचनों का स्थल-निर्देश भी जोड़ दिया गया है। तथापि जो भी इसमें ज्ञात-अज्ञात भूलें हुई हों, ग्रन्थमर्मज्ञ विद्वान् उनको मेरी मान सुधार के सुझाव देने की कृपा करेंगे, तो उनका स्वागत है। प्रस्तुत खण्डन-विमर्श में जिन-जिन पुस्तकों से हमें मदद मिली है, उन सबके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए गुणैकपक्षपाती विद्वानों से इसे अपनाने का हम अनुरोध करते हैं।

अच्युत-ग्रन्थमाला,
ललिताघाट, वाराणसी
वर्षप्रतिपद्, २०१८ वि०

—गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

विषयानुक्रमणिका

१. मङ्गलाचरण १
२. प्रयोजन-कथन २

प्रथम परिच्छेद

३. प्रमाणादि-स्वीकार का कथाङ्गत्व-खण्डन ... ,,
४. शून्यवाद-विचार १४
५. स्वप्रकाश-विज्ञानवाद-विचार २८
६. शून्यवाद और स्वप्रकाश-विज्ञानवाद का भेद ... ४२
७. अद्वैत में प्रमाण-विचार ४७
८ भेद-खण्डन ६५
९. (खण्डन के) प्रयोजन का प्रतिपादन ८२
१०. (लक्षण -) सामान्य के खण्डन की युक्तियाँ ८६
११. प्रमालक्षण-खण्डन में तत्त्वपदार्थ का खण्डन ८७
१२. ,, अनुभूतित्व-जाति का खण्डन ९१
१३. ,, स्मृतिभिन्नत्व का खण्डन ११७
१४. भेद-संसर्गाभाव के भेद का खण्डन १२५
१५. स्मृति-लक्षण का खण्डन १४१
१६ अनुभवत्व-विशेष का खण्डन १४४
१७. तत्त्वानुभवत्व-का खण्डन ... ... ,,
१८. याथार्थ्य का खण्डन १४८
१९. सम्यक्त्व का खण्डन १५४
२०. अव्यभिचारित्व का खण्डन १६०
२१ अविसंवादित्व का खण्डन १६१
२२. अबाधितत्वादि का खण्डन १६६
२३. प्रमालक्षण का सामान्य-खण्डन १६७
२३. प्रमाण के सामान्य-लक्षण का खण्डन १६९
२४. (प्रमाण-लक्षण के खण्डन में) प्रथम करणत्व-लक्षण का खण्डन ... ... ,,
२५. ,, द्वितीय करणत्व-लक्षण का खण्डन १७३
२६. ,, व्यापार-लक्षण का खण्डन १८३
२७. , तृतीय करणत्व-लक्षण का खण्डन १९१
२८. ,, चतुर्थ चरमव्यापारवत्त्व-लक्षण का खण्डन १९३
२९. प्रथम प्रत्यक्ष-लक्षण (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्) का खण्डन ... १९८

३०. द्वितीय प्रत्यक्ष-लक्षण भासमानाकारेन्द्रियसंयोगजम्) का खण्डन ... २०४
३१. तृतीय प्रत्यक्ष-लक्षण (साक्षात्कारित्वम्) का खण्डन ... २२०
३२. चतुर्थ प्रत्यक्ष-लक्षण (इन्द्रियकरणकानुभूतित्वम्) का खण्डन ... २२२
३३. पञ्चम प्रत्यक्ष-लक्षण (ज्ञानाजन्यज्ञानत्वम्) का खण्डन ... २२७
३४. षष्ठ प्रत्यक्ष-लक्षण (षोढासन्निकर्षेतराप्रयुक्तविषयनियमं ज्ञानम्) का खण्डन ... २३०
३५. सप्तम प्रत्यक्ष-लक्षण (स्वरूपधीः) का खण्डन २३
३६. अष्टम प्रत्यक्ष-लक्षण (ज्ञानस्य जातिभेदः कश्चित् साक्षात्त्वम्) का खण्डन ... २३४
३७. नवम प्रत्यक्ष-लक्षण (शब्दानुमानोपमानजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वम्) का खण्डन ... २४०
३८. अनुमान-खण्डन में अनुमिति-परामर्श का खण्डन ... २४८
३९. ,, व्याप्ति और व्याप्तिग्रहोपाय का खण्डन ... २५४
४०. ,, उपाधि-लक्षण का खण्डन ... २७३
४१. ,, पक्षता-लक्षण का खण्डन ... २८०
४२. उपमान-लक्षण का खण्डन ... २८७
४३. शब्द-लक्षण का खण्डन ... २९७
४४. अर्थापत्ति-लक्षण का खण्डन ... ३०४
४५. अनुपलब्धि-लक्षण का खण्डन ... ३०९
४६. हेत्वाभास-खण्डन में असिद्ध-लक्षण का खण्डन ... ३१५
४७. ,, विरुद्ध-लक्षण का खण्डन ... ३२९
४८. ,, सव्यभिचार-लक्षण का खण्डन ... ३३३
४९. ,, सत्प्रतिपक्ष-लक्षण का खण्डन ... ३४७
५०. ,, बाध-लक्षण का खण्डन ... ३६६

द्वितीय परिच्छेद

५१. प्रतिज्ञाहानि-लक्षण का खण्डन ... ३७९
५२. प्रतिज्ञान्तर-लक्षण का खण्डन ... ३८२
५३. प्रतिज्ञा-विरोध लक्षण का खण्डन ... ३८६
५४. प्रतिबन्दी-लक्षण का खण्डन ... ३९०
५५. अपसिद्धान्त-लक्षण का खण्डन ... ३९७

तृतीय परिच्छेद

५६. सर्वनामार्थ का खण्डन ... ४१३

चतुर्थ परिच्छेद

५७. भावत्व लक्षण का खण्डन ... ४२१
५८. अभावत्व-लक्षण का खण्डन ... ४२६
५९. विशिष्ट-लक्षण का खण्डन ... ४२९
६०. द्रव्य-लक्षण का खण्डन ... ४३१

६१. सामान्य-लक्षण का खण्डन ४४०
६२. सम्बन्ध-लक्षण का खंडन ४४५
६३. आधार-लक्षण का खण्डन ... ४५०
६४. विषय-विषयिभाव-लक्षण का खण्डन ... ४५८
६५. भेद-लक्षण का खण्डन ४७२
६६. कारणत्व-लक्षण का खण्डन ५०२
६७. वर्तमानत्वादि-लक्षणों का खण्डन ५१६
६८. संशय-लक्षण का खण्डन ५२७
६९. भावाभाव-विरोध का खण्डन ५३५
७०. तर्क-सामान्य-लक्षण का खण्डन ५४३
७१. तर्क-विशेष-लक्षणों का खण्डन ५५५
७२. अप्रसङ्गात्मक तर्क का निरूपण ५६६
७३. तर्काभास का खण्डन ५७६
७४. सर्व-खण्डन-प्रकार का उपदेश ... ५७८
७५. उपसंहार ५८०

खण्डनखण्डखाद्य

भाषानुवादसहित

[1]अविकल्पविषय एकः स्थाणुः पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु ।
ईश्वरमुमया न परं वन्देऽनुमयापि तमधिगतम् ॥ १ ॥

[2]मानापनोदनविनोदनते गिरीशे
भासेव सङ्कुचितयोरुचितं तदिन्दोः ।
भेत्तुं भवानिशचितं दुरितं भवानि !
नम्रीभवानि घनमङ्घ्रिसरोजयोस्ते ॥ २ ॥

श्रेयो दिशतु स श्रीशः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
यज्ज्ञानाद् विरसायन्ते[3] पराचां तु निरुक्तयः ॥ १ ॥
अनुमापतये तस्माय्युमापतये सदा ।
नमोऽस्तु गुरवे सर्ववेदिनेऽपि द्विवेदिने ॥ २ ॥
श्रीहर्षमिश्रकृतखण्डनखण्डखाद्यभाषानुवादकरणे कृतसाहसोऽहम् ।
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवणेन तान् पूज्यपादगुरुदेववरान् नमामि ॥ ३ ॥

मैं केवल उमा से ही नहीं, किन्तु अनुमा से (अनुमान से या श्रवण, मनन आदि के पीछे मुझसे) भी प्राप्त उस परमेश्वर का वन्दन करता हूँ; जो श्रुतियों में अनेक नाम-रूपों से श्रुत, एक, नित्य और निर्विकल्प-समाधि का विषय है ॥ १ ॥

हे भवानि ! मैं संसार में अनादिकाल से संचित पाप को दूर करने के लिए आपके उन चरण-कमलों में नत होता हूँ, जो मान छुड़ाने के लिए प्रियतम के नत

१ यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है; क्योंकि जो उमा से अधिगत है, वह (न + उमा =) अनुमा से अधिगत कैसे होगा ? इस तरह आपाततः विरोध प्रतीत होता है । जो स्थाणु (शुष्क वृक्ष) है, वह पुरुष तथा जो निर्विकल्पक (प्रकाररहित) ज्ञान का विषय है, वह श्रुत-ज्ञान का विषय कैसे ? यों आपाततः विरोध का भान होता है ।

२ यहाँ श्लेष अलङ्कार है । प्रथम पक्ष में 'मानः (ईर्ष्या) तस्य अपनोदनं (दूरीकरणं) तदेव विनोदः (क्रीडा) ऐसा समास है । द्वितीय पक्ष में 'मानं (प्रमाणम्) अपनुद्यते अनेनेति मानापनोदनम् अज्ञानं तस्य विनोदः (दूरीकरणं) तत्र नते' ऐसा समास है ।

३ पराचाम् = बाह्य पदार्थों का । निरुक्तयः = लक्षण ।

शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः सर्वत्र निर्वचनमात्रमखर्वगर्वान् ।
धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ॥ ३ ॥

प्रमाणादि-स्व कार का कथाङ्गत्व-खण्डन

अथ कथायां वादिनो नियममेतादृशं मन्यन्ते—'प्रमाणादयः

होने पर उनके शिरोभूषण चन्द्र की किरणों से औचित्यवश सङ्कुचित हैं। अथवा अज्ञान के नाश के लिए जीवों के नत (उपासना में तत्पर) होने पर उनके उपासनारूप चन्द्र की किरणों से सङ्कुचित (साकारता को प्राप्त) हैं ॥ २ ॥

हे धीरो ! आप लोग जैसा लिखा है, वैसा ही (ऊहापोह से रहित भी) इस ग्रन्थ को शुक के तुल्य कहकर पदार्थमात्र के लक्षणों के खण्डन द्वारा अतिगर्व से युक्त पण्डितों को सब जगह चुप करते हुए लोक में दिग्विजयरूप क्रीड़ा का विस्तार करें ॥ ३ ॥

१ 'शब्दस्य अर्थः तस्य निर्वचनम्...' ऐसा समास है। विद्यासागरी और शाङ्करी में 'शब्दश्च अर्थश्च...' ऐसा लिखा है। इसमें शब्द विशेषण व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि शब्द भी शब्द-शब्द का अर्थ ही है, 'अर्थनिर्वचन' कहने से ही इष्ट सिद्ध हो जायगा। सच तो यह है कि 'इस शब्द का यह अर्थ है' इस बोध के द्वारा शब्दप्रयोगरूप व्यवहार की सिद्धि ही लक्षण का प्रयोजन है। इसलिए शब्द के अर्थ का ही लक्षण होता है।

२ शास्त्रार्थ के आरम्भ से पहले वादी-प्रतिवादी दोनों मिलकर कुछ नियम मान लेते हैं, इसलिए कि शास्त्रार्थ निर्विघ्न समाप्त हो। जैसे—सत्यनिष्ठ, दोनों से अधिक विद्वान् तथा सीमा के लांघनेवाले को दण्ड देने में समर्थ मध्यस्थ होना चाहिए, वादी को अपना पक्ष प्रमाण-तर्क से सिद्ध करना चाहिए एवं प्रतिवादी को वादी के पक्ष में दोष देना चाहिए, ऐसे बहुत से नियम देश-काल के अनुसार होते हैं। नैयायिक इनसे अधिक एक और नियम सबसे मनवाना चाहते हैं कि 'प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थ हैं, यह वादी-प्रतिवादी दोनों को शास्त्रार्थ से पहले ही मान लेना चाहिए।' उनका आशय यह है कि यदि प्रतिवादी इस नियम को मान लेगा, तो अपने सिद्धान्त शून्यवाद आदि से गिर जायगा। यदि न मानेगा, तो शास्त्रार्थ का अनधिकारी होने से विद्वत्समाज से बहिष्कृत हो जायगा। इस ग्रन्थ में सबसे प्रथम इसी नियम का खण्डन करते हैं।

सर्वतन्त्रसिद्धान्ततया सिद्धाः पदार्थाः सन्तीति कथकाभ्यामभ्युपेयम् ।'

तदपरे न क्षमन्ते । तथाहि—प्रमाणादीनां सत्त्वं यदभ्युपेयं कथकेन तत्कस्य हेतोः ? किं तदनभ्युपगच्छद्भ्यां वादिप्रतिवादिभ्यां तदभ्युपगमसाहित्यनियतस्य[1] वाग्व्यवहारस्य प्रवर्तयितुमशक्यत्वात्, उत कथकाभ्यां प्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात्, उत लोकसिद्धत्वात्, अथवा तदनभ्युपगमस्य तत्त्वनिर्णयविजय-फलातिप्रसञ्जकत्वात् ।

न तावदाद्यः, तदनभ्युपगच्छतोऽपि चार्वाकमाध्यमिकादेर्वाग्विस्तराणां प्रतीयमानत्वात् । तस्यैव वाऽनिष्पत्तौ भवतस्तन्निरासप्रयासानुपपत्तेः । सोऽयमपूर्वः प्रमाणादिसत्त्वानभ्युपगमात्मा वाक्स्तम्भनमन्त्रो भवताऽभ्यूहितः; नूनं यस्य

कथा (शास्त्रार्थ) के आरम्भ से पहले नैयायिक आदि भेदवादी एक ऐसा भी नियम मानते हैं कि सब (तन्त्रों) के सिद्धान्त रूप से सिद्ध 'प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ हैं—यह वादी, प्रतिवादी दोनों को अवश्य मान लेना चाहिए ।'

अद्वैतवादी वेदान्ती इस नियम को नहीं मानते । वे कहते हैं कि शास्त्रार्थ के आरम्भ से पहले शास्त्रार्थी प्रमाणादि की सत्ता क्यों मानें ? क्या इस कारण कि प्रमाणादि के स्वीकार के बिना वाग्व्यवहार (वचन) की प्रवृत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि वाग्व्यवहार प्रमाणादि के स्वीकार से नियत (व्याप्य) है । अर्थात् प्रमाणादि के स्वीकार के बिना नहीं बनता । अथवा इस कारण कि प्रमाणादि का स्वीकार उस वाग्व्यवहार का हेतु है, जिसको वादी, प्रतिवादी दोनों करना चाहते हैं । या इस कारण कि 'प्रमाणादि-स्वीकार शास्त्रार्थ-हेतु है' यह लोक-सिद्ध है । या इस कारण कि शास्त्रार्थ का फल (तत्त्वनिर्णय या विजय) प्रमाणादि-स्वीकार के बिना सिद्ध नहीं हो सकता ।

प्रथम विकल्प-खण्डन—इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि चार्वाक, माध्यमिक (बौद्ध) प्रभृति प्रमाणादि को नहीं मानते और उनके भी शास्त्रार्थ में

१ इस ग्रन्थ को देखने से ज्ञात होता है कि नियत व्याप्य को कहते हैं । यह ठीक है, क्योंकि 'दण्ड-नियत घट है' ऐसा प्रयोग होता है, 'घट-नियत दण्ड है' ऐसा प्रयोग नहीं होता । परन्तु 'नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः', 'अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता' आदि ग्रन्थों के देखने से ज्ञात होता है कि 'नियत' व्यापक को कहते हैं । वह अनुभवविरुद्ध-सा ज्ञात होता है ।

प्रभावाद् भगवता सुरगुरुणा लोकायतकानि सूत्राणि न प्रणीतानि, तथागतेन वा मध्यमागमा नोपदिष्टाः, भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभाषि ।

प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यापि प्रवर्तयन्तु नाम ते वाचो भङ्गीः, तास्तु साधनबाधनक्षमा न भवन्ति तावतेति ब्रूम इति चेत्। न; प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं तदीयसाधन-बाधनाक्षमतायां न नियामकम्, किन्तु [1]सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वमित्यवश्यमभ्युपेयं भवता, येनाभ्युपगम्यापि प्रमाणादीनि प्रवर्तिता मतान्तरानुसारिभिर्व्यवहारा अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वैर्मतान्तरव्यवहारिभिरपरैरतथाभूता इति कथ्यन्ते । यदि त्वस्मद्वचसि सद्वचनाभासलक्षणं न भवान् दर्शयितुमीष्टे, तदाऽनभ्युपगम्य

वाग्व्यवहार देखे जाते हैं । यदि उनके शास्त्रार्थ में वाग्व्यवहार न हो, तो उनके मत के खण्डन के लिए बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखने का आपका परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। आपने यह तो विलक्षण वाक्स्तम्भनकारी एक मन्त्र कल्पित किया है, मानो जिसके प्रभाव से भगवान् सुरगुरु (बृहस्पति) ने लोकायत-सूत्रों का प्रणयन न किया हो, तथागत (बुद्धदेव) ने मध्यमागम (शून्यवाद) का उपदेश न दिया हो और श्रीभगवत्पाद (शङ्कराचार्यजी) ने श्रीवेदव्यासजी के सूत्रों पर भाष्य ही न रचा हो ।

समर्थन—चार्वाक आदि प्रमाणादि को न मानकर भी वाग्व्यवहार में प्रवृत्त हों। परन्तु उनका वचन प्रमाणादि न मानने के कारण स्वपक्ष के साधन और परपक्ष के बाधन में सक्षम नहीं है । *खण्डन*—आप लोगों ने जो उनके वचन के खण्डन में बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी हैं, उन्हींसे यह सिद्ध होता है कि उनका वचन साधन-बाधन में समर्थ है। तथ्य तो यह है कि वचन में जो साधन तथा बाधन की अशक्ति है, उसका कारण प्रमाण आदि को न मानकर प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु सद्वचनाभासत्व है; इसको आप भी अवश्य मानेंगे। अन्यथा यदि प्रमाणादि के अस्वीकार को साधन-बाधन की अशक्ति का कारण मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा कि प्रमाणादि-स्वीकार साधन-बाधन की शक्ति का कारण है । पर ऐसा मान नहीं सकते; क्योंकि प्रमाणादि को माननेवाले नैयायिक प्रमाणादि को माननेवाले

१ सद्वचन = सद्धेतुप्रतिपादक वाक्य और सद्वचनाभास = हेत्वाभासप्रतिपादक वाक्य, उसका लक्षण = हेत्वाभासप्रतिपादकवाक्यत्व, तद्योगित्व = उसका सम्बन्ध । विद्यासागरी और शाङ्करी दोनों में यह अर्थ किया है—'सद्वचनाभासः = स्फुटावभासो व्यभिचारादिः तल्लक्षणं = साध्यात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यादि' । समझ में नहीं आता कि असद्धेतु में रहनेवाला यह धर्म वचनरूप सद्वचनाभास में कैसे जायगा ?

प्रमाणादीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहार इति शतकृत्वस्त्वया उच्यमानेऽपि नास्माकमादरः । अन्यथा अभ्युपगम्य प्रमाणदीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहार इत्येतावता भवदीयो व्यवहाराभास इत्यस्माभिरपि वक्तुं शक्यत एव ।

ननु यदि प्रमाणादीनि न सन्ति, तदा व्यवहार एव धर्मी कथं सिद्ध्येत्, दूषणादिव्यवस्था वा कथं स्यात् ? सर्वविधिनिषेधानां प्रमाणाधीनत्वात् । मैवम् ; न ब्रूमो वयं न सन्ति प्रमाणादीनीति स्वीकृत्य कथाऽऽरभ्येति । किन्नाम सन्ति न सन्ति वा प्रमाणादीनीत्यस्यां चिन्तायामुदासीनैः यथा स्वीकृत्य तानि व्यवह्रियन्ते, तथा व्यवहारिभिरेव कथा प्रवर्त्यतामिति । अन्यथा न सन्ति प्रमाणादीनीति मतमस्माकमारोप्य यदिदं भवता दूषणमुक्तम्, तदपि वक्तुं न शक्यम् । कीदृशीं मर्यादामालम्ब्य प्रवृत्तायां कथायामिदं दूषणमुक्तम् ? किं प्रमाणादीनां सत्त्वमभ्युपगम्य उभाभ्यां वादिभ्यां प्रवर्तितायां कथायाम्, उतासत्त्वमभ्युपेत्य, अथैकेन सत्त्वमपरेणासत्त्वमङ्गीकृत्य ? नाद्यः, अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वं प्रति एतादृशपर्यनुयोगानवकाशात् । द्वितीये स्वतोऽप्यापत्तेः । न तृतीयः, तथैव कथान्तरस्यापि प्रसक्तेः ।

मीमांसकों के वचनों को साधन-बाधन में असमर्थ कहते हैं । प्रमाणादि-स्वीकार साधन-बाधन-शक्ति का कारण न होने पर भी यदि आप हमारे वचन में आभासत्व (दोष) न दिखा सकें, तो सौ बार भी कहें कि 'प्रमाणादि न मानकर प्रवृत्त होने से आपका यह वाग्व्यवहार प्रमाणाभास (अप्रमाण) है', फिर भी आपके उस वचन में हमें कोई आदर न होगा। फिर यदि वचन में आभासत्व न दिखाकर भी साधन में अक्षमत्व का प्रतिपादन करते रहें, तो हम भी कह सकते हैं कि प्रमाणादि को मानकर प्रवृत्त होने से आपका वचन भी साधन में अक्षम है ।

समर्थन— यदि प्रमाणादि नहीं हैं, तो वाग्व्यवहाररूप धर्मी (अङ्गी) कैसे सिद्ध होगा और दूषण आदि की व्यवस्था भी कैसे होगी, क्योंकि सभी विधि-निषेध प्रमाण के ही अधीन हैं । *खण्डन*—हम यह नहीं कहते कि 'प्रमाण आदि नहीं हैं' ऐसा मानकर शास्त्रार्थ का आरम्भ करिये । किन्तु प्रमाणादि हैं या नहीं, इस चिन्ता से उदासीन होकर जैसा आप मानते हैं, वैसा ही मानकर शास्त्रार्थ का आरम्भ करना चाहिए । अन्यथा (प्रमाणादि-स्वीकार को यदि शास्त्रार्थ का अङ्ग मानें तो) 'प्रमाणादि नहीं हैं' ऐसा मेरा मत मानकर जो आप दोष देते हैं कि 'यदि प्रमाणादि नहीं हैं तो व्यवहार-

उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाच्च कथानियमस्य । अन्यथा स्वाभिप्रायमालम्ब्य तेनापि त्वद्वचसि यत्किंचिद्वागात्मनि दूषणेऽभिहिते कस्य जयो व्यवतिष्ठताम्? प्रमाणाभ्युपगन्तुरेव यावन्नियमभरयन्त्रणा महती स्यात् । तस्मात् प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमौदासीन्येन व्यवहारनियमेन समयं बद्ध्वा प्रवर्तितायां कथायां भवतेदं दूषणमुक्तमित्युचितमेव तथामति स्यात् । योऽयं भवान् स्वाभिप्रायमपि नावधारयितुं शक्नोति, दूरतस्तस्मिन् पराभिसन्धानावधारणप्रत्याशा ।

रूप धर्मी कैसे सिद्ध होगा', वह भी नहीं बनेगा । अच्छा, किस मर्यादा (नियम) को मानकर प्रवृत्त शास्त्रार्थ में आप यह दोष देते हैं ? क्या प्रमाणादि के सत्त्व को मानकर वादी-प्रतिवादी दोनों से प्रवृत्त शास्त्रार्थ में, प्रमाण आदि के असत्त्व को मानकर दोनों से प्रवृत्त शास्त्रार्थ में या एक से सत्त्व और अन्य से असत्त्व को मानकर प्रवृत्त शास्त्रार्थ में ? इनमें प्रथम विकल्प युक्त नहीं है, क्योंकि जो प्रमाणादि को मानते हैं, उनके प्रति 'प्रमाण आदि को न मानने पर व्यवहाररूप धर्मी कैसे सिद्ध होगा', यह दोष देना नहीं बनता । द्वितीय पक्ष में आप भी प्रमाण आदि के न माननेवाले सिद्ध होंगे । तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस शास्त्रार्थ के तुल्य ही अन्य शास्त्रार्थों के भी प्रमाणादि-स्वीकार के विना ही सिद्ध होने से 'प्रमाणादि का स्वीकार शास्त्रार्थ-हेतु है' यह कथन असङ्गत हो जायगा ।

शास्त्रार्थ-नियम वादी-प्रतिवादी दोनों के स्वीकार पर निर्भर है । इसलिए भी केवल आपके स्वीकार से प्रमाणादि का स्वीकार शास्त्रार्थ-हेतु नहीं हो सकता । यदि शास्त्रार्थ-नियम को एक के स्वीकार का अनुरोधी मानें, तो इस नियम से प्रतिवादी स्वेच्छा से स्वीकृत 'हुँ फट्' शब्दोच्चारण रूप दोष दे, तो किसकी जय होगी ? बल्कि नियम के एकानुरोधी होने पर प्रमाणादि-स्वीकार को शास्त्रार्थ-हेतु माननेवाले को ही उससे महान् क्लेश होगा । अतः आपने प्रमाण आदि के सत्त्व-असत्त्व में उदासीनता से प्रवृत्त शास्त्रार्थ में 'यदि प्रमाणादि को न मानें, तो व्यवहाररूप धर्मी कैसे सिद्ध होगा' यह दोष दिया है, इस बात को हम दोनों यदि मान लें तो अच्छा ही है । जब आप अपना अभिप्राय जानने में असमर्थ हैं, तो 'प्रमाणादि-स्वीकार शास्त्रार्थ में हेतु नहीं है—यह हम कहते हैं, प्रमाणादि ही नहीं है—यह नहीं कहते' हमारे इस अभिप्राय के जानने की आपसे आशा तो अतिदूर है ।

अथ वादीकृत्य [1]दुर्वैतण्डिकं तस्मिन्नुपाधौ बाधोऽभिधीयते इत्येव नेष्यते, शिष्यादयस्तु तस्य कथानधिकारं ज्ञाप्यन्ते । अत एव भगवान् भाष्यकारः—'स[2] प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते' इत्याह स्म, न तु प्रतिपद्यसे इति । मैवम्; शिष्यादीन् प्रत्यपि चार्वाकादेर्दोषोऽयमित्यैवाभिधातव्यम् । कथं च तथा स्यात्, तस्य कथाप्रवेशनाप्रवेशनयोः तद्बाधाक्षमत्वात् । कथायामेव हि निग्रहः ।

नापि द्वितीयः । तथाहि—स्यादप्येवं यदि कथकप्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रति प्रमाणादीनां हेतुता तत्सत्त्वानभ्युपगमे निवर्तेत । न त्वेवं सम्भवति, तथा सति तत्सत्त्वानभ्युपगन्तृणां वाग्व्यवहारस्वरूपमेव न निष्पद्येत, हेत्वनुपपत्तेः ।

समर्थन—यहाँ कोई शास्त्रार्थ नहीं होता, आप हमारे ग्रन्थ को उद्धृत कर खण्डन करते हैं । हम भी वैतण्डिक को वादी बनाकर किसी शास्त्रार्थ में प्रमाणादि स्वीकार के शास्त्रार्थ-हेतुत्व को सिद्ध नहीं करते; किन्तु शिष्यों को 'वैतण्डिक के शास्त्रार्थ में अनधिकार' का बोध कराते हैं । इसलिए न्यायभाष्यकार ने 'स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते' ऐसा कहा है । अर्थात् परोक्षवाची तत् शब्द से वैतण्डिक का परामर्श किया और प्रथम पुरुष की क्रिया दी है । इससे 'कीदृशी' इत्यादि विकल्प व्यर्थ है । *खंडन*—शिष्य से भी आप यही कहेंगे कि चार्वाकादि का कथा में अधिकार नहीं है । पर यह कैसे हो सकता है; क्योंकि यदि उनका अधिकार है तो 'अधिकार नहीं है' यह कथन व्याहत है और यदि अधिकार नहीं है तो शिष्य उनको इस दोष से निगृहीत (विजित) कहाँ करेगा; क्योंकि कथा में ही निग्रह होता है और कथा में उनका अधिकार ही नहीं है।

द्वितीय विकल्प-खण्डन—द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्रार्थ के प्रमाणादि तो कभी हेतु हो भी सकते हैं, परन्तु उनका स्वीकार कभी भी हेतु नहीं हो सकता । यदि प्रमाणादि-स्वीकार भी हेतु होता, तो शास्त्रार्थ में प्रमाणादि की हेतुता

१ शास्त्रार्थ वाद, जल्प और वितण्डा तीन प्रकार के हैं । वाद और जल्प में वादी-प्रतिवादी दोनों स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का खण्डन करते हैं । इनमें भेद यह है कि वाद में छल-प्रयोग नहीं होता और उसका फल तत्त्व-निर्णय है । जल्प में छल-प्रयोग भी होता है और उसका फल विजय है । वितण्डा में वादी स्वपक्ष का साधन और प्रतिवादी उसके पक्ष का खण्डन करता है । उसका फल विजय है । वितण्डा से विजय के लिए जो प्रवृत्त हो, उसे 'वैतण्डिक' और दुष्टवैतण्डिक को 'दुर्वैतण्डिक' कहते हैं ।

२ वह वैतण्डिक यदि शास्त्रार्थ के प्रयोजन पूछने पर मान लेगा, तो प्रमाण भी मान ही लेगा, यह उक्त भाष्य का अर्थ है ।

उक्तश्चायमर्थो यन्माध्यमिकादिवाग्व्यवहाराणां स्वरूपापलापो न शक्यत इति।

अथ मन्यसे कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वम्, सत्त्वाच्चाभ्युपगमः, यत्सत् तदभ्युपगम्यते इति स्थितेरिति। मैवम्; कयापि नियमस्थित्या प्रवृत्तायां कथायां कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं सत्त्वाच्चाभ्युपगमो भवता प्रसाध्यः। कथातः पूर्वं तत्त्वावधारणं वा परपराजयं वाऽभिलषद्भ्यां कथकाभ्यां यावता विनाऽभिलषितं न पर्यवस्यति, तावदनुगेद्धव्यम्। तच्च [1]व्यवहारनियमसमयबन्धादेव द्वाभ्यामपि ताभ्यां सम्भाव्यते इति व्यवहारनियमसमयमेव बध्नीतः।

प्रमाणादि को न मानने पर निवृत्त हो जाती। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानें तो कारण के न होने से प्रमाणादि को न माननेवालों के वाग्व्यवहार के स्वरूप की ही निष्पत्ति, न होगी। यह बात तो हमने कह ही दी है कि माध्यमिकादि के वाग्व्यवहार के स्वरूप का अपलाप नहीं किया जा सकता।

समर्थन—वाग्व्यवहार के हेतु होने से प्रमाणादि सत्य हैं और सत्य होने से स्वीकार के योग्य हैं, क्योंकि जो सत्य होते हैं वे माने जाते हैं, ऐसी लोक की स्थिति है। *खण्डन*—इस युक्ति से भी प्रमाणादि-स्वीकार सिद्ध हुआ, प्रस्तुत (प्रमाणादि-स्वीकार का शास्त्रार्थ-हेतुत्व) सिद्ध नहीं हुआ। किञ्च, आप किसी नियम से प्रवृत्त कथा में वाग्व्यवहारके कारण होने से प्रमाणादि के सत्यत्व को और सत्यत्व होने से प्रमाणादि के स्वीकार को साधेंगे। यदि ऐसा है तो जिस कथा में प्रमाणादि की सत्ता को सिद्ध करेंगे, उसीमें व्यभिचार होने से अथवा उसीके तुल्य अन्य कथा के भी निर्वाह होने से प्रमाणादि-स्वीकार कथा का हेतु सिद्ध नहीं हुआ। कथा के आरम्भ से पूर्व जितने के विना तत्त्व-निश्चय या वादि-पराजयरूप अभिलषित फल की सिद्धि न हो, उतना ही दोनों को मानना चाहिए। अभिलषित फल की सिद्धि (व्यवहार-नियम से समयबन्ध=प्रतिज्ञारूप बन्धन से ही) कथाप्रवृत्ति से हो सकती है। इससे दोनों व्यवहार-नियम से प्रतिज्ञारूप बन्धन को स्वीकार करते हैं।

[1] व्यवहारः = वाग्व्यवहारः शास्त्रार्थ इति यावत्, तस्य प्रयोजका नियमाः प्रमाणैर्व्यवहर्तव्यमित्यादिरूपाः, तैः समयस्य = प्रतिज्ञायाः, 'इमान् नियमान् पालयिष्यामः' इत्यादिरूपायाः, बन्धनस्य = करणस्य।

स च 'प्रमाणेन तर्केण च व्यवहर्तव्यं वादिना। प्रतिवादिनाऽपि कथाङ्गतत्त्वज्ञानविपर्ययलिङ्गप्रतिज्ञाहान्याद्यन्यतमनिग्रहस्थानं तस्य दर्शनीयम्। तद्व्युत्पादने प्रथमस्य भङ्गो व्यवहर्तव्यः। अन्यथा तु द्वितीयस्यैव। तादृशेतरौ जेतृतया व्यवहर्तव्यौ। प्रामाणिकः पक्षस्तात्त्विकतया व्यवहर्तव्यः' इत्यादिरूपः।

अत एव व्यवहारनियमसमयबन्धेऽपि हेतुर्वक्तव्यः। तथा च सोऽपि कथायां प्रवृत्तायामभिधातुं युक्त इति प्रमाणसत्त्वहेत्वभिधानवत् प्रत्यवस्थानमनवकाशम्। द्वाभ्यामपि वादिभ्यां विचारप्रवृत्त्या अभिलष्यमाणतत्त्वव्यवस्थाजयमूलत्वेन व्यवहारनियमस्य स्वेच्छयैव परिगृहीतत्वात्।

न चैवं प्रमाणानुपन्नस्वेच्छामात्रपरिगृहीतमूलत्वात् मूलापरिशुद्धिसम्भवेन सर्वविचारविचार्यफलविप्लवापत्तिः स्यात्, [1]अविद्याविद्यमानाऽनादिपारम्पर्यायातस्य लोकव्युत्पत्तिगृहीतसंवादस्य च तस्य अन्यथाभावासम्भाव्यतालक्षणस्वतःसिद्धपरिशुद्धित्वात्।

वह समय-बन्ध निम्नलिखित रूप है—वादी को प्रमाण तथा तर्क से स्वपक्ष की सिद्धि करनी चाहिए और प्रतिवादी को कथाङ्ग तत्त्वज्ञान के विपर्यय (अज्ञान वा अतत्त्वज्ञान) के हेतुभूत प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थान दिखलाने चाहिए। यदि प्रतिवादी निग्रह-स्थान का समर्थन कर सके, तो वादी की पराजय होगी और यदि न कर सके, तो उसकी पराजय होगी। पराजित से अन्य जेता कहलायेगा। प्रमाण-युक्त पक्ष यथार्थ माना जायगा।

शंका—व्यवहार-नियम शास्त्रार्थ का कारण है, इसका साधन भी शास्त्रार्थ में ही होगा। तब तो जिस शास्त्रार्थ में उसकी सिद्धि होगी, उसीमें व्यभिचार होने तथा उसीके तुल्य अन्य शास्त्रार्थ का भी निर्वाह होने से व्यवहार-नियम भी शास्त्रार्थ का अङ्ग सिद्ध नहीं होगा। *खंडन*—विचार (शास्त्रार्थ) की प्रवृत्ति से अभिलषित तत्त्वज्ञान और विजयरूप फल का कारण होने से वादी और प्रतिवादी दोनों अपनी इच्छा से समय-बन्ध को कारण मान लेते हैं।

शंका—जब आप समय-बन्ध को प्रमाण के बिना स्वेच्छामात्र से ही विचार या शास्त्रार्थ का कारण मान लेते हैं, तो उसका मूल परिशुद्ध (प्रमाणसिद्ध) नहीं रहा। फलतः शास्त्रार्थ, उससे विचारणीय तत्त्व और फल (विजयादि) सिद्ध नहीं होंगे। तब तो वादी भी स्वेच्छा से यह नियम बना सकता है कि ''हुँ फट्' का उच्चारण भी

१ अविद्यमानानादिपारम्पर्यायातस्येति विद्यासागरीसम्मतः पाठः। स एवानुसृतः।

प्रमाणानामनादाय न पर्यवस्यति । दूषणानां चास्तित्वेन भङ्गावधारणनियम-बन्धने साधनाङ्गव्याप्त्यादीनां सत्त्वेन तद्विषयस्य तत्त्वरूपताव्यवहारनियमनादौ च कण्ठोक्तमेव तस्य तस्य सत्त्वमङ्गीकृतमिति रिक्तमिदमुच्यते प्रमाणादीनां सत्तामनभ्युपगम्य कथारम्भः शक्यत इति ।

मैवम्; एभिरपि बाधकैः कथायामारब्धायामेव अभिमतस्य प्रसाधनीयत्वे पूर्वोक्तबाधायां अनिस्तारात् । न च व्यवहारनियमस्य स्वेच्छास्वीकृतस्यैव प्रमाणादिसत्तास्वीकारपर्यवसायितया नायं दोषः स्यात् । यतः सत्ताज्ञानस्य तत्राङ्गत्वम्, नतु सत्तायाः ।

तत्र किं सत्त्वावगममात्रात् सत्ताऽभ्युपगम्येति मन्यसे, अबाधितात् तदवगमाद्वा ? न तावदाद्यः, मरुमरीचिकादौ जलरूपतासद्भावाभ्युपगमप्रसङ्गात् । द्वितीयेऽपि किं वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य तस्यापि कथाकालमात्र एव

यह नियम-बन्ध भी नहीं हो सकता । ऐसे ही दूषण के रहने पर पराजय के अवधारण (निश्चय) रूप नियम में और साधनाङ्ग व्याप्ति के सत्त्व से साध्यसत्यत्वा-वधारणरूप नियम में प्रमाण-दूषण-व्याप्ति आदि के सत्त्व का साक्षात् कण्ठ से ही अङ्गीकार किया है । अतः प्रमाण आदि को न मानकर कथारम्भ हो सकता है, यह कथन युक्तिशून्य है ।

खंडन—इन बाधक युक्तियों से भी कथा का आरम्भ होने पर ही अभिलषित (प्रमाणादि-स्वीकार की कथाङ्गता) की सिद्धि हो जायगी । अतः पीछे कहे दोषों का निवारण नहीं हुआ । अर्थात् जिस कथा में प्रमाणादि-सत्ता सिद्ध हुई है, उसीमें व्यभिचार होने और वैसे ही अन्य कथा के भी निर्वाह होने से प्रमाणादि-स्वीकार कथाङ्ग नहीं है ।

समर्थन—हम किसी कथा में प्रमाणादि-स्वीकार की कथाङ्गता को सिद्ध नहीं करते; किन्तु अपनी इच्छा से स्वीकृत व्यवहार-नियम ही प्रमाणादि-स्वीकार में पर्यवसित (प्राप्त) हो जाता है, यह आपसे कहते हैं । *खंडन*—उक्त प्रकार से भी प्रमाणादि-सत्ता का ज्ञान ही कथाङ्ग हुआ, सत्ता नहीं ।

समर्थन—यदि प्रमाणादि-ज्ञान कथाङ्ग हुआ, तो उस ज्ञान का विषय होने से प्रमाणादि-सत्ता भी कथाङ्ग हो ही गयी । *खंडन*—आप प्रमाणादि-ज्ञानमात्र से प्रमाणादि को स्वीकार करते हैं या अबाधित प्रमाणादि के ज्ञान से ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि मरु-मरीचिका में जल का ज्ञान होने से उसका (जल का) भी स्वीकार करना

बाधितावगमाभावात् अथवा कस्यचिदपि कालान्तरेऽपि च बाधितबोधविरहात् ? नाद्यः, अतिप्रसङ्गात्। पुरुषत्रयावगतस्यापि एकक्षणावगतस्य पुरुषान्तरेण तेनापि क्षणान्तरे बहुलं बाध्यत्वदर्शनात्। न चासौ अर्थोऽसत्योऽपि द्वित्रादिपुरुषमात्र-पूर्वजाततत्प्रतीत्यनुरोधात् बाधदर्शने संजातेऽपि तथैव सन्नित्यभ्युपगम्यते। तस्माद् द्वितीयः पक्षः परिशिष्यते, यत्र सर्वप्रकारेण बाधितत्वं नास्ति तत्सदित्यभ्युपगन्तव्यम्।

तदित्थं यदि नाम वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य दूषणादिसत्तावगमः कथा-कालमात्रे तैरबाध्यमानः कथाङ्गत्वेनाभ्युपेयते, तदा किमायातं सर्वप्रकाराबाधित-तत्सत्त्वावगमायत्ततत्सत्ताभ्युपगमकथाङ्गतानङ्गीकारस्य[1] ? । कतिपयप्रतिपत्तृ-कतिपय-काल-तथात्वावगमादेव प्रायेण लौकिको व्यवहारः प्रतीयते, तादृशश्चायं सत्त्वागमः कथाङ्गम्।

पड़ेगा। द्वितीय पक्ष में भी कथाकाल में केवल वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थमात्र के अबाधित ज्ञान से या किसीके भी (मनुष्यमात्र के) बाधित ज्ञान के न होने से प्रमाणादि-सत्ता का स्वीकार करते हैं ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि तीन या चार पुरुषों द्वारा अभ्रान्त रूप से ज्ञात भी अन्य पुरुषों या दूसरे क्षण में उन्हीं द्वारा प्रायः बाधित रूप से ज्ञात देखा जाता है। बाध-ज्ञान होने पर भी तीन-चार पुरुषों की पहली प्रतीति के अनुरोध से असत्य वस्तु बाध-ज्ञान के पूर्वक्षण के तुल्य सत् नहीं मान सकते। तस्मात् द्वितीय पक्ष ही ठीक रहा। अर्थात् जहाँ सब प्रकार से बाध न हो, वह सत् है, यही स्वीकार करना चाहिए।

तस्मात् इस रीति से यदि वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ के ही कथाकाल में बाध-बुद्धिरहित प्रमाणादि-स्वीकार को कथाङ्ग मान भी लें, तब भी सब काल में सब मनुष्यों का अबाधित ज्ञान न होने से प्रमाण, प्रमेय आदि का स्वीकार नहीं हो सकता

१ निष्कर्ष यह है कि प्रमाण-प्रमेय की सत्ता परमार्थ नहीं है। क्योंकि उनमें सब प्रकार से अबाधितत्व-ज्ञान नहीं हैं। किन्तु व्यावहारिक सत्ता है। अतः वह परमार्थ में न होने से शून्यवादी और अद्वैतवादी आदि को अपसिद्धान्त दोष नहीं है तथा व्यवहार में प्रमाणादि के होने से शास्त्रार्थ का निर्वाह भी हो जाता है।

प्रश्न—जो बात अन्त में कही गयी है, वह आरम्भ में ही क्यों न कही गयी ? उत्तर—ऐसा करने से यह पुस्तक प्राथमिक कक्षा में पाठ्य होती, शास्त्री एवं आचार्य में पाठ्य नहीं होती। छोटी-सी बात बड़ी कैसे बनती है, वादी विकल्प-जाल में फँसाकर निष्प्रतिभ कैसे किये जाते हैं, आदि शिक्षा देना ही इस तरह की रचना का लक्ष्य है।

एतत्तदुच्यते—व्यावहारिकीं प्रमाणादिसत्तामादाय विचारारम्भ इति। तस्माद् यादृग्व्यवहारनियमः कृतः, तन्मर्यादा अनेन नोल्लंघितेति यद्वादिव्यवहारे मध्यस्थावगमः स विजयते; यस्य तु वचसि नैवं तस्यावगमस्तस्य पराजयः; यत्र वाद्युक्तनिग्रहसत्त्वावगमः स निगृहीतः; तदितरस्तु न तथेत्यादिनियम एव कथारम्भाय ग्राह्यः।

अथ शून्यवाद-विचारः

अनेन नियमेन वक्तव्यमित्यस्य अयमर्थः—अनेन नियमेनोक्तमनेनेति मध्यस्थावगमस्य विषयीभवितव्यमिति। न च वाच्यमन्ततस्तदवगमस्यापि सत्ताऽभ्युपेयेति; तस्यापि सत्ताचिन्तायां तत्सत्तावगमान्तरस्यैव शरणत्वात्।

अतः आकाश-पुष्पायमान उसको शास्त्रार्थ का हेतु न भी मानें तो हानि क्या है ? कुछ मनुष्यों के कुछ काल में अबाधित ज्ञान से ही प्रायः सभी लौकिक व्यवहार देखे जाते हैं। अर्थात् कुछ मनुष्यों के कुछ काल में अबाधित प्रमाणादि-ज्ञान ही कथाङ्ग हैं।

इसलिए यह फलित हुआ कि व्यावहारिकी प्रमाणादि-सत्ता को मानकर विचार (कथा) का आरम्भ करना चाहिए। तस्मात् 'जैसा व्यवहार-नियम किया गया है, इसने उसकी मर्यादा (सीमा) का उल्लंघन नहीं किया, ऐसा जिस वादी के वाग्व्यवहार में मध्यस्थ को ज्ञान हो, वही विजय पाता है; जिस वादी के वचन (वाग्व्यापार) में मध्यस्थ को ऐसा ज्ञान न हो, वह पराजय पाता है; जिस वादी के वचन में मध्यस्थ को प्रतिवादी द्वारा उक्त निग्रहस्थान का ज्ञान हो, वह पराजित होता है और जिस वादी के वचन में निग्रहस्थान का ज्ञान न हो, वह पराजित नहीं होता है— इत्यादि नियम ही कथारम्भ के लिए ग्राह्य हैं।

शून्यवाद-विचार

ज्ञातव्य है कि जैसे वेदान्ती प्रमाण, प्रमेय आदि सभी पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता मानते हैं—अर्थात् घट-पट आदि का भासना ही उनकी सत्ता है, इससे अन्य सत्य-सत्ता नहीं है—वैसे ही शून्यवादी भी सबको प्रातिभासिक मानते हैं। भेद इतना ही है कि वेदान्ती प्रतिभास को सत्य मानते हैं और शून्यवादी प्रतिभास की सत्ता भी प्रातिभासिक ही मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे घटादि की सत्ता 'घटः' इत्याकारक ज्ञान ही है, वैसे ही 'घटः' इस ज्ञान की सत्ता भी 'ज्ञातो घटः' ज्ञान यह ही है, अन्य नहीं।

न चैवमनवस्था; तदनुसरणावश्यम्भावानङ्गीरात्। 'एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः' इति न्यायात्।

न चान्तिमासत्त्वे पूर्वप्रवाहासत्त्वापत्तिः, तथा च अवगममादायापि व्यवहरतो न निस्तार इति वाच्यम्। अस्तु एवं हि। तथापि त्रिचतुरज्ञानकक्षागवेषणमात्र-

यहाँ संक्षेप से उनके मत का विचार करते हैं। इस वितण्डा-शास्त्रार्थ में शङ्का या खण्डनकर्ता नैयायिक हैं और समाधानकर्ता बौद्ध।

शङ्का—प्रमाणादि-स्वीकार को शास्त्रार्थ का हेतु न मानने से लाभ क्या हुआ? जब आपने व्यवहार-नियम को शास्त्रार्थ-हेतु मान लिया, तो इसीसे द्वैत सिद्ध हो गया।

समाधान—हम व्यवहार-नियम की सत्ता भी प्रातिभासिक (स्वप्न-पदार्थ के तुल्य प्रतिभासमात्र) ही मानते हैं। अर्थात् 'इस नियम से कथन करना चाहिए' इस वाक्य का यह भाव है कि 'इस नियम से इसने कथन किया है' ऐसा मध्यस्थ को ज्ञान होना चाहिए। इससे द्वैत नहीं होगा।

शङ्का—अन्ततः आपको समय-बन्ध के ज्ञान की सत्ता तो मान लेनी होगी? *समाधान*—ज्ञान-सत्ता की चिन्ता होने पर ज्ञान का ज्ञान ही शरण है। अर्थात् ज्ञान की सत्ता भी प्रातिभासिक ही है। *शंका*—समय-बन्ध (विषय) की सत्ता के लिए ज्ञान और उस ज्ञान की सत्ता के लिए अन्य ज्ञान इस प्रकार अनवस्था[1] हो जायगी? *समाधान*—ज्ञान का ज्ञान अवश्य हो, ऐसा नियम नहीं है। 'तीन या चार ज्ञान से अधिक ज्ञान नहीं होते' यह भट्ट का न्याय है। अर्थात् 'अयं घटः', 'ज्ञातो घटः' इससे अधिक ज्ञानधारा अनुभवसिद्ध नहीं है।

शंका—जिस अन्तिम ज्ञान का ज्ञान नहीं हुआ, उसकी प्रातिभासिक सत्ता न होने से समय-बन्ध (विषय) तक प्रवाह का असत्त्व हो जायगा? *समाधान*—ऐसा ही हो क्या हानि है? विचार से ऐसा ही सिद्ध होता है अर्थात् शून्यवाद ही ठीक है।

शंका—ऐसा होने पर प्रातिभासिक सत्ता को मानकर भी व्यवहर्ता के व्यवहार का निर्वाह कैसे होगा?

समाधान—सबके शून्य होने पर भी तीन या चार ज्ञानों की कक्षा के गवेषणमात्र में विश्रान्त और पंचमादि कक्षा के अन्वेषण से रहित विचार से ही समय बाँधकर

१ अवस्था = स्थिति, उसके अभाव को 'अनवस्था' कहते हैं। यह एक दोष है; कहीं भी विश्राम न होने से किसी वस्तु का निर्णय न हो पाना ही इसके दोषत्व का कारण है।

असच्च उपपादकश्चेति व्याहतमिति चेन्न। सत् उपपादकमिति कुतो न व्याहतम्? न हि सत् उपपादकम् असन्नेति क्वचिदावयोः सिद्धम्। ननु तदसत्त्वाविशेषात् कार्यस्य अन्यदापि जन्मप्रसङ्गः? न, कार्यस्याद्यसत्ताक्षण इवान्यदाऽपि सामग्र्यसत्त्वाविशेषात् तवापि किं नान्यदा कार्यजन्म?

अथ न मम तदानीन्तनं सामग्र्यसत्त्वं तदानीन्तनस्य कार्यजन्मनो नियामकम्, किन्तु ततः प्राक् सामग्रीसत्त्वं तथादर्शनात्? तर्हि ममापि कालान्तरस्थमपि तदसत्त्वं तदातनकार्यजन्मनो नियामकं तथादर्शनादेव। मम तु तदव्यवहितोत्तरत्वं तदा कार्यजन्मनो नियामकमिति चेन्न। समसमयत्वादागन्तुकत्वाच्च

शङ्का—असत् उपपादक है, यह कथन व्याहत है? *समाधान*[1]—सत् उपपादक है, यह कथन व्याहत क्यों नहीं? 'सत् उपपादक है, असत् नहीं' यह बात हम दोनों की किसी कथा (शास्त्रार्थ) में सिद्ध नहीं हुई है। । *शङ्का*—यदि कारण असत् है, तो असत्त्व में कोई विशेषता तो है नहीं। फिर अन्य काल में भी कार्य क्यों नहीं होता? *समाधान*[2]—कार्य के आद्यसत्ता-क्षण में जैसे सामग्री का असत्त्व है, वैसे द्वितीयादि क्षण में भी उसका असत्त्व है ही, असत्त्व में कोई विशेषता तो है नहीं। फिर तुम्हारे मत में द्वितीयादि क्षणों में कार्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती?

प्रतिबन्दी का परिहार—मेरे मत में कार्य के आद्यक्षण में विद्यमान सामग्री का असत्त्व आद्यक्षण में जायमान कार्य का नियामक नहीं है। किन्तु कार्य की उत्पत्ति से पूर्वक्षण में स्थित सामग्री का सत्त्व ही नियामक है, क्योंकि सामग्री से उत्तरक्षण में ही कार्य देखा जाता है। *खंडन*—तब तो मेरे मत में भी अन्य काल में भी स्थित कारण का असत्त्व उस काल में उत्पन्न कार्य की उत्पत्ति का नियामक होगा, क्योंकि उसी क्षण में, कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। *प्रतिबन्दी का परिहार*—मेरे मत में कारण का अव्यवहितोत्तरत्व उस काल में कार्यजन्म का नियामक है। *खण्डन*—समय (क्षण) सम (एक) है। अर्थात् जो कार्योत्पत्तिक्षणत्व है, वही सामग्र्युत्तरक्षणत्व भी है। अतः एक में ही नियम्यनियामकभाव नहीं हो सकता। अथवा सामग्र्युत्तरक्षणत्व और कार्यक्षणत्व दोनों का काल एक है, अतः वाम-दक्षिण शृङ्ग के तुल्य इनमें नियम्यनियामकभाव नहीं हो सकता। किंवा समय (सङ्केत) की एकता है अर्थात्

1 यह समाधान प्रतिबन्दी उत्तर है। शङ्काकर्ता जिस दोष को अपने मत में दे, उसी दोष को उसके मत में देना और उसका समाधान न करना ही 'प्रतिबन्दी उत्तर' कहलाता है।

2 यह भी प्रतिबन्दीरूप समाधान है।

अविशेषेण नियम्यनियामकव्यवस्थानुपपत्तेः । तस्माद् अन्यदास्थायाः सामग्र्याः तदा कार्यजन्मनियमोऽभ्युपेयस्तथादर्शनादित्येव वाच्यम् । तथा च समः समाधिः ।

तथापि कार्यजन्मकालस्य को विशेषः ? कार्यजन्मैव । अन्यथा यद् विशेषान्तरं तदपि विशेषान्तरवतः कालस्य स्यादित्यपर्यवसानमेव पर्यवस्येत् । तथापि तत्कालस्यानुगतं किं रूपमिति चेन्न । रूपान्तरवतोऽपि किं तदित्यस्यापि पर्यनुयोगस्यापत्तेः ।

सामग्र्युत्तरक्षणत्व और कार्यक्षणत्व दोनों शब्दों का घट, कलश शब्दों की तरह एक ही अर्थ है, अतः नियम्य-नियामकभाव नहीं हो सकता । या किसीसे अनियमित आकस्मिक सामग्री अपने उत्तरत्व से कार्य के जन्म का नियमन नहीं कर सकती । यदि सामग्री का नियामक अन्य सामग्री को मानें, तो उस नियामक का अन्य नियामक और उसका भी अन्य नियामक— इस रीति से अनवस्था हो जायगी ।

तस्मात् यही आप कहेंगे कि पूर्वक्षणवर्त्ती सामग्री ही उत्तरक्षणवर्ती कार्य-जन्म की नियामक होगी । क्योंकि सामग्री से उत्तरक्षण में कार्यजन्म देखा जाता है । तब तो समाधान तुल्य है, अर्थात् हम भी कह सकते हैं कि अन्य काल में स्थित भी कारण का असत्त्व उस काल में कार्यजन्म का नियामक है; क्योंकि उसी काल में कार्य-जन्म देखा जाता है । यहाँ यह न भूलना चाहिए कि शून्यवाद में एकमात्र ज्ञान असत् होता हुआ भी स्वविषय (घटादि) के व्यवहार का कारण है । अन्य कारण तो प्रातिभासिक सत्ता से युक्त होकर ही प्रातिभासिक कार्य के कारण हैं । स्वव्यवहार में तो ज्ञान भी प्रातिभासिक सत्तायुक्त ही कारण है, असत् नहीं ।

शङ्का—तब भी अन्य क्षणों से कार्य-जन्म के क्षणों में क्या भेद है ? *समाधान*—अन्य क्षणों में कार्य का जन्म नहीं होता, उसी क्षण होता है, यही अन्य क्षणों से कार्य-जन्मक्षण में विशेषता है । अन्यथा कार्यजन्म से अन्य 'सामग्र्यव्यवहितोत्तरत्वादि' कोई विशेषता कहें, तो वह भी अव्यावर्तक होने के कारण निर्विशेष काल में नहीं कहेंगे, किन्तु सामग्रीयुक्त काल में ही कहेंगे । इस रीति से उत्तरोत्तर सामग्री के आश्रयण में अनवस्था हो जायगी ।

शङ्का—तब भी कार्य-जन्म के काल का अनुगत रूप क्या है ? *समाधान*—कार्य-जन्म का सम्बन्ध ही काल का अनुगत रूप है । अन्यथा

किञ्च —

'अन्तर्भावितसत्त्व चेत् कारणं तदसत्ततः ।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः ॥'

तथा हि—अन्तर्भूतसत्त्वं यदि कारणत्वं तदा स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरंशतः स्वाश्रयत्वमापादयति । विशिष्टस्यार्थान्तरत्वेऽपि च स्वस्मिन् स्ववृत्तिव्यतिरेकवत् स्वविशिष्टे स्ववृत्तिर्व्यतिरेकनियमदर्शनात् ।

न सैव सत्ता तस्मिन्निति । अन्यस्या[3] विशिष्टवृत्त्यभ्युपगमे तामनिवेश्य कारणत्वमभ्युपगन्तुः सर्वथैवासत्कारणं पर्यवस्यति । अपरापरसत्तानिवेशने चाऽपर्यवसानमेव ।

सामग्र्युत्तरत्वादि कुछ भी अन्य रूप मानें, तो उनका भी अनुगमक रूप क्या है, ऐसे उत्तरोत्तर प्रश्न होते रहने से अनवस्था हो जायगी ।

सद्वाद का खण्डन – किञ्च,

यदि कारण सत्ता-सहित, यदि वा सत्ता-हीन ।
उभय पक्ष कारण असत्, जानो तुम मति-पीन ॥

देखिये, 'सत्-वादी सत्ता-विशिष्ट बीजादि को अंकुरादि का कारण कहेंगे अथवा सत्ता से उपलक्षित बीजादि को ? यहाँ प्रथम पक्ष में यह विकल्प होता है कि सत्ता-विशिष्ट में सत्ता रहती है या नहीं ? यदि नहीं, तो कारण असत् हीर हा । क्योंकि सत्ता के योग से ही वस्तु सत् होती है । यदि रहती है, तो 'विशिष्ट में रहनेवाला धर्म विशेषण में भी रहता है' इस नियम से आत्माश्रय[2] हो जायगा । यदि विशिष्ट को विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध से अतिरिक्त मानें, तब भी जैसे स्व में स्व-वृत्तित्व विरुद्ध है, वैसे ही स्व-विशिष्ट में भी स्व-वृत्तित्व विरुद्ध है, क्योंकि ऐसा कहीं देखने में नहीं आता ।

सद्वाद का समर्थन—वही सत्ता अपने से विशिष्ट में नहीं रहती, किन्तु अन्य सत्ता सत्ता-विशिष्ट कारण में रहती है । *खण्डन*— यदि ऐसा मानें, तो प्रथम सत्ता कुछ कर न सकी, क्योंकि उसके वैशिष्ट्य से कारण सत् नहीं

१ यहाँतक नैयायिक शून्यवाद पर आक्षेप करते रहे और शून्यवादी अपने मत का समर्थन । अब यहाँ से शून्यवादी सद्वाद का खण्डन करते हैं और नैयायिक सद्वाद का समर्थन ।

२ अपनी स्थिति या ज्ञान में अपना आश्रयण 'आत्माश्रय' है । इसके दोष होने का कारण 'भूतल में घट है' ऐसे प्रयोगों का होना और 'घट में घट है' ऐसे प्रयोगों का न होना है ।

३ 'तस्या' इति विद्यासागर्यामधिकः पाठः ।

न च सत्ताभेदानन्त्यमस्त्येवेत्यपि पादप्रसारिका निस्ताराय । सत्ताभेदे हि सद्बुद्धिव्यवहारानुगम[1]-समर्थनलंघिनः प्रथमापि सत्ता न स्यादिति वृद्धिमिच्छतो मूलमपि ते नष्टमिति हा[2] कष्टतरम् ।

न च स्वरूपसत्तोपगमाय स्वस्ति, भिन्नानपि अनुगतबुद्ध्याधानपदेऽभिषिञ्चता

हुआ । रही द्वितीय सत्ता, उसका कारण-कोटि में निवेश है या नहीं ? यदि नहीं, तो असत् ही कारण रहा । क्योंकि जैसे धूम में विद्यमान भी कृष्णत्व हेतुदल में अनिविष्ट होने से हेतुता में अनुपयोगी है, वैसे ही प्रथम सत्ता से विशिष्ट कारण में विद्यमान भी द्वितीय सत्ता—कारणकोटि में निविष्ट न होने से—कारण के सत् होने में उपयोगी नहीं है । यदि द्वितीय सत्ता का कारण-कोटि में निवेश करें, तो यह विकल्प होता है कि द्वितीय सत्ता से विशिष्ट कारण में सत्ता है या नहीं ? यदि नहीं, तो कारण असत् ही रहा । यदि है, तो पूछा जा सकता है कि द्वितीय सत्ता से विशिष्ट में द्वितीय सत्ता ही रहती है अथवा प्रथम सत्ता या तृतीय सत्ता ? यदि द्वितीय सत्ता ही रहती है, तो आत्माश्रय, प्रथम सत्ता रहती है तो अन्योन्याश्रय[3] और तृतीय सत्ता रहती हो, तो इस तरह अनन्त सत्ता मानने से अनवस्था होगी ।

समर्थन—[4]सत्ता में सत्ता इस प्रकार अनन्त सत्ताएँ इष्ट ही हैं अर्थात् अनुभवसिद्ध होने के कारण बीजांकुर के तुल्य यहाँ अनवस्था दोष नहीं है । *खण्डन*—इस तरह पैर फैलाने से भी निर्वाह नहीं होगा । क्योंकि अनन्त सत्ताएँ मानने पर 'सत्' इत्याकारक अनुगत प्रतीति प्रमाण न होने से प्रथम सत्ता भी सिद्ध नहीं हुई । शोक ! व्याज चाहनेवाले आपका मूल-धन भी नष्ट हुआ ।

समर्थन—हम जातिरूप सत्ता को नहीं, स्वरूपसत्ता को मानते हैं । अर्थात् घटादि स्वरूप से ही सत् हैं । अतएव अनवस्था दोष नहीं है । *खण्डन*—

१ 'अनुगमननिबन्धने'ति विद्यासागरीपाठः ।

२ 'हा' विद्यासागर्यां इति नास्ति ।

३ अन्योन्य की स्थिति या ज्ञान में अन्योन्य का आश्रय 'अन्योन्याश्रय' है । 'भूतल में घट है और उसी घट में वही भूतल है' ऐसा प्रयोग न होना ही इसके दोषत्व का कारण है ।

४ यद्यपि इस शास्त्रार्थ में नैयायिक प्रतिवादी हैं और वे सत्ता में सत्ता अथवा स्वरूप-सत्ता को नहीं मानते । अतः उनके द्वारा ऐसी शंकाएँ नहीं हो सकतीं । यदि वे ऐसी शंकाएँ करें, तो 'अपसिद्धान्त' कहकर ही उनका खण्डन उचित है । फिर भी खण्डनकार ने अपनी विद्वत्ता दिखलाने के लिए ही स्वयं शंका कर उनका खण्डन किया है ।

त्वया हि जातिमात्राय जलाञ्जलिर्वितीर्येत । मा भूदनुगतिः स्वरूपसत्त्वस्येति वदन् तद्गर्भिणीं कारणतां कथमनुगमयिताऽसीति ।

किञ्च स्वरूपसत्त्वं स्वरूपाद् घटाद्यात्मनो नाधिकम्, असतोऽपि स्वरूपं स्वरूपमेव । न हि असन् घटादिर्न घटादिः; तथा सति 'घटादिर्न' इत्यपि न स्यात्, असतोऽघटादित्वात् ।

अथ सदपि सत्तामनन्तर्भाव्य कारणम्, तदानीमसदपि तत्तथास्तु, सत्त्वासत्त्वयोः कारणकोट्यप्रवेशाविशेषात् ।

स्वरूपसत्ता प्रतिव्यक्ति भिन्न होने से 'इदं सत्', इदं सत्' इत्याकारक अनुगत प्रतीति न होगी। यदि अनेक में एक अनुगत रूप के न होने पर भी अनुगत प्रतीति मानी जाय, तो गौ आदि व्यक्तियों में गोत्वादि न मानने पर भी 'गौः' इत्याकारक अनुगत प्रतीति का निर्वाह होने लगेगा, फलतः इस तरह जातिमात्र को तिलाञ्जलि दे दी जायगी। *समर्थन*—सत्ता का सर्वत्र अनुगम न हो, स्वरूपभूत सत्ता प्रतिव्यक्ति भिन्न ही रहे, तब भी स्वरूपसत्ता से कारण तो सत् ही सिद्ध हुआ। *खण्डन*—स्वरूपसत्त्व प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न होने से उसमें घटित कारणत्व भी प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न हो जायगा। फिर कारणत्व का भी अनुगम कैसे करोगे ?

किञ्च—स्वरूपसत्त्व स्वरूप (घटादि) से अधिक तो है नहीं और असत् का स्वरूप भी स्वरूप ही है, क्योंकि असत् घटादि 'घटादि नहीं हैं' ऐसा नहीं है, किन्तु वे भी घटादि ही हैं। यदि असत् घटादि न होते, तो "घटादिर्न' यह प्रयोग भी न होता; क्योंकि निषेध किसका होगा ? जो वस्तु एकरूप से या एकदेश में रहती है, उसीका अन्य रूप से या अन्य देश में निषेध होता है। 'असन् घटः' यह प्रयोग भी नहीं होता, क्योंकि जब घट है नहीं, तो असत्त्व का विधान कहां होगा ?

समनर्थ—सत्ता कारण-कोटि में विशेषण नहीं, उपलक्षण है, यद्यपि घट का दण्ड कारण है, ऐसा ही कार्य-कारणभाव है, तब भी सत्ता के उपलक्षण होने से कारण सत् है। *खण्डन*—यदि ऐसा है, तो हम भी कह सकते हैं कि असत्ता का कारण-दल में प्रवेश न होने से कारण असत् है। क्योंकि सत्त्व-असत्त्व का कारणकोटि में निवेश न होनेपर दोनों मतों में कोई विशेषता न होने से कारण को असत् ही क्यों न मानें ? ।

अथ सत्ता न कारणकोटिनिविष्टा, किन्तु कारणत्वं सत्त्वम्, नियतपूर्वसत्तां हि कारणतां मन्ये इति मन्यसे; तर्हि मत्पक्षेऽपि सैव कारणताऽस्तु। तर्हि कारणस्य सत्तामभ्युपगतवानसीति घट्टकुट्यां प्रभातमिति चेन्न।

भावानवबोधात्। सत्तामसतीमभ्युपगच्छताऽपि सत्ता मयाऽभ्युपगतैव। अन्यथा काऽसौ असतीति। त्वमपि किं सत्तां तत्सत्तामन्तर्भाव्य कारणत्वमिच्छसि? न त्वेवम्; पूर्ववत् क्वापि सत्तात्यागो वा अनवस्थायां वा पर्यवसानं स्यात्।

असत्त्वाविशेषात् कारणनियमः कथं स्यादिति चेन्न। सत्त्वाविशेषेऽपि तुल्यत्वात्।

समर्थन—सत्ता कारणता में उपलक्षणत्व या विशेषणत्व से प्रविष्ट नहीं है। कारणत्व ही सत्त्व है, क्योंकि नियत-पूर्व-सत्त्व को ही कारण मानते हैं। *खण्डन*—यदि ऐसा मानते हैं, तब हमारे मत में भी नियत-पूर्व-सत्त्व ही कारणत्व है। *समर्थन*—तब आपने कारण की सत्ता मान ली, इससे घट्ट-कुटी में प्रभात हुआ। अर्थात् राज-कर के भय से छिपे मनुष्य का दैववश तहसील में प्रभात होने से जैसी गति होती है, वसी ही आपकी गति हुई।

सद्वाद खंडन—आपने मेरे भाव को नहीं जाना। सत्ता को असती मानने पर भी मैं उसे मानता ही हूँ। यदि सत्ता को न मानूँ, तो असत् किसे कहूँगा? आप भी 'नियतपूर्व-सत्त्वरूप कारणत्व' में अन्य सत्ता को मानते हैं या नहीं? यदि नहीं, तो असत् ही कारण हुआ। यदि मानते हैं, तो उस द्वितीय सत्ता को कारणत्व-दल में प्रविष्ट कर कारण मानते हैं या प्रवेश न कर? यदि प्रवेश न कर, तो असत् ही कारण रहा। यदि प्रवेश कर, तो सत्ता में सत्ता और उसमें अन्य सत्ता, इस रीति से अनवस्था हो जायगी। यदि किसी सत्ता में सत्ता न मानें, तो जड़ (मूल-कारण) तक सब असत् (सत्तारहित या मिथ्या) ही हो जायगा।

शङ्का—यदि कारण असत् है, तो असत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। फिर 'घट का दण्ड कारण है, रासभ नहीं' यह नियम कैसे होगा? *समाधान*—यदि कारण सत् हो, तब भी सत्त्व में कोई विशेषता नहीं रहती। दण्ड, रासभ सबकी सत्ता एक सी ही है। फिर तुम्हारे मत में भी 'दण्ड कारण है और रासभ नहीं' यह नियम कैसे होगा?

सत्त्वेऽस्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधानं तस्य तज्जातीयस्य वा। त्वत्पक्षे तु असत्त्वाविशेषाद् व्यतिरेकः। परं सोऽप्यनियतः, यदा कारणाभावस्तदा कार्याभावावश्यम्भावानभ्युपगमात्, नित्यासतः कारणस्यासत्त्व एव कदाचित्कार्योत्पादात्। अन्वयस्तु न क्वचिदपीति चेन्न। तुल्यत्वात्। अन्वयो नास्तीत्यभ्युपगच्छताऽप्यन्वयोपगमात्। अन्वयस्यापि सत्तान्तर्भावने कथितदोषापत्तेः।

एतेन—

'आशामोदकतृप्ता ये ये चोपार्जितमोदकाः।
रस-वीर्य-विपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते ॥'

सद्वाद-समर्थन—सत्त्व-पक्ष में दण्ड या दण्डजातीय के साथ घट का यह अन्वय-व्यतिरेक है—'जब दण्ड रहेगा, तब घट होगा और जब दण्ड का अभाव होगा, तब घट का भी अभाव होगा।' यही अन्वय-व्यतिरेक घट के प्रति 'दण्ड कारण है, रासभ नहीं' इसमें नियामक है। तुम्हारे मत में केवल व्यतिरेक (अभाव) है और वह भी नियत नहीं, क्योंकि जब 'कारण का अभाव हो, तो कार्य का अभाव अवश्य होगा' ऐसा नहीं है, असत् कारण के अभाव में भी-कभी कभी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। अन्वय तो कहीं भी नहीं है।

खंडन—'जहाँ दण्ड है, वहाँ घट है और जहाँ दण्डाभाव है, वहाँ घटाभाव है' यह अन्वय-व्यतिरेक दोनों मतों में एक-सा है। क्योंकि असत्-वादी भी वस्तु को स्वरूप-सत् (प्रातिभासिक) मानते ही हैं। यदि स्वरूप से भी सत् न मानें, तो उनके मत में 'असन् घटः', 'घटो न' आदि व्यवहार ही न होगा। यह अलग बात है कि प्रमाण से परमार्थतः दण्डादि सिद्ध नहीं होते, पर व्यवहार में तो हैं ही।

किञ्च, 'अन्वय नहीं है' यह कहनेवाले तुम्हें भी अन्वय अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि यदि असत् का भी अन्वय न हो, तो निषेध किसका होगा? *समर्थन*—सत् अन्वय ही कार्य-कारण-भाव का नियामक है और असत्-पक्ष में वह नहीं है। *खंडन*—तुम्हें 'सत् अन्वय' से क्या अभिप्रेत है—सत्ता से विशिष्ट या उपलक्षित अन्वय कार्य-कारण-भाव का नियामक है? दोनों पक्ष बन नहीं सकते, कारण उक्त रीति से (अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्' इस रीति से) वे अयुक्त हैं।

शङ्का—

'आशा-मोदक विपणि के, मोदक से सममोद।
चहिए तुम्हरे मतहि में, तुष्टि-पुष्टि अरु तोंद ॥

इत्यस्यापि बाधकत्वमाशामोदकायते। सत्तान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां प्रत्यादेशात्, आशामोदकादिनाऽपि च रसवीर्यविपाकादिजननात्। तदसत्कथं कार्यं स्यादिति चेन्न। सत्तामन्तर्भाव्य कार्यत्वोपगमे कारणवत्कार्येऽपि उक्तदोषस्य, अनन्तर्भावे वाऽविशेषस्य पूर्ववदावृत्तेः। तस्मात्—

'पूर्वसम्बन्धनियमे[1] हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूत-सत्त्वासत्त्वकथा वृथा॥'

अर्थात् जब सब वस्तुएँ असत् (प्रातिभासिक) हैं, तो मनोमोदक और बाजार के मोदक से एक सा रस-वीर्य-विपाक होना चाहिए। *समाधान*—यह तर्क भी मनोमोदक के तुल्य आभास ही है। क्योंकि तर्क विपर्यय (अभाव) में पर्यवसायी हुआ करता है। यहाँ विपर्यय में इस प्रकार पर्यवसान होगा कि 'तुल्य रसादि दोनों से नहीं होता, अतः कारण सत् है।' परन्तु सत्-पक्ष का पूर्वोक्त युक्ति से खण्डन होने के कारण-विपर्यय में पर्यवसान नहीं बनता। सच तो यह है कि स्वप्न के मनोमोदक से भी जाग्रत्कालीन मोदक के समान ही रसादि देखा जाता है। इसी तरह गुञ्जा-पुञ्ज में कल्पित अग्नि से भी वानर की शीत-निवृत्ति देखी जाती है। अतः 'दोनों से तुल्य रसादि नहीं होता' यह कथन नहीं बनता।

शङ्का—उत्पत्ति से पहले असत् घटादि में भी सत्ता-सम्बन्धरूप कार्यत्व रहता ही है। इससे कार्य असत् कैसे हो सकता है? *समाधान*—यदि सत्ता के अन्तर्भाव से कार्यत्व मानें, तो कारण के तुल्य कार्य में भी उक्त दोष आयेगा। यदि सत्ता का कार्यत्व में अन्तर्भाव न मानें, तो सत्ता के अनन्तर्भाव से असत् ही कार्य क्यों न हो?

पूर्वोक्त युक्ति से सत्त्व कारण-कोटि में निविष्ट नहीं है। अतः दोनों मतों में नियत-सम्बन्धरूप हेतुत्व तुल्य है। फिर इस प्रसङ्ग में हेतुत्व से पृथग्भूत कारण के सत्त्व-असत्त्व का विचार व्यर्थ है। यदि कारणत्व के सत्त्व-असत्त्व का विचार ही करना हो, तो स्वतन्त्र रूप से ही करना चाहिए।

पूर्व नियम से कार्य के, जो सो कारण यार।
इस प्रसङ्ग में क्यों करो, कारण-सत्त्व-विचार॥'

[1] पूर्वेण = कार्यपूर्ववृत्तित्वेन नियमेन, संबन्धः = वृत्तित्वम्। राजदन्तादित्वात् नियमशब्दस्य पूर्वनिपातः।

आस्तां प्रतिबन्दिग्रहाऽऽग्रहः। कथं पुनरसतः कारणत्वमवसेयम्, प्राक्सत्त्व-नियमस्य विशेषस्यानभ्युपगमात्; असत्त्वस्य चाविशेषादिति चेन्न। 'इदमस्मान्नियतप्राक् सत्' इति बुद्ध्या विशेषात्।

भ्रान्तैवंबुद्धिगोचरेऽतिप्रसङ्ग इति चेन्न। यादृश्या हि धिया त्रिचतुरकक्षा-बाधाऽनवबोधविश्रान्तया वस्तुसत्त्वनिश्चयस्ते, तादृश्यैव विषयीकृतस्य ममापि कारणतानिश्चयः। केवलं ततः परास्वपि कक्षासु बाधात् पूर्वपूर्वभ्रान्तिसम्भवेन न तावता सत्त्वावधारणं वयं मन्यामह इति विशेषः।

परदर्शनसिद्धान्तस्य भूरिकक्षाबाधाविनोऽपि ततः परकक्षाबाध्यमानत्वेन अतथाभावोपगमात्। अन्यथा एकदर्शनपरिशेषः स्यात्।

शङ्का—प्रतिबन्दीरूप राहु का ग्रहण भले ही रहे, क्योंकि प्रतिबन्दी को वक्ष्यमाण रीति से आप दोष मानते नहीं। फिर असत् कारण होता है, यह कैसे जानें, क्योंकि कारण में नियत-प्राक्सत्त्वरूप विशेष तो आप मानते नहीं और असत्त्व में कोई विशेषता है नहीं। *समाधान*—'दण्ड घट से नियमतः प्राक्क्षण में रहता है' यह बुद्धि ही विशेष है।

शङ्का—यदि बुद्धि ही विशेष है, तो 'रासभ घट से पूर्व है' इस बुद्धि से रासभ को कारण क्यों न मानें? *समाधान*—तीन या चार ज्ञान की कक्षाओं में बाध के अदर्शन से विश्रान्त जैसी बुद्धि से तुम्हें वस्तु का निश्चय होता है, वैसी ही बुद्धि से हमें भी कारणता का ज्ञान होता है। भेद यही है कि तीन या चार कक्षाओं से अग्रिम कक्षाओं में बाध की सम्भावना से सम्भव है कि पूर्व-पूर्व ज्ञान भ्रम हो, इसलिए हम तीन-चार कक्षाओं में बाध न होने पर भी वस्तुसत्त्व का निश्चय नहीं करते।

शङ्का—तीन-चार ज्ञान-कक्षाओं में बाध न होने से अनुमान से अग्रिम कक्षा में भी अबाध सिद्ध होगा। *समाधान*—यह नियम नहीं है कि जो तीन-चार कक्षाओं में अबाधित हो, वह अग्रिम कक्षाओं में अबाधित ही रहेगा। क्योंकि नैयायिक मीमांसकाभिमत शब्द-नित्यत्व-सिद्धान्त को, तीन चार ज्ञान-कक्षाओं में बाध न होने पर भी, अग्रिम कक्षा में बाधित मानते ही हैं। यदि तीन-चार कक्षाओं में अबाधित होने से किसी के सिद्धान्त को प्रामाणिक मानें; तो सब दर्शनों के सिद्धान्त आपाततः अबाधित होने से प्रामाणिक होने लगेंगे। फिर तो प्रामाणिकत्व-अप्रामाणिकत्वकृत दर्शनों के भेद भी न होंगे, सब दर्शन मिलकर एकदर्शन हो जायँगे।

एतेन—असत्त्वाविशेषेऽपि कथं कस्यचित्पक्षस्य त्रिचतुरकक्षाधावित्वाधावित्व-मास्तामित्यपि निरस्तम् ।

अनेवं बुद्धिविषयतादशायां को विशेष इति चेत्, यदा कदापि तादृशबुद्धि-विषयतैव । अन्यथा कथय कथमन्यदातनतादृशबुद्धिविषयतया अन्यदा सत्त्वं स्यात् । तदा सत्त्वमन्यदास्थेन गृह्यत इति चेत्, अन्यकालिकमेव तर्हि तत् तदातनकारणत्वोपयोगीति समानम् । तदेतत् संवृतिसत्त्वमिति गीयते ।

असती सा न विशेषिका, सती सा नेष्टेत्यभिसन्धानेन संवृतिरपि सती

शङ्का—यदि शुक्तिस्थ रजत और यथार्थ रजत दोनों की प्रातिभासिक सत्ता एक-सी है, तो शुक्ति-रजत झटिति बाधित होता है और यथार्थ रजत देर से, इस भेद में क्या हेतु है? *समाधान*—यद्यपि आप अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों और शुक्ति-रजत में एक-सी सत्ता मानते हैं; फिर भी जैसे अन्य सिद्धान्तों में बाधोदय देर से होता है, और शुक्ति-रजत में अतिशीघ्र, वैसे ही यहाँ भी जानिये ।

शङ्का—यदि कारण में वस्तुभूत 'नियत-प्राक्-सत्त्व' नहीं, किन्तु प्रातिभासिक है, तब जिस काल और जिस बीज में "इदम् अस्मात् नियत-प्राक्-सत्' यह बुद्धि नहीं है, उस काल या उस बीज में कारणत्व की व्यवस्था कैसे होगी? *समाधान*—उस काल में भी रासभादि में जो 'इदम् अस्मात् नियतप्राक्-सत्' इस बुद्धि की विषयता के अभाव का अधिकरणत्व है, उसका अभाव ही व्यवस्थापक है। अथवा यत्रा-कदा (अन्य देश या काल में) या अन्य पुरुष में जायमान 'इदम् अस्मात् नियतप्राक् सत्' यह बुद्धि ही नियामक है। यदि अन्य काल की बुद्धि नियामक न हो, तो सद्वादी के मत में भी 'इदम् अस्मात् प्राक् आसीत्' इस बुद्धि से भूत दण्डादि में कारणत्व की व्यवस्था कैसे होगी?

शङ्का—सद्वादी के मत में कारण सत् है। अतः अन्य काल के ज्ञान से गृहीत होता है। *खंडन*—तब अन्य काल की बुद्धि ही वर्तमान कारणत्व-व्यवहार में उपयोगी (कारण) है। इसी को आचार्य लोग संवृतिसत्त्व' कहते हैं। ज्ञान अपने सत्त्व से विषय के असत्त्व (अभाव) का संवरण कर लेता है। अतएव ज्ञान को 'संवृति' और उसके सत्त्व को 'संवृतिसत्त्व' कहते हैं।

शङ्का—असत् या मिथ्या संवृति व्यवहार का कारण नहीं हो सकती और शून्यवाद की हानि के भय से आप विज्ञान को सत् मानेंगे नहीं। फिर ...

नैवेति पृच्छन् प्रतिवक्तव्यः। विज्ञानं तावत् व्यवहारोपपादकतया द्वाभ्यामप्यनुमतम्। तस्यापि जिज्ञासायां त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तगवेषणस्य यदि सत्तोपपन्ना भविष्यति, तदा सता तेनेदमुपपादितं भविष्यति। अथासत्ता तस्य पर्यवसास्यति, तदाऽसतैव तेनेदमुपपाद्यत इति स्वीकर्तव्यम्। भ्रमविषयेणेव भ्रमे विशिष्टताव्यवहारः।

अविचार्यैव तावत्तस्य सदसत्त्वं विचार आरब्धव्यः। अन्यथा प्रथममेव मतिकर्दमे कथारम्भणमशक्यमापद्येत। स्वीकृतं च भवताऽपि भविष्यदादिविषये विज्ञाने विशिष्टव्यवहारनिदानत्वमसतो विषयस्य, कारणशक्तेश्च विशेषकमसदेव कार्यम्।

न च कालान्तरसम्बन्धिनी सत्ता तस्यैकत्र, अन्यत्र नान्यदाऽपीति वैधर्म्यमेतयोरपीति वक्तव्यम्; विशिष्टव्यवहारप्रवृत्तिसमये द्वयोरप्यसत्त्वाविशेषात्।

कैसे होगा ? *समाधान*—ज्ञान व्यवहार का कारण है, यह दोनों को इष्ट है। उसकी भी सत्ता की जिज्ञासा होने पर विचार होना चाहिए। विचार में तीन या चार कक्षाओं में सत्ता का अन्वेषण समाप्त होने पर यदि युक्ति से असत्ता निश्चित हो, तो व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से मानना पड़ेगा कि 'असत् ही ज्ञान व्यवहार का निमित्त है'। क्योंकि दृष्ट में कोई अनुपपत्ति की शंका नहीं होती। जैसे आपके मत में 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थल में असत् रजत ही 'रजतीयं ज्ञानम् इस व्यवहार का प्रयोजक है, वैसे ही मेरे मत में भी असत् विज्ञान ही व्यवहार-कारण है।

अतः ज्ञान के सत्त्व का विचार न कर के ही कारण की सत्ता का विचार करना चाहिए। यदि नियम किया जाय कि ज्ञान को सत्ता के विचार के विना विचार का आरम्भ नहीं हो सकता, तो ज्ञान के सत्त्व-असत्त्व के विचार का आरम्भ भी न होगा। क्योंकि यह भी विचार स्व से पूर्व स्व के न होने से ज्ञान के सत्त्व-असत्त्व-विचार-पूर्वक नहीं है। अर्थात् यदि ऐसा नियम करें, तो ज्ञानरूप कीचड़ में गौ के तुल्य फँस जाने से विचार का आरंभ असंभव हो जायगा। आप भी 'पुत्र होगा', 'बिजली चमक गयी' आदि भूत-भविष्यत्-विषयक विज्ञानस्थल में असत्-विषय को ही व्यवहार का कारण मानते हैं तथा असत् कार्य ही 'कार्यपूर्ववर्ति-कारणम्' यहाँ कारणत्व का निश्चायक होता है।

शङ्का—सद्वादी के मत में अन्य काल में सत् घटादि ही ज्ञान के विषय होते हैं और असद्वादी के मत में घटादि अन्य काल में भी असत् हैं, यही दोनों मतों में विशेष है। *समाधान*—जिस काल में व्यवहार होता है, उस काल में असत्त्व

प्रयोजनानुपयुक्ते काले तस्य स्वरूपतोऽवस्थानं पाटच्चरलुण्ठिते वेश्मनि यामिक-जागरणवृत्तान्तमनुहरति ।

तथापि कालान्तरस्थित्या घटादिकं स्वरूपतः विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नं तद्विज्ञानेन स्वभावबलाद् स्वविशेषणत्वेनोपादीयते । न त्वेवमन्यन्ताऽसद् भवितुमर्हति, तस्य स्वरूपतो विशेषणतश्चव्यवच्छिन्नतयाऽनंगीकारात् कुत्र स्वभावतो विज्ञानं सम्बन्धि निरूप्येत ?

न; उक्तमत्राऽसतोऽपि तदेव स्वरूपं, तस्य नियतस्वरूपस्यैव नियत-विशेषणस्यैवासत्त्वात् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, भ्रान्तिविषयेण दत्तोत्तरत्वाच्च इत्यलमतिप्रपञ्चेन ।

स्वप्रकाश-वाद-विचार

अपरे पुनः[1] चेतसोऽपि शून्यताऽङ्गीकारे मनःप्रत्ययमनासादयन्तः सर्वमिदमसदेव विश्वमित्यभिधातुं सहसैवानुत्सहमाना मन्यन्ते— विज्ञानं तावत्

दोनों मतों में एक-सा है । जिस काल में व्यवहार नहीं होता, उस काल में सत्त्व चोरों से घर लुट जाने पर पहरेवालों के जागने के तुल्य व्यर्थ है ।

शङ्का—व्यवहार-काल में दोनों मतों में एक-सा असत्त्व होने पर भी सद्वादी के मत में अन्य काल में घटादि के सत् होने से स्वरूप और विशेषण से युक्त घटादि हैं, अतः विज्ञान स्वभाव से उसे विषय करता है । किन्तु असद्वादी के मत में अत्यन्त याने कालान्तर में भी असत् घटादि विज्ञान के विषय कैसे हो सकते हैं, क्योंकि शून्यवाद में घटादि स्वरूप और विशेषण से युक्त नहीं हैं । फिर स्वभाव से विज्ञान का सम्बन्ध कहाँ होगा ? *समाधान*—मैंने इस विषय में कहा है कि असत् का स्वरूप भी स्वरूप ही है । अर्थात् नियत-स्वरूप और विशेषण से युक्त ही घटादि का असत्त्व है । यदि सर्वथा असत् मानें, तो 'घटः असन्, घटो न' इत्यादि प्रयोग भी न होंगे । 'इदं रजतम्' इस भ्रम का विषय असत् रजत ही जैसे 'रजतीयं ज्ञानम्' इस व्यवहार का कारण होता है, वैसे ही सब जगह असत् ही व्यवहार का कारण होता है । विद्वान् के लिए इतना ही बहुत है, अतः विस्तार व्यर्थ है ।

स्वप्रकाशवाद-विचार

शून्यवाद खंडन—विज्ञान को शून्य मानने में सन्तोष न करनेवाले तथा सारे संसार को असत् कहने में उत्साहरहित वेदान्ताचार्य मानते हैं कि स्वप्रकाश अपने-

1 'घटः' ऐसा ज्ञान होने पर जैसे घट में सन्देह-विपर्ययादि नहीं होते, वैसे ही घटज्ञान

स्वप्रकाशं स्वत एव सिद्धस्वरूपम् । न खलु विज्ञाने सति जिज्ञासोरपि कस्यचित् जानामि न वेति संशयः, न जानामीति वा विपर्ययः, व्यतिरेकप्रमा वा । तेन जिज्ञासितस्य असम्बज्ञानव्यतिरेकप्रमाणामभावसमुदायः स्वव्यापकं जिज्ञासितस्य प्रमितत्वमानयति । अन्यथा हि जिज्ञासितप्रमितत्वव्यतिरेकव्यापकं जिज्ञासितव्यतिरेकोल्लेखि ज्ञानमविघ्नितजिज्ञासस्य स्यात् । अतः सर्वजनस्वात्मसंवेदनसिद्धमेवास्य बोधस्य स्वरूपम् ।

व्यवसायस्य अनुव्यवसायनियमाच्च तत्र संशयादिरिति चेन्न । यत्रैवानुव्यवसाये ज्ञेयता नोपेया, तत्र जिज्ञासायामात्मधर्मिकं तत्संशयमारभ्य व्यवसायविषयपर्यन्तं संशयाक्रान्तेर्दुष्परिहरत्वात् । विषयिसद्भावसंशये तद्विषयेऽपि संशयस्य सम्भवात् । एवं त्रिचतुरसंवेदनकक्षाज्ञानध्रौव्यनियमाभ्युपगमेऽपीति ।

आप ही सिद्ध स्वरूप-विज्ञान है । क्योंकि विज्ञान होने पर किसी जिज्ञासु को भी 'मैं जानता हूँ या नहीं' ऐसा सन्देह नहीं होता; ज्ञान में 'यह ज्ञान नहीं, इच्छा है' ऐसा भ्रम नहीं होता या 'मैं नहीं ही जानता' ऐसी अभाव-प्रमा ही नहीं होती है । इसलिए जिज्ञासित विज्ञान में सन्देह, मिथ्याज्ञान और व्यतिरेक-प्रमा के अभाव का समूह अपने व्यापक जिज्ञासित विषय की प्रमिति (यथार्थ-ज्ञान) का आक्षेप करेगा । यदि विज्ञान की प्रमिति न हो, तो विज्ञान के अभाव के व्यापक, जिज्ञासित विज्ञान के अभाव को विषय करनेवाला— ज्ञान (सन्देहादि) अवश्य होने चाहिए, किन्तु होते नहीं । इसलिए यह जानना चाहिए कि सब मनुष्यों के अपने ज्ञान से बोध का स्वरूप सिद्ध ही है ।

शून्यवाद समर्थन—व्यवसाय (ज्ञान) का अनुव्यवसाय (द्वितीय ज्ञान) होता है, इसीलिए ज्ञान में सन्देह आदि नहीं होते । *खंडन*—जिस ज्ञान का ज्ञान न हो, उसकी जिज्ञासा होने पर सन्देह आदि हो जायँगे । ज्ञान में सन्देह होने पर प्रथम ज्ञान के विषय तक सन्देह हो जायगा । क्योंकि विषयी (ज्ञान) के सन्देह

में भी सन्देहादि नहीं होते । इससे अनुमान होता है कि घट के साथ-साथ घट-ज्ञान भी ज्ञात होता है । अर्थात् सूर्य के तुल्य ज्ञान अपने विषय घटादि के साथ-साथ अपना भी प्रकाश करता है, अतः स्व-प्रकाश है । यदि ज्ञान को स्व-प्रकाश न मानें, तो सन्निकर्षादि कारण रहते जिज्ञासा होने पर घट-ज्ञान में सन्देहादि होने चाहिए, क्योंकि यह व्याप्ति है कि 'यत्र यत्र सन्निकर्षादिकारणसत्त्वे जिज्ञासायामज्ञातत्वं ,तत्र तत्र सन्देहादिः' । अतः स्वप्रकाश-विज्ञान के स्वतःसिद्ध होने से शून्यवाद ठीक नहीं, विज्ञानवाद ही ठीक है—यह वेदान्त-मत है । यहाँ संक्षेप से उस मत का विचार करते हैं ।

स्वप्रकाशे तु मानमेयभावव्यवस्थाया अभावादेव तदाश्रया दोषा निरवकाशाः। अन्यथा तु बोधस्वरूपमेव न सिद्ध्येत्, यदि हि विज्ञानं परतः सिद्ध्येत् तदाऽनवस्था स्यात्। न च वाच्यम्—अवश्यवेद्यनावित्तेर्नाभ्युपेयते, स्वार्थव्यवहारस्तु स्वरूपसत्तया प्रसूयते इति क्वानवस्थेति ? यतस्तस्यां प्रमाणानुपन्यासे स्वरूपसत्ताऽपि कुतः, यया व्यवहारोपपत्तिः। को ब्रूते सती सा वित्तिः ? असत्येव न कुतः ?

सामान्यतो वित्तेस्तथात्वविधावपेक्षितसिद्ध्या यत्र विशेपरूपायां प्रमाणाऽप्रवृत्तिः, तदा तत्र सत्त्वसाधनासत्त्वेऽपि जिज्ञासायां सत्यां पश्चाद् व्यवहारस्तत्रैव वा अन्यद् वा प्रमाणमस्त्येवेति चेन्न॥ तस्यापि कथं सत्त्वमित्यनवस्था वा स्यात्,

से विषय में सन्देह अवश्य होता है। इसी तरह जो वादी तीन या चार ज्ञान-प्रवाह का ज्ञान होना आवश्यक मानते हैं, उनके मत में भी सन्देह आदि दोष जानने चाहिए।

प्रश्न—स्वप्रकाश मानने पर वही ज्ञान कर्म और क्रिया दोनों कैसे होगा, क्योंकि क्रिया-कर्मभाव और विषय-विषयिभाव भेद में होते हैं। *उत्तर* विज्ञानवाद में विज्ञान से पृथक् किसी भी बाह्य पदार्थ का स्वीकार न होने से विषय-विषयिभाव ही नहीं होता। यदि भेद में ही विषय-विषयिभाव मानें, तो विज्ञान सिद्ध ही न होगा यदि विज्ञान की सिद्धि अन्य विज्ञान से मानी जाय, तो अनवस्था हो जायगी।

समर्थन—वित्ति (ज्ञान) का ज्ञान अवश्य हो, ऐसा नहीं मानते, किन्तु ज्ञान स्वरूपसत्ता से ही स्वविषय (घटादि) के व्यवहार का निमित्त होता है। इससे अनवस्था नहीं होती। *खंडन*—उस वित्ति में प्रमाण के न होने से उसकी स्वरूपसत्ता कैसे सिद्ध होगी, जिससे व्यवहार की प्रवृत्ति हो सके। कौन प्रमाण कहेगा कि वित्ति सत् है, वह असत् ही क्यों न हो ?

समर्थन—व्यवहार में कारण होने से सामान्यरूपेण ज्ञान के सिद्ध होने पर व्यवहारकाल में जिस ज्ञान में प्रमाण नहीं है, उसमें भी पीछे जिज्ञासा होने पर विशेष-व्यवहार या स्मरण ही प्रमाण हो सकता है। *खंडन*—जिस सामान्य या विशेष व्यवहार से ज्ञान की सिद्धि होती है, उसकी सिद्धि भी ज्ञान के अधीन ही है तथा उस ज्ञान की सिद्धि भी अन्य ज्ञान के अधीन है, इस तरह अनवस्था हो जायगी। अथवा जिस ज्ञान का ज्ञान न होगा, उसकी असिद्धि से सभीकी असिद्धि हो जायगी और इस तरह अर्थ की असिद्धि तक, की आपत्ति आ जायगी। 'जो

शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिर्वा प्रसज्येतेत्यर्थाऽसिद्धिपर्यन्तस्य व्यसनस्य दुरुत्तरत्वात् । सेयम् 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यती'ति ॥

घटसत्तां हि व्यवहरता प्रामाणिकेन तत्र प्रमाणसद्भावो वाच्यः । यदि प्रमाणमनुपन्यस्य साऽस्तीत्यङ्गीक्रियते, तदा वैपरीत्यमेव वा किं न स्यात् । ततश्च घटसत्तायां प्रमाणसत्ता दर्शनीया । तथा च प्रमाणसत्ताऽपि तत्प्रमाणसत्तामन्तरेण प्रामाणिकस्य नाङ्गीकारार्हा, सर्वप्रमाणसत्तानिवृत्तेर्वस्तुसत्तानिवृत्तिनियतत्वात् । अन्यथा सप्तमरसादेरप्यापत्तेरिति व्यक्तमनवस्थादौस्थ्यमस्वप्रकाशवादिनः स्यात् । यदि हि विनैव प्रमाणसत्तां परोऽङ्गीकारयेत्, तदा घटसत्तामपि तथैवाङ्गीकारयतामिति घटेऽपि वृथा प्रमाणोपन्यासः ।

अथ नाऽव्यवधानलग्नवित्तितद्वित्तिधाराऽभ्युपगम्यते किं नाम कदाचित् कुतश्चित् काचित् वित्तिः प्रमीयत इति सर्वा वित्तिः प्रमाणसिद्धैवेत्यभ्युपेयत इति चेन्न । स्यादप्येवं यदि घट इति घटं जानामीत्यतोऽधिका [घटवित्तितद्वित्ति-

परीक्षक उपलम्भ (ज्ञान) का प्रत्यक्ष नहीं मानते, उनके मत में अर्थ ही सिद्ध न होगा', धर्मकीर्ति के इस वचन का भी यही अभिप्राय है ।

घट-व्यवहार करनेवाले प्रामाणिक को घट में प्रामाण अवश्य कहना चाहिये । यदि प्रमाण न देकर 'घट है' ऐसा स्वीकार करें, तो उलटा 'घट नहीं है' यही क्यों न स्वीकार किया जाय ? तस्मात् घट में प्रमाण अवश्य दिखाना चाहिए । तब तो प्रमाण भी प्रमाण के विना स्वीकार-योग्य नहीं । क्योंकि सब प्रमाणों के अभाव से वस्तु का अभाव अवश्य होता है । यदि प्रमाण न होने पर भी वस्तु की सिद्धि हो, तो छः रसों के अतिरिक्त सातवाँ रस भी मानना पड़ेगा । इस प्रकार ज्ञान को जो स्व-प्रकाश नही मानते, उनके मत में अनवस्था स्पष्ट ही है । यदि वादी प्रमाण के विना ही प्रमाण को स्वीकार कराना चाहें तो प्रमाण के विना ही घट का भी स्वीकार कराये, फिर घट में प्रमाण देना व्यर्थ ही है ।

समर्थन—अन्य विषय का ज्ञान होने के कारण धाराप्रवाह के तुल्य अव्यवधान से ज्ञान और उस ज्ञान की ज्ञान-धारा नहीं होती । किन्तु जिज्ञासा होने पर व्यवहार आदि कारणों से कोई-कोई वित्ति प्रतीत होती है । अतः सामान्य लक्षण से सब वित्तियाँ प्रमाण-सिद्ध ही हैं, ऐसा माना जाता है । *खंडन*—'जिज्ञासा होने पर…' इत्यादि कथन से ज्ञात होता है कि आप भी व्यवधान से उत्पन्न ज्ञान और उस ज्ञान की धारा मानते हैं । किन्तु आप वैसा मान नहीं सकते । वैसा तभी मान पाते,

धारया विषयभावेन प्रविष्टया तादृग्विषयशतभारमन्थरा] वित्तिरस्मदादेरुत्पद्य-मानाऽनुभूयेत ।

यद्यस्मदादिविलक्षणजन्मनि सा सम्भाव्यते, तदाऽपि यस्या वित्तेस्तावद्-विषयगर्भिता धीर्विषयः साऽप्यन्यया कयाचिदुल्लेख्येत्यत्र प्रमाणाभावश्च, अनिर्मोक्षापत्तिश्च । न हि स्वमन्तर्भाव्य कयाचिद् धिया स प्रवाहो ग्राह्यः, तथा सति स्वप्रकाशतासिद्धेः । अत एवान्योन्यविषयता निरस्ता, स्वविषयकान्योन्यग्रहे स्वग्रहापत्तेः ।

न च पुरुषान्तरेण सा प्रमास्यते, न तु तदभाव इति प्रमा तेऽस्ति; तदर्थमपि प्रमाणान्तरसद्भावपरम्परापत्तेः ।

जब 'घटः' और 'ज्ञातो घटः' से अधिक ज्ञान-प्रवाह अनुभव-गोचर होता, जिसमें विषयरूप से अनेक ज्ञान प्रविष्ट हों । परन्तु वैसा नहीं है ।

समर्थन—हम लोगों से विलक्षण जन्मवाले योगियों की बुद्धि का विषय—विच्छिद्य उत्पन्न—विषयभार से मन्थर—ज्ञान भी होता है । *खण्डन*—तब भी जिस योगी के ज्ञान का विषय—विच्छिद्य उत्पन्न (व्यवधान रखकर उत्पन्न)—विषय शतभार से मन्थर (अनेक ज्ञानरूप विषयों के पड़ने से मन्द)—पूर्वोक्त ज्ञान होता है, वह योगिज्ञान भी किसी ज्ञान का विषय होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं । *समर्थन*—वह योगिज्ञान भी योगी के अन्य ज्ञान का विषय होता है । *खण्डन*—ज्ञानधारा के अविश्रान्त होने से अन्य विषय का अज्ञान और मोक्ष का अभाव हो जायगा । *समर्थन*—उस ज्ञानप्रवाह का ग्रहण करनेवाला ज्ञान अपना भी ग्रहण करता है । *खंडन*—ऐसा मानने पर तो ज्ञान स्व-प्रकाश सिद्ध हो गया । *समर्थन*—योगी के ज्ञान के प्रवाह में अन्त का ज्ञान अन्त के समीप के ज्ञान को और समीप का ज्ञान अन्त के ज्ञान को विषय करता है । इससे न अनवस्था होती है और न स्वप्रकाशतापत्ति ही आती है । *खंडन*—अन्त्य-ज्ञान अपने को विषय करनेवाले उपान्त्य-ज्ञान (अन्त के ज्ञान के समीपवर्ती ज्ञान) को विषय करता हुआ अपना भी ग्रहण करेगा । इसी तरह उपान्त्य-ज्ञान, स्व के ग्रहण करनेवाले अन्त्य-ज्ञान का ग्रहण करता हुआ स्व का भी ग्रहण करता है । इस तरह अन्योन्य-ग्रह में भी स्वप्रकाश ही सिद्ध हुआ ।

समर्थन—अन्य-विषय का सञ्चार और मोक्ष होने से विश्रान्त भी एक पुरुष के ज्ञान-प्रवाह का अन्त्यज्ञान अन्य पुरुष से गृहीत होता है । अतः अन्त्य की

नन्वेवं घटसामग्री-तत्सामग्रीगवेषणेऽप्यनवस्था स्यात्? वैषम्यात्, यदि हि घटसामग्री-तत्सामग्रीधारा कुत्रचिद् विच्छिद्येत, तदा घटः सदातनः स्यादित्यर्थापत्त्यैव घटः सामग्रीपरम्पराविच्छेदरहित एव प्रमीयते। यदि तु ज्ञानेऽप्येवं स्यात् तदा स्वस्य प्रवेशात् स्वप्रकाशापत्तिः, अप्रवेशादनवस्था, अवेदने शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिरिति व्यसनं दुरुत्तरमेव। ये च मानमेयाश्रया दोषाः कीर्तनीयाः तेऽपि प्रसज्येरन्।

असिद्धि से सबकी असिद्धि नहीं है। *खण्डन*—अन्य पुरुष का अन्त्य-ज्ञान अन्य पुरुष के ज्ञान का गोचर होता है, इसमें भी आप प्रमाण अवश्य देंगे। किन्तु उसमें भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा होने से अनवस्था वैसी ही सुस्थिर है। किञ्च, अन्य पुरुष से भी अन्त्य-ज्ञान ही गृहीत होता है, उसका अभाव नहीं, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है।

शङ्का—यदि ज्ञान का ज्ञान तथा उस ज्ञान का अन्य ज्ञान, इस प्रकार ज्ञान-प्रवाह को अनवस्थित न मानें, तो की सिद्धि ही न होगी। फलतः ज्ञान की अन्यथा असिद्धिरूप अर्थापत्ति प्रमाण से अनवस्था सप्रमाण है, अतः दोष नहीं है। यदि अनवस्था को सर्वत्र दोष मानें, तो घट के अनित्यत्व की अन्यथानुपपत्ति से घट-सामग्री-प्रवाह की अनवस्था भी दोष कही जायगी। *समाधान*—यदि घट की सामग्री और उस सामग्री की सामग्री, इस प्रकार पीछे दौड़ती अनवस्था का कहीं अन्त मानें, तो घट अनित्य सिद्ध न होगा। अतः घट के अनित्यत्व की अन्यथानुपपत्तिरूप प्रमाण-सामर्थ्य से अनवस्था-दोष नहीं है।[१] किन्तु ज्ञान की सिद्धि तो स्व-प्रकाश मानने पर भी हो जाती है। अतः ज्ञानसिद्धि की अन्यथानुपपत्तिरूप प्रमाण के न होने से ज्ञान-प्रवाह की अनवस्था दोष है। यदि प्रवाह का कहीं विच्छेद मानें, तो अन्त्य की असिद्धि से सबकी असिद्धि होती है। यदि अन्त्य-ज्ञान को स्व-विषयक मानें, तो ज्ञान स्वप्रकाश सिद्ध होता है। यदि ज्ञान को अन्य ज्ञान का विषय मानें, तो अन्य ज्ञान के साथ ज्ञान का सम्बन्ध कहना होगा। किन्तु वह सम्बन्ध उसके सम्बन्धी ज्ञान के द्रव्य न होने से संयोग नहीं हो सकता, दोनों के गुण होने से समवाय नहीं और भिन्न होने से तादात्म्य भी नहीं हो सकता। द्रव्य आदि सात

१ यहाँ शंकाकर्ता नैयायिक हैं और समाधान-कर्ता वेदान्ती। दोनों घट-सामग्री को परमाणु और प्रकृति (माया) में विश्रान्त मानते हैं। घटादि के अनित्यत्व का कारण सामग्री का अविश्राम नहीं, किन्तु जन्यत्व है। अतः शंका-समाधान दोनों समझ में नहीं आते।

न च तैर्दोषैर्नास्त्येव ज्ञानमित्यास्थेयम्, स्वतः सर्वसिद्धस्य दुरपह्नवत्वात्। स्वप्रकाशाङ्गीरादेव चाऽनुभवस्य सर्वदोषहानेवक्ष्यमाणत्वात्। प्रकाशात्मनामात्रस्यैव स्वतःसिद्धिसम्भवे जडात्मनां धर्माणां केषामपि तदन्तर्भावानुपपत्तिः।

अत एव धर्मोपग्रहप्रवर्तिष्णुवाग्व्यवहाराविषयत्वम्, कालानवच्छेदमादाय च नित्यत्वोपचारः। देशानवच्छेदमादाय विभुत्वव्यपदेशः। प्रकारानवच्छेदविग्रह-निबन्धनश्च सर्वात्मत्वाऽद्वैतादिव्यवहारः। सौगतप्राभाकरादिवद् भावे, नैयायिक-वच्च अभावे अभावानतिरेकस्वीकारादेव चाद्वैताऽव्याघातः। भ्रमविषयनिषेधवच्च प्रतियोगिनः सर्वथैवासिद्धयाऽपि न काचित् क्षतिः।

तदेतत्तु श्रुत्या प्रमाणेनोपलक्षणन्यायात् तात्पर्यतः प्रकाश्यते। तेन

पदार्थों में अन्तर्भाव न होने से विषय-विषयिभाव असम्भव है, अतः वह भी नहीं हो सकता। ज्ञान असम्बद्ध का ही ग्रहण करता है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि ज्ञान असम्बद्ध का ग्रहण करे, तो अन्य का भी ग्रहण हो जाय।

प्रश्न—उक्त दोषों से ज्ञान भी नहीं है, ऐसा ही क्यों न मानें ? *उत्तर*—ज्ञान सब मनुष्यों के अपने अनुभव से ही सिद्ध है, अतः उसका अस्वीकार नहीं हो सकता। स्वप्रकाश होने से ही अनवस्था, असम्बन्ध आदि दोष नहीं होते, यह आगे 'तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव' आदिसे (२६ वीं कारिका से) कहेंगे; एकमात्र अभानापादक अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही स्वतःसिद्ध हो सकता है और जडात्मक कोई भी अन्तःकरणधर्म उपर्युक्त प्रकाशात्मक ज्ञानसे अभिन्न नहीं। फलतः उन धर्मों से रहित स्वतः सिद्ध ज्ञानमात्र के रहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। मानमेय खण्डन प्रकरणोक्त दोष पराधीनसिद्धिक वस्तुओंका ही निरास कर सकते हैं, स्वतः सिद्ध वस्तु के निरास में उनकी सामर्थ्य ही नहीं, यह भाव है।

इसीलिए ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सत्ता, गुणत्व, ज्ञानत्व आदि जड़धर्मों के सम्बन्ध से प्रवृत्त वाग्व्यवहार का अगोचर कहा गया है। *प्रश्न*—यदि ब्रह्म में कोई धर्म नहीं, तो 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति में नित्यत्व धर्म का व्यवहार कैसे होता है ? *उत्तर*—काल के सम्बन्ध से वस्तु में अनित्यत्व का व्यवहार होता है और वह ब्रह्म में नहीं है। अतः अनित्यत्व के अभाव को मानकर उपचार (आरोप से) नित्यत्व-व्यवहार होता है। जैसे लाल, पीले आदि रूपों का अभाव के होने से आकाश में नीलरूपता का व्यवहार होता है।

परमार्थतोऽभिधानाभिधेयभावविरहे तात्पर्यतः श्रुतिस्तस्मिन्नविद्यादशायां पराभ्युपगमरीत्या प्रमाणमित्युच्यते। वस्तुतस्तु स्वात्मसिद्धमेव चिद्रूपम्।

प्रश्न—'जगद् बृंहयति (व्याप्नोति) इति ब्रह्म' इस व्युत्पत्ति से तथा 'महतो महीयान्' इस श्रुति से ब्रह्म में परममहत् परिमाण अवश्य मानना पड़ेगा। *उत्तर*—देश के सम्बन्ध से मूर्तत्व (परिमितत्व) का व्यवहार होता है। ब्रह्म में मूर्तत्व नहीं है, अतः आरोप से ही विभुत्व (व्यापकत्व) का व्यवहार होता है। *प्रश्न*—घटत्वादि एक-एक धर्म के सम्बन्ध से घटादि घटत्वाद्यात्मक एवं द्वैत हैं, परन्तु ब्रह्म सर्वधर्मों के सम्बन्ध से सर्वात्मक तथा अद्वैत है। इस रीति से ब्रह्म में सर्वधर्मों का सम्बन्ध मानना पड़ेगा। *उत्तर*—घटत्वादि एक-एक धर्म के सम्बन्ध से घटादि असर्व-धर्मात्मक हैं। किन्तु ब्रह्म में असर्व-धर्मात्मकत्व का अभाव होने से आरोपित सर्वधर्मात्मकत्व का व्यवहार होता है।

प्रश्न—द्वैत के अभाव को 'अद्वैत' कहते हैं। ब्रह्म में द्वैत का अभाव है और वह अधिकरणरूप नहीं है। अतः निर्धर्मक ब्रह्म सिद्ध नहीं हुआ। *उत्तर*—जैसे बौद्ध तथा प्राभाकर अभावमात्र को और नैयायिक अभाव में स्थित अभाव को अधिकरणरूप मानते हैं, वैसे ही हम भी अभाव को अधिकरणरूप ही मानते हैं। *प्रश्न*—यदि द्वैत के अभाव को 'अद्वैत' कहते हैं, तब तो प्रतियोगी रूप से द्वैत भी मानना पड़ेगा। अतः ब्रह्म अद्वैत है, यह कथन नहीं बनता। *उत्तर*—जैसे भ्रमस्थल में असत् रजत का ही 'नेदं रजतम्' निषेध होता है, वैसे ही असत् या कल्पित द्वैत का ही निषेध होता है। अभाव-ज्ञान में प्रतियोगी का सामान्य ज्ञान अपेक्षित है, प्रतियोगी की प्रमा नहीं। यहां द्वैत का भ्रमात्मक ज्ञान है ही।

प्रश्न—ब्रह्म यदि वाणी का अगोचर है, तो उसमें श्रुति-प्रमाण कैसे हो सकती है ? *उत्तर*—यद्यपि धर्म का सम्बन्ध न होने से ब्रह्म 'पद-वाच्य' नहीं और योग्यता-ज्ञान न होने से वाक्यार्थ भी नहीं है; तथापि जैसे 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः' इस वाक्य में काकपद उपलक्षण रूप से तृणाच्छादन (छप्पर) का प्रतिपादन करता है, वैसे ही श्रुति भी जगत्कर्तृत्वादि विशेषणों को त्यागकर तात्पर्य-बल से ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है। तस्मात् वाच्य-वाचकभाव से रहित उस ब्रह्म में अविद्या-दशा में नैयायिकादि की रीति से श्रुति प्रमाण है। वास्तव में अपने आप सिद्ध चिद्रूप ब्रह्म है।

ननु च स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्येत्यनुपपन्नमिदम्, क्रियाकर्मभावस्य भेदव्यतिरेकेणानुपपत्तेः। कार्या क्रिया हि कर्मणो भवति, कर्म च कारणं क्रियायाः। न च स्वेनैव स्वनिष्पादनं शक्यम्, पूर्वापरभावविशेषस्य हेतुहेतुमद्भावरूपत्वात्। न च तस्मादेव तदेव पूर्वमपरं च सम्भवति, तदनवच्छिन्नकालविशेषस्य तत्पूर्वशब्दार्थत्वात्। तदा च तस्य सद्भावस्वीकारे स एव कालस्तदवच्छिन्नः, तदनवच्छिन्नश्चेति विरोधात्।

मैवम्; क्रियायाः कर्मजन्यतानियमानङ्गीकारात्। भवथैव अनागतविषयविज्ञाने तदसम्भवात्। क्वचिज्जनकतामादाय च कर्मणि कारकत्वव्यपदेशात्। करणव्यापारविषयत्वाद् वा परसमवेतक्रियाफलभागित्वाद्वा कर्मलक्षणात् विनापि क्रियाजनकत्वेन कर्मव्यवहारोपपत्तेः।

किञ्च तत्कर्मत्वं यत्स्वं प्रति विरुद्ध्यते? परसमवेतक्रियाफलभागित्वमिति

प्रश्न—ज्ञान स्व-प्रकाश है, यह बात युक्त नहीं; क्योंकि क्रिया-कर्मभाव भेद के बिना नहीं होता। क्रिया कर्म का कार्य है और कर्म क्रिया का कारण। स्व से स्व की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि पूर्व-परभाव कार्य-कारणभावरूप है और अपने से आप पूर्व तथा पर नहीं हो सकता। अपने से अनवच्छिन्न (रहित) काल 'पूर्व' शब्द का अर्थ है। यदि पूर्वकाल में भी कार्य को मानें, तो वही काल उस कार्य से युक्त और अयुक्त है, ऐसा विरोध हो जायगा।

उत्तर—'क्रिया कर्म से जन्य है' यह नियम हम नहीं मानते; क्योंकि 'घटं ज्ञास्यति' इस भावी स्थल में व्यभिचार है। *प्रश्न*—यदि कर्म क्रिया का कारण नहीं, तो कर्म की कारक में गणना क्यों होती है? *उत्तर*—'आत्मानं जानाति' आदि किसी-किसी स्थल में कर्म क्रिया का जनक होता है, अतएव कर्म की कारक में गणना की जाती है। *प्रश्न*—अतीत और अनागत कर्मों में भी रहनेवाले किसी एक शक्यतावच्छेदक (कर्म-लक्षण) के न होने से अनुगत कर्म-व्यवहार कैसे होगा? *उत्तर*—करण के व्यापार का जो विषय हो, उसे 'कर्म' कहते हैं। अथवा अन्य में रहनेवाली क्रिया के फल से युक्त को 'कर्म' कहते हैं। इन्हीं लक्षणों के अनुसार 'घटं ज्ञास्यति' आदि स्थल में क्रिया का जनक न होने पर भी घट में कर्मत्व का व्यवहार होता है। *प्रश्न*—वह कर्मत्व क्या है, जो स्व का स्व में विरुद्ध है? *निर्वचनकर्ता*—अन्य में विद्यमान क्रिया-फल से युक्तत्व ही वह है। *खंडनकर्ता*—तब तो 'वृक्षात् पर्णं

चेन्न । अपादानस्यापि व्याप्तेः अपादानं कर्मापीति चेन्न । 'वृक्षात्पतति पर्णमि'तिवत् 'वृक्षं पर्णं पतती'त्यपि स्यात् ।

विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति तदविवक्षया नैवमिति चेन्न । वस्तुतः सतस्ता-द्रूप्यस्य यदि विवक्षा स्यात्तदा तदपि स्यात् । अपादानस्य कर्मत्वं न विवक्ष्यत इति शाब्दिकसम्प्रदायोऽयमिति चेत्, तर्हि तत्र निवृत्तसर्वकर्मव्यवहारेऽपि स्वकृत-कर्मलक्षणानुरोधेन कर्मत्वमभ्युगच्छता वस्तुमात्रं कर्मेत्यपि लक्षणं सावकाशितं स्यात् । कथञ्च लोकोत्तरप्रज्ञेन निवृत्तसर्वकर्मव्यवहारेऽपि स्वकृतकर्मत्वमस्तीत्यधिगतम् ?

अपादानेतरद् ईदृशं कर्मेति चेन्न । तत्रापि 'नदी वर्धते' इत्यादौ तद्वृद्धे-रप्राप्ततीरभागादिप्राप्तिफलायाः सकर्मकत्वापत्तेः । अपादानेतरदिति स्थाने क्रिया-

पतति' यहाँ वृक्षरूप अपादान पर्णनिष्ठ पतन-क्रिया के विभागरूप फल से युक्त है, अतः उसमें भी कर्म-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । *निर्वचन*—अपादान कर्म भी है । *खंडन*—फिर तो जैसे 'वृक्षात् पतति' प्रयोग होता है, वैसे ही 'वृक्षं पतति' यह भी प्रयोग हो जायगा ।

निर्वचन—कारक वक्ता की इच्छा से होते हैं । यहाँ वक्ता को कर्मत्व की इच्छा नहीं है, अतः द्वितीया नहीं होती । *खंडन*—यदि वस्तुतः अपादान भी कर्म हो, तब तो जिस काल में उसे कर्मत्वरूप से कहने की इच्छा हो, उस काल में 'वृक्षं पतति' ऐसा भी प्रयोग हो जायगा । *निर्वचन*—अपादान की कर्मत्वरूप से विवक्षा नहीं होती, ऐसा वैयाकरणों का सम्प्रदाय है । *खंडन*—जिसमें कर्मत्व का कभी भी व्यवहार नहीं होता, उसमें भी स्वकल्पित लक्षण के अनुरोध से कर्मत्व माननेवाले आप 'वस्तुमात्र कर्म है' ऐसे ही लक्षण की कल्पना क्यों न करें ? जब कोई दोष दे, तो वैयाकरणों के सम्प्रदाय का आश्रयण कीजिये । इसके अतिरिक्त जिसमें कर्मत्वकृत कोई भी व्यवहार नहीं होता, उस अपादान में कर्मत्व को लोकोत्तर बुद्धिवाले आपने कैसे जाना ? अर्थात् जब कि अपादान में वृद्धों द्वारा कर्मत्वव्यवहार नहीं होता, तब उसे कर्म मानना ठीक नहीं ।

निर्वचन—'अपादान से इतर जो पर-समवेत क्रिया के फल का आश्रय हो, वह कर्म है' ऐसा निवेश करने पर कोई दोष नहीं होगा । *खंडन*—फिर भी 'नदी वर्धते' इस स्थल में तीर को कर्मत्व होने लगेगा, क्योंकि वह नदीवृद्धिरूप क्रिया के फल (अप्राप्त तीरभाग में प्राप्ति) का आश्रय है । *निर्वचन*—'क्रिया का नाशक जो पर-समवेतक्रियाफल है, उसका भागी कर्म है' ऐसा लक्षण करेंगे । इससे 'वृक्षं पतति'

नाशकेति करणेऽप्यस्य दोषस्य तादवस्थ्यात् । विनाशलक्षणायां 'वृद्धौ तदसम्भवाच्च । 'वृक्षं त्यजती'त्यादौ अकर्मत्वप्रसङ्गाच्च ।

'आत्मानं जानामी'त्यत्र परत्वाभावादव्याप्तेः । तत्राप्युपाधिभेदात्परत्वम्, कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपहितस्यैवात्मनो ज्ञेयत्वाभ्युपगमादिति चेन्न । यतोऽस्तु तावद् यथा कथंचिदेवम्, तथाप्यध्यात्मविदो निरुपाधिमात्मानं जानतो ज्ञानं नात्मकर्मकं स्यात् । 'पच्यते फलं स्वयमेवे'त्यादौ कर्मकर्तरि का गतिः स्यात् ?

सर्वज्ञमीश्वरं मन्यमानेन च नित्यज्ञाने तस्मिन् भगवति फलनाशकत्वस्या-

ऐसे प्रयोग की आपत्ति भी न होगी, क्योंकि वृक्षनिष्ठ विभाग पतन-क्रिया का नाशक नहीं, किन्तु अधःसंयोग ही नाशक है। *खंडन*—इस लक्षण में भी 'नदी वर्धते' इसी स्थल में दोष है, क्योंकि नीर-तीर-संयोगरूप फल वृद्धिरूप क्रिया का नाशक है, अतः तद्-भागी (उसका आश्रय) होने से तीर कर्म होने लगेगा। किञ्च, जहाँ नाशरूप वृद्धि है, वहाँ असम्भव हो जायगा। अर्थात् जहाँ 'वृध' धातु का छेदन अर्थ है, उस स्थल ('वृक्षं वधते वर्धकिः') में नाशरूप फल क्रिया का अनाशक है, अतः वृक्ष कर्म न होने पायेगा। किञ्च 'वृक्षं त्यजति' में विभागरूप फल क्रिया का नाशक नहीं है, अतः वृक्ष में कर्मत्व नहीं होगा।

'आत्मानं जानाति' यहाँ भी इतर के न होने से कर्मत्व न होगा। *निर्वचन*—शरीर-इन्द्रिय (स्थूलशरीर) से युक्त आत्मा कर्ता है और कर्तृत्वादिविशिष्ट (सूक्ष्मशरीरयुक्त) आत्मा कर्म है, इस प्रकार औपाधिक भेद हो जाने से दोष न होगा। *खंडन*—यद्यपि उपाधि भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी उपहित आत्मा एक ही है। अतः कर्ता और कर्म दोनों में भेद दुर्लभ ही है। किञ्च, निरुपाधि आत्मतत्त्व को जाननेवाले अध्यात्मविदों के अभिप्राय से 'आत्मानं' ज्ञान का कर्म नहीं होगा। किञ्च, 'पच्यते फलं स्वयमेव' इस प्रयोग में जहाँ कर्म की कर्तृत्व रूप से विवक्षा है अर्थात् कर्म को ही कर्ता मान लिया है, वहाँ 'पर' न होने से फल में कर्मत्व नहीं बनेगा।

किञ्च, जो ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं, उनके मत में ईश्वर का ज्ञान नित्य है, फलनाश्य नहीं। अतः 'ईश्वरः सर्वं जानाति' यहाँ 'सर्वं' को कर्मत्व न होगा। इस तरह स्पष्ट है कि कर्म का कोई निर्दुष्ट लक्षण बन नहीं सकता। अतः यही मानना उचित है वैयाकरणों ने 'नदी, वृद्धि' आदि के तुल्य 'कर्म'[1] का भी शब्दसिद्धयर्थ केवल संकेत किया है कर्म के अनुगत लक्षण का अन्वेषण व्यर्थ है।

१. 'वर्ध छेदने' चुरादिगणीय धातु है। वहाँ 'वृध' इस पाठान्तर के अनुसार यह ग्रन्थ है।

नभ्युपगमात् तं प्रत्येतल्लक्षणाऽसिद्धेः। तस्माद् व्याकरणकारैः शब्दसिद्ध्यर्थं नदीवृद्ध्यादिवत् कर्मापि परिभाषितमित्यलं तदनुगतलक्षणगवेषणया।

करणव्यापारविषयः कर्म इति चेन्न। 'हस्तेन रामेण शरेण' इत्यादावतिप्रसङ्गात्। लक्षणं विनापि क्रियाजनकत्वे सति व्यापारोद्देश्यत्वेन कर्मव्यवहारोपपत्तेः। शेषश्च ईश्वराभिसन्धौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः।

ननु चाऽभेदे विषयविषयिभावस्यैवासंगतत्वम्, विषयित्वं हि विषयसम्बन्धिता, सम्बन्धश्च भेदमन्तरेणासम्भवदवस्थितिः, सम्बन्धमितेः सम्बन्धिस्वरूपभेदमिति व्यतिरेके वैपरीत्यावधारणात्।

मैवम्; विषयविषयिभावसम्बन्धो हि न सम्बन्धिस्वरूपाद्भिन्नः तथाभूतत्वेऽपि चान्ततः तत्सम्बन्धस्यापि स्वाश्रयात्मकत्वमभ्युपगम्यम्, अनवस्थाभयात्। तथा सति च सैव यथा सम्बन्धमितिः सम्बन्धस्वरूपात् सम्बन्धिनोर्भेदमनादायैव पर्यवस्यतीत्यभ्युपगन्तव्यं स्वभावसम्बन्धस्य इतरसम्बन्धमर्यादातिशायित्वात्। तथा विनाऽपि

निर्वचन—करण के व्यापार का विषय कर्म है। *खण्डन*—'हस्तेन रामेण शरेण बाली हतः' यहाँ हस्तरूप करण के व्यापार का विषय होने से शर कर्म हो जायगा। किञ्च, लक्षण के बिना भी 'क्रियाजनकत्वे सति व्यापारोद्देश्यत्व'-रूप (सब कर्मों में रहनेवाले) अनुगत धर्मत्व से ही कर्म का व्यवहार हो जायगा। शेष 'ईश्वराभिसन्धि' ग्रन्थ के स्वप्रकाश-प्रकरण में कहेंगे।

शङ्का—अभेद में विषय-विषयिभाव असङ्गत है, क्योंकि विषयित्व विषय की सम्बन्धिता है और सम्बन्ध की स्थिति सम्बन्धियों के भेद के बिना हो नहीं सकती। क्योंकि जहाँ-जहाँ सम्बन्धी के भेद की प्रमा है, वहीं सम्बन्ध की प्रमा होती है। स्व-प्रकाश-ज्ञानस्थल में सम्बन्धी के भेद की प्रमा नहीं है, अतः विषय-विषयिभाव भी नहीं होगा।

समाधान—विषय-विषयिभाव सम्बन्धी के स्वरूप से भिन्न नहीं है। यदि उसे सम्बन्धी के रूप से भिन्न मानें, तब भी अन्त में उसके सम्बन्ध को अवश्यमेव सम्बन्धिरूप मानना पड़ेगा। यदि उसे सम्बन्धिरूप न मानें, तो सम्बन्ध का सम्बन्ध,

१ यहाँ भविष्यत्कालिक प्रयोगकर आगे 'अवोचाम च जल्पे' इत्यादि भूतकालिक प्रयोग किया गया है। इससे यह संदेह होता है कि ग्रन्थकार ने प्रथम 'ईश्वराभिसन्धि' का निर्माणकर फिर 'खण्डन' का निर्माण किया, 'खण्डन' का निर्माणकर ईश्वराभिसन्धि' रची या दोनों का निर्माण एक-काल में हुआ ? मेरे विचार में तो दोनों का निर्माण एक साथ ही हुआ है।

सम्बन्धिभेदं विषयविषयिभावात्माऽयं सम्बन्धः पर्यवमास्यति, तदवगमोऽपि तथावगमव्यतिरेकेणैव भविष्यति को विरोधः ?

मचैवं घट-तज्ज्ञानयोर्यादृग्विषयविषयिभावः ततो मात्रयाऽपि स्वप्रकाशे विषयविषयिभावान्यत्वे बाध्यतैकत्र स्यात्। अस्त्येव ह्यविद्याविद्यमाने घट-तज्ज्ञाने बाध्यत्वम्, परमार्थसति तु स्वप्रकाशे पारमार्थिकत्वमिति द्वयोरननुगमेऽपि न दोषः।

अथवा स्वात्मना सह क्रियाकर्मभावो विषयविषयिभावो वा स्वप्रकाशार्थ इति नाभ्युपेयमेव, यथा तु भवतां सत्तासम्बन्धादितरत्र सद्व्यवहारव्यवस्था [सत्ता तु स्वयमेव सद्रूपा, न चैतावता स्वात्माश्रयता तस्याः], तथा ज्ञानमपि स्वत एव सिद्धस्वरूपम्।

अथवा यथा बहुव्रीहिसमासे तद्गुणसंविज्ञाने गुणमादायैव प्रधानस्यान्यपदार्थस्य बहुव्रीहिसिद्धपदप्रतिपाद्यता, तथा विज्ञानस्याऽविषयमपि स्वात्मान-

फिर उसका सम्बन्ध—इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। ऐसा होने पर जैसे विषय-विषयिभावरूप सम्बन्ध-ज्ञान सम्बन्धी के भेद-ज्ञान के बिना होता है—क्योंकि स्वरूपसम्बन्ध का स्वभाव इतर सम्बन्धों के स्वभाव से भिन्न होता है—वैसे ही विषय-विषयिभावरूप यह सम्बन्ध भी सम्बन्धी के भेद के बिना ही सिद्ध होगा और उसका ज्ञान भी सम्बन्धी के भेद-ज्ञान के बिना ही होगा। फिर इसमें विरोध क्या है ?

प्रश्न—जैसे घट और उसके ज्ञान का विषय-विषयिभाव होता है, स्वप्रकाश ज्ञान के विषय-विषयिभाव में यदि उससे थोड़ा भी भेद हो, तो एकस्थल में वह अवश्य बाध्य होगा। उत्तर—अविद्या से कल्पित घट एवं घटज्ञान के बाधित होने से उसका सम्बन्ध विषय-विषयिभाव भी बाधित ही है। किन्तु परमार्थतः सत् स्वप्रकाश में वह संबन्ध भी परमार्थ-सत् है। दोनों में अनुगत एक रूप के न होने पर भी कोई हानि नहीं है।

अथवा स्व के साथ क्रिया-कर्मभाव या विषय-विषयिभाव 'स्वप्रकाश' शब्द का अर्थ नहीं मानना चाहिए। किन्तु जैसे आपके मत में सत्ता के सम्बन्ध से द्रव्यादि में सत्त्व-व्यवहार होता है और सत्ता स्वयं सद्रूप होनेसे उसमें आत्माश्रय दोष भी नहीं होता, वैसे ही ज्ञान अपने विषय घटादि का और अपना साधक है।

अथवा जैसे तद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहि-समास में गुण (समास के अन्तर्गत पद के अर्थ) का ग्रहण करके ही प्रधानभूत अन्य पदार्थ कुटादिपद का वाच्य होता है, वैसे ही विज्ञान भी, अपने अविषय अपने को ग्रहण करके ही, स्व-

मादायैव स्वविषयव्यवहारप्रवर्तनं समर्थ्यताम्। सोऽयं गुरूणां सविषयक-स्वप्रकाशतापक्षो न ब्रह्मस्वप्रकाशतापक्षः, तत्र विषयाभावात्। एतावन्मात्रेण तु स्यात्, यथा स्वाविषयेऽपि कुटादौ बहुव्रीहिवाक्यं व्यवहारं प्रवर्तयतीति तथा ज्ञानमविषयेऽप्यात्मनि अविद्यादशायामिति।

तदेवं यद् यदन्यत्र दृष्टवैधर्म्यं स्वप्रकाशे पर्यवसास्यति, तत्सवमन्यथानुपपत्ति-रेव स्वप्रकाशसाधकतया प्रदर्शिता स्वीकारयिष्यति। तद्यथा—अन्यो ज्ञाताऽन्यश्च ज्ञेय इत्यन्यत्र दृष्टमहमिति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या त्याज्यम्। तथा अन्यज्ज्ञान-मन्यज्ज्ञेयमिति जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या त्याज्यम्। सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिस्तथा दृष्टतामात्रबलमवलम्ब्य प्रवृत्तं तर्कशतमपि बाधते। तदिद-माहुः—'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि।'[1]—इति। तस्मात्—

विषय में व्यवहार की प्रवृत्ति कराता है। यह गुरु (प्रभाकर) का सत्य विषय से युक्त विज्ञान-स्वप्रकाशता पक्ष है, ब्रह्म-स्वप्रकाशता पक्ष नहीं; क्योंकि उस पक्ष में विषय असत् होता है। केवल इतना ही साम्य है कि जैसे 'लम्बकर्ण' और 'कुटादि' पद अपने अवाच्य कर्ण, कुट आदि के व्यवहार के प्रवर्तक होते हैं, वैसे ही ज्ञान अविद्या-दशा में अपने अविषय आत्मस्वरूप के व्यवहार का प्रवर्तक है।

जैसे 'अहं' इस व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से घटादि-व्यवहार में दृष्ट 'ज्ञाता अन्य होता है और ज्ञेय अन्य' यह नियम त्याग दिया जाता है और इसी तरह 'जानामि' इस व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से 'ज्ञान अन्य होता है और ज्ञेय अन्य' यह नियम त्यागा जाता है, वैसे ही स्वप्रकाश के साधन में प्रदर्शित अन्यथानुपपत्ति ही उन सबका अभेद में क्रिया-कर्मभाव, विषय-विषयिभाव आदि का स्वीकार करा देगी, जिनका घटादि-व्यवहार में अभाव और स्वप्रकाश में भाव देखा गया है। अन्यथानुपपत्ति (अर्थापत्ति) सभी प्रमाणों से बलवती है। अतः लोक में यही देखा गया है कि यह (अर्थापत्ति) केवल इसी बल का अवलम्बन कर प्राप्त तर्क-शत का भी बाध कर सकती है। किसी आचार्य ने कहा भी है—"प्रमाण रहने पर लोक में अदृष्ट भी बहुत-सी वस्तुओं का स्वीकार किया जाता है।"

[1] 'अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः' इति अस्योत्तरार्धम्।

'अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्टि दृष्टवैषम्यं सैव सर्वबलाधिका ॥'
वाच्याऽन्यथोपपत्तिर्वा त्याज्यो वा दृष्टताग्रहः।
न ह्येकत्र समावेशः, छायातपवदेतयोः ॥'—इति।

तदित्थं त्वदङ्गीकृतसद्विचारलक्षणोपपन्नैरेवंविधैर्विचारैः स्वप्रकाशता भवता सुप्रतिपद्या, अस्माभिस्तु स्वसंवेदनबलादेव स्वतःसिद्धरूपं विज्ञानमास्थीयत इति।

शून्यवाद-स्वप्रकाशवादयोर्भेदः

एवं च सति 'सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषः—यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे[2]—

'बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः ॥'—इति।

अर्थापत्ति पदार्थ का, साधक यदि है मान।
वे ही दृष्टि-विरोध का चूर्ण करेगी मान ॥
उपपत्ति हि तुम अन्यथा, करो या छोड़ो दृष्टि।
एक जगह कस होयगी, छायाऽऽतप की सृष्टि ॥

इस प्रकार आप द्वारा अङ्गीकृत सद्विचार (कथा) के लक्षण से युक्त विचार द्वारा आप ज्ञान की स्वप्रकाशता भलीभाँति जान सकते हैं। हम तो अपने अनुभव से ही स्वतःसिद्ध ब्रह्मरूप विज्ञान को प्राप्त हैं।

शून्यवाद और स्वप्रकाश-विज्ञानवाद का भेद

ऐसा होने पर बौद्ध और वेदान्तियों में यह भेद है कि बौद्ध तो सब वस्तुओं को ही 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। 'लङ्कावतार' नामक ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के शिष्यों ने कहा है कि 'बुद्धि से विचारने पर वस्तु के स्वभाव निश्चित नहीं होते। अतः सम्पूर्ण वस्तुएँ स्वभाव से रहित और अनिर्वचनीय हैं।'

१. बौद्धों के चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। इनमें प्रथम शून्यवादी, द्वितीय क्षणिक-विज्ञानवादी, तृतीय क्षणिक विज्ञान से अनुमेय क्षणिक बाह्य-पदार्थवादी और चतुर्थ क्षणिक विज्ञान से अभिन्न क्षणिक बाह्य-पदार्थवादी हैं। यहाँ शून्यवादी और वेदान्तियों का भेद दिखाया गया है।

२. 'अलंकारावतारे इति पाठः' इति विद्यासागरः। पुस्तकस्यानुपलम्भात् कः प्रकार इति निर्णेतुं न शक्यते।

विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते। तथाहि—नेदं सत् भवितुमर्हति, वक्ष्यमाणदूषणग्रस्तत्वात्। नाप्यसदेव, तथा सति लौकिकविचारकाणां सर्वव्यवहारव्याहत्यापत्तेः।

यदपि 'निर्वक्तुमसामर्थ्ये गुरव उपास्यन्ताम्, येभ्यो निरुक्तयः शिक्ष्यन्ते' इत्युपालम्भवचनं; तत्तदा शोभेत, यदि मेयस्वभावानुगामिनीयमनिर्वचनीयतेति न ब्रूयुः, वक्तृदोषादिति च वदेयुः। यस्तु वादी निरुक्त्यभिमानं धत्ते, स निर्वक्तुं न तु शक्ष्यति वक्तव्यदोषात्।

न च ते दोषाः स्वकमपि घ्नन्तः जातयः कथं न स्युरिति वाच्यम्; यतो निर्वचनीयत्वं बाध्यते तैर्दोषैः स्वयमप्यनिर्वचनीयरेव। अनिर्वचनीयैरेव च तैर्व्यवह्रियत एवेति कुतोऽस्मान् प्रति व्याघातः स्यात्। तज्जातित्वस्य च निरुच्य योजयितुमशक्यत्वात्।

'विज्ञान से भिन्न सब वस्तुएँ सत्-असत् से विलक्षण हैं', यह ब्रह्मवादी कहते हैं। देखिये—यह प्रपञ्च सत् नहीं है, क्योंकि वस्तु की सिद्धि लक्षण से होती है और लक्षण वक्ष्यमाण दूषणों से दूषित है। वह असत् भी नहीं है, क्योंकि लौकिक तथा परीक्षक के व्यवहार का विषय होता है।

प्रश्न—यदि निरुक्ति (लक्षण) नहीं कर सकते, तो उन गुरुओं की सेवा कीजिये, जिनसे निरुक्ति की शिक्षा मिलती है। उत्तर—यह निन्दागर्भित प्रश्न तब शोभा देता, यदि आप मेय के स्वभाव को ही अनिर्वचनीय न कहकर 'वक्ता के दोष से अनिर्वचनीय है' ऐसा कहते। जो वादी निरुक्ति (लक्षण) करने का अभिमान करते हैं, वे भी वक्तव्य (मेय) के दोष से निरुक्ति नहीं कर सकते।

प्रश्न—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि जैसे प्रमाण, प्रमेय आदि के लक्षणों को दूषित करते हैं, वैसे ही अपने लक्षणों को भी दूषित करते हैं। अतः प्रमाण आदि के लक्षणों का खण्डन जाति-उत्तर है। स्वव्याघातक (अपने स्वरूप को नष्ट करनेवाले) असत् उत्तर को 'जाति' कहते हैं। उत्तर—अव्याप्ति आदि भी स्व-लक्षण में अव्याप्ति आदि दोष होने से सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय अवश्य हैं। किन्तु अनिर्वचनीय दोषों से ही लक्षणों के खण्डन द्वारा जगत् की अनिर्वचनीयता बोधित होती है। आप तो अनिर्वचनीय अव्याप्त्यादि दोषों से भी व्यवहार करते ही हैं। फिर मेरे कथन में व्याघात कैसे हो सकता है? किञ्च, आप जाति की निरुक्ति (लक्षण) भी नहीं

ननु सदसत्पक्षयोर्दोषदर्शनाद् अनिर्वचनीयतेति ब्रुवाणस्य किं सदसत्त्वसंशयः, किं वा सदसत्त्वपक्षबहिर्भावाभ्युपगमः ? आद्ये भवितव्यं तावत्सदसत्त्वयोरन्यतरेणेति एकपक्षदोषस्याभासत्वम्, तच्च सत्त्वपक्षदोषस्यैवाभ्युपेयमावश्यकत्वात् । यदि तावत्सत्त्वपक्षस्तदा सत्त्वपक्षदोषः कथं संगच्छेत । अथाऽसत्त्वपक्षस्तदा सर्वासत्त्वे तद्दोषः कथं सद्भाववान् भवितुं प्रभवेत् ? द्वितीयस्तु व्याघातादेवासम्भवी, 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरि'ति ।

तदेतदनाकलितपराभिसन्धेः प्रत्यवस्थानम् । यो हि सर्वमनिर्वचनीयसदसत्त्वं ब्रूते, स कथमनिर्वचनीयतासत्त्वव्यवस्थितौ पर्यनुयुज्येत, साऽपि हि कृत्स्नप्रपञ्चपरसर्वशब्दाभिधेयमध्यनिविष्टैव ।

परस्यैव व्यवस्थयैवं पर्यवस्यति—निर्वचनप्रतिक्षेपादनिर्वचनीयत्वम्, विधिनिषेधयोरेकतरनिरासस्य इतरपर्यवसायितायास्तेनाभ्युपगमात् । ततः परकीयरीत्येदमुच्यते—अनिर्वचनीयत्वं विश्वस्य पर्यवस्यतीति ।

कर सकते, अतः जाति भी असत् है । फिर मेरे कथन में आप 'जाति' कैसे दे सकते हैं ?

प्रश्न—'सत्, असत् दोनों पक्षों में दोष है', इस युक्ति से अनिर्वचनीय कहनेवाले आपको सत्-असत्-विषयक सन्देह है या तृतीय पक्ष का स्वीकार ? यदि सन्देह है, तो सत्त्व और असत्त्व दोनों में से एक अवश्य सिद्ध होगा और दूसरे पक्ष के दोष को आभास कहना पड़ेगा । आवश्यक होने से सत्त्व-पक्ष के दोषों को ही आभास कहा जायगा, क्योंकि यदि सत्त्व-पक्ष है, तब तो उस पक्ष के दोष आभास हैं ही और यदि असत्त्व पक्ष है, तब भी सब के असत् होने से सत्त्व-पक्ष के दोष भी असत् ही हैं । सत्-असत् से विलक्षण तृतीय पक्ष का आश्रयण तो व्याघात होने के कारण असंगत है । सत्त्व-असत्त्व दोनों आपस में विरुद्ध हैं । अतः इनसे भिन्न तृतीय पक्ष नहीं है; क्योंकि जो सत् नहीं, वह असत् अवश्य है और जो असत् नहीं, वह सत् है ।

उत्तर—जबतक इस प्रकार साफ-साफ दोष न दें कि इस-इस दोष से सत्-पक्ष का दोष आभास है, तबतक सत्त्व-पक्ष का स्थापन या अनिर्वचनीयत्व का खण्डन नहीं हो सकता । फिर यदि अनिर्वचनीयत्व का खण्डन हो भी जाय, तो हानि क्या है ? जो सम्पूर्ण जगत् को अनिर्वचनीय कहता है, वह अनिर्वचनीयत्व को भी अनिर्वचनीय ही कहेगा, क्योंकि जगत् के भीतर अनिर्वचनीयत्व भी आ ही जाता है ।

प्रश्न—आप यदि अनिर्वचनीयत्व का साधन न करेंगे, तो वह सिद्ध कैसे होगा ?

वस्तुतस्तु वयं सर्वप्रपञ्चसत्त्वासत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताः स्वतःसिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्त्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्थाः सुखमास्महे। ये तु स्वपरिकल्पितसाधनदूषणव्यवस्थया विचारमवतार्य तत्त्वं निर्णेतुमिच्छन्ति, तान् प्रति ब्रूमः—'न साध्वीयं भवतां विचार-व्यवस्था, भवत्कल्पितव्यवस्थयैव व्याहतत्वात्।

अत एवास्मदुपन्यस्यमानदूषणस्थितिविषयाः पर्यनुयोगा निरवकाशाः, त्वद्व्यवस्थयैव त्वद्व्यवस्थाया व्याहत्युपन्यासात्। न चोपन्यास एव निर्बन्ध-कारणम्; विचारोपन्यासस्य[1] सदसत्त्वोपगमाद्युदासेनैविंचार्यमित्युपेत्यैव परं विचारप्रवर्तनायाः शक्यत्वमित्यावेदितत्वात्।

उत्तर—परपक्षी की व्यवस्था के अनुरोध से इस प्रकार निर्वचनीयत्व (लक्षण) का खण्डन करने पर अनिर्वचनीयत्व सिद्ध हो ही जाता है। क्योंकि विधि या निषेध इन दोनों में से एक के खण्डन से अन्य की सिद्धि अर्थात् ही फलित होती है, इसे परपक्षी भी मानते हैं। अतः संसार अनिर्वचनीय है, यह कथन भी दूसरों की रीति से है।

वस्तुतः सारे संसार के सत्त्व या असत्त्व के साधन से निवृत्त हम लोग तो स्वतःसिद्ध चिद्रूप केवल ब्रह्मतत्त्व का निश्चय पाकर कृतकृत्य हो सुख से स्थित हैं। किन्तु जो परीक्षक स्वकल्पित साधन और दूषण की व्यवस्था द्वारा कथा आरम्भकर तत्त्व-निर्णय की इच्छा करते हैं, उनसे हम कहते हैं कि 'आपकी यह व्यवस्था ठीक नहीं, क्योंकि आपके द्वारा कल्पित दूषणों से ही वह खण्डित हो जाती है।'

प्रश्न—अव्याप्ति आदि दोषों के लक्षणों में दोष होने से वे अनिर्वचनीय हैं या नहीं? यदि अनिर्वचनीय हैं, तो उन दोषों से प्रमाण-प्रमेय के लक्षण दूषित कैसे होंगे। यदि अनिर्वचनीय नहीं हैं, तो उन दोषों से ही द्वैत हुआ। *उत्तर*—हम उन दोषों को भी अनिर्वचनीय ही मानते हैं, अतः द्वैत नहीं है। किन्तु आप उन दोषों को मानते हैं, अत एव आपके मतानुसार ही हम उन दोषों से प्रमाण-प्रमेय के लक्षणों का खण्डन करते हैं। *प्रश्न*—दोषों और कथा के स्वीकार के बिना दोषों का कथन नहीं हो सकता, क्योंकि कथा में स्वीकृत का ही कथन होता है। इसलिए दोषों का उपन्यास ही उनके स्वीकार का हेतु होगा? *उत्तर*—विचार (कथा)

१ विचारस्येति सुपाठः, विचारोपन्यासस्येति कुपाठः, अनन्वयात्। विचारस्येत्यस्य निर्बन्धेऽन्वयः। निर्बन्धः = स्वीकारः। उपन्यास इत्यस्याग्रे दोषाणामिति शेषः, विचारं विना दोषोपन्यासानुपपत्तेरिति भावः।

यदि च त्वद्दर्शनरीत्या अभिधीयमानमस्माभिर्बाधं बाधसे, तदा स्वाभ्युपगम-रीतिबाधाऽभिधायितैव ते स्यात्। अस्माभिर्निर्वाह्यमानस्य त्वया खण्डनयुक्त्यैव बाधेऽस्माकमेव जेतृता, 'खण्डनयुक्तयो बाधिकाः, निर्वाह्यपक्षश्च बाध्यः' इत्यस्या-स्मदुक्तपक्षस्य त्वयैव निर्वाहात्। तस्मात् त्वया निर्वाह्यमस्माभिश्च खण्डनीय-मितीदृश्यामेव परं कथायां त्वन्निर्वाह्यनिर्वाहे तव जयो नान्यथेति। तदेवं भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीयः, ब्रह्मैव तु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थितम्।

अद्वैत-प्रमाण-विचारः

ननु अद्वैते किं प्रमाणम्? प्रश्न एव तावत् अद्वैतमनङ्गीकुर्वतो नोपपद्यते। प्रमाणं यत्राद्वैते पृच्छ्यते तस्याऽप्रतीतौ कथमेवंभूतः प्रश्नः संगच्छते? नहि प्रमाण-मात्रं भवता पृच्छ्यते, किन्नाम विषयविशेषनियतम्। तच्च तदोपपद्यते, यदि तादृशं ते प्रतीतिमारोहेत्। प्रश्नस्य वाग्व्यवहारविशेषत्वात् व्यवहारस्य च स्वजनकज्ञान-

यदि तुम्हारे दर्शन की रीति से हमने जो अव्याप्ति आदि दोष दिये हैं, उन-का खण्डन करते हो, तो अपनी रीति का ही खण्डन करते हो। यदि कदाचित् हम अव्याप्ति आदि दोषों का समर्थन करें और आप खण्डनोक्त युक्तियों से उनका खण्डन करें, तब भी हमारी ही विजय होगी। क्योंकि आपने ही हमारे इस पक्ष का साधन किया है कि 'खण्डन में उक्त युक्ति बाधक और निर्वाह्य पक्ष बाध्य है।' आप प्रपञ्च को सत्य मानते हैं, अतः आपको प्रमाण-प्रमेय के लक्षणों का निर्वाह करना चाहिए और हम अनिर्वचनीयवादी हैं, अतः हमें उनका खण्डन करना चाहिए, ऐसी वितण्डा में यदि आप लक्षणों का समर्थन कर सकें, तभी आपकी जय होगी, अन्यथा नहीं। इस तरह आप लक्षणों का स्थापन नहीं कर सकते। अतः भेद-प्रपञ्च अनिर्वचनीय है और अद्वितीय ब्रह्म ही परमार्थ में सत् है, यह सिद्ध हुआ।

अद्वैत में प्रमाण-विचार

प्रश्न—अद्वैत में क्या प्रमाण है? *प्रश्न का खण्डन*—जो अद्वैत को स्वीकार नहीं करते, वे 'अद्वैत में क्या प्रमाण है?' ऐसा प्रश्न ही नहीं कर सकते। आप जिस अद्वैत में प्रमाण पूछते हैं, उसके अज्ञात रहने पर ऐसा प्रश्न ही कैसे होगा? क्योंकि आप केवल प्रमाण तो पूछते नहीं, अद्वैत में प्रमाण पूछते हैं। पर अद्वैत में प्रमाण का प्रश्न तभी हो सकता है, जब आप अद्वैत को जानते हों। क्योंकि प्रश्न वचन-

विषयनियतत्वात् अन्यथा व्यवहाराणां विषयनियमप्रयोजकस्य ज्ञानस्यासम्भवेन व्यवहारविषयपारिप्लवापत्तेः ।

यदि चाद्वैतं प्रश्नविषयः प्रतीतमुच्यते, तदा तत्प्रतीतिस्ते प्रमा वा स्यात्, अप्रमा वा ? आद्ये यदेव तस्याः प्रमायाः करणम्, तदेवाद्वैते प्रमाणं तवापि सम्प्रतिपन्नमिति वृथा तस्य प्रश्नः ।

न च वाच्यम्—सामान्यतोऽद्वैतप्रमाणसिद्धौ भूतायामपि विशेषतः प्रमाणप्रश्नः; यतः सामान्यसिद्धावेव अद्वैतसिद्धौ विशेषविचारः [1]काकदन्तविचारवत् स्यात् । सामान्यसिद्धिरेव च विशेषमप्याक्षिप्यानयन्ती विशेषमपि ते कथितवती किमत्र प्रश्नेन ? परिगणितेषु हि प्रमाणप्रकारेषु मध्ये यत्रैव दोषं न प्रमिणोषि, तत्रैव विशेषे सामान्यस्य विश्रान्तेः । यदि च परिचितचरेषु प्रमाणप्रकारेषु सर्वेष्वेव दोषं प्रमिणोषि, तदा प्रमाणान्तरमाक्षिप्यापि सामान्येन विश्रमणीयमेव ।

व्यवहारविशेष रूप है और व्यवहार ज्ञान से जन्य होता है; अतः वह (व्यवहार) स्वजनक ज्ञान के विषय से नियत (व्याप्य) है । यदि व्यवहार स्वजनक ज्ञान के विषय का अतिक्रमण करे, तो 'अमुक व्यवहार का विषय अमुक व्यवहर्तव्य है', यह नियम ही नहीं हो पायेगा ।

फिर, यदि प्रश्न का विषय अद्वैत प्रतीत (ज्ञात) हो, तो वह प्रतीति भ्रम है या प्रमा ? यदि प्रमा है, तो जो प्रमा का कारण है, वही अद्वैत में प्रमाण है, यह तुम भी मानोगे । अतः प्रमाण-प्रश्न व्यर्थ है ।

प्रश्न का समर्थन—अद्वैत में सामान्य रूप से प्रमाण सिद्ध है और यह विशेष रूप से प्रमाण का प्रश्न है । *प्रश्न-खण्डन*—प्रमाण यदि सामान्य रूप से सिद्ध ही है, तो विशेष रूप से उसका विचार कौए के दाँतों की परीक्षा के तुल्य निष्फल है । कारण सामान्य रूप से प्रमाण की सिद्धि ही विशेष का भी आक्षेप कर लेगी, क्योंकि विशेष के बिना सामान्य होता ही नहीं । (यदि कहो कि इससे विशेषत्व रूप से ही विशेष सिद्ध हुआ, अनुमानादिरूप से नहीं और हम तो वैसी ही सिद्धि चाहते हैं, तो) प्रत्यक्ष आदि परिगणित प्रमाणों में से जिस प्रमाण में आप दोष की प्रमिति न करें, उसी विशेष में विश्राम होगा । यदि आप पूर्वपरिचित प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों में दोष जानते हों, तो सामान्य उनसे अन्य विशेष प्रमाण का अध्याहार कर विश्राम करेगा ।

[1] 'काकस्य कति दन्ताः सन्ति' यह विचार नहीं होता, क्योंकि इसका कुछ फल नहीं और बिना फल के किसी काम में प्रवृत्ति नहीं होती ।

यदि च का प्रमाणव्यक्तिरसौ इति प्रश्नार्थः परिशिष्यते, तदा न सर्वा व्यक्तिर्विशेषतो निर्देष्टुं शक्यते इति तदनिर्देशेऽपि न नः किञ्चिदपचीयते।

यदि च द्वितीयः, तदानीमद्वैतप्रतीतिमप्रमां मन्यमानस्य तव 'अप्रमाविषये किं प्रमाणम्' इति कथं न प्रश्नो व्याहन्यते ?

अथ अप्रमा सा मम मते, त्वन्मते तु प्रमैवेति तत्करणं प्रमाणं पृच्छ्यते इति ब्रूषे; नैतदप्युपपद्यते, तवाऽद्वैते ज्ञानं यदुत्पद्यते तत्करणं मया प्रमाणरूपं वक्तव्यमित्यत्र ममाऽनियमात्। यदि नाम मया सदाऽद्वैतमभ्युपेयते, तावता किं तावकीनस्य तज्ज्ञानस्य करणमवश्यं प्रमाणं स्यात् ? वस्तुतो वह्निमत्यपि पर्वते यदि कश्चिद्बाष्पं धूमं प्रतीत्य ततो वह्निमनुमिनोत्येतावता किंबाष्पविषयं धूमज्ञानं करणं प्रमाणमेष्टव्यमिति ?

अस्तु वा प्रश्नोऽयं यथा तथा, श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणमिति ब्रूमः। श्रूयते खलु 'एकमेवाद्वितीयम्', 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि। श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थ-

प्रश्न-समर्थन—अनुमानत्वरूप विशेष भी सामान्य ही है, अतः अद्वैत में कौन-सी अनुमान व्यक्ति प्रमाण है ?, यह प्रश्न का आशय है। *प्रश्न-खंडन*—सम्पूर्ण प्रमाण-व्यक्तियों का विशेष रूप से कोई भी निर्देश नहीं कर सकता, तब हम भी उसका निर्देश न कर सकें, तो हमारी हानि क्या है ?

यदि आपकी अद्वैत-प्रतीति अप्रमा हो, तो प्रश्न का आशय यह हुआ कि 'अप्रमा के विषय अद्वैत में प्रमाण क्या है।' किन्तु यह प्रश्न बाधित है, क्योंकि जो अप्रमा का विषय है, वह प्रमा का विषय कैसे होगा ?

समर्थन—हमारे मत में अद्वैत-ज्ञान अप्रमा है, पर आपके मत में वह सब प्रमा ही है। अतः उसके करणरूप प्रमाण के प्रश्न में व्याघात देना ठीक नहीं है। *खण्डन*—'तुम्हें अद्वैतविषयक जो ज्ञान हुआ है, उसका प्रमाणरूप करण हमें कहना चाहिए', इसमें मेरी नियुक्ति नहीं हो सकती। हम सदा अद्वैत मानते हैं, क्या इतने मात्र से तुम्हारे अद्वैत के ज्ञान का करण अवश्य प्रमाण होगा ? (कदापि नहीं)। वस्तुतः वह्निमान् भी पर्वत में यदि कोई बाष्प या धूलि-पटल को धूम जानकर उससे वह्नि का अनुमान करे, तो वह्नि-ज्ञान के प्रमा होने पर भी क्या बाष्प का धूमरूप से ज्ञान उसका (वह्नि-ज्ञान का) करण प्रमाण माना जायगा ?

प्रश्न का उत्तर—मान लें कि जिस किसी प्रकार 'अद्वैत में क्या प्रमाण है' यह प्रश्न

प्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते ।

सिद्धार्थानां श्रुतीनामन्यपरत्वमपि यदि स्यात्तथापि पदसमन्वयबलेन ताम् प्रतीयमानमर्थमबाधितमादायैव तासामन्यपरिभवनात्, धियां स्वतःप्रामाण्यस्य बाधकैकापोद्यत्वात् ।

बन जाय, तब भी छान्दोग्य (६ । २ । १) की 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' और बृहदारण्यक (६ । २ । १) की 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियाँ ही अद्वैत में प्रमाण हैं ।

शंका—प्रथम तो [1]चार्वाकादिकथित दोषों से वेद ही अप्रमाण है । उसमें भी स्वतःसिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादक उपनिषदें तो [2]मीमांसोक्त युक्तियों से अप्रमाण ही हैं । *समाधान*—श्रुतियों के प्रामाण्य तथा स्वतःसिद्ध ब्रह्म की प्रतिपादक उपनिषदों के प्रामाण्य की सिद्धि तो 'ईश्वराभिसन्धि' नामक अपने अन्य ग्रन्थ में करेंगे ।

शंका—उपनिषदों का ब्रह्माद्वैत में तात्पर्य नहीं, किन्तु एक ही ब्रह्म (ईश्वर) है, ब्रह्म ही उपासनीय है, इत्यादि अर्थ में ही तात्पर्य है । *समाधान*—यदि स्वतः-सिद्ध अद्वैत की प्रतिपादक उपनिषदों का 'एक ईश्वर है, केवल ब्रह्म ही उपासनीय है' इस अर्थ में तात्पर्य मानें, तो भी श्रुति 'एकम्' और 'ब्रह्म' इन पदों के अन्वय से प्रतीयमान अद्वैत अर्थ को ग्रहण करके ही द्वैत का बाध कर देगी ।

१ नास्तिक लोग पुत्रेष्टि करने पर भी पुत्र के न होने से वेद में अनृतत्व (मिथ्या-कथन) तथा 'उदिते जुहुयात्' कहकर 'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति' इस प्रकार निषेध करने से व्याघात (आपस में विरोध) दोष देते हैं । किन्तु यह उनका भ्रम है, क्योंकि 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इस श्रुति का आशय यह है कि पुत्रोत्पत्ति के सब लौकिक कारण रहते हुए भी यदि किसी पापवश पुत्र न होता हो, तो इस इष्टि से पाप की निवृत्ति द्वारा पुत्र होता है । इसी तरह अग्निहोत्र का यह प्रकार है कि उदित होम सदा उदय में ही करें और अनुदित होम सदा अनुदित में ही करें । यदि इसके विपरीत करें, तो 'श्यावो०' इत्यादि निषेध के भागी होंगे । अतः अनृतत्व, व्याघात आदि दोष नहीं हैं । यद्यपि 'ईश्वराभिसन्धि' ग्रन्थ अब मिलता नहीं, परन्तु सम्भव है कि उसमें ऐसे ही परिहार हों ।

२ मीमांसक लोग कहते हैं कि 'सोमेन यजेत', 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि वेदवाक्य शुभकर्म में प्रवृत्ति तथा अशुभ से निवृत्ति कराते हैं, अतः प्रमाण हैं । उपनिषद् तो सिद्धस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति नहीं बतलातीं, अतः प्रमाण नहीं हैं । यदि प्रमाण भी हों, तो शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा की प्रतिपादक होने से कर्मकाण्ड के अङ्ग हैं, क्योंकि जो शरीर से पृथक् आत्मा को मानते हैं, वे ही स्वर्गादि फलवाले कर्मकाण्ड में प्रवृत्त हो सकते हैं । उपनिषद् स्वतंत्र-प्रमाण नहीं है । किन्तु यह उनका भ्रम है, उपनिषद् में भी 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि विधिवाक्य हैं, जिनसे श्रवणादि में प्रवृत्ति होती है । 'ब्रह्मविद् परमाप्नोति' इत्यादि स्वतंत्र फल हैं, अतः वे भी स्वतंत्र शास्त्र एवं प्रमाण हैं ।

ननु नाद्वैतश्रुतीनामृजावर्थे प्रामाण्यं सम्भवति, प्रत्यक्षादिबाधात् । ततश्चान्यत्रैव क्वचित्तात्पर्यं कल्प्यम् ।

मैवम्; यदद्वैतश्रुतेर्बाधकं प्रत्यक्षादि मन्यसे तदाऽऽत्मीये विषये घटपटादेर्भेदे नियत एवोत्पद्यते, न तु प्रत्यक्षादिकं भूतभाविवर्तमानसकलव्यक्तिभेदग्राहि जायमानमावयोः सम्प्रतिपन्नमस्ति, तादृशेन ज्ञानेन चोत्पद्यमानेन सर्वज्ञतां तदा तत्र श्रद्दध्यां, यदि जानासि मम चेतसि किं वर्तते इति ।

यदि च प्रत्यक्षादि किञ्चिन्मात्रविषयम्, तदा तद्विषयादन्यत्रापि प्रवर्तमाना अद्वैतश्रुतिस्तेन न बाधितुं शक्यते, स्वविषयमात्रे प्रमया विपरीतविषयज्ञानबाधनात् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । मा हि भूदग्नीषोमीयपश्वालम्भनविधिना सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैयर्थ्यम् ।

शङ्का – 'आदित्यो यूपः' इस अर्थवाद का प्रशंसा में तात्पर्य होने से, पद-समन्वय से प्रतीयमान सामानाधिकरण्य जैसे प्रत्यक्ष से बाधित होता है, वैसे ही 'एकं ब्रह्म' इस स्थल में अद्वैत का बाध क्यों न हो ? *समाधान*—बुद्धि का स्वतःप्रामाण्य तो केवल बाधक रहने पर ही दूर होता है । 'आदित्यो यूपः' यहाँ प्रत्यक्ष बाधक है, पर 'एकं ब्रह्म' यहाँ कोई बाधक है ही नहीं ।

प्रश्न — अद्वैत-श्रुति का ऋजु अर्थ (वाच्यार्थ) में प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि द्वैत प्रत्यक्ष से गृहीत होता है । अतः प्रत्यक्ष से अद्वैत बाधित होगा । इसलिए उपासना आदि में ही श्रुति का तात्पर्य है ।

उत्तर—जिन प्रत्यक्षादिकों को अद्वैत-श्रुति के बाधक मानते हैं, वे (प्रत्यक्षादि) केवल अपने-अपने विषय में घट-पटादि के भेदों से नियत ही उत्पन्न होते हैं । अतः प्रत्यक्ष द्वारा श्रुति से जात सर्वाद्वैत बोध का बाध कैसे होगा ?

प्रत्यक्ष के सर्वविषयकत्व का समर्थन— सामान्यलक्षणा से भूत, भावि और वर्तमान सकल भेदविषयक एक ही प्रत्यक्ष होता है और वही अद्वैत का बाधक होगा । *खण्डन*— सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) से आपके सर्वविषयक ज्ञान में हम तब श्रद्धा करें, यदि आप सामान्यलक्षणा के बल से बतला दें कि हमारे चित्त में क्या है ?

यदि कहें— प्रत्यक्ष किञ्चिन्मात्रविषयक होता है, तो उस विषय से अन्यत्र भी प्रवृत्त अद्वैत-श्रुति उससे बाधित कैसे होगी, क्योंकि प्रमा स्व-विषय में ही स्व-विषय के विपरीत-विषयक ज्ञान की बाधक होती है । अतएव 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह श्रुति 'मा हिंस्यात्

यदा चैवं तदा बाधिकायाः प्रत्यक्षधियो बाध्यायाश्चाऽद्वैतबोधने श्रुतिनिराबाधा सती तयोरैक्यं बोधयतीति तत्प्रत्यक्षादि कथं स्वात्मानमेव बाधेत । घटेन पटेन तद्भेदेन च स्वविषयेण सह तस्या एव धियः श्रुत्या सर्वस्याद्वैतं गोचरयन्त्या कथं नाभेदे प्रामाण्यमासादयितव्यम्, तत्राबाध्यमानत्वात् । नहि तस्या धियः स्वात्मा वा स्वात्मना सह घटपटादेर्भेदोऽपि वा विषयः । 'घटपटौ भिन्नौ' इत्येवमाकारा हि सा जायते, न तु 'अहं घटात् पटाच्च भिन्ना, मत्तो वा तौ भिन्नौ' इति ।

स्वप्रकाशताऽपि स्वमात्रे साक्षिणी, न तु यतो यतः प्रकाशो भिद्यते ततस्ततस्तस्य भेदेऽपि । अन्यथा तत्तदपि स्वप्रकाशकुक्षौ निक्षिपन्ती न कथमद्वैते एव पर्यवस्यति ।

सर्वा भूतानि' इस श्रुति का अग्नीषोमीय पशुमात्र विषय में बाध करती है, अन्य पशु-विषय में नहीं । यदि अन्यत्र भी बाध करे, तो 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस श्रुति का वैयर्थ्य हो जायगा ।

यदि ऐसा है, तो बाधक प्रत्यक्ष-बुद्धि और बाध्य अद्वैत-बुद्धि दोनों के अद्वैत-बोधन में बाध-रहित अद्वैत-श्रुति उन दोनों के अभेद का बोध करायेगी । अतः वह प्रत्यक्ष-बुद्धि अपने आपका बाध कैसे कर सकती है ? परस्पर सारे जगत् के अभेद को विषय करनेवाली श्रुति 'घटः पटाद् भिन्नः' इस प्रत्यक्ष-बुद्धि के स्व-विषय घट-पट और भेद के साथ अभेद-बोधन में प्रामाण्य क्यों न प्राप्त करे; क्योंकि उस विषय में कोई बाधक नहीं है । उस बुद्धि के विषय अपनी आत्मा (स्वरूप) या अपनी आत्मा के साथ घट-पट के भेद नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष-बुद्धि 'घटपटौ भिन्नौ' इत्याकारक ही होती है, 'अहं घटात् पटाच्च भिन्ना' अथवा 'मत्तो वा तौ भिन्नौ' इत्याकारक नहीं होती ।

समर्थन—बुद्धि स्वप्रकाश है, अतएव स्व और स्व के भेद का व्यवहार करायेगी। *खंडन*—स्वप्रकाश होने से बुद्धि अपना तो व्यवहार अवश्य करायेगी, परन्तु जिस-जिससे वह भिन्न है, उस-उससे अपने में रहनेवाले भेद का व्यवहार नहीं करायेगी; क्योंकि भेद का स्वभाव है कि वह प्रतियोगी और धर्मी से व्यतिरिक्त ज्ञान का गोचर होता है । यदि ज्ञान का गोचर न होकर भी भेद को सिद्ध मानें, तो भेद भी ज्ञानस्वरूप हो जायगा, क्योंकि संविद्-विषय के न होने पर भी सिद्धत्व संविद् का ही स्वभाव है ।

न च तया धिया स्वस्य स्वविषयस्य च स्वरूपावगाहने स्वरूपलक्षणो भेदः प्रकाशित एव स्यादिति वाच्यम्; 'पुरोवर्ति रजतम्' इति भ्रान्तौ पुरोवर्त्यात्मनो रजतात्मनश्च प्रकाशे भेदग्रहापत्तेः।

धर्मविशेषमन्तर्भाव्य स्वरूपस्य भेदत्वे धियोऽपि तथा स्यादिति सैव धीर्न तत्प्रकाशः, तस्मिन् सन्निकर्षाद्यपेक्षायां धियः प्राक् तदसंभवात्। आत्मवदात्मधर्मेऽपि सन्निकर्षानपेक्षा सा इति चेन्न। ग्रहणत्व-स्मृतित्व-प्रमात्वादावपि तथैव स्यादिति।

तदेवं सा बुद्धिः श्रुत्या घटपटात्मतया व्यवस्थाप्यमाना कथमात्मनः स्वस्मादेव भेदे प्रमाणीभवितुं प्रभवतीति बाधिकायां बुद्धौ घटपटयोर्भेदे प्रमात्वा-

समर्थन—स्व-प्रकाश ज्ञान का स्व भी विषय है। अतः घट-पट आदि विषय और स्व का स्वरूपलक्षण भेद ज्ञान का विषय है ही। *खंडन*—स्वरूप भेद नहीं है। क्योंकि यदि स्वरूप को भेद कहें, तो 'इदं रजतम्' इस स्थल में शुक्ति और रजत दोनों के स्वरूप-लक्षण भेद का ग्रह होने से अभेद-भ्रम नहीं होगा, क्योंकि भेद-ग्रह अभेद-ग्रह का विरोधी है।

समर्थन—स्वरूपमात्र भेद नहीं, किन्तु वैधर्म्य-विशिष्ट स्वरूप ही भेद है। शुक्ति-रजत का वैधर्म्ययुक्त स्वरूपलक्षण भेद गृहीत नहीं है। अतः 'इदं रजतम्' ऐसा अभेद-भ्रम हो जाता है। *खण्डन*—बुद्धि का भी स्वरूप भेद नहीं है, किन्तु वैधर्म्य से युक्त स्वरूप ही भेद है। बुद्धि के स्वप्रकाश होने पर भी वैधर्म्य स्व का विषय नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष के विना वैधर्म्य का भान हो नहीं सकता। वैधर्म्य के साथ 'मनः-संयुक्तात्मसमवेतज्ञान-समवाय' ही सन्निकर्ष हो सकता है। वह ज्ञान-घटित होने से स्व से पूर्व नहीं है। अतः विरोधी (भेद-ग्रह) के न होने से श्रुति घट-पटभेदरूप स्व-विषय के साथ प्रत्यक्ष-बुद्धि के अभेद का बोधन करेगी।

समर्थन—वैधर्म्य स्वप्रकाश (ज्ञान) का विषय है। जैसे ज्ञान अपना सन्निकर्ष के बिना ग्रहण करता है, वैसे ही स्व-धर्म का भी ग्रहण करेगा। *खण्डन*—यदि स्व-प्रकाश ज्ञान को स्व-धर्म का प्रकाशक मानें, तो बुद्धित्व और स्मृतित्व का भी ज्ञान हो जायगा। यदि ज्ञान के स्वप्रकाश होने से ज्ञान-धर्म का भी ज्ञान मान लें, तो ज्ञान के होने पर प्रमात्वादि का जो सन्देह होता है, वह नहीं होगा।

तस्मात् इस प्रकार श्रुति द्वारा घट-पट के अभेद रूप से व्यवस्थित प्रत्यक्ष-बुद्धि, अपनी आत्मा घट के—स्व की आत्मा पट से—भेद में प्रमाण कैसे हो सकती है? अतः बाधक प्रत्यक्षबुद्धि के घट-पट-भेदरूप विषय में अप्रमात्व होने पर अभेद

भावमासादयन्त्यां श्रुतिस्तत्र तत्राऽप्रतिद्वन्द्वित्वाऽसङ्कुचितस्वतःप्रामाण्यबललब्ध-तत्तदर्थैक्यान्यथानुपपत्तिसहायसम्पदजय्या तयोरप्यभेदं बोधयन्ती न प्रतिहन्तुं शक्येति न क्वचिदपि प्रतिहतप्रसरा सती सर्वाद्वैतप्रमापिकेति ।

भेदप्रमान्यथानुपपत्त्या च वैपरीत्यमशक्यम्, तत्राद्वैतश्रुत्या सन्दिह्यमानस्य प्रमात्वस्यैवासिद्धेः, भेदधीमात्रस्य च द्विचन्द्रादिबोधवदन्यथाप्युपपत्तेः ।

'एकम्' इत्युपादाय यद् एवकारमप्युपादत्ते श्रुतिः 'एकमेवेदम्' इतिरूपा, तदैकान्तिकमैक्यं बोधयतीति भेदाभेदेनाप्यशक्यसमर्थनं घटपटादिभेदग्राहि प्रत्यक्षादिप्रामाण्यमिति ।

बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात् कथमित्थमिति चेन्न । श्रुतितो द्रागेव जातायाः सर्वविषयाया अद्वैतधियोऽस्मद्बुद्धय एवंविधविचारसोपानपरम्परामारोहन्त्यो नानाविषयेषु तत्प्रामाण्यविषयाः क्रमेण परिनितिष्ठन्तीत्युच्यमानत्वात् ।

में प्रतिद्वन्द्वी के न होने से असङ्कुचित और स्वप्रामाण्य के बल से लब्ध जो स्व (श्रौत-बुद्धि) से घट-पट आदि अर्थों का ऐक्य, उसकी जो अन्यथानुपपत्ति है, उसकी सहायता से अजेय—घट-पट के भी अभेद का बोधन करती हुई—बोधन के अयोग्य कहीं भी न रुकनेवाली—अद्वैत श्रुति, सब पदार्थों के अद्वैत की प्रमा करायेगी ।

प्रश्न—'घटः पटाद् भिन्नः' इत्याकारक घट-पट के भेद की प्रमा ही अनुपपन्न होकर अद्वैत-श्रुति का सर्वत्र बाध क्यों नहीं कर देती ? उत्तर—अद्वैत-श्रुति से भेद-प्रत्यक्ष में सन्देह होता है, अतः उसमें प्रमात्व की सिद्धि ही नहीं होगी । फलतः भेद-प्रत्यक्षमात्र द्वि-चन्द्रादि-ज्ञानसदृश भ्रम में ही पर्यवसित होगा[1] ।

प्रश्न—श्रुति से अभेद बोधित होता है, तो प्रत्यक्ष से भेद । दोनों प्रमाण माननीय हैं, अतः भेद और अभेद दोनों रहें । उत्तर—'एकमेवाद्वितीयम्' यह श्रुति 'एक' शब्द कहकर 'एव'कार का भी उपादान करती है, फलतः श्रुति का अत्यन्त अभेद में तात्पर्य है । अतः भेदाभेद भी असङ्गत ही है ।

प्रश्न—आपाततः प्रत्यक्ष-विरोध होने से श्रुति द्वारा जायमान बुद्धि प्रथम अपने से ही प्रत्यक्ष-बुद्धि और उसके विषयों के अभेद का बोध कराती है, पश्चात् स्व (बुद्धि) से अर्थों के ऐक्य की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति की सहायता से विषयों

१ जैसे नेत्र-कनीनिका (आँख की पुतली) के सामने तृण रखकर देखने से 'द्वौ चन्द्रौ' ऐसा भ्रमरूप ज्ञान होता है, 'वितस्तिपरिमितः सूर्यः' ऐसा भ्रम होता है, वैसे ही भेद-प्रत्यक्ष भी भ्रम ही है, प्रमा नहीं ।

ननु यदि नाम प्रत्यक्षविषया तया घटपटभेदोल्लेखिन्या स्वात्मना सह घटपटयोर्भेदो न गोचरीक्रियते। तावता कथं तस्याः स्वविषयेण सहाऽद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमासादयितुमीष्टे, बुद्ध्यन्तरेण तया सार्धं घटपटयोरपि भेदमुल्लिखता तत्राद्वैतश्रुतेर्बाधादेव।

मैवम्; तर्हि तस्या अपि विषयमापाततः परित्यज्य ययैवाऽपराया बुद्ध्या घटपटभेदबुद्धेर्घटाच्च पटाच्च भेदो विषयीक्रियते, तस्याः स्वविषयेण सहाद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमवलम्ब्य लब्धपदा घटपटतद्भेदबुद्धिभिः सह द्वितीयाया बुद्धेरभेदे पर्यवस्यन्ती सर्वेषामेव तेषामभेदे विश्राम्यति।

एवं च सति यत्रैव गत्वा बाधबुद्धिपरम्पराविच्छेदो विषयान्तरसंचारोच्छेद-भयाद् अनवस्थाभयाच्चाभ्युपेयः, तस्यामेव बुद्धौ पदमारोप्याद्वैतश्रुतिः सर्वं

के भी परस्पर अभेद का बोध कराती है—यह कथन युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि शब्द, बुद्धि तथा कर्म के व्यापार विरम्य (क्रम से) नहीं होते, किन्तु एक बार ही होते हैं।

उत्तर—श्रुति से सर्वविषयक अद्वैत-बुद्धि झटिति (एक ही काल में) हो जाती है, परन्तु नाना विषयों में उस श्रुतिज बोध के प्रामाण्य को विषय करनेवाली, एवं-विध प्रश्न में उक्त क्रम से जात विचाररूप सोपान की परम्परा पर आरोहण करनेवाली हम लोगों की बुद्धियाँ क्रम से परिनिष्ठित (सुस्थिर) होती हैं।

शङ्का—यद्यपि 'घट-पटौ भिन्नौ' यह प्रत्यक्ष—घट-पट के भेदरूप स्वविषय के साथ—स्व के भेद को विषय नहीं करता। फिर भी उस प्रत्यक्ष के स्व-विषय के साथ अद्वैत में श्रुति प्रमाण कैसे होगी, क्योंकि 'घट-पट-भेदग्राहि प्रत्यक्षंघटपटौ न भवति' यह अन्य बुद्धि घट-पटभेद के साथ उस प्रत्यक्ष के भी भेद को ग्रहण करती है। अतः श्रुति का बाध होगा।

खण्डन—प्रथम 'घट-पटौ भिन्नौ' इस बुद्धि का घट-पटभेदरूप स्वविषय के साथ अद्वैत-बोध को त्यागकर 'घट-पट-भेदग्राहिप्रत्यक्षं घटपटौ न भवति' इस बुद्धि का ही स्व-विषय घट-पट-भेदग्राहि प्रत्यक्ष तथा घट-पटभेद के साथ अभेद में श्रुतिप्रामाण्य को अवलम्बन कर, पश्चात् सर्ववस्तुओं के अद्वैत में पर्यवसित होगी।

शङ्का—उस द्वितीय बुद्धि का भी स्व-विषय के साथ भेद का बोध तृतीय बुद्धि करेगी। अतः वहाँ भी अद्वैत-श्रुति का अवकाश नहीं है। *खण्डन*—विषयान्तर के

तद्विषय-विषयिप्रवाहमद्वैते स्थापयन्ती न केनापि प्रमाणेन कत्रचिदपि विषये बाधितुं शक्या । तस्मात्—

सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा ।
विनिवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ॥'—इति ।

न च यत्र तस्य प्रतिपत्तुर्बुद्धिधाराविश्रान्तिस्तत्र पुरुषान्तरबुद्धिर्भेदे प्रमाणं स्यात् । तथापि पुरुषान्तरेण भिन्नतया सा प्रतीयते इत्यत्र प्रमाणं त्वया वाच्यम् । नहि तदपि पुरुषान्तरेणैव, न च संभाव्यमानम्, श्रौतेन निश्चयेन तन्निवर्तनात्; तथाप्यनवस्थानादिति ।

सञ्चार (ज्ञान) के उच्छेद और अनवस्था के भय से जहाँ जाकर आप अद्वैत-बुद्धि की बाध-बुद्धि-धारा की समाप्ति मानेंगे, उसी बुद्धि में श्रुति अवकाश पाकर सम्पूर्ण उस बुद्धि के विषय ज्ञान-प्रवाह को अद्वैत में स्थापन करती हुई किसी प्रमाण से किसी भी विषय में बाधित नहीं हो सकती। अतः दूर दौड़ने से श्रान्त—अतएव विनिवृत्त—बाधपरम्परा पृष्ठ-धावी (पीछे दौड़नेवाले) शत्रु के सदृश अद्वैत-श्रुति से जीती जाती है ।

दूर दौड़ने से थकी, बाध-बुद्धि की धार ।
लौटी अद्वय-बोधने, घेर दबाई नार ॥

भेद-समर्थन—विषयान्तर के सञ्चार का उच्छेदन न हो, इसलिए उस पुरुष की बुद्धि-धारा तो समाप्त हो जाती है । परन्तु अन्य पुरुष की बुद्धि से उस चरमबुद्धि (अन्तिम भेद-बुद्धि) के भेद का भी ग्रहण होता है ।

भेद-खंडन—अन्य पुरुष की बुद्धि से उस चरम बुद्धि के भेद का ज्ञान होता है—इसमें यदि प्रमाण न दे, तो आपका इष्ट भेद सिद्ध नहीं हुआ । यदि कोई बुद्धि प्रमाण दें, तो उसी बुद्धि में अवकाश पाकर अद्वैत-श्रुति भेद-बुद्धि का बाध करेगी । यदि आप प्रमाणों (भेद-ज्ञानों) की धारा मानें, तो अनवस्था हो जायगी ।

समर्थन—पुरुषान्तर की बुद्धि से भेद का ज्ञान होगा, इसमें भी प्रमाण अन्य पुरुष देगा । *खंडन*—अद्वैत-श्रुति पुरुषान्तर से प्रदर्शित प्रमाण-बुद्धि में ही अवकाश पाकर सर्वत्र भेद का बाध करेगी अथवा अनवस्था का प्रसंग हो जायगा ।

समर्थन—'पुरुषान्तर-बुद्धिः भेद प्रमाणं भविष्यति' इस सम्भावना से अद्वैत-बुद्धि का बाध होगा । *खण्डन*—'यदि वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यात् तदा न स्यात् अकारणः सनित्यो वा स्यात्' इस तर्क से 'यदि वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यात्'

अथ ब्रूषे—'यदा कियद्दूरं बुद्धिपरम्परया सा बाधिता भवत्यद्वैतश्रुतिस्तदा तन्न्यायाद् याऽपि बुद्धिः शेषं गत्वा नाऽनुव्यवसीयते, तत्रापि तद्बाधोऽवगम्यते; यत्र सा बाध्यते, तत्तुल्यन्यायत्वादन्तिमबुद्धेरपीति ।

मैवम्; किं कियतीषु बुद्धिषु व्याप्यव्यापकौ कावप्यवलम्ब्य व्याप्तिग्रहरूपयैव धिया शेषबुद्धौ बाधं व्युत्पादयसीत्थमद्वैतश्रुतेः, किं वा बुद्ध्यन्तरदृष्टव्याप्तिसनाथया पक्षधर्महेतुमुल्लिखन्त्या बुद्ध्याऽन्तिमबुद्धिविषयया ?

नाद्यः, व्याप्तिबुद्धिर्यदि विषयविशेषेऽपि स्वातन्त्र्येण बाधात्मिकोपेयते, तदा सैव विशेषबुद्धिरपि स्यादिति गतमनुमानकथया । अथानुमितिमभ्युपैषि, तदा सा नाऽऽत्मानमपि धर्मीकृत्य प्रवर्तते इति तत्रैव दत्तपदा सर्वामद्वैतश्रुतिः परम्परामालम्बते इत्युक्तमावर्तते ।

इस व्यभिचार की सम्भावना (शङ्का) की जैसे निवृत्ति होती है, वैसे ही श्रुतिजन्य बुद्धि (ज्ञान) से उक्त सम्भावना का भी बाध होगा । किञ्च, सम्भावित बुद्धि में जो प्रमाण-सम्भावना है, उसी से उसके विषय के साथ अभेद के बोध में अवकाश पाकर अद्वैत-श्रुति सब वस्तुओं के अभेद का ग्रहण करायेगी । यदि उसके भेद में कुछ प्रमाण कहें, तो अनवस्था हो जायगी ।

प्रश्न—जब कुछ दूर तक प्रत्यक्ष-बुद्धि की परम्परा से वह (अद्वैत-श्रुति) बाधित होती है, तब उसी दृष्टान्त से जो बुद्धि ज्ञात नहीं होती, उसमें भी बाध का ज्ञान होगा । क्योंकि अन्तिम बुद्धि भी उसके तुल्य ही है । अर्थात् 'जो-जो बुद्धि है, वह स्व-विषय (अपने विषय) से भिन्न है, जैसे घट से पट भिन्न है यह बुद्धि' इस रीति से, ज्ञान-धारा की तीन-चार कक्षाओं में व्याप्ति का निश्चय होगा । पश्चात् उसी के बल से अन्तिम बुद्धि में भी स्व-विषय के साथ भेद की सिद्धि होगी । फिर अद्वैत श्रुति को अवकाश ही कहाँ है ?

उत्तर—क्या जो जो बुद्धियाँ हैं, वे स्व-विषय से भिन्न हैं' यह व्याप्तिग्रह ही अन्तिम बुद्धि के (स्व-विषय के साथ) भेद-ग्रह में प्रमाण है अथवा व्याप्ति से युक्त—पक्षधर्मताविशिष्ट हेतु का ज्ञान ?

यदि व्याप्ति का ज्ञान कहा जाय, तो पृथक् अनुमान को पमाण मानना व्यर्थ है । क्योंकि सर्वत्र व्याप्तिग्रह से ही विशेष (अनुमेय) का ज्ञान हो जायगा । यदि अनुमिति कही जाय, तो श्रुति उसी अनुमिति में स्व-विषय के साथ अद्वैत-बोध में अवकाश पाकर सर्वत्र अद्वैत का बोध करायेगी ।

अथ 'सर्वा विवादाध्यासिता बुद्धयः स्वविषयेभ्यो भिन्नाः, बुद्धित्वात्, घटपट-बुद्धिवत्' इति सामान्याकारेणाऽऽत्मानमपि धर्मीकृत्य आत्मनोऽपि स्वविषयाद्भेदं साधयिष्यत्यनुमेति मन्यसे। मैवम्; एवमपि विषयिणो विषयस्याऽभेदं बोधयन्ती श्रुतिरनुमानमप्यनवकाशयति ।

विषयिविषययोर्मिथो भेदेऽपि साध्ये अस्तु हेत्वनुयोगः । परबुद्धिस्तद्विषयांश्च प्रति निराबाधा सती श्रुतिरेकस्या बुद्धेर्विषयादपराऽपरस्याश्च विषयात् परामभेद-बोधाय धावन्ती सर्वाद्वैते एव पर्यवस्यतीति ।

न च शक्यमनुमातुं सर्वस्या बुद्धेर्विषया सर्वा बुद्धिर्भिन्नेति, माभूदन्यबुद्धि-विषयादात्मनोऽपि बुद्धिर्भिन्नेति । न चाऽऽत्मव्यतिरिक्तादित्युक्ते निस्तारः स्यात्, अद्वैतवादिना सर्वाभेदमिच्छता क्वचिदपि तदसिद्ध्या विशेषणाप्रसिद्धेरिति ।

प्रश्न —'सब बुद्धियाँ अपने विषय से भिन्न हैं, बुद्धि होने से, घट-पटविषयक बुद्धि के तुल्य', स्व को भी धाम दल में प्रवेश कर प्रवृत्त इस अनुमिति से, स्व (बुद्धि) में भी स्व-विषय के भेद की सिद्धि होगी ।

उत्तर—इस अनुमिति सेभी बुद्धि में विषय का भेद सिद्ध हुआ, बुद्धि का भेद विषय में नहीं । ऐसा होने से बुद्धि और विषय। के अभेद-बोध में बाधक न होने से श्रुति अवकाश पाकर सर्वाद्वैत का बोध करा देगी ।

प्रश्न—'बुद्धिविषयौ परस्परं भिन्नौ' ऐसी अनुमति क्यों न हो ? उत्तर—इसमें यदि बुद्धित्व को हेतु कहें, तो विषय-भाग में असिद्धि है और यदि विषयत्व को हेतु कहें, तो बुद्धि-अंश में असिद्धि (पक्ष में हेतु का अभाव) है । उभय-साधारण प्रमेयत्व हेतु व्यभिचरित है । बुद्धि-विषयान्तरत्व आदि कोई उभयसाधारण हेतु मान भी लें; तथापि पर-बुद्धि और उस ुद्धि के विषय के प्रति बाध से रहित होकर श्रुति (एक बुद्धि के विषय से अन्य बुद्धि का और अन्य बुद्धि से एक बुद्धि के विषय का अभेद-बोध कराती हुई क्रम से सर्वा-द्वैत का बोध करा देगी ।

प्रश्न—'सब बुद्धियाँ, सब बुद्धियों के विषय से भिन्न हैं' यह अनुमिति ही भेद में प्रमाण क्यों नहीं ? उत्तर—अन्त्यबुद्धि का विषय उपान्त्य-बुद्धि भी स्व से भिन्न हो जायगी । क्योंकि वह बुद्धि है और अन्त्यबुद्धि का विषय भी है।

एतेन 'सर्वं भिन्नम्' इति वाक्येन विना बाधं स्वतःप्रमाणेन सत्प्रतिशब्दा सेयमद्वैतश्रुतिरित्यप्यनवकाशं अत्यवस्थानं मन्तव्यम्। यस्मात् कस्मादपि भेदे मिथ्यातः सत्यभेदोपगमेन सिद्धसाधनात्, सर्वस्मादिति स्वतोऽप्यापत्तेः ; स्वव्यतिरिक्तादिति चाद्वैतवादन्यव्यवच्छेदकम्। तदेवम्—

**'हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षतयाऽऽस्थिते।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः॥'**

अत एव च—

**'आद्यधीवेद्यभेदीयाऽप्यन्यथानुपपन्नता ।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम्॥'**

प्रश्न—'सब बुद्धियों के आत्म-भिन्न विषयों से सब बुद्धियां भिन्न हैं ऐसा निवेश करने पर कोई दोष नहीं है। *उत्तर*—आपका यह अनुमान स्वार्थ है या परार्थ ? यदि स्वार्थ कहें, तो स्व (भेदवादी) के प्रति भेद सिद्ध ही होने से सिद्ध-साधन होगा। यदि परार्थ कहें, तो पर (अभेदवादी) के प्रति आत्म-व्यतिरिक्त पदार्थ का अभाव होने से विशेषण असिद्ध होगा।

प्रश्न—बाधक के विना स्वतःप्रमाण 'सब भिन्न हैं' इस वाक्य से अद्वैत का बाध क्यों न हो ? *उत्तर*—यदि इस वाक्यसे 'जिस किसीसे भी भिन्न ऐसा बोध अभिप्रेत हो, तो मिथ्या से सत्य में भेद सिद्ध ही होने से सिद्धसाधन है। यदि 'सर्व' से भिन्न इष्ट हो, तो अपने आत्मा से भी आत्मा भिन्न सिद्ध हो जायगा। यदि 'आत्म-भिन्न जो 'सर्व' उससे भिन्न' ऐसा कहें, तो वचन परार्थ है और पर अद्वैतवादी के प्रति आत्म-व्यतिरिक्त अप्रसिद्ध होने से विशेषण की असिद्धि है।

किञ्च—'सर्वस्मात् सर्वं भिन्नम्'' इस पूर्वोक्त अनुमिति के प्रतिज्ञावाक्य में 'सर्व' को आप पक्ष मानते हैं। अतः पक्ष से भिन्न हेतु, साध्य तथा दृष्टान्त का अभाव हो जायगा। पक्ष प्रमाण-सिद्ध ही होता है, अतः सर्ववस्तुओं को ज्ञात ही मानना होगा। वह सर्वज्ञता के बिना दुर्लभ है। यदि पक्ष में कुछ अंश छोड़ दें, तो उसी स्थल में अवकाश पाकर श्रुति सर्वत्र अद्वैत की स्थापना कर देगी।

सर्व-पक्ष यदि होत तब, हेतु निदर्शन नास।
सबको हो सर्वज्ञता, छोड़े श्रुति-अवकास॥

प्रश्न—'घटपटौ भिन्नौ' इस बुद्धि का विषय भेद 'सर्वमभिन्नम्' इत्याकारक

न च संस्कारारूढदृढान्वयव्यतिरेकान्वयव्यतिरेकान्वयप्रतिपत्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धः शक्यशङ्कः । यतः—

'अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् ॥
असंसर्गाग्रहस्यापि मन्ता शंसत्यबाधिते ।
अत्यन्ताऽसदसंसर्गाग्रहं संसर्गलग्नकम् ॥

श्रुतिज बोध के बाध के बिना अनुपपन्न है । अतः भेद की अन्यथानुपपत्ति से श्रुतिज बोध का बाध होगा ।

उत्तर—अन्यथानुपपत्ति भी ज्ञात होकर ही उपपादक होती है तथा च अन्यथानुपपत्ति का ज्ञान (उसका विषय भी) और अन्यथानुपपत्ति इन दोनों के अभेद के बाध के बिना भी घट-पटभेद उपपन्न है । अतः वह उन दोनों के अभेद को नहीं बाधेगा । तब श्रुति उन दोनों के अभेद में ही अवकाश प क्रम से सर्वा-भेद का बोध करा देगी ।

अनुपपत्ति जो भेद की, ज्ञान-भेद विनु मित्र ।
वह भी चाहत ज्ञान निज, बाधक सहि श्रुति-मित्र ॥

प्रश्न—सब मनुष्यों के बार-बार ज्ञान से स्थिर संस्कार का विषय, अतएव दृढान्वय (दृढपद=बाधितुमशक्य) जो भेद, उसका जो अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् 'घटाद् भिन्नः पटः' अथवा 'नीलाद् अभिन्नः पटः', इत्याका उससे जो अन्वय (अभेद) की प्रतिपत्ति (अयोग्यता का ज्ञान) उससे श्रुतिज अद्वैत-बोध की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध क्यों नहीं ?

उत्तर—'अङ्गुल्यग्रे करिशतं विहरति', 'मम कर्णकुहरं प्रविश्यः सिंहः क्रीडति' इत्यादि वाक्यों से अत्यन्त असत् अर्थ का भी बोध अनुभवसिद्ध है । अतः शाब्दबोध में न तो योग्यता का ज्ञान कारण है और न अयोग्यता-ज्ञान प्रतिबन्धक ही है । किन्तु बाध होने के पश्चात् स्वतःप्रामाण्य का निश्चय होता है । 'एकमेवा-द्वितीयम्' इस श्रौतस्थल में प्रत्यक्षादि-बाध का निरास तो पहले कर ही चुके हैं । अतः स्वतः-प्रामाण्य सिद्ध हुआ । असंसर्गाग्रह के माननेवाले मीमांसक भी अबाधस्थल में संसर्ग-का ज्ञान ही मानते हैं । प्रकृत में प्रत्यक्षादि-बाध का निरास हो चुका है, अतः संसर्ग का ग्रह सर्वसम्मत है ।

अनौचित्याऽपि तर्केण दुर्बाधैवाऽद्वयश्रुतिः ।
अनारोपितमूलत्वाद् बलवत्त्वादतादृशा ॥
प्रवृत्तेनाप्यनौचित्यमूलं येन न लूयते ।
तत्राऽनौचित्यसाम्राज्यं वैपरीत्यात्तु नात्र तत् ॥'

ननु यद्यदेवोदाह्रियते त्वया—'नेत इतोऽस्य भेदो गृहीतः इति ततोऽस्याद्वैताम्नायैरभेदबोधने तद्द्वारा सर्वाऽभेदे पर्य्यवसातव्यमिति, ततस्ततस्तस्य भेदस्तदैव

असत् अर्थ का बोध भी शब्द से होता भ्रात ।
पीछे बाध-अभाव से, होत प्रमात्व का नातं ॥
बाधस्थल में जो कहें असम्बन्ध-अज्ञान ।
वे अबाध-स्थल विषे, करें सम्बन्धहि मान ॥

प्रश्न—सर्वलोकसिद्ध भेद का बाध अनुचित है । फिर अनौचिती रूप तर्क से श्रुति का बाध क्यों न हो ? उत्तर—तर्क आरोपस्वरूप होता है, अतः अनारोपित रूप होने से बलवती श्रुति का उससे बाध नहीं हो सकता ।

प्रश्न—ऐसा मानने पर अनौचिती रूप तर्क का अवकाश ही कहाँ होगा ? उत्तर—स्वार्थसिद्धि में प्रवृत्त भी बाध्य प्रमाण, जहाँ अनौचित्य की मूलभूता आपाद्य-आपादक-व्याप्ति का खण्डन न कर सकें, उस स्थल में अनौचित्य का साम्राज्य है । प्रकृत में अद्वैत-श्रुति से भेद का बाध तथा व्याप्ति का खण्डन होने से अनौचित्य का साम्राज्य नहीं है ।

अनौचिती जो तर्क है, वह आरोप-सरूप ।
अनारोप श्रुति-बोध के, सन्मुख बैठे चूप ॥
जहाँ अनौचित तर्क के, मूल मान बलवान् ।
वहाँ तू उसका खोल हिय, बहुरि करो सन्मान ॥

प्रश्न—'घटपटौ भिन्नौ' इस बुद्धि से घट-पट का तथा अन्तिम बुद्धि का स्व-विषय से भेद किसी प्रमाण से गृहीत नहीं है । अतः श्रुति का घट-पट से 'घटपटौ भिन्नौ' 'इस बुद्धि के अभेद-बोधन द्वारा सर्वाभेद-बोध में पर्यवसान है—इस प्रकार जिस वस्तु का कथन आप करेंगे, तो उससे उसका भेद उसी काल में गृहीत हो जायगा । इस कारण यदि आप किसी वस्तु का कथन ही न करें, तो स्थल के

गृह्यते मया। तस्मादुदाह्रियमाणतायामनुदाह्रियमाणतायां च कस्यचिदेतत् प्रत्यवस्थानमस्थाने[1] इति। मैवम्; अन्तिमबुद्धेरद्वैतश्रुतिजबुद्ध्यादितो भेदो न त्वया प्रमित इति मयोच्यमाने यस्तदीयस्ततो भेदः प्रमातव्यः, स न तावत् प्रत्यक्षेण, तत्कालमन्तिमबुद्धेरनुपस्थितेः।

यदि च केनचिद्धेतुना वा कयाचिदनुपपत्त्या वा तथा स्यात्, तदानीमद्वैतवादिनं प्रति हेतोः साध्याविशिष्टतया अनुपपत्तेश्च, येन विना सा तदविशिष्टतया, ततः कथमाभासात् प्रमोदयः स्यात्। न च वाच्यं स्वयं मया स भेदो ज्ञायते इति नास्ति पाक्षिकोऽपि मां प्रत्यसिद्ध्यादिरिति। यतोऽस्य

अभाव में श्रुति का अवकाश नहीं है। यदि किसी वस्तु का कथन करें, तो उसी काल में भेद-ग्राह होने से श्रुति का बाध होगा। उत्तर—अन्तिम बुद्धि का अद्वैत श्रुतिज बुद्धि से जो भेद उसका ज्ञान आपको ज्ञात नहीं है, यह कहने पर उक्त भेद का ज्ञान आपको कैसे होगा? प्रत्यक्ष से हो नहीं सकता, क्योंकि उस काल में अन्तिमबुद्धि के न होने से सन्निकर्ष नहीं है।

प्रश्न—'अन्त्य बुद्धि श्रुतिज बुद्धि से भिन्न है, भिन्नसामग्रीजन्य होने से अथवा भिन्न शब्द-जन्य होने से अथवा जन्म-नाश आदि विरुद्ध धर्मों के होने से; जो-जो भिन्न-सामग्री से जन्य है वह भिन्न है, जैसे घटादि'—इस अनुमान से ही भेद सिद्ध होगा।

उत्तर—अद्वैतवादी के मत में भेद के न होने से, भिन्नसामग्रीजन्यत्व आदि हेतु साध्यसम (असिद्ध) हैं। अतः आभास-हेतु से भेद की प्रमा का उदय नहीं हो सकता।

प्रश्न—'अन्त्यबुद्धि और श्रुतिज बुद्धि में परस्पर भेद के विना, आपामर-प्रसिद्ध द्वैत (भेद) के ज्ञान की अनुपपत्ति है। अतः द्वैत (भेद) के ज्ञान से अन्त्यबुद्धि और श्रुतिज बुद्धि में परस्पर भेद की कल्पना क्यों न हो?

उत्तर—अद्वैत-मत में भेद के न होने से उपपादक द्वैत-ज्ञान ही असिद्ध है। अतः उसके द्वारा अन्त्य बुद्धि से श्रुतिज-बुद्धि के भेद की कल्पना कैसे होगी। किञ्च—अद्वैत-मत में उपपाद्य-उपपादक का भेद भी परमार्थ में नहीं है। और अपारमार्थिक द्वैत

१—अस्थाने = अयुक्तमित्यर्थः। अत्र 'इति मैवमि'त्यपपाठः, अस्थाने इत्यनेन पुनरुक्तेः। मत इति शेषः।

त्वद्वचनस्य वैयर्थ्यापत्तिः, वचनस्य परार्थत्वात्। मौनमवलम्ब्याप्रतिष्ठमानश्च भवानप्रतिभातो न मुच्यते।

न च स्वयं मया प्रमितो भेदः परं प्रति वचसा केवलं बोध्यते इति वाच्यम्; त्वद्वचसि परस्याप्रत्ययात्। विजिगीषुं परं प्रति विजिगीष्वन्तरवचनं हि तत्रार्थे तज्जिज्ञासोत्पादनद्वारेण तस्य स्वतस्तदर्थप्रमित्युत्पादनपर्यवसायितयोपयुक्तम्। न चाद्वैतवादिनं प्रति तथा कर्तुं शक्यते, तं प्रत्यन्यतरासिद्धेरुक्तत्वात्।

न च वाच्यं मम वचनात्संदेहेनापि श्रुत्या तत्र संदिग्धबाधितभावया नाभेदप्रतिपादनं ते घटते इति, यस्मादद्वैतं मन्यमानेन भेदाऽसिद्धया सर्वत्र साध्याविशेषादिदोषप्रतिसंधायिना संशयस्याप्यनवकाशीकरणमेव स्यात्।

(भेद) शुक्ति-रजत के तुल्य उपपन्न ही है, अनुपपन्न नहीं। फिर उससे अन्त्य-बुद्धि के श्रुतिज-बुद्धि के साथ भेद की कल्पना कैसे हो ?

प्रश्न——यह अनुमान परार्थ नहीं, किन्तु स्वार्थ है और हम द्वैत-वादी हैं, अतः हमारे प्रति असिद्ध नहीं। *उत्तर*—यदि आपका अनुमान स्वार्थ है, तो पञ्चावयव का प्रयोग व्यर्थ है, क्योंकि शब्द का प्रयोग परार्थ होता है।

प्रश्न—अस्तु, हम पञ्चावयव रूप शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे ? *उत्तर*—कथा में यदि आप मौन का अवलम्बन करेंगे, तो अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान से नहीं छूटेंगे।

प्रश्न—हम भेद का स्वयं अनुमानकर दूसरे के प्रति वचन से केवल बोधमात्र कराते हैं। *उत्तर*—तुम्हारे वचन में दूसरे को विश्वास ही नहीं होगा।

प्रश्न—जैसे वाद में एक विजिगीषु के प्रति अन्य विजिगीषु का वचन आप्तशब्दत्वरूप से प्रमिति का कारण नहीं है, परन्तु उस अर्थ में प्रमाण की जिज्ञासा के उत्पादन द्वारा स्वतः जायमान उस पुरुष के ज्ञान का कारण है, वैसे ही हमारे शब्द भी आपके ज्ञान में कारण होंगे।

उत्तर—अद्वैत-मत में भेद के न होने, भेद-घटित हेतु के असिद्ध होने तथा द्वैत-ज्ञानरूप उपपादक के न होने से आपके वचन अनुमान या अर्थापत्ति में अद्वैतवादी की जिज्ञासा का उत्पादन भी नहीं कर सकते।

प्रश्न—'सर्वं भिन्नम्' इस मेरे वचन से आपको भेदविषयक संदेह अवश्य होगा। अतः संदिग्ध या बाधितविषयक श्रुति से अभेदविषयक बोध आपको नहीं होना चाहिए।

तस्मात्—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥'

अपि च—प्रतीयते तावदिदं सामान्यतो यन्नाम किञ्चित्परश्चेतसा चिन्तयन्नस्तीति, किञ्चिद्वा विवक्षुरित्यादि । तत्र परस्य बुद्धिविषयो विविक्षाविषयो वा विशेषतो विनिगमनं विना नैव प्रतीयते । ततोऽन्तिमबुद्ध्यादिभेदो न भवता शक्यप्रमः, परेण तच्चिन्तनादेरपि संभवात् । स्वस्मात्स्वस्य भेदस्याभावात् । ततस्तत्र लब्धपदा कथमद्वैतश्रुतिर्विश्वाभेदे पर्यवस्यन्ती त्वया शक्यबाधा स्यात् । तस्मात्—

'कथं सामान्यतो ज्ञाते नैव ज्ञाते विशेषतः ।
पदरोधस्त्वया कर्तुं शक्यः स्याददृयश्रुतेः ॥

उत्तर—जो अद्वैत को मानते हैं, उनके मत में भेद की असिद्धि होने से भेद का उपस्थापक हेतु (भेद-घटित होने से) साध्य के समान है । अतः भेद की उपस्थिति न होने से भेद-विषयक सन्देह का भी अवकाश नहीं है ।

इसलिए एक (अद्वैत) ब्रह्मरूप अस्त्र को अर्थात् अभेदरूप युक्ति को ग्रहणकर संग्राम (शास्त्रार्थ) रूप क्रीड़ा में अन्य भेदवादियोंकी गणना न करनेवाले, धीर-वीर अद्वैतवादी का भङ्ग (पराजय) कदापि नहीं हो सकता ।

ब्रह्मज्ञान ब्रह्मास्त्र को, कर में कर विद्वान ।
दुसरे को नहिं देखते, किससे हो अपमान ॥

किञ्च—जहाँ 'यह पर पुरुष चित्त में कुछ चिन्तन करता है या कुछ कहना चाहता है' ऐसी सामान्यतः प्रतीति होती है, वहाँ उसकी चिन्ता या विवक्षा का विषय प्रमाण के विना विशेष रूप से ज्ञात नहीं होता । उस सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु द्वारा अन्तिम बुद्धि के भेद की प्रमा (यथार्थ ज्ञान) आपको अशक्य है, अर्थात् नहीं हो सकती । क्योंकि संभव है कि परपुरुष अन्त्यबुद्धि का ही चिन्तन करता हो और अन्त्य-बुद्धि का स्व में भेद नहीं हो सकता । उस सामान्यतः चिन्तित से अन्तिम बुद्धि के अभेद-बोधन में आप अद्वैत-श्रुति के पद (प्राप्ति) का रोध (बाध) नहीं कर सकते । अतः उस स्थल में अवकाश पाकर श्रुति सर्वाद्वैत में पर्यवसित हो जायगी ।

ननु भेदमनङ्गीकुर्वतो भवतः कथं तत्तत्पदार्थवैचित्रीव्यवहारो न व्याहन्यते ? कथं व्याहन्यते, प्रतिवक्ष्यते हि तत् । किं च योऽयं त्वया व्याघात आपादनीयः, सोऽपि कस्माच्चिदापादकात् । न च आपाद्यापादकमभिद्यमानमापत्त्यै प्रभवेदिति । तस्मात्—

'नानात्वमवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि ।
असिद्धभेदाद्व्याघातः पतेदापादकात् कुतः ॥'

अथ भेदखण्डनानुवादः

इदमपि च विचारमर्हति—यदद्वैतश्रुतीनां बाधकमुपन्यस्यते प्रत्यक्षादिघट-पटप्रभृतिभेदग्राहि, तदपि कीदृश्यर्थे पर्यवस्यति ? तथाहि, प्रत्यक्षेण योऽसौ भेदो गृह्यते स किं स्वरूपभेदः, किमन्योन्याभावः, किं वैधर्म्यम्, किमन्यदेव वा ?

जो सामान्य से ज्ञात अह, नहि विशेष से त ।
उनमें अद्वय-श्रुतिन का, रोध होत कस तात ॥

प्रश्न—पदार्थ की वैचित्री (भेद) का व्यवहार भी भेद के अङ्गीकार के बिना नहीं हो सकता । अतः आप पद-पदार्थ का भेद अवश्य मानेंगे । तब तो आप अभेदवादी को भेद और अभेद दोनों विरुद्ध धर्मों का स्वीकाररूप व्याघात हुआ ।

उत्तर—पद-पदार्थ की वैचित्री का व्यवहार अपारमार्थिक भेद से भी उपपन्न है । अतः पारमार्थिक अभेद के साथ व्याघात नहीं होगा ।

किञ्च—व्याघात का भी आगे खण्डन करेंगे । फिर व्याघात आपाद्य है, अतः भेदरूप आपादक कैसे होगा ? अभेदवादी के मत में आपाद्य-आपादक में अभेद है । उसमें आत्माश्रय दोष होने से उपपाद्य-उपपादकभाव नहीं होता और भेद तो है नहीं । फिर व्याघात कैसे होगा ?

परमारथ अद्वैत में, कैसे होवे तात ।
आपादक-आपाद्य में, भेद बिना व्याघात ॥

भेद-खण्डन का अनुवाद

यहाँ यह भी विचारना चाहिए कि जिन घट-पट आदि के भेदग्राही प्रत्यक्ष आदि को अद्वैत-श्रुति का बाधक कहते हैं, वे प्रत्यक्षादि किस तरह के भेद को विषय करते हैं—क्या स्वरूप भेद को ? अन्योन्याभाव को, वैधर्म्य को या इनसे अन्य ही (पृथक्त्व) को ?

यदि तावत् स्वरूपभेदः, 'स नाम घटपटयोर्हि स्वरूपं यत् परस्परस्माद् भेदः, तत्परस्परमनन्तर्भाव्य न सम्भवति। भेदो हि भवन् कस्मादपि भवति। अन्यथा स्वरूपं भेद इति पारिभाषिकं नाम स्यात्। यदा च 'घटाद् भेदः पटस्य' इत्येतावानेवार्थः पटादेः स्वरूपं प्रत्यक्षेण गृह्यते, तदा घटोऽपि पटात्मन्येव प्रविष्ट इति पटघटयोरैक्यात्म्यमेव भेदग्राहिणा प्रत्यक्षेणाऽवगाहितमिति विपरीतमापद्यते।

ननु यथेयं प्रतीतिरभेदोल्लेखितया व्याख्यायते, तथा भेदोल्लेखित्वेऽपि दीयतामस्यां दृष्टिः। अभेदे हि 'घटः' इत्येव 'पटः' इत्येव वा बुद्धिः स्यात्, न तु 'घटाद्भिन्नः पटः' इति चेत्।

स्यादप्येष पर्यनुयोगो यद्यविद्याविद्यमानमार्थं भेदं पारमार्थिकमभेद-मिच्छन्तोऽपि प्रत्यादिशामः। तस्मात्—

प्रथम विकल्प-खण्डन—इनमें प्रत्यक्षादि स्वरूप भेद को विषय नहीं करते। क्योंकि घट और पट का स्वरूप है परस्पर से भेद; वह परस्पर के अन्तर्भाव के विना हो नहीं सकता। किसीसे ही किसीमें भेद होता है। यदि प्रतियोगी से अनिरूपित ही (केवल स्वरूप) को भेद कहें, तो वह भेद की केवल परिभाषा (संकेत) हुई, शब्दार्थ नहीं। यदि घटप्रतियोगिक भेद पट का स्वरूप है और वह प्रत्यक्ष का विषय है, तो घट भी पट के स्वरूप में ही प्रविष्ट हुआ। इस रीति से भेदग्राही प्रत्यक्ष घट-पट के ऐक्य को ही विषय करेगा; इसलिए विपरीत ही हुआ।

समर्थन—आपने इस प्रतीति का जैसे अभेद-विषयकत्वरूप से कथन किया है, वैसे ही इस प्रतीति के भेद के उल्लेख पर भी दृष्टि दीजिये। अभेद के उल्लेख में 'घटः', 'पटः' ऐसा ही आकार होता, 'घटात् भिन्नः पटः' ऐसा नहीं।

खण्डन—हम परमार्थ में ही भेद नहीं मानते, व्यवहार में तो भेद मानते ही हैं। अतः व्यावहारिक भेद से इस प्रतीति का निर्वाह हो जायगा।

प्रश्न—परमार्थ में भेद नहीं, अभेद ही है, इसमें क्या प्रमाण?

उत्तर—अभेद (स्वरूप) के उल्लेख (अवगाहन) बिना घट-पट के भेद का उल्लेख नहीं होता और भेद के उल्लेख के बिना भी अभेद का उल्लेख हो जाता है। अतः उपजीव्य होने से अभेद में उक्त प्रतीति प्रमा है, भेद नहीं।

१ 'स नाम' यह पाठ अधिक ज्ञात होता है। विद्यासागरी में 'स न' ऐसा पाठ है।

'अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा।
तथा चाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात् ॥'

अथ भेदः इत्येतावन्मात्रं पटस्य स्वरूपं घटादिति च तद्घटेन प्रतियोगिना अन्येनैव निरूप्यते; तदपि नोपपद्यते, निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात्। नित्यं प्रतियोगिघटित एव तस्मिन् प्रमाणप्रसरात्। का चेयं वाचो युक्तिर्यदन्यासाकाङ्क्षं पटस्य स्वरूपम्[1]अन्येन प्रतियोगिना निरूप्यमाणं ततो भेदो भवतीति। न हि यत् स्वरूपेणैव नीलं तत्पीतेन निरूप्यमाणं [2]नीलं भवति।

यदपि चोक्तम्—'प्रतियोगिना घटेन निरूप्यमाणं पटस्य स्वरूपं भेदः' इति। तत्रापि पटं प्रति प्रतियोगित्वं घटस्य किं स्वरूपं किं वा धर्मः कश्चित्?

यदि प्रथमः; तदा पटं प्रति प्रतियोगित्वमित्येतावानेवार्थो घटस्य स्वरूपं भवत् आत्मन्येव पटमपि प्रक्षिपतीति कथं नाद्वैतमेव पर्यवस्यति।

बिनु अभेद के भान के, होत न भेद क भान।
अत अभेद के भान में, होत प्रतीति प्रमान॥
निज उपजीव्य अभेद की, मति बाधन से भीत।
भेद-प्रतीति प्रमान कस, होय सकेगी मीत॥

समर्थन—केवल भेद ही पट का स्वरूप है और वह स्वरूप में अप्रविष्ट घट से निरूपित होता है। *खण्डन*—प्रतियोगी से रहित भेद की प्रतीति कहीं भी नहीं होती, नियमतः प्रतियोगी से विशिष्ट ही भेदप्रतीति होती है। अतः घट भी भेद के स्वरूप में ही अन्तर्भूत है। यह कौन-सी युक्ति है कि जो स्वभावतः अन्य से निराकाङ्क्ष पट का स्वरूप है, वह अन्य (प्रतियोगी) से निरूपित होकर घट का भेद हो जाय। स्वभाव से जो नील है, वह पीत से निरूपित होकर उसका भेद है—यह नहीं है।

फिर आप जो कहते हैं कि प्रतियोगी (घट) से निरूपित पट का स्वरूप भेद है, वहाँ पट के स्वरूपरूपी भेद का जो प्रतियोगित्व है, वह घट का स्वरूप है; या धर्म?

यदि घट का स्वरूप है, तो पटनिष्ठ भेदीय प्रतियोगित्व घट का स्वरूप हुआ; अतः पट भी घट का स्वरूप हुआ। तब अद्वैत में ही भेद-प्रतीति का पर्यवसान क्यों न माना जाय?

१—'अन्येन' इससे पीछे 'तत्' यह शेष है।
२—'नीलम्' के स्थान में 'ततो भेदः' ऐसा पाठ ठीक ज्ञात होता है।

तत्रापि यदि प्रतियोगित्वमात्रं घटस्याऽऽत्मा, 'पटं प्रति' इति च पटापेक्षित्व-मन्यदेव। तदप्यनुपपन्नम्; अकिञ्चिदपेक्षस्य प्रतियोगित्वस्य प्रमाणाविषयत्वात्। 'पटं प्रति' इत्यत्रापि च स्वरूपतदन्यविकल्पे दोष एव।

नापि द्वितीयः; योऽसौ धर्मः पटं प्रति प्रतियोगित्वं तस्याऽऽत्मनि पटोऽपि प्रविशतीति तेन सह पटस्याद्वैतं स्यात्। यदा च पटो घटस्य धर्मतामापन्नस्तदा घटोऽपि पटस्य धर्मतामनेनैव न्यायेन गच्छेत्। न हि पटप्रतियोगित्वस्य घटेन प्रतियोगिना निरूप्यमाणत्वे घटस्याऽन्या गतिरस्तीति परस्परमाश्रितत्वमाश्रयत्वं च स्यात्। न च कस्यचित् प्रमाणस्य विषयो घटारूढः पटस्तत्पटारूढश्च स एव घट इति।

समर्थन—केवल प्रतियोगित्व घट का स्वरूप है। वह स्वरूप में अप्रविष्ट जो पट का स्वरूपरूपी भेद है, उससे निरूपित होता है। *खण्डन*—यह ठीक नहीं है, क्योंकि केवल प्रतियोगित्व की कभी प्रतीति नहीं होती, नियमतः भेदनिरूपित ही प्रतियोगित्व की प्रतीति होती है। अतः भेद-विशिष्ट प्रतियोगित्व के घटस्वरूप होने से पट भी घट का स्वरूप हुआ। प्रतियोगित्व के घटरूप होने से प्रतियोगित्व में वर्तमान पटनिरूपितत्व भी घट में ही है। वह पटनिरूपितत्व भी घट का स्वरूप है या धर्म? ऐसा विकल्प करने पर उक्त और वक्ष्यमाण रीति से दोष ही है।

पट के स्वरूप-रूप भेद से निरूपित प्रतियोगित्व घट का धर्म है—यह द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि पट का स्वरूप जो भेद, उसके प्रतियोगित्व के स्वरूप में पट का प्रवेश होने से प्रतियोगित्व के साथ पट का अभेद हो जायगा। तब जैसे प्रतियोगित्व घट का धर्म है, वैसे ही पट भी घट का धर्म हो जायगा; क्योंकि दोनों का अभेद है। जब उक्त रीति से पट घट का धर्म हुआ, तब उसी रीति से घट भी पट का धर्म हुआ। क्योंकि 'पटात् घटो भिन्नः' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध प्रतियोगित्व का घट से निरूपण करने पर घट की अन्य गति नहीं है। अतः घट पट का आश्रय और धर्म होगा तथा पट भी घट का धर्म और आश्रय होगा किन्तु इस तरह घट पर आरूढ़ पट तथा उसी पट पर आरूढ़ वही घट—किसी प्रमाण का विषय नहीं होता।

किञ्च धर्मस्य तस्य धर्मिणा सममसंबन्धेऽतिप्रसङ्गः, सम्बन्धानन्त्येऽनवस्था, प्रथमतोऽन्ततो गत्वा वा स्वभावसम्बन्धाभ्युपगमे सम्बन्ध्यन्तरस्यापि तत्स्वभावप्रवेशादभेद एव पर्यवसानं स्यादिति। एवमन्यस्मिन्नपि धर्मविकल्प इति। तस्मात् स्वरूपभेदे प्रमाणं भवत् प्रत्यक्षमद्वैत एव प्रमाणं भवति।

ननु घटादिकमेव यदाऽन्यानपेक्षं वीक्ष्यते, तदा घटादिकमित्येव प्रतीयते। यदा पुनः पटादिना निरूप्यते, तदा ततो भेद इति प्रतीयते। मैवम्; घटादिकमित्येवंभूतप्रतीतेस्तावद्भेदप्रतीतिर्विलक्षणा, सा च न घटादिमात्रेण स्वविषयेण अन्यथाकारा भवितुमर्हति।

न च पटादिकमधिकं तदा प्रकाशत इति विशेषः स्यात्; घटपटविषयप्रतीतितोऽपि वैलक्षण्यात्। न हि 'घटः पटश्च' इति 'घटात् पटो भिन्नः' इति प्रतीत्योरेकार्थकत्वं कश्चित् प्रत्येति। तत् कस्य हेतोः? पञ्चम्या प्रथमया च वैकल्पिकं निर्देशमसहमानयैव प्रतीतिकलहनिरासात्। न हि घटः पटश्चेति

फिर उस धर्म का धर्मी के साथ असम्बन्ध मानें, तो सब धर्मों को सर्वत्र रहना चाहिए, क्योंकि सम्बन्ध आदि कोई नियामक है ही नहीं। यदि कोई सम्बन्ध मानें; तो उस सम्बन्ध का सम्बन्ध, पुनः उसका अन्य सम्बन्ध, इस तरह अनवस्था हो जायगी। आरंभ या अन्त में यदि स्वरूपसम्बन्ध मानें, तो एक सम्बन्धी के स्वरूपसम्बन्ध में अन्य सम्बन्धी का प्रवेश होने से दोनों का ऐक्य हो जायगा। इसी रीति से घटत्वादि का भी घट से अभेद हो जायगा। अतः आप स्वरूपरूपी भेद में जो प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं, वह प्रत्यक्ष अद्वैत में ही प्रमाण हो गया।

समर्थन—जब अन्य से अनिरूपित केवल घट प्रतीति का विषय होता है, तब 'घटः' इत्याकारक ही प्रतीति होती है। किन्तु जब वह पटादिरूप प्रतियोगी से निरूपित होकर विषय होता है, तब 'पटात् भिन्नो घटः' यह प्रतीति होती है। *खण्डन*—'घटः' इस प्रतीति से 'पटाद् भिन्नः घटः' यह प्रतीति विलक्षण है, 'घटः' यह प्रतीति केवल घटविषयक होने से विलक्षण नहीं हो सकती।

समर्थन—'पटात् भिन्नः घटः' इस प्रतीति में पट अधिक भासता है, यही विशेष है? *खण्डन*—घट-पट को विषय करनेवाली प्रतीति से भी 'पटाद् भिन्नः घटः', इस प्रतीति की विलक्षणता है। कोई भी विद्वान् 'घटः पटश्च' और 'घटाद् पटो भिन्नः' इन दो प्रतीतियों का विषय एक नहीं मान सकता; क्योंकि प्रथमा और पञ्चमी का अर्थ अधिक भासता है। 'घटः पटश्च' ऐसे ज्ञान के लिए 'घटाद् पटो भिन्नः' ऐसे वाक्य

प्रत्येतव्ये कश्चित् घटात् पटो भिन्न इति प्रत्येति । तस्माद् घटस्य न स्वरूप-निरूपणे पटप्रतीत्यपेक्षा ।

न च यत्प्रतीतिर्यत्प्रतीतेः कारणं स्यात्, तत्र तस्याः कारणभूतायाः प्रतीतेर्योऽर्थः तस्मात् 'अयम्' इति कृत्वा कार्यभूतायाः प्रतीतेरर्थः प्रतीयते । मा भून्निर्विकल्पकार्थादेवं सविकल्पकार्थस्य प्रतीतिः । मा च सादृश्यादेरेवं स्मर्यमाणादेः स्यात् । तस्मात् 'पटो घटाद्भिन्नः' इत्याद्याकारेण घटादेर्भेद एव भेदावधिभूतपटादिसंघटितः स्फुटं सर्वलोकसाक्षिकः प्रतीयमानो नैकप्रतीतेरन्य-प्रतीत्यपेक्षामात्रेण समर्थयितुं शक्योऽतिप्रसङ्गादिति ।

अत एवान्योन्याभावं भेदमवगाहमानं प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमित्यपि निरस्तम् । अन्योन्याभावोऽपि यस्माद्भेद एष्टव्यस्तमात्मन्येवान्तर्भावयेदुक्त-युक्तिभिः ।

किञ्च घटपटयोस्तद्वदन्ययोश्च तादात्म्यमन्योन्याभावस्य प्रतियोगि मन्तव्यम् । तद्यदि सर्वथा नेष्यते, तदा तद्विशिष्टस्तदुपलक्षितो वाऽन्योन्याभावोऽपि न प्रमाणेन प्रत्येतुं शक्यः । न हि शशविषाणविशिष्टस्तदुपलक्षितो वा कश्चित्

का प्रयोग कोई भी नहीं करता । अतः घट के स्वरूप के निरूपण में पटप्रतीति की अपेक्षा ही नहीं है ।

समर्थन—घट-स्वरूप के भान में कदाचित् प्रतियोगी पट की प्रतीति अपेक्षित है । अतः ज्ञाननिष्ठ हेतुत्व का विषय में आरोपकर 'पटाद् भिन्नः घटः' यह प्रयोग होता है, जैसे धूम-ज्ञाननिष्ठ हेतुत्व का धूम में आरोपकर 'वह्निमान् धूमात्' यह प्रयोग होता है ।

खंडन—निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान का तथा सादृश्य-ज्ञान स्मरण का हेतु है । फलतः आरोप से 'गोत्वात् गौः' और 'सादृश्यात् स्मरणम्' यह प्रयोग हो जायगा । अतः 'पटः घटाद् भिन्नः' इस आकार से पटनिष्ठ सर्व-लोक-साक्षिक और स्फुट प्रतीयमान घट के भेद का समर्थन, अन्य प्रतीति के एक प्रतीति का कारण होने मात्र से, नहीं हो सकता ।

समर्थन—भेद-प्रतीति अन्योन्याभाव को विषय करती है । *खंडन*—अन्योन्याभाव भी जिसका होगा, उसको अपने स्वरूप में ही उक्त रीति से अन्तर्भूत करेगा ।

किञ्च—घट-पट के तादात्म्य को अन्योन्याभाव का प्रतियोगी मानेंगे और वह (घट-पट का तादात्म्य) यदि सर्वथा असत् है, तो उससे उपलक्षित या विशिष्ट अन्यो-

प्रामाणिको भवितुमर्हति। तत् कस्य हेतोः? तस्मिँस्तद्विशिष्टरूपेऽर्थे तादृशि चोपलक्षणव्यवच्छिद्यमानात्मनि प्रमाणं निविशमानं विशेषणमपि तदीयं तदुपलक्षणमपि वा नानुल्लिखद्भवितुं प्रभवति। तस्मिँश्च अत्यन्तमसत्येवावलम्बने न तत्प्रामाण्यं शक्यसमर्थनम्।

न च वाच्यं पटप्रतियोगिको घटमाश्रितोऽसौ अभावोऽभ्युपगम्यमानो नात्यन्तासत्प्रतियोगिकतादोषमावहतीति। तथा सति संसर्गाभावादन्योन्याभावस्य को विशेषः स्यात्? न हि यथा घटाभावः पटसंसर्गीति घटसंसर्गाभावं पटे समर्थयसे, तथा घटाभावः पटात्मक इति तत्तादात्म्याभावं पटस्य स्वीकरिष्यसि। तस्मात्तादात्म्यं संसर्गं च प्रतियोगिकोटावन्तर्भाव्य अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्वैलक्षण्यमभ्युपेयम्। तथा सति चात्यन्तासत्प्रतियोगिता दुर्वारा।

न्याभाव भी असत् होने से प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। शश-विषाण से विशिष्ट या उपलक्षित कोई वस्तु प्रमाण का विषय नहीं होती, क्योंकि शश-विषाणविशिष्ट वस्तु में या शश-विषाणरूप उपलक्षण से व्यवच्छिद्यमान वस्तु में प्रवृत्त प्रमाण, विशेषण या उपलक्षण को विषय किये बिना हो ही नहीं सकता। उस असत् विशेषण या उपलक्षणरूप विषय में ज्ञान के प्रामाण्य का समर्थन अशक्य है।

समर्थन—अन्योन्याभाव का घट-पटतादात्म्य प्रतियोगी नहीं है, किन्तु घटनिष्ठ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी पट है और पटनिष्ठ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी घट। इसलिए असत्-प्रतियोगिकत्व दोष नहीं है।

खंडन—ऐसा मानने पर संसर्गाभाव से अन्योन्याभाव में विशेषता ही क्या होगी? अर्थात् अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव में स्वभावकृत तो कोई विशेष है नहीं; प्रतियोगी तथा अनुयोगी-कृत ही विशेष है, सो आपके मत में रहा नहीं। जैसे घट-प्रतियोगिक पटसंसर्गी घट-संसर्गाभाव है, वैसे ही घट-प्रतियोगिक पटात्मक घटान्योन्याभाव है—यह भेद दोनों अभावों में नहीं कर सकते, क्योंकि पटात्मक अन्योन्याभाव मानने में आपको अपसिद्धान्त हो जायगा। आप अभाव को भावरूप नहीं मानते। अतः तादात्म्य और संसर्ग का प्रतियोगि-दल में अन्तर्भाव करके ही अन्योन्याभाव तथा संसर्गाभाव में परस्पर विशेष स्वीकार कर सकते हैं। ऐसा होने पर अन्योन्याभाव का असत्-प्रतियोगित्व दुर्वार ही है।

न च वाच्यं 'घटे पटत्वं नास्ति, पटे च घटत्वं नास्ती'त्येतावन्मात्रपर्यवसितैव अन्योन्याभावस्य व्यवस्था मन्तव्येति । यतस्तथा सति घटत्वे पटत्वे च न कश्चित्तादृशो धर्मोऽभ्युपगम्यते, योऽन्योन्यस्मिन्निषेद्धुं योग्य इति तयोस्तादात्म्यापत्तौ सत्यां घटे पटत्वं पटे घटत्वं च निषेधत् प्रमाणं घटत्वपटत्वशून्यत्व द्वयमप्यावेदयतीति वैधर्म्यस्य स्वरूपभेदस्य चासंभवेन किं [1]प्रतियोगिनं किं वाऽऽलम्बनं विधाय पटघटान्योन्याभावः प्रमाणपथमवतरेदिति ।

अत एव न वैधर्म्यमपि भेदमावेदयत् प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमुपपद्यते । वैधर्म्येऽपि हि घटत्वपटत्वादौ वैधर्म्यमन्यदस्तीत्यभ्युपगमे वैधर्म्ये वैधर्म्याविश्रान्त्यनवस्थयोरेकमननुभवश्च कथं प्रत्युत्तरणीयः । वैधर्म्ये च वैधर्म्यास्वीकारे वैधर्म्ययोरैक्यापत्त्या कथमात्माश्रयभेदत्वेन तयोः पर्यवसानं स्यात् ।

समर्थन—यदि कहें कि घट में पटत्व का तथा पट में घटत्व का अभाव ही घट-पट का अन्योन्याभाव है ? *खंडन*—ऐसा होने पर घटत्व तथा पटत्व में ऐसा कोई धर्म नहीं, जिसका अभाव पटत्व-घटत्व में माना जाय । अतः उन दोनों में तादात्म्य होने पर घट में पटत्व तथा पट में घटत्व के अभाव को विषय करनेवाला प्रमाण घटत्व तथा पटत्व से शून्य दोनों को सिद्ध करेगा । इसलिए घट तथा पट में वैधर्म्य तथा स्वरूपभेद के न होने से अन्योन्याभाव किसे प्रतियोगी या आलम्बन मानकर प्रमाण का विषय होगा ?

समर्थन—घटनिष्ठ अभाव-प्रतियोगी पटत्वरूप धर्मवत्त्वरूप पट का तथा पटनिष्ठ अभाव-प्रतियोगी घटत्वरूप धर्मवत्त्व घट का जो वैधर्म्य है, वही भेद है । उसीका अवलम्बनकर भेद-प्रत्यक्ष श्रुति का बाधक हो सकता है ? *खण्डन*—वैधर्म्य में वैधर्म्य रहता है या नहीं ? यदि नहीं, तो वैधर्म्य की विश्रान्ति ही दोष हुआ । फिर जिस वैधर्म्य में वैधर्म्यान्तर नहीं मानेंगे, तो उन दोनों का ऐक्य भी हो जायगा । यदि वैधर्म्यों की अनादि-अनन्त धारा मानें, तो अनवस्था दोष होगा । यदि बीजाङ्कुर के तुल्य अनवस्था को इष्टापत्ति मानें तो वैधर्म्य में वैधर्म्य, उसमें अन्य वैधर्म्य—इस रीति से वैधर्म्य की अविश्रान्त धारा अनुभव की अविषय होने से अननुभवरूप दोष हो जायगा । यदि कहें कि वैधर्म्य में वैधर्म्य नहीं रहता, तो उन दोनों में ऐक्य होने से वे अपने अधिकरण के भेद कैसे कहलायेंगे ?

१. 'कं प्रतियोगिनम्, किं प्रतियोगि वा' इति साधु पाठः ।

किं च ये ते वैधर्म्ये भेदौ ते किं घटादितो भिन्ने धर्मिणि निविशेते, किमभिन्ने, परस्परविरुद्धयोरनयोः पृथग्भूतस्य प्रकारस्यासंभवात् ।

आद्ये येन भेदेन भिन्नत्वं वैधर्म्याश्रययोर्मन्तव्यं तत्रापि पर्यनुयोग इत्यनवस्थायां पर्यवसानं स्यात् । सन्त्वनन्ता एव भेदा इति चेन्न । क्रमेण तेषामाश्रयसम्बन्धे, सावधिसत्त्वे वस्तुनि तदन्वयासंगतिरेव ।

अथ जायमानं वस्तु युगपदेव ते भेदाः परिरभन्ते । तदा किं भेदविशेषिते किं भेदव्यवस्थितिरिति किं विनिगमकम् ? विशेषाभावादन्योन्यकलहं तेषां कः समाधातुमीष्टे ?

चरमचरमस्वीकार्येण च भेदेन प्रथमप्रथमस्वीकृतभेदोपयोगसिद्धेः, अग्रे धावन् पश्चाल्लुप्यमानो विस्मरणशीलश्रुतवत् स भेदप्रवाहः किमालम्बेत ? एवमेवंविधे विषयेऽन्यत्रापि ।

फिर जो वैधर्म्य भेद हैं, क्या वे घटादि से भिन्न धर्मी पटादि में रहते हैं या अभिन्न धर्मी में ? परस्पर विरुद्ध इन दोनों से पृथग्भूत (भेदाभेद या भेदाभेद से रहित) अन्य प्रकार असम्भव है; क्योंकि परस्पर विरोध में प्रकारान्तर नहीं होता ।

यदि भिन्न धर्मी में भेद मानें, तो जिस भेद से वैधर्म्य और आश्रय को भिन्न मानेंगे, वह भेद भी भिन्न धर्मी में मानना होगा—इस रीति से भेद की परम्परा मानने पर अनवस्था होगी । *प्रश्न*—यदि धर्मी में अनन्त भेद रहें, तो क्या दोष है ? *उत्तर*—यदि क्रमशः उनका आश्रय से सम्बन्ध मानें, तो सान्त वस्तु (कार्य) में उन दोनों का सम्बन्ध नहीं होगा ।

यदि कहें कि जायमान वस्तु को एक काल में ही वे भेद प्राप्त होते हैं, तो किस भेद से विशिष्ट में कौन-सा भेद रहता है—इसमें क्या विनिगमक है ? अमुक भेदविशिष्ट में अमुक भेद रहता है, इसमें कोई विशेष प्रमाण तो है नहीं । फिर इन भेदों के आश्रय से सम्बन्ध की व्यवस्था कौन करेगा ?

साथ ही चरम-चरम स्वीकार्य भेद से प्रथम-प्रथम स्वीकृत भद के उपयोग की सिद्धि होगी । इससे आगे दौड़ता और पीछे से नष्ट होता हुआ वह भेद-प्रवाह श्रुत (पठित) को विस्मृत कर जानेवाले छात्र के तुल्य किसे अवलम्बन करेगा ? इसी तरह 'गोत्व-विशिष्ट में गोत्व रहता है या गोत्व-रहित में ?' इत्यादि विकल्पकर गोत्वादि धर्मों का भी निरास करना चाहिए ।

'प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवत् ।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता ॥'

यदि च क्वचिद् गत्वा स्वरूपमेवान्योन्यं व्यावर्तमानं भेद इष्यते ; तदा ययोः स्वरूपं यथैष्टव्यं तयोः निःस्वरूपतापत्तिः ।

अथ न स्वरूपमात्रं मिथो व्यावर्तते, किं नाम ? स्वरूपविशेष इत्युच्यते, तर्हि स्वरूपविशेषमात्रव्यावृत्त्या स्वरूपमात्रं तयोः स्यादित्येकत्वापत्तिः । अथवा वक्तव्योऽसौ स्वरूपमात्रादन्यो विशेषार्थः ।

अथ न स्वरूपं नाम किञ्चिद् अनुगतमिष्यते मया, विशेषरूपासु व्यक्तिष्वेव स्वरूपशब्दो नानाऽर्थः सन्निविशते इत्यभिधत्से; तर्हि गतमनेनैव न्यायेन गोत्वादिसिद्धिप्रत्याशया । न च प्रतिव्यक्ति स्वरूपपदसमयग्रहोपपत्तिः ।

अग्रिम-अग्रिम भेद से ही पूर्व-पूर्व भेद के उपयोग का प्रयोजन (भेद-व्यवहार) सिद्ध होने से पूर्व-पूर्व भेद का विलोप (वैयर्थ्य), 'किस भेद-विशिष्ट में कौन-सा भेद रहता है' इसमें अविनिगम एवं 'एक में बहुत-से भेद हैं' इसमें प्रमाण का अभाव—ये तीन दोष अनवस्था-स्वीकर्ता के लिए अप्रतीकार्य हो जायँगे ।

'कौन भेद किस भेद से, युत में विनिगम नाहिं ।
एक वस्तु में भेद बहु, या में अनुभव नाहिं ॥
पूर्व-भेद की व्यर्थता, उत्तर भेद से होत ।
अनवस्था में दोष ये, तीन सबहि जग होत ॥

समर्थन—परस्पर व्यावृत्तस्वरूप रूप भेद से भिन्न में वैधर्म्यरूप भेद रहता है, अतः अनवस्था दोष नहीं है । *खण्डन*—तब तो जिन दो घट-पटों के स्वरूप परस्पर व्यावृत्त होंगे, वे दोनों स्वरूप से रहित हो जायँगे ।

समर्थन—स्वरूपमात्र (सामान्य स्वरूप) परस्पर व्यावृत्त नहीं होता, किन्तु स्वरूपविशेष ही व्यावृत्त होता है । *खंडन*—यदि स्वरूपविशेष व्यावृत्त होता है, तो उन दोनों में स्वरूप-सामान्य होने से ऐक्य हो जायगा । फिर पट का स्वरूप पट ही है, जो सब पटों में रहता है और घट का स्वरूप घट ही है, जो सब घटों में रहता है । उन दोनों स्वरूपों से अन्य किसी विशेष स्वरूप का उनमें अनुभव नहीं होता, जो परस्पर से व्यावृत्त हो ।

समर्थन—हम घटादि सब वस्तुओं में अनुगत (एकरूप से विद्यमान) एक सामान्य रूप (जिसका नाम स्वरूपत्व है) को नहीं मानते, किन्तु प्रतिव्यक्ति में

यदि च स्वरूपं भेदः स्यात्, तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूपं दृष्टमिति क्वचिन्न संदेहः स्यादिति। यदि चाभिन्ने भेदो निविशेत, तदा याऽप्येका व्यक्तिः प्रतीयते घटादिः, साऽपि तेनैव भेदेनानेका स्यादित्येकाभावे नानेकमपि व्यवतिष्ठेत।

एतेन न भेदावच्छिन्ने, न चाऽभेदावच्छिन्ने भेदो विनिविशते, किंतु उदासीने इत्यपि निरस्तम्।

अत एव च भेदो नाम स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्यानात्मको धर्मान्तरं पृथक्त्वापरनामकमित्यपि परास्तम्। सोऽपि हि स्वाश्रये भिन्ने विनिविशेत अभिन्ने वेत्यादि यथोक्तदोषलङ्घनाजङ्घाल एव स्यात्।

व्यावृत्त विशेष रूप से युक्त व्यक्तियों में ही 'स्वरूप' शब्द की शक्ति का सन्निवेश मानते हैं। अर्थात् 'स्वरूप' शब्द का स्वरूपत्वरूप एक अर्थ नहीं, किन्तु नाना व्यक्ति ही अर्थ है।

खण्डन—तब तो इसी प्रकार 'गो' शब्द का भी नाना गोव्यक्ति में प्रयोग होगा, फलतः गोत्वादि जाति की सिद्धि की आशा भी जाती रहेगी। फिर, स्वरूप तथा गो आदि व्यक्तियों के अनन्त होने से उनमें स्वरूप तथा गवादि पद के समय (शक्ति) का ज्ञान भी न होगा।

यदि स्वरूप ही भेद है, तो धर्मी के प्रत्यक्ष होने पर भेद भी प्रत्यक्ष हुआ। अतः कहीं भी 'स्थाणुः पुरुषो वा' इत्याकारक स्वरूप विशेषविषयक सन्देह नहीं होगा और न 'इदं रजतम्' यह अभेद-भ्रम ही होगा। यदि कहें कि अभिन्न में भेद रहता है, तो जो घटादि व्यक्ति एक प्रतीत होती है, वह भी उसी भेद से भिन्न (अनेक) प्रतीत हो जायगी। अतः कोई भी एक न होगा। फिर प्रतियोगी एक के अलीक होने से अनेकत्व भी व्यवस्थित नहीं होगा।

यदि कहें कि भेद की वृत्तिता के भेद अथवा अभेद अवच्छेदक नहीं, किन्तु भेद या अभेद से अवच्छिन्नत्व में उदासीन होकर केवल धर्मी में भेद रहता है ? तब तो स्व में स्व के भेद की आपत्ति हो जायगी। क्योंकि स्व भी भेद-अभेद से अवच्छिन्नत्व में उदासीन है और धर्मी भी है।

समर्थन—स्वरूप, अन्योन्याभाव तथा वैधर्म्य से भिन्न पृथक्त्व नामक नैयायिकाभिमत गुण भेद-प्रतीति का विषय है ही, फिर भी अद्वैत नहीं हुआ। **खंडन**—वह पृथक्त्व भी 'पृथक्त्वरूप भेद से भिन्न या अभिन्न धर्मी में रहता है' इत्यादि विकल्प से पूर्वोक्त दोषों के लङ्घन में असमर्थ ही है।

स्वाश्रयेण च स्वस्मिन्नभेदभयाद्यदि स एव भेदो निविशते; तदाऽऽत्माश्रयः। अन्यश्चेत्तस्मिन्नेवं तस्मिन्नप्यन्य इत्यनवस्था। क्वचिदपि गत्वा भेदभेदाश्रययोर्भेदस्य अस्वीकारे च तदैक्यद्वारिका मूलपर्यन्तमेकता धावेत्।

'तदद्वैतश्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः।
नानुमानादि तं कर्त्तुं तवापि क्षमते मते॥
अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान्।
सेवामेवार्जयत्यर्थापत्तिपत्तिपरम्परा॥'

नन्वद्वैतश्रुतयो वर्ण-पद-विभक्ति-तदर्थादिभेदानुपजीव्य अर्थं प्रतिपादयन्त्यः स्वोपजीव्याभिर्भेदबुद्धिभिर्न कथं बाध्यन्ताम्? उपजीवकस्य उपजीव्याद्दुर्बलत्वात्।

यदि भेद के आश्रय के साथ भेद का भेद न मानें, तो स्वाश्रय से भेद का अभेद हो जायगा। अतः यदि भेद मानें और उसीका स्व में निवेश हो, तो आत्माश्रय हो जायगा। यदि अन्य भेद मानें, तो अनवस्था होगी। यदि कहीं जाकर अन्त में भेद का भेदाश्रय के साथ भेद न मानें, तो उसके ऐक्य द्वारा मूलपर्यन्त ऐक्य हो जायगा।

तस्मात् भेद-प्रत्यक्ष का कोई विषय ही न होने के कारण प्रत्यक्ष से अद्वैत-श्रुति का बाध नहीं हो सकता। अनुमानादि तो आगम की अपेक्षा दुर्बल ही हैं; अतः वे तो तुम्हारे मत से भी अद्वैत-श्रुति के बाधक नहीं हो सकते। तथा अद्वैतागमरूप सेना में आगे विद्यमान, अर्थापत्तिरूप पैदलों की टुकड़ी तो पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिपक्ष-युक्ति-रूप शत्रुओं का नाश करती हुई अद्वैत के अनुकूल ही है।

इस विधि से प्रत्यक्ष से, श्रुतिज बोध नहिं आँच।
अनुमानहि से आँच तो, तुम भि न मानो साँच॥
अद्वैतागम सैन्य के, आगे देक छलांग।
अर्थापति पदाति ने भेदवाद दी आग॥

प्रश्न—नानात्व (भेद) के बिना 'नाना पद श्रौत-बुद्धि के कारण हैं' यह कार्यकारणभाव नहीं हो सकता और न कारण के बिना श्रौत-बुद्धि ही हो सकती है। इसलिए बाध्य-बाधकभाव की चिन्ता व्यर्थ है। क्योंकि पद-पदार्थ का नानात्व श्रुति का उपजीव्य (कारण) है और श्रुतिज बुद्धि उसकी उपजीवक (कार्य) है। उपजीवक से उपजीव्य का बाध नहीं हो सकता, क्योंकि वह उपजीव्य से दुर्बल होता है।

मैवम्; न वयं भेदस्य सर्वथैव असत्त्वमभ्युपगच्छामः। किन्नाम, पारमार्थिकम-सत्त्वम्। अविद्याविद्यमानत्वं तु तदीयमिष्यत एव, तदेव च कार्यकारणभावोपयोगी।

एतेन एकमेवेत्येवकारव्यवच्छेद्येन, अद्वितीयमिति द्वितीयेन, नाना नेति नानात्वेन, किञ्चनेत्यनेन बहुना विना नोपपद्यमानेन व्याघात इत्यपि प्रत्यादिष्टम्।

श्रुतिभिश्चाद्वैतार्थाभिः पारमार्थिकमद्वैतं प्रतिपाद्यते। न च पारमार्थिकमतिः अपारमार्थिकधिया शक्यबाधा। मा भूत् शुक्तिरजतधिया परमार्थशुक्तिमतिबाधः। यत्र तु 'अग्निरनुष्णः' इति बुद्धेरुष्णज्ञानोपजीवनात् उष्णबोधेनानुष्णबुद्धिबाधस्तत्र द्वयोरप्यविद्याविद्यमानत्वाद् बाधो युक्तः।

ननु तत्रापि तर्ह्यनुष्णताऽपि पारमार्थिक्येव साध्यतामबाधनाय। मैवम्; अनुष्णताया जलादिदृष्टान्तसजातीयायाः शीताद्यव्यावृत्तस्वरूपायाः प्रसाधनेन

उत्तर—व्यावहारिक नानात्व श्रौत-बुद्धि का उपजीव्य है, अतः उस नानात्व का बाध न हो। किन्तु पारमार्थिक नानात्व तो उपजीव्य है नहीं, इसलिए श्रौत-अद्वैत-बुद्धि से पारमार्थिक नानात्व का बाध हो ही सकता है। व्यावहारिक नानात्व (भेद) तो हम भी मानते ही हैं और वही कार्य-कारणभाव का उपयोग है।

प्रश्न—'एकमेव' यहाँ 'एव' विशेषण विजातीय भेद के बिना अनुपपन्न है, 'अद्वितीय' विशेषण द्वितीय के बिना अनुपपन्न है, 'न नाना' यह निषेध नानात्व के बिना अनुपपन्न है और 'किञ्चन' (कुछ है) यह कथन बहुत्व के बिना अनुपपन्न है। अतः अर्थापत्ति से सिद्ध विजातीय भेदादि से अद्वैत-श्रुति का बाध क्यों नहीं होता ?

उत्तर—'एवकार' आदि विशेषणों की उपपत्ति तो व्यावहारिक भेद आदि से भी हो सकती है और श्रुति से पारमार्थिक अद्वैत का ही बोध होता है। अतः विषय-भेद होने से व्यावहारिक भेदादि से पारमार्थिक अद्वैत का व्याघात नहीं होगा। अन्यथा शुक्ति-रजतबुद्धि से परमार्थ-शुक्तिबुद्धि का भी बाध हो जायगा। जहाँ प्रतियोगी रूप से उष्णत्व-ज्ञान की उपजीवक होने के कारण दुर्बल 'वह्नि अनुष्ण है' इस अनुमिति का 'वह्नि उष्ण है' इस स्पार्शन प्रत्यक्ष से बाध होता है, वहाँ दोनों ज्ञानों के व्यावहारिक होने से उष्णत्व के प्रत्यक्ष से अनुष्णत्वानुमिति का बाध उचित ही है।

प्रश्न—जैसे श्रुति का विषय परमार्थ सत् है, वैसे ही 'वह्नि अनुष्ण है' इस अनुमिति का विषय भी परमार्थ सत् क्यों न माना जाय ? उत्तर—जल आदि में दृष्ट और शीतादि अव्यावृत्तरूप अनुष्णत्व व्यावहारिक ही है। अतः प्रत्यक्ष से उसका बाध

अविद्याविद्यमानत्वे एव विश्रामात् । तत्रैवंविधंरूपतानङ्गीकारे चाद्वैतस्यैव नामान्तरकरणापत्तेः; ततस्तस्यां ज्ञेयज्ञानादिभेदावश्याभ्युपेयतया जगद्बाधयुक्तिकवलाप्रवेशासम्भवात् ।

अद्वैते च द्वैताश्रयस्य बाधस्य वास्तवस्यानवकाशाद् अपारमार्थिकत्वसंभावनाऽपि दूरत एवापसरतीति ।

ननु किमद्वैतपरमार्थताभ्युपगमेन समाहितं भवति ? यत उपजीव्यबाधादद्वैते प्रमां श्रुतिर्जनयितुं न शक्नोतीति ब्रूमः । मैवम् ; अद्वैतं हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्येत, न त्वविद्याविद्यमानेन । तस्मादविद्याव्यवस्थितं भेदं तद्बोधं चोपजीवन्त्या न परमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाधः ।

यदि श्रुतिजन्या भवन्त्यप्यद्वैतबुद्धिः अविद्याविद्यमाना, तथापि तद्विषय-

उचित ही है । यदि जलादि में अदृष्ट [शीतादि से विलक्षण] अनुष्णत्व का आप साधन करें, तो नामान्तर से वह अद्वैत का ही साधन होने से हमारा ही इष्ट सिद्ध हुआ । यदि जलादि दृष्टान्त में दृष्ट स्पर्श के सजातीय अनुष्णत्व का ही अनुमान करते हैं, तो वह दृश्य है । अतः उसमें ज्ञेय-ज्ञान का भेद अवश्य स्वीकार्य होने से जगद्-बाधक 'दृक्-दृश्यसम्बन्ध-खण्डन' आदि युक्तियों के कवल (ग्रास) में अनुष्णत्व का भी प्रवेश हो ही जायगा ।

प्रश्न—अद्वैत (ब्रह्म) भी श्रौत-बोध का विषय है ही । अतः उसमें भी मान-मेय-व्यवहार होने से उसका भी जगद्-बाधक युक्तियों के कवल में प्रवेश क्यों न हो ? *उत्तर*—अद्वैत स्व-प्रकाश है, उसमें मान-मेयभाव नहीं । अतः वह (अद्वैत) श्रौत-बोध का विषय नहीं, स्वरूप ही है । यद्यपि ब्रह्माद्वैत संस्कृत मन की वृत्ति का विषय होता है, तथापि जब मन ही कल्पित है, तो वृत्ति कल्पित है ही । इसलिए अद्वैत में वास्तविक मान-मेयभाव होता ही नहीं ।

प्रश्न—अद्वैत पारमार्थिक है, यह मान लेने से क्या सिद्ध हुआ ? अर्थात् उससे शोक की निवृत्ति या निरङ्कुश तृप्ति ही सिद्ध होती है । वह तृप्ति श्रौत-बोध से ही होती है और वह बोध प्रमाता आदि के भेदरूप उपजीव्य के विरोध से बाधित है, अतः उत्पन्न ही नहीं होगा । *उत्तर*—अद्वैत पारमार्थिक है; अतः वह पारमार्थिक भेद का विरोधी है, अविद्याकल्पित भेद का नहीं । इसलिए अविद्याकल्पित भेद या उस भेद के बोध की उपजीवक श्रुति से उपजीव्य का बाध नहीं है ।

प्रश्न—अद्वैत-बुद्धि भी अविद्या का ही कार्य है । अतः शुक्ति-रजत के तुल्य

स्तावत् परमार्थसदेवाद्वैतम् । विरोधेन च तस्याः बाध्यता, स च नास्तीति ।

तस्मात्—

'पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः ।
बाधनादुपजीव्येन बिभेति न मनागपि ॥'

श्रुतिरपि तदाह—'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति ।

तच्चाद्वैतं 'ब्रह्मैवेदं सर्वमि'ति श्रुत्यर्थेन सहैक्यमापन्नं ब्रह्मैव स्यात्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति च श्रुत्या ज्ञानानन्दात्मतया व्यवतिष्ठते । तेन यदिदमद्वैतज्ञानं श्रुत्या जनितं तद्विज्ञानाद्वैतात्मन्येव निविशते ।

भेद-प्रत्यक्ष से उसका बाध क्यों न हो ? उत्तर—अद्वैत-बुद्धि के स्वरूप का बाध अभिप्रेत है या विषय का ? यदि स्वरूप का बाध अभिप्रेत हो, तो उसे हम भी मानते ही हैं । यदि विषय का बाध कहें, तो वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति का विरोध होने से असङ्गत है । विषय के विरोध से ही बुद्धि बाध्य होती है । प्रकृत में अद्वैतरूप विषय बाधित नहीं है । अतः अविद्यमान (स्वरूप से बाधित) भी अद्वैत-बुद्धि विषय से अबाधित ही है ।

तस्मात् पारमार्थिक अद्वैतरूप शरण का अवलम्बनकर श्रुति उपजीव्य के बाध से किंचित् भी नहीं डरती; क्योंकि परमार्थतः भेदघटित बाध्य-बाधकभाव है ही नहीं ।

परमारथ अद्वैत की, शरण पाय श्रुति मान ।
भेद-बुद्धि उपजीव्य से, तनिक न डरती मान ॥

बृहदारण्यक (१ । ४ । २) श्रुति भी कहती है कि द्वितीय से भय होता है ।

प्रश्न—'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति से अद्वैत, 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति से ब्रह्म और 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति से विज्ञान तथा आनन्द ज्ञात होते हैं । इनका परस्पर विरोध होने से कुछ भी सिद्ध नहीं होगा । यदि श्रुति-प्रामाण्य से सभीकी सिद्धि हो, तो अद्वैत की ही हानि हो जायगी ? उत्तर—'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति से बोधित अद्वैत 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति के साथ एकवाक्यतापन्न होकर ब्रह्मरूप ही है । इसी तरह 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति की एकवाक्यता से विज्ञान आनन्दरूप ही व्यवस्थित होता है ।

प्रश्न—श्रुतिजन्य विज्ञान का विषय होने से अद्वैत विज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि स्वयं अपना विषय नहीं होता । उत्तर—वृत्तिरूप ज्ञान से भेद इष्ट ही है । अद्वैत वृत्ति-प्रतिबिम्बित आभास का विषय नहीं होता, किन्तु स्वयं आभास अद्वैतरूप

ननु कथं तस्य श्रुत्या जन्यत्वमुपपद्यते ? सत्यम् ; एवं स्यात्, यदि तस्य पारमार्थिकी श्रुत्या जन्यताऽपि स्यात् । अविद्याव्यवस्थिता तु तज्जन्यता न पारमार्थिकेनाजन्यत्वेन विरुद्ध्यते ।

अत एव श्रुत्येदमेकं साध्यते । यत्तु तत्र यद्येकता भेदाभावः, यदि चैकत्वसंख्या, यदि वा ज्ञानात्मकत्वं, यदि वाऽन्य एवैकत्वनामा कश्चिदभेदापरपर्यायो धर्मस्तद्वत्त्वं बोध्यते । तच्चाद्वैतव्याघातकत्वान्न सेद्धुं शक्नोति, तदा तदपि निष्पीडनमसहमानं तज्ज्ञानं श्रुतिजन्यत्वेन सहैव निवर्तताम् ।

यत्तु तादृशस्याद्वैतस्य धर्मस्य धर्मितया प्रमितं तन्मात्रमबाधादधिगतं परमार्थतो व्यवतिष्ठताम् । न हि परमार्थशुक्ती रजततया प्रतीयते यदा, तदा बाधात्तत्र रजतत्वे व्यावर्तमाने धर्मिव्यक्तिरपि तदपराधान्निवर्तते ।

हो जाता है । यदि ऐसा न मानें, तो 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति का विरोध हो जायगा ।

प्रश्न—अद्वैत (ब्रह्म) नित्य है और श्रौत-बोध जन्य है । अतः श्रौत-बोध (विज्ञान) अद्वैतरूप नहीं है । अन्यथा विज्ञान श्रुतिजन्य नहीं होगा, क्योंकि जन्यत्व-अजन्यत्वरूप दो विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश अनुचित है ?

उत्तर—श्रौत-बोध (विज्ञान) जन्य नहीं, नित्य है; अतः अद्वैतरूप है । फिर भी वृत्तिरूप उपाधि के जन्य होने से उसमें जन्यत्व का व्यवहार होता है । जैसे आकाश के नित्य होने पर भी घट, पट आदि उपाधियों के अनित्य होने से घटाद्यवच्छिन्न आकाश में अनित्यत्व का व्यवहार होता है ।

प्रश्न—'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतिजन्य बोध में ब्रह्म में विशेषण रूप से एकत्व भी भासता है । अतः ब्रह्म में एकत्व की भी सिद्धि हुई, तब अद्वैत सिद्ध कैसे हुआ ? *उत्तर*—श्रुति से एकत्वादि धर्मों से शून्य केवल धर्मीरूप अद्वैत ही सिद्ध होता है । यदि उस धर्मी में श्रुति से अभेदापरपर्याय भेदाभाव, एकत्वसंख्या, ज्ञान या कोई ही अन्य एकत्वरूप धर्मवत्त्व बोधित होता हो और वह अद्वैत का व्याघात होने से सिद्ध न हो रहा हो, तो एकत्वादि भी व्याघात न सहते हुए जन्यत्व के साथ ही निवृत्त हो जायँ ।

जो उस अद्वैत-धर्म (एकत्व) का धर्मी रूप से बोधित हो, अबाध से ज्ञात वही परमार्थतः व्यवस्थित हो । जहाँ परमार्थ शुक्ति रजतत्व रूप से ज्ञात होती है, वहाँ

सेयमद्वैतबुद्धिर्न तर्कशतमवतार्य प्राज्ञैरपनेया । यदाह श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति । तस्मात्—

'धीधनाः ! बाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ ।
क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥'

सेयमद्वैतदृष्टिर्दृष्टार्थाऽपि । यदाहुः—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' । तस्मात् —

'ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥'

तस्मात्—

'आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनामद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम् ।
तत् स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा निष्पीडितादहह ! निर्वहते विचारात् ॥'

रजतत्व की निवृत्ति होने पर रजतत्वधर्म में आरोपरूप अपराध होने से, परमार्थ शुक्ति भी निवृत्त नहीं होती ।

तस्मात् प्राज्ञवर्ग ! आप इस अद्वैत-बुद्धि का अनेक कुतर्कों का अवलम्बन कर खण्डन न करें । क्योंकि कठ श्रुति (२।२) में लिखा है कि श्रुति से जायमान अद्वैत-बुद्धि तर्क से खण्डनीय नहीं है । इसलिए बुद्धिमानो ! इस अद्वैत-बुद्धि का कुतर्क से बाधन करने की इच्छा तब कीजिये, जब कि हाथ लगे चिन्तामणि को समुद्रमें फेंक देने की इच्छा रखते हों ।

धीधन ! तब अद्वैत के, बोध चहहु तूँ बाध ।
जब चिन्तामणि रत्न को, गेरन वारिध साध ॥

इस अद्वैत-बुद्धि का मोक्षरूप अदृष्ट फल तो है ही, परन्तु जीवन्मुक्ति में अनुभवनीय आनन्द, शोक-निवृत्ति, अभय, संतोषआदि दृष्ट प्रयोजन भी हैं । भगवद्गीता में भी (२ । ४) कहा है कि स्वल्प भी (आपाततः उत्पन्न) अद्वैत-बोध महान् भय, शोक आदि दुःखों से रक्षा करता है । यह अद्वैत-बुद्धि दुष्प्राप्य, बहु-विघ्नों से युक्त तथा अतिसूक्ष्म है । अतः परमेश्वर की कृपा से महाभयों से त्राण करनेवाली यह अद्वैत-वासना दो या तीन मनुष्यों के ही हृदय में प्रादुर्भूत होती है ।

ईश-कृपा से होत है, तीन दोय हिय मांहि ।
अद्वय की शुभ-वासना, जिसमें भय कुछ नांहि ॥

हर्ष है कि अतिसूक्ष्म होने से अद्वैत-बोधक श्रुतियों द्वारा परोक्षरूप से ज्ञात

तदिदमेताभिरात्ममतसिद्धसद्युक्तिलक्षणोपपन्नाभिः युक्तिभिरुपनीयमानमद्वैत-मविद्याविलासलालसोऽपि श्रद्दधातु तावद्भवान्। तदनु च अनयैवोपनिषदर्थ-श्रद्धया अध्यात्मं जिज्ञासमानः परमार्थतत्त्वं क्रमात् वृत्तिव्यावृत्तचेताः स्वप्रकाश-साक्षिकं माक्षिकरसातिशायि स्वात्मनैव साक्षात्करिष्यति।

यथा च परिहृतचापलमात्मतत्त्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानसम्, तथाऽहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्ग इत्येषा दिक्।

अथ प्रयोजनप्रतिपादनम्

'अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डिराज्ञामिव नैवमाज्ञा।
तत्तानि कस्मान्न यथाऽभिलाषं सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्वम् ॥'

अद्वयरूप अर्थ शुद्धविचार से स्वप्रकाश आनन्दरूप होकर अपरोक्ष रूप से अपने आप प्रादुर्भूत होता है।

जो आपात से होत है; श्रुति से अद्वय-बोध।
वह विचार से होत है, सच्चित आत्म बे-रोध ॥

युक्ति परार्थानुमानरूप है। अतः स्वबुद्धिसिद्ध युक्तियों के लक्षणों से युक्त मेरी इन पूर्वोक्त युक्तियों से ज्ञानविषय इस अद्वैत में अविद्याविलास (भेदवाद) में लालसावाले भी आप प्रथम श्रद्धा करें। तत्पश्चात् इसी उपनिषदर्थ (ब्रह्म) की श्रद्धा तथा आत्मविषयक जिज्ञासा से युक्त एवं धीरे-धीरे विषयों से व्यावृत्तचित्त आप मधु से भी मिष्ट और स्वप्रकाश अद्वैतरूप परमार्थ का स्वयं साक्षात्कार करेंगे।

जिन साधनों से चपलता छोड़कर आपका चित्त बिना परिश्रम के आत्मतत्त्वरूप अमृत-सरोवर में निमग्न हो परमानन्द प्राप्त करेगा, भक्ति, अभ्यास, वैराग्य आदि उन साधनों को 'नैषधचरित' के परमपुरुष सर्ग में कहा गया है। यह तो अद्वैतसिद्धि का संकेतमात्र है।

प्रयोजन-प्रतिपादन

प्रश्न—इस प्रकार द्वैत-निवृत्ति द्वारा अद्वैत की सिद्धिमात्र में खण्डन-युक्तियों की उपकारकता है। इसलिए यह मुमुक्षमात्र के लिए ग्राह्य है, केवल विजिगीषुओं के के लिए नहीं—यदि ऐसा ही मान लें, तो 'लोकेषु दिग्विजय-कौतुकमातनुध्वम्' इस प्रतिज्ञा के साथ विरोध हो जायगा।

तदेतादृशीषु सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु काममास्माकीनाः खण्डनयुक्तयः प्रगल्भन्ते, यासामीश्वरपरवशां [1]विश्वव्यवस्थामनास्थाय निरसनमशक्यं तासामेवावतारणार्थमयं [2]प्रावादुकप्रवादोपन्यासः। तथाहि— यदि शून्यवादानिर्वचनीयपक्षयोराश्रयणम्, तदा तावदमूषां निराबाधैव सार्वपथीनता।

यदि तु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तृमतावलम्बनम्, तदाऽपि लक्षणखण्डनयुक्तीनां

उत्तर—यथार्थ में हमने अद्वैत-सिद्धि के लिए ही खण्डन-युक्तियाँ कही हैं। फिर भी आप लोगों की अभीष्ट-सिद्धि में (शब्द के नित्यत्व, अनित्यत्वादि के व्यवस्थापन में) भी राजाओं के तुल्य इन खण्डन-युक्तियों की आज्ञा का खण्डन (निवारण) नहीं किया है। अतः आप लोग अपनी-अपनी अभिलाषा के अनुसार तत्-तत् सिद्धान्त की सिद्धि या खण्डन में इन खण्डन-युक्तियों की योजना करें।

यद्यपि खण्डन-युक्ति का, अद्वय-सिद्धि-नियोग।
तदपि निज सिद्धान्त में, सब कर सकते योग॥

इन खण्डन-युक्तियों का तत्-तत् सिद्धान्त की सिद्धि के लिए निवारण नहीं किया गया है। अतः सब सिद्धान्त माननेवाले दर्शनों के [पर-सिद्धान्तों के खण्डन द्वारा] स्थापन में हमारी खण्डन-युक्तियाँ यथेष्ट समर्थ हैं। जिन खण्डन-युक्तियों का ईश्वर (राजा) के अधीन विश्व-व्यवस्थापक आज्ञा के बिना निवारण नहीं हो सकता, उन्हींके अवतरण के लिए इस उद्धत ग्रन्थ का निर्माण किया गया है। देखिये, यदि आप शून्यवाद या अनिर्वचनीयवाद का आश्रयण करें, तब तो इन खण्डन-युक्तियों का सर्वत्र उपकार निर्बाध ही है। क्योंकि इन मतों में स्वमत का स्थापन तो करना है ही नहीं, केवल परमत का खण्डन ही करना है और परमत के खण्डन में खण्डन-युक्तियाँ सार्वपथीन (बेरोक) हैं।

यदि प्रमाण की सत्ता माननेवाले नैयायिक, मीमांसक आदि के मतों का आश्रयण करें, तो लक्षण-विशेष के खण्डन की युक्तियों की लक्षण-विशेष के खण्डन में उपकारकता है और लक्ष्य-विशेष की खण्डन-युक्तियों का तद्विषयक

१. विश्वं व्यवस्थाप्यते = नियम्यते, अनया = दण्डधारयेति; राजाधीन-दण्डेनेत्यर्थः।
२. प्रावादुकः = उद्धतः, अयम् = खण्डनग्रन्थः, तस्य उपन्यासः = निर्माणम्।

लक्षणविशेषखण्डने लक्ष्यखण्डनयुक्तीनां च तद्विषयप्रमाणादिविशेषखण्डने प्रत्येकं तात्पर्यम् ।

न च सौत्रादिलक्षणखण्डने[1] अपसिद्धान्तापत्तिः ; तादृश्याः सूत्रादिव्याख्यायाः खण्ड्यमानत्वात् । न च वाच्यं लक्षणविशेषवस्तुव्यवस्थापकप्रमाणविशेषसूत्रादि-व्याख्याविशेषखण्डनपरत्वेन लक्षणान्तरं प्रमाणान्तरं व्याख्यान्तरं च वाच्यं प्रसज्येत भवतोऽपीति ; वितण्डाकथामालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात् । तत्र च व्यावृत्त्य स्वपक्षनिर्वाहं प्रति पर्यनुयोगानवकाशात् ।

एवं च सति वादिदर्शनमाश्रित्यापि खण्डनप्रयोगो निर्बाध एव, एकदेशिवत्

प्रमाण-विशेष के खण्डन में तात्पर्य है । जैसे भेद के अनिर्वचनीयत्व से बाधितविषयक होने से अनुपलब्धि प्रमाण खण्डित हो जाता है ।

प्रश्न—गौतमादि के सूत्रों में उक्त लक्षणों का खण्डन करने से अपसिद्धान्त हो जायगा ? *उत्तर*—सूत्र के व्याख्याविशेष का खण्डन होने पर भी उसकी अन्य व्याख्या की सम्भावना से अपसिद्धान्त नहीं होगा ।

प्रश्न—लक्षण-विशेष, वस्तु के साधक प्रमाण-विशेष तथा सूत्र के व्याख्या-विशेष के खण्डनपरक अन्य प्रमाण और सूत्र की अन्य व्याख्या तो आपको भी कहनी पड़ेगी ? *उत्तर*—वितण्डारूप कथा का आश्रयण करके ही खण्डन-युक्तियों का उपन्यास किया गया है । वितण्डा में परमत-खण्डन को छोड़ स्वमत के स्थापन का आग्रह ही नहीं होता ।

इस प्रकार जब स्वमत-स्थापन में आग्रह है ही नहीं, तब वादी की दर्शन-मीमांसा आदि का आश्रयण करके भी खण्डन-युक्तियों का प्रयोग हो सकता है । क्योंकि मीमांसक-सामान्य मत के एकदेशी (मीमांसक-विशेष) प्रभाकर के तुल्य एक दर्शन का आश्रयण करके भी परस्पर खण्डन-प्रयोग हो सकता है । अथवा जैसे सभी वैयाकरण गोशब्द आदि की सिद्धि को तुल्यरूप मानकर भी दूसरे को तत्त्वज्ञान कराने के

१. प्रश्न—गौतमसूत्रस्थ प्रत्यक्षलक्षण के खण्डन से मीमांसकों को अपसिद्धान्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे उन्हें प्रमाण नहीं मानते । अन्यथा न्यायाभिमत शब्दानित्यत्व भी न मानने से मीमांसकों को अपसिद्धान्त हो जायगा ? उत्तर—यहाँ इस शङ्का-समाधान का उल्लेख लेखक-प्रमाद से हुआ है । वस्तुतः ग्रन्थकार के अनुसार इसका लेख 'समानपक्षस्थित्याऽपि…… सम्भवात्' इसके आगे होना चाहिए ।

प्रत्यवस्थातुं शक्यत्वात् । वैयाकरणानामिव च शब्दसिद्धिप्रश्नस्य परकीयतत्त्वज्ञान-निरूपणार्थं समानपक्षस्थित्याऽपि पर्यनुयोगसांव्यवहारिकतायाः संभवात् ।

वस्तुस्थितिं कुर्वाणेन च विचारकेणावश्यमेता युक्तय उद्धरणीयाः । अन्यथा वस्तुस्थितेरशक्यत्वादिति वादेऽपि प्रयोगः संभवत्येव खण्डनयुक्तीनाम् ।

जल्पस्त्वेका कथा न संभवत्येवाऽसामयिकी, वितण्डाद्वयशरीरत्वात् । अन्यथा जल्पद्वयेनापि किमित्येका कथा न कल्प्यते ।

अवोचाम च जल्पविचारप्रस्तावे विस्तरेणैतदिति ।

लिए परस्पर प्रश्न किया करते हैं, वैसे ही समान पक्ष में भी प्रश्न तथा खण्डन-युक्तियों का प्रयोग हो सकता है ।

तत्त्व का निश्चय करनेवाले परीक्षकों को तो अवश्य ही इन खण्डन-युक्तियों का आश्रयण करना चाहिए । क्योंकि जबतक खण्डन-युक्तियों से परमत का खण्डन न हो, तबतक तत्त्व का निश्चय हो ही नहीं सकता । इसलिए वाद में भी खण्डन-युक्तियों का प्रयोग हो सकता है ।

प्रश्न—जल्प में स्वपक्ष का स्थापन अवश्य करना पड़ता है, किन्तु खण्डन-युक्तियाँ खण्डनमात्र में प्रगल्भ और स्थापन में तो मूक हैं । इसलिए जल्प में इन खण्डन-युक्तियों से उपकार कैसे होगा ?

उत्तर—जल्प तो कोई एक अलग कथा है ही नहीं; क्योंकि उसके शरीर में दो वितण्डाएँ प्रविष्ट हैं । अर्थात् एक ने स्वपक्ष का स्थापन किया और अन्य ने उसके पक्ष को दूषित किया, यह एक वितण्डा हुई तथा अन्य ने स्वपक्ष का स्थापन किया और प्रथम ने उसके पक्ष का खण्डन किया, यह दूसरी वितण्डा हुई । इस तरह दो वितण्डाएँ मिलकर एक जल्प होता है, अतः वह कथान्तर ही नहीं है । किञ्च—जल्प सर्वशास्त्रों के सिद्धान्त से सिद्ध भी नहीं है, केवल नैयायिकों के संकेत से ही कल्पित है । अन्यथा यदि दो वितण्डाओं को मिलाकर 'जल्प' नामक अलग कथा मानी जाय, तो दो जल्पों को मिलाकर चौथी भी एक अलग कथा क्यों नहीं मानते । अर्थात् स्वपक्ष-द्वय का स्थापन और परपक्ष-द्वय का खण्डन-स्वरूप एक कथान्तर भी जल्प के तुल्य हो सकता है, फिर वह भी अलग कथा क्यों न मानी जाय ?

प्रश्न—यदि जल्प वितण्डा-द्वय-शरीर होने से कथान्तर नहीं है, तो वाद भी वितण्डा-द्वय-शरीर होने से अलग कथा नहीं कहलायेगा । एकमात्र वितण्डा ही कथा कहलायेगी ? उत्तर—वाद और जल्प-वितण्डा में फल-भेद है । अर्थात् वाद का फल

जल्पकथयाऽपि चाभिधाने स्वपक्षे व्यावर्त्त्यं सदोषस्यापि प्रमाणतया अभिधानं कृत्वा तद्दोषोद्भावनकारी कामपि खण्डनयुक्तिमवतार्य बाधनीय इति जल्पेऽपि नात्यन्तमनवकाशाः खण्डनयुक्तयः ।

अथ सामान्य-खण्डन-युक्तयः

कीदृश्यः पुनस्ताः ? उच्यन्ते । तथाहि—लक्षणाधीना तावल्लक्ष्यव्यवस्थितिः, लक्षणानि च अनुपपन्नानि, ज्ञाताधिकरणादिलक्षणनिरूपणद्वारेण चक्राकाद्यापत्तेः ।

तत्त्व-निर्णय है और जल्प-वितण्डा दोनों का विजयरूप एक फल । अतएव वह अन्य कथा है । किन्तु जल्प और वितण्डा में तो फल-भेद भी नहीं है, अतः जल्प का वितण्डा में अन्तर्भाव हो जाता है—वह अन्य कथा नहीं है । ये सब बातें हम 'ईश्वराभिसन्धि' नामक ग्रन्थ में जल्प-विचार के प्रस्ताव में कह चुके हैं ।

प्रश्न—राम-रावण-युद्ध की तरह स्वपक्ष-रक्षण तथा परपक्ष-खण्डनरूप जल्प-कथा भी अनुभवसिद्ध ही है; क्योंकि शास्त्रार्थ भी वाग्युद्ध ही है । अतः उसका वितण्डा में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । उस जल्प में खण्डन-युक्तियों की उपकारकता नहीं है, अतः सर्वत्र खण्डन-युक्तियों की उपकारकता सिद्ध नहीं हुई ?

उत्तर—जल्प-कथा का पुरस्कारकर अभिधान करें, तो भी स-दोष प्रमाण का भी निर्दुष्टवत् अभिधान करते हुए किसी खण्डन-युक्ति का अवतारणकर स्वपक्ष में दोष के उद्भावनकारी वादी के पक्ष का बाध हो सकता है । तात्पर्य यह है कि प्रतिपक्षी के अपने पक्ष में दूषण देने के बाद अपना पक्ष स्थापन करने के लिए सद्धेतु ध्यान में न आये, तो सदोष भी प्रमाण निर्दुष्टवत् उपस्थितकर वह प्रतिपक्षी द्वारा दिये गये दोषों का निराकरण इन खण्डन-युक्तियों से कर ही सकता है । इस तरह जल्प में भी खण्डन-युक्तियों का अत्यन्त अनवकाश नहीं है ।

सामान्य-खण्डन की युक्तियाँ

निर्वचनकर्ता—वे खण्डन-युक्तियाँ कैसी हैं ? *खंडनकर्ता*—वे युक्तियाँ कही जाती हैं । सुनिये, लक्ष्य का निश्चय लक्षण के अधीन होता है और लक्षणमात्र ही अनुपपन्न हैं । क्योंकि वे ज्ञान, अधिकरण आदि के लक्षण-निरूपण द्वारा चक्रक आदि दोषों से ग्रस्त हैं । अर्थात् ज्ञात (ज्ञान-विषय) ही लक्षण लक्ष्यव्यवहार तथा इतर-व्यावृत्तिरूप प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं, अज्ञात नहीं । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'वह ज्ञान कौन-सी वस्तु है ?' इस पर यदि यह उत्तर दिया जाय कि ज्ञानत्व-युक्त ज्ञान है;

अथ प्रमालक्षणे तत्त्वपदार्थखण्डनम्

तेषु तावत् 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इत्यप्ययुक्तम्; तत्त्वशब्दार्थस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। तस्य भावो हि तत्त्वमुच्यते, प्रकृतं च तच्छब्दार्थः। न चात्र प्रकृतं किंचिदस्ति यत् तच्छब्देन परामृश्यते।

अथ अनुभूत्या स्वसंबन्धिविषय आक्षेपाद् बुद्धिस्थः कार्यते, स तच्छब्देन परामृश्यते, वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थतायामेव प्रकरणपदार्थविश्रामात्। तेन यस्यार्थस्य यो भावः, तत् तस्य तत्त्वमुच्यत इति।

तो पूछा जायगा—'वह ज्ञानत्व ही क्या है?' इसपर यदि 'सुखादि में अवृत्ति और आत्मा के विशेषगुण में वृत्ति जाति-विशेष ज्ञानत्व है' यह उत्तर हो, तो फिर प्रश्न होगा कि 'वह जाति ही क्या है?' इसपर 'अनुगत-प्रत्यय (एकाकारक ज्ञान) का हेतु जाति है' यह उत्तर है। यहाँ ज्ञान की सिद्धि होने पर जाति की सिद्धि, जाति की सिद्धि होने पर ज्ञानत्व की सिद्धि और ज्ञानत्व की सिद्धि होने पर ज्ञान की सिद्धि—इस तरह चक्रक; ज्ञान की सिद्धि होने पर ज्ञानत्व की सिद्धि तथा ज्ञानत्व की सिद्धि होने पर ज्ञान की सिद्धि—इस तरह अन्योन्याश्रय तथा ज्ञान की सिद्धि होने पर ज्ञान की सिद्धि—इस तरह आत्माश्रय, ये तीनों दोष हो जायँगे।

किञ्च—लक्षण लक्ष्यरूपी अधिकरण में ज्ञात होने पर ही व्यवहार का साधक होता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अधिकरण क्या है? इसका उत्तर है—"'इह' इत्याकारक ज्ञान का विषय अधिकरण है।" इस उत्तर के अनन्तर 'ज्ञान क्या है?' इस प्रश्न पर 'ज्ञानत्वयुक्त ज्ञान है' यह उत्तर है। इस उत्तर के अनन्तर 'ज्ञानत्व क्या है?' इस प्रश्न पर 'सुखादि में अवृत्ति तथा आत्मवृत्ति-विशेषगुणवृत्ति जाति-विशेष ज्ञानत्व है' यह उत्तर है। इस उत्तर के अनन्तर 'आत्मा क्या है?' इस प्रश्न पर 'ज्ञान का अधिकरण आत्मा है' यह उत्तर होगा। इस रीति से एक लक्षण को दूसरे लक्षण की अपेक्षा होने से चक्रक आदि दोष हो जायँगे।

प्रमा-लक्षण में 'तत्त्व'-पदार्थ-खण्डन

उन लक्षणों में प्रथम 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' यह लक्षण 'तत्त्व' शब्द के अर्थ का निर्वचन न हो सकने से अयुक्त है। क्योंकि तत् के भाव को 'तत्त्व' कहते हैं। तत्शब्द का अर्थ 'प्रकृत' है। 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' यह लक्षण न्यायाचार्य शिवादित्य मिश्रकृत 'लक्षणमाला' का प्रथम लक्षण है। अतः यहाँ प्रकृत कोई है नहीं, जो तत्-शब्दसे परामृष्ट हो।

निर्वचनकर्ता—अनुभव (ज्ञान) नियमतः सविषयक होता है, अतः अनुभव से

न; अरजतादेरपि रजताद्यात्मना अनुभूतिविषयतासंभवात् असत्यानुभूत्य-व्यवच्छेदात् भवितुरतत्त्वशब्दार्थत्वप्रसङ्गेन धर्म्यंशे विशिष्टे च प्रमाया अप्रमात्वापातात् ।

अथोच्यते—अवयवार्थचिन्तया दूषणाभिधानमिदं त्यज्यताम्, यतोऽयं तत्त्वशब्दः स्वरूपमात्रवचन इति । एतदप्ययुक्तम्; स्वरूपत्वस्य जातेरुपाधेर्वा स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेः, स्वरूपशब्दार्थस्यैकस्यासम्भवेन प्रतिविषयव्यावृत्त्या लक्षणस्याव्यापकत्वापातात् ।

कथञ्च तत्त्वेति विपर्यासादेर्निरासः । तथा हि—शुक्तौ यो 'रजतमि'ति प्रत्ययः, सोऽपि स्वरूपबुद्धिर्भवत्येव । न हि धर्मी वा रजतत्वं वा न स्वरूपम्, नापि तयोः प्रतिभासमानः सम्बन्धो न स्वरूपमिति युक्तम्; समवायो हि तयोः सम्बन्धः प्रतिभाति, स च स्वरूपमेव ।

विषय का आक्षेप होगा और वही विषय तत्-शब्द से परामृष्ट होगा । वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि का विषय ही 'प्रकरण' पद का वाच्य है । अतः जिस अर्थ का जो भाव है, वही उसका तत्त्व है ।

खण्डनकर्ता—शुक्ति में 'इदं रजतम्' इत्याकारक भ्रम भी रजतत्वरूप तत्त्वविषयक है । अतः वहाँ प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । धर्मी तत्त्व नहीं है, अतः धर्मी-अंश तथा विशिष्ट अंश में (प्रमा में) भी प्रमा-लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ।

निर्वचनकर्ता—'तत्त्व' शब्द स्वरूप में रूढ़ है; अतः अवयवार्थ के अनुरोध से दोष देना अनुचित है । उसे रूढ़ि मानने में धर्म, धर्मी, सम्बन्ध—सभी के स्वरूपरूप होने से धर्मी तथा विशिष्टांश में अव्याप्ति नहीं है ।

खण्डनकर्ता—स्वरूपत्व में स्वरूपत्व रहता है या नहीं ? यदि रहता है, तो स्व में स्व का वृत्तित्व होने से आत्माश्रय दोष है । यदि नहीं रहता, तो स्वरूपत्व से रहित होने से वह स्वरूप नहीं हुआ, क्योंकि स्वरूपत्वविशिष्ट को ही स्वरूप कहते हैं । अतः स्वरूपत्व-प्रमा में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—तत्त्व-विशेषण से 'इदं रजतम्' इस भ्रम में प्रमा-लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण कैसे होगा ? देखिये, शुक्ति में जो रजत्वबुद्धि है, वह भी स्वरूप की बुद्धि ही है । क्योंकि धर्मी तथा रजतत्व स्वरूप ही हैं और उन दोनों का प्रतिभासमान सम्बन्ध (समवाय) भी स्वरूप ही है ।

निर्वचनकर्ता—रजतत्व-समवाय स्वरूप है सही, किन्तु वह रजत में है, शुक्ति में

सत्यम्, समवायः स्वरूपम्। स एव तु शुक्तिव्यक्तौ रजतत्वस्य नास्तीति चेत्। मैवम्; तत्र नास्तित्वेऽपि स्वरूपताया अव्यावृत्तेः। न हि गृहे देवदत्तो नास्तीति स्वरूपं न स्यात्।

न स्वरूपमात्रं तत्त्वमुच्यते, किन्तु यद्देशकालसम्बन्धि यत्स्वरूपं प्रतीतं तस्य तद्देशकालसम्बन्धि स्वरूपं तत्त्वमुच्यत इति चेत्। मैवम्; देशकालसम्बन्धांशे प्रमाया अप्रमात्वापातात् तयोः स्वरूपमेव तत्त्वशब्दार्थ इति चेन्न। तत्त्वपदस्यानेकार्थत्वे लक्षणाव्यापकत्वापत्तेः।

अथैवं ब्रूषे—यद्यथाभूतं प्रतीयते तत्तथा परमार्थतो व्यवस्थितं तत्त्वमुच्यते। नैतदपि युक्तम्; यद्यथाभूतं प्रतीयते, तद्यदि प्रतीतिसमयमपहाय कालान्तरे

नहीं, क्योंकि शुक्ति में रजतत्व का सम्बन्ध अविद्यमान है। *खंडनकर्ता*—शुक्ति में अविद्यमान होने पर भी रजतत्व का समवाय स्वरूप ही है। क्योंकि घर में अविद्यमान भी देवदत्त स्वरूप ही है। अर्थात् स्वरूपत्व में विद्यमानत्व हेतु (साधक) नहीं है। यदि विद्यमानत्व को साधक मानें, तो घर में अविद्यमान देवदत्त स्वरूप न कहलायेगा।

निर्वचनकर्ता—केवल 'स्वरूप' तत्त्व नहीं है; किन्तु जिस देश तथा काल से सम्बद्ध जो प्रतीत होता हो, उस देश तथा काल से सम्बद्ध स्वरूप ही तत्त्व है। *खंडनकर्ता*—देश-काल में देश-काल का सम्बन्ध नहीं रहता। अतः देश-काल के स्वरूपों के तत्त्व न होने से देश तथा काल की प्रमा में प्रमा-लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

निर्वचनकर्ता—अन्यत्र तो देश-काल से सम्बद्ध स्वरूप ही तत्त्व है, तथापि देश-कालस्थलमें केवल स्वरूप ही तत्त्व है। *खंडनकर्ता*—देश-स्वरूप, काल-स्वरूप तथा देश-कालसम्बद्ध स्वरूप, इनमें प्रत्येक को समुदित रूप से 'तत्त्व'पदवाच्य मानें, तो लक्षण का अनुगम नहीं होगा। यदि प्रत्येक को वाच्य मानें, तो समुदाय में और समुदाय को वाच्य मानें तो प्रत्येक में अव्याप्ति हो जायगी।

निर्वचनकर्ता—जो स्वरूप यद्धर्म-विशिष्ट (जैसा) प्रतीत होता हो, यदि उस धर्म से विशिष्ट हो, तो वह 'तत्त्व' कहा जाता है। *खंडनकर्ता*—तद्धर्मवैशिष्ट्य का यह ज्ञान प्रमाण से ही होगा और 'प्रमाण' प्रमिति के करण को कहते हैं। तब तो प्रमा की सिद्धि होने पर प्रमाण की सिद्धि और प्रमाण की सिद्धि होने पर तद्धर्म के निश्चय-द्वारा प्रमा की सिद्धि—इस प्रकार अन्योन्याश्रय आदि दोष हो जायँगे।

तथाभूतं स्यात्तदाऽप्येवं तत्त्वं स्यादेवेति भाविपाकजरागः कुम्भः श्यामदशायामपि रक्तपित्तिना रक्ततयोपलभ्यमानस्तत्त्वं स्यादिति तद्बुद्धेः प्रमात्वापातः। यदा तदेति विशेषणप्रक्षेपेण च कालविशिष्टताप्रतीतेरप्रमात्वापातो न हि कालवैशिष्ट्येऽपि कालान्तरसम्बन्धः सम्भवी।

अन्योपाध्यवच्छिन्नः सोऽन्योपाध्यवच्छिन्नेन सम्भन्त्स्यतीति चेत्; तर्हि दण्ड्यपि देवदत्तः कुण्डलिनं स्वमारोचयत्येव। उपाधिभेदेऽप्युपधेयस्य एकत्वानिवृत्तेर्नैवमिति चेत्, तुल्यम्।

किञ्च—जो स्वरूप यद्धर्मविशिष्ट प्रतीत होता हो, यदि वह प्रतीति-काल से अन्य काल में भी तद्धर्मविशिष्ट हो, तो वह तत्त्व ही कहा जायगा। तब तो जो अपक्व श्यामघट पाकजन्य रक्तरूप से युक्त होनेवाला है, वह भी रक्त-पित्तरोग से ग्रस्त मनुष्य द्वारा रक्तत्वेन ज्ञात होने से तत्त्व हो जायगा। फलतः श्यामता-दशा में 'रक्तो घटः' यह बुद्धि भी प्रमा हो जायगी।

निर्वचनकर्ता—जो यद्धर्मविशिष्ट जिस काल में प्रतीत हो, वह उस काल में यदि तद्धर्म-विशिष्ट हो, तभी 'तत्त्व' है। अतः भावी रक्तता-स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खंडनकर्ता*—लक्षण में 'यदा', 'तदा' निवेश करने पर काल-अंश तथा काल के सम्बन्धांश में, काल का सम्बन्ध न होने से अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि काल-सम्बन्ध में कालसम्बन्ध नहीं रहता।

निर्वचनकर्ता—यद्यपि काल एक है, तथापि उसकी उपाधि (सूर्य-क्रिया) का भेद होने से एक उपाधि से युक्त काल का अन्य उपाधि से युक्त काल के साथ सम्बन्ध हो ही जायगा, जैसे कि संवत्सरावच्छिन्न काल का पक्षावच्छिन्न काल से और पक्षावच्छिन्न काल का दिवसावच्छिन्न काल से सम्बन्ध होता है।

खण्डनकर्ता—एक उपाधि से विशिष्ट काल अन्य उपाधि से विशिष्ट स्वात्मा (काल) से सम्बद्ध नहीं हो सकता, वस्तु होने से; जैसे देवदत्त अपने से विशिष्ट नहीं होता। अन्यथा दण्डी देवदत्त का कुण्डलीरूप स्व से आधाराधेयभाव सम्बन्ध होने लगेगा।

निर्वचनकर्ता—दण्ड, कुण्डल आदि उपाधियों का भेद होने पर भी देवदत्त के एक होने से दण्डी देवदत्त कुण्डली देवदत्त से सम्बद्ध नहीं होता। *खण्डनकर्ता*—यह बात तो काल-स्थल में भी तुल्य है। अर्थात् सूर्य-क्रियारूप उपाधि का भेद होने पर भी काल एक ही है।

एतेन कारणं तत्त्वमित्यपि निरस्तम् । सर्वस्य तथात्वे प्रमित्यभावेन आत्माश्रयेण च प्रतिक्षणविशिष्टविश्वावश्यकारणत्वोपगमे दुरपवादार्थक्रियाकारित्वस्वरूपसत्त्वलक्षणाङ्गीकारिजैनचरणशरणप्रवेशविडम्बनापादिदोषग्रासेन चेति ।

अनुभूतित्वजातिखण्डनम्

किञ्च—इदमनुभूतित्वं नाम ? ज्ञानत्वावान्तरजातिभेदो वा, स्मृतिव्यतिरिक्त-

निर्वचनकर्ता—हम कारण को ही 'तत्त्व' कहते हैं। *खण्डनकर्ता*—स्व में स्व का वृत्तित्व न होने से काल में नियत-प्राक्क्षणवृत्तित्वरूप कारणत्व नहीं है ; अतः काल की प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी ।

निर्वचनकर्ता—यद्यपि अन्यत्र नियत-पूर्वकालवृत्तित्व ही कारणत्व है, तथापि कालस्थल में नियतपूर्वत्वमात्र कारणत्व है ; अतः काल की प्रमा में अव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डनकर्ता*—अन्तिम कार्य तथा पारिमाण्डल्यादि किसीके कारण न होने से 'वस्तुमात्र कारण हैं' इसमें कोई प्रमाण नहीं । फलतः अन्त्य-कार्यादिविषयक प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—'कारणत्व से युक्त' को कारण कहते हैं। फिर यदि कारणत्व में उसी कारणत्व को मानें, तो आत्माश्रय होगा। यदि अन्य कारणत्व मानें, तो उस दूसरे कारणत्व में कौन-सा कारणत्व रहेगा ? यदि प्रथम कारणत्व रहेगा, तो अन्योन्याश्रय और यदि तृतीय कारणत्व मानें, तो उस तृतीय में चतुर्थ, चतुर्थ में पञ्चम एवं उत्तरोत्तर कारणत्व मानने से अनवस्था हो जायगी। यदि किसी कारणत्व में कारणत्व न मानें, तो वह कारण न होगा, अतः तत्कारणत्वविषयक प्रमा में अव्याप्ति सुस्थिर है ।

निर्वचनकर्ता—सभी भाव प्रतिक्षण परिणामी हैं, अतः पूर्व-क्षणविशिष्ट भाव उत्तरक्षणविशिष्ट भाव का कारण है। इसलिए सभी वस्तुओं के कारण हो जाने से कहीं भी अव्याप्ति नहीं होगी। *खंडनकर्ता*—क्षणिक विश्वमात्र को अवश्य कारण मानें, तो 'कारणत्व ही सत्त्व (भाव) का लक्षण है' ऐसा माननेवाले बौद्ध-मत का स्वीकार करना होगा। फलतः आप नैयायिक के लिए यह अपसिद्धान्त हो जायगा।

अनुभूतित्व-जाति का खण्डन

किञ्च—'अनुभूतित्व' क्या है ? क्या वह ज्ञानत्व-व्याप्य जाति है, स्मृतिसे भिन्न

ज्ञानत्वं वा, स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वं वा, तदविदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियतासाधारणकारणकबुद्धित्वं वा ?

न तावदाद्यः। तथाहि—अनुभूतित्वं नाम जातिरेकाऽभ्युपगम्येति कुतः ?

'अनुभवामी'ति प्रत्ययानुगमवशादिति चेन्न। माघमासीयनिशावसाने सितासितसरित्सम्भेदस्नायिनः सत्यपि शब्दबलाद् भाविस्वकीयस्वर्गसुखसम्प्रत्यये 'सुखमनुभवामी'ति प्रतीत्यनुदयात्, प्रत्युत शीतसम्भूतवेदनासंवेदनादेव परस्त्रियञ्च सम्भुञ्जानस्य आस्तिककामुकस्य शब्दाधीने सत्यपि भाविनरकगमनानुभवनीययातनाधिगमे 'दुःखमनुभवामी'ति मतेरनुत्पत्तेः। प्रत्युत 'अमन्दमानन्दं संविदन् साम्प्रतमस्मी'ति प्रत्ययात्।

ज्ञानत्व है या स्मृतित्वाभाववत् ज्ञानत्व है अथवा स्व से [1]अव्यवहित पूर्वक्षण में होनेवाली उत्पत्ति से नियत (व्यापक) है असाधारण कारण जिसका, ऐसा बुद्धित्व है ?

इनमें प्रथम पक्ष (ज्ञानत्व-व्याप्य जाति) युक्त नहीं; क्योंकि अनुभूतित्व-जाति में कोई प्रमाण नहीं है।

निर्वचनकर्ता—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द, इन चार प्रकार के ज्ञानों में 'अनुभवामि' इत्याकारक जो अनुगत प्रतीति होती है, वही अनुभूतित्वजाति में प्रमाण है।

खण्डनकर्ता—माघमास में प्रातःकाल सिता (गङ्गा) और असिता (यमुना) इन दो नदियों के सङ्गम में स्नानकर्ता पुरुष को 'सिताऽसिते सरिते यत्र सङ्गते, तत्राऽऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति' इत्यादि श्रुति-शब्दों से भाविस्वर्ग-सुखविषयक शाब्दज्ञान होने पर भी उस ज्ञान में 'स्वर्गसुखमनुभवामि' ऐसी प्रतीति नहीं होती। प्रस्युत शीतस्पर्श के त्वाच-प्रत्यक्ष से जन्य दुःखानुभव का 'दुःखमनुभवामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय ही होता है। इसी तरह परस्त्री के उपभोगकाल में आस्तिक कामुक को 'न परस्त्रियं गच्छेत्' इस आप्त-वाक्य से भावी दुःख का शाब्दज्ञान होने पर भी उसे 'दुःखमनुभवामि' ऐसा अनुभव नहीं होता, किन्तु 'पूर्ण सुख का अनुभव करता हूँ' ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है। अतः प्रत्यक्षादि में अनुगत अनुभवत्व-जाति में कुछ प्रमाण नहीं है।

1. प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध के असाधारण कारण सन्निकर्ष, व्याप्तिज्ञान आदि अपने-अपने कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षण में उत्पन्न होते हैं। पर स्मृति का असाधारण कारण संस्कार अपने कार्य (स्मृति) के अव्यवहित पूर्वक्षण में उत्पन्न नहीं होता।

यदि तु शब्दोपदर्शितव्याप्तिजमनुमानमनुभव एव स्यात्, तर्हि 'सुखं दुःखं वाऽनुभवामी'ति तयोः प्रत्ययः स्यात् ।

अथ मन्यसे—साक्षात्कारमनुभवार्थमनुरुद्ध्य तयोर्नैवमभिधानमव्यवहारौ शब्दजानुमानापेक्षौ तु विमर्शकस्य स्यातामेव ताविति । तर्हि साक्षात्कारिणि

निर्वचनकर्ता—'सिताऽसिते सरिते यत्र' इत्यादि श्रुतिवाक्य से सितासिता-स्नान में सुख-साधनता का ही शाब्दबोध होता है। साधनता में सुख विशेषणरूप से भासता है। फलतः जैसे 'पर्वतमनुभवामि' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, वैसे ही प्रकृत में भी 'सुखमनुभवामि' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता। किन्तु 'सुखसाधनतामनुभवामि' ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है। अतः प्रकृत स्थल में 'अनुभवामि' इस ज्ञान के न होने पर भी अन्यत्र सभी शाब्दस्थलों में 'अनुभवामि' ऐसा ज्ञान होने के कारण अनुभूतित्वजाति में कोई बाधक नहीं है।

खंडनकर्ता—उक्त श्रुतिवाक्य से 'यत्र यत्र सितासिता-सम्भेदस्नानं, तत्र तत्र भावि सुखम्' ऐसा व्याप्तिज्ञान होकर 'अहं स्वर्गी भविष्यामि, सिताऽसिता-सम्भेद-स्नायित्वात्, इन्द्रादिवत्' इत्यादि अनुमिति होने पर भी 'अनुभवामि' ऐसी प्रतीति नहीं होती। किन्तु स्नान-काल में 'शीतदुःखमनुभवामि' ऐसी ही प्रतीति होती है। हाँ, 'भावि-सुखं शाब्दयामि या अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय अवश्य होता है।

यदि शाब्द-बोध या अनुमिति भी अनुभव है, तो 'अनुभवामि' इत्याकारक प्रत्यय अवश्य होना चाहिए। किन्तु होता नहीं, अतः अनुमान करना चाहिए कि शाब्द तथा अनुमिति अनुभूति नहीं हैं।

निर्वचनकर्ता—उक्त स्थल में 'अनुभव' शब्द का अर्थ साक्षात्त्व-जाति ही मानते हैं। अतः शाब्द या अनुमिति में अनुभवत्वव्यवहार नहीं होता। यदि विचार किया जाय, तो प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दज्ञान में अनुभवत्वजाति होने से शाब्द तथा अनुमिति में भी अनुभवत्वव्यवहार होता ही है।

खंडनकर्ता—यदि साक्षात्त्व को ज्ञान में अनुभव-शब्द के प्रयोग का कारण मानें, तो प्रत्यक्ष में अनुभवत्वजाति की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि वहाँ अनुभवत्वव्यवहार तो प्रत्यक्षत्व से ही हो जाता है। फिर प्रत्यक्ष में अनुभवत्व जाति रहती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। किञ्च—ऐसा मानने पर अनुभूतिशब्द के दो अर्थ हो जाने से अननुगम

ज्ञानेऽनुभवप्रत्ययव्यवहारौ साक्षात्त्वनिबन्धनाविति तत्रानुभवत्वजातिकल्पनायां न प्रयोजनप्रमाणे इत्यनुभूत्यर्थभेदाल्लक्षणाऽननुगमो दोषः।

अथ स्मृतिव्यावृत्तेन रूपेण यः प्रत्यक्षादिष्वनुभव इत्यनुगतावगमः, स साक्षात्कारित्वादनुपपन्नः। ततश्च साक्षात्कार्यसाक्षात्कारिविशेषसाधारणमनुभूतित्वमन्यद्देष्टव्यमित्युच्यते। तदपि न युक्तम्; पदार्थान्तरव्यावृत्तेन रूपेण यस्तदितरेष्वनुगतप्रत्ययस्तद्व्यवहारो वा, तत्र तदेव रूपं निमित्तम्, न तु जातिः काचित्तदनुरोधात्कल्प्यते। तथा सति अनक्षपदार्थेभ्यो घटादिभ्या व्यावृत्तेन रूपेण विभीतकादिषु साम्यावगमादक्षत्वादिजातिः कल्प्या प्रसज्येत।

इतोऽपि नानुभूतित्वं नाम स्मृतिव्यावृत्ता जातिः। तथाहि—'घटः स एवायमि'ति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते, सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्, एकमेव वा विज्ञानमंशे स्मृतिरंशे चानुभवः, उत स्मृतिरेव, आहोस्वित् अनुभव एव ?

हो जायगा। प्रत्येक को अर्थ मानने पर समुदाय में और समुदाय को अर्थ मानने पर प्रत्येक में अव्याप्ति हो जायगी।

निर्वचनकर्ता—प्रत्यक्षादि-चतुष्टय में होनेवाली 'स्मृतिभिन्नं ज्ञानम्' इत्याकारक अनुगतप्रतीति साक्षात्त्व-जाति से नहीं हो सकती। अतः उसके अनुरोध से अनुभूतित्व जाति माननी ही पड़ेगी। *खंडनकर्ता*—प्रत्यक्षादि-चतुष्टय में 'स्मृति-भिन्नम्' यह जो अनुगत प्रतीति होती है, उसमें स्मृतिभिन्न-ज्ञानत्व ही निमित्त है। अतः उसके अनुरोध से अनुभूतित्व जाति की कल्पना उचित नहीं। अन्यथा पासा, विभीतक तथा इन्द्रिय आदि में भी 'अनक्ष-पदार्थभिन्नम्' इत्याकारक अनुगत प्रतीत होती है। इसलिए उसके अनुरोध से अक्षत्व-जाति भी मान ली जायगी।

किञ्च—स्मृतित्व अनुभूतित्व को छोड़कर स्मृति में है, अनुभूतित्व स्मृतित्वको त्यागकर प्रत्यक्षादि चार में है और दोनों प्रत्यभिज्ञा में हैं, इस तरह सङ्कर-दोष होने से भी अनुभूतित्व जाति हो ही नहीं सकती।

समर्थनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा में अनुभूतित्व तथा स्मृतित्व दोनों हैं, इसमें प्रमाण न होने से सङ्कर नहीं है। फलतः अनुभूतित्व जाति हो ही सकती है। *खंडनकर्ता*—श्रवण कीजिये, 'स एव अयं घटः' यह जो प्रत्यभिज्ञा होती है, क्या वह स्मृति और अनुभव दो ज्ञान हैं अथवा एक ही ज्ञान? या एक अंश में स्मृति और एक अंश में अनुभव है? अथवा स्मृति ही है किंवा अनुभव ही?

आद्ये य एष प्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थाविशिष्टादिदन्ताविशिष्टस्याभेदः प्रकाशते, स स्मृतावन्तर्भावयितुमशक्यः, अननुभूतचरत्वेन संस्कारानुपनेयत्वात् ।

अत एव न तृतीयोऽपि । नाप्यनुभवेऽन्तर्भावयितुमसौ शक्यः, प्रत्यभिज्ञानकालेऽनुभवेन प्रागवस्थाया असंवेदनात् । संवेदने वाऽनुभव एवेति शेषपक्षेऽन्तर्भावः स्यात्, स चाग्रे दूषयिष्यते ।

अत एव न द्वितीयः । प्रागवस्थाविशिष्टाभिन्नत्वांशे अनुभवस्वीकारश्चेत् प्रागवस्थावैशिष्ट्यमप्यनुभवविषय एव निविष्टमिति चरमपक्षप्रवेशः ।

अथ प्रागवस्थाविशिष्टादभिन्न इत्ययमर्थोऽप्यनेकांशः, तत्र प्रागवस्थाविशिष्ट इत्यत्रांशे स्मृतित्वम्, अभिन्न इत्यत्रांशे चानुभवत्वमित्युच्यते । एवं तर्हि प्रागवस्थाविशिष्टः स इदन्ताविशिष्टोऽभिन्नश्चायमिति स्मृत्यनुभूतिभ्यामावेदितं भवति,

यदि प्रत्यभिज्ञा को स्मृति और अनुभव उभयरूप मानें, तो उसमें प्रागवस्थाविशिष्ट से इदन्ता-विशिष्ट का जो अभेद भासता है, उसका अन्तर्भाव कहाँ होगा ? स्मृति में तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह अंश पूर्वकाल में अनुभूत न होने से उसका संस्कार ही नहीं है ।

अतएव 'प्रत्यभिज्ञा स्मृति है' यह तृतीय पक्ष भी असङ्गत है । फिर अनुभव में भी अभेद के भान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञाकाल में चक्षुःसन्निकर्ष न होने से प्रागवस्था अनुभव का विषय नहीं रहती । यदि प्रागवस्था को अनुभव का विषय मानें, तो 'प्रत्यभिज्ञा अनुभव ही है' इस चतुर्थ पक्ष में प्रवेश हो जायगा । उस पक्ष का खण्डन आगे करेंगे ।

अतएव 'प्रत्यभिज्ञा के एक अंश में अनुभूति तथा दूसरे अंश में स्मृति है' यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि यदि प्रागवस्थाविशिष्ट के साथ इदन्ताविशिष्ट के अभेद को अनुभव का विषय मानें, तो विशेषण में प्रविष्ट प्रागवस्था का वैशिष्ट्य भी अनुभव का ही विषय हो जायगा । अतः उसका अन्तिम पक्ष में अन्तर्भाव हो जायगा ।

निर्वचनकर्ता—'प्रागवस्थाविशिष्ट से अभिन्न यह है' यह भी दो अंशों से युक्त है । उनमें 'प्रागवस्थाविशिष्ट' यह अंश स्मृति है और 'अभेद' एवं इदन्तावैशिष्ट्य ये अंश अनुभव हैं । *खंडनकर्ता*—यदि ऐसा है, तो 'प्रागवस्था से विशिष्ट वह' इतना अर्थ स्मृति-अंश का विषय है तथा 'इदन्ता-विशिष्ट से अभिन्न यह' इतना अर्थ अनुभव-अंश का विषय है, 'प्रागवस्था से विशिष्ट के साथ अभेद' किसी अंश का

प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयतया त्वभेदः केनापि न प्रकाशित इति य एव प्रागवस्था-विशिष्टः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात्।

अथानुभवेन योऽसौ अनुभूयमानधर्म्याश्रयतया अभेदो बोधितः, स कोट्यन्तरमनालम्ब्य न पर्यवस्यतीति केनचित् खलु कस्यचिदभेदो भवति। ततः स्मृत्यंशोपनीतमेव सन्निधानात् कोट्यन्तरं प्रागवस्थाविशिष्टरूपमालम्बत इत्यभेदस्य प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयतासिद्धिरिति।

तदेतत्तुच्छतरम्। 'कोट्यन्तरमालम्बते' इति किं कोट्यन्तराश्रितो भवति, उत कोट्यन्तराश्रिततया ज्ञायत इति? नाद्यः; अभेदस्येदानीं प्रागवस्थाविशिष्ट-धर्म्याश्रयेणोत्पत्तौ पूर्वं प्रागवस्थाविशिष्टेदन्ताविशिष्टयोर्भेदः स्यात्। द्वितीये तु यदेव कोट्यन्तराश्रिततया इदन्तावच्छिन्नधर्म्यभेदस्य ज्ञानं तत्स्मृतौ नान्तर्भावयितुं शक्यम्, नाऽप्यनुभवांश इत्युक्त एव दोषः।

विषय नहीं। अतः 'जो प्रागवस्था से विशिष्ट है, वही इदन्ता-विशिष्ट है,' यह प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप नहीं हो सकता।

निर्वचनकर्ता—अनुभव-अंश का विषय जो अभेद है, वह अन्य कोटि (प्रतियोगी) के अवलम्बन के बिना उसका विषय हो नहीं सकता; क्योंकि किसीसे ही किसीका अभेद होता है। तब तो वह सन्निधान होने से स्मृति-अंश का विषय प्रागवस्था-विशिष्ट का ही प्रतियोगीरूप से आलम्बन करेगा। इस तरह अभेद प्रागवस्था-विशिष्टप्रतियोगिक सिद्ध हो ही जाता है।

खण्डनकर्ता—'कोट्यन्तर का आलम्बन करता है' इस पंक्ति का अर्थ क्या है—'क्या वह अभेद इस समय प्रागवस्था-विशिष्ट का प्रतियोगीरूप से आश्रयण करता है' अथवा 'इदानीं प्रागवस्था-विशिष्ट के प्रतियोगित्व-रूप से ज्ञात होता है?' यदि प्रथम पक्ष मानें, अर्थात् अभेद यदि इदानीं प्रागवस्था-विशिष्ट-प्रतियोगितया उत्पन्न होता है, तो इससे पूर्व प्रागवस्था-विशिष्ट से इदन्ता-विशिष्ट का भेद सिद्ध होगा। यदि द्वितीय पक्ष मानें, तो जो प्रागवस्था-विशिष्ट के साथ इदन्ता-विशिष्ट के अभेद का जो ज्ञान होता है, वह स्मृति या अनुभव में पूर्वोक्त प्रकार से अन्तर्भूत नहीं हो सकता। अतः उक्त दोष होगा।

किञ्च—यदा प्रत्यभिज्ञानं 'सः' इत्यंशे स्मृतिः 'अयमि'त्यंशे चानुभव इत्येकं ज्ञानमभ्युपेयते, तदा धर्मिणमादायापि स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वारः। तथा हि—संस्कारेण तत्तामात्रं वाऽपनीयेत, तत्ताविशिष्टो वा धर्मी? आद्ये स इति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात्, तत्तायाः केवलायाः संस्कारेणोपनीतत्वात्। नापि द्वितीयः, तथा सति 'अयम्' इत्यनुभवांशेऽपि धर्मिप्रकाशो वक्तव्य एव। अन्यथा इदन्तामात्र-प्रकाशेऽयमिति तच्छरीरं न स्यात्।

एवञ्च संस्कारस्य चेन्द्रियस्य च धर्मिप्रतीतिहेतोरुभयस्योपनिपाते किं विशेष्यांशे भिन्नाभ्यां ज्ञानाभ्यामुत्पत्तव्यम्, उत कारणद्वयसम्भेदादभेदभाजा ज्ञानेन? प्रथमे प्रत्यभिज्ञानस्य एकज्ञानव्यक्तिताभ्युपगमव्याघातः, भेदपक्षोक्तदूषणापातश्च। द्वितीये धर्म्यंशे प्रत्यभिज्ञायाः स्मृतित्वमप्यनुभवत्वमपीति अनुभूतिस्मरणसङ्कर इति विषयव्यवस्थयाऽपि नियमो भग्नः।

किञ्च—जब प्रत्यभिज्ञा को 'सः' इस अंश में स्मृति तथा 'अयम्' इस अंश में अनुभव मानें, तो धर्मी को भी लेकर स्मृतित्व और अनुभवत्व का संकर होगा। देखिये, संस्कार से केवल तत्ता उपनीत होती है अथवा तत्ता-विशिष्ट धर्मी? यदि तत्तामात्र उपनीत होता है, तो प्रत्यभिज्ञा का आकार 'सः' न होना चाहिए, क्योंकि केवल तत्ता ही संस्कार से उपनीत होती है। यदि तत्ता-विशिष्ट धर्मी उपनीत होता हो, तो 'अयम्' इस अनुभव-अंश में भी धर्मी का भान मानना ही पड़ेगा। अन्यथा इदन्ता-मात्र का प्रकाश होने पर 'अयम्' यह प्रत्यभिज्ञा का आकार ही नहीं होगा।

यदि धर्मी की प्रतीति का हेतु संस्कार तथा इन्द्रियसन्निकर्ष दोनों को मानें, तो क्या उनसे विशेष्यांश में स्मृति और अनुभव दो ज्ञान उत्पन्न होंगे अथवा दो कारणों के मेल से एक ही ज्ञान? प्रथम पक्ष में 'प्रत्यभिज्ञा एक ज्ञान है' इस कथन से व्याघात (विरोध) हो जायगा। साथ ही तत्ता-विशिष्ट के साथ इदन्ता-विशिष्ट का अभेद किस ज्ञान का विषय हो, इसमें कोई प्रमाण न होने से वह किसी का भी विषय न होगा। यदि द्वितीय पक्ष मानें, तो प्रत्यभिज्ञा में धर्मी-अंश में स्मृतित्व और अनुभवत्व दोनों होने से स्मृति और अनुभव का संकर हो जायगा। फलतः तत्ता-इदन्तारूप विषय की व्यवस्था (भेद) से भी स्मृतित्व और अनुभवत्व के असङ्कर का नियम भग्न ही है। अर्थात् केवल एक अधिकरण में समावेश होने से संकर नहीं होता, किन्तु एक अवच्छेद से समावेश होने से ही सङ्कर होता है—यह भी आप नहीं कह सकते। क्योंकि उक्त प्रकार से धर्मीरूप एक ही अवच्छेद से समावेश है। अतः अनुभूतित्व जाति नहीं है।

अथोच्यते—मा भूद्विषयोपाधिभेदाद् व्यवस्थानम्, उपाध्यन्तरात्तु भविष्यति । तद्यथा संस्कारजत्वमादाय स्मृतित्वव्यवस्थितिः, इन्द्रियसन्निकर्षजत्वमादाय चानुभवत्वव्यवस्थानमिति विरोधपरिहारोऽस्तु । न ; प्रमात्वसामान्यानङ्गीकारे प्रमारूपताया विषयव्यवस्थित्यैवोपगमेन उपाध्यन्तरोपन्यासेऽपि स्मृतित्वानुभूतित्वयोरेकस्मिन्नेव धर्मिण्यर्थे निवेशात् प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकविषयतैव ।

किञ्च—ज्ञानविकल्पानामध्यात्मं भावाभावसंवेदनात् स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्द्वयोरपि प्रत्यभिज्ञायां स्वतः प्रतिभानेन विषयनिरूपणव्यवस्थित्यनङ्गीकारे स्मृतित्वादेरिदन्तायामपि स्मृत्यवगमप्रसङ्गात् ।

यदि च संस्कारजत्वमेव स्मृतित्वम्, तदा तस्यैव विरोधेऽभिधीयमाने स एव विरोधसामञ्जस्याय उपाधिरुपन्यस्यत इति नान्यस्य चेतसि निविशते ।

निर्वचनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा में विषय-भेदरूप हेतु से भले ही स्मृतित्व तथा अनुभवत्व की व्यवस्था न हो, अन्य-उपाधि (निमित्त) से तो होगी ही । अर्थात् संस्कारजत्व अवच्छेद से स्मृतित्व की तथा इन्द्रिय-सन्निकर्षजत्व अवच्छेद से अनुभवत्व की व्यवस्था होगी । इस तरह स्मृतित्व तथा अनुभवत्व का सङ्कर नहीं होगा । अर्थात् एक ही अवच्छेद से एक अधिकरण में स्थिति के होने पर सङ्कर होता है । यहाँ यद्यपि दोनों एक ही अधिकरण में हैं, परन्तु अवच्छेदक भिन्न हैं, अतः संकर नहीं होगा ।

खण्डनकर्ता—आप प्रत्यक्षत्व के साथ सङ्कर होने से प्रमात्व को जातिरूप नहीं मानते, किन्तु तत्त्वानुभूतित्वादि रूप ही मानते हैं । अतः यदि संस्कारजत्व, इन्द्रियजत्व आदि उपाधियों को स्मृतित्व और अनुभवत्व का अवच्छेदक मानें, तो प्रत्यभिज्ञा में एक ही धर्मी-अंश में स्मृतित्व और अनुभूतित्व दोनों का सन्निवेश होने से प्रत्यभिज्ञा के एक ही धर्मी-अंश में प्रमात्व और अप्रमात्व का भी सन्निवेश हो जायगा, क्योंकि अनुभव प्रमा है तथा स्मृति अप्रमा ।

किञ्च—ज्ञान-भेदों के भाव (अनुभूतित्व आदि धर्म) और अभाव, दोनों ही मानस-प्रत्यक्ष के विषय होने से यदि स्मृतित्वादि की व्यवस्था विषय के अधीन न मानें, तो इदन्त्व-अंश में भी स्मृतित्व का और तत्ता-अंश में भी अनुभवत्व का भान हो जायगा ।

किञ्च—प्रत्यभिज्ञा के संस्कारजत्व-अंश में स्मृतित्व तथा इन्द्रियजत्व-अंश में अनुभवत्व दोनों धर्म रहते हैं, यह कथन भी उचित नहीं; क्योंकि संस्कारजत्व ही

अथान्यत् स्मृतित्वं नाम, तदाऽप्यनुपपत्तिः। तथा हि—संस्कारजत्वं संस्कारादनन्तरं नियमेन भावः। नियतत्वञ्च नानाव्यक्तिगतमेकं रूपं सङ्ग्राहकमक्रोडीकृत्य असम्भवीति स्मृतित्वेनैव संस्कारजत्वं वक्तव्यम्। तथा च संस्कारजत्वव्यवस्थितौ स्मृतित्वमुपाधिः, स्मृतित्वव्यवस्थितौ च संस्कारजत्वमित्यन्योन्याश्रयः। तस्मात् स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वार एव।

अपि च स्मृत्यनुभवयोर्ये कारणसामग्र्यौ, ते प्रत्यभिज्ञायां मन्तव्ये न वा? न चेत् कथमंशतोऽपि स्मृतित्वमनुभवत्वञ्च प्रत्यभिज्ञानस्य। एवमेव तथात्वेऽतिप्रसङ्गात् स्मृत्यनुभूत्योः स एव सङ्करः। प्रथमे तु पृथगेव कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, प्रत्येकं स्वस्वकार्ये समर्थत्वात्, सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुत्वेनावधारितत्वात्।

अथ यत्र ते पृथक् जायेते तत्र पृथगेव कार्यम्। प्रत्यभिज्ञायान्तु तयोर्युगपज्जातत्वेन सम्भूय जननात्करम्बितकार्योत्पत्तिः। यद्यपि घटपटादिसामग्र्योर्नैवं दृश्यते,

स्मृतित्व है। अतः 'संस्कारजत्व-अंश में स्मृतित्व है' इस वाक्य का 'स्मृतित्व-अंश में स्मृतित्व है' यही अर्थ हुआ, जो आत्माश्रय होने से अनुचित है।

निर्वचनकर्ता—स्मृतित्व जाति या तत्तोल्लेखि ज्ञानत्व है, अतः आत्माश्रय नहीं है। *खण्डनकर्ता*—संस्कारजत्व संस्कार के अव्यवहित उत्तरकाल में वृत्तित्व ही है। कार्यतावच्छेदक धर्म स्वीकार के बिना वह अनेक व्यक्तियों में रह नहीं सकता। अतः स्मृतित्व को ही कार्यता का अवच्छेदक मानना पड़ेगा। तब तो स्मृतित्वावच्छेदेन संस्कारजत्व और संस्कारजत्वावच्छेदेन स्मृतित्व मानने में अन्योन्याश्रय हो जायगा।

अपिच—स्मृति और अनुभव की जो कारण-सामग्रियाँ हैं, वे प्रत्यभिज्ञा में हैं या नहीं? यदि नहीं, तो अंशतः भी प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभव कैसे होगी? यदि संस्कारजत्व के बिना ही स्मृतित्व मानें, तो स्मृति में अनुभूतित्व और अनुभूति में स्मृतित्व का अतिप्रसंग होने से प्रत्यभिज्ञा से सम्पूर्ण अंश में स्मृतित्व तथा अनुभवत्व मानने पड़ेंगे। यदि दोनों की सामग्री हो, तो अलग-अलग कार्य होंगे; क्योंकि सामग्री अपने-अपने कार्य में ही समर्थ है। अन्यथा सामग्री-भेद से कार्य-भेद का निश्चय नहीं होगा।

समर्थनकर्ता—जहाँ पृथक्-पृथक् सामग्री रहती है, वहाँ कार्य भी पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रत्यभिज्ञा में दोनों सामग्रियाँ मिलकर कार्य उत्पन्न करती हैं। अतः चित्र-कार्य उत्पन्न होगा। यद्यपि घट-पटादि सामग्रियाँ मिलकर करम्बित (चित्र) कार्य उत्पन्न

तथापि तद्विलक्षणस्वभावत्वादनयोरीदृशत्वमुपपद्यते। न हि एकस्य यादृक् पदार्थस्य स्वभावस्तादृगन्यस्यापि सर्वस्य भवति, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गादिति।

नैतदस्ति। यत्र हि मिलितत्वं तयोस्तत्र किं परस्परसहकारित्वमनयोरेष्टव्यं न वा? न चेत्, परस्परमेलकलक्षणो विशेषोऽनुपयोगी, कार्यजननं प्रति मिथः सहकारिभावविरहेणाप्रयोजकत्वात्। ततश्चाविशेषात् पृथगेव कार्यं प्रसज्येत। अथ परस्परसहकारित्वं तयोरिष्यते; तदा अनुभवांशेऽपि संस्कारस्य व्यापारः, स्मरणांशेऽप्यक्षस्येति नियामकत्वाभिमतयोस्तयोरुभयांशे साधारण्यात् स्मृत्यंशेऽप्यनुभूतिरनुभूत्यंशेऽपि स्मरणमिति वज्रलेपायितं प्रत्यभिज्ञायामनुभूतिस्मृतिसङ्करेणेति।

नाऽप्यनुभव एवेति पक्षः; तथा सति तत्तावच्छिन्नस्याभेदाश्रयतायां न संस्कारो नेन्द्रियसन्निकर्षश्चेति तदविषयत्वापातः।

नहीं करतीं; तथापि अनुभव और स्मृति की सामग्री का स्वभाव विलक्षण है। अतः वह मिलकर चित्र-कार्य कर सकती है। क्योंकि एक वस्तु का जैसा स्वभाव है, वैसा ही अन्य पदार्थों का नहीं होता। अन्यथा जगत् की विचित्रता न रह जायगी।

खण्डनकर्ता—जहाँ स्मृति तथा अनुभव दोनों की सामग्रियाँ मिलती हैं, वहाँ उन में परस्पर सहकारित्व है या नहीं? यदि नहीं, तो चित्र-कार्य की उत्पत्ति में सामग्री-सम्मेलनरूप विशेष अनुपयोगी होगा। क्योंकि परस्पर सहकार न होने से वह अप्रयोजक है। फिर अप्रयोजक होने से अलग-अलग कार्य की आपत्ति होगी। यदि परस्पर दोनों सामग्रियों में सहकार इष्ट हो, तो प्रत्यभिज्ञा के अनुभवांश में संस्कार का और स्मरणांश में इन्द्रिय का व्यापार है, फलतः सामग्रि द्वयरूप नियामक के उभयांश-साधारण होने से स्मृति-अंश में अनुभवत्व तथा अनुभव-अंश में स्मृतित्व है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्व और अनुभवत्व दोनों का सङ्कर वज्र-लेपसा स्थिर हो जायगा।

'प्रत्यभिज्ञा अनुभव है' यह चरम पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा को अनुभव मानने पर तत्तावच्छिन्न के अभेद में न संस्कार है और न इन्द्रिय का सन्निकर्ष ही, अतः अभेद प्रत्यभिज्ञा का विषय नहीं होगा।

१. [illegible]मतनिरासः।

न च संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या सम्बद्धविशेषणतया तद्ग्रहः ; क्वचित् सोऽयं न वेति तर्हि संशयो न स्यात् ।

दोषवशात्तत्र तत्प्रकाशो न सम्बद्धविशेषणत्वादिति चेन्न । विनाऽपि संस्कारं दोषवशात्तदापत्तेः । वस्तुप्रकाशिनि च दोषत्ववाचोयुक्त्यनिरुक्तेः ।

क्वापि तस्यावस्तुप्रकाशित्वाद्दोषश्चेत्, कथमक्षादेरपि तन्न स्यात् । विशिष्टत्वेन तथात्वस्य प्रकृतेऽप्यपरिहारात् । न हि विनैव कुतोऽपि विशेषादस्यावस्तु-

समर्थनकर्ता—चक्षु से ही संयुक्त-संयुक्त-समवेत-विशेषण-विशेषणतारूप सन्निकर्ष-द्वारा इदन्ता से उपरक्त अभेद भी भासेगा । देखिये, इन्द्रिय-संयुक्त मन तथा मन से संयुक्त आत्मा है, आत्मा में समवेत (समवाय संबंध से रहनेवाला) संस्कार है, संस्कार में विशेषण घट और घट में विशेषण तत्ता-विशिष्ट अभेद है । इस प्रकार उक्त सन्निकर्ष से अभेद के अनुभवविषय होने में कोई क्षति नहीं है । *खण्डनकर्ता*—उक्त सन्निकर्ष को यदि प्रत्यक्षरूप निश्चय का कारण माना जाय, तो कहीं भी 'सोऽयं न वा' यह प्रत्यभिज्ञारूप सन्देह नहीं होगा, क्योंकि सन्निकर्ष से सर्वत्र प्रत्यभिज्ञारूप निश्चय ही होता है ।

समर्थनकर्ता—प्रकृत स्थल में यद्यपि उक्त सन्निकर्ष है; तथापि दोष होने से सन्देह-रूप (ज्ञान) प्रकाश ही होता है । *खण्डनकर्ता*— फिर तो जहाँ संस्कार (भावना) तथा उक्त सन्निकर्ष न हों, वहाँ भी दोष से प्रत्यभिज्ञारूप सन्देह होना चाहिए ।

समर्थनकर्ता—जहाँ दोष, संस्कार और सन्निकर्ष तीनों हों, वहाँ तो प्रत्यभिज्ञारूप उक्त सन्देह होता है । किन्तु जहाँ दोष न होकर सन्निकर्ष और संस्कार ही हों, वहाँ निश्चयरूप प्रत्यभिज्ञा ही होती है । *खंडनकर्ता*—वस्तु के अप्रकाशक को 'दोष' कहते हैं । सन्देह-स्थल में तो वस्तु का प्रकाश होता है, अतः वहाँ दोष का लक्षण ही कैसे जायगा ?

समर्थनकर्ता—कहीं-कहीं ('इदं रजतम्' इस भ्रम या सन्देह की ही अन्य कोटि में) अवस्तु का प्रकाशक होने से दोष-लक्षण का समन्वय हो जायगा । *खंडनकर्ता*—यदि कहीं-कहीं अवस्तु के प्रकाशक होने से ही दोषत्व मान लें, तो 'इदं रजतम्' इस भ्रम-स्थल में अवस्तु का प्रकाशक होने से इन्द्रिय भी दोष हो जायगा ।

समर्थनकर्ता—शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस भ्रम में दोष-विशिष्ट इन्द्रिय कारण है । अतः 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिः विशेष्यमुपसंक्रामति' इस न्याय से विशेषण ही दोष है, इन्द्रिय नहीं । *खंडनकर्ता*—फिर तो इसी रीति से चक्षुरादिविशिष्ट दोष को सन्देह या भ्रम का कारण मानकर 'नागृहीतविशेषणा' इस न्याय से इन्द्रिय ही दोष क्यों न हो ।

प्रकाशिता । सत्यप्यर्थे दोषादवस्तुन एव प्रकाशे संशयात् प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यादेरसम्भवापत्तेः ।

वस्तुविषयत्वेऽपि दोषादनिश्चयतेति चेन्न । वस्तुतस्तस्यासङ्कीर्णत्वात्तस्य प्रकाशे तदेव संशयैककोटौ प्रकाशितमिति कुत्र तदनिश्चयता । निश्चयार्थस्य च संशयकोटावखण्डने संशये तदभावाधिकग्राहित्वेऽपि निश्चयत्वस्याप्रत्यूहत्वादेव अभावनिश्चयः कोट्यन्तरं केवलमधिकं स्यात् ।

जातिः संशयत्वम्, तत्प्रयोजकश्च दोष इति चेन्न । 'इदं तद्वा न वा' इति संशयकोट्यर्थनिर्देशसमन्वयेन वा-शब्दप्रतीतिव्यवहारयोरभावापत्तेः । प्रतीत्या सह वाकारार्थसम्बन्धे 'प्रत्येमि न वे'ति तदापत्तेः । वाकारार्थस्य प्रतीतिगतत्वेऽपि

क्योंकि दोष भी किसी विशेष (इन्द्रियादि) के बिना अवस्तु का प्रकाश नहीं करता ।

समर्थनकर्ता—सन्देह या भ्रम-स्थल में वस्तु है, परन्तु दोष वश वह भासती नहीं, अवस्तु ही भासती है । *खंडनकर्ता*—यदि सन्देह में वस्तु नहीं भासती, तो वस्तु के सन्देह से बुद्धिमान् की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए ।

समर्थनकर्ता—प्रवृत्ति के अनुरोध से वस्तु सन्देह का विषय अवश्य होती है, परन्तु सन्देह में जो अनिश्चयाकारत्व है, उसमें दोष ही कारण है । *खंडनकर्ता*—धर्मी संकीर्ण (स्थाणु और पुरुष उभयाकार) नहीं, किन्तु एकरूप ही है । यदि वही सन्देह में भासता है, तो सन्देह अनिश्चयरूप कहाँ रहा, जिसका कारण दोष होगा ?

समर्थनकर्ता—यदि पुरुषरूप धर्मी में केवल पुरुषत्व का ही भान होता, तो सन्देह को निश्चय अवश्य कहते । परन्तु यहाँ तो स्थाणुत्व या पुरुषत्वाभाव का भी उल्लेख होता है । अतः वह निश्चय नहीं, अनिश्चयरूप ही है और उसका कारण दोष है ।

खंडनकर्ता—निश्चय के विषय पुरुषत्वविशिष्ट पुरुष का बाधक प्रतीति से खण्डन तो होता नहीं है, अतः उस अंश में सन्देह भी निश्चयरूप ही है । सन्देह में जो अभाव-कोटि अधिक भासती है, उस अंश में भी विपर्ययरूप निश्चय ही है । किसी अंश में अनिश्चय रूप नहीं है । फिर दोष किसका कारण है ?

समर्थनकर्ता—विरुद्ध उभयकोटिक सन्देह निश्चय होने पर भी एककोटिक निश्चय से विलक्षण है, यह तो आप अवश्य मानेंगे । हम उसी वैलक्षण्य को सन्देहत्व' कहते और दोष को उसका प्रयोजक मानते हैं । *खंडनकर्ता*—'स्थाणुः पुरुषो वा' इस सन्देह-कोटि के वाचक स्थाणु और पुरुष शब्द के सामानाधिकरण्य' से 'वा'

निश्चयत्ववत् 'स्थाणुमानय पुरुषं वे'ति स्थाणुपुरुषगतपाक्षिकव्यवहारानापत्तेः। तस्माद् वाकारार्थस्य ज्ञानधर्मत्वे साक्षात्कारित्वादिवद्विषयानन्वयापत्तिरेवेति ।

न च प्रत्यासत्तौ सत्यामपि प्रत्यासत्त्यपुरस्कारान्मनसा न ग्रहणं तत्र दोषवशादित्यस्तु । दोषे सत्यपि वस्तुनः संस्कारेण, संस्कारस्य चाऽऽत्मना, तस्य च बाह्येन्द्रियेण, प्रत्यासत्त्यपेक्षण एव तदर्थप्रकाशादिनियमोपपत्तेः कः पुनः प्रत्यासत्त्यपुरस्कारस्त्वन्मते स्यात् । यदि तु संस्कारप्रत्यासत्तिमनपेक्ष्य तथा सन्दिह्यते, तदा अननुभूय प्रस्मृत्य वा तथा सन्दिह्येत ।

वस्तुतस्तु मनसा संस्काराग्राहिणा, चक्षुरादिना च आत्माऽग्राहिणा, तादृशप्रत्यासत्त्या ग्रहणानुपपत्तेः, नियमेन तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकेतरस्य ग्रहणे

शब्द की प्रतीति (श्रावण प्रत्यक्ष) या व्यवहार देखा जाता है । अतः 'वा' शब्द के अर्थ अव्यवस्थितत्व का अन्वय भी उन्हीं दो कोटियों में होता है । विषय के अव्यवस्थाकृत इस निश्चय से ही सन्देह में वैलक्षण्य है, सन्देहत्व-जातिकृत नहीं ।

समर्थनकर्ता—प्रतीतिगत अव्यवस्थिति 'वा' शब्द का अर्थ है, विषयगत अव्यवस्थिति नहीं। अतः हम तो प्रतीतिगत अव्यवस्थिति को ही सन्देहत्व-जाति कहते हैं । *खंडनकर्ता*—यदि प्रतीतिगत अव्यवस्थिति वाशब्द का अर्थ होता, तो 'प्रत्येमि न वा' यही आकार होता, 'स्थाणुर्न वा' यह आकार न होता । किञ्च—यदि 'वा' शब्दार्थ अव्यवस्थितत्व को प्रतीति का धर्म मानें, तो साक्षात्त्व और प्रमात्व के तुल्य विषय के साथ 'वा'शब्दार्थ का अन्वय नहीं होगा ।

समर्थनकर्ता—उक्त प्रत्यासत्ति है सही, परन्तु दोष से उसका तिरस्कार होने पर निश्चयरूप प्रत्यभिज्ञा नहीं होती । किन्तु 'इदं तद् वा न वा' इत्याकारक सन्देहरूप प्रत्यभिज्ञा ही होती है । *खंडनकर्ता*—सन्देहरूप प्रत्यभिज्ञा भी दोष होने पर, वस्तु से संस्कार, संस्कार से आत्मा, आत्मा से मन, मन से चक्षु की प्रत्यासत्ति होने पर ही होती है । फिर प्रत्यासत्ति का अपुरस्कार क्या हुआ ? यदि प्रत्यासत्ति की अपेक्षा न कर सन्देहरूप प्रत्यभिज्ञा होती है—ऐसा माना जाय, तो तत्ता-विशिष्ट का पूर्व-काल में अनुभव न होने पर भी इदानीं तत्ताविशिष्ट का स्मरण होने पर सन्देहरूप प्रत्यभिज्ञा भी हो सकती है—यह भी मान लेना चाहिए । क्योंकि जब निर्युक्तिक ही मानना है, तो ऐसा भी क्यों न माना जाय ?

वस्तुतः संस्कार को ग्रहण न करनेवाले मन तथा आत्मा को ग्रहण न करनेवाले चक्षु से उक्त प्रत्यासत्ति द्वारा तत्ताविशिष्ट से इदन्ताविशिष्ट के अभेद का ग्रहण हो

स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणतायाः प्रत्यासत्तित्वनियमात्। अन्यथा आप्यपरमाण्वादौ पृथिवीत्वादेरन्यत्र ग्राह्यतया निरस्तस्वरूपायोग्यत्वस्याभावो दृगादिभिर्गृह्येत। न हि इन्द्रियविहारदेशेषु निष्परमाणुकत्वनियमो युक्ताभ्युपगमः। शब्दाभावप्रत्यक्षत्व-वादिनये श्रोत्रेन्द्रियविशेषणता सप्तमः सन्निकर्षः, न तु तत्र सम्बद्धविशेषणतेत्यतो-ऽपि न व्यभिचारः।

नहीं सकता। क्योंकि जलीय परमाणु में ग्रहण के स्वरूप-योग्य पृथिवीत्व का अभाव चक्षु से गृहीत न हो, इसलिए उस इन्द्रिय से सम्बद्ध विशेषणतारूप प्रत्यासत्ति तत्तत् इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के विषय पदार्थ से घटित ही होती है, अग्राह्य पदार्थ से नहीं, ऐसा नियम है।

समर्थनकर्ता—पृथिवीत्वाभाव के साथ संबद्ध-विशेषणता भी नहीं है, क्योंकि जलीय परमाणु के साथ चक्षुःसन्निकर्ष नहीं है। फलतः जल-परमाणु में पृथिवीत्वाभाव का ग्रहण नहीं होता। अतः 'सम्बद्ध-विशेषणता ग्राह्य पदार्थ से घटित ही होती है' इस नियम को मानना उचित नहीं है। *खंडनकर्ता*—इन्द्रिय-प्रचारस्थल में सर्वत्र ही चतुर्विध परमाणु व्याप्त हैं। अतः जलीय परमाणु के साथ चक्षुःसन्निकर्ष नहीं है, यह कथन उचित नहीं।

समर्थनकर्ता—यह नियम नहीं है कि उस-उस इन्द्रिय से सम्बद्ध-विशेषणता स्वग्राह्य-पदार्थ से घटित ही होती है। क्योंकि घ्राण तथा रसनेन्द्रिय से गन्धाभाव तथा रसा-भाव का घ्राण या रसना से अग्राह्य पुष्प एवं गुड़ से घटित घ्राण-संयुक्त पुष्प-विशेषणता अथवा रसना-संयुक्त गुड-विशेषणता से भी ग्रहण होता है।

खंडनकर्ता—उन-उन गन्ध आदि की ग्राहक इन्द्रियों से अग्राह्य हैं आश्रय जिनके—ऐसे पदार्थ (गन्धादि) प्रतियोगी हैं जिन अभावों के, उनसे इतर पदार्थों का जहाँ ग्रहण होता है, उस स्थल के लिए यह नियम है; गन्धाद्यभाव के ग्रहण के लिए नहीं। शब्दाभाव का प्रत्यक्ष माननेवाले नैयायिक के मत में श्रोत्रेन्द्रियविशेषणता सप्तम सन्निकर्ष है, सम्बद्ध-विशेषणता नहीं। अर्थात् स्वग्राहक इन्द्रियों से अग्राह्य हैं आश्रय जिनके—एवम्भूत पदार्थ हैं प्रतियोगी जिन अभावों के, उनसे इतर स्थल में यह विशे-षण न भी दें; तथापि शब्दाभाव-प्रत्यक्ष में व्यभिचार नहीं होगा। कारण 'स्वग्राह्य-पदार्थ से घटित विशेषणता ही प्रत्यासत्ति है' यह नियम सम्बद्धविशेषणतारूप षष्ठ सन्निकर्ष के लिए है; सप्तम शुद्ध विशेषणता (जो शब्दाभाव के प्रत्यक्ष में है) के लिए नहीं।

न चाऽऽत्मसंयुक्तमनः प्रति पूर्वानुभूतार्थात्मप्रत्यासत्तिरेव संस्कार इति तदतीन्द्रियत्वं न दोषाय, प्रत्यासत्तेरतीन्द्रियाया इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य उपगमादिति स्वीकृते निस्तारः। तथा सति स इत्यंशे चक्षुरादेः प्रत्यासत्त्यभावात् प्रत्यभिज्ञाया अचाक्षुषत्वापातात्। अयमित्यंशो दृगादिना, तदंशस्तु मनसा गृह्यताम्, तदेतदभेदस्तु केनेत्युक्तमप्यावर्तत इति।

एतेन संस्कारः सहकारिमात्रमिन्द्रियस्यातिप्रसङ्गनिवारकः, प्रत्यभिज्ञायां तदर्थ इन्द्रियेणासन्निकृष्ट एवोल्लिख्यते विभ्रमार्थवत्। सन्निकृष्टग्राहिता चेन्द्रियस्य सन्निकर्षसहकार्यवश्यम्भावमात्रम्। तच्चेदमंशसन्निकर्षादेव स्यात्, न तु सर्वग्राह्यसन्निकर्षसहकारितेत्यपि निरस्तम्। 'सोऽयं न वे'ति संशयाभावापातेनैवेति।

समर्थनकर्ता—'स एवाऽहम्' इस प्रत्यभिज्ञा में संस्कार ही आत्म-संयुक्त मन की पूर्वानुभूत आत्मा में प्रत्यासत्ति है। 'स एवाऽयम्' इस प्रत्यभिज्ञा में भी संस्कार ही पूर्वानुभूत घट की प्रत्यासत्ति है। संस्काररूप प्रत्यासत्ति का अतीन्द्रियत्व दोष नहीं है, क्योंकि घट-प्रत्यक्षस्थल में भी चक्षुःसंयोगरूप प्रत्यासत्ति अतीन्द्रिय है। अतः प्रत्यासत्ति अतीन्द्रिय भी मानी जाती है।

खंडनकर्ता—ऐसा होने पर 'सः' इस अंश में प्रत्यभिज्ञा चाक्षुष सिद्ध नहीं होगी।
समर्थनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा 'सः' इस अंश में मानस तथा 'अयम्' इस अंश में चाक्षुष ही है—ऐसा ही मानें, तो क्या हानि है?

खंडनकर्ता—तत्ता-विशिष्ट से इदन्ता-विशिष्ट के अभेद में न संस्कार है और न सन्निकर्ष ही। अतः अभेदांश का न चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा और न मानस ही, यह पूर्वोक्त दोष बना ही रह जायगा।

समर्थनकर्ता—प्रत्यक्ष में यावत् विषयों के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष कारण नहीं, किन्तु कहीं-कहीं यत्किञ्चित् विषय के साथ सन्निकर्ष भी कारण है। प्रकृत में 'इदम्' अंश के साथ चक्षुःसन्निकर्ष है। अतः तत्तांश, अभेद, इदमंश—सब प्रत्यक्ष में भासते हैं। असन्निकृष्ट अंश के भान में संस्कार सहकारी है, अतः संस्कार के अविषय असन्निकृष्ट पदार्थ का भान नहीं होता।

खंडनकर्ता—अभेद-अंश में न सन्निकर्ष है और न अतिप्रसङ्गकारक संस्कार ही, अतः प्रत्यभिज्ञा में अभेद का भान नहीं होगा। किञ्च—सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा की सामग्री निश्चयरूप होने से प्रत्यभिज्ञा भी निश्चयरूप ही होगी। कहीं भी 'सोऽयं न वा' इस प्रकार सन्देहरूप प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी, क्योंकि सन्देह का प्रयोजक दोष उक्त युक्ति से खण्डित है।

'तदद्राक्षमि'त्यादिस्मृतिरपि चैवमनुभव एव स्यात्। मनस आत्मसंयोग-सहकृतादात्मार्थसन्निकर्षात् संस्कारात् जायमानायास्तस्या इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जत्वादेव, मनसा आत्मसंयोगादात्मसमवायेन प्रत्यक्षीक्रियमाणैर्ज्ञानादिभिः स्मर्य-माणस्य अर्थस्याविशेषादिति।

एतेन तत्तावच्छिन्नप्रतियोगिकान्योन्याभावविरहः स्वरूपाभेदो वाऽयं भाती-त्यपि निरस्तम्। अन्योन्याभावव्यतिरेकोऽन्योन्यमेव तत्तेदन्तोपाध्यवच्छिन्नयोः स्यात्, न च तन्मिलितमेकेन सुग्रहम्। एवं स्वरूपाभेदेऽपि तयोर्धर्मैक्यं तदनव-गाहिना दुरवगममेव।

संस्कारोपनीते च विषये यदि ज्ञानमनुभवः स्यात्, स्मृतिरपि कुतो नानुभूतिः ?

किञ्च—संस्कार के प्रत्यासत्तित्व या सहकारित्व पक्ष में 'तद् अद्राक्षम्' यह स्मृति भी प्रत्यक्ष हो जायगी, क्योंकि 'मनःसंयुक्तात्मसमवेत-संस्कारविषयत्व'रूप प्रत्यासत्ति में मन के साथ स्मर्यमाण पदार्थ के होने से पूर्वोक्त स्मृति भी आपकी रीति से इन्द्रियजन्य ही है। 'जानामि' इस अनुव्यवसाय में मनःसंयुक्तात्मसमवाय-सन्निकर्ष से प्रत्यक्षीकृत ज्ञान से स्मृतिविषय तत्ताविशिष्ट में कोई विशेष नहीं है। स्मृति का विषय तो प्रत्यक्ष है नहीं, अतः 'जानते हैं' में संस्कारघटित प्रत्यासत्ति नहीं होती।

समर्थनकर्ता—अभेद तत्ताविशिष्ट के भेद (अन्योन्याभाव) का अभावरूप अथवा स्वरूप-रूप हो, दोनों पक्षों में वह इदन्ताविशिष्ट धर्मी का स्वरूप ही है। अतः उसका इदन्ताविशिष्ट की ग्राहक-सामग्री से ही ग्रहण होने के कारण प्रत्यभिज्ञा अनुभव ही है।

खंडनकर्ता—अन्योन्याभाव का अभाव अन्योन्यरूप ही है। प्रकृत में तत्ता और इदन्ता इन दोनों उपाधियों से युक्त धर्मी ही अन्योन्य पदार्थ है। वह अन्योन्य केवल संस्कार अथवा इन्द्रिय से गृहीत नहीं हो सकता। इसी तरह 'तत्' और 'इदं' दोनों का स्वरूप-रूप अभेद भी अन्योन्यरूप ही हैं, अतः वह अन्योन्य को अविषय करनेवाले इन्द्रिय से अग्राह्य ही है।

किञ्च—यदि संस्कार से जन्य प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान अनुभव होता है, तो स्मृति भी अनुभव क्यों न हो ?

अथ न संस्काराधीनत्वमात्रेण स्मृतित्वम्, किन्त्वनुभवकारणासम्पृक्त-संस्कारजत्वेन । ततश्चाधिकार्थाक्षसन्निकर्षापेक्षं प्रत्यभिज्ञानमनुभव एव भवति, न तु स्मृतिरिति चेन्न । संस्कारासम्पृक्तानुभवकारणजत्वेन अनुभवत्वं भवति, प्रत्यभिज्ञानन्तु संस्कारसहितानुभवकारणजं स्मृतिरेवेति वैपरीत्यं किं न स्यात् ।

अन्यत्र न स्मृतिरनुभवकारणसम्पृक्तसंस्कारजन्मेति तु नान्यत्रानुभवोऽपि संस्कारसम्पृक्तार्थेन्द्रियसंयोगजन्मेति साम्यादेवाबाधकम् ।

तदेवं विनिगमनायां प्रमाणाभावात् स्वयं कल्पितव्यवस्थानवैपरीत्येनाऽपि कल्पनासम्भवात् प्रत्यभिज्ञानमुभयकारणसम्भवात् स्मृतिश्चानुभवश्चेति मन्तव्यम् । तथा च स्मृतिव्यावृत्तमनुभवत्वं जातिरस्तीति दुष्प्रत्याशा निरवकाशा ।

समर्थनकर्ता—कोई भी ज्ञान केवल संस्कारजन्य होने से स्मृति नहीं होता, किन्तु अनुभवकारणशून्य संस्कार से जन्य होने पर ही स्मृति होता है । अतः इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की अपेक्षा रखनेवाली प्रत्यभिज्ञा अनुभव ही है, स्मृति नहीं । *खंडनकर्ता*—कोई भी ज्ञान संस्काररहित अनुभव-सामग्री से जन्य होने पर ही अनुभव होता है । किन्तु प्रत्यभिज्ञा संस्कारसहित अनुभव-सामग्री से जन्य है, अतः वह स्मृति ही है—ऐसा विपरीत ही क्यों न मानें ?

समर्थनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा को छोड़ अन्यत्र कहीं भी स्मृति अनुभव-कारणयुक्त संस्कार-जन्य नहीं देखी जाती । केवल प्रत्यभिज्ञा ही अनुभवकारणयुक्त संस्कारजन्य है, अतः वह स्मृति नहीं है । *खंडनकर्ता*—तब तो हम भी यह प्रतिबन्दी उत्तर दे सकते हैं कि अनुभव भी प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र संस्कारयुक्त अनुभव-सामग्री से जन्य नहीं देखा जाता। केवल प्रत्यभिज्ञा ही संस्कारयुक्त अनुभव-सामग्री से जन्य है, अतः वह अनुभव नहीं है ।

तस्मात् प्रत्यभिज्ञा संस्कारजन्य होने से स्मृति है अथवा इन्द्रियजन्य होने से अनुभव है, इनमें से कोई एक पक्ष मानने में विनिगमक तो है नहीं । अतः प्रत्यभिज्ञा स्मृति है और अनुभव भी है ।

समर्थनकर्ता— जो केवल संस्कार से जन्य हो, वह स्मरण है । प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार से जन्य नहीं, अतः वह स्मृति नहीं है । *खंडनकर्ता*—हम भी यह कह सकते हैं कि कोई भी ज्ञान संस्काररहित अनुभव-सामग्री से जन्य होने पर ही अनुभव होता है, प्रत्यभिज्ञा संस्कार-सहित अनुभव-सामग्री से जन्य होने से अनुभव नहीं है; ऐसी स्थिति में स्मृति में न रहनेवाली अनुभवत्व एक जाति है, यह आशा ही जाती रही ।

न च विषयांशे स्मृतित्वानुभवत्वयोर्व्यवस्था कर्तुं शक्यते, तन्निरासस्य निवेदितत्वात् । ततश्च तदेव ज्ञानं तस्मिन्नेवांशे स्मृतिश्चानुभूतिश्चेत्यापतितेऽपि यदि न विरोधबुद्धिर्भवतस्तदा तदधीने तत्रैवार्थे प्रमात्वाप्रमात्वापाते साऽस्तु ।

एतेन विरोधापत्त्या अनुभवत्वस्वीकारे बाधकेन स्मृतिव्यतिरिक्तमनुभवत्वं नामानुगतं साक्षात्कारिज्ञानानुमित्यादिसाधारणमनुभवबलादेव व्यवस्थापनीयमिति प्रतीतिकलहोऽपि निरस्तः ।

ननु चानुभव एव शरणमिह, प्रत्यभिज्ञाने ह्यनुभवत्वमेवानुभूयते, न तु स्मृतित्वम् । तेन संस्कारजत्वेऽपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षाधिकापेक्षया अनुभवत्वमेवेति विनिगमनायामपीदमेव प्रमाणम् । अन्यथा प्रत्यभिज्ञानेऽनुभवप्रत्ययो न स्यादिति प्रतीतिकलहेन प्रत्यवस्थेयमिति । न ; इदन्तातत्तावभासयोरनुभवस्मरणभागयोः सत्त्वेनानुभवस्यैकपक्षे असाधारणीकृत्य प्रमाणयितुमिहाशक्यत्वात् ।

एतेन स्मृत्यनुभवसङ्करप्रसङ्गेन अनुभूतिपदव्यवच्छेद्यं परिप्लुतं मन्तव्यम् ।

प्रत्यभिज्ञा तत्ता-अंश में स्मृति और इदन्ता-अंश में अनुभव है; इस व्यवस्था का तो पहले ही खण्डन हो चुका है । अतः प्रत्यभिज्ञा उसी अंश में स्मृति और उसी अंश में अनुभव होने लगेगी, जिससे एकत्र स्मृतित्व और अनुभवत्व इन दो विरुद्ध धर्मों का सन्निवेश हो जायगा । ऐसा होने में भी यदि आपको विरोध-बुद्धि न हो, तो प्रत्यभिज्ञा में प्रमात्व और अप्रमात्व इन दो विरुद्ध धर्मों के सन्निवेश में भी विरोध-बुद्धि छोड़ दें । अनुभवरूप होने से उसमें प्रमात्व और स्मृतिरूप होने से अप्रमात्व स्पष्ट है ।

समर्थनकर्ता—स्मृति में अवृत्ति और प्रत्यक्षादि-चतुष्टय में वृत्ति अनुभवत्व जाति की सिद्धि 'अनुभवामि' इस अनुगत-प्रतीति से ही हो जायगी । *खंडनकर्ता*—प्रत्यभिज्ञा में ही इन परस्पर विरुद्ध स्मृतित्व और अनुभवत्व का समावेश है, अतः सङ्कर होने से अनुभवत्व जाति नहीं हो सकती ।

समर्थनकर्ता—प्रत्यभिज्ञा में 'अनुभवामि' इत्याकारक प्रतीति होती है, अतः प्रमाण होने से संस्कारजन्य होने पर भी प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व ही है, स्मृतित्व नहीं । *खंडनकर्ता*—जैसे इदन्ता-अंश में 'अनुभवामि' इत्याकारक प्रतीति होती है, वैसे ही तत्ता-अंश में 'स्मरामि' इत्याकारक भी प्रतीति होती है । अतः प्रत्यभिज्ञा में 'अनुभवामि' यही प्रतीति होती है—ऐसा नहीं कह सकते ।

जब प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व भी है, तो 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इस लक्षण में अनुभूति विशेषण का व्यावर्तनीय प्रत्यभिज्ञा है, यह कथन खण्डित जानना चाहिए ।

न च वाच्यं प्रत्यभिज्ञानं व्यवच्छेद्यं मा भूत्, स्मृत्यन्तरन्तु भविष्यतीति। तस्याप्यनुभूतित्वेन भवताऽवश्यं स्वीकर्तव्यत्वात्। तथा हि—'घटस्तत्रासीदि'त्यादिस्मृतौ पूर्वकालविशिष्टो घटः स्फुरति। न चासौ पूर्वमनुभूता भूतता, या संस्कारेणोपनीयेत। प्रत्युत पूर्वं वर्तमानताया एवानुभूत्या ग्रहणम्। तस्मादिदानीं पूर्वताधीसामग्रीसम्भेदात् सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानवद्विशिष्टावगमोऽप्यसौ स्मृत्यनुभवात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः।

एतेन—अनुभवसामग्रीसहितः संस्कारोऽनुभवकारणमिति पक्षे पूर्वं शङ्कित इदमपि दूषणं द्रष्टव्यम्। तथा सति स्मृत्युच्छेदापत्तेः। न च तदस्ति स्मरणं यत्र सा न प्रकाशते, ततश्च व्यवच्छेद्यानुपपत्तिः।

यदपि कैश्चिदुच्यते दोषवशात् प्रमुष्टतत्तांशस्मरणं भवतीति। तदपि नोपपन्नम्; तदीयस्मरणत्वे प्रमाणाभावात्। न चानुभवसामग्र्यभावात् पारिशेष्येण स्मृतित्वम्;

समर्थनकर्ता—उक्त-लक्षण में 'अनुभूति' पद का व्यवच्छेद्य प्रत्यभिज्ञा नहीं, किन्तु शुद्ध स्मृति है। *खंडनकर्ता*—आप शुद्ध स्मृति को भी अनुभव अवश्य मानेंगे। देखिये, 'घटस्तत्राऽऽसीत्' इस स्मृति में पूर्वकाल से युक्त घट भासता है। वह भूतता (तत्ता) पूर्वकाल में अनुभूत न होने से संस्कार द्वारा उपनीत नहीं हो सकती। किन्तु पूर्वकाल में वर्तमानता ही अनुभूत है। तस्मात् इस काल में भूतता की प्रत्यक्षसामग्री का मिश्रण होने से 'सोऽयम्' इस प्रत्यभिज्ञा के तुल्य 'घटस्तत्राऽऽसीत्' यह भी ज्ञान स्मृति और अनुभव उभयरूप ही मानना होगा।

'अनुभवसामग्री से युक्त संस्कार अनुभव का कारण है', इस पूर्वकथन में यह भी दोष है कि ऐसा मानने पर स्मृति का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि ऐसा कोई स्मरण नहीं, जिसमें भूतता (तत्ता) भासती न हो। इस तरह जब स्मृतिमात्र भूतता-अंश में मानस अनुभवरूप है, तो 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इस लक्षण में 'अनुभूति' पद के व्यवच्छेद्य का उच्छेद जानना चाहिए।

समर्थन—'इदं रजतम्' इस स्थल में दो ज्ञान हैं—'इदम्' यह अंश तो प्रत्यक्ष है और 'रजतम्' यह अंश स्मरण। यद्यपि दोनों ज्ञानों में परस्पर भेद है, परन्तु दोष से भेद का अग्रह है। साथ ही यद्यपि अन्यत्र तत्ता से युक्त का ही स्मरण होता है,

१. यद्यपि 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' यह लक्षण अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक का है। अतः मीमांसाभिमत अख्यातिवाद के अनुसार उसका पद-कृत्य अयुक्त है; तथापि प्रसङ्गतः अख्यातिवाद के खण्डन के लिए यह कथन है।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षव्यावृत्त्या अनुभवसामग्र्यभावात् पारिशेष्येणानुमित्यादेरपि स्मृतित्वापत्तेः ।

सर्वानुभवसामग्र्यसम्भवादिति चेत्, कथं पुनस्तत्तांशशून्यरजतादिज्ञान-हेतुसामग्री नानुभवहेतुसामग्रीत्यवधारितमायुष्मता ?

पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यसम्भवादिति चेन्न । चतुष्प्रमाणीजनकसामग्र्यसम्भवात् पञ्चमी प्रमा किं न पारिशेष्यात् स्मरणं त्वया व्यवास्थापि । कुत्र च प्रतिपन्नं पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यभावे जायमानं ज्ञानं स्मृतिर्भवतीति, 'घटस्तत्रासीत्' इत्यादिज्ञानानामनुभवत्वोपन्यासस्य कृतत्वात् ।

अथ मन्यसे प्रत्यक्षादिकारणसामग्र्यनुपपत्त्या रजतमात्रस्य च पूर्वमनुभूतत्वेन

परन्तु प्रकृत में सादृश्य आदि दोषों से तत्ता-अंश का त्याग है—यहाँ 'रजतम्' यह शुद्धस्मृति उक्त लक्षण में अनुभूति पद की व्यवच्छेद्य है । *खंडन*—यहाँ 'रजतम्' यह अंश स्मृति है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । *समर्थन*—अनुभव की सामग्री नहीं है, अतः परिशेषात् वह स्मृति है ही । *खंडन*—यदि ऐसा हो, तो इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष की व्यावृत्ति होने से अनुमिति आदि भी परिशेषात् स्मृति होने लगेंगे ।

समर्थन—अनुभव की सम्पूर्ण सामग्री का अभाव होने से 'रजतम्' यह ज्ञान स्मृति है, और अनुमिति में इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप प्रत्यक्ष-सामग्री न होने पर भी परामर्श आदि अनुमितिसामग्री विद्यमान है ही, अतः वह स्मृति नहीं है । *खंडन*—तत्तांश से रहित रजतज्ञान का हेतु सामग्री अनुभवसामग्री नहीं है, यह आपने कैसे निश्चय कर लिया ?

समर्थन—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, इन पाँच प्रमाणों की सामग्रियों के न होने से 'रजतम्' इस स्मृति-स्थल में अनुभवसामग्री नहीं है, यह निश्चय किया है । *खंडन*—आप चार प्रमाणों की सामग्री के अभाव से पञ्चमी प्रमा (अर्थापत्ति) को भी स्मृति क्यों न मानें ? फिर, आपने किस उदाहरण में यह निश्चय किया है कि पाँचों प्रमाणों की सामग्री के अभावस्थल में जायमान ज्ञान स्मृति होती है, क्योंकि 'घटस्तत्राऽऽसीत्' यह ज्ञान भी तत्तांश में स्मरण नहीं, किन्तु अनुभव है—यह पीछे कहा ही जा चुका है ।

समर्थन—प्रत्यक्षादि-सामग्री के अभावस्थल में रजतमात्र पहले से अनुभूत होने के कारण रजत-विषयक संस्कार है ही । अतः वहाँ 'रजतम्' इस ज्ञान में संस्कार

तद्विषयसंस्कारसम्भवात् संस्कारस्यैव हेतुताऽङ्गीक्रियते, न त्वन्यत्कारणत्वेन कल्प्यते, इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यसम्भवे जायमानस्य तु अनुमानादेरननुभूतविषयत्वेन तस्मान्नोत्पत्तिसम्भव इति तत्कारणं लिङ्गादिकमङ्गीक्रियते। ततः प्रमाणान्तरासहकृत-संस्कारजत्वं तद्व्यङ्ग्यो वा जातिविशेष एव स्मृतित्वमिति। मैवम्; तत्र कारणत्वं किमिति नाक्षस्यैव, येन संस्कारजत्वं व्यवस्थाप्यते।

तेनार्थेन सह तदाऽक्षस्य सन्निकर्षाभावादसन्निकृष्टस्य च तस्य ज्ञानजनकत्वेऽति-प्रसङ्गात् नेन्द्रियजत्वं तस्येति चेन्न। संस्कारस्यापि केवलस्य तज्जननेऽतिप्रसङ्गताद-वस्थ्यात्।

सहचरितधर्मदर्शनादिना सहकारिणा युक्तस्य संस्कारस्य तज्जनने नास्त्यतिप्रसङ्ग इति चेन्न। तेनैव सहकारिणा सहितस्येन्द्रियस्यापि तज्जनने-ऽतिप्रसङ्गाभावात्।

को ही कारण मानते हैं, अन्य किसीको नहीं। किन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि के अभाव में जायमान अनुमिति आदि के विषय तो अनुभूत नहीं हैं, अतः वे संस्कार के अभाव में वे उत्पन्न ही नहीं हो सकते। इसलिए उनके कारण लिङ्गादि माने जाते हैं। तस्मात् अन्य प्रमाणों से असहकृत संस्कार से जायमान ज्ञानत्व अथवा संस्कार से व्यंग्य जातिविशेष ही स्मृतित्व है। *खण्डन*—'रजतम्' इस ज्ञान को संस्कार से जायमान क्यों माना जाय, इन्द्रिय से जायमान ही क्यों न माना जाय।

समर्थन—उस काल में रजत के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न होने से 'रजतम्' यह ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। क्योंकि यदि ज्ञान सन्निकर्ष के बिना भी इन्द्रियजन्य माना जाय, तो अतिप्रसङ्ग हो जायगा। *खंडन*—तब तो केवल संस्कार को भी स्मृति का कारण मानें, तो सादृश्य-दर्शनादि के अभावकाल में केवल संस्कार से आपके मत में भी स्मृति की आपत्ति हो जायगी।

समर्थन—चाकचिक्य आदि सदृशधर्म-दर्शनरूप सहकारी कारणों से युक्त संस्कार को ही रजतस्मृति का कारण मानेंगे, तो अतिप्रसङ्ग नहीं होगा। *खंडन*—उन्हीं सहकारी दोषों से युक्त इन्द्रिय को ही रजतभ्रम का कारण मान लेने पर हमारे मत में भी कोई अतिप्रसङ्ग नहीं होगा।

अननुभूतेऽपि तर्हि प्रसङ्ग इति चेन्न । तत्रापि तद्धर्मतानधिगततद्धर्मवत्यधिगते तस्य संस्कारवतः स्मृत्यापत्त्या समाधिसाम्यात् ।

लुप्ततत्साहचर्यदर्शनजसंस्कारस्याऽपि तथा सति सहचरितरजताद्यन्तप्रतीति-प्रसङ्ग इति चेन्न । तवापि मते तादृशस्य रजतादिसंस्कारवतो रजतादिस्मृति-प्रसङ्गसाम्यात् । तस्माद्यतस्ते कालव्यवधानादितः संस्कारलोपः तदनुपनिपातस्यापि हेतुत्वोपगमेऽनतिप्रसङ्गात् ।

प्रश्न—इन्द्रियाँ दूर एवं व्यवहित पदार्थों का ग्रहण करने में संस्कार की अपेक्षा करती हैं या नहीं ? यदि करती हों, तो संस्कारज होने से 'रजतम्' यह ज्ञान स्मृति ही होगा । यदि नहीं, तो संस्कार द्वारा पूर्वानुभव की अपेक्षा न होने से अननुभूत में भी 'रजतम्' यह भ्रम क्यों न हो ? *खंडन*—आपके मत में भी यह दोष समान है । अर्थात् केवल रजतविषयक संस्कार से स्मृति होती है अथवा रजत-विषयक संस्कार और सादृश्य-विषयक संस्कार, दोनों से ? यदि दोनों संस्कारों की अपेक्षा हो, तो उभय-विषयक स्मृति होनी चाहिए । यदि प्रथम पक्ष है, तो जहाँ सादृश्य आदि धर्मों का पूर्वानुभव न हो और धर्मी मात्र पूर्व में ज्ञात हो, वहाँ भी रजत-विषयक-संस्कार से रजत की स्मृति क्यों न हो? इसपर यदि आपके पक्ष में यह समाधान हो कि 'जहाँ चाकचिक्यादि साधारण धर्मों से युक्त रजत का पूर्वानुभव हो चुका हो और इदानीं चाकचिक्यादि रूप से रजत के सादृश्य का प्रत्यक्ष हो, वहीं संस्कार से रजत का स्मरण होता है', तो हमारे मत में भी वही समाधान होगा । अर्थात् हम भी कह सकते हैं कि 'रजतप्रतियोगिक सादृश्यज्ञान से युक्त चक्षुरादि' ही भ्रम के कारण हैं, अतः उक्त स्थल में दोष नहीं है ।

समर्थनकर्ता—जहाँ रजत-संस्कार अथवा सादृश्य-संस्कार नष्ट हो गया हो, वहां रजतभ्रम क्यों नहीं होता ? *खंडनकर्ता*—आपके मत में भी सादृश्य-संस्कार का उपयोग रजत-स्मृति में तो है नहीं । फिर जहाँ वह नष्ट हो गया हो और केवल रजत-संस्कार ही हो, वहाँ भी रजत की स्मृति क्यों न हो—यह शंका तुल्य है । यदि आप कहें कि सादृश्यसंस्कार तो रजतस्मृति में कारण नहीं है; परन्तु संस्कार के विलोपक काल-व्यवधान, चिन्ता, रोगादि के अभाव सहकारी अवश्य हैं । एवञ्च सादृश्य-संस्कार के नाशस्थल में काल-व्यवधानादि के अभावरूप सहकारी नहीं हैं, अतः स्मृति नहीं होती,' तो हम भी कहेंगे कि 'रजत-संस्कार रजत-भ्रम का कारण तो नहीं है, परन्तु जहाँ

तदेवं—

'तत्सदृक्प्रत्यभिज्ञानं यत्ते संस्कारबोधकम् ।
सहकारि तदेवास्तामक्षस्यातिप्रसक्तिनुत् ॥'

तत्सदृशप्रत्यभिज्ञानं तु स्मर्तव्यस्मरणपूर्वकमित्येतदपि सममेव ।

तथाऽप्यन्यत्र अर्थसन्निकर्षमन्तरेणेन्द्रियस्य ज्ञानकरणत्वं नोपलब्धचरमिति चेन्न। विशिष्टरूपेण भ्रमविषये मया तदुपगमात् सहकारिभूतदोषशक्तेर्वा प्रत्यासत्तित्वेनेष्टत्वात् ।

रजत-संस्कार नष्ट हो गया हो, वहाँ रजत-भ्रम नहीं होता, क्योंकि काल-व्यवधानादि का अभाव भी रजत-भ्रमका सहकारी है, और प्रकृत में इनका अभाव है ।

तस्मात् आपके मत में जो सादृश्य-दर्शनादि संस्कार के उद्बोधक हैं, हमारे मत में भी वे ही इन्द्रिय के सहकारी हैं; अतः कोई अतिप्रसङ्ग नहीं है ।

जिस सादृश्य-ज्ञान को उद्बोधक संस्कार ।
मानो तुम, इन्द्रियन का वह करता सहकार ॥

समर्थन—आप रजत-भ्रम में इन्द्रिय के सादृश्य-ज्ञान को सहकारी मानते हैं, पर वह रजतरूप प्रतियोगी के स्मरण के बिना हो नहीं सकता । अतः आवश्यक होने से रजत-स्मृति को ही भ्रम माना जाय, रजत-विषयक अन्य अनुभव को भ्रम मानना उचित नहीं ।

खंडन—आपके मत में भी संस्कार के उद्बोधक सादृश्य-ज्ञान में प्रतियोगित्वरूप से अपेक्षित रजत-स्मृति तो भ्रम है नहीं, किन्तु संस्कार के उद्बोधन के अनन्तर जायमान रजत-स्मृति ही भ्रम है । अतः प्रश्न हो सकता है कि प्रथम उत्पन्न होने से सादृश्यज्ञान में अपेक्षित रजत-स्मृति ही भ्रम क्यों न कहलाये ?

समर्थन— फिर भी इन्द्रिय अन्य स्थल में सन्निकर्ष के बिना ज्ञान के कारण नहीं देखे गये हैं । अर्थात् अक्षज-प्रत्यक्ष-ज्ञान में सर्वत्र इन्द्रियों का अर्थ-सन्निकर्ष से अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है । फिर प्रकृत में सन्निकर्ष के बिना 'रजतम्' यह भ्रम कैसे होगा ?

खंडन—प्रमास्थल में ही इन्द्रिय का सन्निकर्ष के साथ अन्वय-व्यतिरेक होने से वहीं सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, पर भ्रमस्थल में सन्निकर्ष अपेक्षित नहीं है, यह हम विशेष रूपसे कह सकते हैं । अथवा जैसे आप प्रत्यभिज्ञा में संस्कार को सन्निकर्ष मानते हैं, वैसे ही हम भी भ्रम-स्थल में दोष को ही सन्निकर्ष मान लेंगे, तो कोई हानि नहीं ।

किञ्च—संस्कारस्याऽपि प्रमाणान्तरासहकृतस्य नान्यत्र ज्ञानजनकत्वं दृष्टमिति तदपि कथं कल्प्यते ।

प्रत्यभिज्ञान एव संस्कारस्य सदृशदर्शनादिसहकारित्वं कल्पितं न त्विन्द्रियस्येति चेन्न । प्रत्यभिज्ञाने संस्कारेन्द्रिययोर्द्वयोरपि कारणत्वात् सदृशदर्शनादि-सहकृतत्वदर्शनाविशेषात् ।

अत्र सदृशदर्शनसहकारित्वे संस्कारसहकारित्वस्यापि प्रसङ्गः प्रत्यभिज्ञान-वदिति चेन्न । तथा सति तद्वदेव तत्तोल्लेखापत्तेः । सदृशदर्शनादिसहकृतत्वेन च तत्तांशप्रसञ्जने संस्कारजत्वस्योपाधित्वम् ।

किञ्च—संस्कार अन्यत्र कहीं भी अन्य प्रमाणों से रहित होकर ज्ञान का जनक नहीं देखा गया । तब यहाँ केवल संस्कार रजत-स्मृति का जनक है, यह कल्पना ही कैसे हो सकती है ?

समर्थन—प्रत्यभिज्ञा में ही संस्कार इन्द्रिय आदि (प्रत्यक्षादि प्रमाणों) से रहित हो सादृश्यदर्शन के सहकार से ज्ञान का जनक देखा गया है । *खंडन*—प्रत्यभिज्ञा में संस्कार और इन्द्रिय दोनों कारण हैं । सादृश्य-दर्शन दोनों का ही सहकारी है । भेद यही है कि तत्तांश के ज्ञान में संस्कार और इदन्ता के ज्ञान में इन्द्रिय कारण हैं । संस्कार तो अपने उद्‌बोधन और इन्द्रिय अभेदबोध में सादृश्य-दर्शन के सहकार की अपेक्षा करता है ।

समर्थन—यदि इन्द्रिय भी 'रजतम्' इस भ्रमज्ञान में सादृश्य-दर्शनरूप सहकारी की अपेक्षा करता है, तो वह उससे उद्‌बुद्ध संस्कार की भी अवश्य अपेक्षा करेगा, जैसे कि प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रियाँ संस्कार की अपेक्षा करती हैं । *खण्डन*—यदि प्रत्यभिज्ञा के तुल्य 'रजतम्' इस भ्रम में भी संस्कार की अपेक्षा मानें, तो प्रत्यभिज्ञा के तुल्य 'रजतम्' इस स्मृति में भी तत्ता का उल्लेख हो जायगा ।

शङ्का—सदृश-दर्शनरूप सहकारी के बल से 'रजतम्' इस भ्रम में तत्ता का उल्लेख क्यों नहीं ? *खंडन*—सदृश-दर्शननिष्ठ तत्ता के उल्लेख में संस्कार निमित्त कारण है । यहाँ संस्कार नहीं है, अतः तत्ता का उल्लेख नहीं होता ।

न च सदृशदर्शनसहकारितैव तत्ताप्रयोजिकाऽत्र त्यज्यतां न संस्कार इति युक्तम्। सदृशदर्शनं परित्यज्य संस्कारे सत्यपि अतथाबोधात्।

तथापि सदर्थे प्राप्यकारित्वमिन्द्रियस्य दृष्टं न हातुं शक्यमिति चेन्न। उक्तमत्र यथेन्द्रियस्य प्राप्तिसहकृतस्य ज्ञापकत्वं दृष्टं तथैव संस्कारस्यापि प्रमाणान्तर-सहकृतस्य ज्ञापकत्वमुपलब्धमिति तदपि हातुं न युक्तमिति, संस्कारस्यापि चेन्द्रियप्रत्यासत्तित्वस्वीकारेण तद्विरहासिद्धेः।

तत्तांशमोषकल्पनं च स्वतन्त्रसंस्कारजत्वपक्ष एव यावदधिकम्।

कुतश्चायं तत्तांशमोष इति विचारमधिकरोति, पूर्वं वर्तमानादिकालविशेष-

शङ्का—सदृश-दर्शन ही तत्ता-भाग के भान का प्रयोजक है, अतः उसीके सहकार को 'रजतम्' इस भान में छोड़ो, संस्कार के सहकार को क्यों छोड़ते हो? *खंडन*—संस्कार होने पर भी सदृश-दर्शन के अभाव में 'रजतम्' यह भ्रम नहीं होता। अतः सदृश-दर्शन को ही चक्षुरादि का सहकारी मानते हैं, संस्कार को नहीं। अन्यथा तत्ता का भान हो जायगा।

समर्थन—तथापि सत्-अर्थ की प्रमा में सर्वत्र इन्द्रियाँ सम्बद्ध को ही ग्रहण करती देखी गयी हैं, अतः उसको छोड़ना उचित नहीं है। *खंडन*—इस विषय में हम कह चुके हैं कि जैसे इन्द्रिय सन्निकर्ष से विशिष्ट होकर ही ज्ञान के जनक देखे गये हैं, वैसे ही संस्कार भी अन्य प्रमाणों से युक्त होकर ही ज्ञान का जनक देखा गया है। अतः अन्य प्रमाण का सहकार भी संस्कार में त्यागने योग्य नहीं है। किञ्च—संस्कार ही प्रत्यासत्ति है, अतः रजत असन्निकृष्ट नहीं है। अर्थात् 'रजतम्' यह ज्ञान मानस-भ्रम है और मन के साथ रजत का संस्कार ही सम्बन्ध है।

साथ ही, जो 'रजतम्' इस ज्ञान को इन्द्रियजन्य मानते हैं, उनके मत में तत्ता-अंश के भान का प्रसङ्ग ही नहीं है। किन्तु जो स्मृति मानते हैं, उनके मत में तत्ता-अंश के त्याग की कल्पना में अधिक गौरव है।

यह भी विचारणीय है कि तत्ता-अंश का त्याग कैसे होगा? पूर्व-काल में वर्तमानता-विशिष्ट रजतादि ही अनुभव का विषय हुआ है, अतः उससे जन्य संस्कार भी वर्तमानता-विशिष्ट रजतादि को ही उपस्थित करेगा। अर्थात् अनुभव में विशेषणरूप से जो वर्तमानकाल भासता है, वही स्मरण में तत्ता-रूप से भासता है। अतः जो अनुभव में

विशिष्टस्य रजतादेरेकस्मिन्ननुभवे प्रकाशिततया तज्जन्येन संस्कारेणापि तथैवोपनेतुमुचितत्वात्, प्रत्यभिज्ञायां तथैव फलदर्शनात् ।

दोषवशात् तत्तांशमोष इति चेन्न । विषयसम्बन्धस्य स्वभावत्वेन संस्कारे तदलोपात् ।

दोषात् स्मृतौ तथेति चेत्, कः पुनरसौ दोषः? यस्माद् भ्रान्त्युत्पत्तिः परेषामिति चेत्तर्हि तद्रजताविशिष्टमिदं रजतमित्यत्र, सैव रजतव्यक्तिरियमित्यत्र वा, पुनस्तदेव रजतमुपस्थितमितीह वा, सामान्यत एव रजतस्य तदाऽपि परामृष्टस्य भ्रान्तौ तत्तांशमोषः स्यात्, दोषस्य विद्यमानत्वात् । अन्यथा इदं रजतमित्यंशेऽपि तस्मिन् ज्ञाने तत्तांशमोषो न स्यादित्यास्तामियं प्रसक्तानुप्रसक्तिः ।

विशेषण से विशिष्ट भासता हो, वह स्मरण में विशेषण-रहित कैसे भास सकता है? प्रत्यभिज्ञा के स्मरण-अंश में अनुभव के अनुकूल विशिष्ट का भान ही देखा भी गया है ।

समर्थन—दोषबल से 'रजतम्' इस स्मरण में तत्तांश का त्याग होगा? *खंडन*—तत्तारूप विषय के साथ संस्कार का स्वभाव ही सम्बन्ध है और दोष से संस्कार का लोप हो नहीं सकता । अन्यथा 'रजतम्' यह स्मरण ही कैसे होगा? अतः दोष अकिञ्चित्कर है ।

समर्थन—दोष संस्कार का नाश नहीं करता, किन्तु तत्ता-अंश में स्मृतिरूप कार्य का प्रतिबन्धक होता है । *खंडन*—दोष क्या वस्तु है । अर्थात् पूर्वोक्त युक्तियों से खण्डित होने से दोष कोई वस्तु ही नहीं है ।

समर्थन—पर (अन्यथाख्यातिवादी) को जिस पित्त आदि के बल से भ्रम होता है, वे पित्तादि ही दोष हैं । *खंडन*—यदि दोष से तत्तांश का त्याग होता है, तो जिस स्थल में शुक्ति में उस रजत से अविशिष्ट (सदृश) 'यह रजत है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, उस भ्रम में तथा 'यह वही रजत व्यक्ति है' इस प्रत्यभिज्ञा-भ्रम में तथा 'वही रजत फिर उपस्थित हुआ' इस प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम में भी—जहाँ सामान्यतः तद्-शब्द से रजत का परामर्श है, वहाँ तत्तांश का त्याग होना चाहिए, क्योंकि दोष वहाँ भी है । अन्यथा यदि यहाँ दोष न मानें, तो इसी प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम के 'इदं रजतम्' इस अंश में तत्तांश का त्याग कैसे होगा—प्रमा-लक्षण के खण्डन में प्रसक्त इस प्रत्यभिज्ञा-खण्डन में अनुप्रसक्त तत्तांश त्याग का खण्डन अनावश्यक है ।

न च प्रत्यभिज्ञा नाम स्मरणानुभवाभ्यामन्य एव प्रकार इति वाच्यम्; अननुभवत्वेन अप्रमात्वापातात्। न चैवमस्त्वित्यपि वाच्यम्; अक्षणिकत्ववादिना स्थिरसिद्धौ प्रमाणत्वेनोपन्यस्तत्वात्। ईदृशप्रसिद्धलक्ष्यत्यागेन च लक्षणोपपादनेऽनियमः प्रसज्येतेति।

तस्मात् जातिवाचिनोऽनुभवपदस्य स्मृतितो व्यवच्छेदार्थमुपादानमिति सर्वथानुपपन्नमिति।

अथ स्मृत्यन्यत्वखण्डनम्

नापि स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः, नापि स्मृतिलक्षणरहितत्वम्; उक्तक्रमेण स्मृत्यनुभूतिसङ्करस्य दर्शितत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः।

इतोऽपि न स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः। तथा हि—स्मृत्यन्यत्वं यत्किञ्चित्स्मरणान्यत्वं वा, सर्वस्मृतिव्यक्त्यन्यता वा, स्मृतित्वरहितत्वं वा अभिप्रेतम्?

समर्थन—प्रत्यभिज्ञा स्मृति तथा अनुभव से विलक्षण प्रकार है। अतः वह प्रमा-लक्षण में अनुभूति पद का व्यवच्छेद्य हो सकती। *खण्डन*—प्रत्यभिज्ञा को अनुभव न मानें, तो वह अप्रमा हो जायगी।

शंका—प्रत्यभिज्ञा, अप्रमा ही रहे, तो हानि क्या है? *खण्डन*—यदि प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण न मानें, तो अक्षणिकवादी नैयायिकों ने स्थिर-सिद्धि में 'तदेवेदम्' इस प्रत्यभिज्ञा को जो प्रमाण रूप से उपस्थित किया है, वह व्याहत हो जायगा। किञ्चित् प्रत्यभिज्ञा प्रमा-लक्षण का प्रसिद्ध लक्ष्य है, अतः आप द्वारा कल्पित 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इस लक्षण की अव्याप्ति के भय से यह कहना कि 'प्रत्यभिज्ञा प्रमा का लक्ष्य नहीं है', अनुचित है; क्योंकि ऐसा करने से व्यवस्था ही न हो सकेगी।

जब युक्ति से स्मृतिमात्र अनुभव सिद्ध हो चुका है, तब यह कहना कि 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इस लक्षण में स्मृति के व्यवच्छेदार्थ जातिवाची अनुभूति पद का निवेश है, सर्वथा अनुपपन्न है।

स्मृति-भिन्नत्वका खण्डन

स्मृति से अन्य ज्ञान अथवा स्मृति के लक्षण (संस्कारजत्व) से रहित ज्ञान भी अनुभव-पद का अर्थ नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार से स्मृति और अनुभव का साङ्कर्य होने के कारण ज्ञानमात्र अनुभव रूप होने से वह अनुभव पद की व्यवच्छेद्य नहीं हो सकती।

साथ ही, वक्ष्यमाण दोष अर्थात् स्मृत्यन्यत्व का निर्वचन न कर सकने के कारण भी स्मृत्यन्यत्व अनुभव पद का अर्थ नहीं हो सकता। देखिये—'स्मृति से अन्य' इस वाक्य

प्रथमे तु स्मृत्यन्तरव्यतिरेकात् स्मृत्यन्तरमप्यनुभूतिः स्यात्। न हि यतो व्यतिरिक्ता स्मरणव्यक्त्यन्तरादेका स्मृतिव्यक्तिस्तत् स्मरणमेव न भवति, येन तदन्यत्वं न स्मृत्यन्यत्वं स्यात्।

नापि द्वितीयः; मदीयादिस्मृतिव्यक्तिभ्यो हि भवता कथङ्कारं व्यतिरिक्तत्वमवधारणीयं प्रमायाः, तासां सर्वासां भवता प्रत्येतुमशक्यत्वात्। तथा हि—न तावत्परकीयज्ञाने परस्यास्मादृशोऽध्यक्षसम्भवः। नाप्यनुमानार्थापत्ती, लिङ्गानुपपद्यमानयोः सर्वत्रार्वाग्दृशा प्रत्येतुमशक्यत्वात्। नापि शब्दः; सर्वत्र तस्यासम्भवात्। उपमानाद्यसम्भवोऽपि स्फुट एव। ततः कथं सर्वाभ्यः स्मृतिव्यक्तिभ्यो व्यतिरेको निरूप्यः प्रमाया इत्यनवबोधादसिद्धिर्लक्षणस्य।

न च वाच्यं स्मृतित्वेन सर्वाः स्मृतिव्यक्तयः सर्वकालसर्वपुरुषसम्बन्धिन्यः स्वात्मीयां स्मृतिव्यक्तिं प्रत्यक्षयता प्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते सामान्यलक्षणया इन्द्रिय-

का अर्थ क्या एक-दो स्मृतियों से अन्य मानते हैं, सब स्मृतियों से अन्य अथवा स्मृतित्व-रहितत्व ?

यदि एक दो स्मृतियों से अन्य अर्थ है, तो एक स्मृति से द्वितीय स्मृति के अन्य होने से द्वितीय स्मृति भी अनुभूति हो जायगी, क्योंकि जिस स्मृति से अन्य द्वितीय स्मृति है, वह स्मृति ही नहीं है- -यह बात नहीं है, जिससे उसे अन्यत्व स्मृत्य अन्यत्व न हो।

सभी स्मृतियों से अन्यत्व ही स्मृत्यन्यत्व है, यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं, क्योंकि मेरी स्मृति से अन्यत्व प्रमा में है, इसका निश्चय आप कैसे करेंगे ? हम लोगों के सदृश अर्थात् योगबल से रहित अन्य मनुष्यों को अन्य पुरुष के ज्ञान का प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता। फिर सर्वत्र हेतु या अनुपपद्यमानता का ज्ञान न होने के कारण अनुमान अथवा अर्थापत्ति से भी बाह्यदर्शी को सभी अन्य स्मृतियों का भेद प्रमा में गृहीत नहीं हो सकता। सर्वत्र शब्द के न होने से शाब्द भी संभव नहीं। उपमान आदि से भी अन्य स्मृतियों का अन्यत्व प्रमा में निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि उपमान से संज्ञा-संज्ञिभाव मात्र का निश्चय होता है और यहाँ संज्ञा-संज्ञिभाव है नहीं। ऐसी स्थिति में प्रमा में सम्पूर्ण स्मृतियों से भेद कैसे जाना जाय ? इस तरह ज्ञान के न होने से लक्षण ही असिद्ध है।

समर्थन—स्वीय स्मृति के मानस प्रत्यक्षकाल में सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से सभी कालों एवं सभी पुरुषों से संबद्ध सर्वस्मृतियों का ज्ञान हो सकता है, जैसे कि व्याप्ति-

प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाल इव व्याप्यव्यापकव्यक्तय इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो-र्दोषग्रस्तत्वात्। तथा सति ह्येकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः प्रमेयत्वसामान्यप्रत्यासत्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात्। एवमभ्युपगच्छतश्च श्रद्दधीमहि ते सार्वज्ञ्यमिदम्, यदि जानासि किमस्मच्चेतसि विपरिवर्तत इति।

नापि तृतीयः; स्मृतित्वरहितत्वं हि स्मृतित्वाभाववत्त्वं वा स्यात्, स्मृतित्व-प्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं वा, तज्ज्ञानं वा?

न तावदाद्यः। तथा हि—स्मृतित्वान्योन्याभावोऽपि स्मृतित्वाभावो भवत्येव। तद्वत्त्वञ्च स्मृतिष्वप्यस्ति। [न हि स्मृतित्वमेव स्मृतिः।] ततश्च स्मृतेरपि प्रमात्वा-पातः। तदव्यवच्छेदाद्विशेषणवैयर्थ्यञ्च, विना विशेष्यमिच्छादावतिप्रसङ्गात्।

ग्रहकाल में सामान्यलक्षणा के बल से सकल व्याप्य-व्यापक व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है। *खण्डन*—दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों स्थलों में सम्पूर्ण व्यक्तियों का ज्ञान सामान्य-लक्षणा से हो नहीं सकता, क्योंकि सामान्यलक्षणा में दोष होने से वह प्रत्यासत्ति ही नहीं है। अन्यथा यदि सामान्यलक्षणा को प्रत्यासत्ति मानें, तो एक प्रमेय के प्रत्यक्षकाल में प्रमेयत्व रूप से सकल प्रमेयों का प्रत्यक्ष होने लगेगा।

समर्थन—प्रमेयत्व रूप से सकल प्रमेयों का प्रत्यक्ष होता हैं, ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय? *खण्डन*—ऐसा मानने पर तो सभी मनुष्य सर्वज्ञ हो जायँगे। यदि आप कहें कि सब मनुष्य सर्वज्ञ हो ही जाते हैं, तो आपके इस वाक्य को हम तभी मान सकते हैं, जब आप यह जान लें कि इस समय हमारे चित्त में क्या है।

यदि कहें कि स्मृतित्वरहितत्व ही स्मृति से अन्यत्व है, तो यह तीसरा पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि स्मृतित्व-रहितत्व क्या वस्तु है—क्या स्मृतित्व का अभाव है, स्मृतित्वप्रतियोगिक अधिकरणस्वरूप है (स्मृतित्व है प्रतियोगी जिसका ऐसा जो अधिकरण, उसका स्वरूप है) या स्मृतित्वप्रतियोगिक अधिकरण का ज्ञान है?

इनमें 'स्मृतित्व का अभाव स्मृतित्वरहितत्व है' यह प्रथम पक्ष उचित नहीं है; क्योंकि स्मृतित्व का अन्योन्याभाव भी स्मृतित्वाभाव ही है और वह स्मृति में भी है। फलतः स्मृति भी अनुभूति हो जायगी। अतः अनुभूति पद से स्मृति का व्यवच्छेद न होने से वह व्यर्थ ही हो जायगा। यदि अनुभूति पद का निवेश न करें, तो इच्छादि में अतिव्याप्ति हो जायगी।

प्रथमे तु स्मृत्यन्तरव्यतिरेकात् स्मृत्यन्तरमप्यनुभूतिः स्यात्। न हि यतो व्यतिरिक्ता स्मरणव्यक्त्यन्तरादेका स्मृतिव्यक्तिस्तत् स्मरणमत्र न भवति, येन तदन्यत्वं न स्मृत्यन्यत्वं स्यात्।

नापि द्वितीयः; मदीयादिस्मृतिव्यक्तिभ्यो हि भवता कथङ्कारं व्यतिरिक्तत्व-मवधारणीयं प्रमायाः, तासां सर्वासां भवता प्रत्येतुमशक्यत्वात्। तथा हि—न तावत्परकीयज्ञाने परस्यास्मादृशोऽध्यक्षसम्भवः। नाप्यनुमानार्थापत्ती, लिङ्गानुपपद्यमानयोः सर्वत्रार्वाग्दृशा प्रत्येतुमशक्यत्वात्। नापि शब्दः; सर्वत्र तस्यासम्भवात्। उपमानाद्यसम्भवोऽपि स्फुट एव। ततः कथं सर्वाभ्यः स्मृति-व्यक्तिभ्यो व्यतिरेको निरूप्यः प्रमाया इत्यनवबोधादसिद्धिर्लक्षणस्य।

न च वाच्यं स्मृतित्वेन सर्वाः स्मृतिव्यक्तयः सर्वकालसर्वपुरुषसम्बन्धिन्यः स्वात्मीयां स्मृतिव्यक्तिं प्रत्यक्षयता प्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते सामान्यलक्षणया इन्द्रिय-

का अर्थ क्या एक-दो स्मृतियों से अन्य मानते हैं, सब स्मृतियों से अन्य अथवा स्मृतित्व-रहितत्व ?

यदि एक दो स्मृतियों से अन्य अर्थ है, तो एक स्मृति से द्वितीय स्मृति के अन्य होने से द्वितीय स्मृति भी अनुभूति हो जायगी, क्योंकि जिस स्मृति से अन्य द्वितीय स्मृति है, वह स्मृति ही नहीं है- -यह बात नहीं है, जिससे उसे अन्यत्व स्मृत्य अन्यत्व न हो।

सभी स्मृतियों से अन्यत्व ही स्मृत्यन्यत्व है, यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं, क्योंकि मेरी स्मृति से अन्यत्व प्रमा में है, इसका निश्चय आप कैसे करेंगे ? हम लोगों के सदृश अर्थात् योगबल से रहित अन्य मनुष्यों को अन्य पुरुष के ज्ञान का प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता। फिर सर्वत्र हेतु या अनुपपद्यमानता का ज्ञान न होने के कारण अनुमान अथवा अर्थापत्ति से भी बाह्यदर्शी को सभी अन्य स्मृतियों का भेद प्रमा में गृहीत नहीं हो सकता। सर्वत्र शब्द के न होने से शाब्द भी संभव नहीं। उपमान आदि से भी अन्य स्मृतियों का अन्यत्व प्रमा में निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि उपमान से संज्ञा-संज्ञिभाव मात्र का निश्चय होता है और यहाँ संज्ञा-संज्ञिभाव है नहीं। ऐसी स्थिति में प्रमा में सम्पूर्ण स्मृतियों से भेद कैसे जाना जाय ? इस तरह ज्ञान के न होने से लक्षण ही असिद्ध है।

समर्थन— स्वीय स्मृति के मानस प्रत्यक्षकाल में सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से सभी कालों एवं सभी पुरुषों से संबद्ध सर्वस्मृतियों का ज्ञान हो सकता है, जैसे कि व्याप्ति-

प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाल इव व्याप्यव्यापकव्यक्तय इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो-र्दोषग्रस्तत्वात् । तथा सति ह्येकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः प्रमेयत्वसामान्यप्रत्यासत्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात् । एवमभ्युपगच्छतश्च श्रद्दधीमहि ते सार्वज्ञ्यमिदम्, यदि जानासि किमस्मच्चेतसि विपरिवर्तत इति ।

नापि तृतीयः; स्मृतित्वरहितत्वं हि स्मृतित्वाभाववत्त्वं वा स्यात्, स्मृतित्व-प्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं वा, तज्ज्ञानं वा ?

न तावदाद्यः । तथा हि—स्मृतित्वान्योन्याभावोऽपि स्मृतित्वाभावो भवत्येव। तद्वत्त्वञ्च स्मृतिष्वप्यस्ति । [न हि स्मृतित्वमेव स्मृतिः ।] ततश्च स्मृतेरपि प्रमात्वा-पातः । तद्व्यवच्छेदाद्विशेषणवैयर्थ्यञ्च, विना विशेष्यमिच्छादावतिप्रसङ्गात् ।

ग्रहकाल में सामान्यलक्षणा के बल से सकल व्याप्य-व्यापक व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है । *खण्डन*—दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों स्थलों में सम्पूर्ण व्यक्तियों का ज्ञान सामान्य-लक्षणा से हो नहीं सकता, क्योंकि सामान्यलक्षणा में दोष होने से वह प्रत्यासत्ति ही नहीं है । अन्यथा यदि सामान्यलक्षणा को प्रत्यासत्ति मानें, तो एक प्रमेय के प्रत्यक्षकाल में प्रमेयत्व रूप से सकल प्रमेयों का प्रत्यक्ष होने लगेगा ।

समर्थन—प्रमेयत्व रूप से सकल प्रमेयों का प्रत्यक्ष होता है, ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय ? *खण्डन*—ऐसा मानने पर तो सभी मनुष्य सर्वज्ञ हो जायँगे । यदि आप कहें कि सब मनुष्य सर्वज्ञ हो ही जाते हैं, तो आपके इस वाक्य को हम तभी मान सकते हैं, जब आप यह जान लें कि इस समय हमारे चित्त में क्या है ।

यदि कहें कि स्मृतित्वरहितत्व ही स्मृति से अन्यत्व है, तो यह तीसरा पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि स्मृतित्व-रहितत्व क्या वस्तु है—क्या स्मृतित्व का अभाव है, स्मृतित्वप्रतियोगिक अधिकरणस्वरूप है (स्मृतित्व है प्रतियोगी जिसका ऐसा जो अधिकरण, उसका स्वरूप है) या स्मृतित्वप्रतियोगिक अधिकरण का ज्ञान है ?

इनमें 'स्मृतित्व का अभाव स्मृतित्वरहितत्व है' यह प्रथम पक्ष उचित नहीं है; क्योंकि स्मृतित्व का अन्योन्याभाव भी स्मृतित्वाभाव ही है और वह स्मृति में भी है । फलतः स्मृति भी अनुभूति हो जायगी । अतः अनुभूति पद से स्मृति का व्यवच्छेद्य न होने से वह व्यर्थ ही हो जायगा । यदि अनुभूति पद का निवेश न करें, तो इच्छादि में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

स्मृतित्वस्य संसर्गाभावस्तत्र विवक्षित इति चेन्न। तथा हि—स्मृतित्वस्य संसर्गाभाव इति किमुच्यते, किं स्मृतित्वविशिष्टस्य संसर्गस्याभावः, उत संसर्गविशिष्टस्य स्मृतित्वस्य, अथान्यदेव वा किञ्चिदनया वाचोयुक्त्या विवक्षितम्? आद्ये स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावः स्मृतावस्तीति स एव प्रसङ्गः। न हि स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतिः।

अतएव न द्वितीयोऽपि, न हि संसर्गविशिष्टं यत्स्मृतित्वं तदेव स्मृतिव्यक्तिः। ततश्च संसर्गविशिष्टस्मृतित्वेन सह स्मृतिव्यक्तेरन्योन्याभावमादाय उक्तदोषानिवृत्तिः। एवं तत्र तत्रापि संसर्गविशेषणप्रक्षेपे दोषानिवृत्तिरेव, अनवस्थायां वा पर्यवसानं विशेषणप्रक्षेपपरम्परायाः।

न च वाच्यं स्मृतित्वसंसर्गस्य न संसर्गान्तरेण सम्बन्धित्वं किन्तु स्वभावत एव, तत् कुतः परम्परागवेषणं कार्यमिति। स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय

समर्थन—यहाँ स्मृतित्वाभाव से स्मृतित्व के संसर्गाभाव का ग्रहण है। *खंडन*—यह तुम नहीं कह सकते; क्योंकि स्मृतित्व का संसर्गाभाव क्या स्मृतित्व-विशिष्टसंसर्गाभाव है, संसर्गविशिष्ट स्मृतित्वाभाव है या इस वाक्य-रचना से और ही कुछ? यदि स्मृतित्व का संसर्गाभाव अभिप्रेत हो, तो स्मृतित्व-संसर्ग का अन्योन्याभाव भी स्मृति में है ही। अतः स्मृति में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि स्मृतित्वसंसर्ग स्मृति नहीं है।

इसीलिए द्वितीयपक्ष भी युक्त नहीं है; क्योंकि संसर्गविशिष्ट स्मृतित्वव्यक्ति भी स्मृति नहीं है। अतः संसर्गविशिष्ट स्मृतित्व के साथ स्मृति-व्यक्ति के अन्योन्याभाव का ग्रहणकर स्मृति-व्यक्ति में पुनः अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—स्मृतित्व-संसर्ग का संसर्गाभाव ही स्मृतित्वरहितत्व है। स्मृतित्व-संसर्ग का संसर्गाभाव स्मृतिव्यक्ति में नहीं है, क्योंकि स्मृति में स्मृतित्व-संसर्ग ही है। अतः स्मृति में अनुभूतिलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। *खंडन*—स्मृतित्व-संसर्ग का संसर्गाभाव इस शब्द से भी यदि संसर्ग का अभाव ही अभिप्रेत है, तो फिर भी स्मृतित्व-संसर्ग के अन्योन्याभाव का ग्रहणकर स्मृति में अतिव्याप्ति ही है। इस तरह अपर-अपर संसर्ग का निवेश करें, तो अनवस्था या अन्तिम संसर्ग का अन्योन्याभाव लेकर अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—स्मृतित्व का संसर्ग (समवाय) अन्य संसर्ग से नहीं, किन्तु स्वभाव-स्वरूप सम्बन्ध से ही संबद्ध है। अतः संसर्ग-परम्परा का गवेषण न होने से अनवस्था

कृतस्य प्रसङ्गस्य परिहर्त्तुं तदानीं सुतरामशक्यत्वात् संसर्गान्तरविशेषणवचनस्य अधिकार्थापर्यवसायित्वात् ।

किञ्च—तदुभयस्वरूपातिरेकं तत्संसर्गस्यामन्यमानेन स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतित्वधर्मिस्वरूपं चेत्येतयोः संसर्गात्मत्वे व्यवस्थाप्यमानेऽनुभूतौ कथं तादृशस्य संसर्गस्य निषेधः । किमनुभूतेः स्वरूपं नास्ति, उत स्मृतित्वसंसर्गस्य, ततः कस्य निषेधः ?

अर्थान्तरभूतस्य च संसर्गस्य निषेधे स्मृतावपि प्रसङ्गस्तदवस्थः, स्मृतौ तस्यार्थान्तरभूतस्य भवताऽनभ्युपगमात्, स्वरूपमेव तयोः सम्बन्ध इति तत्र भवतोऽभ्युपगमः ।

अथोच्यते—अनुभूतिस्मृतित्वसंसर्गयोः स्वरूपसम्भवेऽपि न परस्परसम्बद्धबुद्धिजनकत्वं तयोः, तादृक्त्वञ्च यत्र तयोस्तत्र सम्बन्धात्मकत्वं स्वरूपयोरुच्यत

नहीं है । *खंडन*—यदि स्मृतित्व-संसर्ग का स्वभाव (स्वरूप) ही सम्बन्ध है, तो स्मृतित्व-संसर्ग के संसर्गाभाव शब्द का अर्थ संसर्ग का स्वरूपाभाव ही हुआ । अर्थात् संसर्गाभाव से अधिक नहीं हुआ । अतः संसर्ग का अन्योन्याभाव लेकर जो अतिव्याप्ति दी गयी, वह वैसी ही बनी हुई है ।

किंच—स्मृतित्व-संसर्ग (समवाय) तथा स्मृति के संसर्ग को उभयस्वरूप से अतिरिक्त न माननेवाले आप स्मृतित्व-संसर्ग तथा स्मृति दोनों को ही संसर्गात्मक मानेंगे, तो फिर अनुभूति में उस संसर्ग का निषेध कैसे होगा ? क्या अनुभूति का स्वरूप नहीं है या स्मृतित्व-संसर्ग का स्वरूप नहीं है ? जब दोनों के स्वरूप हैं, तो किसका निषेध होगा ?

समर्थन—स्मृतित्व-संसर्ग के स्वरूपसम्बन्ध का निषेध अनुभूति में नहीं है; किन्तु स्वरूप से अन्य सम्बन्ध का निषेध अनुभूति में है । *खंडन*—यदि स्वरूप से अन्य सम्बन्ध का निषेध है, तो स्मृतित्व-संसर्ग के स्वरूप से अन्य संसर्ग स्मृति में नहीं है, क्योंकि आप स्मृतित्व-संसर्ग के स्वरूप-रूप सम्बन्ध को ही स्मृति में मानते हैं, स्वरूप से अन्य सम्बन्ध को नहीं मानते । अतः स्वरूप से अन्य सम्बन्ध का अभाव स्मृति में भी हो सकता है । फलतः अनुभूति-लक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन— शुद्ध स्वरूपमात्र सम्बन्ध नहीं है, किन्तु परस्परसंसृष्टत्व-बुद्धिजनकत्वरूप-स्वरूप ही संसर्ग है । वह स्मृतित्व-संसर्ग तथा स्मृति दोनों के स्वरूपों में है, अतः इन दोनों का स्वरूप संसर्ग है । अनुभूति तथा स्मृतित्व-संसर्ग इन दोनों के स्वरूपों में वह नहीं है ।

इति नैवम्; विशेषोपसङ्ग्राहकासिद्धौ तस्याऽप्यनुपपत्तेः। उपसङ्ग्राहकान्तरोक्तौ तत्सम्बन्धेऽपि प्रसङ्गेन अपरापरोपसङ्ग्राहकगवेषणायामनवस्थापातात्।

तावताऽपि चानुभूतिस्वरूपे कस्य निषेधो वर्णितः स्यात्?

स्मृतित्वसंसर्गानुभूती सम्बद्धे इत्येवंरूपबुद्धिजनकत्वस्येति चेन्न। भ्रान्त्यात्मिकाया ईदृशबुद्धेर्जनकत्वस्य वारयितुमशक्यत्वात्।

यथार्थाया इति चेत्, ईदृशबुद्धेर्यथार्थाया यदि सत्त्वमभ्युपैषि, तदाऽनुभूतौ स्मृतित्वप्रसङ्गः। अथ नाभ्युपैषि, किं प्रति तस्या जनकत्वाभावो निरूप्यः।

अथात्यन्तासतीमेव तादृशबुद्धिं प्रति जनकत्वाभावावधारणमनुभूतेरभ्युपैषि,

खण्डन—स्मृतियों में स्मृतित्व-संसर्ग तथा स्मृति दोनों की परस्परसंसर्गबुद्धिजनकता तबतक नहीं रह सकती, जबतक कि जनकता का कोई अवच्छेदक न माना जाय। यदि कहें कि स्मृतित्व ही जनकतावच्छेदक है, तो अद्यावधि वह सिद्ध ही नहीं हुआ है। किंच—स्मृतित्व या अन्य किसी धर्म को जनकतावच्छेदक मान लें, तो भी 'स्मृतित्व का सम्बन्ध स्मृति में ही है, अन्यत्र नहीं' इसमें भी कोई नियामक अवश्य मानना होगा। इस तरह नियामक में भी नियामकान्तर मानने पर अनवस्था दोष हो जायगा।

किंच—'परस्परसम्बन्ध-बुद्धि-जनकत्व-स्वरूप ही संसर्ग है' यह कहने पर भी अनुभूति में किस वस्तु का निषेध होगा? अनुभूति तथा स्मृतित्व-संसर्ग के स्वरूप का निषेध तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह सत् है। स्वरूपरूप संसर्ग का निषेध भी नहीं हो सकता; क्योंकि अनुभूति तथा स्मृतित्व-संसर्ग के स्वरूप में परस्परसम्बन्ध-बुद्धिजनकत्व न होने से वह संसर्ग ही नहीं है।

समर्थन—अनुभूति में ही 'स्मृतित्व-संसर्ग तथा अनुभूति दोनों परस्पर संबद्ध हैं' इत्याकारक बुद्धि की जनकता का निषेध होगा। *खण्डन*—भ्रमरूप निरुक्त बुद्धि की जनकता का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभूति में उसकी सत्ता है ही।

प्रथम तो विषय न होने से निरुक्त बुद्धि प्रमारूप ही नहीं होगी। फिर, उक्त बुद्धि के असत् होने से उसकी जनकता भी असत् ही होगी। तब शशशृंग के तुल्य उक्त असत् जनकत्व का निषेध हो ही नहीं सकता। कथञ्चित् मान भी लें कि उक्त बुद्धि प्रमारूप होती है, तो उक्त प्रमा के करण (प्रमाण) से ही अनुभूति में स्मृतित्व का प्रसङ्ग हो जायगा।

समर्थन—अत्यन्त असत् उक्त यथार्थबुद्धि की जनकता का निषेध ही अनुभूति में क्यों न माना जाय, क्योंकि 'शशशृङ्गं नास्ति' या अलीकप्रतियोगिक अभाव के तुल्य

तदा स्मृतावपि प्रसङ्गः ; यावत्यस्तद्बुद्धयस्तत्र जायन्ते, तदधिकां तादृशबुद्धि-मत्यन्तासतीं प्रत्यजनकत्वस्य स्मृतावपि सम्भवात् ।

सर्वामेव तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वमनुभूतेः, न तु एवं स्मृतेरिति चेन्न । सर्वतद्व्यक्तिप्रमित्यसम्भवात् ।

किञ्च सर्वामिति कोऽर्थः—किमसतीं सर्वाम्, उत सतीम्, अथ सतीमसतीञ्चेत्युभयीमपि प्रत्यजनकत्वम् ? आद्ये द्वितीये च स्मृतावपि तदजनकत्वमस्त्येव । न हि 'स्मृतित्वसंसर्गस्मृती सम्बद्धे' इति यावत्यः स्मृतिव्यक्तिषु बुद्धय उत्पद्यन्ते, ताः प्रति प्रत्येकं स्मृतिव्यक्तिषु जनकत्वमस्ति । काञ्चित् सतीं प्रति च तदजनकत्वं प्रागेव दूषितम् । तृतीये नानुभूतावपि तदजनकत्वम्, सत्यासत्यतादृशबुद्धेर्भावेन अभावेन वा सतीमसतीं प्रत्यजनकत्वस्यासम्भवादिति ।

संभावनामात्र से अलीककार्यनिरूपित जनकता का भी निषेध हो ही सकता है । *खण्डन*—तब तो स्मृति में भी अनुभूति-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि स्मृति में जितनी स्मृतित्वसंसर्गबुद्धियाँ होती हैं, उन बुद्धियों से अधिक उक्त असत्-बुद्धि की जनकता का निषेध उसमें भी संभावनामात्र से हो सकता है ।

समर्थन—संपूर्ण स्मृतित्व-संसर्गबुद्धियों की जनकता का अभाव लक्षण में अभिप्रेत है । स्मृति में वह नहीं है और अनुभूति में है, अतः कोई दोष नहीं है । *खंडन*—सामान्य-लक्षणा के खण्डित होने से संपूर्ण स्मृतित्व-संसर्गबुद्धियों का ज्ञान हो ही नहीं सकता ।

किंच—'सम्पूर्ण' शब्द का क्या अर्थ है ? क्या असती (अयथार्थ) संपूर्ण, सती (यथार्थ) संपूर्ण या असती और सती उभयरूप संपूर्ण अभिप्रेत है ? तीनों ही पक्षों में स्मृति में उक्त बुद्धि की जनकता का अभाव होने से अनुभूति-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि जितनी स्मृतित्व-संसर्गबुद्धियाँ हैं, उन सबकी जनकता का अभाव एक-एक स्मृति में विद्यमान ही है ।

समर्थन—हमें सब स्मृतित्व-संसर्गबुद्धियों की जनकता का निषेध प्रत्येक में अभिप्रेत नहीं, किन्तु प्रत्येक स्मृतित्वसंसर्गबुद्धि की जनकता का निषेध प्रत्येक में अभिप्रेत है और वह स्मृति में नहीं है । *खण्डन*—प्रथम पक्ष में असत् (अयथार्थ) उक्त बुद्धि की जनकता का अनुभूति में वारण न होने से अनुभूति में अव्याप्ति हो जायगी । द्वितीय पक्ष में सती प्रमा के करणरूप (प्रमाण) होने से अनुभूति में स्मृतित्व-प्रसंग हो जायगा । तृतीय पक्ष में प्रत्येक विवेश करने पर भी उक्त दोनों दोष बने ही रहेंगे । कारण उक्त अयथार्थ बुद्धि का जनकता अनुभूति में है; अतः उसका निषेध उसमें हो नहीं सकता । और, यथार्थ उक्त बुद्धि के होने से तज्जनकत्व के होने से, तदभाव अलीक होने के कारण असम्भव हो जायगा ।

स्यादेतत्—स्मृतित्वस्य अन्योन्याभावमादाय याऽतिप्रसक्तिर्दर्शिता सा नोपपद्यते, भेदाभेदवादिमते स्मृतित्वभेदाभेदस्य स्मृत्या सहाभ्युपगमात्। ययोर्भेदाभेदः, तयोस्तत्रान्योन्याभावानभ्युपगमात्। मैवम्; कथं ह्यवधार्यं स्मृतित्वस्य भेदाभेदः स्मृत्या, नानुभूत्येति ?

अनुभूत्या सह तद्विशिष्टप्रमाया अभावादिति चेन्न। किं सत्याः किमसत्या इत्याद्युक्तविकल्पदोषात्।

प्रागभावप्रतियोगिन्या इति चेन्न। अनुभूतौ तादृश्याः स्वीकारेण अनुभूतेस्तथात्वापातात्।

समर्थन—स्मृतित्व का अन्योन्याभाव ग्रहणकर स्मृति में अनुभूति-लक्षण की जो अतिव्याप्ति दी गयी है, वह उपपन्न नहीं हो सकती; क्योंकि धर्म का धर्मी के साथ भेदाभेद होता है। स्मृतित्व का स्मृति में भेदाभेद है। जिसमें जिसका भेदाभेद हो, उसका उसमें अन्योन्याभाव नहीं रहता। *खंडन*—स्मृतित्व का स्मृति के साथ ही भेदाभेद है, अनुभूति से नहीं, यह बात आपने कैसे जान ली ?

समर्थन—'स्मृतित्वविशिष्टा अनुभूतिः' इत्याकारक प्रमा नहीं होती, अतः जाना जाता है कि स्मृतित्व का भेदाभेद अनुभूति में नहीं है। *खंडन*—क्या आप विद्यमान स्मृतित्ववैशिष्ट्य-प्रमा के अभाव से अनुभूति में स्मृतित्व का अभाव सिद्ध करते हैं या अविद्यमान ? यदि कहें कि विद्यमान प्रमा के अभाव से, तो विद्यमान प्रमा के करणरूप प्रमाण से ही अनुभूति में स्मृतित्व सिद्ध हो जायगा। यदि कहें कि उक्ताकारक प्रमा अविद्यमान है, तो प्रतियोगी के असत् होने से उसका अभाव भी असत् होगा, अतः बाधक का अभाव होने से ही अनुभूति में स्मृतित्व सिद्ध हो जायगा।

समर्थन—अनुभूति में स्मृतित्ववैशिष्ट्य-प्रमा प्रागभाव की प्रतियोगिनी नहीं होती और स्मृति में होती है। अतः उक्त अभाव से अनुभूति में स्मृतित्वाभाव का निश्चय हो जायगा। *खंडन*—यदि उक्त वाक्य का यह अर्थ हो कि 'प्रागभावप्रतियोगी जो स्मृतित्व-प्रमा उसका अभाव', तो उक्त प्रमा में प्रागभाव की प्रतियोगिता सिद्ध हुई। फिर 'जो प्रागभाव का प्रतियोगी होता है, वह कदाचित् अवश्य उत्पन्न होता है' इस नियम के अनुसार उक्त प्रमा में सत्त्व होगा, जिससे उसके करणरूप प्रमाण से ही अनुभूति में स्मृतित्व सिद्ध हो जायगा। यदि उक्त वाक्य का यह अर्थ करें कि 'अनुभूति में स्मृतित्व-प्रमा प्रागभाव की प्रतियोगी नहीं है', तो उक्त प्रमा में प्रागभाव-

स्मृति-स्मृतित्वयोरन्योन्याभावाभावश्च अन्योन्यात्मा ऽनुभूतावपि तुल्यः । न हि स्मृतित्वान्योन्याभावोऽनुभूतिरित्युक्तमात्रर्तते ।

भेद-संसर्गाभावयोर्भेदखण्डनम्

अथ मा भूद्भेदाभेदमादाय परिहारः ; तथापि 'इदं तन्न भवति, इह तन्नास्ती'ति प्रतीतिसाक्षिक एवान्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेद इति चेन्न । प्रतियोगिरूपोपाध्य-

प्रतियोगित्व का ही निषेध हुआ, उक्त प्रमा का निषेध तो हुआ नहीं— अनादि उक्त प्रमा ही सिद्ध हुई । अतः उक्त प्रमा के करणरूप प्रमाण से ही अनुभूति में स्मृतित्व सिद्ध हो जायगा ।

किंच—जैसे स्मृति में स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का अभाव (अन्योन्याभाव) है और वह अन्योन्यरूप है, वैसे ही अनुभूति में भी स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का अभाव (अन्योन्याभाव) है और वह अन्योन्यरूप है । अर्थात् अनुभूति और स्मृतित्व उभयरूप है । फिर स्मृतित्व का भेदाभेद स्मृति के तुल्य अनुभूति में क्यों न माना जाय ?

समर्थन—स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव स्मृति में ही है, अनभूति में नहीं, क्योंकि धर्म का धर्मी में अभेद होने से अन्योन्याभाव नहीं है । फिर, अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव भेदाभेद का प्रयोजक है, अतः स्मृतित्व का भेदाभेद अनुभूति में नहीं है । *खंडन*—जैसे स्मृतित्वात्यन्ताभाव को अन्योन्याभाव मानकर प्रथम स्मृति में अतिव्याप्ति हम दे आये हैं, वैसे ही अब भी स्मृति के अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव को अन्योन्याभाव मानकर अनुभूति में स्मृतित्व का आपादन (ग्रहण) कर सकते हैं; क्योंकि अबतक अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में परस्पर भेद सिद्ध ही नहीं हुआ है ।

भेद-संसर्गाभाव का भेद-खण्डन

समर्थन—यद्यपि उक्त युक्तियों से स्मृतित्व का भेदाभेद अनुभूति में भी हो सकता है । अतः आप यह तो कह नहीं सकते कि 'जिसका जिसमें भेदाभेद है, उसका उसमें अन्योन्याभाव नहीं रहता ।' कारण यदि यह कहें, तो अनुभूति में भी स्मृतित्व का भेदाभेद होने से अन्योन्याभाव का प्रतिपादन नहीं कर सकेंगे । फिर भी 'स्मृतित्व का अन्योन्याभाव भी स्मृतित्वाभाव है और वह स्मृति में है, अतः प्रमा-लक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति है' यह नहीं कह सकते; क्योंकि उस (प्रमा-लक्षण) में

वैचित्र्यात्, अभावे जात्यादिभेदानभ्युपगमाच्च तयोर्भेदबुद्धिरेव प्रामाण्यमनश्नुवाना कूटसाक्षिणीति तदनादरणात् ।

न च स्वप्रतियोगिसमानकालसमानाधिकरणोऽभावोऽन्योन्याभाव, तदन्योन्याभाववाँश्च तदभावः संसर्गाभावः । यथासम्भवमात्माश्रयाद्यननुभवस्वभेदाननुगमतत्तदवगमानभ्युपगमानामनुत्तरणीयत्वप्रसङ्गात् ।

संसर्गाभाव का निवेश है । अर्थात् संसर्गाभाव शब्द 'संसर्गस्य अभावः' इस अर्थ में यौगिक नहीं, किन्तु 'इदमिह नास्ति' इत्याकारक प्रतीति के विषय अभाव-विशेष में रूढ़ है । इसी तरह अन्योन्याभाव शब्द भी 'अन्योन्यस्य अभावः' इस अर्थ में यौगिक नहीं, किन्तु 'इदमिदं न भवति' इस प्रतीति से सिद्ध अभाव-विशेष में रूढ़ है । लक्षण में संसर्गाभाव का ही निवेश है, अतः स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का ग्रहणकर स्मृति में दोष नहीं है । *खंडन*—प्रतियोगिभेद अथवा जाति-उपाधिरूप धर्मभेद से दोनों अभावों का भेद हो सकता है, किन्तु वह यहाँ नहीं है । अतः विषय-भेद न होने के के कारण उक्त बुद्धि मिथ्या होने से आदरणीय नहीं । इसलिए उक्त बुद्धि से घटित लक्षण भी असंगत ही है ।

समर्थन—'स्वप्रतियोगी से समान काल तथा समान अधिकरणवाला अभाव अन्योन्याभाव है और अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव अत्यन्ताभाव है' इस तरह दोनों अभावों के स्वरूपों में भेद मान लेने पर भेद-बुद्धि अप्रमा नहीं होगी । *खंडन*— उक्त लक्षण के घटक अभाव पद का यदि 'भावभिन्नत्व' अर्थ करें, तो अन्योन्याभाव के लक्षण में अन्योन्याभाव का प्रवेश होने से आत्माश्रय हो जायगा । यदि अभाव पद का 'भावत्वात्यन्ताभाववत्त्व' अर्थ करें, तो अन्योन्याश्रय हो जायगा, क्योंकि अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं और संसर्गाभाव-विशेष ही अत्यन्ताभाव है । अतः अत्यन्ताभाव से अन्योन्याभाव का और अन्योन्याभाव से अत्यन्ताभाव का निरूपण करना पड़ता है । साथ ही अन्योन्याभाव का निरूपण अत्यन्ताभाव से, अत्यन्ताभाव का निरूपण संसर्गाभाव से और संसर्गाभाव का निरूपण अत्यन्ताभाव से होता है, अतः चक्रक दोष भी हो जायगा । किञ्च—इन दोषों से लक्षण नहीं बनेगा और लक्षण न बनने से तदधीन लक्ष्यभूत अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव का ज्ञान भी नहीं होगा । किञ्च—आप अन्योन्याभाव का अन्योन्याभाव मानते हैं या

ननु संसर्गप्रतियोगिको निषेधः संसर्गाभावः, तादात्म्यप्रतियोगिकश्च तादात्म्याभाव इत्युक्त एव न मिश्रता तयोः। यो हि संसर्गतादात्म्यस्य निषेधः, स संसर्गनिषेध एव न भवति तादात्म्यप्रतियोगिकत्वादिति।

मैवम्; द्रव्यगुणकर्मणां समवायिकारणेषु हि तेषां प्रध्वंसा नैवं संसर्गाभावाः स्युः। संसर्गप्रतियोगित्वे तु संसर्गस्य समवायरूपतया समवायानित्यत्वप्रसङ्गात्।

किञ्च—तर्हि संसर्गान्योन्याभावौ द्वावपि न घटादिप्रतियोगिकाविति घटादेः कालादिवन्निरवधित्वापातः। संसर्गतादात्म्ययोश्च अविशेषितयोर्निषेधे सामान्यत एव तयोरुच्छेदः स्यात्।

नहीं ? यदि नहीं, तो अन्योन्याभावका भेद कहीं भी न होने से वह सर्वात्मक हो जायगा। यदि मानते हैं, तो उस अन्योन्याभाव का भी अन्य अन्योन्याभाव एवं उत्तरोत्तर अन्योन्याभावों की धारा मानने पर भेद के अननुगम तथा अननुभव का अनुसरण करना पड़ेगा।

समर्थन—'जिस अभाव का प्रतियोगी संसर्ग हो, वह अभाव संसर्गाभाव है तथा जिसका प्रतियोगी तादात्म्य हो, वह अभाव अन्योन्याभाव है', ऐसा लक्षण करने पर दोनों अभावों का ऐक्य नहीं होगा; क्योंकि संसर्ग के तादात्म्य का अभाव तादात्म्य-प्रतियोगिक होने से संसर्गाभाव ही नहीं है। अतः स्मृतित्व-संसर्गाभाव शब्द से अन्योन्याभाव का ग्रहण न होने से स्मृति में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खण्डन—ऐसा लक्षण करने पर द्रव्य-गुण-कर्म के प्रध्वंसाभाव में संसर्गाभाव-लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी ससर्ग नहीं होता। यदि संसर्ग को ध्वंस का प्रतियोगी मान लें, तो द्रव्यादि के समवायिकारण में संसर्ग समवायरूप है। उसका ध्वंस मानने पर वह अनित्य हो जायगा। किन्तु नैयायिक तो समवाय को अनित्य नहीं मानते।

किञ्च—यदि संसर्ग तथा तादात्म्य को संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव का प्रतियोगी मानें, तो वे दोनों अभाव घटादि-प्रतियोगिक नहीं होंगे अतः घटादि का किसी भी काल या देश में निषेध न होने से काल के तुल्य घटादि भी निरवधि अर्थात् नित्य और व्यापक हो जायँगे। किञ्च—अविशेषित संसर्ग तथा तादात्म्य का निषेध करने पर अर्थात् प्रतियोगिकोटि में घटादि का निवेश न करने पर सामान्यरूप से ही संसर्ग तथा तादात्म्य का उच्छेद हो जायगा।

एवं यद्यदेव प्रतियोगि वाच्यं तत्तत्स्वरूपत एव न स्यात्। तस्यापि संसर्गं प्रति धावने च तदक्षतम्, संसर्गानवस्था, शेषोच्छेदात् पूर्वपूर्वोच्छेदो वा स्यात्।

न प्रतियोग्यनुयोगिनोस्तथात्वं विरोधः, किन्तु सहभावाभावः, अतस्तन्मात्रं न स्यात्, न तु तन्मात्रमेव न स्यादिति चेन्न। अनुयोगिनि प्रतियोग्यापत्तेः।

तथा प्रमाभावात् कथं तदास्तामिति चेन्न। तथाप्रमाभावमूलकस्य विरोधस्य सहानवस्थानस्य नियमनभङ्गात् प्रतियोग्यनुयोगिभावादन्यः कस्तयोर्विरोधः स्यात्।

इसी तरह जो-जो वस्तुएँ अविशेषित (केवल) ही निषेध की प्रतियोगी होंगी, वे स्वरूप से ही उच्छिन्न हो जायँगी अर्थात् अलीक हो जायँगी। *समर्थन*—संसर्ग या तादात्म्य के भी संसर्ग का ही निषेध होता है, अतः स्वरूपतः उन दोनों का उच्छेद नहीं होगा। *खंडन*—यदि संसर्ग के भी संसर्ग का ही निषेध करें, तो अनवस्था हो जायगी। यदि स्वरूप का निषेध करें, तो संसर्ग के संसर्ग का स्वरूप से ही उच्छेद हो जायगा। साथ ही उत्तर संसर्ग का उच्छेद होने से पूर्व-पूर्व का भी उच्छेद होने के कारण फिर भी संसर्ग तथा तादात्म्यमात्र का उच्छेद हो जायगा; क्योंकि संसर्ग का उच्छेद होने पर संसर्गी की स्थिति हो ही नहीं सकती।

समर्थन—अविशेषित संसर्ग तथा तादात्म्य का अभाव होने पर स्वरूप से उन दोनों का उच्छेद तब होता, जब प्रतियोगी के साथ अभाव का परस्पर निषेध्य-निषेधभावरूप (प्रतियोगी का निषेध अभावरूप और अभाव का निषेध प्रतियोगीरूप) विरोध होता। किन्तु यहाँ तो सह-अवस्थान का अभाव ही विरोध है। अतः प्रतियोगी और अभाव दोनों का सह-अवस्थानमात्र न होगा, प्रतियोगी के स्वरूपतः उच्छेद का तो कोई प्रश्न ही नहीं। *खंडन*—यदि सह-अवस्थान का अभाव ही विरोध हो, तो जैसे प्रतियोगी में अभाव का वैशिष्ट्य होता है, वैसे अभाव में अभाव का वैशिष्ट्य नहीं है, क्योंकि स्व में स्व नहीं रहता। एवञ्च अभाव में प्रतियोगी का वैशिष्ट्य भी होने लगेगा, कारण अब तो दोनों का स्वरूपतः विरोध है ही नहीं।

समर्थन—अभाव में प्रतियोगी के वैशिष्ट्य की प्रमा नहीं होती, अतः उसमें प्रतियोगी के वैशिष्ट्य का आपादन हो ही नहीं सकता। *खंडन*—तब तो प्रतियोगी तथा अभाव दोनों के सह-अवस्थान की प्रमा तथा आधाराधेयभाव की प्रमा भी नहीं होती। उनमें सह-अवस्थान की प्रमा का विरह तो सह-अवस्थानरूप विरोध से उपपादित हो सकता है। किन्तु आधाराधेयभाव की प्रमा के विरह के उपपादनार्थ एक अन्य नियम का भी स्वीकार करना पड़ेगा। अतः 'सह-अवस्थान ही विरोध है' यह नियम भग्न हो जायगा। वह नियम प्रतियोगी-अनुयोगीभाव (परस्पर निषेध्य-निषेधकभाव) से अन्य नहीं हो सकता।

तथा न प्रमीयमाणत्वमेव स इति चेन्न। अतिप्रसङ्गात्। नियमेनेति चेन्न। व्यक्त्योरविरोधापत्तेः।

तथा न प्रमातुमनौपाधिकी योग्यतेति चेत्? सैव मेयगता योग्यता अनुयोगि-प्रतियोगित्वादन्या का समर्थिता स्यात्।

स्वरूपमेवेति चेन्न। मिथः सम्भेदाभ्युपगन्त्राऽपि तयोः स्वरूपोपगमात्।

समर्थन—प्रतियोगी तथा अभाव का सहभाव का तथा आधाराधेयभाव से अप्रतीयमानत्व ही विरोध है, परस्पर निषेधरूपता विरोध नहीं है। *खंडन*—कदाचित् पट और महारजन के भी सहभाव या आधाराधेयभाव से अप्रतीयमान होने पर उन दोनों में भी विरोध हो जायगा।

समर्थन—जिस जाति से विशिष्ट पदार्थों की प्रतीति नियमतः आधाराधेयभाव या सहभाव से न हो, उन्हीं दोनों का विरोध होता है। पट तथा महारजन की प्रतीति कदाचित् आधाराधेयभाव से भी होती है। अतः उनमें विरोध नहीं है। *खंडन*—तब तो नित्यत्व, अनित्यत्व आदि जिन वस्तुओं में जाति नहीं है, उनमें भी विरोध का अभाव होने लगेगा। यदि नियम को देशगर्भ मानें, तो विरुद्ध देश-व्यक्तियों में और यदि कालगर्भ मानें, तो अतीत, अनागत कालों में भी विरोध न होगा। कारण देश में देश नहीं रहता और न काल में काल ही रहता है। अथवा जात्यवच्छेदेन विरोध मानेंगे, तो दो जातियों में ही विरोध होगा, व्यक्तियों में नहीं।

समर्थन—सहभाव या आधाराधेयभाव से होनेवाली प्रतीति की अयोग्यता ही विरोध है। भाव और अभाव में तो सहभाव तथा आधाराधेयभाव से प्रतीति-अयोग्यता है, किन्तु पट और महारजन में वैसी प्रतीति-अयोग्यता नहीं है; क्योंकि महारजन में कदाचित् आधाराधेयभाव से भी पट की प्रतीति होती है। *खंडन*—वह अयोग्यता या योग्यता ज्ञात या ज्ञानगत तो होगी नहीं, किन्तु प्रमेयगत ही हो सकती है और प्रमेय में वह परस्पर निषेध्य-निषेधात्मकता से अन्य कोई नहीं है।

समर्थन—प्रतियोगी, अभाव इन दोनों स्वरूप का ही विरोध है, प्रतियोगी-अनुयोगिभाव नहीं। *खंडन*—जो पदार्थमात्र को सत् और असत् उभयरूप मानते हैं, उनके मत में भाव और अभाव दोनों के स्वरूप होने पर भी एकत्र समावेश होने से विरोध नहीं है। अतः व्यभिचार होने के कारण स्वरूप विरोध नहीं हो सकता।

तथाभूतं स्वरूपमिति चेन्न । तस्यैव निर्वाच्यतापत्तेः ।

कश्च गोत्वाश्वत्वाभ्यां भावाभावयोरेवंविधविरोधे विशेषः स्यात् । सत्याश्च तयोः साहित्यप्रमायां प्रकारभेदेन व्यवस्थापना किमिति कार्या, प्रमयैवाप्रमानुपगमादिति ।

अथ घटादिविशेषितयोस्तयोर्निषेधौ तौ, सविशेषणौ च विधिनिषेधौ न कथञ्चिद्विशेषणमनुपसङ्क्रम्य स्यातामिति ब्रूषे; तदपि न । तर्हि विशिष्टस्य निषेधो विशेषणस्यापि भवतीति संसर्गान्योन्यनिषेधोऽपि संसर्गनिषेधः स्यादेवेति पुनः स प्रसङ्गो वज्रलेपायते ।

अन्योन्याप्रतियोगिकः संसर्गप्रतिषेधस्तथा विवक्षितः, एवमन्योन्यनिषेधोऽपि

समर्थन—जिस रूप में भाव तथा अभाव का परस्पर सह-अवस्थान या आधाराधेय-भाव रूप संभेद (सम्बन्ध) नहीं होता, तथाभूत स्वरूप ही विरोध है । *खंडन*—'किं रूप भाव-अभाव का परस्पर सम्भेद नहीं होता' इसका निर्वचन ही नहीं हो सकता ।

किञ्च—यदि सह-अनवस्थान या सह-अप्रतीयमानता ही विरोध हो, तो गोत्व-अश्वत्व के विरोध से भाव-अभाव के विरोध में भेद ही क्या रहेगा ? तार्किक परस्पर विरुद्ध संयोग और तदभाव का एकत्र समावेश करने के लिए मूल-शाखादि को अवच्छेदक मानते हैं । यदि सह-अनवस्थान या सह-अप्रतीयमानता ही विरोध है, तो संयोग-तदभाव में सह-अवस्थान और सह-प्रतीयमानता होने से विरोध ही नहीं है । फिर विरोध के परिहारार्थ अवच्छेदक-भेद क्यों माना जाय ?

समर्थन—घटादिविशेषित संसर्ग का निषेध संसर्गाभाव है और घटादिविशेषित तादात्म्य का निषेध तादात्म्याभाव है । विशिष्ट का निषेध विशेषण के निषेध के बिना हो नहीं सकता, अतः विशिष्ट का निषेध ही विशेषण का भी निषेध है । तथा च, घटादिविशिष्ट संसर्ग या तादात्म्य के निषेध से विशिष्ट संसर्ग या तादात्म्य का ही उच्छेद होगा, सामान्यतः संसर्ग या तादात्म्य का उच्छेद नहीं होगा । *खंडन*—यदि विशिष्ट का निषेध विशेषण का भी निषेध है, तो संसर्ग के अन्योन्य का निषेध (अन्योन्याभाव) संसर्ग का भी निषेध हो जायगा । एवञ्च स्मृतित्वसंसर्ग के अन्योन्याभाव का ग्रहणकर स्मृति में प्रमालक्षण की जो अतिव्याप्ति दी गयी है, वह वज्रलेप के तुल्य, अपरिहार्य हो जायगी । कारण इस तरह तो स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभाव भी स्मृतित्वसंसर्गाभाव ही है ।

समर्थन—अन्योन्य है प्रतियोगी जिसका, उससे भिन्न संसर्ग-निषेध ही संसर्गाभाव है और संसर्ग है प्रतियोगी जिसका, उससे भिन्न अन्योन्य-निषेध ही अन्योन्याभाव

संसर्गाप्रतियोगित्वेन निर्वाच्य इति चेन्न। एवं हि अन्योन्यसंसर्गाभावः संसर्गान्योन्याभावश्च अपरा कोटिः स्यात्।

किञ्च—एवं सति संसर्गाभावोऽन्योन्याभावो यो न भवति, स संसर्गाभावतया विवक्षित इत्युक्तं स्यात्। तथा च संसर्गविशेषणं व्यर्थमिति संसर्गाभावमर्थमधिकमाकाङ्क्षता त्वयाऽन्वर्थः संसर्गाभावशब्दोऽपि हारितः स्यात्, [यतोऽन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः स संसर्गाभाव इत्युक्तम्]।

किञ्च—अनयाऽपि वाचा अन्योन्याभावनिषेधोऽभिधीयमानोऽन्योन्याभावेऽपि प्रसज्यते। न ह्यन्योन्याभावोऽन्योन्याभावो भवतीति शक्यं प्रमातुम्। सामानाधिकरण्यं हि प्रकारभेदे सति भवति, यथा नीलमुत्पलमित्यादि। ततस्तदभावादेव न तथेत्यतिप्रसङ्गः।

है। एवञ्च स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभाव संसर्गाभाव ही नहीं है, क्योंकि वह अन्योन्यप्रतियोगिक भी हुआ करता है। फिर उक्त अन्योन्याभाव को ग्रहणकर प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति कैसे होगी? खंडन—ऐसा मानें, तो 'अन्योन्यं नास्ति' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अभाव भी अन्योन्यप्रतियोगिक होने से संसर्गाभाव नहीं कहा जायगा। इसी तरह 'संसर्गो न' इस प्रतीति से सिद्ध अभाव भी संसर्गप्रतियोगिक होने से अन्योन्याभाव नहीं हो सकेगा। तब उक्त अभावद्वय स्वीकृत अभावों में अन्तर्भूत न होने से अन्यकोटिक ही हो जायँगे।

किञ्च—ऐसा होने पर 'अन्योन्यप्रतियोगिक से भिन्न जो संसर्गाभाव है, वही संसर्गाभाव है' यही उक्त वाक्य का अर्थ होगा। तब तो 'संसर्ग' विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि 'अन्योन्यप्रतियोगिक से भिन्न जो अभाव, वह संसर्गाभाव है' ऐसा कहने पर भी कोई दोष नहीं है। यदि संसर्ग का निवेश न करें, तो 'संसर्गाभाव' शब्द की अन्वर्थता का त्याग हो जायगा; क्योंकि तब तो संसर्गाभाव शब्द का अर्थ 'संसर्ग का अभाव' नहीं, किन्तु 'अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव' ही है।

किञ्च—इस वाक्य-रचना से कथित अन्योन्याभाव का निषेध अन्योन्याभाव में भी प्रसक्त हो जायगा। कारण शब्दसामानाधिकरण्यकृत विशेष्यविशेषणभाव या उद्देश्यविधेयभाव धर्मभेद में होता है; जैसे 'नीलमुत्पलम्' इस स्थल में। अतः 'अन्योन्याभावः, अन्योन्याभावः' यह प्रतीति नहीं हो सकती। एवञ्च जब अन्योन्याभाव का विधान अन्योन्याभाव में नहीं हुआ, तो अन्योन्याभाव का निषेध अन्योन्याभाव में सिद्ध हो जाता है।

अन्यश्चान्योन्याभावेष्वेव तिष्ठन्नेव कः प्रमेयो यद्वृति तथा कथ्येत ? अभावमात्रे त्वतिप्रसङ्गात् । व्यक्तिविशेषे च शेषेष्वन्योन्याभावेषु संसर्गाभावत्वापत्तेः ।

एतच्च सर्वत्र तदन्यत्वेन व्यवच्छिद्यमाने द्रष्टव्यम् । तथा हि—

'नातत्तन्मन्यसे तावन्न तत्तदपि मंस्यसे ।
सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्षते ॥ २९ ॥
रूपान्तरेण निर्दिश्य तच्चेत्तदभिधीयते ।
ताद्रूप्येण तथाऽपि स्यात् सैव सव्यभिचारिता ॥ ३० ॥'

अपि च—अन्योन्याभावस्य संसर्गाभावोऽप्येवं व्यवच्छिन्नः स्यात्, तस्यापि अन्योन्यप्रतियोगिकत्वात् ।

समर्थन—अन्योन्याभावमात्र में वृत्ति किसी धर्म को उद्देश्यता का अवच्छेदक मानकर अन्योन्याभावत्व के विधान के तात्पर्य से 'अन्योन्याभावः अन्योन्याभावः' यह प्रयोग हो सकता है । *खंडन*—अन्योन्याभावत्व से अन्य अन्योन्याभावमात्रवृत्ति धर्म में कोई प्रमाण नहीं है । यदि प्रथम अन्योन्याभाव पद का लक्षणा द्वारा अभावत्वबोध के तात्पर्य से प्रयोग करें, तो 'अन्योन्याभावः अन्योन्याभावः' इस वाक्य का 'अभावः अन्योन्याभावः' इस अर्थ में तात्पर्य होने से संसर्गाभाव भी अन्योन्याभाव हो जायगा । यदि घटान्योन्याभाव के तात्पर्य से प्रयोग हो, तो उक्त वाक्य का 'घटान्योन्याभाव अन्योन्याभाव है' यह अर्थ होगा । अतः पटान्योन्याभाव अन्योन्याभाव नहीं हो सकेगा; किन्तु वह संसर्गाभाव ही हो जायगा ।

जिन-जिन लक्षणों में किसीसे अन्यत्व का निवेश हो, उन सभी लक्षणों में यह दोष जानना चाहिए । देखिये—

जैसे उससे भिन्न वह, यह प्रयोग नहिं होत ।
ऐसे वह वह यह नहीं, कभी प्रयोग भी होत ॥
अन्य धर्म में लक्षणावश से यदि प्रयोग ।
अतिव्याप्ति अव्याप्ति तब, दोष न होत है योग ॥

किञ्च—यदि संसर्गाभाव के लक्षण में 'अन्योन्याप्रतियोगित्वे सति' यह निवेश करें, तो 'अन्योन्याभावो नास्ति' इस प्रतीति से सिद्ध संसर्गाभाव में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह भी अन्योन्यप्रतियोगिक ही है, अप्रतियोगिक नहीं ।

अथान्योन्याभावस्य संसर्गाभावो नाम अधिको नोपेयत एव, यमादाय तथा स्यादिति चेन्न। एवं तर्ह्यन्योन्याभावस्य अन्योन्याभावोऽपि नाधिकोऽभ्युपगन्तव्यः स्यादिति अन्योन्याप्रतियोगित्वेन व्यवच्छेदोऽपि संसर्गाभावस्य त्वदभिमतस्य कथं स्यात्, व्यवच्छेदस्य निषेधार्थत्वात्।

अथ माभूदधिकोऽसौ, स्वरूपमेव तु तथेष्यत इति तदादायैव व्यवहार एष निर्दोष इति चेत्, तर्ह्यन्योन्याभावसंसर्गव्यतिरेकेऽपि तुल्यमेतत्।

अपि च—'अन्योन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो यः स संसर्गाभावः' इति वदता त्वया अन्योन्यप्रतियोगिकेऽभावे निषिध्यमाने अन्योन्यात्मकोऽसौ अभावोऽभ्युपगतः स्यात्, द्वयोर्निषेधयोः सुन्दोपसुन्दतया अन्योन्यस्यैव स्थैर्यापत्तेः। तथा च सत्यन्योन्यस्मिन् निर्विशेषणे जगदेव प्रविष्टमिति संसर्गाभावत्वेन विवक्षितस्य जगदात्म-

समर्थन—अनवस्था तथा अननुभव-दोष से अभाव के अभाव को अतिरिक्त नहीं मानते। एवञ्च अन्योन्याभावप्रतियोगिक ससर्गाभाव के अन्योन्याभाव से अतिरिक्त प्रसिद्ध ही न होने से उसे लेकर अव्याप्ति भी नहीं होगी। *खण्डन*—यदि अभाव के अभाव को अतिरिक्त नहीं मानेंगे, तो अन्योन्याभाव का अन्योन्याभाव भी नहीं मानेंगे। फिर अन्योन्याप्रतियोगित्व विशेषण देने पर संसर्गाभाव में अन्योन्याभाव से व्यवच्छेद भी कैसे होगा; क्योंकि 'व्यवच्छेद' पदार्थ भी निषेध (अन्योन्याभाव) ही है।

समर्थन—अन्योन्याभाव का अन्योन्याभाव अतिरिक्त न होने पर भी व्यवच्छेद्यभूत अन्योन्याभावरूप ही वह व्यवच्छेद है। अतः अन्योन्याप्रतियोगिकत्व विशेषण से अन्योन्याभाव का स्वरूपरूप अन्योन्याभाव मिल जायगा। *खण्डन*—तब तो 'अन्योन्याभावो नास्ति' इस प्रतीति से सिद्ध अभाव अतिरिक्त न होने पर भी उसे आप स्वरूपरूप अवश्य मानेंगे। एवञ्च स्वरूपरूप उस अभाव में संसर्गाभाव के लक्षण की अव्याप्ति वैसी ही बनी रही।

किञ्च—'जो अभाव अन्योन्यप्रतियोगिक न हो, वह संसर्गाभाव है' ऐसा लक्षण करनेवाले अन्योन्य-प्रतियोगिक अभाव का निषेध होने पर 'संसर्गाभाव अन्योन्यात्मक है' यह अवश्य मानेंगे; क्योंकि दोनों अभावों के परस्पर सुन्द-उपसुन्द के तुल्य निषेधरूप होने से अन्योन्य की ही स्थिति होगी। ऐसा होने पर विशेषणरहित अन्योन्य में जगन्मात्र प्रविष्ट हुआ। अतः जिसे आप संसर्गाभाव कहते हैं, उसके जगद्रूप सिद्ध होने पर वह अन्योन्याभावरूप भी हुआ। अतः अन्योन्याभाव

तायां सिद्ध्यन्त्यामन्योन्याभावात्मताऽपि स्यादिति व्यर्थो विशेषणप्रयासो हासायेति, सविशेषणोऽप्यविशेषणवत्प्रसङ्ग इति महत् कौतुकम्।

ननु 'घटाभावो न भवति स्तम्भः' इत्युक्ते किं स्तम्भो घटात्मा विहितो भवति, तत्कस्य हेतोः ? तदा हि तथा स्यात्, यदि घटस्तदभावश्चेत्येव जगत् स्यात्। यदा तु स्तम्भादिरप्यपरा कोटिरस्ति, तदा कथं तथा स्यादित्युक्तप्रसङ्गानवकाश इति।

मैवम्; यथा घटतदभावाभ्यामन्या वस्त्रादिकमप्यस्ति कोटिस्तथाऽन्योन्यतदभावाभ्यां नान्या कोटिः सम्भवति, निर्विशेषणान्योन्यमध्ये जगत एव प्रवेशात्।

तदात्मनोऽपि निषिध्यमानत्वे तन्निषेधात्मके तदात्मनि जगत्प्रवेशात्। न हि 'घटः पटात्मे'त्यनेन पटस्वरूपादन्यस्तदात्मा विहितः स्यात्।

से व्यवच्छेद के लिए लक्षण में 'अन्योन्याप्रतियोगित्व' विशेषण देने का प्रयास व्यर्थ, अतएव हास्यास्पद होगा। अति-आश्चर्य तो यह है कि विशेषण देने पर भी विशेषणरहित के तुल्य दोष होता है।

शंका—'स्तम्भ घटाभाव नहीं है' यह कहने पर क्या स्तम्भ घटरूप सिद्ध होता है ? ऐसा तब होता, यदि जगत् घट तथा घटाभावमात्र होता। जब कि स्तम्भ आदि और भी कोटियाँ (वस्तुएँ) हैं, तब ऐसा कैसे हो सकता है ? इसी तरह अन्योन्याभाव का निषेध होने पर जगत् अन्योन्यरूप कैसे होगा ?

उत्तर—जैसे घट और घटाभाव से अन्य स्तम्भादि हैं, वैसे अन्योन्य और अन्योन्याभाव से अन्य कोई वस्तु नहीं है। अतः संसर्गाभाव के विशेषणरहित अन्योन्य में अन्तर्भूत होने से उक्त दोष वैसे ही है।

समर्थन—'अन्योन्याभाव'-शब्द तादात्म्यप्रतियोगिक अभाव की संज्ञा है, 'अन्योन्यस्य अभावः' इस अर्थ में यौगिक नहीं। एवञ्च अन्योन्याभाव के निषेध का अन्योन्य में पर्यवसान न होने से पूर्वोक्त दोष नहीं होगा। *खण्डन*—यदि तादात्म्य के निषेध को अन्योन्याभाव कहें, तो तादात्म्य के निषेध का निषेध भी तादात्म्यरूप में ही पर्यवसित होगा। तथा च तदात्मक संसर्गाभाव में जगत् का ही प्रवेश हुआ, क्योंकि 'घटः पटात्मा' यह कहने पर घटरूप से अन्य पटात्मा प्रतीत नहीं होता, किन्तु घटरूप ही पटात्मा प्रतीत होता है

यदि तु तादात्म्यं नामाभेदाख्यो धर्मः कश्चिदिष्यते, स घटपटाद्यधिकरणतया निषिद्ध्यते; तदा संसर्गाभाव एव स स्यात्। तस्मात् निर्विशेषणतादात्म्यान्तर्भूतं जगदिति कोऽप्यन्तराभाव इति।

अपि च एवं तर्हि घटे निषिद्ध्यमाने घटाभावो विधीयते, घटाभावे च निषिद्ध्यमाने घट इत्यपि न स्यात्, तृतीयस्य विद्यमानत्वात्। भवन् वा 'घटाभावः स्तम्भो न भवती'त्यत्रापि घटाभावत्वाविशेषात् विशेषान्तरानिर्वचनाच्च घटः स्तम्भात्मेत्येवोक्तं स्यादिति त्वत्प्रसङ्गस्त्वयि निपतेत्। संसर्गान्योन्याभाववैचित्र्यमादाय हि स परिहार्यः, स एव च नाद्यापि व्यवतिष्ठते।

अत एव 'प्रतीतिबलादन्यदेव वैधर्म्यमनयोरुपेयमित्यपि निरस्तम्। प्रति-

समर्थन—अन्योन्याभाव का तादात्म्य प्रतियोगी है, अतः अन्योन्याभाव का निषेध तादात्म्यरूप होगा। तादात्म्य जगत् का धर्म है, जगद्रूप नहीं। *खंडन*—यदि तादात्म्य का घट में निषेध करें, तो अन्योन्याभाव का संसर्गाभाव में प्रवेश होने से उसका उच्छेद हो जायगा। तस्मात् निर्विशेषण अन्योन्य अथवा तादात्म्य में जगत् का प्रवेश होने से संसर्गाभाव अन्योन्याभावात्मक हो ही जायगा।

किञ्च—यदि अन्योन्याभाव के अन्योन्याभाव को अन्योन्यरूप न मानें, तो घटात्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव भी घटरूप न होगा; क्योंकि घट और घटाभाव से अन्य तृतीय कोटि यहाँ भी नहीं है। यदि तृतीय कोटि के रहते भी अभाव के अभाव को प्रतियोगीरूप मानें, तो 'घटाभावात्मा स्तम्भो न भवति' यहां घटान्योन्याभाव का अन्योन्याभाव भी स्तम्भात्मा हो जायगा; क्योंकि अन्योन्याभाव भी अभाव ही है और आपने अभीतक संसर्गाभाव से अन्योन्याभाव का भेद सिद्ध नहीं किया है। अतः 'अत्यन्ताभावस्थल में अभावाभाव प्रतियोगीरूप होता है और अन्योन्याभावस्थल में नहीं' यह नियम मानकर भी अतिप्रसङ्ग का निवारण कर सकते हैं।

समर्थन—किसी अभाव का अभाव प्रतियोगीरूप प्रतीत होता है, तो किसी का प्रतियोगी से अन्य, अतः यह प्रतीति ही दोनों अभावों के भेद में प्रमाण है। *खण्डन*—जब तक लक्षण से अर्थ का भेद सिद्ध न हो, तबतक दोनों अभावों की भेदावगाही प्रतीति प्रमा न होकर भ्रमरूप ही रहेगी। अतः इन दोनों अभावों की भेदावगाही प्रतीति भी प्रमा नहीं।

समर्थन—'जहां प्रतियोगी और अभाव दोनों में परस्पर विरोध हो, वहां अभाव का निषेध प्रतियोगी की विधि के लिए होता है। अर्थात् अभावाभाव प्रतियोगीरूप होता

षेधप्रतिषेद्धृव्यविरोधे हि प्रकारविशेषव्यवस्थानिरुक्त्यशक्तेरविशेषेण एकनिषेधे अन्यविधिध्रौव्यं भवदन्योन्याभावनिषेधेऽप्यन्योन्यविधये स्यात् ।

मम चानिर्वचनीयतैव प्रतीतिव्यवहारव्यवस्थापर्यनुयोगबाणवारणाय वज्रवारबाणायमाना विजयते । मम त्वेवं दर्शनम्—प्रतीतिसिद्धत्वादत्यन्तासद्विलक्षणं भवदपि जगत्तथा सत्तोपगमेऽपि बाध्यमानत्वादनिर्वचनीयमिति ।

अत एव प्रतीयमानत्वाद् वैचित्र्यमनयोर्घुष्यमाणमतिदूरनिरस्तम् । उक्तप्रतियोग्यादिवैचित्र्यानुपपत्तितः प्रतीयमानस्यैव बाध्यताया एव कथनात् । तस्मात्—

'अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदव्यवस्थितौ ।
सत्यां स्यादुतव्यवस्थेति स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥ ३१ ॥'

है । अन्योन्याभावस्थल में अभाव और प्रतियोगी एक अधिकरण में रहने से उनमें विरोध नहीं है, अतः उस स्थल में अभावाभाव प्रतियोगीरूप नहीं होगा । *खंडन*— 'अत्यन्ताभावस्थल में अभावाभाव प्रतियोगीरूप होता है, अन्योन्याभावस्थल में नहीं' यह व्यवस्था भी इन अभावों के निर्वचन के विना हो नहीं सकती । यदि अविशेष रूप से अभावस्थल में उक्त नियम मानेंगे, तो अन्योन्याभाव का अभाव भी अन्योन्यरूप हो जायगा ।

प्रश्न— लक्षण द्वारा इन दोनों अभावों का भेद करना तो आपका भी कर्तव्य है, अन्यथा आप भी प्रतीति और व्यवहार के वैचित्र्य की व्यवस्था कैसे करेंगे ? *खण्डन*— मेरे मत में इस प्रश्नरूप बाण के बचाव के लिए अनिवर्चनीयता ही युद्ध-कवच है । अर्थात् जगत् प्रतीतिसिद्ध होने से अत्यन्त असत् नहीं है और निर्वचन योग्य न होने से बाधित प्रतीति का विषय होने के कारण सत् भी नहीं हैं, किन्तु अनिर्वचनीय है । इसलिए मुझसे निर्वचन का प्रश्न हो ही नहीं सकता ।

प्रतीति के बाधित होने के कारण से ही 'प्रतीति के वैलक्षण्य से दोनों अभावों में वैलक्षण्य है' यह कथन भी खण्डित हो जाता है । उक्त रीति से प्रतियोगी, अधिकरण और लक्षण तीनों में भेद न होने से दोनों अभावों में परस्पर भेद नहीं है । अतः विषय के बाध से प्रतीति बाधित है ।

तस्मात् अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव का भेद सिद्ध होने पर अन्योन्याभावभिन्नत्वघटित संसर्गाभाव का लक्षण हो सकेगा और लक्षण होने पर ही अभावों में भेद सिद्ध होगा—इस तरह संसर्गाभाव के लक्षण में संसर्गाभाव का प्रवेश होने से आत्माश्रय हो जायगा । अथवा विषय के वैलक्षण्य से प्रतीति का वैलक्षण्य होता है और प्रतीति के वैलक्षण्य से

अभाव एव यत्रेति सावधारणं वक्तव्यमिति चेन्न। एवकारेण किमधिकमभिधीयते? भावो निषिद्ध्यत इति चेन्न। तस्याभावपदेनैव लब्धत्वात्, भावनिषेधोऽभाव इत्यनर्थान्तरमिदम्। भावसामानाधिकरण्यनिषेध एवकारार्थ इति चेन्न। उक्तेनैव गतार्थत्वात्। अन्योन्याभावस्य च तस्य स्मृतावपि सम्भवात्।

न हि भावसामानाधिकरण्यं स्मृतिः। स्मृतौ च भावमभावं चैकत्र मन्यमानेन

विषय का वैलक्षण्य अतः अन्योन्याश्रय हो जायगा।

निर्वचन—'जिस ज्ञान में स्मृतित्व का अभाव ही हो, वह ज्ञान अनुभूति है' ऐसा लक्षण करने पर स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

प्रश्न—'एव' शब्द का अर्थ क्या है? *उत्तर*—'एव' शब्द से भाव का निषेध होता है। अर्थात् जिस ज्ञान में स्मृतित्व का अभाव हो, वह 'एव' शब्द का अर्थ है। *खण्डन*—'अभाव' शब्द का अर्थ भी 'न भावः अभावः' इस व्युत्पत्ति से 'जो भाव न हो, वही' हुआ। तब तो पुनरुक्तिदोष हो जायगा।

समर्थन – 'एव' शब्द का 'भावानधिकरणत्व' अर्थ है, अतः पुनरुक्ति नहीं है। *खंडन*—'जहाँ अभाव हो' इस कथन से ही भावसामानाधिकरण्य का भी निषेध हो जायगा, क्योंकि भाव का निषेध होने पर भावाधिकरणत्व का निषेध भी अर्थतः सिद्ध होता है। अतः शब्द-पुनरुक्ति न होने पर भी अर्थ-पुनरुक्ति अवश्य है।

किञ्च—स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य का अन्योन्याभाव स्मृति में भी है, क्योंकि स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य स्मृति नहीं है। अतः 'जहाँ स्मृतित्वाभाव ही हो, स्मृतित्वसामानाधिकरण्य न हो' ऐसा कहने पर भी स्मृति में अनुभूतिलक्षण की अतिव्याप्ति स्थिर ही है। जब आप एक ही स्मृति में स्मृतित्व और स्मृतित्व का अन्योन्याभाव दोनों मानते हैं, तो स्मृतित्वसामानाधिकरण्य और उसका अन्योन्याभाव भी अवश्य मानेंगे, क्योंकि स्मृतित्वसामानाधिकरण्य का तादात्म्य और उसका अन्योन्याभाव दोनों परस्पर प्रतिक्षेप (निषेध) रूप हैं। अर्थात् जब स्मृति में स्मृतित्वसामानाधिकरण्य का तादात्म्य नहीं है, तो उसका अन्योन्याभाव अवश्य रहेगा।

शंका—जब स्मृतित्व का सामानाधिकरण्य है, तो उसके अभाव की स्थिति दुर्घट-सी प्रतीत होती है। *खण्डन*—जैसे पृथिवी और जल में रूप तथा रस का सामानाधिकरण्य है; किन्तु तेज में रस का अभाव होने से उसके सामानाधिकरण्य का अभाव दुर्घट नहीं

एतेन विलक्षण एवायमभावो भावसहासनानुपवेशी य एवकारसमभिव्याहारेणोच्यत इति निरस्तम् । तस्यापि वैलक्षण्यं प्रतियोग्याश्रयनिषेधतासाम्येऽपि सामानाधिकरण्यविरहादुन्नेयम्, तच्च तुल्यमभावान्तरेण ।

सामानाधिकरण्याभावप्रत्ययेनेति चेन्न । प्रत्ययविशेषकस्यार्थस्य स्मृतावपि भावात् । 'अन्योन्याभावव्यतिरिक्तः स्मृतित्वाभावः' इत्युक्तौ च स्मृतिव्यतिरिक्तपक्षोक्त एव दोषः । तदाऽऽस्तां विस्तरः ।

नापि स्मृतित्वप्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं तद्धीर्वेति पक्षः, अन्योन्याभावेऽपि भवतामभावव्यवस्थायास्तादृशत्वेन उक्तप्रसङ्गस्य समानत्वात् ।

समर्थन—भाव के साथ एक अधिकरण में न रहनेवाला तथा अन्योन्याभाव से विलक्षण ही यह अत्यन्ताभाव है, जो एवार्थक 'ही' शब्द की सन्निधि में प्रतीत होता है । अर्थात् 'जहाँ स्मृति का अभाव ही हो' इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि जहाँ स्मृतित्व का अत्यन्ताभाव हो । अतः अन्योन्याभाव का ग्रहणकर स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं है । *खण्डन*—अत्यन्ताभाव का अन्योन्याभाव के साथ प्रतियोगिकृत, अधिकरणकृत या स्वरूपकृत वैलक्षण्य तो है नहीं । फिर यदि केवल प्रतियोगी के साथ असामानाधिकरण्य होने से ही वैलक्षण्य का अनुमान करें, तो वह हो नहीं सकता; क्योंकि अन्योन्याभाव में भी उक्त रीति से असामानाधिकरण्य दिखाया जा चुका है । अर्थात् 'भावसामानाधिकरण्यं न अन्योन्याभावः' इस प्रतीति से सिद्ध अन्योन्याभावरूप असामानाधिकरण्य अन्योन्याभाव में भी है । अतः असामानाधिकरण्यमात्र से अभावों में वैलक्षण्य का ज्ञान नहीं हो सकता ।

समर्थन—अत्यन्ताभाव में प्रतियोगी के साथ असामानाधिकरण्य की प्रतीति होती है, अतः उक्त प्रतीति से ही वैलक्षण्य की अनुमिति क्यों न हो ? *खण्डन*—'असामानाधिकरण्य'रूप विषय के वैलक्षण्य से ही उक्त प्रतीति में वैलक्षण्य है और वह असामानाधिकरण्य अन्योन्याभाव में भी है । अतः प्रतीति से भी दोनों अभावों में भेद न होने से अन्योन्याभाव का ग्रहणकर स्मृति में अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है ।

समर्थन—'जिस ज्ञान में अन्योन्याभाव से भिन्न स्मृतित्वाभाव रहता हो, वह ज्ञान अनुभूति है', ऐसा लक्षण करेंगे, तो अन्योन्याभाव का ग्रहणकर स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—जबतक दोनों अभावों का भेद सिद्ध न हो, तबतक ऐसा लक्षण करने से कुछ लाभ नहीं । किञ्च—यदि 'यत्किञ्चित् अन्योन्याभाव से भिन्न' कहें, तो एक अन्योन्याभाव से भिन्न दूसरा अन्योन्याभाव है, अतः उसे ही ग्रहणकर अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि 'सभी अन्योन्याभावों का भेद' निवेश करें, तो अन्योन्याभाव लेकर दोष तो होगा नहीं, किन्तु हम लोगों को सभी अन्योन्याभावों का ज्ञान न होने से लक्षण ही असिद्ध हो जायगा, कारण सामान्यलक्षणा का तो पहले ही खण्डन हो चुका है । अतः

अथान्यदेव किञ्चित्संसर्गाभावनिर्वचनं क्रियते । तथा हि—स्मृतित्वस्य यत्र संसर्गितया निषेधस्तत्र तदभावस्य संसर्गाभावत्वम् । यत्र तु तदात्मत्वेन, तत्र तदभावस्य न संसर्गाभावता, किन्तु अन्योन्याभावत्वमेव । स च इह न विवक्षितः, पूर्व एव तु संसर्गाभावो विवक्षित इति ।

नैतद्विचारसहम् । 'संसर्गितया निषेधः' इति येयं तृतीया सा लक्षणे वा, सहयोगे वा, कारकभेदे वा करणादौ ? नाद्यः ; संसर्गितया लक्षितस्यैवान्योन्याभावमादाय प्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः ; तत्सहितस्यैवान्योन्यनिषेधस्य प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् । तृतीयस्तु न सम्भवति ; अत्यन्तनिषेधस्यानुत्पत्तिधर्मकत्वात्, तस्य च प्रकृतोदाहरणत्वात् ।

प्रकारवाचिनीयं तृतीयेति चेन्न । प्रकारशब्दार्थस्याधिकस्य निर्वक्तव्यत्वापातात् ।

निखिल अन्योन्याभावों की प्रमिति में अब कोई प्रमाण है ही नहीं । तस्मात् विस्तार से कोई इष्टसिद्धि नहीं, इसलिए अब अधिक विस्तार न किया जाय ।

समर्थन—जिस अधिकरण में स्मृतित्व के अभाव का ज्ञान होता हो, उस अधिकरण का स्वरूप या ज्ञान ही स्मृतित्वाभाव है । वह अनुभूति में ही है, स्मृति में नहीं; अतः अतिव्याप्ति नहीं है । *खंडन*—तब तो आप स्मृतित्व के अन्योन्याभाव को भी स्मृतित्व का अभेदज्ञान जिस आश्रय में हो, उस आश्रय का स्वरूप या ज्ञान-स्वरूप ही मानेंगे । अतः इन पक्षों में भी स्मृति में अतिव्याप्ति वैसी ही बनी हुई है ।

समर्थन—हम संसर्गाभाव का अलग ही निर्वचन करेंगे । सुनिये—जहाँ स्मृतित्व का संसर्गितया निषेध हो, वहाँ स्मृतित्व का संसर्गाभाव है । जहाँ स्मृतित्व का तादात्म्येन निषेध हो, वहाँ स्मृतित्व का संसर्गाभाव नहीं, किन्तु अन्योन्याभाव ही है । उक्त लक्षण में अन्योन्याभाव नहीं, संसर्गाभाव ही विवक्षित है । अतः स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं है ।

खंडन—'संसर्गितया निषेधः' इस पद में तृतीया-विभक्ति का क्या अर्थ है—लक्षण, सहयोग, करण या प्रकार ? इनमें प्रथम और द्वितीय पक्ष उचित नहीं हैं, क्योंकि संसर्गिता से उपलक्षित या संसर्गिता के साहित्य से युक्त स्मृतित्व के अन्योन्याभाव को ग्रहणकर पूर्ववत् अतिव्याप्ति हो जायगी । तृतीय कल्प भी युक्त नहीं है; क्योंकि अत्यन्ताभाव के नित्य होने से संसर्गिता उसका करण (कारक) नहीं हो सकता ।

चतुर्थ पक्ष भी उचित नहीं है; क्योंकि यदि संसर्गिता ही प्रकार है, तो उससे युक्त स्मृतित्व का अन्योन्याभाव ग्रहणकर स्मृति में ही अतिव्याप्ति है । यदि संसर्गिता से अन्य कोई प्रकार हो, तो उसका निर्वचन (लक्षण) कीजिये ।

प्रकारः प्रकार एवेति चेन्न। अविदितलक्ष्यस्य लक्षणमनभिधाय इतरव्य-वच्छेदेन तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। अन्यथा सर्वत्र प्रष्टारं प्रति लक्षणानभिधानापातात्।

'को घटः' इत्यादिपृष्टे 'घट एव घटः' इत्याद्येवोत्तरं सङ्गच्छेत। 'प्रकार एवेति पक्षो नोपपन्नः, सदोषत्वादि'ति वक्ता 'को दोषः' इत्यनुयुक्तः 'दोष एव दोषः' इत्यभिधायैव च निर्वृत्तो भवेदिति।

स्मृति-लक्षण खण्डनम्

स्मृतित्ववत् 'स्मृतेर्लक्षणान्तरेण रहितत्वमनुभूतित्वमिति प्रत्युक्तं वेदितव्यम्। 'गृहीतस्य हि ज्ञानं स्मृतिरि'ति च स्मृतिलक्षणे धारावाहिकज्ञानेऽतिप्रसक्तिः।

समर्थन—'प्रकार' शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है, अतः उसके निर्वचन की आवश्यकता ही नहीं। किन्तु प्रकार ही प्रकार है। *खंडन*—जो लोग प्रकाररूप लक्ष्य को ही नहीं जानते, उन्हें आप बिना लक्षण किये इतरव्यावृत्तरूप लक्ष्य का स्वरूप ही दिखा नहीं सकते। यदि आप लक्षण न करके भी लक्ष्य को इतर-व्यावृत्त रूप से दिखा सकें, तो प्रष्टा के बोध के लिए सर्वत्र लक्षण करना व्यर्थ ही हो जायगा।

किञ्च—यदि कोई प्रश्न करे कि 'घट क्या है', तो इस पर 'घट एव घटः' यह उत्तर ही पूर्ण सङ्गत हो जायगा। किञ्च—'प्रकार-पक्ष युक्त नहीं है, सदोष होने से' यह कहनेवाला 'क्या दोष है' यह पूछे जाने पर 'दोष ही 'दोष है' यह कहकर ही विजय प्राप्तकर प्रसन्न हो जायगा।

स्मृति-लक्षण का खण्डन

इसी तरह यदि आप 'स्मृतिलक्षणरहितत्वे सति ज्ञानत्वमनुभूतित्वम्' यह अनुभूति का लक्षण करें, तो वह भी नहीं हो सकता। कारण जैसे ऊपर 'स्मृतिरहितत्वे सति ज्ञानत्वम्' इस लक्षण में स्मृतित्व का अन्योन्याभाव लेकर स्मृति में अतिव्याप्ति दी गयी है, वैसे ही यहाँ भी स्मृति-लक्षण का अन्योन्याभाव लेकर स्मृति में ही अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च— स्मृति का लक्षण न होने से 'स्मृतिलक्षणरहितत्वे सति ज्ञानत्वमनुभूतित्वम्' यह लक्षण भी अयुक्त है।

निर्वचन-कर्ता—गृहीत (ज्ञात) का ज्ञान ही स्मृति है। *खंडन*—ऐसा लक्षण करने पर धारावाहिक ज्ञान में पूर्व-पूर्व ज्ञान से गृहीत विषय उत्तर-उत्तर ज्ञान का विषय होने से उत्तरज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी।

सापेक्षज्ञानं स्मृतिः, सापेक्षता च स्वविषयनियमे समानविषयज्ञानापेक्षतेति चेन्न। प्रत्यभिज्ञायास्तत्ताभागस्य स्मृतित्वापत्तेः। एवमस्त्विति चेन्न। तर्हि प्रत्यभिज्ञायां स्मृत्यनुभवभागयोर्भिन्नविषयत्वव्यवस्थितौ तदभेदः केन गृह्यतेति पूर्वदोष आवर्तते।

संस्कारमात्रजं ज्ञानं स्मृतिरित्यपि न। सामग्रीतः सर्वसम्भवेन लक्षणस्यासम्भवात्। असाधारणतद्धेतुकधीत्वमिति चेन्न। आत्मप्रत्यभिज्ञानेऽप्यापत्तेः, आत्ममनोयोगस्य साधारण्यात्।

निर्वचन—'स्वविषय के नियम में समानविषयक ज्ञान की अपेक्षा रखनेवाले ज्ञान' को स्मृति कहेंगे। *खण्डन*—ऐसा लक्षण करने पर 'तद् एव इदम्' इस प्रत्यभिज्ञा में तत्तांश में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा भी तत्तांश में समानविषयक अनुभव की अपेक्षा करती है। यदि प्रत्यभिज्ञा को तत्तांश में स्मृति मान लें, तो पूर्वदोष की ही आवृत्ति हो जायगी, अर्थात् 'प्रत्यभिज्ञा को 'तत्ता'-अंश में स्मृति और 'इदम्' अंश में अनुभवरूप भिन्न-भिन्न विषयक मान लेने पर उन दोनों का अभेद रूप अंश किससे गृहीत होगा ?

निर्वचन—केवल संस्कारजन्य ज्ञान को ही स्मृति कहेंगे। *खंडन*—सभी कार्य कारणसामग्री से ही उत्पन्न होते हैं, कोई भी कार्य एक कारण से उत्पन्न नहीं होता। अतः स्मृति भी केवल संस्कार से जन्य न होने से उक्त लक्षण में असम्भव हो जायगा। स्मृति में भी आत्म-मनोयोग आदि अनेक कारण हुआ ही करते हैं।

निर्वचन—'संस्कार है असाधारण कारण जिसका, वह ज्ञान स्मृति है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—'सोऽहम्' इस आत्मविषयक प्रत्यभिज्ञा का भी संस्कार ही असाधारण कारण है, अतः प्रत्यभिज्ञा में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। आत्म-मनःसंयोग ज्ञानमात्र के प्रति कारण होने से वह प्रत्यभिज्ञा का असाधारण कारण नहीं हो सकता। यदि कहें कि संस्कार भी स्मृति का कारण होने से प्रत्यभिज्ञा का असाधारण कारण नहीं है, तो हम भी कह सकेंगे कि संस्कार प्रत्यभिज्ञा का कारण होने से स्मृति का भी असाधारण कारण नहीं है। फलतः लक्षण में असम्भव दोष हो जायगा।

कार्यैक्यानवधारणे च कारणत्वानवधारणात् । तदैक्ये च तदेव लक्षणं स्यात् ।

येन ज्ञानेनार्थो ज्ञाततात्मकः क्रियते, तदनुभवः । येन तु ज्ञानमेव तथा, तत् स्मरणमिति चेन्न । ज्ञातो ज्ञास्यते चेत्यनुमानादावव्याप्तेः ।

ततश्च विषयतः स्मृतिविवेचनमन्ततो वाक्येनाप्यनुभाव्यत्वात् कार्यकारणाभ्यां चानुगतरूपस्य प्रागसिद्धेः, जातितश्च सङ्करप्रसङ्गादशक्यमिति ।

किञ्च—'स्मृतिं प्रति संस्कारः कारणम्' इस कार्य-कारणभाव की सिद्धि के विना उक्त लक्षण संभव नहीं और उक्त कार्यकारणभाव कार्यता के अवच्छेदक स्मृतित्वजाति की सिद्धि के विना हो नहीं सकता, कारण प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व के साथ साङ्कर्य होने से स्मृतित्वजाति अद्यावधि सिद्ध ही नहीं हुई है। कथञ्चित् सिद्ध भी हो जाय, तो लाघव या पूर्व उपस्थित होने से स्मृतित्व ही लक्षण होगा, 'संस्कारासाधारणकारणकत्व'रूप लक्षण में कोई प्रमाण नहीं है।

निर्वचन—'जिस ज्ञान से अर्थ (विषय) ज्ञाततारूप धर्म से युक्त किया जाय, वह ज्ञान अनुभूति है' और 'जिसमें ज्ञाततायुक्त ही ज्ञाततायुक्त किया जाय, वह स्मृति है' ऐसे लक्षण करेंगे। *खंडन*—तब तो ज्ञात (अतीत) और ज्ञास्यमान (अनागत) विषय की अनुमिति के स्थल में ज्ञातता की उत्पत्ति ही नहीं होगी; क्योंकि वहां विषयरूप अधिकरण उस काल में नहीं है। एवञ्च उक्त लक्षण भूत-भविष्यत् स्थल में न जाने से वहां अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—वर्तमान विषयस्थल में अनुमिति में स्मृतिलक्षण की अतिव्याप्ति भी हो जायगी, क्योंकि अनुमिति ज्ञात को ही विषय करती है, अतः वह ज्ञातताविशिष्ट ही है। तस्मात् 'ज्ञातो घटः' इस अनुव्यवसाय-स्थल में ज्ञानसम्बन्ध भासता है, ज्ञाततारूप अपूर्व धर्म नहीं। अन्यथा यदि ज्ञान-स्थल में ज्ञातता की उत्पत्ति मानें, तो तुल्ययुक्ति से इच्छा और कृति में इष्टता और कृतता भी माननी पड़ेगी; पर वैसा न मानते।

यद्यपि 'गृहीतविषयकं ज्ञानं स्मृतिः' यह वाक्य लक्षण को प्रतिपादन करता है, तथापि लक्षणघटकतया गृहीत अर्थ को भी प्रतिपादन करता ही है। अतः उस अंश में गृहीतविषयक होने से लक्षणवाक्यजन्य बोध में स्मृतिलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, विषयकृत तथा अनुगत स्मृतित्वादिरूप के सिद्ध होने से कार्यकारणभावकृत और साङ्कर्य होने से जातिकृत स्मृति का भी निर्वचन सम्भव नहीं।

अनुभवत्व-विशेष-खण्डनम्

नापि चतुर्थः ; यतः कार्यगतवैलक्षण्यानवगमे क्व कारणता क्वासाधारण्यं वा ज्ञेयमिति ।

तत्त्वानुभवत्व-खण्डनम्

न केवलं प्रत्येकं पदार्थस्य तद्व्यवच्छेदकत्वस्य चानुपपत्तिः, मिलितेऽप्यस्मिन् लक्षणे दूषणमुच्यते । तथा हि—'तत्त्वानुभूतिः प्रमे'त्यनेन काकतालीयमपि यथार्थज्ञानं व्याप्यते । तद्यथा—पाणौ पञ्च वराटकान् पिधाय कश्चित् पृच्छति 'कति वराटकाः' इति । पृष्टश्च अजाकृपाणीयन्यायेन ब्रवीति 'पञ्चेति' । ततश्च 'पञ्चे'ति ज्ञानमस्ति वक्तुः श्रोतुश्च । दृश्यन्ते तावदेवंविधान्युदाहरणानि । तच्च ज्ञानं न तत्त्वपदेन व्यवच्छेत्तुं शक्यम् । वस्तुतस्तस्य पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्नत्वेन अतथाभूतत्वाभावात् । नाप्यनुभवशब्दव्यवच्छेद्यम्, अननुभूतचरत्वेन स्मरणलक्षणापेक्षणात् ।

अनुभवत्व-विशेष का खण्डन

'जिन ज्ञानों के असाधारण कारण कार्य से अव्यवहित प्राक्क्षण में उत्पन्न होते हों, वे ज्ञान अनुभूति हैं' यह चतुर्थ विकल्प भी युक्त नहीं है; क्योंकि जबतक कार्यगत किसी धर्म का ज्ञान न हो, तबतक किसके प्रति कारणत्व या असाधारणत्व का ग्रहण होगा ? इनके ग्रहण के विना यह लक्षण हो ही नहीं सकता ।

तत्त्वानुभवत्व का खण्डन

समुदायलक्षण का खंडन—किञ्च, केवल एक एक तत्त्व-पदार्थ और अनुभूति-पदार्थ की ही अनुपपत्ति तथा व्यवच्छेदकता का अभाव नहीं है। किन्तु समुदायलक्षण में भी दूषण है । सुनिये—'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इस लक्षण से काकतालीय (अतर्कित) भी यथार्थ ज्ञान व्याप्त होते हैं। जैसे कोई मनुष्य हाथ में पांच कौड़ियाँ छिपाकर किसी से पूछता है कि कितनी कौड़ियाँ हैं। वह काकतालीय न्याय से ही अकस्मात् उत्तर देता है, कि 'पांच' । ऐसे स्थल में वक्ता और श्रोता दोनों को पञ्चवराटक का ज्ञान होता है। ऐसे अनेक उदाहरण देखने में आते हैं। किन्तु उन ज्ञानों की तत्त्वपद से व्यावृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि वस्तुतः पञ्चत्वसंख्या से युक्त होने से वराटक भी तत्त्व ही हैं। अनुभूति पद से भी उसकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि पञ्चवराटक के पूर्वकाल में अनुभूत न होने से उसका ज्ञान स्मरण नहीं है ।

न च वक्तुः संशय एव, निश्चायकाभावात्; एकतरकोटिव्यवहारस्तु कृष्यादिप्रवृत्तिवदिति युक्तम्। तत्राप्याहाररूपैककोटिनिश्चयास्थानात्; अन्यथा संशयस्य कोटिद्वयनिश्चयसमुच्चयतापत्तेः।

न च प्रमैव तदित्युररीकरणीयम्; मध्येऽध्यक्षादिदुरन्तर्भावत्वात्।

अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सतीति विशेषणीयमिति चेन्न। तत्त्वपदवयर्थ्यापातात्। न च काकतालीयसंवादमपि ज्ञानं व्यभिचारिसाधारणकारणसामग्रीजन्यमास्थातुमीशिष; व्यभिचारिणोऽपि कारणाविशेषात् यथार्थत्वप्रसङ्गात्।

न ह्यहेतुकमेवास्य यथार्थत्वम्; नियामकाभावेन अतिप्रसङ्गापातात्। अवश्यमस्याव्यभिचारित्वे अव्यभिचारिनियतमेव करणं वक्तव्यम्।

प्रश्न—यहां वक्ता को सन्देहात्मक ही ज्ञान होता है, क्योंकि निश्चय की सामग्री ही नहीं है। किन्तु सन्देहात्मक ज्ञान होने पर भी कृषि में प्रवृत्त मनुष्य के तुल्य एक कोटि का व्यवहार हो सकता है। अर्थात् जैसे 'फलं भविष्यति न वा' ऐसा सन्देह होने पर भी कृषक 'अवश्य फल होगा' इसी एक कोटि का व्यवहार करते हैं, वैसे ही वराटक-स्थल में भी सन्देह होने पर एक कोटि का ही व्यवहार होगा। अतः अनुभूति पद से उक्त ज्ञान का व्यवच्छेद क्यों न होगा? *उत्तर*—कृषिस्थल में 'सहकारी वृष्टि आदि होने पर फल अवश्य होगा' इत्याकारक ज्ञान होता है। यह उत्प्रेक्षारूप निश्चय ही है, सन्देह नहीं। यदि निश्चय की तरह सन्देह भी व्यवहार का जनक हो, तो उभयकोटिक सन्देह भी निश्चय ही हो जायगा। अथवा यदि एककोटिक उत्प्रेक्षा को निश्चय मानें, तो उभयकोटिक सन्देह भी निश्चय हो जायगा।

प्रश्न—'पञ्च वराटकाः' यह ज्ञान प्रमा है, ऐसा क्यों न स्वीकार करें? *उत्तर*—यदि उसे प्रमा मानेंगे, तो उसका प्रत्यक्ष आदि में अन्तर्भाव करना पड़ेगा, किन्तु वह हो नहीं सकता।

प्रश्न—'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इस लक्षण में 'अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सति' यह निवेश करेंगे। एवञ्च 'पञ्च वराटकाः' यह ज्ञान प्रमा नहीं कहलायेगा। *उत्तर*—ऐसा निवेश करने पर 'तत्त्व' विशेषण व्यर्थ हो जायगा। किञ्च—काकतालीय यथार्थ ज्ञान को भी व्यभिचारी करण से जन्य मानें, तो शुक्ति में रजतज्ञान भी यथार्थ कहा जायगा।

प्रश्न—'पञ्च वराटकाः' यह ज्ञान अहेतुक ही क्यों न माना जाय? *उत्तर*—ज्ञान भावकार्य है, अतः वह अहेतुक नहीं हो सकता। फिर, ज्ञान की यथार्थता को भी निर्हेतुक नहीं कह सकते। कारण यदि यथार्थता को निर्हेतुक मानें, तो भ्रम में भी यथार्थता हो जायगी अथवा प्रमा भी अयथार्थ हो जायगी। यदि 'पञ्च वराटकाः' यह ज्ञान अव्यभिचारी है, तो उसका कारण भी निश्चय ही अव्यभिचारी होना चाहिए।

किं तदिति चेत्; स्वात्मनैवात्र प्रश्ने दीयतामुत्तरं भवता, येन नियतेषु प्रमाराशिष्वेवेदं ज्ञानमन्तर्भाव्यम्, प्रमासामान्यलक्षणेन वा व्यवच्छेत्तव्यम् ।

एवं लिङ्गाभासादिभ्योऽपि जातं लिङ्गिज्ञानं दैवगत्या स्थितलिङ्गलिङ्गिनि लिङ्गिमत्येव वा यत् स्यात्तत् यद्यपि लिङ्गाभासे न प्रमा, न वा तद्वति लिङ्गि-स्वरूपे; तथापि विशिष्टं तथाविधं गोचरयन्त्यास्तस्या बुद्धेर्लिङ्गान्तरवति केवले वा लिङ्गिनि वह्न्याद्यात्मंशे विषये प्रामाण्यस्वीकारेण उक्तदोषापरिहारादिति ।

आभासकरणजत्वात्तद्विषयस्य वस्तुभूतात् लिङ्ग्यादेरन्यत्वमेवेति चेन्न । विशेषस्यान्यत्वेऽपि तज्जातीयमात्रवत्तावभासांशे दोषापरिहारात् ।

प्रश्न—वह कारण क्या है ? अर्थात् जब उसका प्रत्यक्ष ही नहीं होता, तो वह है ही नहीं । उत्तर—जब उसका कार्य यथार्थज्ञान है, तो कारण का अनुमान करना चाहिए । अनुपलब्धि से अभाव का निश्चय करना उचित नहीं है, क्योंकि अयोग्य में अनुपलब्धि से अभाव का निश्चय नहीं हो सकता ।

अथवा आप ही इस प्रश्न का उत्तर दीजिये, जिससे प्रत्यक्षादि स्वीकृत प्रमासमूह में इसका अन्तर्भाव हो या प्रमा के 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इस सामान्यलक्षण से व्यावृत्ति हो सके ।

इसी तरह धूलिपटल में धूमभ्रम के बाद वह्निज्ञान दैववश हेतु-साध्ययुक्त या साध्ययुक्त अधिकरण में ही होता है । यद्यपि वह हेत्वाभास-अंश में प्रमा नहीं है और न हेत्वाभास से विशिष्ट साध्य-अंश में ही प्रमा है, तथापि सभी लोग हेतुविशिष्ट साध्य को विषय करनेवाली उस बुद्धि का अन्य हेतु से विशिष्ट साध्य-अंश में अथवा केवल वह्निरूप साध्य-अंश में प्रामाण्य का स्वीकार करते हैं । अतः वहाँ प्रमालक्षण की अति-व्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'आभास-करण से जन्य ज्ञान का विषय वह्नि परमार्थ वह्नि से अन्य है, आभास-करणजन्य होने से, प्रत्यक्ष-भ्रम के विषयवत्' इस अनुमान से उक्त ज्ञान के अतत्त्वविषयक होने के कारण प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है । *खंडन*—यदि वह्नि-अंश में वह्नि का ज्ञान अन्यविषयक हो, तो वास्तविक धूम से जो वह्नि का ज्ञान होता है, वह भी अन्यविषयक क्यों न हो ? यदि किसी प्रकार अन्यविषयक मान भी लें, तो भी व्यक्ति-अंश में अन्यविषयक होने पर भी जाति-अंश में तत्त्व-विषयक होने से उस अंश में अतिव्याप्ति बनी ही रहेगी ।

सामान्यसम्बन्धकोटिनिविष्टत्वाद् विशेषस्य, तस्य च तत्रानवस्थितस्यैव स्फुरणान्नैष दोष इति चेन्न। विशेषाप्रतिभासे सामान्यतस्तन्मात्रवृत्ताप्रतिभासस्यापि अभ्युपेयत्वात्, देवदत्तयज्ञदत्तसम्बन्धितासंशयेऽपि पुरुषसम्बन्धितानिश्चयवत्। सम्बन्धिविशेषस्य निर्लुठितविशेषरूपतया च प्रवेशे व्याप्त्यादेरननुगमप्रसङ्गात्। सामान्यानुमानाभासे च संवादिनि विशेषान्यवत्ताकल्पनानवकाशात्।

सामान्यसमवाययोरप्यन्ययोरेव प्रतिभासे अन्यथाख्यातिं विहाय असत्ख्यातिप्रवेशापातात्।

तत्रत्यधर्मान्तरस्य जात्या तादात्म्यारोपस्तत्रेति चेन्न। तथापि धर्मिणि जातौ च प्रमात्वतादवस्थ्यात्; संसर्गारोपनिमित्ताच्च तादात्म्यारोपानुपपत्तेः।

प्रश्न—यदि धूलिपटल में ज्ञात धूम से जायमान अनुमिति में परमार्थ वह्नि नहीं भासता, तो सामान्य भी असत् ही भासता है; क्योंकि सामान्य के सम्बन्ध की एक कोटि में विशेष है और वह (विशेष) उक्त ज्ञान में असत् ही भासता है। फिर सामान्य सत् कैसे भासेगा ? *उत्तर*—विशेषरूप से व्यक्ति का भान न होने पर भी सामान्यरूप से व्यक्ति का भान स्वीकार किया जाता है। वह व्यक्ति सत् भासती है या असत्, यह आग्रह नहीं। यह भी निश्चय (नियम) नहीं कि व्यक्ति असत् भासे, तो सामान्य भी असत् ही भासे। केवल यही नियम है कि निर्विशेष सामान्य नहीं भासता, जैसे कि माला में देवदत्त-निर्मितत्व, यज्ञदत्त-निर्मितत्व के विशेषरूप से अज्ञात होने पर भी पुरुष-निर्मितत्व का ज्ञान होता है। यदि सामान्यमात्र-प्रकारक ज्ञान न हो, केवल विशेष-विषयक ही ज्ञान हो, तो व्याप्ति का अनुगम (ज्ञान) नहीं होगा। किञ्च, जहाँ गौ के गले में बद्ध पट में सास्ना-भ्रम के बाद 'अयं गौः सास्नावत्त्वात्' ऐसी गोत्वानुमिति होती है, वहाँ गोत्व-जाति के एक होने से 'अन्य ही गोत्व भासता है' यह कहा नहीं जा सकता।

प्रश्न—यहाँ भी अन्यरूपमें सामान्य (गोत्व) या उसका समवाय ही भासता है, ऐसा क्यों न माना जाय ? *उत्तर*—गोत्व और समवाय अन्य हैं ही नहीं। अतः यदि उस अलीक अन्यपदार्थ का भी भान मानें, तो अन्यथाख्याति को त्याग असत्ख्याति का स्वीकार होगा, जो आपके लिए अपसिद्धान्त हो जायगा।

प्रश्न—'अयं गौः' इस अनुमिति-स्थल में गोनिष्ठ रूपादि में गोत्व का तादात्म्य भासता है, ऐसा ही क्यों न मानें ? *उत्तर*—यदि ऐसा मान लें, तो भी उक्त अनुमिति तादात्म्यांश-मात्र में भ्रम होगी। धर्मी 'गौ' और जाति 'गोत्व' अंश में प्रमा ही है, अतः

परार्थानुमानाभासे हि प्रतिपादितपदार्थसंसर्गारोपकारणसम्भवात्; तथापि तत्र तादात्म्यारोपकल्पने च तथाभ्रमनियमस्य निष्प्रमाणकत्वात्।

कस्यचित्तत्र जातसंवादजातिसंसर्गभ्रमस्य मितौ का गतिः, का वा गतिः सिद्धसाधने ? तत्राप्यन्यत्वकल्पनायां सिद्धत्वव्याघातात्। तथात्वे च हेत्वाभासस्यापि यथार्थग्राहितया उक्तनिमित्तस्य व्यभिचारेणाप्यन्यत्राभासे अन्यप्रतिभासकल्पनाया निर्निमित्तत्वात्; सिद्धसाधनमितेरेव वा व्यवच्छेदात्।

याथार्थ्य-खण्डनम्

यथार्थानुभवः प्रमेत्यप्यलक्षणम्। यथार्थत्वं हि तत्त्वविषयत्वं वा अर्थसदृशत्वं

उक्त अंश में अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—उक्त स्थल में जब कि वह सामग्री गौ में गोत्व-समवायरूप सम्बन्ध के आरोप का कारण है, तो तादात्म्य का आरोप कैसे होगा ? कथञ्चित् स्वार्थानुमान-स्थल में 'तादात्म्यारोप की सामग्री है' ऐसा मान भी लें, तो भी परार्थानुमितिस्थल में 'अयं गौः' इस प्रतिज्ञावाक्य से धर्मी तथा धर्म की उपस्थितिरूप संसर्गारोप की सामग्री होने पर वहाँ तादात्म्य का आरोप करें, तो 'कहीं तादात्म्य का आरोप होता है, कहीं संसर्ग का' यह नियम ही निष्प्रमाण हो जायगा।

किञ्च—किसी मनुष्य को संसर्गारोप में 'गवि गोत्वसंसर्गमनुमिनोमि' इस अनुव्यवसाय से जहाँ संवाद-यथार्थत्व का निश्चय हुआ हो, वहाँ क्या गति होगी ? अर्थात् वहाँ तादात्म्यारोप है, यह नहीं कह सकते। किञ्च—सिद्धसाधनस्थल में यथार्थ ही अनुमिति होती है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि सिद्धसाधनस्थल में अन्य ही साध्य भासता है, अतः उक्त स्थल में ज्ञान के अयथार्थ होने से अतिव्याप्ति नहीं है, तो असिद्ध होने से उसका साधन हो ही सकता है यह सिद्ध साधनस्थल है इस कथन में व्याघात हो जायगा। यदि उक्त स्थल में ज्ञान के यथार्थ होने से उसको प्रमालक्षण का लक्ष्य ही मान लें, तो सिद्धसाधन के तुल्य अन्य हेत्वाभास से भी प्रमारूप ज्ञान ही उत्पन्न होंगे। फिर धूलिपटल में धूमभ्रम के अनन्तर जात अनुमिति में जो आप अन्य अग्नि का भान मानते हैं, वह निमित्तरहित हो जायगा। यदि कथञ्चित् धूलिपटल में धूमिभ्रम-स्थल में अन्य वह्नि का भान मान लें, तो भी सिद्धसाधनस्थल में ज्ञान के यथार्थ होने से अतिव्याप्ति अवश्य हो जायगी।

याथार्थ्य का खण्डन

खंडन—'यथार्थ अनुभव प्रमा है' प्रमा का यह लक्षण भी दोषरहित नहीं है।

वा स्यात् ? नाद्यः ; पूर्वं निरस्तत्वात्। नापि द्वितीयः ; व्यभिचारिणोऽपि प्रमेयत्वादिना अर्थसादृश्येन प्रमात्वापातात्।

ननु ज्ञानविषयीकृतेन रूपेण सादृश्यमिदं विवक्षितम्। न च प्रमेयत्वादिरूपस्य व्यभिचारिण्यपि प्रकाशनसम्भवेन तथाप्यतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्। प्रमेयत्वाद्यंशे प्रकाशमाने विषयीभूतधर्मान्तरापेक्षया व्यभिचारिणोऽपि प्रमात्वाभ्युपगमादिति। नैतद्युक्तम्; प्रकाशमानेन रूपादिसमवायित्वेन रूपेण ज्ञानस्य अर्थसादृश्यानभ्युपगमेऽपि तत्र तदीयप्रमात्वाङ्गीकारादिति।

प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणभावादर्थसादृश्यमनुभवस्य विवक्षितम्। अर्थस्य हि यथा समवायाद्रूपं विशेषणीभवति, तथा विषयभावाद् ज्ञानस्यापि तद्विशेषणं

कारण 'अर्थमनतिक्रम्य वर्तते इति यथार्थम्' इस व्युत्पत्ति से 'यथार्थ' शब्द का यदि 'अर्थविषयकत्व' अर्थ करें, तो 'अर्थ' और 'तत्त्व' पर्यायवाची शब्द होने से तत्त्वविषयकत्व के पूर्वोक्त खण्डन से यह भी खण्डित ही है। 'अर्थस्य सादृश्यं यथार्थम्' इस व्युत्पत्ति से 'अर्थसदृश' यह अर्थ करें, तो 'इदं रजतम्' यह भ्रम भी प्रमेयत्व रूप से शुक्ति या रजतत्व के सदृश है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—यहाँ सादृश्यज्ञान विषयत्वेन विवक्षित है। एवञ्च 'इदं रजतम्' इस भ्रम के विषय में प्रमेयत्व से सादृश्य होने से वहाँ भी अतिव्याप्ति नहीं होगी। यदि कहें कि ऐसा निवेश करने पर 'इदं रजतं प्रमेयम्' इस भ्रम-ज्ञान के विषय प्रमेयत्व धर्म से सादृश्य का ग्रहणकर पुनः अतिव्याप्ति हो जायगी, तो वह ठीक नहीं। कारण प्रमेयत्व अंश में वह ज्ञान प्रमा ही है और रजतांश में प्रमेयत्वेन सादृश्य का ग्रहण ही नहीं है। अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं है। *खंडन*—'रूपसमवायी घटः' इस ज्ञान में रूपसमवायरूप से घट का सादृश्य-ज्ञान न होने पर भी इस ज्ञान को प्रमा मानते हैं, अतः लक्षण की उक्त ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—ज्ञानविषयतया विशेषणत्वरूप सम्बन्ध से अर्थ का सादृश्य ज्ञान में विवक्षित है। जैसे घटरूप अर्थ में रूप समवाय सम्बन्ध से विशेषण है, वैसे ही ज्ञान में भी विषयता सम्बन्ध से विशेषण है; अतः अव्याप्ति नहीं है। *खण्डन*—ऐसा करनेपर 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण पुरोवर्तित्व (इदन्त्व) समवाय

भवत्येवेति चेन्न । एवं हि पुरोवर्तित्वादिना रूपेण तथाभावसम्भवात् । पुरोवर्तिनीं शुक्तिं रजततयाऽवगाहमानं ज्ञानं प्रमा स्यात् ।

न च वाच्यमिष्यत एव सा प्रमाऽपीति न व्यभिचारचोदनेयं युक्तिमतीति ; यथार्थताविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । 'अनुभूतिः प्रमे'त्युक्त एव हि तावन्नास्त्यतिप्रसङ्गः ; सर्वस्य व्यभिचार्यनुभवस्य (अन्ततोऽन्यथाख्यातिवादिनये) धर्मिण्यपि प्रमात्वसम्भवेन प्रमायामेव अनुभवत्वस्य स्थैर्यात् । यदि तु अंशतोऽपि व्यभिचारिण्यां मा लक्षणं गमदिति चेतसि निधाय यथार्थत्वं विशेषणं प्रयुक्तम् ; तदा न युक्तम्, उक्तदोषात् ।

अथोच्यते—प्रकाशमानेन रूपेण सर्वेण विशेषणभावात् यस्यानुभवस्यार्थसादृश्यं सा प्रमा । न च तावता धर्मिणो धर्म्यविशेषणतया दोषः, तस्यापि तद्विषयान्तरव्यवच्छेदकत्वादिति ।

या स्वरूप-सम्बन्ध से जैसे इदमंश (शुक्ति में) विशेषण है, वैसे ही ज्ञान में भी विषयता सम्बन्ध से विशेषण है ।

समर्थन—'इदं रजतम्' यह ज्ञान प्रमा भी है; अतः वहाँ लक्षण का जाना भूषण ही है, दूषण नहीं । *खंडन*—यदि 'इदं रजतम्' यह भ्रम भी लक्ष्य ही मानें, तो यथार्थ विशेषण व्यर्थ हो जायगा । 'अनुभवः प्रमा' यह कहने पर भी कोई दोष नहीं है । कारण अन्यथाख्यातिवादी के मत में सम्पूर्ण व्यभिचारी अनुभव (भ्रम) के अन्ततः धर्मी-अंश में प्रमा होने से अनुभवमात्र प्रमा ही है । यदि अंश से भी व्यभिचारी में लक्षण न जाय, इसलिए यथार्थत्व विशेषण दिया है, तो यह भी युक्त नहीं, कारण उक्त विशेषण देने पर भी पुरोवर्तित्वरूपेण अर्थ का साम्य होने से भ्रम में अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है ।

समर्थन—अर्थ के यावत् विशेषण विषयता सम्बन्ध से जिस ज्ञान में हों, वह ज्ञान प्रमा है । भ्रम में विषयता सम्बन्ध से ज्ञान का विशेषण शुक्तिरूप अर्थ का विशेषण नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं । यह भी नहीं कह सकते कि विशेष्य रूप अर्थ ज्ञान का विशेषण है और वह 'स्व' का विशेषण नहीं है; क्योंकि विशेष्य भी स्वगत धर्म का विशेषण (इतर से व्यावर्तक) होता ही है, अतः अव्याप्ति नहीं है ।

तर्हि व्यभिचारिज्ञानं धर्मिण्यपि प्रमा न स्यात्, सर्वात्मना सादृश्याभावात्। अव्यभिचारिणं चांशमननुरुद्ध्य तदीयाप्रमितिकोटिनिक्षेपसाहसिक्याद बिभ्यता किमव्यभिचार्यंशानुरोधेन व्यभिचार्यंशस्यापि प्रमाकोटिनिवेशनमेव नाध्यवसीयते भवता ? शक्यन्ते ह्यनुभूतित्वज्ञानत्वादयस्तादृशाभिप्रायाविरोधिनो लक्षणीकर्तुम्।

यदि च बाध्यार्थांशा धीरबाध्यार्थांशेऽप्यप्रमैव, तदा सौधाग्रकुम्भादिवद् दूरत्वात् तुहिनद्युतिविद्युदादिपरभागाग्रहणादवयविनं च तावत्परिमाणाग्रहणादल्पपरिमाणमुल्लिखत् प्रत्यक्षं प्रमात्वेन लोकप्रसिद्धमप्रमा स्यात्। क्व च लभ्यं देशकालालोकादिव्यक्तिसहितजलादिज्ञानस्य समस्ततावदर्थप्रवृत्तिसामर्थ्योदाहरणम्, येन तत्प्रामाण्यं मन्यसे।

खण्डन—ऐसा निवेश होने पर व्यभिचारी ज्ञान (भ्रम) धर्मी-अंश में भी प्रमा नहीं होगा, कारण सर्वांश में अर्थ सदृश नहीं है। यदि आप अव्यभिचारी अंश का अनुरोध न कर व्यभिचारी अंश के अनुरोध से सर्वांश में भ्रमज्ञान को अयथार्थ कहने के साहस से न डरते हों, तो व्यभिचारी अंश का अनुरोध न कर अव्यभिचारी अंश के अनुरोध से सर्वांश में भ्रम को प्रमा ही मानने का अध्यवसाय क्यों नहीं करते ? इस अभिप्राय से तो प्रमा के ज्ञानत्व, अनुभूतित्व आदि लक्षण हो ही सकते हैं।

किञ्च—यदि अंशतः बाधित बुद्धि अबाधित अंश में भी अप्रमा ही हो, तो चन्द्र, विद्युत् आदि अवयवी को अल्पपरिमाण बतलानेवाला प्रत्यक्ष भी अप्रमा होने लगेगा। कारण प्रासाद-शिखर पर स्थित कुम्भ की तरह दूर होने से उनके अन्य भागों का ग्रहण न हो सकेगा और उनका ग्रहण न होनेसे वास्तविक परिमाण का भी ग्रहण न होगा। इसीलिए उक्त अवयवियों की अल्पपरिमाणत्वेन प्रत्यक्षप्रमा ही होती है। एवञ्च लोक में धर्मी-अंश में प्रमात्वरूप से प्रसिद्ध यह ज्ञान भी अप्रमा हो जायगा। किञ्च—ज्ञान के विषय तो देश, काल, आलोक आदि व्यक्ति से युक्त जलादि यावद् वस्तुएँ हैं। किन्तु वे सभी अर्थ की विशेषण हैं, ऐसा कहीं भी नहीं मिलेगा। कारण ज्ञान के संपूर्ण विषय तभी अर्थ के विशेषण हो सकते, जब कि ज्ञान का विषय सब प्रकार से अबाधित होता। यह अबाधितता प्रवृत्ति-संवाद से गम्य है और सब प्रकारों में प्रवृत्ति-संवाद कहीं नहीं होता। अतः लक्षण में असंभव दोष हो जायगा।

यदि च बाध्यार्थांशे बाधादबाध्येऽप्यंशे तद्बोधमिथ्यात्वं समर्थयसे, तदा यदर्थजातीयं बाध्यं तदर्थजातीयमबाध्यमपि मिथ्येति मन्यमाने किमुत्तरं ते स्यात्, अन्यत्र लोकप्रसिद्धप्रमोदाहरणत्यागात् ।

अथोच्यते—प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणतया यदर्थसाम्यमनुभवस्य तत्र प्रमात्वमिति विषयविशेषनियमेनैव प्रमात्वं लक्षणीयमित्येतदर्थमेव यथार्थविशेषणोपादानमिति । मैवम्; विशेष्यांशेऽप्यनुभूतिरेवं प्रमा न स्यादिति ।

व्यवच्छेदकत्वं विशेषणत्वमभिमतं धर्म्यपि च स्वसम्बन्धाद्धर्मं विशिनष्टीति नोक्तदोष इत्युक्तमेवेति चेन्न । विशिष्टे प्रमात्वाभावापत्तेः ।

अपि च—एवं तर्हि रजतत्वादिकमपि व्यवच्छिन्नत्त्येव शुक्तिकाम्, या रजततया प्रकाशिता शुक्तिव्यक्तिः सेयमिति ।

प्रमा-लक्षण के प्रसिद्ध उदाहरण चन्द्रादि-ज्ञान के होते भी एक अंश में बाधित होने से यदि आप अबाधित अंश में भी ज्ञान को अप्रमा नमाते हैं, तो कोई पुरुष यह संदेह करे कि यज्जातीय एक स्थल में बाधित हो, तज्जातीय सर्वत्र बाधित क्यों न हो ? अर्थात् रजतत्व शुक्ति-रजत के ज्ञानस्थल में बाधित है, तो सत्यरजत के ज्ञानस्थल में बाधित क्यों न माना जाय, ऐसा यदि कोई पूछे, तो आप इससे अन्य क्या उत्तर देंगे कि 'प्रसिद्ध उदाहरण को त्यागना पड़ेगा ।'

समर्थन—जिस ज्ञान का जो विषय अर्थ का विशेषण हो, वह ज्ञान उस विषय में प्रमा है । ज्ञान का विषय रजतत्व शुक्ति में विशेषण नहीं है, अतः उस अंश में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान अप्रमा है । ज्ञान का विषय इदन्त्व शुक्ति में विशेषण है; अतः उस अंश में प्रमा है । इस तरह विषय-विशेष से नियत प्रमा का लक्षण करने के लिए ही लक्षण में यथार्थत्व का निवेश है । *खंडन*—ऐसा लक्षण करने पर ज्ञान का विषय विशेष्य अर्थ में विशेषण नहीं है । अतः विशेष्यांश में ज्ञान अप्रमा हो जायगा ।

समर्थन—इतरव्यावर्तक को ही विशेषण कहते हैं । विशेष्य भी 'स्व' में स्थित धर्मी (विशेषणों) का विशेषण है; कारण यदि धर्मी को धर्म का विशेषण न मानें, तो धर्म-अंश में ज्ञानमात्र निर्विकल्पक हो जायँगे । *खण्डन*—विशिष्ट किसी अर्थ में विशेषण नहीं है, अतः विशिष्ट अंश में ज्ञान अप्रमा हो जायगा ।

ननु साक्षाद्विशेषणत्वं विवक्षितम् । रजतत्वं तु ज्ञानद्वारा शुक्तिविशेषणमिति नातिप्रसङ्गः । मैवम्, तर्हि 'दीर्घदण्डः पुरुषः' इत्यादौ ह्रस्वदण्डादिभ्यो वैलक्षण्ये विशेष्यस्यानुभूयमाने अनुभूतेर्न प्रमात्वं स्यात्, दीर्घत्वादेर्दण्डादिद्वारा विशेषणत्वादिति । ज्ञानरूपद्वारानपेक्षतया विशेषणत्वमिष्टमिति चेन्न । 'साक्षात्कृत' इत्याद्यवगमानामप्रमात्वापातात् ।

तज्ज्ञानप्रकाशितरूपेण विशेषणत्वमिष्टमिति तु दूरं तुच्छम्; रूपादेः समवायेन ज्ञानाविशेषकत्वात् ।

अर्थविशेषणत्वेऽयं नियमो यत्तज्ज्ञानप्रकाशितेन रूपेणेति, न तु ज्ञानेऽपीति चेन्न । तज्ज्ञानव्यक्तेरन्यत्र असम्भवेनासाधारण्यात् अव्यापकत्वादित्यलम् ।

किञ्च—'रजतत्वेन शुक्तिं जानामि' इस ज्ञान में रजतत्व भी शुक्ति का विशेषण होता ही है। अतः 'इदं रजतम्' यह ज्ञान रजतत्व अंश में प्रमा होने से सर्वांश में भी प्रमा हो जायगा।

समर्थन—'जिस ज्ञान का जो विषय अथ का साक्षात् विशेषण हो' इत्यादि लक्षण करेंगे। एवञ्च उक्त ज्ञान में रजतत्व शुक्ति में साक्षात् विशेषण नहीं है, किन्तु ज्ञान द्वारा विशेषण है; अतः अतिव्याप्ति नहीं है। *खंडन*—'दीर्घदण्डः पुरुषः' इस ज्ञान के विशेष्य पुरुष में जहाँ ह्रस्वदण्ड से वैलक्षण्य अनुभूयमान है, वहाँ दीर्घत्व अंश में प्रमात्व नहीं होगा, कारण दीर्घत्व दण्ड द्वारा पुरुष का विशेषण है, साक्षात् नहीं है।

समर्थन—'जिस ज्ञान का जो विषय ज्ञानरूप द्वार की अपेक्षा न कर अर्थ का विशेषण हो' इत्यादि निवेश करेंगे, तो अतिप्रसंग नहीं होगा। *खंडन*—तब तो 'साक्षात्कृतो घटः' इस ज्ञान में साक्षात्त्व ज्ञान द्वारा घट में विशेषण होने से वह ज्ञान भी अप्रमा हो जायगा।

समर्थन—'जिस ज्ञान का जो विषय तद्ज्ञानविषयत्व सम्बन्ध से विशेषण हो' ऐसा कहें, तो कोई दोष न होगा। 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का विषय रजतत्व समवाय सम्बन्ध से शुक्ति में विशेषण नहीं है। *खंडन*—तब तो 'रूपवान् घटः' इस [ज्ञा]न में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ ज्ञान में रूप समवाय सम्बन्ध से विशेषण नहीं हैं।

यदि कहें कि 'ज्ञानविषयता संबन्ध से विशेषण हो' यह नियम अर्थ में विशेषण के लिए है, ज्ञान में तो विषयता सम्बन्ध से ही विशेषण अभिप्रेत है, तथापि यह लक्षण निर्दोष नहीं। कारण तब तो 'जिस ज्ञान का जो विषय तद्ज्ञानविषयतासंबन्ध से

सम्यक्त्व-खण्डनम्

सम्यक्परिच्छेदः प्रमेत्यपि न युक्तम्। न खलु सम्यक्त्वं तत्त्वविषयता, याथार्थ्यं वा सम्भवति ; उक्तदोषात्।

ननु सामस्त्यं सम्यक्त्वमिष्टम्। अभिधीयते हि लोके—'न मया सम्यक् दृष्टम्, सामान्याकारेण तु उपलब्धमि'ति। तदिह समीचोऽर्थस्य परिच्छेदः सम्यक्-परिच्छेदः, सम्यगर्थविषयत्वाद्वा सम्यक्शब्दः परिच्छेदसमानाधिकरण एवायमिति।

मैवम्। सामस्त्यमर्थस्य किं सर्वावयवसहितत्वम्, अथवा सर्वधर्मसहितत्वम्? नाद्यः ; अनवयवपदार्थपरिच्छेदस्येव सावयवपदार्थपरिच्छेदस्यापि मध्यभागाद्य-

अर्थ का विशेषण हो, वह ज्ञान उस अंश में प्रमा है' यह परिष्कृत लक्षण भी यत्-तत् घटित हो जायगा। अतः यत् शब्द को यदि एक ज्ञानव्यक्तिपरक मानें, तो जिस घटज्ञान व्यक्ति का यत् शब्द से ग्रहण करेंगे, वह पट में न होने से पट से व्यावृत्त होकर विषयता संबन्ध से केवल घट में ही रहेगी; इसलिए पटज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी। यदि यत् शब्द से ज्ञानसामान्य का ग्रहण करें, तो 'रजतत्वेन शुक्तिं जानामि' इस ज्ञान में रजतत्व विशेषण होने से 'इदं रजतम्' यह ज्ञान भी प्रमा हो जायगा।

किञ्च—यत् शब्द का निवेश भी व्यर्थ हो जायगा, कारण 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में अतिव्याप्ति के वारणार्थ ही उसका निवेश है। किन्तु वह अतिव्याप्ति यत् शब्द का निवेश करने पर भी तदवस्थ ही है।

सम्यक्त्व का खण्डन

खंडन—'सम्यक्-परिच्छेद प्रमा है' यह लक्षण भी युक्त नहीं, कारण 'तत्त्वविषयत्व' या 'याथार्थ्य'रूप सम्यक्त्व हो नहीं सकता, क्योंकि वह उक्त दोषों से खण्डित हो जाता है।

समर्थन—इस लक्षण में सामस्त्यरूप सम्यक्त्व ही अभिप्रेत है। लोक में भी यही कहा जाता है कि 'मैंने सम्यक् अर्थात् समस्त रूपों से नहीं देखा, सामान्य आकार से देखा।' तस्मात् समीचीन अर्थ का परिच्छेद (अनुभव) अथवा सम्यक् अर्थ को विषय करने से जो सम्यक् अनुभव है, उसी को 'सम्यक्-परिच्छेद' कह सकते हैं।

खंडन—अर्थ में सामस्त्य क्या सर्वावयवसहितत्व है या सर्वधर्मसहितत्व ? यदि सर्वावयवसहितत्व कहें, तो निरवयव आकाशादि पदार्थों के परिच्छेदों तथा मध्यभाग को विषय न करनेवाले सावयव पदार्थों के परिच्छेदों में भी अव्याप्ति हो जायगी। यदि

विषयस्य अप्रमात्वापातात्। नापि द्वितीयः ; असर्ववित्परिच्छित्तीनां सर्वासामप्रमात्वापत्तेः।

अथ मन्यसे—सम्यक्शब्दः सविशेषार्थः। यदपि लोकेऽभिधीयते 'न मया सम्यक् दृष्टम्', तस्यापि न मया विशेषतो दृष्टमित्यर्थः। तस्माद्विशेषसहितधर्मिपरिच्छित्तिः प्रमेत्युक्तं भवति। विभ्रमादयो हि विशेषमपश्यतो जायन्त इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमिदम्। विशेषाणां च सर्वेषां विशेषान्तरानभ्युपगमेऽपि स्वरूपमेव केषाञ्चिद्विशेष इति।

नैतद्युक्तम्; विशेषपदेन विशेषमात्राभिधाने रजतत्वादिना विशेषेण सहैव शुक्तिव्यक्त्यादेर्भ्रमेणावगाहनात् तस्यापि प्रमात्वं स्यात्। प्रत्यर्थं व्यावृत्ताकाराणां च विशेषाणामुपादाने अननुगमप्रसङ्गात्, सामान्यतश्चातिप्रसङ्गात् उभयथाऽप्यसङ्गततापत्तेः।

सर्वधर्मसहितत्व कहें, तो जो परिच्छेद सर्वधर्मों के विषय नहीं होते, उनमें अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—यहाँ 'सम्यक्' शब्द का अर्थ 'विशेष' है। लोक में जो कहा जाता है कि 'मैंने सम्यक् नहीं देखा', उसका भी यही अर्थ होता है कि मैंने 'उसे विशेषरूप से नहीं देखा।' तस्मात् 'विशेष से सहित धर्मी का परिच्छेद प्रमा है' यह लक्षण हुआ। विभ्रम या सन्देह विशेष धर्म की अज्ञानदशा में होते हैं, अतः उनमें अव्याप्ति के वारणार्थ सम्यक्त्व-निवेश है। यद्यपि विशेष धर्मों में अनवस्था-भय से अन्य विशेष धर्म नहीं रहते, तथापि उनका स्वरूप ही विशेष धर्म है; अतः विशेष धर्म की प्रमा में अव्याप्ति नहीं है।

खंडन—यदि लक्षण में विशेष का सामान्यरूप से प्रवेश करें, तो 'इदं रजतम्' इस भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि यह भ्रम भी रजतत्वरूप विशेष का ही शुक्ति में अवगाहन करता है। यदि विशेषरूप से विशेष का निवेश करें, अर्थात् 'जहाँ जो विशेष हो, वहाँ उस विशेष का अवगाहन करनेवाला ज्ञान प्रमा है' ऐसा कहें, तो यत्-तत् का अर्थविशेष प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त होने से जिस विशेष का यत् शब्द से उपादान करेंगे, उसका अवगाहन करनेवाली प्रमा से अन्य ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी। यदि विशेष-भेद से लक्षण का भेद मानें, तो अनेक लक्षण होने से लक्षणों का अननुगम हो जायगा।

विशेषस्य च भवतु स्वरूपमेव विशेषः ; तथाऽप्यभेदादेव विशेषसहितत्वं नास्तीत्यव्याप्तेरपरिहारात् ।

यत्तु कश्चिदवोचत्—विशेषशब्देन तेऽभिधीयन्ते, यददर्शने भ्रमसंशयावकाशः, यद्दर्शने च बाधाबाधव्यवस्था तदनभ्युपगमे तत्त्वातत्त्वविभागो न स्यात् । भवितव्यश्च तेन ; अन्यथा व्याघातादिति ।

तदयुक्तम् ; न तावदेवंविधो विशेषोऽभिधातुं शक्यो यदवगमस्य न भ्रमत्वादिसम्भवः, स्वप्नदशः सर्वविशेषोपलम्भात् । न च व्याघातदण्डभयमात्रादसौ उपपादयितुमशक्योऽपि अभ्युपगन्तव्य इति युक्तम् । तदुपदर्शनाशक्यत्वेन व्याघातपरिहार एव कश्चिदन्यो निर्वक्तुमशक्योऽस्तीत्येव तदा किं न व्यवस्थाप्यते ?

न हि परिदृश्यमानपदार्थगोचरं तदस्ति किञ्चिदनुभूयमानं यत्स्वप्ने वा

किञ्च—'यद्यपि विशेष का स्वरूप ही विशेष है, तथापि अभेद होने से ही विशेषसहित विशेष नहीं हैं, अतः विशेष की प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—जिसके न जानने से भ्रम या सन्देह होता हो और जिसके दर्शन से बाध या अबाध की व्यवस्था होती हो, वही विशेष है । उसके न मानने पर तत्त्व-अतत्त्व का विभाग नहीं होगा और वह तो होना ही चाहिए, अन्यथा व्याघात हो जायगा । अर्थात् तत्त्व-अतत्त्व का विभाग न होने पर पूछा जा सकता है कि संपूर्ण ज्ञान प्रमा है या अप्रमा ही; किंवा किञ्चित् ज्ञान प्रमा है और किञ्चित् ज्ञान अप्रमा ? यदि प्रथम पक्ष मानें, तो वादी का ज्ञान भी प्रमा होने से उसके खण्डन में प्रवृत्ति व्यर्थ होगी । यदि सब ज्ञान अप्रमा ही मानें, तो आपका ज्ञान भी अप्रमा हुआ; फलतः उसका समर्थन व्यर्थ है । यदि किञ्चित् ज्ञान प्रमा और किञ्चित् अप्रमा हो, तो वह 'प्रमा-अप्रमा का विभाग नहीं होगा' इस पूर्वोक्त कथन से 'मुख में जिह्वा नहीं है' इस कथन के तुल्य व्याहत होगा ।

खण्डन—ऐसा कोई विशेष नहीं है; जिसका ज्ञान भ्रम न कहा जाय; कारण स्वप्न में सभी विशेष भासते हैं और स्वप्नज्ञान को सभी भ्रम मानते हैं । जिसका समर्थन ही न हो सके, ऐसे विशेष को एकमात्र व्याघात के भय से मान लेना उचित नहीं, कारण ऐसे विशेष को स्वीकार न कर उक्त व्याघात का ही कोई अनिर्वचनीय परिहार क्यों न मान लिया जाय ?

समर्थन—विशेष का प्रतिपादन अशक्य है और व्याघात का अन्य परिहार भी अनिर्वचनीय है, अतः एकादेशी प्रमाण के अभाव में हम विशेष को ही क्यों न

वाक्याभासे वा प्रतिपत्तुमशक्यमिति प्रतिपत्त्यारूढतया येयमप्रतीयमानकल्पना, ततो वरमनुपलभ्यमानस्य व्याघातपरिहारस्यैव कल्पना भद्रा। बहुशश्च व्याघातोद्भावनविभीषिकामुन्मूलयिष्यामः।

ननु न ब्रूमो विशेषेण सहोपलम्भो विशेषसहितोपलम्भ इति। किं नाम? विशेषेण सहितस्य पदार्थस्योपलम्भः। तथा च न शुक्तौ रजतत्वं विशेषोऽस्ति। तत्कथं रजतभ्रमेऽपि तत्प्रसङ्ग इति।

मैवम्; उक्तदोषेणैव निरस्तत्वात्। यदि हि विशेषस्य सामान्यतोऽभिधानम्, तदा पुरोवर्तित्वादेः सत्त्वान्न प्रसङ्गनिवारणम्। विशेषेण तदभिधाने तु अननुगम इति।

'बाधाबाधव्यवस्थाहेतुरस्ति विशेषः' इति पक्षं यस्तु जडतरो न जहाति, स

मानें। खंडन— स्वप्न में न रहनेवाला ऐसा कोई भी ज्ञान अनुभव में नहीं आता, जिसके दृश्यमान पदार्थ विशेष रूप से विषय न हों। इसलिए इस न्याय से सभी विषय स्वाप्न ज्ञानमें आ जाने के कारण अप्रतीयमानता की कल्पना अनुपलम्भ से बाधित, अतएव विरुद्ध है। उसकी अपेक्षा अनुपलभ्यमान व्याघात-परिहार की कल्पना ही अविरुद्ध होने से उचित होगी। अर्थात् भ्रमविषयत्व बाधित है, इस प्रकार विशेष कल्पनाकर व्याघात का परिहार करने की अपेक्षा अनुपलभ्यमान-हेतुक व्याघात-परिहार ही उचित है। व्याघातोद्भावनरूप इस विभीषिका का उन्मूलन तो हम सर्वविरोध-खण्डन के प्रस्ताव में अनेक प्रकार से करेंगे।

समर्थन— हम विशेष धर्म के साथ उपलम्भ को 'विशेषसहित उपलम्भ' नहीं कहते, किन्तु विशेष के सहित पदार्थ के उपलम्भ को ही विशेषसहित उपलम्भ कहते हैं। एवञ्च शुक्ति में रजतत्वरूप विशेष नहीं है, अतः रजतभ्रम में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

खंडन—यदि सामान्यरूप से विशेष का उपादान करे, तो पुरोवर्तित्व (इदन्त्व) सहित शुक्ति का अवगाहन करने से 'इदं रजतम्' यह ज्ञान भी प्रमा हो जायगा। यदि विशेष रूप से कहें, अर्थात् जो ज्ञान जिस धर्म से विशिष्ट धर्मी का अवगाहन करता हो, उस धर्मविशिष्ट धर्मी-अंश में वह प्रमा है, तो यत्-तत् से घटित होने से लक्षण का अनुगम ही नहीं होगा।

फिर भी जो जडतर मनुष्य अपना यह पक्ष छोड़ना नहीं चाहता कि 'बाध-अबाध की व्यवस्था का हेतु विशेष है', तो उसे यह कहकर समझाना चाहिए कि जब आप्त

'आप्तानाप्तवाक्याभ्यां नदीतीरे पञ्च फलानि सन्तीत्येवंरूपाभ्यां प्रतिपाद्यमानेऽर्थे स्थितं किं विशेषमेकत्र पश्यसि, यमपरत्र न पश्यसी'ति पृष्ट्वा प्रतिबोधनीयः। तथाप्यनुपजातप्रबोधस्तु जडतमः कश्चिद्यदि स्यात्, स एवं प्रबोध्यः—'ये ते विशेषान्तरप्रवाहस्वीकारेऽनन्तविशेषापत्तिभयात् त्वया स्वत एव विशेषरूपा इति स्वीकृताः, तेषां स्वरूपं तावत् परस्परव्यावृत्तम्, अतोऽनुगतैकरूपाभावात् अव्यापकत्वं स्यादि'ति।

बाधव्यवस्थाहेतुत्वादेव अनुगतिरिति चेन्न। क्वाचित्कबाधव्यवस्थाहेतोर्भ्रमेऽपि प्रकाशात्। तत्र तस्येति चेन्न; व्यावृत्तेः।

बाधस्य च तद्विपरीतार्थप्रमात्वेन तदर्थाननुगमात्, प्रमायाश्च अद्याप्यव्यवस्थापनादिति।

और अनाप्त दोनों पुरुष 'नदी-तीर पर पञ्च फल हैं' यह कहें, तो उन दोनों से प्रतिपादित अर्थों में एक स्थल में (आप्तप्रतिपादनस्थल में) क्या विशेष देखते हो ? फिर भी कोई इतना जडतम हो, जो यह भी समझ न पाये, उसे इस तरह समझाया जाय कि आप तो विशेष में विशेष और उसमें भी अन्य विशेष स्वीकार नहीं करते; क्योंकि अनन्त विशेषों के स्वीकार में गौरव या अनवस्थादोष हो जायगा। प्रत्युत परस्परव्यावृत्त, विशेषान्तरशून्य अनन्त विशेष ही मानते हैं। अतः कोई उपसंग्राहक रूप न होने से लक्षण में जिस विशेष का निवेश करेंगे, तद्विषयक प्रमा में ही समन्वय हो सकेगा, अन्यविशेषविषयक प्रमा में तो अव्याप्ति ही हो जायगी।

समर्थन—'बाध-व्यवस्था-हेतुत्व' रूप से ही सभी विशेषों का संग्रहकर लक्षण बनायेंगे। अर्थात् बाध की व्यवस्था का हेतु जो विशेष तद्विशिष्ट पदार्थके अनुभव को प्रमा कहेंगे। इससे न तो लक्षण का अननुगम होगा और न अव्याप्ति ही। *खंडन*—सार्वत्रिक बाध की व्यवस्था का हेतुत्व तो कहीं भी संभव नहीं है। यदि क्वचिद् बाधव्यवस्था के हेतुत्व को ही विशेष कहें, तो रजतत्व भी वास्तविक रजत में होनेवाले 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में बाध-व्यवस्था का हेतु है ही। फलतः शुक्ति में भी 'इदं रजतम्' यह ज्ञान प्रमा हो जायगा। यदि कहें कि जिस स्थल में जो बाध-व्यवस्थापक हो, उसी स्थल में वह विशेष है, तो लक्षण के यत्-तत् से घटित हो जाने से जिस विशेष का यत् शब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्यत्र लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—विपरीत प्रमामात्र तो बाधक है नहीं, कारण तब तो 'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान का 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' यह ज्ञान भी बाधक हो जायगा। अतः यही मानना

शङ्कान्तराणि चात्र अतः पराणि याथार्थ्यविशेषणदूषणदूषितान्येव उपनिपतन्तीति द्विरभिधानभयान्नोक्तानि ।

किञ्च—तर्कज्ञानमाहार्यौ च संशयविपर्ययौ परिदृश्यमान एव विशेषे भवन्तीति तैरतिप्रसङ्गः स्यात् । न चाऽऽहार्यौ तौ नाभ्युपगन्तव्याविति युक्तम् । विप्रलम्भकस्य वाक्यप्रयोगमूलतया आहार्यभ्रमस्य ज्ञाततत्त्वस्य च गुरोः शिष्यप्रबोधार्थं विचारं प्रवर्तयतश्च आहार्यसंशयानां भवत एव शास्त्रेऽनुमतत्वात् ।

परिच्छेदशब्दश्च अनुभूतिपर्यायोऽनुभूतिदूषणं नातिक्रामतीत्यलम् ।

होगा कि जिस धर्मी में जो बाध्य हो, उसमें उस धर्म के अभाव का अवगाही ज्ञान बाधक है । फिर तो लक्षण के यत्-तत् घटित होने से पुनः यदि यत् शब्द से रजतत्व का ग्रहण करें, तो सर्पभ्रम में बाधलक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । किञ्च—सविशेष ज्ञान' को प्रमा कहते हैं, 'बाध-व्यवस्था के हेतु' को विशेष कहते हैं तथा 'तद्विपरीत प्रमा' को बाध कहते हैं—इस रीति से बाध के लक्षण में प्रमा की और प्रमा के लक्षण में विशेष द्वारा बाध की अपेक्षा होने से चक्रक दोष हो जायगा ।

'जिस विशेष धर्म से सहित धर्मी हो, उस विशेष से सहित धर्मी का अनुभव प्रमा है,' 'साक्षात् विशेष से सहित धर्मी का अनुभव प्रमा है' या 'भासमान यावद् विशेषों से सहित धर्मी का अनुभव प्रमा है' इन सारी शङ्काओं का खण्डन तो 'यथार्थानुभवः प्रमा' इस लक्षण के याथार्थ्य-विशेषण के दूषण-प्रस्ताव में हो ही चुका है । अतः पुनरुक्ति के भय से यहाँ फिर इसे नहीं कहते ।

किञ्च—'यदि वह्निर्न स्यात्तदा धूमोऽपि न स्यात्' यह तर्क 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसा विशेष ज्ञान होने पर ही होता है । आहार्य-भ्रम और संशय भी विशेष ज्ञान होने पर ही होते हैं । अतः उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । इसपर यह नहीं कह सकते कि 'आहार्य-भ्रम और सन्देह होता ही नहीं, कारण वञ्चक पुरुष को आहार्य-भ्रम होता ही है । अन्यथा वह असत्यार्थक वाक्य कैसे कहता, यह आप भी मानते हैं । साथ ही शिष्य के प्रबोधनार्थ शास्त्रार्थारम्भ करनेवाले तत्त्वज्ञ गुरु का आहार्य-सन्देह भी आपके शास्त्र में स्वीकृत ही है ।

'परिच्छेद' शब्द का अर्थ अनुभूति है, अतः वह अनुभूति के दूषणों का अतिक्रमण नहीं कर सकता । अर्थात् अनुभूतित्व जाति या स्मृत्यन्यज्ञानत्व आदि उपाधिरूप नहीं हो सकता, इसका खण्डन हो ही चुका है ।

अव्यभिचारित्व-खण्डनम्

नापि अव्यभिचार्यनुभवः प्रमेति युक्तम् । अव्यभिचारिपदस्य यदि तत्त्व-विषयाद्यर्थत्वम्, तदा दूषणान्युक्तान्येवानुवर्तन्ते ।

अथैवमुच्यते अव्यभिचारित्वमर्थाविनाभूतत्वम् ; तदा प्रष्टव्यं कोऽस्यार्थः—किं यदैवार्थस्तदैव ज्ञानम्, उत यत्रार्थस्तत्रैव देशे ज्ञानम्, अथ यादृगर्थस्तादृगेव ज्ञानं यत्तत्प्रमितिरिति ?

नाद्यः; अतीतानागतानुमित्याद्यव्यापनात् । न द्वितीयः ; ज्ञानसमानदेशार्थ-प्रमितीनामव्यापनात् । ज्ञानसमानदेशमर्थमन्यत्र आरोपयतोऽप्यनुभवस्य प्रमा-त्वापत्तेः । नापि तृतीयः; ज्ञानार्थभेदवादे सर्वाकारेण तत्साम्यानुपपत्तेः । अभेदवादे तु भ्रमस्याऽपि तदभ्युपगन्तव्यत्वप्रसङ्गेन विशेषणवैयर्थ्यापातात् ।

अव्यभिचारित्व का खण्डन

खंडन—'अव्यभिचारी अनुभव प्रमा है' यह लक्षण भी युक्त नहीं, कारण यदि अव्यभिचारी पद का तत्त्वविषयकत्व आदि अर्थ करें, तो उक्त दूषणों की ही आवृत्ति होगी ।

समर्थन—हम अव्यभिचारी' पद का 'ज्ञान में विषय का अविनाभाव' यह अर्थ करेंगे । *खंडन*—'अविनाभाव' शब्द का क्या अर्थ है, क्या समुद्रवृद्धि-चन्द्रोदय के तुल्य जिस काल में अर्थ हो, उसी काल में ज्ञान, हो—यह अर्थ है अथवा धूम-वह्निके तुल्य जिस देश में अर्थ हो, उसी देश में ज्ञान हो—यह अर्थ है, किंवा जैसा अर्थ हो, वैसा ही ज्ञान हो—यह अर्थ है ?

यदि प्रथम अर्थ मानें, तो अतीत-अनागत विषयों की अनुमितियों में अव्याप्ति हो जायगी । द्वितीय अर्थ मानें, तो समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का देश आत्मा है और वह घट-पटादि अर्थों का देश नहीं है; अतः घटपटादि प्रमा में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । साथ ही ज्ञान के देश में स्थित आत्मत्व का जो अन्यत्र (शरीर में) भ्रम होता है, उस भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि तृतीय अर्थ मानें, तो ज्ञान का अर्थ के साथ भेद माननेवाले के मत में ज्ञान तथा अर्थ का सर्वथा सादृश्य न होने से असम्भव हो जायगा । ज्ञान तथा अर्थ के अभेदवाद में भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी । व्यवच्छेद्य न होने से विशेषण भी व्यर्थ हो जायगा ।

तैस्तैश्च विशेषैः सादृश्यस्य विवक्षितत्वे यथार्थताप्रस्तावोक्तान्येव दूषणानि आवर्तन्त इति ।

अविसंवादित्व-खण्डनम्

अविसंवाद्यनुभवः प्रमेत्यपि न युक्तम् । अविसंवादित्वं हि ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानार्थत्वं वा, ज्ञानान्तरेण विपरीततया अप्रतीयमानार्थत्वं वा, प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वं वा, अन्यदेव वा किञ्चित् ?

न प्रथमः ; धारावाहिनो भ्रमस्य प्रमात्वप्रसङ्गात् । न च प्रमाभूतं ज्ञानान्तरं विवक्षितमिति वाच्यम् ; प्रमाया एव लक्ष्यमाणत्वात् ।

नापि द्वितीयः ; अज्ञातबाधभ्रमव्यापनात्, स्वस्थदशोत्पन्नस्य शुक्लशङ्खज्ञानादेः

'जो धर्म अर्थ में हो, वही ज्ञान में भासता है' इस तरह का अर्थसाम्य अनुभव में मानें, तो याथार्थ्य-प्रकरण में उक्त दोष हो जायँगे । अर्थात् विशेषमात्र का अभिधान करेंगे, तो भ्रमादि में अतिव्याप्ति होगी । तत्तत् विशेष व्यक्ति कहेंगे, तो अननुगम होगा, ये सभी दोष आ जायँगे ।

अविसंवादित्व का खण्डन

'अविसंवादी अनुभव प्रमा है' यह लक्षण भी युक्त नहीं है, कारण 'अविसंवादी' शब्द का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता । देखिए—क्या जिस ज्ञान का विषय उत्तर-ज्ञान से उल्लिख्यमान हो, वह अनुभव अविसंवादी है; जिस अनुभव के विषय का अभाव उत्तर-ज्ञान का विषय न हो, वह अनुभव अविसंवादी है; जिस अनुभव के विषय का व्याप्य प्रतीयमान हो, वह अनुभव अविसंवादी है अथवा और ही कुछ अविसंवादित्व है ?

इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है; कारण धारावाही भ्रम में पूर्व-पूर्व भ्रम का विषय उत्तर-उत्तर ज्ञान का विषय होता ही है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि कहें कि प्रमात्मक ज्ञानान्तर से जिस अनुभव का विषय उल्लिख्यमान हो, वह अविसंवादी है, तो वह भी उचित नहीं; कारण प्रमा का अभीतक निर्वचन ही नहीं हो पाया है । अतः प्रमा से प्रमा की निरुक्ति होने के कारण आत्माश्रय तथा प्रमा से अविसंवादित्व की निरुक्ति तथा अविसंवादित्व से प्रमा की निरुक्ति होने के कारण अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

द्वितीय कल्प भी उचित नहीं, कारण जिस भ्रम का बाध नहीं हुआ है, उस भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी । किञ्च—स्वस्थ-दशा में उत्पन्न 'शुक्लः शंखः' इस

दुष्टेन्द्रियदशोत्पन्नतत्पीतिमज्ञानाद्युल्लिखितविषयवैपरीत्यस्य अप्रमात्वप्रसङ्गाच्च । प्रमित्यानुल्लिखितार्थवैपरीत्यमात्रविवक्षायां तु प्रमाया एव लक्ष्यमाणत्वादित्युक्तमनुषज्जति ।

अदुष्टकरणकज्ञानेनाबाधितत्वं विवक्षितमिति चेत्; तदेव तर्हि प्रमालक्षणमस्तु । किञ्च—दुष्टत्वनिरूपणमन्तरेण अदुष्टत्वस्य दुर्निरूपत्वात् ।

ननु किमेतावता? दुष्टत्वं विपरीतज्ञानप्रयोजकस्तद्धेतुगतो विशेष इति सुवचमेवेति । न; विपरीतपदव्यवच्छेद्याप्रमितौ तदुपादानवैयर्थ्यात् । तदनुपादाने च ज्ञानजनकत्वमात्रं दुष्टत्वमिति अदुष्टकरणजं ज्ञानं नास्त्येवेति स्यात् ।

विपरीतपदव्यवच्छेद्या प्रमैवेति चेन्न । तस्या एव लक्ष्यमाणत्वात् । तदीय-

ज्ञान का भी पित्तरोग से दूषित दशा में उत्पन्न 'पीतः शंखः' इस ज्ञान से बाध होने के कारण 'शुक्लः शंखः' यह ज्ञान भी प्रमा न होगा । यदि कहें कि जिस अनुभव के विषय का अभाव प्रमा से उल्लिख्यमान न हो, वह अविसंवादी है, तो प्रमा से प्रमा की निरुक्ति होने के कारण आत्माश्रय और प्रमा से अविसंवादित्व की तथा अविसंवादित्व से प्रमा की निरुक्ति होने के कारण अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

समर्थन—'अदुष्ट-इन्द्रियजन्य ज्ञान से जो ज्ञान बाधित न हो, वह अविसंवादी है' ऐसा कहेंगे, तब तो 'शुक्लः शंखः' इस प्रमा में न अव्याप्ति है और न आत्माश्रय ही है । *खण्डन*—फिर तो लाघव होने से 'अदुष्ट-इन्द्रियजन्य अनुभव' ही प्रमा का लक्षण मानिये । किञ्च—जबतक दुष्टत्व की निरुक्ति न हो, तबतक अदुष्टत्व का निरूपण भी असंभव ही है ।

समर्थन—विपरीत ज्ञान का प्रयोजक तथा हेतुगत विशेष को ही दोष कहा जा सकता है । *खण्डन*—'विपरीत' पद के निवेश से किसका व्यवच्छेद होगा? यदि व्यवच्छेद्य की प्रतीति न हो, तो विपरीत पद का निवेश व्यर्थ ही हो जायगा । यदि विपरीत पद का निवेश न करें, तो ज्ञानमात्रजनकत्व ही दुष्टत्व होगा । तब कोई भी ज्ञान अदुष्ट इन्द्रियजन्य न होगा ।

समर्थन—'विपरीत'पद का व्यवच्छेद्य प्रमा ही है, अतः निवेश व्यर्थ नहीं है । *खंडन*—अभी तो प्रमा का लक्षण ही कर रहे हैं, अतः इतरव्यावृत्त रूप से उसका स्वरूप-निर्धारित ही नहीं हुआ है । फिर उसका व्यवच्छेद कैसे होगा? इसके अतिरिक्त, इतर-व्यावृत्त प्रमा की प्रतीति के बिना लक्षण द्वारा इतरव्यावृत्त प्रमा की

स्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्य अप्राप्यप्रतीतेः कुतो व्यवच्छेदः प्रत्येतव्य इति व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमन्तरेण व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमशक्यमिति आत्माश्रयान्योन्याश्रयौ अनवस्था वा।

एकोऽनेकविशेषेऽर्थे विशेषो यत्र लक्ष्यते।
तद्विशेषान्तरान्यत्वाद् दोषस्तत्रैव धावति ॥ ३२ ॥

नापि तृतीयः; व्याप्यशब्देन व्याप्यमात्रम्, तद्विशेषो वा कश्चिदभिप्रेतः स्यात्? आद्ये सधूमाग्निविषयस्य स्वप्नज्ञानस्य अनाप्तवाक्यजबोधस्य वा नाप्रमात्वं स्यात्। नापि द्वितीयः; स ह्यर्थक्रिया वा, सामग्री वा? उभयत्रापि पूर्वदोषानिवृत्तेः।

प्रतीति अशक्य होने से आत्माश्रय होगा; इतरव्यावृत्त प्रमा के अधीन दुष्टत्व का ज्ञान और दुष्टत्वज्ञान के अधीन अदुष्ट-इन्द्रियजन्य ज्ञान से अबाधितरूप अविसंवादित्व के ज्ञान द्वारा प्रमा का ज्ञान होने से अन्योन्याश्रय होगा अथवा प्रमाज्ञान के अधीन दुष्टत्व का ज्ञान और दुष्टत्वज्ञान के अधीन अदुष्ट-इन्द्रियजन्य-ज्ञान, उससे अबाधितत्वरूप अविसंवादित्व का ज्ञान तथा उक्त अविसंवादित्व के ज्ञान के अधीन प्रमा का ज्ञान इस प्रकार चक्रक भी हो जायगा। यदि विपरीत पद से व्यवच्छेद्य प्रमा की और ही कुछ निरुक्ति करें, तो आत्माश्रय आदि तो न होगा, किन्तु उस प्रमा की निरुक्ति में भी अन्य प्रमा की अपेक्षा होगी और उसके लिए अन्य प्रमा की, इस तरह अनवस्था हो जायगी।

इसी प्रकार जिस ज्ञान आदि पदार्थों के अनुभव, स्मरण आदि अनेक विशेष हैं और एक विशेष अन्य विशेष से अन्यत्वरूप से लक्षित होता है, अर्थात् अनुभव स्मरणान्यत्व से तथा स्मरण अनुभवान्यत्व से लक्षित होता है, वहाँ सर्वत्र आत्माश्रय आदि दोष होंगे। देखिये—अनुभव से अन्य ज्ञान स्मरण है और स्मरण से अन्य ज्ञान अनुभव। अतः स्मरण का निष्कृष्ट लक्षण हुआ—'स्मरणान्यज्ञानान्यज्ञानत्वम्'। इस लक्षण में स्मरण पद का प्रक्षेप होने से आत्माश्रय है। साथ ही स्मृति के लक्षण में अनुभव की और अनुभव के लक्षण में स्मृति की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय भी है।

'जिस ज्ञान के विषय का व्याप्य प्रतीयमान हो, वह ज्ञान अविसंवादी है' यह तृतीय पक्ष भी उचित नहीं; कारण 'व्याप्य' शब्द से यदि व्याप्यमात्र का ग्रहण करें, तो सधूम वह्नि का स्वप्नज्ञान तथा अनाप्तवाक्य से जात ज्ञान भी प्रमा हो जायगा। यदि 'व्याप्य' शब्द से व्याप्य-विशेष (अर्थक्रिया या सामग्री) का ग्रहण करें, तो भी धूम-सहित वह्नि के स्वप्नज ज्ञान में या अनाप्तवाक्य से जनित ज्ञान में ही अतिव्याप्ति हो जायगी।

एकदा च सर्वत्र प्रमाणासम्भवेन क्रमाश्रयणे तत्तदर्थक्रियातत्तत्सामग्रीपरम्परावगमनियमाभ्युपगमे एकस्मिन्नेव विषये पुरुषायुषः पर्यवसानप्रसङ्गात्। विच्छेदाभ्युपगमे त्वन्तिमावगमस्याप्रामाण्यात् आप्रथममप्रमात्वापत्तेः। वास्तवतदर्थक्रियात्वस्य च दुर्निरूपत्वेन व्यवहारानर्हत्वात्। तथाप्रतीतिमात्रस्य अप्रमासाधारण्यात्।

नन्वेवं चतुर्थः पक्षोऽस्तु। तथा हि—अर्थक्रियाकारिविषयत्वं वाऽविसंवादित्वमिति। यथाऽऽह—'प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिश्चाविसंवादः' इति। न; सामान्यतो विवक्षायां भ्रान्तावपि प्रसङ्गात्।

प्रतीयमानरूपेणार्थक्रियाकारित्वमर्थस्य विवक्षितमिति चेन्न। दुरवधारणत्वात्।

किञ्च—युगपद् अनेक ज्ञान नहीं होते, अतः व्यापक के प्रतीतिकाल में व्याप्य की प्रतीति नहीं होगी, वह क्रम से ही होगी। अर्थात् व्यापक की प्रतीति के उत्तरकाल में ही व्याप्य की प्रतीति होगी। ऐसा मानने पर पूर्वज्ञानगत प्रमात्व उत्तरक्षण में उत्पन्न अर्थक्रिया की प्रतीति या सामग्री की प्रतीति से गृहीत होगा, वह अर्थक्रिया-प्रतीति-गत प्रमात्व भी उससे उत्तरक्षण में उत्पन्न अर्थक्रिया की प्रतीति से गृहीत होगा, इस तरह पूर्व पूर्वप्रतीति के प्रमात्व में अपर-अपर प्रतीति की अपेक्षा होने से अनवस्था हो जायगी। यदि अर्थक्रिया की प्रतीति की धारा का कहीं विच्छेद मानें, तो अन्तिम अर्थक्रिया की प्रतीति के अप्रमा होने से मूलपर्यन्त अप्रमात्व हो जायगा। किञ्च—यदि अर्थक्रिया वास्तविक लें, तो प्रमितित्व से इतर वास्तविकत्व हो नहीं सकता और प्रमिति का अभीतक निर्वचन ही नहीं हुआ है। यदि केवल अर्थक्रिया की प्रतीति का ही ग्रहण करें, तो भ्रमस्थल में भी अर्थक्रिया की प्रतीति होने से अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'अर्थक्रियाकारित्व अविसंवाद है' यह चतुर्थ पक्ष ही मानेंगे। धर्मकीर्ति (बौद्ध आचार्य) ने भी कहा है कि 'अविसंवादी ज्ञान प्रमा है और अर्थक्रियाकारित्व ही अविसंवाद है।' *खंडन*—यदि अर्थक्रियाकारित्व सामान्यरूप से अभिप्रेत हो, तो शुक्तिरूप से अर्थक्रियाकारित्व भ्रम में भी है, अतः भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी।

यदि कहें कि प्रतीयमान धर्म से अर्थक्रियाकारित्व अभिप्रेत है। एवञ्च भ्रम में प्रतीयमान रजतत्वरूप से अर्थक्रियाकारित्व न होनेसे अतिव्याप्ति नहीं है, तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि रजतमें दृष्ट भी अङ्गुलीयकरूप अर्थक्रियाका कर्तृत्व रजतत्वरूपसे

तदर्थक्रियादर्शनात् तदवधारणमिति चेन्न। विनाप्यर्थक्रियां तद्दर्शनसम्भवात्। अर्थक्रियाप्रमितिरभिधित्सितेति तु दूषितमेव, प्रमाया एव निरूप्यमाणत्वात्।

अभिप्रायाविसंवादात् प्रमायां सर्वमुच्यत इति चेन्न। तदा अभिप्रायाविसंवादस्य स्वप्नादिप्रत्ययेऽपि सम्भवात्। कालान्तराविसंवादस्य च दुरवधारणत्वात्।

एतेन प्राप्त्यादियोग्यता अविसंवादार्थ इत्यपि निरस्तम्। दुराबाध इव चायं धर्मकीर्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति।

है या मुद्रादिरूपसे, इसका अवधारण नहीं हो सकता। अतः रजत में होनेवाले 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में भी अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—अङ्गुलीयकरूप अर्थक्रिया के दर्शन से ही रजतत्व का अवधारण करेंगे। *खंडन*—जैसे रजतत्व के बिना भी रजतत्व का भ्रम होता है, वैसे ही अर्थक्रियाकारित्व के बिना भी अर्थक्रियाकारित्व का भ्रम हो सकता है। अतः अर्थक्रिया के दर्शन मात्र से रजतत्व का अनुमान नहीं हो सकता। यदि कहें कि अर्थक्रिया की प्रमिति से रजतत्व का अवधारण करेंगे, तो वह भी नहीं कह सकते, कारण प्रमिति का अभीतक निर्धारण ही नहीं हुआ है।

समर्थन—अभिप्राय (इच्छा या प्रवृत्ति) के अविसंवाद से सम्पूर्ण ज्ञान प्रमा कहे जाते हैं। *खण्डन*—वह अविसंवाद ज्ञानकाल में अभिप्रेत है या सभी कालों में ? यदि कहें कि ज्ञानकाल में, तो भ्रमस्थल में भी ज्ञानकाल में अविसंवाद होने से भ्रम में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि सभी कालों में अविसंवाद अभिप्रेत है, तो 'इस ज्ञान में कदापि अविसंवाद नहीं होगा' यह बात दुर्ज्ञेय है। प्रत्युत सम्भव है कि स्वप्नकाल में सर्वविध ज्ञानों में विसंवाद हो, अतः लक्षण में असम्भव दोष हो जायगा।

समर्थन—प्राप्तियोग्यता अविसंवाद है और उससे युक्त अनुभव प्रमा है। *खंडन*—यदि ज्ञानकालमें प्राप्ति की योग्यता कहें, तो वह भ्रम में भी है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि सर्वकाल में प्राप्ति की योग्यता कहें, तो उसका अवधारण प्रमा में भी नहीं हो सकता, अतः असंभव हो जायगा। इसलिए प्राप्ति की योग्यता को प्रमा मानना भी असङ्गत है। धर्मकीर्ति के इस प्रमालक्षण का खण्डन मन्दबुद्धियों को अशक्य-सा प्रतीत होता है। अतः इससे सावधान रहना चाहिए।

अबाधितत्वादि-खण्डनम्

अबाधितानुभूतिः प्रमेत्यपि निरस्तम् । तदानीं बाधाविरहस्य अतिप्रसञ्जकत्वात्, कालान्तरेऽपि च बाधाविरहस्य दुर्निरूपत्वात् । स्वतो बाधाविरहस्य अतिप्रसञ्जकत्वात् । सर्वजनबाधाविरहस्य च दुरवधारणत्वादिति ।

तर्कसंशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्ता प्रतीतिः प्रमेत्यपि न । स्मृतिव्यतिरिक्तत्वखण्डनन्यायेन निरस्तत्वादिति ।

जातिसङ्करमिच्छतश्च प्रमात्वलक्षणजात्यभिसम्बन्धात् प्रमेत्यपि दुर्लक्षणम् । अस्याज्ञातस्य तद्व्यवहारजनकत्वे प्रमायामप्रमाभ्रमसंशयौ न स्याताम् ।

अबाधितत्वादि का खण्डन

इसी तरह 'अबाधित अनुभूति प्रमा है' यह लक्षण भी नहीं हो सकता । कारण यदि अबाधितत्व ज्ञानकाल में कहें, तो वह भ्रम में भी है । यदि सभी कालों में अबाधितत्व कहें, तो वह प्रमा में भी नहीं है, क्योंकि सम्भव है कि स्वप्न में प्रमा का भी बाध हो जाय । किञ्च—यह अबाध द्रष्टा का ही अभिप्रेत है या मनुष्यमात्र का ? यदि द्रष्टा का अबाध कहें, तो सम्भव है कि कहीं भ्रान्त मनुष्य को अपने भ्रमज्ञान में कभी उत्तर काल में बाध ही न हो । अतः उस भ्रम से अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि सब मनुष्यों का अबाध अभिप्रेत हो, तो वह दुर्ज्ञेय ही है ।

निर्वचन—तर्क, संशय, विपर्यय और स्मृति से व्यतिरिक्त ज्ञान को ही प्रमा कहेंगे । *खण्डन*—स्मृति-व्यतिरिक्तत्व के खण्डन की रीति से इस लक्षण का भी खण्डन हो जायगा । अर्थात् यदि यत्किञ्चित् तर्कादिव्यतिरिक्तत्व कहें, तो तद्व्यतिरिक्त तर्कादिव्यक्तियोंमें अतिव्याप्ति होगी । यदि सम्पूर्ण तर्कादिव्यतिरिक्तत्व कहें, तो हम-आप जैसे असर्वज्ञों को वैसा ज्ञान ही नहीं हो सकता, अतः यह लक्षण संभव नहीं ।

समर्थन—'प्रमात्वजातिविशिष्ट प्रमा है' ऐसा ही लक्षण करेंगे । *खण्डन*—यह लक्षण भी उचित नहीं है, कारण साक्षात्त्व को छोड़कर प्रमात्व अनुमिति में है और प्रमात्व को छोड़कर साक्षात्त्व भ्रम में है तथा दोनों का समावेश प्रत्यक्ष-प्रमा में है; अतः सङ्कर दोष होने से प्रमात्व जाति ही नहीं हो सकती ।

समर्थन—संस्कारमात्र से अतिरिक्त अदुष्टकरणजन्य प्रतीतित्व को प्रमात्व का प्रयोजक मानेंगे और इन्द्रियाजन्यप्रतीतित्व को परोक्षत्व का प्रयोजक । एवञ्च व्यंजक उपाधि भिन्न-भिन्न होने से सांकर्य नहीं होगा । *खण्डन*—प्रमात्वजातिरूप लक्षण 'इयं प्रमा' इस व्यवहार का अज्ञात प्रयोजक है या ज्ञात ? यदि अज्ञात कहें, तो कभी किसी भी

दोषाभावसहकृतस्य तथात्वे च अज्ञायमानभ्रमसंशयप्रमादिव्यवहारे ज्ञानमात्राव-गमोदाहरणेऽपि तदापत्तेः ।

ज्ञातेनानेन लक्षणेन व्यवहारे च कथमिदमेव ज्ञातव्यमिति वक्तव्यम् । न तावत्प्रत्यक्षेण मानसेन ; तथा सति क्वचिज्ज्ञातायां प्रमायामप्रमाविपर्ययसंशया-नवकाशादि स्यात् । धर्मिवत् मनसैव निर्णीतत्वात् ।

चिह्नान्तरसापेक्षेणैव मनसा संवेदनचिह्नेनैव वा तेनैव लक्षणीभूय ज्ञापन-मित्यपि प्रत्याशामात्रम् । तच्चिह्नेनैव प्रमात्वजातिकल्पनाप्रतिक्षेपापत्तेः ।

प्रमा में अप्रमात्व का भ्रम या सन्देह नहीं होगा । अर्थात् जब ज्ञात लक्षण को 'इयं प्रमा' इस व्यवहार का प्रयोजक मानें, तब तो कह सकते हैं कि प्रमात्वरूप लक्षण का ज्ञान न होने पर 'इयं प्रमा' यह व्यवहार नहीं होता; प्रमात्व का भ्रम या सन्देह ही होता है । किन्तु जब अज्ञात (स्वरूपसत्) ही लक्षण व्यवहार का प्रयोजक हो, तब तो प्रमा में सदा 'इयं प्रमा' यही व्यवहार होना चाहिए ।

समर्थन—दोषाभाव से सहित, स्वरूपसत् प्रमात्वरूप लक्षण 'इयं प्रमा' इस व्यवहार का प्रयोजक है । अतः जहाँ दोष हो, वहाँ 'इयं प्रमा' यह व्यवहार नहीं होता; किन्तु भ्रम या सन्देह ही होता है । *खंडन*—जो ज्ञान वस्तुतः प्रमा है, किन्तु प्रमात्व-रूपसे ज्ञात नहीं है केवल ज्ञानत्वरूप से ही अवगत है और जिसमें भ्रम या सन्देह भी नहीं है, वहाँ 'इयं प्रमा' यह व्यवहार होना चाहिए, कारण दोषाभाव से सहित, स्वरूपसत् प्रमात्व वहाँ विद्यमान है ।

यदि ज्ञात लक्षण व्यवहार का प्रयोजक हो, तो लक्षण का ज्ञान कैसे हुआ, यह पूछना चाहिए । मानस प्रत्यक्ष से लक्षण का ज्ञान होता है, यह तो कह नहीं सकते, कारण कहीं-कहीं प्रमा होने पर भी प्रमात्व का जो सन्देह या भ्रम होता है, वह [धर्मी-प्रमा के ज्ञान के तुल्य प्रमात्व का भी मानस प्रत्यक्ष हो जाने से] नहीं होगा ।

समर्थन—अन्य चिह्न से युक्त मन से प्रमात्व का ज्ञान होता है अथवा चिह्न ही लिङ्गरूप से प्रमात्वरूप लक्षण की अनुमिति का हेतु है । अतः चिह्नरूप सहकारी के अज्ञान में अप्रमात्व का भ्रम हो सकता है । *खण्डन*—यदि ऐसा है, तो उसी चिह्न से 'इयं प्रमा' यह व्यवहार हो जायगा । फिर प्रमाण के अभाव से प्रमात्वजाति की सिद्धि ही न होगी ।

तेषां नानात्वे च कानि तानीति वक्तव्यं स्यात्। तच्चिह्नानां यथोपन्यासं सर्वेषामेव दूषितत्वात्। प्रामाण्यपरतस्त्वव्युदस्तिप्रस्तावे च विस्तरेण दूषयिष्यामः।

एतेन शक्तिविशेषः प्रमात्वम्, तद्योगः प्रमालक्षणमित्यपास्तम्। दुरवधारणत्वात्। यच्च किञ्चित्प्रमाया लक्षणमुच्यते तदज्ञातं ज्ञातमात्रं वा यदि तत्त्वव्यवहारकम्, तदा अत्यापत्तिः। प्रमितञ्चेत् प्रमानवधारणे तद्दुरवधारणता।

माऽवधारि वस्तुतस्तु तथेति चेन्न। वस्तुतो न तथैव किं नेति वादिन्यनुत्तरा-

समर्थन—प्रमा के अनेक चिह्न हैं, इसलिए उन चिह्नों से 'इयं प्रमा' इस अनुगत बुद्धि का समर्थन नहीं हो सकता। अतएव अनुगत बुद्धि के समर्थन के लिए प्रमात्व जाति मानी जाती है। *खंडन*—'तत्त्वानुभूतित्व' आदि उन चिह्नों का खण्डन यथास्थान कर ही आये हैं। अतः चिह्नों के सहकार से प्रमात्व का मानस प्रत्यक्ष होता है, यह कथन असङ्गत है। किञ्च—'प्रमात्व स्वतोग्राह्य है या परतः' इसके खण्डन के प्रस्ताव में प्रमात्व का चिह्न से सहकृत मानस प्रत्यक्ष होता है, इसका विस्तार से खण्डन करेंगे।

समर्थन—प्रमा में अर्थावबोध की जो शक्ति है, वह शक्ति ही प्रमात्व है और प्रमात्वयोग ही प्रमा का लक्षण है। *खंडन*—यदि इस लक्षण को अज्ञातरूपेण व्यवहार का कारण मानें, तो प्रमात्व का भ्रम या सन्देह न होना चाहिए। यदि ज्ञात व्यवहार का कारण मानें, तो जिस चिह्न से वह ज्ञात होता है, वही चिह्न लक्षण हो, शक्ति का स्वीकार व्यर्थ है, इत्यादि पूर्वोक्त दोषों से शक्तिपक्ष भी असङ्गत है। आप प्रमा का कोई भी लक्षण करें, अज्ञात या केवल ज्ञातरूप में प्रमात्वव्यवहार का कारण मानें, तो भ्रमस्थल में भी प्रमात्व का व्यवहार होना चाहिए। कारण यदि अज्ञात प्रयोजक है, तो अज्ञात-दशा में सत्त्व-असत्त्व दोनों एक से हैं, उनमें भेद तो है नहीं। फिर जहाँ असत् है, वहाँ भी व्यवहार होना चाहिए। साथ ही अप्रमा में भी प्रमात्व का भ्रम या सन्देह हो सकता है। यदि कहें कि 'इदं लक्षणं प्रमितम्' 'ईदृश ज्ञान का विषय लक्षण व्यवहार का जनक है, तो अद्यावधि प्रमा की निरुक्ति न होने से इस कार्यकारणभाव के नियम में प्रमिति विशेषण [असिद्ध होने से] नहीं दे सकते।

यदि कहें कि लक्षण में प्रमितत्व का अवधारण न हो, किन्तु जो लक्षण स्वरूप से प्रमित है, उससे व्यवहार होता है और जो प्रमित नहीं है, वह व्यवहार का प्रयोजक नहीं है, तो किसीके यह कहने पर कि 'यह लक्षण प्रमित नहीं है; आप क्या उत्तर देंगे, कारण अभीतक प्रमात्व की निरुक्ति न होने से 'इदं प्रमितम्' इस ज्ञान से प्रमितत्व

पत्तेः, प्रमात्वनिरूपणवैयर्थ्यापाताच्च। वस्तुतस्तु प्रमयैव घटादितत्त्वव्यवहारोऽपि तथास्तु इत्यास्तां विस्तरः।

प्रमाणसामान्य-लक्षणखण्डनम्

एवं प्रमितेरनिरुक्त्या प्रमाकरणं प्रमाणमित्यप्ययुक्तम्; करणार्थानिरुक्तेश्च।

प्रथम-करणत्वलक्षण-खण्डनम्

ननु कारकान्तरेऽचरितार्थस्य हेतुत्वं करणत्वम्। कर्तुर्हि करणं निष्पादयतः कारकान्तरे चरितार्थत्वम्, स्वरूपताऽनिष्पादनेऽपि व्यापारवत्तया निष्पादनात्। तादृशस्य च तस्य करणत्वात्।

की सिद्धि आप नहीं कर सकते। किञ्च—जैसे लक्षण प्रमितत्व से अनवगत-स्वरूप सत् लक्ष्य के व्यवहार का कारण है, वैसे ही प्रमा भी स्वरूपसत् ही घटादि-व्यवहार की प्रयोजक होगी। फिर प्रमात्व से प्रमा के अवगम के लिए प्रमा के लक्षण का निरूपण व्यर्थ ही हो जायगा। किञ्च—लक्षण व्यतिरेकी हेतु है और व्याप्तिपक्ष-धर्मतया प्रमितस्वरूप से अवगत ही हेतु अनुमिति का जनक होता है। अतः 'प्रमितत्व से अनवगत लक्षण व्यवहार का प्रयोजक है,' यह कथन असङ्गत है। ऐसे अनेक दूषण हैं, अतः विस्तार न कर एतावत् खण्डन ही पर्याप्त है।

प्रमाण-सामान्य के लक्षण का खण्डन

पूर्वोक्त रीति से प्रमा का लक्षण न हो सकने पर 'प्रमितिकरणं प्रमाणम्' यह प्रमाण-लक्षण भी अयुक्त हुआ, कारण विशेषण की निरुक्ति के बिना विशिष्ट की निरुक्ति ही नहीं हो सकती। किञ्च—'करण' शब्द के अर्थ की निरुक्ति भी असम्भव है।

प्रथम करणत्व-लक्षण का खण्डन

समर्थन—जो हेतु कारकान्तर में अचरितार्थ (अनुपयुक्त) होकर क्रिया का जनक हो, वह करण है। कर्ता करण का निष्पादन करता है, अतः कारकान्तर में चरितार्थ है। यद्यपि वह करण का स्वरूप से निष्पादन नहीं करता, तथापि व्यापार-वत्त्वरूप से निष्पादन करता ही है। क्योंकि व्यापारयुक्त को ही 'करण' कहते हैं और विशेषण का निष्पादक विशिष्ट का भी निष्पादक होता है।

एवं कर्मापि करणनिष्पादने चरितार्थम्। करणव्यापारो हि कर्मविषयो भवति, कर्माभावे विषयाभावात् करणव्यापार एव न निष्पद्यत इति तन्निर्वाहे तस्यापि चरितार्थत्वमिति। एवमधिकरणस्यापि करणव्यापारनिर्वाहकत्वम्। सम्प्रदानापादानयोश्च असार्वत्रिकत्वम्। करणं तु सार्वत्रिकमेवेति कारकान्तरेऽचरितार्थः सार्वत्रिको हेतुः करणमिति।

मैवम्; अस्तु तावदविचारितरमणीयमिदं व्याख्यानम्। अन्तरशब्दो यदि विशेषमात्रवचनस्तदा न व्यवच्छेदकः, न हि विशेषमपास्य कारकमात्रं केनचिज्जन्यन्ते यद् व्यवच्छिद्येत।

नापि चान्तरशब्दोऽन्यवचनः; तथा सति 'कस्मादन्यदि'ति विशेषानिर्देशे

इसी तरह कर्म भी करण के निष्पादन में चरितार्थ है। कारण करण का व्यापार कर्म में ही होता है, कर्म के अभाव में आश्रय का अभाव होने से करण का व्यापार नहीं हो सकता। अतः करण के निष्पादन में कर्म भी चरितार्थ है। इसी प्रकार अधिकरण भी करण के व्यापार का जनक है। क्योंकि करण का व्यापार किसी देश-कालरूप अधिकरण में ही होता है। सम्प्रदान प्रायः दानरूप क्रिया का और अपादान विभागरूप क्रिया का ही जनक होता है, अतः वे दोनों सार्वत्रिक नहीं हैं, जब कि करण क्रियामात्र का जनक होने से सार्वत्रिक है। अतः 'कारकान्तर में अचरितार्थ, सार्वत्रिक हेतु करण है', यही करण का दोषरहित निर्वचन हो सकता है।

खण्डन—'करण'-शब्दार्थ का यह व्याख्यान अविचारित-रमणीय है। अर्थात् विचार करके देखा जाय, तो कुछ भी नहीं है। कारण 'अनयोर्महदन्तरम्' की तरह यदि 'अन्तर' शब्द का 'विशेष' अर्थ करें, तो व्यवच्छेद्य न होने से उसका निवेश व्यर्थ हो जायगा। यदि कोई कारक-विशेष को छोड़कर कारक-सामान्य का जनक होता, तो कह सकते कि 'अन्तर शब्द को त्यागकर कारक में अचरितार्थ आदि लक्षण करने पर कारक-सामान्य के जनक का निषेध हो जायगा। वह न हो, अतः अन्तर शब्द का निवेश है।' किन्तु जब विशेष को त्यागकर सामान्य कारक का कोई जनक ही नहीं है, तो 'अन्तर' शब्द का निवेश व्यर्थ ही है।

यदि अन्तर शब्द का 'अन्य' अर्थ करें, तो 'किससे अन्य' यह अपेक्षा होने पर समभिव्याहार से 'करण से अन्य' यही अर्थ होगा। जैसे 'अन्य

'करणादि'ति समभिव्याहारात् लभ्येत, यथा 'अन्य आत्मा शरीरमन्यद्' इत्यादौ। तथा सति करणव्यतिरिक्तकारकाभिप्रायेण प्रयुक्तः स्यात्। तच्च न; करणस्यैव अद्यापि निरूप्यमाणत्वादतिव्याप्तेश्च।

नापि कर्तृकर्मणोः स्वरूपोपादानपरोऽयमन्तरशब्दः; ताभ्यामेवातिव्याप्त्यापत्तेः। नापि कर्तृकर्मणी अपेक्ष्यान्यदन्तरशब्दार्थः; वैयर्थ्यापातात्। कारकेऽचरितार्थत्वमेवोच्यताम्।

नाप्यनधिकार्थ एवायमिति न प्रयोक्तव्योऽन्तरशब्दः; तथा सति करणजनकं हस्तादि न करणं स्यात्। व्यापारवद्धि कारणं करणमुच्यते। अस्ति च स्थाली-

आत्मा शरीरमन्यत्,' इस स्थल में 'शरीर से अन्य आत्मा और आत्मा से अन्य शरीर, ऐसा अर्थ समभिव्याहार से लब्ध होता है। इसी तरह 'कारकान्तर' शब्द का अर्थ भी 'करण से अन्य कारक' यह हुआ। किन्तु वह हो नहीं सकता, क्योंकि अभी करण का निरूपण ही चल रहा है; अतः करण शब्द का अर्थ अज्ञात ही है। इसी प्रकार करण के लक्षण में करण के प्रविष्ट होने से आत्माश्रय भी है। किञ्च—करण से अन्य कारक में अचरितार्थ कर्ता भी है, अतः कर्ता में अतिव्याप्ति भी हो जायगी।

समर्थन—'कारकान्तर' शब्द कर्तृकर्मपरक है, अतः 'कर्ता-कर्म में अचरितार्थ सार्वत्रिक हेतु करण है' यह निष्कृष्ट लक्षण हुआ। *खंडन*—कर्ता में कर्ता अचरितार्थ है तथा कर्म में कर्म, अतः उन दोनों में ही इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'अन्तर शब्द का 'कर्ता-कर्म से अन्य' अर्थ है। एवञ्च 'कर्ता-कर्म से अन्य कारक में अचरितार्थ सार्वत्रिक हेतु करण है' यह लक्षण सम्पन्न हुआ। *खंडन*—'करण में अचरितार्थ' इत्यादि कहने से ही कर्ता-कर्म में अतिव्याप्ति का वारण हो जाने से 'अन्तर' शब्द का निवेश व्यर्थ हो जायगा। किञ्च—कर्तृ-कर्म से अन्य कारक (वह्निरूप करण) में हस्तरूप करण वक्ष्यमाण प्रकार से चरितार्थ है, अतः हस्तरूप करण में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'अन्तर' शब्द का कुछ अधिक अर्थ नहीं है, अतः उसका निवेश आप न करें। अर्थात् 'कारक में अचरितार्थ सार्वत्रिक हेतु करण है', इतना ही लक्षण करें, तो क्या हानि है? *खंडन* – ऐसा कहेंगे, तो वह्निरूप करण के व्यापार के जनक हस्तादि में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। देखिए—'व्यापारवान् कारण' को

संयोगादिव्यापारवतोऽन्यादेस्तथात्वम् । अस्ति च हस्तादेस्तज्जनकत्वम् । न च हस्ताद्यकरणमेवाभ्युपेयम्, व्यापारवतः करणत्वेन तत्कारकत्वस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । कर्त्रादिषु दुरन्तर्भावत्वात् सप्तमकारकस्वीकारापत्तेः ।

न च व्यवधानात् अहेतुत्वमेव तेषाम्, किं नाम हेतुहेतुत्वमिति । कर्तुरप्येवं प्रसङ्गात्, पुंव्यापाराद् देहस्पन्दादिस्तेन कुठारक्रियादिस्ततश्छिदेति परम्पराव्यवधानात् । सर्वेयं कर्तृव्यापारपरम्परा न तस्य हेतुता हन्तीति चेत् ; तुल्यम् । तस्मात् करणत्वेन अवश्याभ्युपगन्तव्यहस्ताद्यव्यापकत्वादलक्षणमिदम् ।

एतेनाऽपि कारकान्तरशब्दः कर्तृकर्मव्यतिरिक्तवचन इति पक्षो व्युदास्यः ।

'करण' कहते हैं, अतः स्थालीसंयोग आदि व्यापारयुक्त तथा पाकरूप क्रिया का हेतु वह्निरूप कारण भी करण है और हस्त [स्थालीसंयोगादिरूप वह्नि-व्यापार का] जनक है । हस्त आदि करण ही नहीं हैं, यह नहीं कह सकते; क्योंकि व्यापार से युक्त तथा पाकक्रिया का जनक होने से हस्त कारक तो अवश्य है, पर उसका कर्ता आदि में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । उसे आप करण तो मानते नहीं, अतः सप्तम कारक मानना पड़ेगा ।

समर्थन—स्थाली-संयोग आदि वह्नि के व्यापार में काष्ठ-व्यापार का व्यवधान होने से हस्त हेतु ही नहीं है, किन्तु वह हेतुभूत काष्ठादि-व्यापार का हेतु है । अतः वह्नि-व्यापार में हस्त कारण ही न होने से हस्त में अव्याप्ति ही नहीं है । *खंडन*—यदि व्यवधान से हेतुत्व का अभाव मानें, तो छिदादि क्रिया में कर्ता भी हेतु नहीं होगा, क्योंकि पुरुष (आत्मा) के यत्नरूप व्यापार से शरीर में उद्यमन-निपतनादि व्यापार होते हैं, उनसे कुठार में काष्ठसंयोगादि व्यापार होता है, उससे छेदन होता है, अतः पुरुष-व्यापार में भी छिदादि का व्यवधान है ही । यदि कहें कि पुरुष में कर्तृत्वग्रह होने पर उसकी सिद्धि के लिए ही शरीरादि के व्यापार होते हैं, फलतः सम्पूर्ण व्यापार कर्ता के ही हैं । अतः उन व्यापारों से कर्ता अन्यथासिद्ध नहीं होता; तो हम भी कहेंगे कि हस्त में करणत्वग्रह होने पर उसकी सिद्धि के लिए ही काष्ठादि व्यापार होते हैं, अतः उन व्यापारों से हस्त अन्यथासिद्ध नहीं हो सकता । तस्मात् हस्त को करण तो मानना ही होगा । उसमें करण का लक्षण नहीं जाता, अतः अव्याप्ति हो जायगी ।

हस्त में अव्याप्ति होने से 'कारकान्तर' शब्द 'कर्तृकर्मभिन्न कारकपरक है' यह पक्ष भी खण्डित जानना चाहिए ।

द्वितीय-करणत्वलक्षण-खण्डनम्

कर्तृव्यापारविषयः करणमित्यपि न । शरीरचालनाय प्रयतमानस्य निष्पाद्या शरीरक्रिया, क्रियाविशिष्टं वा शरीरं प्रयत्नलक्षणकर्तृव्यापारविषयीभवतीति तस्यां क्रियायां करणं स्यात् । न चैतत् शक्याङ्गीकारम्, भविष्यतः स्वं प्रति च कारकत्वानुपपत्तेः ।

न च साक्षात्कर्तृव्यापारविषय इति विशेषोपादानेऽप्यस्य परिहारः, साक्षाद्व्यापार्यमनःप्रभृतिक्रियायां प्रसङ्गतादवस्थ्यात्, अव्यापकत्वाच्च ।

अथ तत्क्रियाहेतुस्तत्क्रियाकर्तृव्यापारस्य विषयस्तत्क्रियाकरणमिति मन्यसे ।

द्वितीय करणत्व-लक्षण का खण्डन

'कर्ता के व्यापार का विषय करण है' यह लक्षण भी अयुक्त है, कारण शरीर की चलनक्रिया के लिए यत्नवाले कर्ता के यत्नरूप व्यापार का विषय चलनरूप क्रिया या क्रियाविशिष्ट शरीर होता है । अतः शरीर की चलनरूप क्रिया में चलनरूप क्रिया या क्रियाविशिष्ट शरीर करण हो जायगा । अर्थात् जैसे वृक्षच्छेदन के लिए प्रयतमान कर्ता के व्यापार का विषय होने से क्रियाविशिष्ट कुठार या उद्यमन-निपतनादि क्रियाएँ छेदनरूप क्रिया की करण हैं, वैसे ही शरीर-चलन के लिए प्रयतमान पुरुष के व्यापार का विषय होने से क्रियाविशिष्ट शरीर या शरीरक्रिया शरीर-चलनरूप क्रिया की करण हो जायगी । भेद यह है कि प्रकृत में अन्य कोई क्रिया नहीं है, अतः शरीरक्रिया ही शरीर या तत्क्रिया की करण हो जायगी । किन्तु इसे आप अङ्गीकार नहीं कर सकते, क्योंकि करण नियतपूर्ववर्ती होने से भावी पदार्थ करण नहीं हो सकता और न वह स्वयं स्व के प्रति करण होता है ।

खंडन—कर्ता के व्यापार का साक्षात् विषय करण है, शरीर मनोव्यापार (सङ्कल्प) द्वारा कर्तृव्यापार का विषय है; अतः अतिव्याप्ति नहीं है । *खंडन*—ऐसा लक्षण करने पर तो सङ्कल्पविशिष्ट मन या संकल्प भी करण हो जायगा, कारण वह कर्तृव्यापार का साक्षात् विषय है । किञ्च—कुठारादि भी शरीर-व्यापार द्वारा ही कर्तृव्यापार का विषय होता है, अतः साक्षात् निवेश करने पर कुठारादि में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—जो तत्क्रिया का हेतु होकर तत्क्रिया के कर्तृव्यापार का विषय हो, वह तत्क्रिया में करण है, ऐसा करण-लक्षण करेंगे । एवञ्च शरीरक्रिया शरीरक्रिया में हेतु नहीं है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खंडन*—अनीश्वरवाद में अङ्कुर

मैवम्; अनीश्वरवादे अङ्कुरादीनामकरणकत्वप्रसङ्गात्। सुषुप्त्यनन्तरभाविन्याः प्रमायाः परिगणितकरणोपाधिभेदपरिसङ्ख्यातेषु प्रमाराशिषु बहिर्भावप्रसङ्गात्। अचेतनस्यापि कर्तृत्वे चातिप्रसङ्गात्।

सेश्वरवादे तु ईश्वरव्यापारविषयः सर्वं कारणमिति नाकरणं कारणं स्यात्। ओमित्यभिधाने च अकारणमात्रं व्यवच्छेद्यमिति कारणं करणमित्येवोच्यताम्, वृथा विशेषणपूरणप्रयासः।

अथ मन्यसे—न धर्म्यन्तरव्यवच्छेदाय विशेषणानि, किन्तु एकस्यापि धर्मिणो रूपभेदेन करणपदाभिधेयतोपदर्शनायेति। एवं तर्हि एतद्रूपालिङ्गितस्य

का करण कर्तृव्यापार का विषय नहीं है, अतः अंकुर के करण में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि अङ्कुर करणरहित ही हैं, तो 'कार्यं करणपूर्वकम्' इस व्याप्ति के न होने से रूपादिविषयक ज्ञानरूप कार्य से चक्षुरादि करण की अनुमिति न होगी, जो अनीश्वरवादी के लिए अपसिद्धान्त हो जायगा। किञ्च सुषुप्ति के अनन्तर-क्षण में उत्पन्न प्रमा का करण भी कर्तृव्यापार का अविषय होने से करण न होगा। यदि कहें कि वह प्रमा अकरणक ही है, तो परिगणित करणरूप निमित्त से उत्पन्न पञ्च या षट्-प्रमाराशि में उसका अन्तर्भाव न होगा और एक सप्तम प्रमा माननी पड़ेगी। यदि ज्ञानरहित जीव या शरीर को ही सुषुप्त्यनन्तर जात प्रमा का कर्ता मानें, तो जीव ही अङ्कुर का भी कर्ता हो जायगा। फिर 'अंकुर अकर्तृक है,' तुम्हारा यह कथन असङ्गत हो जायगा। 'उपादान-गोचर-अपरोक्ष-ज्ञानादिमान् ही कर्ता होता है और अंकुर का उपादान-गोचर अपरोक्षज्ञान जीव को नहीं है, अतः जीव अंकुर का कर्ता नहीं है', यह तो अचेतन को कर्ता माननेवाले आप नहीं कह सकते।

यदि सेश्वरवाद मानें, तो ईश्वररूप कर्ता के व्यापार के विषय तो सभी कारक होते हैं। अतः सम्पूर्ण कारक करण हो जायँगे। यदि कहें कि ठीक है, कारणमात्र करण ही है, तो 'कारणं करणम्' यही लक्षण करें, व्यर्थ ही विशेषण का पूरण-प्रयास क्यों करते हैं?

समर्थन—यह विशेषण कर्ता, कर्म आदि अन्य कारकों की व्यावृत्ति के लिए नहीं हैं, किन्तु एक ही कारक की रूप भेद (प्रवृत्तिनिमित्त) से करणपद-वाच्यता प्रदर्शन करने के लिए है। *खंडन*—तब तो लक्षण की निरुक्ति में प्रवृत्त आपने 'तत्क्रिया का हेतु तथा तत्क्रिया के कर्तृव्यापार का विषय तत्क्रिया का करण है' इस कथन द्वारा प्रवृत्ति-निमित्त ही कहा। एवञ्च प्रश्न का उत्तर न देकर अप्रस्तुत का अभिधान करने से अर्थान्तर

करणत्वात् लक्षणोक्तिप्रवृत्तेन त्वया लक्ष्यमात्रमुक्तं भवेत् । न च लक्ष्यपदप्रवृत्तिनिमित्तमेव लक्षणार्थः ; गन्धवत्त्वादेः पृथिव्याद्यलक्षणत्वापत्तेः ।

अपि चैवं वस्तुमात्रं करणमित्यभिधायैव किं न करणपदप्रवृत्तिनिमित्तमुपादर्शि । स्यादेवं यदि सर्वत्र वस्तुनि करणव्यवहारः स्यादिति चेत् ; तर्हि त्वदुक्तलक्षणमपि भवेत् यदि सर्वत्र कारणे करणव्यवहारः स्यादित्यपि पश्य । नहि कर्तरि कर्मणि वा कस्यचित्करणव्यवहारः ।

कर्तरि तावदस्ति लोके 'प्रमाणमिह देवदत्तः' इति । शास्त्रेऽपि 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्याद्' इतीति चेन्न । किमयं माणवकेऽग्निव्यवहार इव गौणो मुख्य एव वेति संशये यदि त्वत्परिकल्पितान्निमित्तात् मुख्यः स्यात्ततः कर्मण्यपि स्यात्तत एव निमित्तादिति बाधकदर्शनेन पारिशेष्यात् गौणतयैव तद्व्यवस्थापनाया युक्तत्वात् ।

का प्रसङ्ग हुआ । यदि कहें कि लक्षण तथा प्रवृत्तिनिमित्त एक ही है, अतः प्रवृत्तिनिमित्त के अभिधान से अर्थान्तर नहीं है, तो गन्धवत्त्व पृथिवी का लक्षण नहीं हो सकेगा । कारण जब आप प्रवृत्तिनिमित्त को ही लक्षण मानते हैं, तो गन्धवत्त्वरूप उपाधि की अपेक्षा लाघव होने से पृथिवीत्व जाति ही प्रवृत्तिनिमित्त होती है, गन्धवत्त्व नहीं । अतः गन्धवत्त्व लक्षण नहीं होगा ।

अपि च—'वस्तुमात्र करण है' यह कहकर आपने करणपद के प्रवृत्तिनिमित्त का प्रदर्शन क्यों नहीं किया ? यदि कहें कि 'ऐसा तभी कह सकते थे, जब कि वस्तुमात्र में करण व्यवहार होता,' तो हम भी कह सकते हैं कि 'तभी आपका यह लक्षण भी हो पाता, यदि कारणमात्र में करण व्यवहार होता ।' आप भी यही देखें कि कर्ता या कर्म के बीच किसीक करण में भी व्यवहार नहीं होता ।

समर्थन—लोक में 'प्रमाणमिह देवदत्तः' इस स्थल में कर्ता में करण-व्यवहार देखा ही जाता है । शास्त्र में भी 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' इस स्थलमें कर्ता में करण व्यवहार देखा जाता है । *खंडन*—'क्या यह व्यवहार 'अग्निर्माणवकः' के तुल्य गौण है या मुख्य ?, ऐसा सन्देह होने पर यदि तुम्हारे कल्पित निमित्त से इस व्यवहार को मुख्य मानें, तो उसी तुम्हारे कल्पित निमित्त से कर्म में भी करण-व्यवहार होना चाहिए किन्तु कर्म में तो करण-व्यवहार का बाध (अभाव) देखा ही जाता है । अतः परिशेष से कर्म या कर्ता में गौणता से करण-व्यवहार होता है, यही व्यवस्था युक्त है ।

अस्त्येव कर्मण्यपि तेन रूपेणेति चेन्न । न तावदयं शक्योपदर्शनोदाहरणः शास्त्रलोकयोः । क्व दृश्यते 'घटं पश्यती'त्यर्थे 'घटेन पश्यती'ति । यदि तु त्वच्चेतसि केवलं स्यात्, तत्र च नादरं विधातुमुत्सहामहे । प्रमेयमात्रं करणमिति वदतो वामबुद्धेर्मनसि विपरिवर्तमानं प्रमेयमात्र एव करणव्यवहारास्तित्वमेव-मनुरोद्धव्यं स्यादिति ।

'घटेन पश्यती'त्याद्यनभिधानवशान्न प्रयोगः, न हि सर्वं लाक्षणिकं प्रयुज्यत इति चेन्न माऽस्तु, तदभावे काऽन्याऽस्ति तेषु करणव्यवहार इति वक्तव्यः स स्यात्. न चासौ शक्यदर्शन इति ।

क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि करणमित्यपि न । तथा हि—अयोग-व्यवच्छेदो योग एव पर्यवस्येदिति सम्बन्धेन सम्बन्धीत्युक्तं स्यादिति पौनरुक्त्यम् ।

समर्थन—कर्म में भी कर्तृव्यापार-विषयत्वरूप से करणत्व-व्यवहार होता ही है । *खण्डन*—नहीं, लोक या वेद में कहीं भी 'घटं पश्यति' के स्थान पर 'घटेन पश्यति' ऐसा व्यवहार नहीं देखा गया है । यदि केवल आपके चित्त में 'घटं पश्यति' के स्थान पर 'घटेन पश्यति' ऐसा व्यवहार हो, तो उसका आदर करने में हमें उत्साह नहीं होता । कारण यदि आपके वचन का आदर करें, तो 'प्रमेयमात्र करण है' यह कहनेवाले वामबुद्धि आपके वचन का आदरकर प्रमेयमात्र को करण मानना पड़ेगा ।

समर्थन—अभिधान न होने से 'घटेन पश्यति' यह प्रयोग नहीं होता । कारण यह निश्चय नहीं है कि लक्षण से युक्त या सिद्ध सबका प्रयोग हो । *खंडन*—कर्म में करण शब्द या विभक्ति का प्रयोग न होने पर उसमें करणत्वप्रयुक्त कौन-सा व्यव-हार होता है, यह कहना होगा किन्तु आप उसको कह नहीं सकते ।

समर्थन—जो कुठारादि प्रधान क्रिया (छिदादिरूप फल) से अयोगव्यवच्छेद (सम्बन्धाभावका अभाव) द्वारा सम्बद्ध हो, वह करण है । कुठार का व्यापार होने पर छेदन अवश्य होता है, अतः कुठार में छेदन के अयोग का व्यवच्छेद है । कर्ता का व्यापार होने पर भी सम्भव है कि कदाचित् छेदन न हो । अतः कर्ता में छेदन का सम्बन्ध तो है, किन्तु छिदा के अयोग का व्यवच्छेद नहीं है, इसलिए न कुठार में अव्याप्ति है और न कर्ता में अतिव्याप्ति । *खंडन*—अभाव का अभाव प्रतियोगि-रूप होता है । अतः अयोग का व्यवच्छेद योगरूप होने से उक्त लक्षणवाक्य का अर्थ हुआ सम्बन्धयुक्त सम्बन्धी । फलतः पुनरुक्तिदोष होने से उक्त लक्षण असङ्गत है ।

यदा सम्बन्धीत्यनेन कालविशेषनियतसम्बन्धिता अभिधीयते, ततोऽन्यस्मिन्नपि काले सम्बन्धिता अयोगव्यवच्छेदपदेन विवक्षितेति चेन्न। सम्बन्धीत्यनेन न कालविशेषनियता सम्बन्धिताऽभिहिता, येन कालान्तरेऽलब्धसम्बन्धताभिधानाय पदान्तरमुपादीयेत।

अथोच्यते—सम्बन्धीत्यस्य सामान्यतोऽभिधायिनः कालविशेषनियतं सम्बन्धमादायापि पर्यवसाने सार्थकत्वं भवत्येवेति कालान्तरेऽसम्बन्धितया व्यवतिष्ठमानं कर्त्रादिपि करणं प्रसज्येत। तद्व्यवच्छेदाय कालान्तरे सम्बन्धिता पदान्तरेणाभिधीयत इति। मैवम्; तर्हि तेनापि कस्मिंश्चिदेव कालान्तरे सम्बन्धिताऽभिधीयेत, तदापि तस्य सार्थकता सम्बन्धिपदन्यायेन सामान्याभिधायिनो भवेदिति ततोऽपि कालान्तरे असम्बन्धव्यवच्छेदाय विशेषणान्तरमपि निवेशनीयं स्यात्।

अथ यदा कदाचिदपि योऽयोगस्तस्य सर्वस्य व्यवच्छेदो विवक्षित इति।

समर्थन—'सम्बन्ध' शब्द काल-विशेष से नियत सम्बन्ध का वाचक है। अतः काल-विशेष से अन्य काल में सम्बन्धित्व प्रतिपादन करने के लिए 'अयोगव्यवच्छेद' का लक्षण में निवेश है। *खण्डन*—'सम्बन्धी' पद से काल-विशेष से नियत सम्बन्ध का अभिधान नहीं होता, किन्तु सामान्यतः सम्बन्ध का अभिधान होता है। अतः सम्बन्धी कहने पर अन्य काल में अयोग प्राप्त नहीं होता, फिर उसके व्यवच्छेद के लिए 'अयोगव्यवच्छेद' पद का उपादान व्यर्थ है।

समर्थन—यद्यपि 'सम्बन्धी' पद सामान्यतः सम्बन्धमात्र का अभिधान करता है, तथापि कालविशेष से नियत सम्बन्ध में भी सम्बन्धी पद का पर्यवसान हो सकता है। अतः कदाचित् छिदादि प्रधान क्रिया से असम्बद्ध कर्ता में करणत्व के व्यवच्छेद के लिए अयोगव्यवच्छेद पद का लक्षण में निवेश हो सकता है। *खण्डन*—जैसे सामान्यतः सम्बन्ध का वाचक 'सम्बन्धी' पद कालविशेष से नियत सम्बन्ध में पर्यवसित होता है, वैसे ही अभावाभाव के प्रतियोगी रूप होने से, सामान्य सम्बन्ध के वाचक 'अयोगव्यवच्छेद' शब्द का भी यदि कालविशेष से नियत सम्बन्ध में ही पर्यवसान मान लें, तो फिर भी कर्ता में अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः उसमें अतिव्याप्ति के वारण के लिए अन्य विशेषण का निवेश करना होगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर विशेषण-निवेश करने पर अनवस्था हो जायगी।

समर्थन—अन्य काल में भी जो अयोग हो, उसका व्यवच्छेद अयोगव्यवच्छेद शब्द का अर्थ है। अतः क्रिया से सार्वकालिक कुठार-सम्बन्ध के लाभ के लिए

तर्हि सम्बन्धिपद एवैषा विवक्षाऽस्तु, कृतमधिकमुपादाय तद्विवक्षया। निषेध-व्यवच्छेदेन सार्वत्रिकत्वलाभ इति चेन्न। निषेधव्यवच्छेदस्य विध्यनतिरेकार्थ-त्वेनाविशेषात्।

तद्धर्मिकं सम्बन्धस्य असम्बन्धासामानाधिकरण्यम् 'अयोगव्यवच्छेदेने' त्यने-नोच्यत इति चेन्न। तस्यापि सत्त्वकाले तत्रासत्त्वोपगमात्। सर्वदेति चेन्न। यद्येवं तत् किं करणासत्त्वकालेऽपि योग एव करणेन क्रियायाः?

यावत्सत्त्वमिति चेत्; तर्हि सम्बन्धीति व्यर्थम्, यावत् सत्त्वमयोगव्यवच्छेदेन

अयोगव्यवच्छेद पद सार्थक है। *खंडन*—सम्बन्धी पद से ही अन्य काल में अयोग का व्यवच्छेद विवक्षित क्यों न मानें? उसके लिए अयोगव्यवच्छेद शब्द का निवेश क्यों किया जाय?

समर्थन—अयोगव्यवच्छेदरूप विशेषण से अयोग का निषेध होने पर सार्वकालि-कत्व का लाभ हो जाता है। *खंडन*—अभावाभाव प्रतियोगी रूप होने से जब अयोगव्यवच्छेद योगरूप ही है, तो 'अयोगव्यवच्छेद' शब्द से सार्वकालिक सम्बन्ध का लाभ ही कैसे होगा?

समर्थन—'जिस कुठारादि में छिदादि प्रधानक्रिया का सम्बन्ध प्रधानक्रिया के सम्बन्धाभाव से समानाधिकरण न हो, वह करण है'—यह अर्थ अयोगव्यवच्छेद शब्द से विवक्षित है। एवञ्च कर्ता में छिदा का सम्बन्ध 'स्व' के असम्बन्ध से समानाधिकरण है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खंडन*—कर्ता में भी छिदा के सम्बन्धकाल में छिदा का असम्बन्ध नहीं है, अतः उसमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है।

समर्थन—जिस धर्मी में छिदा के सम्बन्ध के अभाव का सदा असत्त्व हो, वह करण है। कर्ता में छिदा के सम्बन्ध-काल में उसके सम्बन्धाभाव का असत्त्व होने पर भी सदा असत्त्व नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है। *खंडन*—यदि ऐसा है, तो क्या करण के असत्त्वकालमें भी क्रिया के साथ करण का सम्बन्ध विवक्षित है? अर्थात् करण में भी सर्वदा सम्बन्ध नहीं है, अतः लक्षण असम्भवी हो जायगा।

समर्थन—यावत् कुठारादि करण का सत्त्व हो, तावत् कुठारादि में छिदा का सत्त्व विवक्षित है। *खंडन*—ऐसा होने पर सम्बन्धी पद व्यर्थ हो जायगा। अर्थात् "यावत् 'स्व' का सत्त्व हो, तावत् जो धर्मी क्रिया के अयोगव्यवच्छेद से विशिष्ट या

यद्विशिष्टमुपलक्षितं वा तत्करणमित्येवास्तु, सम्बन्धीत्येव वा तथा विवक्ष्यतामित्युक्तमेव ।

अयमेवार्थः कयाऽपि कुसृष्ट्या सम्बन्धिपदसार्थकतामुपपाद्य यदि विवक्षितस्तदाप्युच्यते—कृत्तिकोदयक्रियायां रोहिण्यासत्तिरप्येवं करणं स्यात्, अनन्तरभाविनश्चतुर्दशस्य नक्षत्रस्योदयं प्रति पूर्वभाविचतुर्दशसङ्ख्यनक्षत्रास्तमयस्य च करणत्वं स्यात् ।

न चैवमेव युक्तम्; यौगपद्येन कारणत्वानुपपत्त्या कारकत्वस्य दुर्निरस्तत्वेन करणत्वस्य सम्भावनाऽनारोहात् ।

न च तत्र सम्बन्ध एव नास्ति; व्याप्तेः स्वभावसम्बन्धात्मिकाया दुरपह्नवत्वात् ।

अथ कार्यकारणभावः सम्बन्धो विवक्षितः । न; सामग्र्याः करणत्वापत्तेः ।

उपलक्षित हो, वह करण है," अथवा "यावत्सत्त्व जो प्रधान छिदादि क्रिया का सम्बन्धी हो, वह करण है" ऐसा ही लक्षण रहे, 'अयोगव्यवच्छेदेन' यह विशेषण व्यर्थ है ।

यदि कहो कि सम्बन्धी पद से सम्बन्ध-सामान्य विवक्षित है और अयोगव्यवच्छेद पद से यावत्-कारक-सत्त्व विवक्षित है, अतः न पुनरुक्ति है और न विशेषण ही व्यर्थ है, तो यह कल्पना उदक्षर होने से (अक्षरार्थ न होनेसे) कुत्सित है । किञ्च—ऐसा निवेश करने पर भी कृत्तिकानक्षत्र की उदयरूप क्रिया में रोहिणी का सामीप्य भी करण हो जायगा । किञ्च—उत्तरभावी चतुर्दश नक्षत्र के उदय के प्रति पूर्वभावी चतुर्दश नक्षत्र का अस्तंगमन भी करण हो जायगा ।

समर्थन—कृत्तिकानक्षत्र के उदय में रोहिणी का सामीप्य करण क्यों नहीं माना जाय ? *खण्डन*—एक काल में होने से उसमें पूर्वकालवृत्तित्वरूप कारणत्व ही नहीं है, अतः करणत्व की सम्भावना भी नहीं है ।

समर्थन—कृत्तिकोदय का रोहिणी के सामीप्य में सम्बन्ध नहीं है । अतः क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से युक्त सम्बन्धरूप करणत्व लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है । *खंडन*—कृत्तिकोदय की रोहिण्यासत्ति (रोहिणी के सामीप्य) में स्वभाव (स्वरूप) सम्बन्धरूप व्याप्ति ही सम्बन्ध है । उसका अपह्नव नहीं हो सकता ।

समर्थन—क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से युक्त कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध जिसमें हो, वह करण है । कृत्तिकोदय का रोहिणी के सामीप्य में कार्यकारणभाव नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है । *खण्डन*—छिदादि प्रधान क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से युक्त सम्बन्धी सामग्री भी है; अतः सामग्री में

ओमिति चेत्; तत्किमोमित्यभिधायैव निवृत्तो भवान्? आकलितं किलास्माभिः सामग्र्यपि करणमित्यत्र न श्रद्दधतः प्रणवपूर्विकां श्रुतिमेव काञ्चित्पठित्वा श्रद्धापयिष्यति भवानस्मानिति।

न सामग्री कारणम्, किन्तु तदेकदेशो नानाभूतः प्रत्येकं तथा। सामग्री तु 'यदनन्तरं कार्यं भवत्येव'एत्येतावन्मात्ररूपेति चेन्न। एतादृशस्य सामग्रीलक्षणस्य करणेऽपि सत्त्वात् करणस्यापि सामग्रीत्वापातात्, क्रियाया विभागादौ विभागस्य च संयोगनाशादिं प्रति तथात्वापत्तेः।

यच्च प्रतिसामग्र्येकदेशं नियतप्राग्भावादि कारणलक्षणमिष्यते, तत्सामग्र्यामपीति कथं तदकारणता?

प्राक्कालमन्तर्भाव्य सामग्री, तादृश्याश्च तस्याः प्राक्सत्त्वमेव नास्तीति चेन्न। तत एव प्राक्कालस्याकारणत्वात् कारणसामग्र्यां तदनिवेशात्।

करणत्व का प्रसङ्ग हो जायगा। यदि आप 'ओम्' शब्द का उच्चारणकर सामग्री का करणत्व स्वीकार करायें; तो क्या आप 'ओम्' कहकर ही कृतकृत्य हो गये? हमने तो यही समझा कि बिना किसी युक्ति के सामग्री को करण मानने में श्रद्धा न रखनेवाले हम लोगो को आप प्रणवपूर्वक कोई श्रुतिवचन पढ़कर श्रद्धा करा देंगे।

समर्थन—सामग्री कारण नहीं, बल्कि उसका एकदेश जो, कि समवायी, असमवायी आदि अनेकविध है, कुठारादि प्रत्येक कारण है। जिसके अनन्तर उत्तरकाल में कार्य अवश्य हो, वह सामग्री है। अतः सामग्री में क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से युक्त कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध न होने से अतिव्याप्ति नहीं है। *खण्डन*—सामग्री का यह लक्षण करण में भी है, अतः करण में सामग्री के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—क्रिया विभाग की और विभाग संयोग के नाश की सामग्री हो जायगा।

किञ्च—नियतपूर्ववर्त्तित्वरूप जो कारणत्व-सामग्री के एकदेश में है, वह सामग्री में भी है ही। अतः 'सामग्री कारण नहीं है' यह कथन भी उचित नहीं है।

समर्थन—सामग्री में अन्तर्भूत प्राक्काल भी है और उसमें प्राक्सत्त्वरूप कारणत्व नहीं है। अतः प्राक्कालघटित सामग्री में प्राक्सत्त्वरूप कारणत्व नहीं है। *खण्डन*—प्राक्काल में पूर्वक्षणवृत्तित्व का असत्त्व होने से वह कारण ही नहीं है। अतः कारणसमूहरूप सामग्री में प्राक्काल का प्रवेश हो ही नहीं सकता।

अपि चैवं विवक्षितमपि करणं न स्यात् । न हि यावत्सत्त्वं व्यापारवतोऽपि तस्य क्रियाजनकत्वम् ; क्रियाकाले क्षणमपि तदनुवृत्तिनिषेधे प्रमाणस्य दुरुपन्यासतया संशयेनापि लक्षणासिद्धेः । प्रत्युत चिरस्थिरकरसंयोगे स्पृश्ये स्पर्शप्रमाकरणस्पर्शनेन्द्रियसंयोगस्थैर्यस्य मन्तुमुचितत्वात् ।

यावत्सत्त्वं च करणमिति भाषायां सर्वस्मिन् तत्सत्त्वकाले करणत्वमित्यर्थः । न च कारणत्वस्य नियतपूर्वकालसम्बन्धात्मकस्य क्वचित्काले सत्त्वम्, कालं प्रति कालान्तराभावादिति ।

अथ क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धीत्यस्यायमर्थो यस्मिन् सति भवत्येव क्रियेति । कोऽस्यार्थः—किं यस्मादनन्तरं क्रियोत्पद्यत एव, उत यस्मिन् वर्तमाने

अपिच—'यावत्सत्त्व (अवस्थिति) क्रिया का अयोगव्यवच्छेद से जो सम्बन्धी हो, वह करण है' ऐसा लक्षण होने पर विवक्षित कुठारादि भी [उद्यमन-निपतन-विशिष्ट कुठार का या कुठार की उद्यमन-निपतन क्रिया का यावत्काल में प्रधानक्रिया छिदादि के साथ जनकत्वरूप सम्बन्ध न होने से] करण नहीं कहलायेंगे । कारण, कुठारादि के क्रियाकाल में क्षणभर भी प्रधानक्रिया छिदा के असम्बन्ध का निषेध है, इसमें कोई प्रमाण नहीं । अतः असम्भव के सन्देह से भी यह लक्षण असङ्गत है । प्रत्युत देखा यह जाता है कि स्पृश्य द्रव्य में चिर-स्थिर कर-संयोग होने पर त्वगिन्द्रिय और स्पृश्य द्रव्य का संयोगरूप व्यापार तो है; किन्तु चित्त के अन्यत्र व्यासक्त होने पर त्वाच-प्रमा नहीं होती । अतः स्पर्श-प्रमा के साथ त्वगिन्द्रिय का अयोगव्यवच्छेदयुक्त सम्बन्ध न होने से त्वगिन्द्रिय में करण-लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—'यावत्-सत्त्व क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद से जनकतारूप से जो सम्बन्धी हो, वह करण है' इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि 'सर्वकरणसम्बन्धी काल में विद्यमान कारण करण है ।' किन्तु वह अयुक्त है, कारण, काल में काल नहीं रहता । अतः काल से घटित प्राक्कालसत्त्वरूप करणत्व से विशिष्ट कारण काल में भी नहीं रहेगा ।

समर्थन—'अयोगव्यवच्छेद से युक्त जो क्रिया का सम्बन्धी हो' इस वाक्य का 'जिसके होने पर अवश्य क्रिया होती हो' यह फलित अर्थ है । *खडन*—'जिसके होने पर अवश्य क्रिया होती हो' इस वाक्य का 'जिसके अनन्तर क्षण में क्रिया अवश्य उत्पन्न होती हो' यह अर्थ है, 'जिसके रहते क्रिया अवश्य उत्पन्न हो' यह

क्रियोत्पद्यत एव, उत यस्मादनन्तरं क्रिया तिष्ठत्येव, उत यस्मिन् वर्तमाने क्रिया तिष्ठत्येव ?

नाद्यः ; सामग्र्याः करणत्वप्रसङ्गात्, हस्तादीनामकरणत्वप्रसङ्गाच्च, सुखदुःखादेः प्रमेयस्यापि प्रमाकरणत्वप्रसङ्गाच्च । न च प्रमेयमपि प्रमायाः करणं स्यादेवेति वाच्यम् ; तत्र तथाव्यवहारस्य कस्यचिदप्यसिद्धेः ।

नापि द्वितीयः ; स्पृश्येन सह स्थिरसंयोगस्य स्पर्शनेन्द्रियस्याव्यापनात्, तत्सत्त्वेऽपि व्यासक्तौ तेन प्रमानुत्पादनात् । नापि तृतीयः ; सामग्र्यादेः करणत्वप्रसङ्गात्, उत्पत्तेः, स्थिरे करणत्वप्रसङ्गाच्च । नापि चतुर्थः ; सहस्थायिनां करणत्वप्रसङ्गात् ।

अर्थ है, 'जिसके अनन्तर क्रिया अवश्य रहती हो' यह अर्थ है अथवा 'जिसके रहते क्रिया अवश्य रहती हो' यह अर्थ है ?

इन चार कल्पों में प्रथम कल्प युक्त नहीं है । कारण, सामग्री के अनन्तर भी अवश्य कार्य उत्पन्न होता है, अतः सामग्री करण हो जायगी । किञ्च —हस्त-व्यापार के अनन्तर कदाचित् पाकादि क्रिया नहीं भी होती, अतः हस्तादि में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । सुख-दुःख अवश्य वेद्य हैं । अर्थात् सुखादि क्षणभर भी अज्ञात नहीं रहते, किन्तु उत्पत्तिके अनन्तर इनकी प्रमिति अवश्य होती है, अतः सुखादि भी स्व-प्रमिति के करण हो जायँगे । प्रमेय भी प्रमा का करण होता है, यह तो कभी नहीं कह सकते ; कारण कर्म में करण-व्यवहार देखा नहीं जाता ।

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है ; कारण व्यासङ्ग-दशा में त्वगादि इन्द्रिय और स्पृश्यादि विषयोंका संनिकर्ष होने पर भी प्रमिति न होने से त्वगादि इन्द्रियों में अव्याप्ति हो जायगी ।

तृतीय कल्प भी प्रायः प्रथम कल्प में उक्त दूषण से ही दूषित है । किञ्च—जो कार्यों को स्थिर मानते हैं अर्थात् क्षणिक नहीं मानते, उनके मत में भी घटादि से स्वसत्तारूप क्रिया अनन्तर होती है. अतः घटादि स्वसत्त्वरूप क्रिया में करण हो जायँगे ।

चतुर्थ कल्प भी अयुक्त है, कारण एक साथ रहनेवाले रूपादि के रहने पर ही रसादि रहते हैं । अतः सहस्थायी रूपादि भी रसादि के करण हो जायँगे ।

अथ क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धित्वं करणत्वमित्यस्यायमर्थः—व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वमिति। नैवम्; हस्ताद्यव्यापनात्।

व्यापार-लक्षण-खण्डनम्

कश्चायं तद्व्यापारो नाम—किं तज्जन्यं कारणम्, उत तदाश्रयं कारणम्? नाद्यः; लिङ्गपरामर्शे तदसम्भवात्।

पक्षे प्रथमधूमादिदर्शनस्य व्याप्तिस्मृतिद्वारा द्वितीयलिङ्गपरामर्शव्यापारं जनयतः करणत्वमेष्टव्यम्। एवञ्च परमार्थतो व्याप्यस्य स्वरूपेण प्रमितिर्द्वितीय-व्याप्ततत्परामर्शव्यापारिका अनुमानमिष्यत इति चेन्न। अन्यतो जाताग्निधूमादि-व्याप्तिस्मृतौ सत्यां पक्षगतप्रथमधूमादिदर्शनस्य तद्व्यापारकत्वासिद्धेः।

समर्थन—'क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेदयुक्त सम्बन्धी करण है' इसका फलित अर्थ यह है कि 'जिस व्यापार के होने पर फल का अव्यभिचार हो, वह करण है।' *खंडन*—हस्त का व्यापार होने पर भी कदाचित् फल का व्यभिचार होने से हस्त में अव्याप्ति हो जायगी।

व्यापार-लक्षण का खण्डन

किञ्च—करण का व्यापार क्या वस्तु है—क्या करण से जन्य कारण व्यापार है अथवा करण का आश्रित कारण व्यापार है? इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है; कारण, लिङ्गपरामर्श करणजन्य न होने से व्यापार न कहलायेगा।

समर्थन—पक्ष (पर्वतादि) में प्रथम जो धूम का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, वह व्याप्तिस्मृति द्वारा द्वितीय लिङ्गपरामर्श का जनन करता है; अतएव वह करण है। ऐसा होने पर वस्तुतः व्याप्य धूम की स्वरूपतः प्रमा वह्निव्याप्य धमात्मक परा-मर्शरूप व्यापारयुक्त होने से उसका अनुमान इष्ट है।

खण्डन—दैववश जहाँ पूर्वगृहीत व्याप्ति की स्मृति हुई हो, वहाँ द्वितीय लिङ्गपरामर्श उस स्मृति से जन्य ही होता है। प्रथम पक्ष में धूम का जो प्रत्यक्ष हुआ है, उससे जन्य नहीं है। अतः प्रथम लिङ्ग के ज्ञान का द्वितीय लिङ्गपरामर्श व्यापार नहीं कहा जायगा।

तत्राप्युभयकर्मजसंयोगवत्तदपि कारणमिति चेन्न । अभावादिसापेक्ष-विशिष्ट-प्रतिपत्तिवत् प्रागुपजातवह्निव्याप्तधूमस्मृतेः प्रथममपि 'योऽसौ वह्निव्याप्तः सोऽयं धूमः' इति परामर्शोपपत्तेः ।

नित्यसापेक्षेऽर्थेऽस्तु तथा, नान्यत्र प्रथमं तथेति चेन्न । प्राक् तत्कारणोपपत्तौ नान्यत्रैवमिति नियमे प्रमाणस्याभावात् । तस्य व्यापाराभावात् नानुमित्युत्पादकत्वमेवेति चेत्; स्यादप्येवं यदि व्यापारवतः करणत्वमित्येव सिद्धं स्यात् ।

तत्र धूमादिनिर्विकल्पकस्य तद्व्यापारस्य करणत्वमिति चेन्न । नित्यसङ्घटितार्थवद्विनापि निर्विकल्पकं सविकल्पकोत्पत्तेरविरोधेन त्वदुक्तप्रक्रियानियमे प्रमाणाभावात् ।

समर्थन—उभयकर्मज संयोग के तुल्य वह परामर्श भी दैववश जात व्याप्ति की स्मृति और प्रथम धूमदर्शन दोनों से जन्य हो सकता है । *खंडन*—जैसे प्रतियोगी की स्मृति से प्रतियोगिविशिष्ट अभाव की प्रमा होती है, वैसे ही दैववश जात व्याप्ति की स्मृति से प्रथम भी धूमदर्शन के बिना ही 'जो धूम वह्निव्याप्त है, तद्धूमवान् यह पर्वत है' ऐसा परामर्श हो सकता है ।

समर्थन—अभावप्रमा के तुल्य धूमत्वविशिष्ट में व्याप्ति के वैशिष्ट्य का भान प्रथम धूमज्ञान के बिना नहीं हो सकेगा; कारण अभाव प्रतियोगी में नित्य साकाङ्क्ष है । अतः प्रतियोगिनिरपेक्ष केवल अभाव की प्रमा नहीं हो सकती । किन्तु प्रथम ही विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही अभाव की प्रमा होती है । प्रकृत में नित्य साकाङ्क्ष न होने से वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान प्रथम धूमदर्शन के बिना नहीं हो सकेगा । *खंडन*—जब व्याप्तिस्मृति, धूम तथा चक्षुःसंयोग आदि कारण विद्यमान हैं, तब 'नित्य सापेक्ष न होने से प्रथमतः धूमदर्शन के बिना विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान नहीं हो सकता' यह कथन निर्युक्तिक है ।

समर्थन—लिङ्गपरामर्श में कोई व्यापार नहीं है, अतः वह करण नहीं है । *खंडन*—यह कथन तभी युक्त होता, जब 'सव्यापार ही करण होता है' यह नियम होता । परन्तु ऐसा नियम नहीं है; कारण, व्यापाररहित व्यापार भी करण होता है ।

समर्थन—प्रथम धूम का निर्विकल्पक ज्ञान होता है, अनन्तर विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही धूम का परामर्श होता है । अतः धूम का निर्विकल्पक ज्ञान ही परामर्श द्वारा अनुमिति का करण है । *खंडन*—प्रतियोगी में नित्य सापेक्ष अभाव की प्रमा के तुल्य निर्विकल्पक के बिना भी पूर्वोक्त रीति से व्याप्तिविशिष्ट धूम का परामर्श हो सकता है । अतः 'निर्विकल्पक ज्ञान के बिना सविकल्पक ज्ञान नहीं हो सकता'—आपकी इस कल्पित प्रक्रिया में कुछ भी प्रमाण नहीं है ।

नित्यसङ्घटितेऽपि निर्विकल्पकं मंस्यस इति चेन्न। कारणान्तरादेव तदुपपत्तौ तत्र निर्विकल्पककल्पनायां प्रमाणाभावात्। प्रत्युत तत्सङ्घटनस्य स्वभावानतिरेकोपगमात्।

तथापि यत्किञ्चित्तज्जनकं तदेव तत्रानुमितिकरणमास्तामिति चेन्न। तथेन्द्रियादेरनुमितिकरणत्वापत्तेरिति अलमतिप्रसरेणेति।

शब्दश्रोत्रसन्निकर्षस्य च श्रोत्राव्यापारत्वप्रसङ्गात्। अन्यथा श्रोत्रस्य शब्दप्रतिपत्तावकरणत्वप्रसङ्गात्। सन्निकर्षो हि इन्द्रियव्यापार उच्यत इति व्यापारान्तरञ्च तस्य क्षणिकमसिद्धम्, स्थिरे चोक्त एव दोषः।

समर्थन—अभाव की प्रमा भी निर्विकल्पकज्ञानपूर्वक ही होती है, ऐसा मानेंगे। *खंडन*—जब अभाव की प्रमा प्रतियोगी की स्मृति से युक्त इन्द्रिय-सन्निकर्ष से ही हो सकती है, तब उस प्रमा में निर्विकल्पक ज्ञान को कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्युत अभाव आदि नित्यसाकाङ्क्ष पदार्थों का यह स्वभाव है कि निर्विकल्पक ज्ञान के विना भी वे विशिष्टज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) के विषय होते हैं।

समर्थन—व्याप्ति की स्मृति ही परामर्शरूप व्यापार की जनक होने से अनुमिति का करण क्यों न मानी जाय। *खण्डन*—ऐसा होने पर इन्द्रिय ही अनुमिति-करण क्यों न मानी जाय? जैसे 'वह्निव्याप्यो धूमः' इत्याकारक व्याप्तिस्मृति, 'योऽयं वह्निव्याप्यो धूमस्तद्वान् अयं पर्वतः' इस परामर्श की जनिका है, वैसे ही इन्द्रिय भी उक्त परामर्श की जनिका है। अतः व्याप्तिस्मृति के तुल्य इन्द्रिय की भी उक्त स्मृति व्यापार हो सकती है। यदि इन्द्रिय को अनुमिति का करण मान लें, तो इन्द्रियजन्य होने से अनुमिति प्रत्यक्ष हो जायगी। एवञ्च प्रत्यक्षत्व तथा अनुमितित्व का साङ्कर्य हो जायगा। इतना ही बहुत है, विस्तार से कुछ फल साध्य नहीं।

किञ्च—यदि करण का व्यापार करण से जन्य कहा जाय, तो शब्द के साक्षात्कार में श्रोत्र का शब्द-समवाय [अजन्य होने से] व्यापार नहीं होगा। यदि समवाय को उक्त स्थल में व्यापार न मानें, तो श्रोत्र करण न हो सकेगा। कारण, व्यापारवत् कारण को ही करण कहते हैं और श्रोत्र का शब्द से सन्निकर्ष ही व्यापार हो सकता है। जो क्षणिक जन्य हो, ऐसा अन्य व्यापार शब्द-प्रत्यक्ष में असिद्ध है और स्थिर (समवाय) व्यापार [उक्त लक्षण का समन्वय न होने से] हो नहीं सकता।

शब्द एव तद्व्यापारः किन्न स्यादिति चेन्न। तस्य कर्मत्वेन करणकोटि-बहिर्भावात्।

क्वचित्तयोरेकत्वेऽपि का क्षतिरिति चेन्न। शब्दबुद्धौ कार्यायामुपधायकत्वेन प्रविष्टस्य शब्दस्य करणव्यापारतया कारणकोटावपि प्रवेशनेंऽशतो नियम्यनियामकत्वविरोधापत्तेः। घटादिबुद्धौ चक्षुरादेश्चक्षुर्घटादिसंसर्गव्यापारकत्वेऽपि सममिदमिति चेत् किन्न स्यात्। तथा च—

बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्।
क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्॥ ३३॥
तथा हि मिथिलानाथो मुमुक्षुर्निर्ममः पुरा।
आहेदं मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते॥ ३४॥

समर्थन—श्रोत्र-इन्द्रिय आकाशरूप है और शब्द आकाश का गुण है। अतः श्रोत्र से जन्य तथा शब्द-प्रत्यक्ष का जनक होने से शब्द को ही शब्द-प्रत्यक्ष में व्यापार क्यों न मानें? *खंडन*—शब्द [प्रत्यक्ष प्रमा का] कर्म है, अतः उक्त प्रमा का करण नहीं हो सकता

समर्थन—यद्यपि सवत्र कर्म से अन्य ही करण होता है, तथापि शब्द-प्रत्यक्ष में कर्म को ही करण मानें, तो क्या हानि है? *खण्डन*—यदि शब्द को व्यापार मानें, तो विषयतासम्बन्ध से शब्दविशिष्ट प्रत्यक्ष में शब्दरूप व्यापारविशिष्ट श्रोत्र के करण होने से विशिष्टवृत्ति धर्म विशेषण में भी अवश्य रहता है। अतः शब्द का कार्य और कारण दोनों दलों में प्रवेश होने से वह कार्य और कारण दोनों हो जायगा, जो आत्माश्रय होने से अनुचित है।

समर्थन—ऐसा मानें, तो विषयतासम्बन्ध से घटविशिष्ट प्रमा में घटसंयुक्त चक्षु के कारण होने से विशेषणरूप से घट का कार्य और कारण दोनों दलों में प्रवेश होने के कारण उसमें भी कार्यत्व और कारणत्व का प्रसङ्ग हो जायगा।

खण्डन—ऐसा क्यों नहीं? यदि बाधक (दूषण) दृढ़ (अखण्डनीय) है, तो अन्यत्र भी इसी प्रकार से दोष हो जायगा। ऐस साम्य दिखाने से क्या होगा? उसे भी उक्त दोष से ही खण्डित जानिये। पदार्थमात्र को अनिर्वचनीय माननेवाले मुमुक्षु पुरुषों का भी क्या किसीमें ममत्व हो सकता है? स्मरण कीजिये, मुमुक्षु और निर्मम मिथिलेश जनक ने मिथिला-दाह के समय भी कहा था कि 'मिथिला के जलने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता।'

नापि द्वितीयः ; लिङ्गपरामर्शस्यानुमितौ अकरणत्वप्रसङ्गात् । निर्विकल्पकस्यापि तस्योपगमे सविकल्पकानाश्रयत्वात् । अतद्धेत्वाश्रयस्य तद्धेतुव्यापारत्वे चात्यापत्तेः ।

किञ्च — फलाव्यभिचारित्वं किं तस्मिन्नेव काले फलस्य सत्त्वनियमः , उत तदनन्तरं फलसत्त्वनियमः ? नाद्यः; कारणस्य पूर्वभाविताया अवश्यं वक्तव्यत्वात् ।

न द्वितीयः ; आनन्तर्यं यद्यव्यवहितानन्तर्यं विवक्षितं तदा यत्किञ्चिद्व्यापारवतः करणत्वपक्षे हस्तादेरकरणत्वापत्तेः । आफलव्यापारवतस्तथात्वे कर्त्रादिष्वतिव्याप्तिः ।

अथ व्यवहितस्यापि आनन्तर्यं विवक्षितम्, तदाऽपि यत्किञ्चिद्व्यापाराभिप्राये

'करण में स्थित कारण व्यापार है' यह द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है। कारण, लिङ्ग-परामर्श में कोई व्यापार नहीं है, अतः लिङ्गपरामर्श करण नहीं कहा जायगा। साथ ही धूम का निर्विकल्पक ज्ञान भी करण नहीं होगा, क्योंकि सविकल्पक लिङ्गपरामर्श उसमें नहीं, किन्तु आत्मा में रहता है। यदि अन्य कारण में स्थित को भी करण का व्यापार मानें, तो सहकारीमात्र करण के व्यापार हो जायँगे।

किञ्च—'व्यापारवान् कारण का फल के साथ अव्यभिचार' क्या वस्तु है ? क्या वह व्यापारवान् कारण के काल में फल (प्रधान क्रिया) का अवश्य होना है अथवा व्यापारवान् कारण के अनन्तर काल में फल का अवश्य होना है ? इनमें प्रथम पक्ष अयुक्त है; क्योंकि जिस काल में कारण हो, उस काल में [कारण-जन्य होने से] कार्य नहीं रह सकता, क्योंकि जन्य-जनक में पूर्व और परभाव का नियम है।

द्वितीय पक्ष में यदि अव्यवहित अनन्तर (उत्तर) कहें और 'यत्किञ्चित् व्यापारवान् करण है' इस पक्ष का आश्रयण करें, तो हस्त के यत्किञ्चित् व्यापार के अव्यवहित उत्तर क्षण में फल न होने से हस्त में अव्याप्ति हो जायगी। यदि 'फलोत्पत्तिपर्यन्त व्यापारवान् करण है' इस पक्ष का ग्रहण करें, तो हस्त में अव्याप्ति तो न होगी, क्योंकि काष्ठ, अग्नि आदि के व्यापार भी हस्त से प्रयोज्य होने के कारण हस्त के ही व्यापार हैं और उन व्यापार-समूहों के अव्यवहित अनन्तर फल नियमतः होता ही है। परन्तु इसी तरह कर्ता आदि के व्यापार भी फलपर्यन्त होते हैं और उनके अव्यवहित उत्तरक्षण में फल नियमतः होता है; अतः कर्ता आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी।

द्वितीय पक्ष में यदि व्यवहित उत्तर कहें और 'यत्किञ्चित् व्यापारवत् करण है' यह मानें, तो जहां अन्तराय (विघ्न) होने से हस्त-व्यापार के अनन्तर फल न

अन्तरायसम्भवात् हस्ताद्यव्याप्तिः । आफलव्यापाराभिप्राये च व्यवधानास-म्भवात् कारकमात्रं करणमित्युक्तं स्यात् ।

व्यापारवतश्च फलाव्यभिचार इति किं तद्व्यापारस्य फलाव्यभिचारित्वम्, व्यापारविशिष्टस्य वा ? नाद्यः ; हस्ताद्यकरणत्वापातात् । अत एव न द्वितीयः ; यागादेः स्वर्गाद्यकरणत्वापातात् । अपूर्ववाक्यार्थत्ववादिनाऽपि चरमयागस्य फलकरणत्वाभ्युपगमादिति ।

अथोच्यते—यद्वानेव करोति तत्करणम्, यद्वानेव प्रमिमीते तत्प्रमाणम् । मैवम् ; आत्मधर्मप्रध्वंसादीनामकरणानां प्रमाणत्वप्रसङ्गात् ।

हो, वहाँ हस्त में अव्याप्ति हो जायगी । यदि 'फलपर्यन्त व्यापारवान् करण है' यह पक्ष मानें, तो फल का अव्यवधान होने से 'व्यवहित उत्तर' यह कथन ही युक्त नहीं है । किञ्च—कारकमात्र में फलपर्यन्त व्यापार होने से कारकमात्र में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—'व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वम्' इस लक्षणवाक्य का क्या अर्थ है, क्या जिस कारण में स्थित व्यापार के अनन्तर फल हो—यह अर्थ है अथवा जिस व्यापारवत् कारण के अनन्तर फल हो—यह अर्थ है ? प्रथम अर्थ में हस्त-व्यापार के उत्तर कदाचित् अन्तराय (विघ्न) होने पर फल न होने से हस्त में अव्याप्ति हो जायगी । द्वितीय अर्थ में भी व्यापारवत् हस्त के अनन्तर कदाचित् अन्तरायवश फल न होने से हस्त में ही अव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—क्रियाकलापरूप याग के क्षणिक होने से अपूर्वविशिष्ट याग के अनन्तर स्वर्गरूप फल न होने से याग में भी अव्याप्ति हो जायगी । जो आचार्य लिङ् का अर्थ भावना या इष्टसाधनता नहीं मानते, किन्तु अपूर्व को ही लिङर्थ मानते हैं, वे भी 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इस स्थल में पूर्व-पूर्व अपूर्वविशिष्ट चरम याग को परमापूर्व का कारण मानते ही हैं ।

समर्थन—जिससे युक्त कर्ता कार्य करता है, वह करण है तथा जिससे युक्त प्रमाता प्रमिति को करता है, वह प्रमाण है । *खंडन*—अतीत, अनन्त सुखादि के अनन्त ध्वंसों से विशिष्ट ही प्रमाता प्रमिति को करता है । अतः आत्मा के धर्म, सुखादि के ध्वंस में भी प्रमा का करणत्व चला जायगा ।

येन क्रियाकारणेन युक्त एव प्रमिमीत इति चेन्न । सुखादिप्रमितौ करण-व्यापारस्याऽपि करणत्वप्रसङ्गात् । ओमिति चेन्न । अव्यापारतयाऽकारकत्वेन तद्विशेषकरणभावानुपपत्तेः ।

व्यापारवताऽपीति चेन्न । एवं हि व्यापारवत एव करणत्वं न स्यात्, न हि व्यापारवतस्तस्य व्यापारान्तरवत्ताऽस्ति ।

अथ व्यापारवतो व्यापारांशमपहाय करणत्वम्, तत्र चास्त्येवेदं लक्षणम् । यस्य करणत्वमस्ति तस्य व्यापारवत्त्वमप्यस्तीति व्यापारवत् करणमुच्यत इति । न; पटमुद्यम्य निपात्य च प्रक्षालयतः स कर्मैव हि करणं स्यात् ।

किंच—किं तस्य करणत्वमिति लक्ष्योभूतस्य अवश्यवक्तव्यत्वात् । यद्युक्त-

समर्थन—जिस प्रमिति के कारण से युक्त होकर प्रमाता प्रमिति करे, वह प्रमाण है, ऐसा कहेंगे । *खंडन*—तब तो सुखादि-प्रमिति के कारण आत्ममनः-संयोगरूप व्यापार से युक्त ही प्रमाता सुखादि की प्रमिति करता है । अतः सुखादिप्रमिति में आत्ममनःसंयोग भी करण हो जायगा । 'उक्त प्रमिति में आत्ममनःसंयोग करण है ही' इसे इष्टापत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि व्यापार न होने से आत्ममनःसंयोग जब कारक ही नहीं, तो कारकविशेषरूप करण कैसे हो सकेगा ?

समर्थन—'जिस क्रिया के व्यापारवान् करण से युक्त होकर प्रमाता प्रमिति करता है, वह करण है' ऐसा लक्षण करेंगे । एवञ्च आत्ममन.संयोग व्यापाररहित है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—ऐसा होने पर व्यापारवान् कुठारादि भी करण न कहे जा सकेंगे । कारण अंशतः आत्माश्रय दोष होने से व्यापारविशिष्ट कुठार में वह व्यापार तो रह नहीं सकता, जिससे वह विशिष्ट है । फिर उसमें अन्य कोई व्यापार भी नहीं है ।

समर्थन—व्यापार से उपलक्षित कुठार करण है और उस कुठार में उपलक्षणीभूत व्यापार रहता है, अतः उक्त लक्षण का समन्वय हो जायगा । *खण्डन*—तब तो पट को उठाकर निपातन करता हुआ रजक जहाँ वस्त्र-प्रक्षालन करता है, वहाँ पटरूप कर्म भी करण हो जायगा । कारण, वहाँ उद्यमन-निपातनरूप व्यापार से युक्त तथा प्रक्षालनरूप क्रिया का कारण जो पट है, उससे युक्त ही कर्ता प्रक्षालन करता है ।

किञ्च—जिस करण का आप लक्षण करते हैं, वह लक्ष्यभूत करण क्या वस्तु है, यह अवश्य कहना होगा । अन्यथा लक्षणरूप धर्म किस धर्मी में रहेगा ? यदि

लक्षणवत्त्वमेव तत् स्यात्, तदाऽऽत्माश्रयापातः स्यात्। स्वरूपमिति चेन्न। स्वरूपस्य प्रतिकरणं भिन्नतया एकपरित्यागेन अपरत्र लक्षणं गतमित्यतिव्यापकं स्यात्, न हि चक्षुषः स्वरूपं श्रोत्रस्येति।

किञ्च—एवमिन्द्रियादेः प्रमाणत्वं न स्यात्, अतद्वतोऽप्यनुमात्रादेः प्रमातृत्वात्। नासौ प्रत्यक्षमिति चेन्न। नेदमपि हि प्रत्यक्षमात्रस्य लक्षणं भवता क्रियते।

ननु यद्यपीन्द्रियादेर्विशेषतो व्यावृत्तिस्तदपि तज्जातीयकरणमात्रतया तज्जातीयमात्रस्य अव्यावृत्तिरेव। न ह्यनुमित्यादावपि अकरणजातीयवान् प्रमिमीते इति। न; करणतया साधारणभावस्याद्याऽपि निर्णेतुमशक्यत्वात्।

उक्त लक्षणविशिष्ट को ही लक्ष्य कहें, तो विशिष्टवृत्ति धर्म विशेषण में भी रहता है। अतः लक्ष्यवृत्ति लक्षण का लक्ष्य में विशेषणरूप 'स्व' में वृत्तित्व होने से आत्माश्रय हो जायगा। यदि स्वरूप को लक्ष्य कहें, तो प्रतिव्यक्ति स्वरूप व्यावृत्त होने के कारण श्रोत्र के स्वरूप को लक्ष्य मानें, तो चक्षु में अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—'जिससे युक्त ही प्रमाता प्रमिति करे' इत्यादि सावधारण लक्षण करने पर चक्षुरादि में अव्याप्ति हो जायगी। कारण चक्षु के सहकार के बिना भी लिङ्गपरामर्श आदि से अनुमिति आदि प्रमितियाँ होती हैं। अतः चक्षु से युक्त ही प्रमाता प्रमिति करता है, यह नियम नहीं रहा।

समर्थन—यद्यपि चक्षुःसहकार के बिना भी अनुमिति होती है, तथापि प्रत्यक्ष तो चक्षुःसहकार के बिना नहीं होता, अतः व्यभिचार नहीं है। *खंडन*—यदि आप प्रत्यक्ष प्रमाण का यह लक्षण करते होते तथा लक्षण में प्रत्यक्ष-प्रमा का निवेश होता, तो ऐसा कहना उचित भी था। किन्तु आप तो प्रमाणमात्र का लक्षण करते हैं तथा प्रमितिसामान्य का लक्षण में निवेश है। अतः चक्षुरादि के बिना भी अनुमिति आदि के होने से चक्षुरादि में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'जिस जातीय से युक्त ही प्रमाता प्रमिति करता हो, वह प्रमाण है' ऐसा निवेश करने पर अव्याप्ति नहीं होगी। कारण, अनुमिति में चक्षुरादि की व्यावृत्ति होने पर भी चक्षुर्जातीय परामर्श की व्यावृत्ति नहीं होगी। *खंडन*—परामर्श में चक्षुर्जातीयत्व करणत्व से अन्य कुछ हो नहीं सकता और उस करणत्व का निर्वचन अभीतक हुआ नहीं है। अतः जातीयत्वघटित लक्षण भी असङ्गत है।

तृतीय-करणलक्षण-खण्डनम्

अथ यां प्रमां यद्वानेव जनयति, तस्यां तत्करणमिति । मैवम्; कौपीनाच्छादनादेरपि करणत्वप्रसङ्गात् । यज्जातिकामिति चेत् , मैवम् । परोक्षत्वजातिकां प्रमां लिङ्गवानेव शब्दवानेव वा जनयतीति नियमाभावात् तस्याकरणत्वप्रसङ्गात् ।

साक्षात्कारित्वानुमितित्वादयो जातिभेदा विवक्षिता इति चेन्न । प्रत्येकमुपादाने अंशाव्याप्तेः । सम्भूयोपादाने सर्वाव्याप्तेः । अनियमेनोपादाने च लक्षणाननुगमापातादिति ।

तृतीय करण-लक्षण का खण्डन

समर्थन—प्रमाता जिससे युक्त होकर जिस प्रमा को करता है, उस प्रमा में वह करण है । *खंडन*—यत्किञ्चित् प्रत्यक्षादि प्रमा कौपीन-आच्छादन से युक्त भी प्रमाता करता है, तब तो कौपीन-आच्छादन में करणत्व-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'यज्जातीय प्रमा को यत्-युक्त ही प्रमाता करे, तज्जातीय प्रमा में वह करण है', ऐसा लक्षण करेंगे । एवञ्च वह प्रत्यक्षजातीय प्रमा कौपीनादि से रहित भी करता है, अतः कौपीनादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खंडन*—परोक्षजातीय शाब्दरूप प्रमा को लिङ्गपरामर्श से रहित भी प्रमाता करता है, अतः लिङ्गपरामर्श में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—इस लक्षण में परोक्षत्व का निवेश नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व, उपमितित्व और शाब्दत्वरूप जातियों का निवेश है । अतः लिङ्गपरामर्श में अव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—लक्षण में इन जातियों का किसी भी रूप से निवेश नहीं हो सकता । यदि प्रत्यक्षत्वादि एक का निवेश करें, अर्थात् प्रत्यक्षजातीय प्रमा को जिससे युक्त हो प्रमाता करे, वह प्रमाण है—ऐसा लक्षण करें, तो परामर्श में अव्याप्ति हो जायगी । यदि सम्पूर्ण का निवेश करें, 'अर्थात् प्रत्यक्ष-अनुमिति-उपमिति-शाब्दप्रमाओं को जिससे युक्त होकर प्रमाता करे, वह प्रत्यक्ष प्रमा है,' ऐसा लक्षण करें, तो सम्पूर्ण प्रमा को चक्षुरादि किसीसे युक्त प्रमाता नहीं करता । अतः सर्वत्र असम्भव हो जायगा । यदि 'प्रत्यक्ष प्रमा को जिससे युक्त ही प्रमाता करे, अनुमिति प्रमा को जिससे युक्त होकर प्रमाता करे, अथवा उपमिति आदि स्थलों में विशेषरूप से उपादान करे, वह सब प्रमाण है'—ऐसा निवेश करें; तो अनेक लक्षण होने से अननुगम हो जायगा ।

यदभावात् कर्तृकर्मणी क्रियां न जनयतः, तत्करणम् । तेन यदभावात् प्रमातृ-प्रमेये प्रमां न जनयतः, तत्प्रमाणमिति लक्षणमित्यपि न युक्तम् । किं प्रमातृप्रमेये सती यत्र न जनयतः, उताऽसती अपि ? आद्ये अतीतानागतानुमानादिकरणाव्याप्तिः । नापि द्वितीयः ; प्रमातृप्रमेययोरपि प्रसङ्गात् । यथा हि तत्र चक्षुराद्यभावात् प्रमा न जायते, तथा प्रमातृप्रमेययोरप्यभावात् ; अन्यथा तयोः कारणत्वमेव न स्यात् ।

एतेन सामान्यतोऽभिधानं प्रत्युक्तम् । अस्मदादिकर्तृसापेक्षेश्वरकर्तृके च अस्मदादिज्ञाने अस्मदादिकर्तृकरणतापत्तेः । एवञ्च सति प्रकारभेदेनापि प्रमाण-प्रमात्रादिव्यवस्थासमर्थना कृता न स्यात्, येनैव रूपेण कर्तृत्वादिना तस्य प्रमायामन्वयस्तेनैव तद्व्यतिरेकस्य प्रमानुत्पत्तौ प्रयोजकत्वादिति ।

समर्थन—'जिसके अभाव से कर्ता और कर्म क्रिया को उत्पन्न न कर सकें, वह करण है । इसी तरह जिसके अभाव से प्रमाता और प्रमेय प्रमिति को उत्पन्न न कर सकें' वह प्रमाण है, *खंडन*—क्या प्रमाता और प्रमेय के स्वयं रहते 'जिसके अभाव से' इत्यादि अभिप्रेत है अथवा उनके न रहने पर भी ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, कारण अतीतअनागतविषयक अनुमितिस्थल में सत् प्रमेय प्रमिति का जनक नहीं होता । अतः वहां अव्याप्ति हो जायगी । द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, कारण कर्ता प्रमाता प्रमेय या कर्म अपने अभाव में भी प्रमा को नहीं कर सकते । अतः प्रमाता और प्रमेय में अतिव्याप्ति हो जायगी । जैसे चक्षुरादि के अभाव में प्रमा नहीं होती, वैसे ही प्रमाता और प्रमेय के अभाव में वह नहीं होती । अन्यथा वे कारण ही नहीं कहे जायँगे । जैसे कर्ता कर्तृत्वरूपसे क्रिया का कारण है, वैसे ही कर्तृत्वरूप से कर्ता का अभाव भी क्रिया के अभाव का प्रयोजक है ।

समर्थन – सत्त्व, असत्त्व का निवेश न कर सामान्य रूप से 'प्रमाता और प्रमेय जिसके अभाव से प्रमा को न कर सकें, वह करण है' यह लक्षण करेंगे । *खंडन*—इस सामान्यलक्षण में भी कर्ता और कर्म 'स्व' के बिना भी प्रमा को नहीं करते, अतः कर्ता और कर्म में ही अतिव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—हम लोग अपने चाक्षुषादि ज्ञान में स्वयं करण हो जायँगे, कारण ईश्वर हम लोगों द्वारा ही ज्ञान को उत्पन्न करता है, हम लोगों के बिना नहीं ।

किञ्च—'जिसके बिना क्रिया न हो', यह जैसे 'करण' का लक्षण हो सकता है, वैसे ही कर्ता और कर्म का भी लक्षण हो सकता है । अतः यदि करण का उक्त लक्षण करें, तो प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से कारकों का परस्पर भेद न हो सकेगा ।



चरम-व्यापारवत्त्व-खण्डनम्

चरमव्यापारवत्त्वं करणत्वमित्यपि न; व्यापाराभावात् लिङ्गपरामर्शस्याकरणत्वापातात्। न च सविकल्पकव्यापारवतो निर्विकल्पकस्य तत्र प्रामाण्यम्; केवलविकल्पनीयलिङ्गविषये तदनुपपत्तेः। संस्कारादिपर्यन्तानुसरणे चानुमितेस्तज्जन्यत्वे प्रमाणाभावात्, कार्यहेतोश्च कारकाव्यापारत्वात्, अपि चाज्ञातकरणत्वापातात्।

न च लिङ्गमेव परामर्शव्यापारवत्तया करणमिति युक्तम्; अनुमितानुमानादौ परामर्शस्यालिङ्गजत्वेन तद्व्यापारवत्त्वानुपपत्तेः। आप्तोक्त्यादिभिः 'तत्राक्षी-

चरम-व्यापारवत्त्व का खण्डन

समर्थन—चरम व्यापार जिसमें हो, वह करण है। *खंडन*—लिङ्गपरामर्श में व्यापार न होने से वह करण न कहा जायगा।

समर्थन—सविकल्पक लिङ्गपरामर्शरूप व्यापार होने से निर्विकल्पक लिङ्गपरामर्श ही करण है। *खंडन*—जिन नित्यसाकाङ्क्ष अभाव, समवाय आदि का निर्विकल्पक ज्ञान होता ही नहीं, वे पदार्थ जहां लिङ्ग हों, वहां करणत्व का अभाव हो जायगा।

समर्थन—स्वजन्य संस्कार या 'स्व' का ध्वंस ही लिङ्गपरामर्श का व्यापार क्यों न माना जाय? *खंडन*—केवल स्वजन्यत्व व्यापार का लक्षण नहीं है; किन्तु स्वजन्य होकर जो स्वजन्य का जनक हो वही व्यापार है। संस्कार या ध्वंस के अनुमिति-कारणत्व में कुछ प्रमाण नहीं है। अतः संस्कार या ध्वंस व्यापार नहीं हो सकता। किञ्च—यदि ध्वंस या संस्कार को उनका व्यापार मानें, तो उनके अतीन्द्रिय होने से ध्वंसादिविशिष्ट परामर्शरूप करण भी अतीन्द्रिय हुआ। फलतः अनुमिति अज्ञातकरणक हो जायगी।

समर्थन—धूम आदि लिङ्ग ही परामर्शरूप व्यापार होने से करण हैं। *खंडन*—'महत्त्वं क्वचित् प्राप्तकाष्ठाकम्, धर्मत्वात्' इस प्रकार अनुमित परममहत्त्व से जहाँ 'आकाशः सर्वगतः परममहत्त्वात्' इस रीति से आकाश में सर्वगतत्व की अनुमिति करते हैं, वहाँ परममहत्त्व स्वविषयक परामर्श का अजनक होने से करण न होगा। कारण, पारिमाण्डल्य, परममहत्त्व आदि स्वविषयक ज्ञान के भी कारण नहीं होते तथा प्रत्यक्ष से अन्य ज्ञान में विषय भी कारण नहीं होते। किञ्च—आप्त की उक्ति से 'वहाँ धूम था'

द्धूमः' इति प्रतीत्य 'तदा तत्र वह्निरप्यासीदि'ति यदनुमानं तत्रापत्त्वात् धूमस्य परामर्शव्यापारवत्तया करणताया दूरनिरस्तत्वात् ।

किञ्च—यत्किञ्चिदपेक्षया चरमव्यापारवत्त्वस्य सर्वकारकसाधारण्यात्, सर्वकारकापेक्षया चरमव्यापारवत्त्वस्य स्वापेक्षया चरमत्वानुपपत्त्या सर्वत्रासिद्धेः । कर्त्रपेक्षयेति चेन्न । कर्तृधर्मिमात्रापेक्षया विवक्षितत्वे कर्तरि प्रसङ्गतादवस्थ्यात्, व्यापारवत्कर्त्रपेक्षाभिप्राये च कर्तरि स एव प्रसङ्गः । एकव्यापारवत्कर्त्रपेक्षया अपरापरकर्तृव्यापारस्य चरमभावित्वात् । यावद्व्यापारवत्कर्त्रपेक्षापक्षे तु विवक्षितमपि करणं न स्यात्, आफलसिद्धेः कर्तृव्यापाराविरामात् । व्यापारस्य विच्छेदे तद्धेतुलक्षणक्षीणतापत्तेः ।

यद्व्यापारानन्तरं कारकान्तरं न व्याप्रियते, तत् चरमव्यापारमिष्टमिति चेन्न ।

यह जानकर जहाँ 'तब तो वहाँ वह्नि भी था ही' इत्याकारक जो अनुमिति होती है, उस अनुमिति में धूम के अविद्यमान होने से धूम में परामर्शरूप व्यापारवत्त्व न होने के कारण करणत्व न हो सकेगा ।

किञ्च—व्यापार में चरमत्व यदि किञ्चित् व्यापार की अपेक्षा विवक्षित हो, तो सभी कारकों के व्यापारों में यत्किञ्चित् की अपेक्षा चरमत्व होने से कारकमात्र में अति-व्याप्ति हो जायगी । यदि सभी कारकों के व्यापार की अपेक्षा चरमत्व की विवक्षा करें, तो स्व में स्व की अपेक्षा चरमत्व न होने से सर्वत्र अव्याप्ति हो जायगी । अथवा यदि कर्ता की अपेक्षा चरमत्व की विवक्षा करें, तो वह चाहे धर्मीमात्र की अपेक्षा विवक्षित हो या व्यापारवत् धर्मी की अपेक्षा, उभयथा कर्ता में अतिप्रसङ्ग हो जायगा । कारण, कर्ता की अपेक्षा या यत्किंचित् व्यापारवत् कर्ता की अपेक्षा अपर कर्तृव्यापार चरम (उत्तर) है ही । यदि यावद्व्यापारवत् कर्ता की अपेक्षा चरमत्व की विवक्षा करें, तो कुठारादि भी करण न हो सकेंगे, कारण फल की सिद्धिपर्यन्त कर्ता के व्यापार का विराम नहीं होता । यदि कहें कि करण के व्यापार उत्पन्नकर कर्तृव्यापार निवृत्त हो जाता है, तो करण-व्यापार में चरितार्थ कर्ता प्रधान क्रिया में [घट में कुलालपिता के तुल्य] कारण ही न हो सकेगा ।

समर्थन—जिस व्यापार के अनन्तर अन्य कारक का व्यापार न होता हो, वह चरम व्यापार है । *खण्डन*—ईश्वरवादी के मत में फलसिद्धिपर्यन्त ईश्वररूप कर्ता के व्यापार का विराम न होने और ईश्वर के व्यापार के अनन्तर अन्य व्यापार न होने

सेश्वरपक्षे कर्तृव्यापाराविरमात्, तदानन्तर्यासिद्धेस्तत्करणत्वापातात्। अनीश्वर-पक्षे चाक्षसंयोगादिभिरेव सव्यापारे कर्मण्यपि प्रसङ्गात्। छेद्यादेर्हि करणसंयोगादि-व्यापारश्चरम एवेति कुतस्तद्व्यवच्छेदः, हस्ताद्यव्याप्तेश्चेति।

अनन्तरफलं करणमित्यपि न। अविशेषितानन्तर्यस्य सर्वकारणसाधारण्यात्। अव्यवहितानन्तर्यस्य व्यापार्यपेक्षस्य यागाद्यव्यापनात्। व्यापारापेक्षस्य च हस्ता-द्यव्यापनात्। व्यापारपरम्परापेक्षस्य सर्वकारकव्यापनात्।

किञ्च तत्कार्यो यदि क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इष्टः, तदा इन्द्रियकार्यो लिङ्गपरा-मर्शोऽनुमितिक्रियाहेतुरिति इन्द्रियकरणिकाऽनुमितिः प्राप्ता।

से ईश्वर का व्यापार चरम व्यापार है, अतः ईश्वर को करणत्व हो जायगा। अनीश्वर-वादी के मत में विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षरूप व्यापार जैसे इन्द्रिय में है, वैसे ही विषय (कर्म) में भी है। अतः कर्म भी करण हो जायगा। काष्ठ-कुठार-संयोगरूप व्यापार जैसे कुठार में है, वैसे ही काष्ठ में भी है। अतः काष्ठ का व्यवच्छेद कैसे होगा? किञ्च—हस्त-व्यापार के अनन्तर भी वह्न्यादि का व्यापार होता ही है, अतः हस्त-व्यापार चरम न होने से हस्त में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'जिस कुठारादि के व्यापार के अनन्तर (उत्तर) छिदादि फल होते हों, वह करण है।' *खंडन*—यदि अव्यवहित विशेषण से रहित अनन्तरमात्र की विवक्षा करें, तो कर्ता, कर्म आदि के अनन्तर भी फल होने से वे भी करण हो जायँगे। यदि अव्यवहित अनन्तर की या व्यापारी की अपेक्षा आनन्तर्य की विवक्षा करें, तो क्रियाकलापरूप याग में अव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में फल नहीं होता, किन्तु कालव्यवधान से होता है। यदि व्यापार की अपेक्षा आनन्तर्य की विवक्षा करें, तो हस्त में अव्याप्ति हो जायगी, कारण वहाँ शर के व्यापार से व्यवधान है। यदि कहें कि हस्तव्यापार से प्रयोज्य होने के कारण शर का व्यापार भी हस्त का ही व्यापार है और उस व्यापारपरम्परा से अनन्तर फल होना है, अतः अव्याप्ति नहीं होगी, तो कर्तादि के व्यापार से प्रयोज्य होने के कारण और उस व्यापारपरम्परा के कर्तृव्यापार होने से कर्ता में अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—'जो जिससे जन्य हो तथा प्रधान क्रिया का जनक हो, वह उसका व्यापार है'—यदि ऐसा व्यापार का लक्षण करें, तो लिङ्गपरामर्श इन्द्रियजन्य है तथा अनुमिति-रूप क्रिया का जनक है, अतः लिङ्गपरामर्श इन्द्रिय का व्यापार हो जायगा और इन्द्रियाँ भी अनुमिति की करण हो जायँगी।

अथ हेतोः सतः कार्यः क्रियाहेतुस्तद्व्यापारः, तथा सति अनुमित्यहेतोरिन्द्रियस्य कुतः करणत्वं स्यादिति । मैवम्; किं तद्धेतुत्वं यन्नास्त्यनुमितौ इन्द्रियस्य ।

नियतपूर्वभावित्वमिति चेत्; अस्ति तावत् पूर्वभावित्वम् । नियतत्वमपि यदि कारणतायां प्रयोजकमिच्छसि, तदा भवतैव यतितव्यं केनचिद्रूपेणेन्द्रियादेर्नियतत्वं प्रति । अन्यथा लिङ्गेन्द्रियादेः परस्परव्यभिचारादकरणिकैव प्रमा स्यात् । मनःसंयोगादेरेव तथात्वे चाऽप्रमासाधारण्यम् ।

अपि चाक्षादेरकरणत्वापातः; यत्सामान्ये यत्सामान्यं प्रयोजकं तद्विशेषस्यैव तद्विशेषे प्रयोजकत्वनियमदर्शनात् । ततो येन केनापि रूपेणेन्द्रियस्य प्रमायां नियतत्वमुपपाद्यते तेनैव रूपेण प्रसङ्गोपपत्तिः ।

समर्थन—'उस क्रिया का हेतु होकर उससे जो जन्य हो तथा उस क्रिया का जो हेतु हो, वह उस क्रिया का व्यापार है'—ऐसा लक्षण करेंगे । एवञ्च इन्द्रिय अनुमितिरूप क्रिया का हेतु नहीं है, अतः लिङ्गपरामर्श इन्द्रिय का व्यापार नहीं और न इन्द्रिय ही अनुमिति की करण है । *खंडन*—वह हेतुत्व क्या है, जो अनुमिति में इन्द्रिय को नहीं है ?

समर्थन—नियम से पूर्ववृत्तित्व ही वह है, इन्द्रिय अनुमिति में नियम से पूर्ववर्ती नहीं है । *खंडन*—जहां 'वह्निव्याप्यो धूमः, तद्वाँश्च अयं पर्वतः' इत्याकारक प्रत्यक्ष-ज्ञानरूप परामर्श होता है, वहां इन्द्रिय अनुमिति से पूर्ववर्ती तो अवश्य है । रहा नियम से रहना । यदि उसे भी कारणत्व का प्रयोजक मानना चाहते हों, तो आपको ही यत्न करना चाहिए कि किसी रूप से इन्द्रिय नियतपूर्ववर्ती हो । अर्थात् 'प्रमां प्रति प्रमाणं कारणम्' ऐसा कार्यकारणभाव होने से प्रमाणत्वरूप से इन्द्रिय भी प्रमात्वरूप से अनुमिति के नियतपूर्ववर्ती ही है । अन्यथा (यदि सामान्यरूप से कार्यकारणभाव न मानें तो) परस्पर व्यभिचार होने से इन्द्रियादि करण न कहलायेंगे, अर्थात् प्रमा करणरहित हो जायगी । 'आत्म-मनःसंयोग ही प्रमा का करण है, अतः प्रमा करणरहित नहीं होगी', ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि आत्म-मनःसंयोग अप्रमा का भी करण है ।

किञ्च—यदि 'प्रमां प्रति प्रमाणं कारणम्' ऐसा सामान्यरूप से कार्यकारणभाव न मानें, तो 'प्रत्यक्षप्रमां प्रति इन्द्रियप्रमाणं कारणम्' ऐसा विशेष कार्यकारणभाव भी नहीं मान सकते । कारण, जिस सामान्य की 'जिस सामान्य में कारणता होती है, उस विशेष की ही उस विशेष में कारणता होती है' ऐसा नियम है । तस्मात् आप जिस प्रमाणत्व रूप से इन्द्रिय के [प्रमा में] कारणत्व का उपपादन करेंगे, उसी प्रमाणत्वरूप से इन्द्रिय के करणत्व का अनुमिति के प्रति हम भी प्रसञ्जन करेंगे ।

अथ प्रमात्वे तत् प्रयोजकम्, न त्वनुमितित्वादाविति चेन्न । निरुपाधित्वाविशेषेणोक्तार्थानाधिक्यात् । सामान्यप्रयोजकत्वेन विशेषत्यागानवकाशादिति । अन्यथा व्यक्तेरकारणकत्वापत्तेः ।

अथान्यत्रास्तु यद्वा तद्वा करणम् प्रमाविवक्षितजातिविशेषव्यपदेशकं प्रमाणम् । चतस्रः खल्विमाः प्रत्यक्षादिप्रमितयो भिन्नव्यपदेशभाजः । न च प्रमाता प्रमेयं वा तद्भेदहेतुः, प्रमाणानि तु यथायथं चतसृष्वसाधारणानीति भिन्नबुद्धि-व्यपदेशनिबन्धनानीति ।

मैवम्; विवक्षितपदं तावल्लक्षणे भण्डालेख्यमिव, पुरुषेच्छानामनियतविषयत्वात् । अर्थजत्वस्य च साक्षात्कारित्वं प्रति इन्द्रियजत्वाविशिष्टतया अर्थस्यापि

समर्थन—प्रमाणत्वरूप से इन्द्रिय प्रमा का प्रयोजक है, अनुमिति का प्रयोजक नहीं। *खण्डन*—यदि प्रमाणत्वरूप से इन्द्रिय का प्रमा में निरुपाधिक (नियत) सम्बन्ध है, तो प्रमाविशेष (अनुमिति) में है ही। अतः आपने उक्त अर्थ से अधिक कुछ नहीं कहा। कारण, जब इन्द्रियाँ प्रमासामान्य की प्रयोजक हैं तो उनके प्रमाविशेष के प्रयोजकत्व का त्याग नहीं हो सकता। अन्यथा विशेष व्यक्ति अकारणक हो जायगी। अर्थात् तन्तुत्वाक्रान्त तन्तु पटव्यक्ति के प्रति अप्रयोजक हो जायगा।

समर्थन—प्रमा से अन्यत्र छिदादि क्रियाओं में करण का जो भी कोई लक्षण करें। प्रस्तुत प्रमास्थल में तो करण का यही लक्षण करेंगे कि 'प्रमा में विवक्षित प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्वादि जातियों के व्यवहार या बुद्धि का जो हेतु हो, वह प्रमाण (प्रमिति का करण) है।' देखिये—चार प्रकार की प्रत्यक्षादि प्रमाएँ भिन्न-भिन्न व्यपदेश या बुद्धि की विषय होती हैं। प्रमाता या प्रमेय इस भेद के कारण नहीं हैं; किन्तु इन्द्रिय, परामर्श आदि ही यथयोग्य चारों प्रमितियों में असाधारण हेतु हैं। अतः वे ही भिन्न-बुद्धि या भिन्न-व्यपदेश के कारण हो सकते हैं।

खण्डन—लक्षण में 'विवक्षित' पद भण्डालेख्यवत् है, क्योंकि पुरुष की इच्छाएँ अनियतविषयक हुआ करती हैं। अर्थात् किसीके सन्तान-विशेषविषयक प्रश्न करने पर कोई भण्ड (धूर्त) 'पुत्रो न पुत्री' कह देता है। वहाँ नञ् का पुत्र या पुत्री दोनों में अन्वय हो सकने से जिस प्रकार सन्तान-विशेष का निश्चय नहीं हो पाता, उसी प्रकार यहाँ भी विवक्षित वस्तु का निश्चय न हो सकने से यह लक्षण नहीं बन सकता।

किञ्च—जैसे इन्द्रियाँ प्रत्यक्षप्रमात्व-व्यवहार की हेतु हैं, वैसे अर्थ (विषय) भी हैं। इसी तरह जैसे शब्द शाब्द-व्यवहार का हेतु है, वैसे ही आप्तवक्ता भी है। अतः

करणत्वप्रसङ्गात् । आप्तोक्तौ तु कर्तुरपि शाब्दप्रमाजातिविशेषकत्वेन अतिप्रसङ्गात्, ओमित्युत्तरे च पूर्वमेवोक्तमिति ।

विवक्षितजातिभेदौपयिकत्वेन प्रमित्यसमवायिकारणविशेषकं प्रमाणमित्यपि अत एव प्रयुक्तम् ।

प्रथम-प्रत्यक्षलक्षण-खण्डनम्

एवं विशेषतोऽपि प्रमाणलक्षणानि प्रतिवक्तव्यानि । तथा हि—प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीत्याहुः । किमर्थमिदमुच्यते, किं सजातीयविजातीयव्यवच्छिन्नतत्प्रतीत्यर्थम्, उत साक्षात्कारित्वप्रतीतये तच्चिह्नोपदर्शनमिदम्, उत व्यवहारार्थम्, उत प्रत्यक्षादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तावधारणार्थम्, उत अन्यत्किञ्चिदर्थमेव ?

अर्थरूप कर्म तथा आप्तरूप कर्ता भी प्रमाण होने लगेंगे । किन्तु कहीं भी कर्म और कर्ता में करणत्व-व्यवहार कभी नहीं होता । अतः आप यह स्वीकार नहीं कर सकते ।

समर्थन—विवक्षित प्रत्यक्षत्वादि जातिभेदों के उपायभूत होने से प्रमिति के असमवायी कारण आत्ममनःसंयोग के विशेषक (अप्रमास्थल से व्यावर्तक) इन्द्रिय, परामर्शादि प्रमाण हैं । *खण्डन*—'विवक्षित' पद से घटित होने से यह लक्षण भी भण्डालेख्य के तुल्य ही है । किञ्च—प्रत्यक्षस्थल में अर्थ तथा शाब्दस्थल में आप्त भी असमवायी कारण के विशेषक प्रमाण हो जायँगे ।

प्रथम प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन

इस रीति से प्रमाणविशेष के लक्षण भी खण्डनीय हैं । देखिये—'इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न तथा अर्थ से अव्यभिचारी ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है' ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण न्यायसूत्रकार ने किया है । किन्तु प्रश्न है कि आखिर यह लक्षण किसलिए किया— क्या सजातीय (सदृश), और विजातीय (असदृश) से व्यावृत्त (भेदयुक्त) लक्ष्य के स्वरूपज्ञान के लिए, लक्ष्यभूत प्रत्यक्ष के ज्ञानार्थ चिह्न-हेतु-प्रदर्शन के लिए, व्यवहार के लिए, प्रत्यक्ष, साक्षात्कारी आदि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त (शक्यतावच्छेदक) के प्रदर्शन के लिए अथवा अन्य ही किसी प्रयोजन के लिए ?

तत्र नाद्यः। तथा हि—किं सजातीयेति प्रत्यक्षत्वेन साजात्यमपेक्षितम्, रूपान्तरेण वा? नाद्यः; तस्माद् व्यवच्छेदावधेः सजातीयादव्यावृत्तत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्त्या व्यावृत्तत्वस्वीकारेण अव्यापकत्वात्। नापि द्वितीयः; विजातीयपदोपादानवैयर्थ्यात्। अस्ति हि प्रमेयत्वादिना सर्वसाजात्यम्।

अथ प्रमाणत्वादिना विशेषेण साजात्यं विवक्षितत्वेदमुच्यते; तर्हि लक्ष्यस्यापि प्रमाणत्वेन साजात्याद् व्यवच्छेद्यकोटिप्रविष्टतया सङ्ग्राह्याभावप्रसङ्गः।

लक्ष्यस्य यत्प्रमाणत्वादिभिः सजातीयं तद्व्यवच्छेद्यम्। न च लक्ष्यस्य लक्ष्यं सजातीयम् षष्ठ्यर्थस्य भेदव्यवस्थितत्वादिति चेत्; एवं तर्हि लक्ष्यापेक्षया भिन्नात् व्यवच्छेद इत्येवोच्यताम्, कृतं प्रमाणत्वादिना साजात्येन प्रकृतानुपयोगिना वर्णितेन? यदा च लक्ष्यादन्यत्वं परेषामवगतं तदा परस्मादन्यत्वमपि लक्ष्यस्यार्थादवगम्यत इति सिद्धमग्रत एव लक्षणप्रयोजनमिति वैयर्थ्यमेव स्यात् लक्षणाख्यानस्येति।

इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है। देखिये—सजातीयत्व (सादृश्य) प्रत्यक्षत्वरूप से इष्ट है या रूपान्तर से? यदि प्रत्यक्षत्वरूप से साजात्य लें, तो उस व्यवच्छेद के अवधिभूत सजातीय प्रत्यक्ष से व्यवच्छेद (भेद) न हो, तो लक्षण न होगा। यदि सजातीय से व्यवच्छेद हो, तो जिस सजातीय से व्यवच्छेद होगा, उसमें लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। यदि अन्यरूप से साजात्य लें, तो विजातीय पद व्यर्थ होगा। कारण, प्रमेयत्वरूप से तो प्रत्यक्ष के सभी सजातीय ही हैं।

समर्थन—प्रमाणत्व आदि धर्म से साजात्य की विवक्षाकर विजातीय पद का उपादान करेंगे। *खण्डन*—प्रत्यक्ष भी प्रमाणत्वरूप से सजातीय है। अतः लक्ष्य की भी व्यावृत्ति होने से संग्राह्य (लक्ष्य) का अभाव हो जायगा।

समर्थन—लक्ष्य से जो प्रमाणत्वरूप से सजातीय हो, वह व्यवच्छेद्य है। लक्ष्य लक्ष्य का सजातीय नहीं है, कारण सादृश्य भेद में ही होता है। अतः 'स्व' में स्व का सादृश्य नहीं होता। *खंडन*—यदि ऐसा है, तो 'लक्ष्य से जो भिन्न हो, उससे व्यवच्छेद के लिए लक्षण है' इतना ही कहें, प्रकृत में अनुपयोगी प्रमाणत्व आदि से साजात्य की विवक्षा व्यर्थ है। यदि लक्ष्य से अन्यत्व पर में अवगत है, तो पर से अन्यत्व भी लक्ष्य

अस्तु वा विवक्षावैचित्रीवशात् कथमपीदृशमभिधानम्; तथापि न तावदनेन लक्षणेनानवगतेनैव व्यवच्छिन्नप्रतीतिसम्भवः; अतिप्रसङ्गात्। नापि ज्ञातेन; दुरवधारणत्वात्। तथा हि—न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पत्तिः, प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षविशेषणत्वात्। नापि कार्येण लिङ्गेन तदनुपपत्त्या वा तदवगमः; ताभ्यां सामान्यतः कारणमात्राक्षेपेण कारणगतानुगतरूपासिद्धौ एकरूपलक्षणासिद्धेः।

कार्यस्यैकजात्यात् एकजातीयकारणसिद्धिरिति चेत्; तर्हि कार्यगतैकजात्यस्य

में अवगत ही है। अतः लक्षण करने से पहले ही लक्षण के प्रयोजन व्यावृत्ति की-सिद्धि होने से लक्षण करना व्यर्थ हो जायगा।

समर्थन—जैसे घट से पट के अन्यत्व के अज्ञानकाल में भी पट से अन्यत्वरूप से घट का प्रत्यक्षज्ञान होता है, वैसे ही लक्ष्य से अन्यत्वरूप से अज्ञात अलक्ष्य से अन्यत्वरूप से लक्ष्य का ज्ञान लक्षणरूप व्यतिरेकी हेतु से हो सकता है, अतः लक्षण व्यर्थ नहीं है। *खण्डन*—इस रीति से यदि आप कथञ्चित् विवक्षा-वैचित्र्य अर्थात् लक्ष्य से भिन्न लक्ष्य की व्यावृत्ति या सजातीय विजातीय, लक्ष्य से लक्ष्य की व्यावृत्ति के लिए लक्षण की सार्थकता कहें, तो वह भी युक्त नहीं है। कारण, अज्ञात लक्षण से इतरव्यावृत्तत्वरूप से लक्ष्य का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि अज्ञात लक्षण से इतर-व्यावृत्तत्व-रूप से लक्ष्य की प्रतीति हो, तो सर्वदा व्यावृत्तत्वरूप से लक्ष्य की प्रतीति होनी चाहिए, पर वह होती नहीं। ज्ञात लक्षण से भी इतरव्यावृत्तत्वरूप से लक्ष्य की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि लक्षण का ज्ञान इन्द्रियरूप अतीन्द्रिय पदार्थ से घटित होने से वह चक्षुरादि इन्द्रियों से हो नहीं सकता। कार्यरूप लिङ्ग से या कार्य की अनुपपत्ति से भी लक्षण का ज्ञान संभव नहीं, क्योंकि कार्य से कारणमात्र की अनुमिति या आक्षेप करें, तो भी कारणगत अनुगतरूप की असिद्धि होने से एकरूप लक्षण भी असिद्ध ही होगा।

समर्थन—प्रत्यक्षरूप कार्य एकजातीय है, अतः उससे एकजातीय इन्द्रियार्थों के सन्निकर्षरूप कारण का आक्षेप संभव होने से वही लक्षण हो जायगा। *खंडन*—यदि ऐसा है, तो कार्यगत ऐकजात्य साक्षात्कारित्व का प्रथम ज्ञान अवश्य मानेंगे। उसीसे सजातीय-विजातीय-व्यावृत्त लक्ष्य की प्रतीति हो जायगी। अतः यह परम्परा-कुसृष्टि (साक्षात्का-

पूर्वमवश्यं प्रत्येतव्यत्वाङ्गीकारे तत एव सजातीयविजातीयव्यवच्छेदप्रतिपत्तिरस्तु, कृतमनया पारम्पर्यकुसृष्ट्या।

नन्वेतावताऽपि न प्रकृतलक्षणखण्डनं भवति, अव्याप्तेरतिव्याप्तेर्वाऽनुद्भावनात्। मैवम्; प्रथमभावितयाऽवश्यानुष्ठेयतया च लघोरुपायात् साध्यसिद्धौ सम्भवन्त्यां चरमभावितयाऽवश्यानुष्ठेयत्वाभावेन च गुरूपाये प्रवर्तमानस्य तवैवेदं दोषोद्भावनं प्रदीपे प्रदीपान्तरं प्रज्वाल्य तमोनिरासाय यतमानस्येव पुंसः। न हि तस्य दीपान्तरस्य कश्चिद्दोषः, किन्तु तथाकारी पुरुष एव पर्यनुयोज्यः। सर्वसाधनसाधारणोऽयं वा दोषो यत्सम्भवदेवंविधलघूपायत्वं नाम, स्वरूपासिद्धिरिव सर्वप्रमाणानाम्। तस्मान्मा नाम भूदतिव्याप्त्यादिर्दोषः, सामान्यदोषादेवेदं लक्षणं दुष्टमिति।

रित्व के ज्ञान से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व का ज्ञान और उससे सजातीय-विजातीय की व्यावृत्ति) की कल्पना व्यर्थ है।

समर्थन—इससे भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वरूप लक्षण का खण्डन नहीं होता, क्योंकि आपने लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि कोई दोष तो दिया ही नहीं। *खण्डन*—कार्यगत ऐकरूप्य साक्षात्कारित्व (इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व) का अनुमापक होने से पूर्व में ज्ञेय तथा अवश्य स्वीकरणीय है और कारणगत ऐकरूप्य अनुमेय होने से पश्चात् ज्ञेय है। सिवा इसके कार्यगत वैरूप्य से ही व्यावृत्तिरूप स्वकार्य की सिद्धि होने से वह अवश्य स्वीकर्तव्य भी नहीं है। अतः जब लघु उपाय से कार्य की सिद्धि हो रही हो, तो गुरु उपाय में आपकी प्रवृत्ति गौरव दोषयुक्त ही कही जायगी। जैसे—समीप में एक प्रदीप के प्रज्वलित रहते तमोनाश के लिए दूरस्थ अन्य प्रदीप के प्रज्वालन में यत्न करनेवाले पुरुष का उद्योग गौरव दोष से युक्त होता है, वैसी ही स्थिति यहाँ भी है। प्रस्तुत दृष्टान्त में अन्य प्रदीप का कुछ दोष नहीं, किन्तु एक प्रदीप के रहते भी अन्य प्रदीप के लिए उद्योगकारी पुरुष का ही दोष है। जैसे स्वरूपासिद्धि सर्वप्रमाण-साधारण दोष है, वैसे ही लघु उपाय होते हुए भी गुरु उपाय का अवलम्बन भी सर्वसाधन-साधारण दोष है। तस्मात् अतिव्याप्ति आदि दोष न होने पर भी गौरवरूप दोष से यह लक्षण दुष्ट ही है।

एतेन द्वितीयोऽपि निरस्तः, साक्षात्कारित्वावगममन्तरेण तदवगमानुपपत्तेः। तदवगमाच्चास्य प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गः।

अस्तु वा अन्यदपि किञ्चिदिन्द्रियजत्वे लिङ्गम्, तथापि तदेव साक्षात्कारित्वाविनाभूततया प्रत्यक्षलक्षणमुपन्यस्यतां सन्निहितप्रतिपत्तिकत्वात्।

न च तदवश्यं व्यापकं वक्तव्यम्, लिङ्गस्य तद्व्याप्यत्वेनैवोपपत्तेरिति चेन्न। यत्र लिङ्गमव्यापकत्वान्नास्ति तत्रेन्द्रियजत्वस्य प्रमाणाभावात् प्रत्येतुमशक्यत्वेन कथं ततः साक्षात्कारित्वावगमः। यदा च क्वचित्प्रत्यक्षजातीय एव प्रमाणाभावादिन्द्रियजत्वमनवधारणीयतया साक्षात्कारित्वव्यापकत्वेनानवगतमपि लक्षणम्, तदा किमपराद्धं लिङ्गान्तरेणाव्यापकेन।

'साक्षात्त्व के अनुमितिरूप ज्ञान के हेतु-प्रदर्शन के लिए लक्षण है' यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है। कारण, ज्ञात हेतु ही अनुमिति का कारण होता है और हेतु का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान पूर्वोक्त रीति से हो नहीं सकता। यदि साक्षात्कारित्व से लक्षणरूप हेतु की अनुमिति करें, तो उक्त लक्षणरूप हेतुज्ञान से साक्षात्कारित्व की अनुमिति और साक्षात्त्व के ज्ञान से उक्त हेतु का ज्ञान होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा।

समर्थन—साक्षात्त्व से उक्त लक्षणरूप हेतु की अनुमिति नहीं होती; किन्तु अपरोक्षव्यवहारहेतु ज्ञानत्वरूप हेतु से होती है। अतः अन्योन्याश्रय नहीं है। *खंडन*—तब साक्षात्कारित्व का व्याप्य अपरोक्षव्यवहारहेतु-ज्ञानत्व ही लक्षण हो, कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वरूप हेतुज्ञान के लिए वह प्रथम ज्ञेय है।

समर्थन—लक्षण लक्ष्य का अवश्य व्यापक होता है। अतः प्रत्यक्ष का व्यापक होने से इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजत्व ही लक्षण है। अपरोक्ष-व्यवहारहेतु-ज्ञानत्व लक्ष्य का व्यापक नहीं है, कारण 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' इस स्थल में तृण का त्वाच-प्रत्यक्ष होने पर भी अपरोक्षव्यवहार नहीं होता। प्रत्युत वह व्याप्य है और व्याप्य ही हेतु होता है। अतः अपरोक्षव्यवहारहेतुत्व उक्त लक्षण का अनुमापक हेतु ही है, प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं। *खंडन*—जहां उपेक्ष्य तृणादि-ज्ञान में अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वरूप हेतु के न होने से इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजत्व का अवगम नहीं होता, वहां उक्त हेतु से साक्षात्कारित्वरूप लक्ष्य का अवगम कैसे होगा? किञ्च—जब उपेक्ष्य तृणादि के त्वाच-प्रत्यक्ष में ज्ञापक हेतु के न होने से साक्षात्कारित्व के व्यापकत्वरूप से अनवगत भी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजत्व लक्षण हो सकता है, तब अव्यापक अपरोक्षव्यवहारहेतुत्व का क्या अपराध है कि वह लक्षण न हो। कारण, अज्ञान-दशा में व्यापकत्व भी अकिञ्चित्कर है।

अथ यत्र तदिन्द्रियजत्वे लिङ्गं नास्ति तत्र लिङ्गान्तरात्तत्प्रत्येतव्यम्। तथापि तदेवास्तां साक्षात्कारित्वे लिङ्गम्, कृतमिन्द्रियजत्वानुमानपूर्वकतदनुमानकल्पनया।

अथ तथा लिङ्गद्वयं तत् प्रत्येकमव्यापकतया न लक्षणम्, इन्द्रियजत्वन्तु तथात्वात् लक्षणमिति चेन्न। साक्षात्कारित्वानुमानस्य लक्षणप्रयोजनस्योभाभ्यामेव सिद्धेः कृतं व्यापकेन तेन।

नापि तृतीयः; स ह्येवंरूपो यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजनितं तत्प्रत्यक्षमिति व्यवहर्तव्यमिति। अयमप्यर्थोऽनुपपन्नः; लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। साक्षात्कारित्वात्तदवगमे साक्षात्कारित्वमेवास्तु व्यवहारनियमनिदानम्, अव्यवहितप्रतिपत्तिकत्वादित्यावेदितम्।

अत एव न चतुर्थः, कल्पनागौरवदोषश्चाधिकः।

समर्थन—जिस स्थल में अपरोक्षव्यवहारहेतुत्व नहीं है, वहाँ अन्य लिंग (सविशेषार्थप्रधानत्व) से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व की अनुमिति होगी। *खण्डन*—तब तो सविशेषार्थप्रधानत्व ही साक्षात्कारित्व का साक्षात् हेतु हो, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व की अनुमिति द्वारा साक्षात्त्व की अनुमिति व्यर्थ है।

समर्थन—अपरोक्षव्यवहारहेतुत्व तथा सविशेषार्थप्रधानत्व प्रत्येक में अव्यापक हैं। अर्थात् अपरोक्षव्यवहारहेतुत्व उपेक्ष्य तृण के स्पर्श में तथा सविशेषार्थप्रधानत्व 'प्रमेयवत्त्वम्' इत्याकारक प्रत्यक्ष में अव्यापक है। अतः वे लक्षण नहीं हो सकते। किन्तु इन्द्रियजत्व ही व्यापक होने से लक्षण है। *खंडन*—लक्षण का प्रयोजन साक्षात्कारित्व का ज्ञान होना है। वह ज्ञान दोनों से हो जायगा, फिर व्यापक इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वरूप लक्षण व्यर्थ ही है।

'साक्षात्कारिप्रमिति प्रत्यक्षत्वरूप से व्यवहर्तव्य है, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने से' यह तृतीय कल्प भी अयुक्त है। कारण, उक्त लक्षण का ज्ञान ही नहीं हो सकता। यदि साक्षात्कारित्वरूप कार्यगत ऐक्यरूप से उक्त लक्षण की अनुमिति करें, तो अच्छा है कि साक्षात्कारित्व से उक्त लक्षण द्वारा व्यवहारानुमिति की अपेक्षा लाघवात् साक्षात् साक्षात्कारित्व से ही प्रत्यक्षत्वव्यवहार की अनुमिति करें।

'प्रत्यक्ष, साक्षात्कारी आदि शब्दों का इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजत्व प्रवृत्तिनिमित्त (शक्यतावच्छेदक) है, इस बात के निश्चय के लिए लक्षण है' यह चतुर्थ कल्प भी अयुक्त है। कारण, उक्त लक्षण का ज्ञान साक्षात्कारित्व से होगा। अतः उपस्थित होने तथा अनेक विशेषणयुक्त उक्त गुरु लक्षण की अपेक्षा लघु होने के कारण साक्षात्त्व को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानना उचित है।

नापि पञ्चमः ; तादृशस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ।

द्वितीय-प्रत्यक्ष-लक्षण-खण्डनम्

एतेन भासमानाकारेन्द्रियसंयोगजं प्रत्यक्षमित्यपि निरस्तम् ।

किञ्च—प्रमाणविशेषलक्षणमिदं प्रमाणलक्षणोपसङ्गृहीतस्य कियतः सङ्ग्राहकम्, कियतश्च प्रतिक्षेपकं वक्तव्यम्, प्रमाणलक्षणेन च व्यभिचारिणो निवृत्तिः प्रदर्श्यते । तथा च सति यथाश्रुतमिदमलक्षणम्, व्यभिचार्यपि हि भासमानस्य सत्त्वादेराकारस्येन्द्रियसंयोगादुत्पद्यते ।

अथ विशेषाभिप्रायेणेदं लक्षणं वाच्यम् ; तथाऽप्यसङ्गतिः । तथा हि—किं कियन्मात्रभासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वं विवक्षितम्, उत यावद्भासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वम् ? आद्ये व्यभिचार्यव्यवच्छेदः, निर्विकल्पकासङ्ग्रहश्च ।

पञ्चम कल्प (अन्य ही किसी प्रयोजन के लिए) भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसे दिखा नहीं सकते ।

द्वितीय प्रत्यक्षलक्षण का खण्डन

'भासमान आकार से इन्द्रिय का जो सम्प्रयोग (सन्निकर्ष) है, तज्जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह लक्षण भी पूर्वोक्त रीति से (निष्प्रयोजन होने से) ही अयुक्त है ।

किञ्च—प्रमाणविशेष (प्रत्यक्ष) का यह लक्षण प्रमाण-लक्षण द्वारा उपसंगृहीत कुछ लक्ष्यों का संग्राहक तो कुछ का व्यवच्छेदक मानना होगा । प्रमाणसामान्य का लक्षण व्यभिचारी शुक्ति-रजतज्ञान का व्यवच्छेदक है, तो विशेष लक्षण को भी ऐसा होना चाहिए । किन्तु 'भासमान आकार तथा इन्द्रिय-सम्प्रयोगजन्यत्व'रूप यथाश्रुत यह लक्षण उक्त व्यभिचारी ज्ञान में भी है । कारण, व्यभिचारी ज्ञान भी भासमान इदन्त्वरूप आकार से इन्द्रिय के सन्निकर्ष से ही उत्पन्न होता है । अतः ऐसा यथाश्रुत लक्षण नहीं हो सकता ।

यदि घटत्व-पटत्वादि विशेष आकार के अभिप्राय से लक्षण करें और व्यभिचारी में रजतत्वरूप विशेष आकार के न होने से उसका व्यवच्छेद मान लें, तो वह भी असङ्गत ही है। देखिये—क्या कियन्मात्र भासमान आकार और इन्द्रिय का सम्प्रयोग विवक्षित है या यावत् भासमान आकार और इन्द्रिय का सम्प्रयोग ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, कारण व्यभिचारिज्ञान भी कियन्मात्र भासमान आकार (इदमाकार) तथा इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य है ही, अतः उसमें अतिव्याप्ति बनी ही रहेगी। सिवा, निर्विकल्पक ज्ञानमें अव्याप्ति भी हो जायगी । कारण, निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तुमात्र भासता है और वह निर्भाग है । अतः निर्विकल्पक ज्ञान भासमान सकल आकार तथा इन्द्रिय के सम्प्रयोग से ही होता है, कियन्मात्र भासमान आकार से नहीं ।

नापि द्वितीयः ; विकल्पासहत्वात् । तथा हि—किं भासमानताविशिष्टस्येन्द्रियसम्प्रयोगः, उत भासमानतोपलक्षितस्य ? नाद्यः ; पूर्वं भासमानत्वाभावात् कारणस्य च पूर्वभावित्वात् । द्वितीये लटोऽविवक्षितार्थत्वम्, विवक्षितार्थत्वं वा ? नाद्यः ; तथा हि—यावद्भासमानाकारेन्द्रियसंयोगजमपि भवति घटोऽयमिति विज्ञानम् । न च तदात्मनि प्रत्यक्षम्, आत्मनस्तदीयाविषयत्वात्, प्रामाण्यस्य च विषयनियतत्वात् । यत्र प्रामाण्यं तत्रैव विषये तद्विशेषस्य प्रत्यक्षत्वस्य वक्तव्यत्वात् । अन्यथा पटास्तित्वे घटोऽयमिति प्रत्यक्षं प्रमाणयतः किमुत्तरम् ?

नन्विदमुत्तरम्—घटविज्ञानं पटे न प्रत्यक्षम्, न हि तदिन्द्रियसन्निकर्षेणोत्पन्नमिति । तत् किमात्मेन्द्रियसन्निकर्षजं घटज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षमेव ? कथमेवं स्यात्, आत्मेन्द्रियसन्निकर्षाद् घटज्ञानस्योत्पादेऽपि आत्मनोऽनवभासमानत्वादिति

'भासमान यावत् आकार और इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं। कारण, यह विकल्प को सहन नहीं कर सकता। देखिये—क्या भासमानताविशिष्ट में इन्द्रिय का सम्प्रयोग विवक्षित है या भासमानता से उपलक्षित में ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, कारण इन्द्रिय-सम्प्रयोग से पूर्व भासमानता का अभाव है। भासमानता के कारणीभूत इन्द्रिय-सम्प्रयोग की स्थिति भासमानता से पूर्व ही होनी चाहिए। 'भासमानता से उपलक्षित में इन्द्रिय का सम्प्रयोग हो,' इस द्वितीय कल्प में भी लट् का अर्थ अविवक्षित है या विवक्षित ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि 'घटोऽयम्' यह ज्ञान यावत् भासमान आकार तथा इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य होता है। अतः वह आत्मा में भी प्रत्यक्ष हो जायगा। किन्तु आत्मा में 'घटोऽयम्' यह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा उस ज्ञान का विषय नहीं है और प्रामाण्य विषय से नियत है। अर्थात् जिस विषय में जो प्रमाण हो, उसी विषय में वह प्रमाणविशेष प्रत्यक्ष कहा जाता है। यदि यह न मानें, तो पट के अस्तित्व में 'घटोऽयम्' इस प्रत्यक्ष ज्ञान को कोई प्रमाण दे तो क्या उत्तर होगा ?

समर्थन—ऐसा उत्तर देंगे कि घटज्ञान पट और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जन्य नहीं है। अतः पट में वह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। *खंडन*—क्या आत्मा और मनोरूप इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जायमान घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष है ? *समर्थन*—घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है, क्योंकि यद्यपि वह आत्मा तथा इन्द्रिय (मन) के सन्निकर्ष से उत्पन्न है, तथापि आत्मा भासमान नहीं है। *खण्डन*—'भासमान'

चेन्न। भासमानेत्यत्र लटोऽविवक्षितार्थत्वपक्षमाश्रित्येदं भवतोच्यत इति स्मर्तव्यम्। अस्ति ह्यात्मनो भासमानत्वं कदाचित् केनचिद्, अन्यथा अप्रमेयत्वप्रसङ्गात्।

उक्तलक्षणकं स्वविषये प्रत्यक्षम्, न त्वन्यत्राऽपीति चेन्न। स्वशब्देन यदि ज्ञानमात्रं विवक्षितं तदा स दोषस्तदवस्थः। अथ ज्ञानव्यक्तिरपेक्षिता, तदा लक्ष्यस्वरूपस्यासाधारणतया तत्परित्यागेन लक्षणस्यान्यत्र गतत्वादतिव्याप्तिः। व्यक्त्यन्तरस्य लक्षणाश्रयस्य एकव्यक्त्यभिहितलक्ष्यीभूतासाधारणरूपत्वाभावात्।

व्यक्त्यन्तरमपि लक्ष्यमेव, अलक्ष्ये च लक्षणस्य गमनादतिव्याप्तिरिति चेन्न। यदेकत्रासाधारणस्वरूपं लक्ष्यत्वेन निरुच्यते भवता, न तदन्यस्य स्वरूपम्। अतः कथं 'तदपि लक्ष्यमि'ति अपिशब्देनानेकं साधारणीकृत्य समुच्चेतुं शक्यम्। यदपि साधारणं रूपं तद्व्यक्त्यन्तरव्यवच्छेदकस्वविषयपदं विशेषणं प्रक्षिपता भवतैवासाधारणीकृतम्। स्वशब्दस्य ज्ञानमात्रार्थत्वे दोषस्योक्तत्वात्। स्वत्वस्य

इस विशेषण में लट् का अर्थ अविवक्षित है, इस कल्प का आश्रयणकर आप उत्तर कह रहे हैं, इसका स्मरण कीजिये। कदाचित् किसी कारण आत्मा का भी भान होता ही है। अन्यथा आत्मा अप्रमेय हो जायगी।

समर्थन—'भासमान आकार और इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य ज्ञान स्वविषय में प्रत्यक्ष है' ऐसा लक्षण करने पर घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष न होगा। *खण्डन*—यदि 'स्व' शब्द को ज्ञानसामान्यपरक मानें, तो आत्मा भी यत्किञ्चित् ज्ञान का विषय होती ही है। अतः पुनः घटज्ञान आत्मा में प्रमाण होने लगेगा। यदि ज्ञानव्यक्तिपरक मानें, तो जो ज्ञानव्यक्ति 'स्व' शब्द से गृहीत होगी, वही लक्ष्य हुई, अन्य व्यक्ति नहीं; क्योंकि लक्ष्य का असाधारणरूप तद्व्यक्तित्व उस व्यक्ति में नहीं है और लक्षण अन्यव्यक्ति-साधारण है। अतः अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—अन्य व्यक्ति भी लक्ष्य ही है, अलक्ष्य में लक्षण का गमन ही अतिव्याप्ति है। *खंडन*—आप स्वविषयक प्रत्यक्ष को लक्ष्य कहते हैं, वह रूप अन्यत्र नहीं है। अतः 'वह भी लक्ष्य है' इस प्रकार अपि (भी) शब्द से उस व्यक्ति का समुच्चय कैसे कर सकते हैं। जो प्रत्यक्षत्व अन्यव्यक्तिसाधारण था, उसे भी 'स्वविषय में' यह विशेषण देकर आपने ही असाधारण कर दिया। यदि 'स्व' शब्द ज्ञानमात्रपरक मानें, तो 'घटज्ञान आत्मा में भी प्रत्यक्ष हो जायगा' यह दोष हम कह ही आये हैं। किञ्च—सम्पूर्ण ज्ञान में अनुगत स्वत्व का निर्वचन भी नहीं हो सकता,

चानुगतस्वरूपस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अन्यथा अन्यव्यक्तिविषयस्यान्यत्र तथात्वापत्तेः।

नापि द्वितीयः पक्षः; विकल्पासहत्वात्। किं सम्प्रयोगापेक्षया वर्तमानत्वम्, अथ यत्किञ्चिदपेक्षया? प्रथमे विशेषणत्वपक्षान्न विशेष इत्युक्तदोषापत्तिः। द्वितीये तु लटोऽविवक्षितार्थत्वमेव स्यात्, व्यवच्छेद्ययोर्भासितभासिष्यमाणयोरपि तदा तदा भासमानत्वस्वीकारत्।

इन्द्रियसम्प्रयोगानन्तरं भासमानत्वमपेक्षितम्, अतो विवक्षितार्थमिति चेन्न। आत्मनोऽपीन्द्रियसंयोगानन्तरं भासमानत्वमस्ति। न हि स यदा मनसा गृह्यते तदा नेन्द्रिसंयोगानन्तरम्।

जिससे उसे स्वत्वरूप से संग्रहकर 'स्व' शब्द को ज्ञानमात्र का वाच्य मानें। यदि कथञ्चित् स्वत्व का निर्वचन भी करें, तो ज्ञानमात्र के 'स्व'शब्दवाच्य होने से अन्यविषयक ज्ञान अन्य में, अर्थात् घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा।

"भासमान' इस पद में 'लट्' का अर्थ विवक्षित है" यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं। कारण, वह विकल्प को सह नहीं सकता। देखिये---क्या सम्प्रयोग की अपेक्षा वर्तमानत्व विवक्षित है अथवा जिस किसीकी अपेक्षा? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं, कारण सम्प्रयोग-काल में [कारण के कार्य से पूर्ववर्ती होने से] भासमानता हो ही नहीं सकती। अतः इस पक्ष में भी विशेषण पक्ष में कथित दोष हो जायगा। यदि यत्किञ्चित् की अपेक्षा वर्तमानता का ग्रहण करें, तो अर्थतः वर्तमानत्व अविवक्षित ही हुआ। कारण, भासिष्यमाण (भासित होनेवाला) और भासित भी यदा कदाचित् वर्तमान भासन का विषय ही हैं। अतः उनका व्यवच्छेद नहीं होगा।

समर्थन---"इन्द्रिय-सम्प्रयोग के अनन्तर जायमान जो भासन तद्विषय आकार और इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है" ऐसा लक्षण करने पर घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष नहीं होगा। कारण, चक्षुःसंयोग के अनन्तर आत्मा भासमान नहीं है। *खंडन*---आत्मा का भासन भी मनोरूप इन्द्रिय के संयोग के अनन्तर ही होता है, मनोरूप इन्द्रिय के संयोग के बिना आत्मा का ग्रहण भी नहीं होता। अतः उक्त रूप से परिष्कार करने पर भी घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा।

नेन्द्रियसंयोगमात्रं विवक्षितम्, किं नाम ? यदनन्तरं भासमानतोत्पत्तिरिति चेन्न। तदनन्तरमपि भासमानतोत्पत्तेः।

भासमानतान्तरं तत्, न त्विदं भासमानत्वमिति चेन्न। अव्याप्तिप्रसङ्गात्, एकभासनमात्रव्यवस्थितत्वात् लक्षणस्य।

अथ मन्यसे यद्भासनं यस्य विषयस्येन्द्रियसंयोगादुत्पन्नं तत्तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमिति निरुक्तौ न दोष इति। मैवम्; यद्भासनं घटोऽयमिति यस्य विषयस्यात्मन इन्द्रियेण सह सन्निकर्षादुत्पन्नं तद्भासनं तस्मिन्नात्मनि प्रमाणं स्यात्।

नात्मा तस्य विषयः, तत्कथमेवं स्यादिति चेत्। न हि भवता तदीयविषयस्येत्युक्तम्, किन्तु सामान्यतो विषयस्येति, तेनेदमभिहितम्। यदि तु तदीयताविशेषणमुपादत्ते भवान्, तदा यदि तच्छब्देन ज्ञानजातीयमात्रपरामर्शस्तदा स

समर्थन—'जिस इन्द्रियसंयोग के अनन्तर भासन होता हो, उस इन्द्रियसंयोग के अनन्तर जायमान जो भासन, उसका विषय आकार तथा इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है' ऐसा परिष्कार करेंगे, तो घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष नहीं होगा। कारण, चक्षुःसंयोग के अनन्तर आत्मज्ञान नहीं होता। *खण्डन*—यद्यपि चक्षुःसंयोग के अनन्तर आत्मज्ञान नहीं होता, तथापि आत्मा का ज्ञान तो होता ही है। अतः आपके लक्षण का समन्वय होने से घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा।

समर्थन—आत्म-मनःसंयोग के अनन्तर आत्मा का भासन होता है, घट का भासन तो नहीं होता। अतः घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष नहीं होगा। *खंडन*—तब तो 'जिस इन्द्रियसम्प्रयोग के अनन्तर घट का भासन होता हो, उस इन्द्रिय के सम्प्रयोग से जन्य (घट) ज्ञान प्रत्यक्ष है' ऐसा लक्षण होने से घटज्ञान में ही लक्षण का समन्वय होगा, अन्यत्र पटादि-ज्ञान में सर्वत्र अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'जो ज्ञान जिस विषय और इन्द्रिय के संयोग के अनन्तर होता है, वह ज्ञान उस विषय में प्रत्यक्ष है' ऐसा लक्षण करेंगे। एवञ्च घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष नहीं है। *खंडन*—'घटोऽयम्' यह भासन जिस विषय आत्मा और मन के संयोग के अनन्तर उत्पन्न होता है, अतः वह 'घटोऽयम्' भासन आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा। इसलिए ऐसा परिष्कार भी असङ्गत है।

समर्थन—आत्मा 'घटोऽयम्' इस ज्ञान का विषय नहीं है, अतः घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? *खंडन*—आपने 'तद्-ज्ञान का विषय' ऐसा निवेश न कर सामान्यरूप से विषय का निवेश किया है, इसीलिए यह दोष होता है। यदि तद्-ज्ञानका

दोषस्तदवस्थः। यदि तु ज्ञानजातीयमात्रव्यक्तिविशेषपरामर्शः, तदाऽव्यापकत्वम्, प्रतिज्ञानं तच्छब्दार्थस्य भेदात्। नहि यत्त्वं तत्त्वं वा किञ्चिदनुगतं रूपमस्ति।

अत एवात्मविषयत्वानुयोगवत् त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनि पटज्ञानस्य घटादौ प्रत्यक्षतया प्रामाण्यानुयोगो द्रष्टव्यः, चक्षुःसन्निकर्षाभावात्। अन्यथा तस्येष्टप्रसञ्जकत्वात्।

तदर्थं यदिन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नमिति विशेषणप्रक्षेपे यत्तच्छब्दार्थस्यासाधारण्यादव्याप्त्यापत्तेः। यदि तु यत्तच्छब्दार्थावनुगतौ स्यातां पुनरप्यन्यत्र 'घटोऽयमि'ति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेन प्रमाणता प्रसज्येत।

अथ 'अन्यव्यतिरिक्ते' इति विशेषणं प्रक्षिपसि, तदाऽन्यविषयस्य प्रत्यक्षता

विषय' ऐसा निवेश करें—'यत्, तत्' को ज्ञानमात्रपरक मानें, तो फिर भी घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष हो जायगा। कारण, यत्-ज्ञान पद से आत्मज्ञान का भी ग्रहण हो सकता है। यदि घटज्ञान व्यक्तिपरक हो, तो घटज्ञान में तो समन्वय हो जायगा; पर अन्यत्र सर्वत्र अव्याप्ति हो जायगी। कारण, निखिल ज्ञानों में वृत्ति यत्त्व-तत्त्व कोई अनुगत धर्म नहीं है, जिसे प्रवृत्तिनिमित्त मानकर ज्ञानमात्र का यत्-शब्द से ग्रहण हो सके।

जो प्रभाकर आदि ज्ञान में त्रिपुटी (ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय, इन तीनों) का भान मानते हैं, उनके मत में घटज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष इष्ट ही है। अतः उनके मत में घटज्ञान पट में प्रत्यक्ष हो जायगा, यह दोष जानना चाहिए।

समर्थन—'जिस वस्तु और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो ज्ञान हो, वह ज्ञान उस वस्तु में प्रत्यक्ष है।' अतः घटज्ञान पट में प्रत्यक्ष नहीं है। *खंडन*—यदि यत्-शब्द को अनुगत तत्-तत् ज्ञानव्यक्तिपरक मानें, तो अन्य ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी। यत्त्व-तत्त्व को अनुगत मान भी लें, तब भी 'घटोऽयम्' यह ज्ञान पट में प्रत्यक्ष हो जायगा।

समर्थन—'जिस वस्तु तथा इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान उससे जो अन्य, उस अन्य से व्यतिरिक्त वस्तु में प्रत्यक्ष है।' अतः घटज्ञान पट में प्रत्यक्ष नहीं है। *खंडन*—अन्यविषयक प्रत्यक्ष के लक्ष्य न होने से वह प्रत्यक्ष न कहा जायगा। अथवा लक्ष्यभूत अन्यविषयक प्रत्यक्ष में भी उक्त लक्षण का समन्वय हो जाने से अतिव्याप्ति होगी। तत्-शब्द को किसी अनुगमक रूप से

न स्यात्। तच्छब्देनानुगतार्थाभिधाने व्यवच्छेदकत्वाभावात्। घटज्ञानस्य च पटे प्रत्यक्षतया प्रामाण्यं प्रसज्येत।

एतेन—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि प्रत्यक्षमित्यत्रापि दोषोऽयमुक्तो द्रष्टव्यः, तादृशस्यापि ज्ञानस्य विषयान्तरे प्रत्यक्षत्वेन प्रामाण्यप्रसङ्गात्। यस्यार्थस्य सन्निकर्षात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत्तत्र प्रत्यक्षतया प्रमाणमित्यभिधाने तु यच्छब्दतच्छब्दसाधारणासाधारणार्थाभिधानविकल्पोक्तदोषप्रसङ्गः।

अव्यभिचारिपदञ्च व्यर्थम्। न हि शुक्तौ रजतज्ञानं रजतेन्द्रियसन्निकर्षादुत्पन्नम्। संस्कारलक्षणा प्रत्यासत्ती रजतत्वेऽप्यस्तीति चेन्न। पूर्वानुभूतरजततादात्म्यस्य संस्काराभावादुक्तदोषतादवस्थ्यात्। गुरुमतानुसारेण सुतरां

सन्निकर्षज ज्ञानपरक मान भी लें, तो व्यवच्छेद के न होने से घटज्ञान पट में प्रमाण हो जायगा। कारण, तत्-शब्द से पटज्ञान का भी परामर्श कर सकते हैं।

'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न अव्यभिचारिज्ञान प्रत्यक्ष है' इस लक्षण में भी घटज्ञान आत्मा में या पट में प्रत्यक्ष हो जायगा—यह दोष जानना चाहिए। यदि 'जिस वस्तु के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न हो, वह ज्ञान उस विषय में प्रत्यक्ष है' ऐसा लक्षण करें, तो यत्-यत् शब्द को एकज्ञानपरक मानें या ज्ञानसामान्यपरक, उभयथा पूर्वोक्त दोष होगा। यदि यत्-तद्घटित लक्षण करें, तो रजत के सन्निकर्ष से शुक्ति में रजतभ्रम न होने से रजत में प्रत्यक्ष नहीं होगा।

फिर, 'अव्यभिचारी' विशेषण भी व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि शुक्ति में रजतज्ञान रजत और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं है। अतः 'सन्निकर्षजत्व' विशेषण से ही उसकी व्यावृत्ति हो जायगी। संस्काररूप (चक्षुःसंयुक्त-आत्मसमवेत-पूर्वरजतप्रत्यय-संस्कारविषयत्वरूप) प्रत्यासत्ति रजत में है, यह भी नहीं कह सकते। कारण, पूर्वानुभूत का ही संस्कार हुआ करता है। शुक्ति और रजततादात्म्य पूर्व में अनुभूत न होने से उसका संस्कार संभव ही नहीं है।

यह तो भट्टमत में अव्यभिचारी विशेषण की व्यर्थता हुई। गुरुमत के अनुसार तो सुतरां उक्त विशेषण व्यर्थ है। कारण, वे तो भ्रमज्ञान मानते ही नहीं। किञ्च—शुक्ति में रजततया अवगाह्यमान ज्ञान का व्यवच्छेद करते हैं अथवा रजतत्वमात्र ज्ञान का? पहले का व्यवच्छेद व्यर्थ है, पुरोवर्ती शुक्तिनिष्ठ रजतत्ववैशिष्ट्य (तादात्म्य) में संस्काररूप प्रत्यासत्ति न होने से सन्निकर्षजत्व

विशेषणवैयर्थ्यात्तेन व्यभिचारानङ्गीकारात्। रजतत्ववैशिष्ट्ये पुरोवर्तिनस्तदभावात्। तस्मिन्नेव वांशेऽप्रामाण्यम्, न तु रजतत्वमात्रे, तस्यान्यत्र सत्त्वात्।

अथ साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमुच्यते तदा साक्षात्कारिभ्रमेऽपि प्रसङ्गः। अव्यभिचारित्वेन विशेषितं तल्लक्षणमिति वा भेदाग्रहव्यतिरिक्तविभ्रमाभावो वेति चेत्।

न ; विकल्पासहत्वात्। किमवगतमिदं लक्षणं फलहेतुः, अनवगतं वा? न तावच्चरमः ; तदभिधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अभिधानस्य ज्ञानोत्पादोपयोगित्वात् तस्य चानवगतस्यैव फलसाधकत्वाभ्युपगमात्।

आद्ये किमन्यस्मात्तदवगमः, उत त्वदीयाल्लक्षणवाक्यात्? यद्यन्यस्मात्, कृतममुना लक्षणाभिधानप्रयासेन। अभिधानस्य ज्ञानोत्पादातिरिक्तप्रयोजनाभावात्

विशेषण से ही उसका व्यवच्छेद हो जायगा। दूसरे का भी व्यवच्छेद संभव नहीं। उक्त ज्ञान वैशिष्ट्यांश (तादात्म्य) में ही भ्रम में रजतत्व नहीं है। कारण, रजतत्व देशान्तर में भी होने से तद्गोचर ज्ञान भी प्रमाण होने के कारण व्यवच्छेद्य ही नहीं है।

समर्थन—साक्षात्कारित्व ही प्रत्यक्ष का लक्षण कहेंगे। *खंडन*—प्रत्यक्ष-भ्रम में अतिप्रसङ्ग होने से वह लक्षण अयुक्त है। *समर्थन*—भ्रम में अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में 'अव्यभिचारित्व' का भी निवेश कर देंगे। अथवा प्रभाकर के मत में भेदाग्रह से भिन्न भ्रमज्ञान होता नहीं, अर्थात् ज्ञानमात्र प्रमा ही है। तब तो अव्यभिचारी विशेषण देने का भी कुछ काम नहीं है।

खण्डन—यह लक्षण भी विकल्प को सह नहीं सकता। देखिये—क्या अवगत (ज्ञात) लक्षण व्यावृत्ति या व्यवहाररूप फल का कारण है या अनवगत (अज्ञात), अर्थात् साक्षात्कारित्वरूप लक्षण स्वयं ज्ञात होकर इतरव्यवच्छेद-ज्ञान का कारण है अथवा अपनी सत्तामात्र से कारण है? यदि अन्तिम पक्ष मानें, तो लक्षण का अभिधान ही व्यर्थ हो जायगा। केवल ज्ञानोत्पादकत्वेन अभिधान की सार्थकता होने पर भी प्रकृत में आपने अज्ञात लक्षण को ही इतरव्यवच्छेदक प्रतीति का जनक मान लिया है। अतः यहाँ लक्षण का अभिधान व्यर्थ ही है।

यदि प्रथम मानें, अर्थात् अवगत लक्षण ही व्यावृत्ति या व्यवहार का जनक है, तो वह भी विकल्पासह ही है। अर्थात् लक्षण का अवगम प्रमाणान्तर से मानेंगे या अपने लक्षण-वाक्य से ही? यदि प्रमाणान्तर से, तो आपका यह लक्षणाभिधान-प्रयास व्यर्थ

तस्य चान्यत एव सिद्धेः। अन्त्ये किं त्वदभिधानमाप्तोपदेशतया साक्षात्कारित्वं बोधयति, उत लिङ्गादिभावेन? न तावच्चरमः; त्वद्वचनस्य साक्षात्कारित्वाविनाभावादेदर्शयितुमशक्यत्वात्। नापि प्रथमः; वादिनं प्रति भवत आप्तत्वासिद्धेः। सिद्धौ हि प्रतिज्ञामात्रादेव साध्यसिद्धेर्हेत्वाद्यभिधानमनर्थकं सर्वत्र स्यात्।

अथ मन्यसे यः साक्षात्कारित्वमन्यतो जानाति, प्रत्यक्षव्यवहारनिदानतया च न जानाति, तं प्रति प्रत्यक्षव्यवहारनिदानत्वमस्य ज्ञाप्यते लक्षणवादिना। तच्चानुमानभावेनैव, नाप्तोपदेशतया। अत एव च लक्षणं केवलव्यतिरेक्यनुमानमाचक्ष्महे। तद्यथा—श्रावणादिप्रमितयः साक्षात्कारिप्रमितयो वा प्रत्यक्षत्वेन व्यवहर्तव्याः, साक्षात्कारिप्रमितित्वात्; न यत्प्रत्यक्षतया व्यवह्रियते न तत्साक्षात्कारि, यथाऽनुमितिः; तथा चैताः; तस्मात्तथा। एतदनुमानप्रतिपादकञ्च

है। कारण, अभिधान का प्रयोजन लक्षण-ज्ञान से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और उसे आपने साधनान्तर से मान लिया है। एवञ्च पुनरपि आपका लक्षणाभिधान व्यर्थ ही है। यदि आप अपने लक्षण-वाक्य से लक्षण का अवगम मानें, तो पूछा जा सकता है कि क्या वह लक्षण-वाक्य आप्तोपदेश के रूप में साक्षात्कारित्व-लक्षण का बोध कराता है या हेत्वादिविधया? अन्तिम पक्ष नहीं मान सकते; आपके वचन का साक्षात्कारित्व से अविनाभाव न होने से उसे लिङ्गत्वेन बोधक नहीं कहा जा सकता। 'लिङ्गादि' यहाँ 'आदि'पद से अर्थापत्ति, उपमान आदि का भी ग्रहण है। एवञ्च कोई अनुपपत्ति या सादृश्यज्ञान न होने से आपका वचन अर्थापत्ति, उपमान आदि रूप से भी बोधक न हो सकेगा। यदि आप्तोपदेशरूप में आपका वचन लक्षण का बोध कराता है, तो वह भी ठीक नहीं। कारण, वादी आपको आप्त ही नहीं मानता। यदि वह आपको आप्त मान लें, तो प्रतिज्ञामात्र से ही साध्य-सिद्धि हो जाने से सर्वत्र हेत्वादि का अभिधान व्यर्थ ही हो जायगा।

समर्थन—जो पुरुष साक्षात्कारित्व को अन्य हेतु (प्रत्यक्ष आदि) से जानते हैं, किन्तु उसमें प्रत्यक्षत्व-व्यवहार की कारणता नहीं जानते, उनके प्रति प्रत्यक्षत्व-व्यवहार की कारणता लक्षण से बोधित होती है। वह बोधन भी आप्तवाक्यरूप से नहीं, किन्तु परार्थ-अनुमानरूप से होता है। अतएव हम लोग लक्षण को 'व्यतिरेकी अनुमान' कहते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—'श्रावण आदि प्रमितियाँ या साक्षात्कारी प्रमितियाँ प्रत्यक्षत्वरूप से व्यवहर्तव्य हैं, साक्षात्कारिप्रमितित्व से युक्त होने से; जो

वाक्यं नाप्तवाक्यत्वेन प्रयुज्यते वादिना । किन्तु व्याप्त्यादेः प्रतिपन्नस्यैव स्मारकम्, पूर्वाप्रतिपन्नस्य वा जिज्ञासोत्पादनद्वारेणेदानीमेव वादिनि प्रमाणोत्पादकमित्युक्तदोषानवकाश इति ।

न ; 'प्रत्यक्षतया व्यवहर्तव्याः' इति व्यवहारस्य किं विषयभेदो विशेषः, उत शब्दभेदः ? आद्ये यद्यसौ विषयविशिष्टं व्यवहारं नाज्ञासीत्, कथं साक्षात्कारिणि तस्य स्वकर्तव्यतां लक्षणवाक्यादप्यवगच्छेत् । न ह्यविदिताग्निरनुमानादप्यग्निसम्बन्धं बोधयितुं शक्यः । अथाज्ञासीत् तदा ज्ञातज्ञापनवैयर्थ्याल्लक्षणरूपमनुमानं निष्प्रयोजनम् ।

अथ सामान्यतो जानाति—अस्ति कश्चिद्विषयः प्रत्यक्षव्यवहारस्य । विशेषतस्तु न जानाति, तं प्रतीदमुच्यते । न; किं सामान्यतो निमित्तवत्तां व्यवहारमात्रस्य जानाति, उत व्यवहारविशेषस्य ? आद्ये प्रकृतानुपयोगः, व्यवहारविशेषस्य

प्रत्यक्षत्वरूप से व्यवहर्तव्य नहीं है, वह साक्षात्कारिप्रमिति नहीं है, जैसे अनुमिति । साक्षात्कारिप्रमितिरूप पक्ष साक्षात्कारिप्रमितित्वरूप हेतु से युक्त है; तस्मात् उक्त साध्य (प्रत्यक्षत्व से व्यवहर्तव्यता) से युक्त है ।' इस पञ्चावयव वाक्य को वादी आप्तवाक्यरूप से प्रयोग नहीं करता; किन्तु पूर्वज्ञात व्याप्ति के स्मरणार्थ या पूर्व अज्ञात व्याप्ति के (जिज्ञासा के उत्पादन द्वारा) उस काल में ही ज्ञान के लिए प्रयोग करता है । अतः कोई दोष नहीं है ।

खण्डन—'प्रत्यक्षस्वरूप से व्यवहर्तव्य है' इस वाक्य का क्या 'प्रत्यक्षत्वप्रकारक ज्ञानविषयत्व' अर्थ है या 'प्रत्यक्ष शब्द से अभिधेय' यह अर्थ है ? प्रथम पक्ष में यदि यह पुरुष प्रत्यक्षत्वप्रकारक ज्ञानविषयत्व को प्रथम से नहीं जानता, तो लक्षण-वाक्य से साक्षात्कारिप्रमिति में उसे कैसे जानेगा ? कारण जो अग्नि को नहीं जानता, वह धूम से पर्वत में अग्नि को जान नहीं सकता । यदि वह पहले से ही प्रत्यक्षत्वप्रकारक ज्ञानविषयत्व को जानता है, तो ज्ञात का ज्ञापन होने से अनुमान व्यर्थ है ।

समर्थन—जो पुरुष सामान्यरूप से जानता है कि प्रत्यक्ष-व्यवहार का कुछ विषय है । किन्तु विशेष रूप से यह नहीं जानता कि प्रत्यक्ष-व्यवहार का अमुक विषय है, उसके प्रति यह अनुमान-प्रयोग है, ऐसा कहेंगे । *खण्डन*—क्या वह व्यवहारमात्र के विषय को सामान्यरूप से जानता है या व्यवहार-विशेष (प्रत्यक्षत्व-व्यवहार) के सामान्य से निमित्तवत्ता को जानता है ? प्रथम पक्ष में व्यवहारमात्र की निमित्तवत्ता सामान्य से जानता भी हो, तो उसका प्रकृत में कोई उपयोग नहीं है । कारण इदानीं

द्वितीये किं कृतोऽसौ व्यवहारस्य विशेष इति विकल्पित-
ान्तरेण न निस्तारः।

एतेन सर्वस्यैव लक्ष्यस्य स्वीकारः परासनीयः। तथा हि—

नात्यापत्त्या प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वक्रियोचिताः।
तद्धियस्तदुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥ ३५ ॥

अथान्यः स विशेषश्चेत् तद्धीत्वं कश्चिदिष्यते।
दत्तः साकारवादाय विष्टरः स्पष्टमेव तत् ॥ ३६ ॥

व्यवहारविशेष (प्रत्यक्षत्व-व्यवहार) की चिन्ता है। द्वितीय पक्ष में अर्थात् यदि कहें कि प्रत्यक्ष-व्यवहार के सामान्य से निमित्तवत्ता जानता है, तो यह विकल्प होता है कि प्रत्यक्ष-व्यवहार से जो विशेष है, वह प्रत्यक्षज्ञानकृत है या प्रत्यक्षशब्दकृत ? ऐसा विकल्प होने पर दोनों पक्षों में मूलकथित दोष हो जायगा।

इस अग्रिम युक्ति से भी लक्षणमात्र खण्डित हो जाता है। देखिये—'इयं पृथिवीति व्यवहर्तव्या गन्धवत्त्वात्, व्यतिरेकेण अबादिवत्' इत्यादि लक्षण से लक्ष्य का स्वीकार संभव नहीं। कारण, लक्षण से जायमान प्रमामात्र से तत्तत् लक्ष्य का स्वीकार करेंगे या पृथिव्यादि लक्ष्यविशिष्ट प्रमा से ? पहला नहीं कह सकते, अर्थात् लक्षण से जायमान अनुमितिरूप प्रमामात्र से लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण, प्रमामात्र समस्त अर्थसाधारण है; अतः एक प्रमा से सभी अर्थों की सिद्धि हो जायगी। द्वितीय पक्ष भी संभव नहीं, अर्थात् लक्ष्यविशिष्ट प्रमा से भी लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण, लक्ष्यविशिष्ट प्रमा में लक्ष्य भी विशेषण है, अतः अंशतः लक्ष्य से लक्ष्य की सिद्धि होने से आत्माश्रय हो जायगा ॥ ३५ ॥

समर्थन—लक्ष्यविशिष्टबुद्धित्व बुद्धि का ही धर्मविशेष है, लक्ष्य का वैशिष्ट्य नहीं। अतः लक्ष्यविशिष्ट प्रमा से लक्ष्य की सिद्धि में आत्माश्रय नहीं है। *खण्डन*—यदि तद्विषयवैशिष्ट्य को बुद्धि का धर्म मानें, तो बुद्धि साकार हो जायगी, निराकार न रहेगी। कारण जबतक साकार घटादि से बुद्धि का अभेद न मानें, तबतक घटादि-विषयवैशिष्ट्य बुद्धि का धर्म नहीं हो सकता। एवञ्च 'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धिया' इस स्वसिद्धान्त की हानि और 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः' इस बौद्ध-सिद्धान्त का अभ्युपगम हो जायगा ॥ ३६ ॥

अर्थादुत्थास्नवो धर्मो नानुमात्वादयो यथा।
तद्धीत्वमपि तद्वत् स्यादित्यर्थोऽनर्थमाविशेत् ॥ ३७ ॥
सोऽपि वा धीविशेषः किं स्वीकार्यस्तद्धियं विना।
एवञ्च सोऽपि सोऽपीति नान्तः सोपानधावने ॥ ३८ ॥
समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः।
का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥ ३९ ॥
उपपादयितुं तैस्तैर्मतैरशकनीययोः।
अनिर्वक्तव्यतावाद-पादसेवागतिस्तयोः ॥ ४० ॥

नापि द्वितीयः। तथा हि, अयमनुमानार्थः स्यात्—'श्रावणादिप्रतिपत्तयः प्रत्यक्षशब्दाभिधेयाः साक्षात्कारित्वादित्यादिः।' सोऽपि न ; यद्यसाक्षात्कारिण्य-

समर्थन—ज्ञान का स्वभाव केवल प्रकाशरूप है। अतः तद्धीत्व ज्ञान का स्वाभाविक धर्म नहीं है। किन्तु अर्थ के सम्बन्ध से औपाधिक है। जैसे—स्फटिक का लौहित्य। अतः ज्ञानगत विशेषधर्म के उत्पादन के लिए बाह्य अर्थ आवश्यक होने से बौद्धमत का प्रवेश न होगा। *खंडन*—जैसे अनुमात्व आदि धर्म अर्थजन्य नहीं, किन्तु लिङ्गपरामर्श-जन्य हैं, वैसे ही तदर्थबुद्धित्व भी अर्थजन्य नहीं, किन्तु अन्य जन्य ही है। अतः बुद्धिधर्म के आधान के लिए बाह्य अर्थ का उपयोग नहीं है ॥ ३७ ॥

किञ्च—अतिप्रसङ्ग होने से प्रमामात्र से बुद्धिगत तद्बुद्धित्वरूप धर्म की सिद्धि भी हो नहीं सकती, किन्तु तद्बुद्धित्वविशिष्ट प्रमा से ही होगी। अतः अंशतः आत्माश्रय हो जायगा। इसी तरह तद्बुद्धित्व के भी तद्बुद्धिबुद्धित्वरूप धर्म की सिद्धि तद्बुद्धि से ही होगी, अतः अनवस्था का प्रसङ्ग हो जायगा ॥ ३८ ॥

शंका—यदि बाह्य अर्थ या तद्बुद्धित्व की सिद्धि न हो, तो सम्पूर्ण लोक-शास्त्रमें वर्तमान 'अयं घटः' इस बुद्धि या 'घटेन जलमाहरेयम्' इस व्यवहार की सिद्धि कैसे होगी? ॥ ३९ ॥

उत्तर—जब बाह्य पदार्थ के माननेवाले मतवादी बाह्य अर्थ का उपपादन नहीं कर सकते, तब बाह्य पदार्थ सत् नहीं हैं। साथ ही प्रतीत होने से वे असत् भी नहीं हैं। किन्तु सत् और असत् से विलक्षण अनिवर्चनीय हैं, इससे अन्य गति नहीं ॥ ४० ॥

द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है। कारण, द्वितीय कल्प में अनुमान का यह स्वरूप होगा—'श्रावण आदि प्रमाएँ 'प्रत्यक्ष'शब्द से अभिधेय हैं, साक्षात्कारी होने से; जो प्रत्यक्षशब्द का अभिधेय नहीं, वह साक्षात्कारी नहीं, जैसे—अनुमिति।' किन्तु

नुमानादौ तच्छब्दाप्रयोगमात्रात् साक्षात्कारिणि तच्छब्दप्रयोगः क्रियते, तर्हि शशविषाण-जबगडदशादिशब्दप्रयोगोऽपि साक्षात्कारिणि कर्तव्य एव, अविशेषात् ।

अथ जबगडदशादिशब्दाः सामान्यतोऽर्थवत्तया न प्रसिद्धाः, क्वचिदप्यप्रयोगात् । शशविषाणादिशब्दाश्च असद्विषया एवेति सिद्धाः । प्रत्यक्षादिशब्दास्तु सद्विषयवत्तया सामान्यतः सिद्धाः, 'प्रत्यक्षमस्ती'त्यादिप्रयोगदर्शनादित्यस्ति विशेष इति चेत् । मैवम्; एतेनापि विशेषेण चाक्षुषादिशब्दानामव्यवच्छेदात् तेषामपि साक्षात्कारिमात्रे प्रयोगप्रसङ्गः ।

साक्षात्कारित्वे सत्यपि श्रावणादौ चाक्षुषादिशब्दानामप्रयोगः, न त्वेवं प्रत्यक्षादिशब्दानामिति विशेष इति चेत् । एवं तर्हि यत्र साक्षात्कारित्वं नास्ति,

यह युक्त नहीं है, क्योंकि असाक्षात्कारी अनुमिति में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग न होने से ही साक्षात्कारी में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग हो, तो शशविषाण, 'जबगड़दश' आदि शब्दों का भी साक्षात्कारी में प्रयोग करना चाहिए। कारण दोनों में कोई विशेष नहीं है।

समर्थन—जबगड़दश आदि शब्द सामान्यतः अर्थवत्रूप से प्रसिद्ध नहीं हैं; क्योंकि किसी अर्थ में इनका प्रयोग नहीं होता। शशविषाण शब्द आदि तो असत्-विषय है। किन्तु 'प्रत्यक्ष' आदि शब्द सद्विषयत्वरूप से सामान्यतः सिद्ध हैं, कारण 'प्रत्यक्षमस्ति' यह प्रयोग देखने में आता है। यही दोनों में विशेष है। अर्थात् सद्विषय और अर्थवत् होकर अनुमिति आदि में अप्रयुक्त होने से ही प्रत्यक्षशब्द का साक्षात्कारी में प्रयोग होना सिद्ध करेंगे। जबगड़दश आदि शब्द ऐसे नहीं हैं, अतः उनका साक्षात्कारी में प्रयोग नहीं होता। खण्डन—ऐसा विशेष होने पर भी चाक्षुषादि शब्दों का व्यवच्छेद न हो सकेगा, अर्थात् उनका साक्षात्कारीमात्र में प्रयोग होने लगेगा। कारण, चाक्षुषादि शब्द अर्थवत् और सद्विषय होकर अनुमिति आदि में अप्रयुक्त ही हैं।

यदि कहें कि साक्षात्कारी होने पर भी 'श्रावण' आदि में 'चाक्षुष' शब्द का प्रयोग नहीं होता, पर 'प्रत्यक्ष'शब्द का प्रयोग होता ही है। यही प्रत्यक्ष और चाक्षुष शब्द में भेद है। अर्थात् प्रत्यक्ष शब्द अर्थवत, सद्विषय तथा साक्षात्कारीमात्र में प्रयुक्त होकर अनुमिति आदि में प्रयुक्त नहीं होता, अतः वह साक्षात्कारीमात्र का वाचक है। तब

तत्र प्रत्यक्षशब्दप्रयोगो नास्ति यत्र साक्षात्कारित्वमस्ति तत्र सर्वत्रास्तीति यो जानीते, तं प्रति लक्षणाभिधानमिति स्यात्। स च व्यवहारान्तरवदन्वय-व्यतिरेकाभ्यामेव वाच्यवाचकभावमवधारितवानिति व्यर्थं लक्षणम्।

एतेन—अनुमित्यादिव्यवच्छिन्नतया व्यवहर्तव्यमित्यप्युक्तानुमानसाध्यतया अभिधीयमानमपास्तं वेदितव्यम्।

पूर्वप्रतिपन्नमेव वाच्यवाचकभावं लक्षणाभिधानेन स्मार्यत इति चेन्न। अवगत-समयस्य प्रत्यक्षशब्दादेव तत्स्मरणसम्भवात् व्यर्थता लक्षणाभिधानस्य स्यात्। अवगतशब्दार्थसम्बन्धः शब्दादेव स्मरन् यदि लक्षणेन स्मार्यते, तदा लक्षण-वाक्यगत-पदकदम्बार्थस्मरणार्थमपि तल्लक्षणमभिधानीयमविशेषात्। एवं तल्लक्षणवाक्येऽपीत्यपर्यवसानं स्यात्।

तो यही अर्थ हुआ कि 'जिस अर्थ में साक्षात्कारित्व नहीं, वहां प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग नहीं होता और जहां साक्षात्कारित्व है, वहाँ सर्वत्र प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग होता है' यह जो जानता है, उसीके लिए लक्षण का अभिधान है। एवञ्च वह पुरुष घट-पट आदि शब्दों के तुल्य अन्वय-व्यतिरेक से ही प्रत्यक्ष शब्द के भी वाच्यवाचकभाव का ज्ञान कर सकता है। फिर लक्षण का अभिधान व्यर्थ है।

इसी प्रकार 'साक्षात्कारी प्रमितियाँ अनुमित्यादि-व्यवच्छिन्नत्वरूप से व्यवहर्तव्य हैं, साक्षात्कारित्वयुक्त होने से' इत्यादि निषेध्यव्यवहारसाध्यक अनुमान का भी खण्डन जानना चाहिए। कारण, अन्वय-व्यतिरेक से ही उक्त अर्थ सिद्ध हो जाने से लक्षण-कथन व्यर्थ हो जायगा।

समर्थन—लक्षण के अभिधान से पुरुष को पूर्वज्ञात वाच्यवाचकभाव का स्मरण कराया जाता है। एवञ्च लक्षणाभिधान व्यर्थ नहीं है। *खंडन*—जिस पुरुष को समय (संकेत) का ज्ञान हो चुका है, वह तो 'प्रत्यक्ष' शब्द के श्रवण से ही संकेत का स्मरण कर सकता है। अतः उसके संकेतस्मरणार्थ लक्षण का अभिधान व्यर्थ ही है। यदि शब्द के श्रवण से ही संकेत का स्मर्ता पुनः लक्षणवाक्य से भी संकेत का स्मरण करता है—ऐसा मानें, तो अविशेषात् लक्षणवाक्यगत पदसमुदाय के अर्थ का स्मरण कराने के लिए भी उन-उनके लक्षणों का अभिधान करना होगा। इसी प्रकार उक्त पदार्थों के लक्षणवाक्यगत अनेक पदार्थों के भी लक्षण करने होंगे। अतः कहीं भी लक्षण के निर्माण की समाप्ति ही न होगी।

ननु प्रतिवादनं प्रति लक्षणाभिधानं नार्थवत्, तेन वाद्याप्तभावानङ्गीकारात्। किन्तु शिष्यार्थं लक्षणमुच्यते शास्त्रे। स हि शास्त्रस्य कर्तारमाप्तमेव मन्यते। तस्मात् शिष्यं प्रत्याप्तवचनतयैव लक्षणवाक्यमर्थं प्रतिपादयिष्यति गुरुणा गीयमानम्—'यस्त्वया साक्षात्कारिशब्दार्थः प्रतीतः, स एव प्रत्यक्षशब्दार्थः' इति। मैवम्; यदि वादिनं प्रति न शास्त्रं किन्तु शिष्यं प्रति, तदा प्रतिज्ञामात्रादेवाऽऽप्तवचनात् शिष्यस्यार्थनिश्चयोत्पत्तेः हेत्वाद्यभिधानमनर्थकमापन्नं शास्त्रे।

अथ भवतु तत्प्रतिवादिनमपि प्रति शास्त्रे वाक्यं यत्र हेत्वाद्युपात्तम्। लक्षणवाक्यन्तु शिष्यमेव प्रति प्रयोजकं प्रतिपन्नशास्त्रकाराप्तभावमिति मन्यसे। तदप्यनुपपन्नम्; शास्त्रान्तरसाध्यत्वादस्यार्थस्य। अस्ति समयग्राहकं शास्त्रं मुनिभिः प्रणीतं नामलिङ्गानुशासन-व्याकरणादि। यदि च शास्त्रान्तरसाध्योऽप्यर्थो भवदीयशास्त्रस्य विषयः, तर्हि प्रकृतिप्रत्ययविभागेन साधनमपि शब्दानां कुतो न व्युत्पाद्यते, लिङ्गं वा शब्दानां कुतो नाभिधीयते ? तदज्ञानेऽपि पराजयो जायत एव।

समर्थन—प्रतिवादी के लिए लक्षण का अभिधान नहीं है, क्योंकि वह वादी को आप्त ही नहीं मानता। किन्तु शिष्य के लिए ही शास्त्र में लक्षण कहा जाता है। वही शास्त्रकर्ता को आप्त मानता है। अतः गुरु के द्वारा कहा गया लक्षणवाक्य आप्तवचन रूप से ही इस प्रकार अर्थ-प्रतिपादन करता है कि 'तुम साक्षात्कारी शब्द का जो अर्थ जानते हो, वही प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ है।' *खण्डन*—यदि शास्त्र वादी के लिए नहीं, अपितु शिष्य के लिए है, तो प्रतिज्ञामात्र से ही आप्तवचनत्वेन शिष्य अर्थ का निश्चय कर लेगा। एवञ्च शास्त्र में हेतु आदि का अभिधान अनर्थक हो जायगा।

समर्थन—जिस शास्त्रीय वाक्य में हेतु आदि का अभिधान हो, वह भले ही प्रतिवादी के लिए रहे। किन्तु लक्षणवाक्य तो उसी शिष्य के लिए है, जो शास्त्रकर्ता को आप्त जानता है। *खंडन*—आपके इस कथन के अनुसार तो लक्षणनिर्माण का प्रयोजन संकेतग्रह ही हुआ। वह युक्त नहीं, क्योंकि यह प्रयोजन शास्त्रान्तरसाध्य है। मुनियों द्वारा प्रणीत नामलिङ्गानुशासन (कोश), व्याकरण आदि बहुत से शास्त्र शक्तिग्राहक हैं ही। यदि अन्य शास्त्र से बोध्य अर्थ भी आपके शास्त्र के विषय हों, तो आप प्रकृति-प्रत्यय के विभाग द्वारा शब्दों का साधन क्यों नहीं करते और शब्दों के लिङ्ग भी क्यों नहीं बताते ? कारण, उनके अज्ञान से भी तो पराजय होती ही है।

अथ वाऽस्तु व्याकरणादिविषयं विहाय नामव्युत्पादनं कथमपि भवच्छास्त्रस्य विषयः ; तथापि न्यूनतरत्वमस्मिन् विषये भवदीयशास्त्रस्य—बहूनि नामानि विद्यन्ते कोषान्तरवर्तीनि, कुतो न व्युत्पादितानि तानीति । अथास्मिन् शास्त्रे येषां शब्दानामुपयोगस्तेषामनेन व्युत्पादनम् , न सर्वेषामित्युच्यते; तथापि यथैक-वाक्यगतस्य पदस्य लक्षणव्युत्पादनमेवं तल्लक्षणवाक्यगतपदस्यापीति अपर्य-वसानमापतितं शास्त्रस्य, तत्तल्लक्षणवाक्यप्रयोग एव तेषां तेषां पदानां शास्त्रे जातोपयोगत्वात् ।

अथ नानालक्षणप्रणेतॄणां वादिनां विप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिशब्दार्थ एव व्युत्पाद्यते संशयनिरासाय; नान्योऽसंशयत्वादिति मन्यसे; तथाप्यनुपपत्तिः । अस्ति हि वाऽऽदीनामर्थे वाच्यता-द्योत्यताविवादः । अस्ति च छिदुरादिपदानामर्थे कर्मकर्तृत्वाकर्मकर्तृत्वे विवादः । अस्ति च भावशब्दस्य स्वरूपसत्त्वसत्तासामान्या-द्यर्थत्वे । अस्ति चाधिकरणशब्दार्थस्य पतनप्रतिबन्धकत्वसमवायित्वादौ ।

अथवा शब्द-साधुत्वादि व्याकरण शास्त्र के विषयों को छोड़ दें और केवल नामव्युत्पादन ही कथञ्चित् आपके शास्त्र का विषय मान लें, तो भी इस विषय में आपके शास्त्र की न्यूनता ही रही कि अन्य भी बहुत से नाम कोशों में हैं, उनका व्युत्पादन आपने क्यों नहीं किया ? यदि कहें कि 'जिन शब्दों का प्रकृत शास्त्र में उपयोग है, उन्हींका निरूपण यहाँ किया गया है, अन्य का नहीं', तो जैसे 'अव्यभिचारि-साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षम्' इस वाक्यगत 'प्रत्यक्ष' पद का लक्षण (अर्थ-व्युत्पादन) किया जाता है, वैसे ही उस लक्षणवाक्यगत पदों के भी लक्षणान्तर करने होंगे। इस रीति से शास्त्र का कहीं पर्यवसान ही न होगा । पदान्तर-व्युत्पादन का कोई उपयोग नहीं, ऐसी भी बात नहीं; उन-उन लक्षणवाक्यों के प्रयोग में ही उन-उन पदों का उपयोग है ही ।

समर्थन—नाना प्रकार के लक्षण-प्रणेता वादियों की प्रत्यक्षादि-लक्षणों में विप्रतिपत्तियाँ होने से सन्देह के निरासार्थ ही प्रत्यक्षादि शब्दों के अर्थों का निरूपण करते हैं, अन्य का नहीं । कारण, अन्यत्र सन्देह ही नहीं है । *खंडन*—यदि सन्दिग्ध का ही निरूपण करना है, तो 'च, वा' आदि निपातों के अर्थों में भी वाच्यत्व-द्योत्यत्व का विवाद है । 'छिदुर' आदि शब्दों में कर्तृप्रत्यय है या कर्मकर्तृ-प्रत्यय यह विवाद है । इसी तरह 'भाव'शब्द स्वरूपसत् का या सत्तासामान्यविशिष्ट का वाचक है, यह विप्रतिपत्ति है तथा 'अधिकरण' शब्द द्रव्यसमवायी का वाचक है या पतनप्रतिबन्धक

एवमन्यस्मिन्नपि बहौ पदार्थे जाग्रति विप्रतिपत्तयः, तल्लक्षणानि कस्मान्नोक्तानि ? तदास्तामेकत्र विस्तराभिनिवेशः ।

तृतीय प्रत्यक्षलक्षण-खण्डनम्

किञ्च तत्साक्षात्कारित्वम् ?

सविशेषार्थप्रकाशत्वमिति चेन्न । सविशेषत्वस्योपलक्षणत्वेऽनुमानादिव्याप्तिः । विशेषणत्वे च यदि विशेषशृङ्खलाया विश्रान्तिस्तदा शेषविशेषस्य बोधे प्रत्यक्षलक्षणक्षीणत्वेन आमूलमप्रत्यक्षतापातः । यद्यविश्रान्तिस्तदा तादृशस्यैव व्याप्तिग्रहादनुमायामपि तादृशीसिद्धिरिति साक्षात्कारित्वापत्तिः ।

वस्तु का वाचक, यह विवाद है । ऐसे ही अन्य बहुत-से पदार्थों में विप्रतिपत्तियाँ हैं । फिर उन सबका निरूपण आप क्यों नहीं करते ? तस्मात् एकत्र (प्रत्यक्ष-लक्षणमात्र में) विस्तार का अभिनिवेश व्यर्थ ही है ।

तृतीय प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन

किञ्च—जिस 'साक्षात्कारित्व' को आप प्रत्यक्ष का लक्षण कहते हैं, वह साक्षात्कारित्व ही क्या है ? अर्थात् विकल्पासह होने से उसका निर्वचन ही नहीं किया जा सकता ।

समर्थन—वर्तुलत्व, पृथुबुध्नोदरत्व आदि विशेषों से सहित जो घटादि विषय हैं, उनका ज्ञान ही साक्षात्कारी पदार्थ है । *खंडन*—विशेष के साहित्य को यदि उपलक्षण मानें, अर्थात् विशेष जिसमें स्वरूप से रहता हो—विशेष भी ज्ञान में भासता हो, यह नियम नहीं है—यदि ऐसा मानें, तो अनुमिति आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । कारण अनुमिति के विषय वह्नि आदि में भी वस्तुरूप से विशेष विद्यमान ही है । यदि विशेष के साहित्य को विशेषण मानें, तो विशेषशृङ्खला (परम्परा) का कहीं विश्राम मानते हैं या नहीं ? कहीं विश्राम मानें, तो जिस विशेष में अन्य विशेष नहीं है, उस विशेष का ज्ञान प्रत्यक्ष न होगा । अतः उस विशेष अंश में उस विशेष से विशिष्ट का ज्ञान भी प्रत्यक्ष न कहलायेगा । इसी तरह मूलप्रत्यक्ष-पर्यन्त उस विशेष अंश में प्रत्यक्षता नहीं होगी । यदि विशेषशृङ्खला का विश्राम न मानें, तो अनवस्था दोष का प्रसङ्ग होगा । किञ्च—सभी विशेष स्वविशेष के साथ ही प्रत्यक्ष में भासेंगे । एवञ्च यावत् विशेषविशिष्ट साध्य-साधन में ही व्याप्तिग्रह होने से अनुमिति में भी यावत् विशेषों का भान हो जायगा । अतः अनुमिति में भी साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षत्व) हो जायगा ।

अथाननुगमात्तत्र न तदनुमा; तर्हि तदनुगतप्रतीत्याद्यनुपपत्तिः, व्यक्तेरनुमानादसिद्ध्यापत्तिश्च। यथा हि व्यक्तिं विना सामान्यस्य, तथा तावत् तं विशेषं विना व्यक्तेरप्यनुपपत्त्यविशेषात्। यदि च प्रतीत्यपर्यवसानाभावात् पक्षधर्मतया नानन्तविशेषसिद्धिरिति मन्यसे; तदा प्रतीतापर्यवसानात् तद्बुद्धिः साक्षात्प्रकाशः स्यात्।

अप्रतिपद्यमानानन्तविशेषप्रकाशकल्पनाच्च एकाकिसाक्षात्त्वनामकविशेषकल्पनैवाल्पत्वात् श्रेयसितरा। साक्षात्त्वव्यवहारान्यथानुपपत्तेः कल्पनाबीजस्य तावताऽपि चरितार्थत्वादिति कृत्वा तत्कल्पनाऽपि नात एव। विस्तरश्चात्र वक्ष्यते।

समर्थन—विशेष अनन्त हैं, उनमें एक अनुगत रूप नहीं है। अतः अनुमिति में उनका भान नहीं होगा। *खण्डन*—यदि विशेष का अनुमिति में भान नहीं होता, तो व्यापक विशेषविषयक 'अग्निमान् अयम्' इत्याकारक प्रतीति या व्यवहार भी अनुपपन्न हो जायगा।

किञ्च—अनुमान से व्यक्ति की सिद्धि भी नहीं होगी। यदि कहें कि व्यक्ति का भान सामान्य के भान के विना अनुपपन्न है, अतः सामान्यविषयक अनुमिति में व्यक्ति भी भासती है, तो अविशेषात् तावद्-विशेष के बिना व्यक्ति भी अनुपपन्न ही है। इसलिए व्यक्तिविषयक अनुमिति में तावद्-विशेष के भान का प्रसङ्ग हो जायगा। यदि कहें कि विशेष के भान के बिना भी व्यक्ति का भान हो सकता है, अतः अनुपपत्ति के न होने से अनुमिति में विशेष का भान नहीं होता, तब व्यक्ति भी विशेष के बिना अनुपपन्न है; अतः व्यक्ति की अनुपपत्ति से विशेष की जो कल्पना है, वह विशेषविषयक होने से प्रत्यक्ष हो जायगी।

किञ्च—साक्षात्त्व-व्यवहार की उपपत्ति लाघवात् विषयनिष्ठ एक साक्षात्त्वधर्म की कल्पना से ही सिद्ध है। फिर अनन्त विशेषों की कल्पना में कुछ भी प्रमाण नहीं है।

समर्थन—विशेष की सिद्धि अप्रस्तुत है, अतः उसकी असिद्धि से कोई हानि नहीं है। प्रस्तुत प्रत्यक्ष का लक्षण है, उसकी उपपत्ति साक्षात्त्व की कल्पना से हो सकती है। *खंडन*—यदि आप प्रत्यक्षत्व-व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से अर्थगत साक्षात्त्व की कल्पना या अनुमिति करें, तो वह कल्पना या अनुमिति साक्षात्त्वविषयक होने से प्रत्यक्ष हो जायगी। किञ्च—अनिर्वचनीय साक्षात्त्व से ही साक्षात्-व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है, अतः अर्थगत वस्तुभूत साक्षात्त्व में कुछ प्रमाण भी नहीं है। इस विषय को विस्तार से आगे कहेंगे।

विशेषश्च यदि व्यवच्छेदस्तदा निर्विकल्पकाव्याप्तिः । यदि च विश्वव्यावृत्तस्वरूपप्रकाशात् सोऽपि तथा, तदा दूरे सामान्यप्रत्यक्षस्याप्रत्यक्षत्वापातः, तत्र जगद्वैलक्षण्यप्रकाशे संशयाद्यनुपपत्तेः । यदि तत्रापि प्रतिपत्त्रादिव्यवच्छेदमात्रप्रकाशाद् विशेषप्रकाशत्वमेव, तदाऽनुमित्यादिव्याप्तिः ।

चतुर्थ-प्रत्यक्षलक्षण-खण्डनम्

अथ इन्द्रियकरणकानुभूतित्वम् । तत्र साक्षात्कारिधीकरणस्यैवेन्द्रियत्वेन अन्योन्याश्रयत्वापत्तिरिति केचित् । तन्न; अज्ञातप्रमाकरणत्वस्य भावत्वविशेषितस्येन्द्रियत्वनिरुक्तेः सम्भवात् । विना कार्यगतविशेषसिद्धिं किं प्रति करणत्वमेव ज्ञेयमिति तु बाधः साधीयान् ।

किञ्च—यदि 'स्व से जो इतर, उससे व्यवच्छेद' (भेद) को विशेष कहें, तो निर्विकल्पक ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि उसमें इतर-व्यवच्छेद का भान नहीं होता। यदि इतरव्यावृत्तस्वरूप को विशेष कहें और निर्विकल्पक में इतरव्यावृत्तस्वरूप का भान होने से अव्याप्ति नहीं है—ऐसा मानें, तो भी दूरतः सामान्यरूप से प्रतीत होनेवाले प्रत्यक्ष में अर्थात् 'चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा' इत्यादि स्थलों में अव्याप्ति हो जायगी । कारण, वहाँ (सामान्य प्रत्यक्ष में) स्व से इतर यावत् पदार्थ से व्यावृत्तत्व रूप से स्वरूप नहीं भासता । अन्यथा सामान्य प्रत्यक्ष के उत्तर कहीं भी संशय या विपर्यय नहीं होगा । यदि कहें कि किञ्चित् प्रतिपत्ता (ज्ञाता) आदि से व्यावृत्तत्व रूप से स्वरूप की प्रतीति होती है, अतः सामान्यज्ञान प्रत्यक्ष ही है, तो अनुमिति में भी प्रतिपत्तादि से व्यावृत्तत्व रूप से ही वह्न्यादि स्वरूप का भान होने के कारण अनुमिति भी प्रत्यक्ष हो जायगी ।

चतुर्थ प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन

समर्थन—कुछ लोग 'जिस ज्ञान की करण इन्द्रिय हो, वह प्रत्यक्ष है' इस लक्षण में 'प्रत्यक्ष ज्ञान का जो करण वह इन्द्रिय है' ऐसा इन्द्रिय का लक्षण होने से अन्योन्याश्रय दोष देते हैं । किन्तु वह युक्त नहीं, कारण 'अज्ञात रूप से जो प्रमा की करण हो, वह इन्द्रिय है' या 'अज्ञात रूप से भावरूप प्रमा की जो करण हो, वह इन्द्रिय है' ऐसा इन्द्रिय का लक्षण हो ही सकता है । एवञ्च इस लक्षण में कोई बाधा नहीं । *खंडन*—यहाँ कार्यभूत प्रमा का भी निवेश है, अतः जबतक प्रमा का ज्ञान न हो, तबतक उक्त लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि प्रमा का ज्ञान अन्य किसी चिह्न से मानें, तो उसी चिह्न को लक्षण मान लें, यह लक्षण व्यर्थ है । यदि अन्यतः उसका ज्ञान न मानें, तो विशेषण असिद्ध होने से विशिष्ट लक्षण भी असिद्ध ही रह जायगा ।

एतेन ज्ञातता काचिद्विलक्षणा, तज्जनकत्वं ज्ञानस्य साक्षात्त्वमिति निरस्तम्। ऐकरूप्याव्यवस्थितौ कारणत्वानवधारणात्। न च ज्ञाततावैलक्षण्यान्यथानुपपत्तेरेव तत्सिद्धिः; कारणान्तरवैलक्षण्यादेव तदुपपत्तेः।

नापि मेयजनितत्वम्; अतिप्रसङ्गात्। स्वमेयजत्वे च स्वार्थव्यावृत्त्याऽननुगमात्, पूर्वदोषानिवृत्तेश्च।

अथ येन प्रमिते सति न प्रमित्सा पुनर्भवति, तज्ज्ञानं साक्षात्कारीति। तन्न; प्रत्यक्षावगतेऽपीष्टे तनयादौ प्रमित्सादर्शनात्।

अथ यदनन्तरं न विजातीयप्रमित्सा, तद्भावस्तथात्वम्। तन्न; तत्साजात्या-

समर्थन—'अपरोक्ष-व्यवहार की जनक अर्थनिष्ठ जो विलक्षण ज्ञातता है, उसका जनक ज्ञान प्रत्यक्ष है।' *खंडन*—जबतक जनक प्रमा में ऐकरूप्य (अवच्छेदक धर्म) का ज्ञान न हो, तबतक जनकत्व का ज्ञान न होगा। एवञ्च जनकत्वघटित उक्त लक्षण का ज्ञान भी नहीं होगा। यदि कहें कि अनुमिति के विषय में स्थित ज्ञातता से विलक्षण ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से प्रमागत विलक्षण ऐक्य का आक्षेप होगा, तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि इन्द्रिय, परामर्श आदि कारणों के वैलक्षण्य से ही ज्ञातता के वैलक्षण्य की उपपत्ति हो जाने से वैलक्षण्य की अन्यथानुपपत्ति ही नहीं है।

समर्थन—'मेय (अर्थ) से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है।' *खण्डन*—आत्मरूप मेय से सभी ज्ञान जन्य हैं, अतः सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हो जायँगे। *समर्थन*—स्वमेय से जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहेंगे। आत्मा स्वमेय नहीं है, अतः अन्य ज्ञानों में अतिव्याप्ति नहीं। *खंडन*—यदि स्वशब्द को तत्तद् ज्ञानव्यक्तिपरक मानें, तो जिस ज्ञानव्यक्ति का स्वशब्द से उपादान करेंगे, उससे अन्यत्र अव्याप्ति हो जायगी। यदि स्वशब्द से ज्ञानमात्र का उपादान करें, तो यत्किञ्चित् ज्ञान का विषय आत्मा भी है, अतः ज्ञानमात्र प्रत्यक्ष हो जायँगे।

समर्थन—'जिस ज्ञान से प्रमित अर्थ की पुनः प्रमित्सा (यथार्थज्ञान की इच्छा) न हो, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।' *खंडन*—पुत्र आदि अतिप्रिय वस्तुओं का एकबार अवलोकन होने पर भी पुनः अवलोकन की इच्छा होती है। अतः पुत्र आदि के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'जिस ज्ञान से प्रमित वस्तु में विजातीय प्रमिति की इच्छा न हो, वह प्रत्यक्ष है। पुत्रदर्शन के बाद पुनः उसके दर्शन की इच्छा होने पर भी विजातीय अनुमिति आदि की इच्छा नहीं होती। अतः पुत्रावलोकन में अव्याप्ति नहीं है। *खण्डन*—जबतक

नवगतौ तद्विजातीयानवगतेः, अरिसम्पद्यनुमादिविषयायां प्रत्यक्षयितुमनिष्टेश्च। प्रत्यक्षावगतेऽपि दहने रक्ताशोकस्तबकसन्देहे धूमदर्शनेन वह्नेरनुमीयमानत्वादित्यप्येके।

अज्ञायमानासाधारणकारणकानुभवत्वं कारणविशेषणीकृतभावत्वं वा साक्षात्कारित्वमिति चेन्न। दीर्घादिप्रत्यक्षाव्यापनात्, तत्रावधिप्रभृतेः प्रतीयमानस्यापेक्षणात्।

नावधिस्तत्र ज्ञायमानस्तथा, अवधिज्ञानं तु स्यात्। अतीतादावप्यवधौ तथा-

प्रत्यक्षनिष्ठ समान जाति का ज्ञान न हो, तबतक प्रत्यक्ष के विजातीयत्व से घटित उक्त लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि उक्त लक्षण से साजात्य का ज्ञान मानें, तो उक्त लक्षण से साजात्यज्ञान तथा साजात्य के ज्ञान से उक्त लक्षण का ज्ञान इस रीति से अन्योन्याश्रय हो जायगा। यदि अन्य से साजात्य का अवगम हो, तो प्रथम उपस्थित (ज्ञात) होने से वही लक्षण रहे, यह लक्षण व्यर्थ है। किञ्च—शत्रुधन की अनुमिति होने पर भी विजातीय प्रत्यक्ष ज्ञान की इच्छा नहीं होती, अतः उसकी अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी। किंच—जहाँ प्रत्यक्ष से वह्नि का सामान्यतः अवगम हो गया हो, वहाँ भी वह्नि में रक्ताशोक के स्तबक (गुच्छ) का सन्देह होने पर धूम से अनुमिति होती है। अतः उस प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।

समर्थन—'जिस अनुभव का असाधारण कारण अज्ञात हो, वह प्रत्यक्ष है' अथवा 'जिस अनुभव का भावरूप असाधारण कारण अज्ञात हो, वह प्रत्यक्ष है।' [जो अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानते हैं, उनके मत में अभाव-प्रमा में प्रत्यक्ष-लक्षण की अव्याप्ति के वारण के लिए असाधारण कारण में भावत्व विशेषण देकर इस द्वितीय लक्षण का प्रणयन है।] *खण्डन*—'अयं दण्डो ह्रस्वः', 'अयं दीर्घः' इस प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि इस प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान की अपेक्षा है।

समर्थन—इस प्रत्यक्ष में ज्ञात अवधि कारण नहीं, किन्तु अवधि का ज्ञान कारण है; क्योंकि अतीत, अनागत अवधि से भी ह्रस्वादि का ज्ञान होता है। *खंडन*—अतीत, अनागत धूमस्थल में वह्नि की अनुमिति होने से ज्ञात धूम भी अनुमिति का करण नहीं; किन्तु धूम का ज्ञान ही अनुमिति का कारण है। अतः अनुमिति अज्ञातकरणक होने से उसमें प्रत्यक्ष-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

प्रत्ययादिति चेत्; तुल्यं लिङ्गे धूमादावपि, धूमदर्शनात् 'तत्राग्निरासीदि'ति पश्चादप्यनुमानात्। ज्ञानविशेषणतया तु ज्ञेयहेतुता तुल्यैवेति।

असाधारणकारणगिरा करणमभिमतमिति चेन्न। अनुमितभाविलिङ्गकभाविलिङ्ग्यनुमितौ असतो लिङ्गस्य करणत्वासम्भवेन ज्ञायमानकरणकत्वाभावात्।

लिङ्गज्ञानं तावत्करणम्, तच्च स्वप्रकाशवादिनो मम ज्ञायमानमेव तत्रेति चेन्न। तस्यापि ज्ञायमानतया करणकोटिप्रवेशे प्रमाणाभावात् उक्तप्रत्ययानां तथात्वाभावात्।

अन्यथासिद्धस्यापि ज्ञायमानत्वस्यावर्ज्जने चक्षुराद्यनुमित्यनन्तरं दैवोपजातघटादिप्रत्यक्षाव्यापनात्।

समर्थन—धूमज्ञान का विशेषण धूम ज्ञात ही अनुमिति का कारण होता है। अतः ज्ञातकरणक होने से अनुमिति में अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खंडन*—अवधिज्ञान का विशेषण अवधि भी ज्ञात ही करण होती है। अतः तुल्ययुक्ति से ह्रस्वादि प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'असाधारण कारण' शब्द ही 'करण'परक है। ह्रस्वादि-प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान करण नहीं, किन्तु इन्द्रिय करण हैं और वे अज्ञात ही हैं। अतः ह्रस्वादि-प्रत्यक्ष में अव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—जिस यज्ञशाला में होमसामग्री से भावी धूम की अनुमितिकर पश्चात् वह्नि की अनुमिति होती है, वहाँ उस काल में असत् धूम करण हो ही नहीं सकता। किन्तु धूमज्ञान ही करण है और वह अज्ञात ही करण होता है। अतः उस अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—लिङ्गज्ञान ही करण है और ज्ञान को स्वप्रकाश माननेवाले हमारे मत में वह ज्ञात ही करण होता है। अतः अनुमिति के ज्ञातकरणक हो जाने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं है। *खंडन*—लिङ्गज्ञान अनुमिति में ज्ञातरूप से करण है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि स्वप्रकाश होने से लिङ्गज्ञान ही ज्ञातरूप से स्व के करण होने में प्रमाण है, तो वह युक्त नहीं। कारण, स्वप्रकाश होने से इतना ही सिद्ध होगा कि अनुमिति के जननकाल में लिङ्गज्ञान ज्ञात रहता है। ज्ञातरूप से करण है, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती।

समर्थन—लिङ्गज्ञान ज्ञातरूप से करण न हो, अनुमिति के जननकाल में ज्ञात तो होता ही है। अतएव ज्ञातकरणक हो जाने से अनुमिति में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—जिस स्थल में 'रूप का प्रत्यक्ष करणजन्य है, कार्य होने से, घटादि के तुल्य' इस प्रकार चक्षुरादि की अनुमिति होती है, वहाँ दैववश या रूपप्रत्यक्षरूप प्रमाण के बल से कदाचित् घटादि प्रत्यक्ष भी हो जाता है। फलतः उस प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी। अतः आप को कहना होगा कि जिस ज्ञान का करण

नियमेनेति चेन्न । विधौ वैयर्थ्यात् । नियमेन निषेधस्य विशेषणे दैवावगतेन्द्रियज्ञानानन्तरजप्रत्यक्षसम्भवादसिद्धिः । विधौ करणान्वप्रविष्ट एवायं नियमो निरुच्यत इति चेन्न । तथापि वैयर्थ्यादेव ।

अन्यथाऽतिप्रसक्तेरवैयर्थ्यमिति चेन्न । तथाप्यतिप्रसक्तेरेव । न हि रसादिसाक्षात्कारे रूपादिर्हेतुः ।

अन्यथासिद्धेर्नेति चेन्न । तुल्यत्वादनुमानेऽपि ।

अन्यथासिद्ध ज्ञान का अविषय हो, वही प्रत्यक्ष है । तब तो धूमज्ञान भी ज्ञातरूप से करण न होने से अनन्यथासिद्ध ज्ञान का अविषय है । अतः अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—लक्षण में 'नियम' का निवेश करने पर चक्षुरादि की अनुमिति के उत्तर जायमान घट के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—'जिस ज्ञान का करण नियम से ज्ञात न हो, वह प्रत्यक्ष है' इस प्रकार नियम ज्ञानरूप विधि (भाव) का विशेषण है अथवा 'नियम से जिस ज्ञान का करण अज्ञात है वह प्रत्यक्ष है' इस प्रकार ज्ञात के अभावरूप निषेध का विशेषण है ? यदि नियम को विधि का विशेषण कहें, तो नियम का निवेश व्यर्थ है, क्योंकि नियतपूर्ववर्ती को ही करण कहते हैं । अतः करण के लक्षण में नियम का पहले से ही प्रवेश होने से पृथक् नियम-निवेश व्यर्थ है 'नियम से जिसका करण अज्ञात हो' यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं । कारण, चक्षुरादि की अनुमिति के बाद दैववश ज्ञात घटप्रत्यक्ष में व्यभिचार होने से अव्याप्ति हो जायगी

समर्थन—ज्ञायमानत्व करण का विशेषण है (उपलक्षण नहीं), यह बताने के लिए ही 'नियम' पद की सार्थकता है । *खंडन*—'ज्ञायमानकरणकम्' इतना कहने से ही ज्ञान की विशेषणता भी प्राप्त हो जाती है । तदर्थ 'नियम' पद का प्रक्षेप फिर भी व्यर्थ ही है

समर्थन—करण में ज्ञान को विशेषणमात्र न मानें, तो उपलक्षित ज्ञान में करणत्व का निषेध न होने से इन्द्रिय की अनुमिति के बाद दैववश ज्ञात घट के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी । अतः ज्ञान के विशेषणत्वमात्र बोधन के लिए नियम का पृथक् निवेश अवश्य होना चाहिए । *खंडन*—यदि अवर्जनीय सिद्ध को लेकर भी अतिप्रसक्ति दें, तो रस-साक्षात्कार में रूप भी करण हो जायगा, क्योंकि वह ईश्वर के ज्ञान का विषय होने से नियम से ज्ञात है । अतः रस-साक्षात्कार में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—रस-साक्षात्कार में रूप अन्यथासिद्ध है, करण नहीं । अतः वहाँ अव्याप्ति नहीं होगी । *खंडन*—तुल्ययुक्त्या परामर्श भी अनुमिति का ज्ञात करण नहीं है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी । यद्यपि परामर्श स्वप्रकाश होने से ज्ञात ही रहता है, तथापि ज्ञातत्वेन करण न होने से परामर्श का ज्ञान अन्यथासिद्ध है, करण नहीं ।

किञ्च—यत्र निषेधस्तद्गतमैकरूप्यं निरूप्यम्, अन्यथा किमादाय नियमो निरूप्येतेति कार्यगतैकरूप्यमनभिधाय न निस्तारः। विनाऽपि च नियमपदप्रवेशं कार्यगतैकरूप्यमनिरूप्याऽनिस्तार एव। ज्ञायमानं नात्र करणमिति हि यदि कार्यव्यक्तिमभिसन्धाय तदा तत्पूर्वं प्रतीतानां तत्राकारणत्वं दुरवधारणम्। ततस्तज्जातीये तज्जातीयव्यभिचारप्रतिसन्धानेऽवश्यं यतनीयमिति।

अथाऽव्यवहितार्थप्रमात्वं तथा; तर्हि किमपेक्ष्याव्यवधानम्, किञ्च तदिति वाच्यम्। इन्द्रियमपेक्ष्य तत्, असन्निकर्षश्च तदिति चेत्; तर्हीन्द्रियसन्निकृष्टप्रकाशत्वमिति कुटिलिकार्थः। स चानुपपन्नः, स्वविलोचनगोलकानुमानव्याप्तेः।

पञ्चम-प्रत्यक्षलक्षण-खण्डनम्

ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं तदिति चेन्न। सविकल्पकविशेषाव्यापनात्।

किञ्च—जिस प्रत्यक्षज्ञान के करण में ज्ञातत्व का निषेध आप करते हैं, उस ज्ञान में जबतक ऐकरूप्य का ज्ञान न हो, तबतक किस धर्म को उद्देश्यता का अवच्छेदक मानकर निषेध करेंगे ? अतः प्रत्यक्षगत ऐकरूप्य के निरूपण के बिना उक्त लक्षण का निर्वाह नहीं हो सकता। फिर 'नियम' पद का निवेश न करें, तो भी जबतक ऐकरूप्य का ज्ञान न हो, तबतक 'जिस ज्ञान का करण अज्ञात हो, वह प्रत्यक्ष है' इस लक्षण का भी निर्वाह नहीं हो सकता। कारण, यदि 'जिस प्रत्यक्ष व्यक्ति का करण ज्ञात न हो वह प्रत्यक्ष है,' इस प्रकार व्यक्तिघटित लक्षण करें, तो इन्द्रिय की अनुमिति के उत्तर होनेवाले घटादि-प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी। अतः आप 'यद्-ज्ञानजातीय का करणजातीय ज्ञात न हो' इसी प्रकार व्यभिचार (प्रत्यक्ष के करण में ज्ञातत्व के निषेध) का प्रतिसन्धान करेंगे। किन्तु वह प्रत्यक्षत्व-ज्ञान के बिना हो नहीं सकता।

निर्वचन—'अव्यवहित जो अर्थ उसकी प्रमा, प्रत्यक्ष है।' *खण्डन*—इस लक्षण में 'अव्यवधान' क्या वस्तु है और वह अव्यवधान किसकी अपेक्षा अभिप्रेत है ? यदि इन्द्रिय की अपेक्षा अव्यवधान का ग्रहण करें और असन्निकर्ष को अव्यवधान कहें, तो 'इन्द्रियसन्निकृष्ट अर्थ का प्रकाश प्रत्यक्ष है,' यही इस कुटिलिका (वक्रोक्ति) का सरल अर्थ हुआ। वह अपने लोचन के गोलक की अनुमिति में अतिव्याप्त होने से अयुक्त है।

पञ्चम प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन

निर्वचन—'ज्ञान से अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है' ऐसा कहेंगे। *खण्डन*—'ज्ञान' पद से यदि ज्ञानसामान्य का ग्रहण करें, तो निर्विकल्पक ज्ञान से जन्य होने से सविकल्पक ज्ञानमात्र में अव्याप्ति हो जायगी। यदि सविकल्पक ज्ञान का ग्रहण करें, तो भी अभाव आदि का ज्ञान सविकल्पक प्रतियोगिज्ञान से जन्य होता है। अतः उसमें अव्याप्ति हो जायगी।

एतेन विषयान्तरज्ञानाजन्यत्वं तदिति प्रत्युक्तम्। सविकल्पकस्याधिक-व्यवच्छेदरूपविषयत्वात् तदवधिज्ञानजन्यत्वात्।

स्वविषयानन्तर्गतार्थज्ञानाजन्यधीत्वं तत्। न च सप्रतियोगिकार्थप्रत्यक्षाव्याप्तिः, प्रतियोगिनोऽपि विशिष्टार्थप्रविष्टस्य तत्ताया इव प्रत्यभिज्ञायां प्रत्यक्षविषयत्वोपगमात्; अप्रतियोगित्वेन विशेषणाद्वेति चेत्।

न; स्वपदेनैव द्वारीकृतत्वात्, कार्यव्यक्तौ अजन्यताया दुरवधारणत्वाच्च।

समर्थन—'स्वविषय से अन्य जो विषय, उसके ज्ञान से अजन्य जो ज्ञान, वह प्रत्यक्ष है।' *खण्डन*—सविकल्पक ज्ञान भी स्वविषय अतद्व्यावृत्ति से अन्य जो वस्तुमात्र, तद्विषयक निर्विकल्पक ज्ञान से जन्य होता ही है। अतः सविकल्पक में अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—अतद्व्यावृत्ति तद्भिन्न-भेदरूप है और भेदज्ञान नियमतः प्रतियोगिज्ञान से जन्य होता है। अतः अतद्व्यावृत्तिविषयक सविकल्पक ज्ञान प्रतियोगि-ज्ञान से जन्य होने के कारण उसमें अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'स्वविषय के अनन्तर्गत जो अर्थ, तद्विषयक ज्ञान से अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है' ऐसा लक्षण करेंगे। एवञ्च इस लक्षण के प्रतियोगिज्ञान से जन्य अभाव-ज्ञान में अव्याप्ति नहीं है, क्योंकि जैसे प्रत्यभिज्ञा में तत्ता भासती है, वैसे ही अभाव-ज्ञान में प्रतियोगी भी भासता है। अतः प्रतियोगी स्वविषय के अनन्तर्गत नहीं है। अथवा 'स्वविषय के अनन्तर्गत जो प्रतियोगी से भिन्न अर्थ, उससे अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है' ऐसा निवेश करें, तो भी कोई दोष नहीं होगा।

खण्डन—स्वपद को यदि ज्ञानसामान्यपरक मानें, तो ज्ञान के विषय के अनन्तर्गत जो अर्थ, तद्विषयक ज्ञान से अजन्य होने से अनुमित्यादि में अव्याप्ति हो जायगी। अथवा ज्ञान के विषय के अनन्तर्गत जो अर्थ, तद्विषयक ज्ञान की असिद्धि होने से असम्भव हो जायगा। यदि स्वपद को ज्ञानव्यक्तिपरक कहें, तो जिस ज्ञानव्यक्ति का स्वपद से उपादान करेंगे, उससे अन्य व्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—अन्वयव्यतिरेक से कार्यकारणभाव गृहीत होता है। यदि कारणव्यक्ति के कार्य व्यक्ति में अन्वय-व्यतिरेक से कार्यकारणभाव का ग्रहण मानें, तो इन्द्रियानुमितिरूप ज्ञान का स्व से उत्तर दैववश उत्पन्न घटप्रत्यक्ष व्यक्ति में अन्वय-व्यतिरेक होने से उक्त प्रत्यक्ष में ज्ञान के अजन्यत्व का ग्रहण नहीं होगा, जिससे अव्याप्ति हो जायगी। यदि ज्ञानजातीय का प्रत्यक्षजातीय में अन्वय-व्यतिरेक न होने से प्रत्यक्ष में ज्ञान से अजन्यत्व का ग्रहण

तज्जातीये तज्जातीयव्यभिचारशङ्काग्रहे च कार्यैकजात्ये च पूर्ववत्पतनमिति।

स्वकालावच्छिन्नार्थबोधत्वं साक्षात्त्वमित्यपि न। स्वार्थाविवेचनात्। कथञ्च अनुमानादिव्यवच्छेदः?

तत्र व्याप्त्यादिप्रविष्टकालनियतार्थत्वम्, यत्रापि चन्द्रोदयसमुद्रवृद्ध्यादौ स्वकालार्थत्वं तत्रापि व्याप्तिप्रविष्टैव तादृशत्वस्य प्रयोजिकेति चेन्न। कथमप्यस्तु, तथापि स्वकालावच्छिन्नार्थत्वस्य सम्भवात्।

न च यज्जातीयमेवमेवेति विशेषः; साजात्यस्य वैलक्षण्यस्याग्रतः सिद्धौ किमन्येन। न च तदपीति वक्ष्यते।

मानें, तो लक्षण के ज्ञान से पूर्व प्रत्यक्षत्व का ग्रह अवश्य मानेंगे। अन्यथा अजन्यत्व-घटित उक्त लक्षण का ज्ञान ही न होगा। यदि प्रत्यक्षत्व का ज्ञान अन्य से सिद्ध है, तो लक्षण का प्रणयन ही व्यर्थ हो जायगा।

समर्थन—'स्व (ज्ञान) का जो काल, उससे अवच्छिन्न अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष है।' *खंडन*—'स्व' शब्द से यदि ज्ञानसामान्य का ग्रहण करें, तो यत्किञ्चित् ज्ञान के काल से अवच्छिन्न अतीत, अनागत अर्थ भी हैं। अतः तद्विषयक अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि 'स्व' से एक प्रत्यक्ष व्यक्ति का उपादान करें, तो अन्य व्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—अनुमिति भी स्वकाल से अवच्छिन्न वस्तु का ही ग्रहण करती है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—अनुमिति-विषय में बोधकाल से अवच्छिन्नत्व 'यदा धूमस्तदा वह्निः' इत्याकारक व्याप्तिग्रह के अधीन है। 'अयं पूर्णचन्द्रोदयः स्वकालिकसमुद्रवृद्ध्यादिमान् चन्द्रोदयत्वात्, पूर्वचन्द्रोदयवत्' इस स्थल में भी (जहाँ स्वकाल साध्य में प्रविष्ट है) अनुमिति-विषय में 'यदा चन्द्रोदयस्तदा स्वकालिकसमुद्रवृद्धिः' इत्याकारक व्याप्ति ही बोधकालावच्छिन्नत्व की प्रयोजक है। *खंडन*—बोधकाल से अवच्छिन्नत्व का कोई भी प्रयोजक हो, इससे क्या हुआ? बोधकाल से अवच्छिन्नविषयक होने से अनुमिति में अतिव्याप्ति वैसी ही बनी है।

समर्थन—'यज्जातीय ज्ञान, स्वकाल से अवच्छिन्न जो अर्थ तद्विषयक ही हो, वह प्रत्यक्ष है।' अनुमितिजातीय ज्ञान स्वकाल से अनवच्छिन्न अतीत, अनागत अर्थ-विषयक भी होता है। अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खंडन*—जबतक प्रत्यक्षत्वरूप साजात्य का ग्रह न हो, तबतक उक्त लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि प्रत्यक्षत्व का ज्ञान नहीं हो सकता और वह अन्य चिन्हों से सिद्ध है, तो लक्षण व्यर्थ है। सिवा इसके प्रत्यक्षत्व की सिद्धि भी नहीं हो सकती, यह आगे कहेंगे।

व्याप्त्यादिकमन्तरेणेति चेन्न। तस्यैव समर्थत्वेन स्वकालकथावैयर्थ्यात्। यथा च न तदपि, तथा वक्ष्यते।

यत्तु कश्चिदाह—स्वप्रकाशनिषेधात् स्वकालावच्छिन्नार्थप्रकाशत्वासम्भव इति। तदयुक्तम्; वस्तुतो यः स्वकालस्तस्य विवक्षितत्वात्। वर्तमानप्रकाशस्तथेति निरुक्तिपर्यवसानात्। वर्तमानार्थस्य च सर्वनिर्वचनीयत्वात्। तथा चोक्तम्—'सम्बद्धं वर्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना।' तस्मादस्मदुक्तमेव युक्तम्।

षष्ठ-प्रत्यक्षलक्षण-खण्डनम्

षोढासन्निकर्षेतराप्रयुक्तविषयनियमं ज्ञानं तथेति चेन्न। दोषवशजातसाक्षाद्बोधे तदसम्भवात्। प्रमासाक्षात्कारस्तावत् तथेति चेन्न। साक्षात्त्वेन प्रमेतरयोरविशिष्टतया साक्षात्त्वस्य साधारणस्यैव निर्वक्तव्यत्वात्।

समर्थन—'व्याप्ति आदि के बिना ही जो ज्ञान स्वकाल से अवच्छिन्न जो अर्थ तद्विषयक हो, वह प्रत्यक्ष है।' *खंडन*—यदि व्याप्ति का निवेश करना है, तो 'व्याप्ति के बिना जात जो ज्ञान, वह प्रत्यक्ष है', इतना ही लक्षण पर्याप्त है; 'स्वकाल से अवच्छिन्न जो अर्थ तद्विषयकत्व' का निवेश व्यर्थ है। साथ ही यह भी लक्षण निर्दोष नहीं है, यह आगे कहेंगे।

कोई-कोई विद्वान् इस लक्षण में यह दोष देते हैं कि ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है, अतः स्वज्ञान के कालरूप विशेषण से विशिष्ट अर्थ का ज्ञान न होने से यह लक्षण असम्भवग्रस्त है। किन्तु यह दोष युक्त नहीं, क्योंकि स्वकाल उपलक्षण है, विशेषण नहीं। अतः स्वप्रकाश न होने पर भी अन्य से ज्ञात स्वकाल से उपलक्षित अर्थ का ज्ञान हो सकता है। फलतः असम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष वर्तमानविषयक होता है, यह सभी वादी मानते हैं। श्रीकुमारिल भट्ट ने भी कहा है कि वर्तमान और सम्बद्ध विषय को चक्षु ग्रहण करता है।

षष्ठ प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन

समर्थन—'षट् प्रकार के सन्निकर्ष से जो इतर हो, उसके द्वारा अप्रयुक्त जिस ज्ञान के विषय का नियम हो, वह प्रत्यक्ष है', ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—'इदं रजतम्' इस ज्ञान में रजतत्व का जो समवाय भासता है, उसका प्रयोजक दूरत्वरूप दोष है। अतः वहाँ अव्याप्ति हो जायगी। प्रमा और अप्रमा उभयरूप सामान्य से प्रत्यक्षज्ञान का यह लक्षण है। अतः प्रमा प्रत्यक्ष ही लक्ष्य है, ऐसा आप नहीं कह सकते।

अनिष्टभ्रमबुद्धिमते षोढासन्निकर्षस्य प्रत्येकमिलितविकल्पानुपपत्तेः ।

सप्तम-प्रत्यक्षलक्षण-खण्डनम्

साक्षाद्धीः स्वरूपधीः = स्वेन रूपेण वस्तुनो भानमिति चेन्न । अनुमानादिव्यापनात् ।

अनुमानादौ लिङ्गाद्यपेक्षत्वात् तदवच्छिन्नकालसम्बद्धबोधत्वं न त्वध्यक्ष इति चेन्न । व्यभिचारात् । यत्र लिङ्गादि भाव्यादिबोधकं तत्र तत्कालताव्यभिचारात् ।

एतेन यदि न लिङ्गकालावच्छिन्नव्यापकप्रतिभासोऽनुमा तदा कूटव्याप्त्यानुमितस्य व्यापकस्य दैववशात् सत्यव्याप्यव्यक्त्यन्तरवतः प्राप्तौ व्याप्तिकालावच्छिन्नव्यापकप्राप्त्या तावत्यंशे प्रमात्वं प्रमाविशेषान्तर्भावानिर्वाहमापद्येतेति

यदि अख्यातिवादी कहें कि हमारे मत में भ्रम नहीं होता, अतः भ्रम में अव्याप्ति नहीं है; तो भी एक-एक सन्निकर्ष से इतर लें अथवा षट् सन्निकर्ष से, संयुक्तसमवाय उभयथा संयोगादि-षट् से इतर है ही । अतः संयुक्तसमवाय से जन्य प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी ।

सप्तम प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन

समर्थन—'स्वरूप का ज्ञान अर्थात् जो धर्म जिसमें हो, उस धर्म से विशिष्ट उस धर्मी का ज्ञान प्रत्यक्ष है ।' *खण्डन*—अनुमिति में भी जो धर्म जिसमें है, उस धर्म से विशिष्ट ही धर्मीका उल्लेख होता है । अतः वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'लिङ्गादि-काल से अनवच्छिन्न धर्मी की जो बुद्धि है, वही स्वरूप-धी है और वही प्रत्यक्ष का लक्षण है ।' अनुमिति में लिङ्गकाल से अवच्छिन्न धर्मी भासता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—जिस स्थल में विशिष्ट मेघोदय से भावी वृष्टि की अनुमिति करते हैं, उस स्थल में लिङ्गकाल से अनवच्छिन्न ही धर्मी भासता है । अतः उस अनुमिति में अतिव्याप्ति सुस्थिर ही है ।

कोई आचार्य कहते हैं कि 'अनुमिति में साध्य के विशेषणरूप से लिङ्गकाल से अवच्छिन्नत्व भासता ही है । अन्यथा पर्वत में धूलीपटल में धूमभ्रम के अनन्तर उत्पन्न 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान प्रमा हो जायगा । 'उक्त ज्ञान प्रमा ही है' ऐसी इष्टापत्ति आप नहीं कह सकते । कारण, स्वीकृत प्रमा में अन्तर्भाव न होने से उक्त ज्ञान को पञ्चमी प्रमा मानना पड़ेगा, जो अनिष्ट है ।' किन्तु उनका यह कथन भी खण्डित जानना चाहिए, कारण भूत-भाविसाध्यक स्थल में व्यभिचार होने के कारण लिङ्गकाल से

निरस्तम्। भूतादिव्यापकानुमाने व्याप्यकालत्वासम्भवात्। तथापि चाग्न्यादि-मदंशमात्रे प्रमात्वापातदुष्परिहरत्वस्योक्तत्वात्।

अनुपहितप्रतीतिः साक्षाद्धीरिति चेन्न। विशिष्टप्रविष्टविशेष्यप्रत्यक्षाव्यापनात्। करणानुपहितत्वं विवक्षितमिति चेन्न। परकरणोपहिताव्यापनात्। स्वकरणोप-हितत्वस्य च स्वपदकुक्षिनिक्षिप्तत्वात्।

व्याप्त्याद्युपहितत्वादीनां व्यतिरेकस्य यत्र समुच्चयः, सा धीः साक्षाद्धीरिति चेन्न। व्याप्त्यादिप्रत्यक्षाव्यापनात्, असिद्धत्वाच्च। पर्वतोऽग्निमानित्येत्र प्रतिज्ञा-नात्; शब्देन च स्वाप्रतिपादनात्, शाब्दादिमितेश्च प्रत्यक्षत्वापादनात्।

अवच्छिन्नत्व साध्य के विशेषणरूप से नहीं भासता। किञ्च—लिङ्गकाल से अवच्छिन्नत्व का अनुमिति में भान मानें, तब भी विशिष्ट अंश में उक्त ज्ञान प्रमा न होगा, किन्तु वह्नि-अंश में प्रमा हो ही जायगा।

समर्थन—'अनुपहित वस्तु का जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है।' *खंडन*—विशेषण से उपहित विशेष्य के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'करण से उपहित जो न हो, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष है।' *खंडन*—घट के करण दण्ड से उपहित पुरुषविषयक 'दण्डी पुरुषः' इत्याकारक प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'स्वकरण से अनुपहित का जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है।' *खंडन*—यह परिष्कार भी स्वपदरूप सिंह की कुक्षि में निक्षिप्त है। अर्थात् स्वपद के निवेश से ही खण्डित है। कारण स्वपद को यदि करण व्यक्तिपरक मानें, तो जिस धूम व्यक्ति को स्वशब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्य धूम से उपहित वह्नि की अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि स्वपद को करणसामान्यपरक मानें, तो अन्य के करण दण्ड से उपहित पुरुषादि के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'व्याप्त्यादि के उपहितत्व का अभाव जिस ज्ञान में हो, वह प्रत्यक्ष है।' *खण्डन*—'वह्निव्याप्यो धूमः' इस व्याप्ति के प्रत्यक्ष में धूम के विशेषणरूप से व्याप्ति भासती है, अतः उसमें अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—अनुमिति आदि में व्याप्ति आदि का भान नहीं होता। कारण, अनुमान में 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक ही प्रतिज्ञावाक्य होता है, 'व्याप्य-धूमव्यापकवान्' ऐसा नहीं होता। शब्द से भी स्व (शब्द) से उपहित अर्थ का बोध नहीं होता। अतः यह विशेषण देने पर भी शाब्दबोध और अनुमिति में अतिव्याप्ति बनी ही रहेगी।

अव्यवहितधीत्वं साक्षाद्धीत्वमिति चेन्न। व्यवधानविकल्पानुपपत्तेः। यदि द्रव्यविशेषान्तरावस्थितिर्व्यवधिः, तदानीमप्रत्यक्षविभुधियां साक्षात्त्वापत्तिः। अथ ज्ञापकज्ञानपूर्वसत्ता व्यवधानम्; तदा परत्वाद्यप्रत्यक्षतापत्तिरिति।

विशिष्टवैशिष्ट्यं व्यवधानमिति चेन्न। धूमविशिष्टे वह्निवैशिष्ट्यमिति स्वरूपस्थितौ तथात्वे कार्यकारणभावविरोधः। प्रतीतौ धूमवैशिष्ट्यस्य धर्मिविशेषणत्वे

समर्थन—इन्द्रियों से अव्यवहित वस्तु की धी साक्षात्-धी (प्रत्यक्ष) है। *खंडन*—अव्यवहितत्व का ज्ञान व्यवधान के निरूपण के अधीन है और वह व्यवधान विकल्पासह होने से दुर्निरूप्य है। अतः यह लक्षण भी ठीक नहीं। देखिये, यदि ज्ञेय और इन्द्रियों के बीच द्रव्य-विशेष की स्थिति को व्यवधान कहें, तो विभु (आकाशादि) की अनुमितिरूप बुद्धि में अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण, ज्ञेय (आकाशादि) और इन्द्रिय दोनों के मध्य कोई द्रव्य नहीं है। यदि ज्ञापक (स्वजनक) ज्ञान की (स्व की उत्पत्ति से) पूर्वसत्ता को व्यवधान कहें, तो ह्रस्वत्वादि तथा परत्वादि ज्ञान भी प्रतियोगि-ज्ञान से जन्य हैं। अतः ह्रस्वत्वादि ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी।

यदि केवल विशिष्टवैशिष्ट्य को व्यवधान कहें, तो 'दण्डी पुरुषः' इस प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी। एतदर्थ यदि धूमादि हेतु से विशिष्ट पर्वतादि पक्ष में वह्न्यादि साध्य का वैशिष्ट्य अनुमान का, सादृश्यविशिष्ट का संज्ञावैशिष्ट्य उपमान का और शब्दविशिष्ट देशजात्यादि-वैशिष्ट्य शब्द का व्यवधान मानें, तो वह भी नहीं कह सकते। कारण, धूमविशिष्ट में स्वरूपेण प्रथम वह्नि का वैशिष्ट्य होता है और तद्ग्राहित्व अनुमान का व्यवधान कहते हैं, अथवा धूमवैशिष्ट्य का ग्रहणकर वह्निवैशिष्ट्यग्राहक प्रतीति में धूमवैशिष्ट्य के प्राथम्य को व्यवधान कहते हैं? दोनों ही नहीं कह सकते। यदि प्रथम पक्ष मानें, तो कार्यकारणभाव में विरोध हो जायगा। अर्थात् कारण होने से वह्नि धूम से प्रथम ही सिद्ध है, फिर धूमविशिष्ट में ही वह्निवैशिष्ट्य रहता है, यह कैसे हो सकता है? यदि प्रतीति में धूमविशिष्ट में वह्निवैशिष्ट्य का व्यवधान कहें, तो पूछा जायगा कि यह धूमवैशिष्ट्य किसमें विशेषण है—धर्मी में या साध्य में? यदि धर्मी (पर्वत) में धूमवैशिष्ट्य को विशेषण मानें, तो 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' ऐसा ज्ञान का आकार होने से अंशतः आत्माश्रय हो जायगा; क्योंकि विशिष्टवृत्ति धर्म विशेषणवृत्ति भी होता है। यदि धूमवैशिष्ट्य साध्य का

हेतोरंशतः स्ववृत्तिः। साध्यविशेषणत्वे व्याप्तिग्राहिप्रत्यक्षेऽप्यव्यवधानाभावात् न साक्षात्त्वं स्यात्।

अष्टम-प्रत्यक्षलक्षण-खण्डनम्

अथ ज्ञानस्य जातिभेदः कश्चित्साक्षात्त्वम्। तत्रानुभवत्वेन परापरभावानुपपत्तिः, स्मृतेरपि साक्षात्कारित्वादिति केचित्। तन्न; स्मृतेस्तथात्वानभ्युपगमात्।

स्वप्नस्य तावत् स्मृतित्वासिद्धेः, सिद्धौ वा तत्र साक्षात्त्वारोपोपगमात्। भावनाबलजस्य च क्वचिदालोकादिधर्मिकप्रियाद्याश्रयधर्मारोपत्वं शुक्तिरजतभ्रमवत्, निमीलितनयनादेश्च स्वप्नवदेव गतिरवगन्तव्येति।

विशेषण कहें, तो 'वह्निः धूमव्यापकः' इस व्याप्तिप्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ साध्यविशेषणत्वेन धूमवैशिष्ट्य का व्यवधान होने से एतादृश अव्यवहित-वस्तुधीत्व ही नहीं रहता।

अष्टम प्रत्यक्षलक्षण का खण्डन

निर्वचन—'ज्ञान का जातिविशेष साक्षात्त्व है और वही साक्षात्त्व-जाति प्रत्यक्ष का लक्षण है' इस लक्षण में कोई आचार्य यह दोष देते हैं कि साक्षात्त्व स्मृति में भी होने से वह अनुभवत्व से अपर (अल्पदेशवृत्ति) नहीं है। साथ ही वह अनुमिति में न होने से पर (अधिकदेशवृत्ति) भी नहीं है। अर्थात् स्मृति में साक्षात्त्व है, अनुभवत्व नहीं है एवं अनुमिति में अनुभवत्व है, पर साक्षात्त्व नहीं है और प्रत्यक्ष-ज्ञान में दोनों हैं; अतः सङ्करदोष होने से साक्षात्त्व जाति नहीं हो सकती। किन्तु यह दोष युक्त नहीं है। कारण, स्मृति में साक्षात्त्व है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहें कि स्वप्न स्मृति ही है, क्योंकि जाग्रत् में अनुभूत पदार्थ ही संस्कार के बल से स्वप्नदशा में प्रतीत होते हैं, तो यह कथन युक्त नहीं है। कारण, अननुभूत स्वशिरश्छेद आदि रूप भी कदाचित् स्वप्न में भासते हैं, अतः स्वप्न स्मृति नहीं है। फिर भी यदि स्वप्न को स्मृति मान, लें, तो भी वह बाह्य इन्द्रियों से अजन्य होने से प्रत्यक्षरूप नहीं है। स्वप्न में प्रत्यक्षत्व का आरोपमात्र होता है। कामी मनुष्य को भावना के बल जो कामिनी की प्रतीत होती है, वह भी प्रत्यक्षायमाण अर्थात् प्रत्यक्षरूप स्मृति नहीं है; किन्तु शुक्ति में रजत की प्रतीति के तुल्य आलोक में प्रियामुखादि का भ्रममात्र है। निमीलित नेत्रवाले मनुष्य को जो कभी किसी वस्तु की प्रतीति हो जाती है, वह भी स्वप्न के तुल्य स्मृति ही है। अतः स्मृति में प्रत्यक्षत्व न होने से साङ्कर्य नहीं है।

इदन्तु स्यात् — परमाण्वादिबुद्धावनुव्यवस्यमानायां परमाणुप्रतीत्यंशेऽपि साक्षात्त्वमनुभूयत इत्यत्र न नः सम्प्रतिपत्तिः। अन्यथा लिङ्गबुद्धिलक्षणया प्रत्यासत्त्या वह्निरपि मानसप्रत्यक्ष एव, न लैङ्गिक इति परेण सुवचत्वात्। एवं प्रत्यभिज्ञायां पूर्वदेशकालस्थितिमस्य पश्यामीति कस्यानुभवो यद्बलात् तथाऽभ्युपेयम्। तस्मात्प्रतीतिकलहोऽयम्।

यदि च साक्षात्त्वं जातिरध्यक्षमानिका, तदा प्रतीतौ कस्याश्चिदध्यक्षानध्यक्षविवादो न स्यात्। न हि घटादिप्रत्यक्षत्वे विवदन्ते।

समर्थन—तब तो प्रत्यक्षत्व जाति हो गयी और उसे लेकर प्रत्यक्ष का लक्षण किया ही जा सकता है। *खण्डन*—फिर भी प्रत्यक्षत्व जाति नहीं है। कारण, परोक्षत्व के साथ प्रत्यक्षत्व का सांकर्य है, क्योंकि 'द्व्यणुकं स्वपरिमाणात् अणुतरपरिमाणारब्धम्, कार्यद्रव्यत्वात्, घटवत्' इस अनुमिति के बाद होनेवाले 'परमाणुमनुमिनोमि' इस अनुव्यवसाय में अनुमित्यंश में प्रत्यक्षत्व तथा परमाण्वंश में परोक्षत्व दोनों रहते हैं। यदि कहें कि परमाणु की अनुमिति आत्मा में है और आत्मा मनःसंयुक्त है, इस प्रकार ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति होने से परमाण्वंश में भी उक्त अनुव्यवसाय प्रत्यक्ष ही है, तो कहना पड़ेगा कि हमें ऐसा अनुभव नहीं होता। फिर भी ऐसा मानें, तो वह्निसम्बद्ध धूम का ज्ञान भी आत्मा में समवेत है ही और आत्मा मनःसंयुक्त है, इस तरह ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति होने से अनुमिति भी प्रत्यक्ष हो जायगी।

किञ्च—'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञान में भी तत्ता-अंश में स्मृतित्व तथा इदन्ता-अंश में प्रत्यक्षत्व होने से सांकर्य है। इसलिए भी प्रत्यक्षत्व जाति नहीं है। किसके इदन्ता-अंश के तुल्य तत्ताविशिष्ट अंश में अर्थात् देवदत्त के पूर्वदेशकालसम्बन्ध अंश में 'पश्यामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय अनुभवसिद्ध है, जिसके बल पर उस अंश में भी प्रत्यभिज्ञा को आप प्रत्यक्ष मानें? तस्मात् 'तत्ता-अंश में प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष है' यह बात विवादग्रस्त है।

किञ्च—प्रत्यक्षत्व को प्रत्यक्षरूप प्रमिति का विषय मानें, तो किसी-किसी प्रतीति में जो विवाद होता है कि 'यह ज्ञान प्रत्यक्ष है या नहीं ?', वह न होना चाहिए। अर्थात् कोई वायुज्ञान को प्रत्यक्ष तो कोई अनुमिति मानते हैं, इसी तरह कोई अभावज्ञान को प्रत्यक्ष तो कोई अनुपलब्धिरूप प्रमाण से जन्य प्रमित्यन्तर मानते हैं—यह मतभेद न होना चाहिए। कारण, घटादि के प्रत्यक्ष में तो किसीको विवाद ही नहीं होता कि घटज्ञान प्रत्यक्ष है या अनुमिति।

क्वचिदस्फुटत्वाद्विवाद इति चेत्। नैवम्; निरंशे वस्तुनि कः स्फुटत्वावभासः। यद्येकार्थसमवायिभिर्भूयोभिः सहोपलम्भः, स ज्ञानत्वादिवत् साक्षात्त्वेऽपि तर्हीति ज्ञानादित्वे न विवादः, साक्षात्त्वे त्विति विशेषो वाच्यः। दर्शनकृतो हि विवादो न मात्सर्येण वाङ्मात्रेण वा, किन्तु तत्त्वाभिमानादेव।

प्रत्यक्षार्थधर्मिकायां चानुमायां साक्षात्त्व-परोक्षत्वसङ्करो दुर्वारः।

परोक्षत्वं न जातिः, किन्तु साक्षात्त्वमेव तथा। केवलं तु साक्षात्त्वाभावः परोक्षत्वमिति चेन्न। अस्यार्थस्याऽविनिगन्तव्यत्वापत्तेः। सर्वज्ञमनुमन्यमानस्य च मते दृष्टलिङ्गादेरीश्वरस्य लिङ्ग्यादिबुद्धावपरोक्षत्वेनापि विरोधः।

समर्थन—वायुज्ञान में प्रत्यक्षत्व का स्फुट अवभास (समग्र रूप से अर्थ का ग्रहण) न होने से ही वहाँ मतभेद होता है। *खण्डन*—प्रत्यक्षत्व जाति निरंश (अखण्ड) है, अतः उसका स्फुट अवभास क्या वस्तु है? यदि कहें कि ज्ञानरूप एक अर्थ में समवायी जो ज्ञानत्व, अनुभवत्व, अपरोक्षत्व आदि बहुत-से धर्म हैं, उनके सहित अवभास ही 'स्फुट अवभास' है, तो वह स्फुट अवभास ज्ञानत्व की तरह प्रत्यक्षत्व में भी है। फिर ज्ञानत्व आदि में तो विवाद होता नहीं और प्रत्यक्षत्व में विवाद होता है, इसमें कोई विशेष कारण कहना होगा। यह दर्शनकारों (परीक्षकों) का विवाद है, अतः वह ईर्ष्या या वाङ्मात्र से नहीं, किन्तु तत्त्व के अभिमान से है। अर्थात् हम जो कहते हैं, वह प्रामाणिक है, इस अभिमान से ही वह विवाद चलता है। इसलिए अपने पक्ष की सिद्धि के निमित्त अपने कथित अर्थ में आपको कोई विनिगमक बताना ही पड़ेगा।

किञ्च—जहां धर्मी (पक्ष) प्रत्यक्ष है, उस अनुमिति में पक्षांश में प्रत्यक्षत्व तथा साध्यांश में परोक्षत्व होने से भी दोनों में साङ्कर्य है।

समर्थन—परोक्षत्व जाति नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षत्व का अभाव ही परोक्षत्व है। अतः साङ्कर्य नहीं है। *खण्डन*—यह कथन भी युक्त नहीं, कारण परोक्षत्व ही जाति है और उसका अभाव ही प्रत्यक्षत्व है, ऐसा न मानने में कोई विनिगमक नहीं है।

किञ्च—जो आचार्य सर्वज्ञ ईश्वर को अनुमितिसिद्ध मानते हैं, उनके मत में ईश्वर को धूमज्ञान के अनन्तर जो वह्नि का ज्ञान होता है, वह ईश्वरीय ज्ञान होने से प्रत्यक्ष है तथा लिङ्गज्ञान के अनन्तर होने से परोक्ष भी है। अतः उस ज्ञान में प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व का साङ्कर्य हो जाने से प्रत्यक्षत्व जाति नहीं है।

लिङ्गादिधीजन्यत्वमनुमितित्वादौ प्रयोजकमिति चेत्; साक्षात्त्वेऽपि तर्हीन्द्रिय-सन्निकर्षादिजत्वमिति साक्षादपि सा न स्यात्।

व्यञ्जकोपाधिनियता च जातिरिष्यते। न च तदत्र; उक्तप्रकारबाधात्।

न च व्यञ्जकनियमानभ्युपगत्या न तदत्रोपगम्यमिति वाच्यम्; 'किं मया दृष्टं तथा किं वा केन चित्कथितमि'ति संशयानुपपत्तेः। प्राग्भूतायां स्मर्यमाणायां तद्बुद्धौ त्वन्मते मनसा ज्ञानरूपया प्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षीक्रियमाणायां साक्षात्त्वाग्रहो विना व्यञ्जकाभावं कथं स्यात्।

अर्थधर्मश्च साक्षात्त्वमिति स्वप्रकाशवादे निरस्तम्।

समर्थन—लिङ्गजत्व अनुमितित्व का प्रयोजक है। ईश्वरीय ज्ञान नित्य होने से वह अनुमिति नहीं हो सकता। *खंडन*—यदि ऐसा ही है, तो इन्द्रियसन्निकर्षजत्व भी प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। उसके न होने से ईश्वरीय ज्ञान प्रत्यक्ष भी न कहलायेगा। ईश्वरीय ज्ञान को सभी आचार्य अपरोक्ष मानते हैं। अतः 'ईश्वरीय ज्ञान अपरोक्ष नहीं है' इसे आप इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते।

किञ्च—जाति व्यञ्जक धर्म से नियत ही हुआ करती है। उपर्युक्त इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नज्ञानत्व आदि व्यञ्जकों के खण्डित हो जाने से प्रत्यक्षत्व का कोई व्यञ्जक ही नहीं है। इसलिए भी प्रत्यक्षत्व जाति नहीं है।

समर्थन—'जाति व्यञ्जक उपाधि से नियत ही होती है' इस नियम को हम नहीं मानते। *खंडन*—इस नियम को न मानें, तो 'क्या मैंने उसे देखा था या किसीने सुनाया था' इस प्रकार इष्ट पदार्थ के विषय में कभी-कभी जो सन्देह हो जाता है, वह नहीं होगा। कारण, प्राक्काल में ज्ञात उक्त बुद्धि का स्मरण होने या तुम्हारे मत में ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से प्रत्यक्ष होने पर उसमें प्रत्यक्षत्व जाति का अनिश्चय (सन्देह) हो ही नहीं सकता। जो जाति को व्यञ्जक उपाधि से नियत मानते हैं, उनके मतमें व्यक्ति का ग्रहण होने पर भी व्यञ्जक के अनिश्चय से जाति का कदाचित् अनिश्चय हो भी सकता है।

'साक्षात्त्व ज्ञात का नहीं, किन्तु ज्ञेय का धर्म है और तद्विषयक होने से ही ज्ञान में साक्षात्त्व-व्यवहार होता है' इसका खण्डन तो स्वप्रकाश (कर्मलक्षण के खण्डन) के प्रस्ताव में कर ही चुके हैं।

तथापि अबाधितसाक्षात्त्वबुद्धिव्यवहारबलादन्ततः पदार्थान्तरमपि साक्षात्त्वमननुमत्य न निस्तारोऽस्ति, भ्रान्तेरप्यभ्रान्तिपूर्वकत्वादिति चेन्न। तस्यापि साक्षाद्ग्रहे क्वचिदपि तद्विवादो न स्यादित्यादिदोषसाम्यात्। अनुमानादिवेद्यत्वे च लिङ्गाद्यनुपपत्तेः, क्व च व्याप्त्यादिग्रह इत्यादिदुरुत्तरपरम्परैव स्यात्। सप्तपदार्थनियमसाधनानि च न कथं परिपन्थीनि स्युरिति।

लिङ्गादिजत्वाभावसमुदायवती धीः साक्षादिति चेन्न। परोक्षविषयसंशयादावतिव्याप्तेः। ईदृशी प्रमा तथेति चेन्न। प्रत्यक्षभ्रमाव्याप्तेः।

अनुमानादिव्यवच्छेद्यतत्तदसाधारणकारणाजनिता धीः साक्षादिति चेन्न। एवं हि प्रत्यक्षतत्तदपरव्यतिरिक्ता धीरनुमानादिरिति वैपरीत्यमेव कुतो न

समर्थन—तब भी अबाधित साक्षात्त्वबुद्धि या व्यवहार के बल से [साङ्कर्य होने से जाति न होने पर भी] साक्षात्त्व को पदार्थान्तर माने बिना तो निर्वाह ही न होगा। कारण, भ्रान्ति भी प्रमापूर्वक ही होती है। *खंडन*—उस पदार्थान्तर साक्षात्त्व को यदि प्रत्यक्षज्ञान का विषय मानें, तो कहीं भी सन्देह न होना चाहिए, यह पूर्वोक्त दोष स्थिर ही है। किञ्च—साक्षात्त्वबुद्धि या व्यवहार अनिर्वचनीय साक्षात्त्व से भी हो सकता है। अतः कोई लिङ्ग या अनुपपत्ति भी नहीं है, जिससे साक्षात्त्व की सिद्धि हो सके। साथ ही जबतक किसी व्यक्ति में साक्षात्त्व का प्रत्यक्ष न हो, तबतक व्याप्तिग्रह भी नहीं हो सकता। एवं साक्षात्त्व को पदार्थान्तर मानने में 'सात ही पदार्थ हैं, अष्टम नहीं' यह आपका नियम भी बाधक है।

निर्वचन—'लिङ्गजन्यत्व का अभाव, शब्दजन्यत्व का अभाव तथा सादृश्यजन्यत्व का अभाव—इस अभावत्रितय से युक्त बुद्धि ही 'साक्षात्-धी' है' ऐसा कहेंगे। *खंडन*—'परमाणु जगत् के कारण हैं या प्रधान?' इस परोक्षविषयक सन्देह में, 'प्रधान ही जगत् का कारण है' इस भ्रम में तथा 'सा मे माता' इस स्मृति में अतिव्याप्ति हो जायगी। 'उक्त अभावत्रयविशिष्ट प्रमा प्रत्यक्ष है' यह नहीं कह सकते, कारण प्रत्यक्षभ्रम में अव्याप्ति हो जायगी। भ्रमप्रमा-साधारण प्रत्यक्षमात्र प्रस्तुत होने से 'प्रत्यक्षप्रमा ही लक्ष्य है' यह कथन भी अयुक्त है।

समर्थन—'अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध, परोक्ष, सन्देह, भ्रम, स्मृति आदि जो व्यवच्छेद्य हैं, उन (व्यवच्छेद्यों) के असाधारण कारणों से अजन्य बुद्धि प्रत्यक्ष है।' *खण्डन*—इसी तरह अनुमिति आदि के भी 'प्रत्यक्षादि तत्तत् व्यवच्छेद्यों के असाधारण

स्यादित्यविनिगम्यत्वं स्यात् । तेषु व्यवच्छेद्येषु एकद्व्यादिपरिहाय व्यवच्छेद्य-हेत्वजनितत्वेनापि साक्षात्त्ववत्तत्र तत्रानुगतबुद्ध्याद्यन्तरापत्तेः ।

व्यवहारे सति निमित्तानुसरणम्, न तु निमित्तानुसरणेन व्यवहार इति चेन्न । निमित्तस्य अनत्यापत्तिद्वारस्यैव कल्प्यत्वात् ।

तत्तज्जनितत्वाभावो हि तेनैव रूपेण अनुगतव्यवहारप्रत्ययावादध्यात्, न त्वन्येनापि । तथात्वे यावत्परिदृष्टव्यक्तिविशेषान्यत्वेन व्यवहारोपपत्तौ गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गः ।

तस्मात्--- विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं व्यतिरेकासमर्थनः ।
नैवं चेदपराद्धं ते किमन्यापोहवादिना ॥ ४१ ॥

कारणों से अजन्यज्ञान अनुमिति आदि हैं' ऐसे लक्षण कर सकते हैं । एवञ्च अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

किञ्च—'प्रत्यक्ष और अनुमिति इन दोनों में वृत्ति, प्रत्यक्षादि त्रय में वृत्ति या चतुष्टय में वृत्ति तत्-तत् व्यवच्छेद्यों के असाधारण कारणों से अजन्यज्ञान' इस प्रकार एक लक्षण होने से प्रत्यक्षादि दो या तीन में भी अनुगत बुद्धि या व्यवहार हो जायगा ।

समर्थन—प्रत्यक्ष आदि दो या तीन में अनुगत व्यवहार होता ही नहीं, अतः अनुगत लक्षणरूप निमित्त की कल्पना ही नहीं होगी । कारण, व्यवहार के अनुसार ही निमित्त की कल्पना होती है, निमित्त के अनुसार व्यवहार की नहीं । *खण्डन*—यह ठीक है कि व्यवहार के अनुसार ही लक्षणरूप निमित्त की कल्पना होती है; किन्तु निमित्त की कल्पना भी ऐसी ही होनी चाहिए, जिसमें कोई अतिप्रसङ्ग का द्वार न हो । पूर्वोक्त दोष होने से पूर्वोक्त लक्षणरूप निमित्त ऐसा नहीं है ।

किञ्च—यदि अनुमिति आदि तत्तत् व्यवच्छेद्यों के असाधारण कारणों से जन्यत्वाभाव को प्रत्यक्ष कहें, तो उक्त लक्षण उक्त जन्यत्वाभावरूप से ही अनुगत व्यवहार या अनुगत प्रतीति का निमित्त होगा, प्रत्यक्षत्वरूप से व्यवहार या प्रतीति का निमित्त नहीं होगा । यदि उक्त जन्यत्वाभावरूप से ही प्रत्यक्ष-व्यवहार या प्रतीति की उपपत्ति मानें, तो परिदृष्ट अश्वादि व्यक्ति से अन्यत्व रूप से ही गवादि-प्रतीति की भी उपपत्ति हो जायगी । फिर गोत्वादि का भी उच्छेद हो जायगा ।

तस्मात् 'इदं प्रत्यक्षम्' अथवा 'अयं गौः' इत्यादि विधिमुख से जायमान ज्ञान ही प्रत्यक्ष है,' यही कहना होगा । एवञ्च व्यतिरेक अर्थात् उक्त जन्यत्वाभावरूप लक्षण से उसका समर्थन नहीं हो सकता । यदि ऐसा न मानें, तो उन अपोहवादी बौद्धों का क्या अपराध है कि उनकी बात न मानी जाय ?

नवम-प्रत्यक्षलक्षण-खण्डनम्

शब्दानुमानोपमानजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वं प्रत्यक्षलक्षणमभिधाय यः कोऽपि न त्रपते, स प्रष्टव्यः—किं प्रत्येकमिदं लक्षणम्, उत मिलितम् ?

नाद्यः; प्रत्येकं व्यभिचारात्। द्वितीये किं मिलितानां निषेधः, उत निषेधानां मिलितत्वम् ? नाद्यः; प्रत्येकमेव व्यभिचारात्। न हि प्रत्येकमनुमित्यादौ मिलिततद्रूपसम्भवः। नापि द्वितीयः; मिलितास्वनुमित्यादिषु निषेधमेलकसम्भवेऽपि प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमात्।

न बह्वाश्रयाणामुक्तनिषेधानां लक्षणत्वम्, अपि त्वेकाश्रयाणामिति चेन्न। समुदायिभेदेऽपि समुदायस्यानुमित्यादिवत् एकतोपचारबीजाविशेषाभ्युपगम इति हि वक्ष्यते।

नवम प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन

'शब्दज, अनुमानज और उपमानज प्रमितियों से भिन्न जो प्रमिति हो, वह प्रत्यक्ष है' ऐसा लक्षण कहकर जो लज्जित नहीं होते, उनसे पूछना चाहिए कि क्या इनमें प्रत्येक लक्षण है या मिलित ?

इनमें प्रत्येक अर्थात् 'शब्दजप्रमितिव्यतिरिक्तप्रमितित्वम्' आदि तो लक्षण नहीं कह सकते, कारण शब्दजप्रमितिव्यतिरिक्त प्रमितित्व अनुमिति में अतिव्याप्त है। इसी तरह अन्यत्र भी लक्षणों की अतिव्याप्ति जाननी चाहिए। यदि मिलित लक्षण कहें, तो 'शब्दज तथा अनुमानज तथा उपमानज प्रतीतिसमुदाय से व्यतिरिक्त प्रमितित्व' लक्षण है या 'शब्दज प्रमिति का जो भेद तथा अनुमानज प्रमिति का जो भेद तथा उपमानज प्रमिति का जो भेद—एतत् भेदत्रयविशिष्ट प्रमितित्व है ? इनमें प्रथम पक्ष में समुदाय का भेद प्रत्येक में होने से प्रत्येक में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि प्रत्येक अनुमिति आदि समुदायरूप नहीं है। द्वितीय कल्प में अनुमित्यादि त्रयसमुदाय में प्रत्येक अनुमिति आदि का भेदत्रय होने से अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'शब्दादि प्रतीतियों के भेदत्रय से युक्त जो एक प्रतीति है, वह प्रत्यक्ष है।' अनुमित्यादि त्रयसमुदाय में एकत्व नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं। *खंडन*—यद्यपि समुदाय के एकदेश अनुमित्यादि अनेक हैं, किन्तु समुदाय एक ही है, अर्थात् प्रत्येक अनुमिति आदि में गुणरूप एकत्व न होने पर भी जैसे औपचारिक एकत्व-व्यवहार होता है, वैसे ही अनुमित्यादि समुदाय में भी उपचार से एकत्व-व्यवहार हो सकता है। कारण उपचार का बीज परोक्षत्वरूप एक धर्म अनुमित्यादित्रय में भी विद्यमान है।

असमुदायत्वे सतीत्यपि विवक्षितमिति चेन्न। समुदायत्वविशिष्ट एवांशतः स्वात्मनि वृत्तिविरोधभयेन असमुदायत्वस्यैष्टव्यत्वेन तादृशि प्रसङ्गो दुर्वारः।

ज्ञानस्यैवं विवक्षितमिति चेन्न। विशिष्टस्यापि ज्ञानस्य ज्ञानत्वादेव।

एकेति च किमाश्रयव्यक्त्यभेदो विवक्षितः, उताभिन्नजातीयता, उतैकोपाधिकता, उतैकसङ्ख्यायोगिता, उत द्व्यादिसङ्ख्यायोगाभावः ?

आद्ये तद्विशिष्टस्याव्यापकतादोषः, व्यक्त्यात्मनोऽभेदस्य व्यावृत्तत्वात् धर्मिणा च लक्षणविशेषणेऽलक्ष्यधर्मत्वं धर्मस्य स्यात्, स्वस्यैव स्वधर्मत्वानुपपत्तेः। आश्रयाभेदस्योपलक्षणत्वे प्रागुक्तदोषः।

समर्थन—उक्त लक्षण में समुदाय से भिन्नत्व का भी निवेश है, अतः अनुमित्यादित्रय के समुदाय में अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खंडन*—यदि कहें कि समुदायत्वविशिष्ट में भी समुदायत्व मानेंगे, तो विशिष्टवृत्ति धर्म विशेषणवृत्ति अवश्य होने से अंशतः आत्माश्रय हो जायगा। अतः समुदायत्वविशिष्ट भी असमुदाय होने से पुनः अनुमित्यादि समुदाय में अतिव्याप्ति ही है।

समर्थन—उक्त लक्षण में 'प्रमितित्व' का भी निवेश करेंगे। एवञ्च समुदाय प्रमिति न होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं है। *खण्डन*—समुदायत्वविशिष्ट अनुमित्यादि प्रमिति है, अतः समुदाय भी प्रमिति ही है।

किञ्च—लक्षण में निविष्ट 'एक' शब्द से लक्षणाश्रय लक्ष्य व्यक्ति का अभेद अभिप्रेत है या एक (अभिन्न) जाति का आश्रयत्व अथवा एक उपाधि का आश्रयत्व या एकत्वसंख्या का योग या द्वित्व आदि संख्या का योगाभाव ?

प्रथम कल्प में एक ही प्रत्यक्ष व्यक्ति का संग्रह हो सकने से लक्षण व्यक्त्यन्तर में अव्याप्त हो जायगा। यदि 'एकलक्ष्याश्रयत्व' लक्षण में विशेषण दें, तो लक्षण लक्ष्य का धर्म न हो सकेगा। कारण जैसे स्व का धर्म स्व नहीं होता, वैसे ही स्वविशिष्ट भी स्व का धर्म नहीं हो सकता। यदि कहें कि लक्ष्य व्यक्ति का अभेद लक्षण में विशेषण नहीं, किन्तु उपलक्षण है, अतः उक्त दोष नहीं; तो उपलक्षण व्यावर्त्य से बहिर्भूत होने के कारण तद्व्यावृत्त अभावत्रयमात्र ही लक्षण होगा, जो अनुमित्यादि में भी रहेगा। एवञ्च पूर्वोक्त दोष तदवस्थ ही है।

द्वितीये तदेवाभिन्नजातीयत्वं लक्षणमस्तु, अवश्यं तया प्राथम्येन प्रतीयमानत्वात्। न तृतीयः ; परोक्षप्रमितित्वस्यानुमित्यादिषु मिलितास्वपि भावात्।

नापि चतुर्थः ; वैशेषिकपक्षे गुणतया तदभावात्, भावे वाऽनुमित्यादित्रयवृत्तीनां त्रयाणामप्यभावानामेकत्वसङ्ख्यासामानाधिकरण्यसम्भवात्, मिलितानामप्येकसमुदायापेक्षया तथात्वात्।

नापि पञ्चमः ; वैशेषिकमतानुसारेण अनुमित्यादित्रयेऽपि तदभावस्य तुल्यत्वात्। अतदनुसारे प्रत्यक्षव्यक्तिष्वपि द्व्यादिसङ्ख्यायोगात्।

तथापि नैकस्यां प्रत्यक्षव्यक्तौ द्व्यादिपरिसमाप्तिः, द्व्यादिसङ्ख्यापरिसमाप्त्यभावश्च तदभावशब्देन विवक्षित इति चेन्न। का हि परिसमाप्तिर्या एकस्यां व्यक्तौ नास्तीत्युच्यते ?

तत्रैव वृत्तिर्द्व्यादेः परिसमाप्तिः, सैकस्यां व्यक्तौ नास्तीति चेन्न।

द्वितीय या तृतीय कल्प में यदि वह जाति या उपाधि प्रत्यक्षत्व या अर्थजत्व ही हो, तो उन्हींको लक्षण मान लें; प्रकृत लक्षण व्यर्थ है। कारण, उक्त लक्षण में विशेषण होने से वह जाति या उपाधि अवश्य ज्ञेय है, साथ ही उन्हें लक्षण मानने में लाघव भी है। यदि यत्किंचित् एक जाति या एक उपाधि का ग्रहण हो, तो परोक्षत्वरूप जाति या उपाधि अनुमित्यादि त्रय में भी है। अतः अनुमित्यादि समुदाय में अतिव्याप्ति हो जायगी।

चतुर्थ कल्प में वैशेषिक के मत के अनुसार एकत्वसंख्या गुण होने से वह प्रत्यक्ष (रूप गुण) में नहीं रह सकती, अतः असम्भव हो जायगा। अन्य मतों के अनुसार अनुमित्यादित्रय में उक्त अभावत्रय भी है तथा समुदाय की अपेक्षा एकत्वसंख्या भी है; अतः अनुमित्यादि-समुदाय में अतिव्याप्ति हो जायगी।

पंचम कल्प में वैशेषिक के मत के अनुसार अनुमित्यादित्रय में भी द्वित्वादि संख्या का अभाव होने से अतिव्याप्ति हो जायगी तथा अन्य मत के अनुसार प्रत्यक्ष में भी ('एक, दो, तीन प्रत्यक्ष' इस प्रकार) द्व्यादि संख्या रहने से असम्भव हो जायगा।

समर्थन—तब भी एक प्रत्यक्ष व्यक्ति में द्वित्व आदि सङ्ख्या की परिसमाप्ति (पर्याप्ति) नहीं है और द्व्यादि की परिसमाप्ति का अभाव ही तदभाव पद से विवक्षित है, अतः असम्भव नहीं होगा। *खंडन*—द्वित्वादि संख्या की परिसमाप्ति क्या है, जो एक व्यक्ति में नहीं है ?

समर्थन—केवल उसीमें वृत्तित्व द्वित्व की परिसमाप्ति है। वह एक ही व्यक्ति में नहीं है, कारण द्वित्व दो व्यक्तियों में रहता है। *खंडन*—यदि तत्रैववृत्तित्व

एवमेकत्वस्यापि न क्वचित्परिसमाप्तिः स्यात् । न हि तस्य तत्रैव वृत्तिः ; अन्यस्यैकत्वाभावप्रसङ्गात् । अत एकत्वसङ्ख्यावत्यामेव व्यक्तौ द्व्यादिपरिसमाप्तिरित्यविशेष एव ।

एकव्यक्तिगतैकत्वसङ्ख्याव्यक्तिर्नान्यत्रेति चेन्न । सत्ताव्यक्तेरप्येवम्भावप्रसङ्गात्, अननुगतत्वापत्तेश्च ।

सत्तैकैव जातिरूपा, एकत्वं तु प्रतिव्यक्ति भिन्नं गुणपदार्थ इति चेत्; नूनं वैशेषिकैर्विप्रलब्धोऽसि । कथमन्यथा सदेकप्रत्यययोरनुभवव्यवहारविशेषमपश्यन्नपि कानिचित् कानिचिदसम्बद्धान्यक्षराणि प्रलपसि ।

सत्त्वैकत्वयोः परापरत्वानुपपत्तेरेवं स्यादिति चेन्न । साम्यात् । जातिपरा-

को परिसमाप्ति कहें, तो एकत्व की कहीं भी परिसमाप्ति न होगी । कारण जिन दो में द्वित्व रहता है, उनमें से प्रत्येक में एकत्व भी रहता ही है । अन्यथा वहाँ एकत्व का अभाव हो जायगा । एवञ्च वृत्तित्वमात्र ही परिसमाप्ति होने से एक प्रत्यक्ष व्यक्ति में भी द्वित्व की परिसमाप्ति ही है, अभाव नहीं । अतः लक्षण का असम्भव हो जायगा ।

समर्थन—एकव्यक्तिगत एकत्वसंख्या अन्यत्र नहीं रहती, अतः तत्रैववृत्तित्वरूप परिसमाप्ति एकत्व में है । *खंडन*—सत्ताव्यक्ति भी ऐसी ही हो जायगी । अर्थात् एकव्यक्तिगत सत्ता अन्यत्र न रहेगी । यदि सत्ता को भी प्रतिव्यक्ति भिन्न मानें, तो 'इदं सत्', इदं सत्' यह अनुगत प्रतीति नहीं होगी । किञ्च—यदि एकत्व को प्रतिव्यक्तिव्यावृत्त मानें, तो 'इदमेकम्', 'इदमेकम्' यह अनुगत प्रतीति न होगी । यदि उसे नाना मानें, तो सभी एकत्व का लक्षण में प्रवेश तो हो नहीं सकता, किन्तु एक ही एकत्व का निवेश हो सकता है । एवञ्च जिस प्रत्यक्ष-व्यक्तिगत एकत्व का निवेश करेंगे, उससे अन्य व्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—जातिरूप होने से सत्ता एक ही है, किन्तु एकत्व तो गुणपदार्थ होने से प्रतिव्यक्ति भिन्न है । *खंडन*—निश्चय ही आप वैशेषिकों के वञ्चन में आ गये । अन्यथा सत्ता और एकत्व दोनों की प्रतीति या व्यवहार में भेद न देखते हुए भी युक्तिविरुद्ध, असम्बद्ध (एकत्व को गुण तथा सत्ता को जाति) क्यों कहते ?

समर्थन—यदि एकत्व को जाति मानें, तो द्रव्यत्व के तुल्य उसका भी सत्ता के साथ पर-अपरभाव होना चाहिए । वह हो नहीं सकता; कारण सत्ता में सत्ता नहीं रहती और एकत्व रहता है तथा एकत्व में सत्ता है और एकत्व नहीं है । फलतः सांकर्य होने से एकत्व जाति ही नहीं, प्रत्युत गुण ही है । *खंडन*—यदि सांकर्य का परिहारमात्र ही

परत्वध्रौव्यमेव च क्वाप्येकन्यूनवृत्तित्वे प्रमाणं स्यात्। क्व तथेति चेन्न। शैलेऽनलस्यानुमायां क्व हस्तवितस्त्यादौ तदंश इत्यनिश्चयवददोषत्वात्।

नन्वस्तु मा वाऽऽसीदेकत्वमनुगतम्, किमनेनात्र निरूपितेन? द्वित्वादि यत्र न समाप्यते, अभिहिताभावत्रयं चास्ति तत्प्रत्यक्षमिति। मैवम्; अनुमित्यादि-त्रयेऽपि न त्रित्वं परिसमाप्तम्। एवं सत्यन्यानि त्रीणि न स्युः।

अन्या सा त्रित्वव्यक्तिर्याऽन्यत्रेति चेन्न। त्रित्वव्यक्तेः कस्याश्चिदनुमित्यादि-त्रये समाप्त्यभावात्।

काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यत इति चेन्न। अव्यापकत्वात्। प्रत्यक्षत्वस्य च त्रित्वव्यक्तेश्चावश्यं सामानाधिकरण्यस्य वैशेषिकमतव्युत्थितेन

करना है, तो सत्ता को गुण और एकत्व को जाति मानकर कीजिये, क्या हानि है। किञ्च—'सत्ता और एकत्व दोनों में एक पर तथा एक अपर है, एक व्यक्ति में वृत्ति जातिद्वय होने से; जैसे द्रव्यत्व' यह अनुमान ही एकत्व के न्यूनवृत्तित्व में प्रमाण है। *समर्थन*—फिर भी इस अनुमिति से 'सत्ता अपर जाति है या एकत्व ?' इस विशेष का निश्चय तो होता ही नहीं। *खंडन*— अनुमिति में यह दोष नहीं है; कारण अनुमिति से सर्वत्र सामान्यरूप से ही निश्चय होता है, विशेषरूप से नहीं। पर्वत में धूम से वह्नि की अनुमिति में भी वह्नि हस्तपरिमित है या वितस्तिपरिमित, ऐसा कोई विशेष निश्चय कहाँ होता है ?

समर्थन—एकत्व अनुगत हो या न हो, यहाँ इस निरूपण से क्या प्रयोजन है, 'द्वित्व आदि की परिसमाप्ति जहाँ न हो और उक्त अभावत्रय हों, वह प्रत्यक्ष है' यही प्रत्यक्ष का लक्षण करेंगे। *खण्डन*—अनुमिति आदि त्रय में भी यावत् त्रित्वव्यक्ति की परिसमाप्ति नहीं है। यदि अनुमित्यादि त्रय में ही त्रित्व की परिसमाप्ति मानें, तो अन्यत्र ('प्रमेयादीनि त्रीणि यहाँ') त्रित्व न रहेगा।

समर्थन—अन्यत्र जो त्रित्व व्यक्ति है, वह अन्य ही है। अर्थात् अनुमिति आदि निष्ठ त्रित्व की परिसमाप्ति उसीमें है। लक्षण में एकैक (यत्किंचित्) त्रित्व की परिसमाप्ति ही अभिप्रेत है। *खण्डन*—फिर तो यत्किञ्चित् त्रित्वव्यक्ति की परिसमाप्ति का अभाव अनुमित्यादि त्रय में भी है।

समर्थन—'किसी भी त्रित्वव्यक्ति की परिसमाप्ति जहाँ न हो, वह प्रत्यक्ष है।' *खंडन*—आप वैशेषिक (कणाद मुनि के अनुयायी) नहीं हैं। अतः प्रत्यक्ष में त्रित्व-संख्या को अवश्य मानेंगे। यदि न मानें, तो 'प्रत्यक्षव्यक्तयस्तिस्रः' ऐसा व्यवहार आपके

भवताऽभ्युपगम्यत्वात् । अन्यथा प्रत्यक्षव्यक्तयस्तिस्रो न स्युः, तदेव हि त्रिरभि-धीयते यत्र त्रित्वं परिसमाप्यते ।

किञ्च—तथापि स एवातिव्यापकतादोषः । त्रित्वेनावच्छिन्नासु अनुमित्यादि-व्यक्तिषु त्वदभिहितमभावत्रयमस्तीति तत्र प्रत्यक्षलक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरुक्ता, तद्व्यावर्तनाय भवताऽभिधीयते—काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यत इति। न चैवमुक्ते साऽतिव्याप्तिर्निवर्तते, तत्राप्युक्तविशेषणस्य विद्यमानत्वात् । न हि त्रित्वावच्छिन्ने तस्मिन् त्रित्वव्यक्तिः काचिदपि समाप्यते, त्रित्वलक्षणैकोपाध्य-वच्छिन्ने तस्मिन् त्रित्वव्यक्त्यन्तरं भवद्प्याश्रयान्तरमादाय वर्तते, न तु तत्रैव परिसमाप्यते ।

यत्र चोक्तमुपाधिभूतं त्रित्वं तेषु यदि त्रित्वसमाप्तिर्धर्मिषु दृश्येत, तदा तद्दर्शनेन तत्र धर्मिमात्रे लक्षणव्यावृत्तिः सिद्ध्येत्, न तु त्रित्वविशिष्टे धर्मिणि । तस्मादतिव्यापकत्वं तदवस्थमेव ।

मत में कैसे होगा ? कारण, वे ही तीन हैं, जिनमें त्रित्वसंख्या परिसमाप्त हो । अतः प्रत्यक्ष में भी सभी त्रित्वों का अभाव न होने से असंभव हो जायगा ।

किञ्च—ऐसा निवेश करने पर भी वहीं अतिव्याप्ति दोष है । देखिये, त्रित्व से युक्त अनुमिति आदि व्यक्ति में उक्त अभावत्रय है, अतः वहाँ प्रत्यक्ष का लक्षण चला जाने से अतिव्याप्ति हुई । उसकी व्यावृत्ति के लिए आप निवेश करते हैं कि 'कोई भी त्रित्वव्यक्ति जहाँ परिसमाप्त न हो, वह प्रत्यक्ष है ।' ऐसा निवेश करने पर भी उक्त अतिव्याप्ति का वारण नहीं होता, कारण वहाँ भी त्रित्वविशिष्ट उक्त विशेषण विद्यमान है । अनुमिति आदि में भी किसी भी त्रित्वव्यक्ति के न होने से त्रित्वलक्षण एक उपाधि से अवच्छिन्न (युक्त) अनुमित्यादि त्रय में अंशतः आत्माश्रय होने के भय से वह त्रित्व तो है नहीं, अन्य त्रित्व है । किन्तु वह भी घट-पटादि अन्य आश्रयों का आदान करके है ।

केवल उसमें नहीं है, जहाँ उपाधिभूत त्रित्व है, कारण त्रित्वविशिष्ट समुदाय एक है । केवल उन धर्मियों में त्रित्व देखा जाता है, अतः धर्मीमात्र में लक्षण की व्यावृत्ति नहीं हो सकती । त्रित्वविशिष्ट धर्मी में व्यावृत्ति नहीं हो सकती । तस्मात् त्रित्वविशिष्ट में अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है ।

अभावत्रयश्च त्रित्वोपाध्यवच्छेदेन समुदिततामुपगतवति विशिष्टे धर्मिणि वर्तते, न त्वविशिष्टे, प्रत्येकमभावत्रयावस्थानस्य तेषु वक्तुमशक्यत्वात् ।

अथ मन्यसे तादृशस्य विशिष्टस्य प्रमितित्वेनैव व्यवच्छेदः । न ह्यभावत्रयवत् त्रित्वं विशेषणमाश्रयकोटावन्तर्भाव्य तासु धर्मिव्यक्तिषु प्रमितित्वं वर्तते । किन्तु तेषां धर्मिणां स्वरूपमात्रे उक्ताभावत्रयं प्रमितित्वश्चेत्येतत् यत्रास्ति, तत्प्रत्यक्षमिति हि ब्रूम इति ।

न; भवताऽपि भिन्नभिन्नधर्मावच्छिन्नस्यैव धर्मिणः प्रमितित्वमभावत्रयवत्त्वं च अवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । तथा हि—यदि प्रमितित्वस्य क्वाचित्कत्वे नियामकं नोच्यते, तदा सर्वा प्रमितिः स्यात्, न वा काचिदपि ।

सर्वत्र सत्ताऽसत्ता वा नियमेऽन्यानपेक्षया ।
नियामकाद्धि भावानां क्वाचित्कत्वस्य सम्भवः ॥ ४२ ॥

तन्नियामकमाश्रये विशेषणीभूतं वा वक्तव्यम्, उपलक्षणीभूतं वा । आद्ये यदेव प्रमितित्वस्याऽऽश्रयविशेषणं तदेव यद्यभावत्रयस्यापि तस्य, तदा त्रित्वावच्छिन्नेऽनुमित्यादावभावत्रयस्य दर्शितत्वात्तत्र च प्रमितित्वेनापि त्रित्वावच्छिन्ने भवितव्यमिति प्रमितित्वान्न तद्व्यवच्छेदः ।

शब्दादि प्रमितियों के अभावत्रय त्रित्वरूप उपाधिविशिष्ट धर्मी में है, केवल धर्मी में नहीं है । एक-एक में दो अभावों के होने पर भी तीन अभाव नहीं हैं, कारण शब्दप्रमिति से शब्दप्रमितित्व का अभाव नहीं होता ।

समर्थन—प्रमितित्व के निवेश से ही अनुमिति आदि समुदाय में अतिव्याप्ति का वारण हो जायगा । कारण जैसे उक्त अभावत्रय त्रित्वविशिष्ट धर्मी में है, वैसे प्रमितित्व त्रित्वविशिष्ट धर्मी में नहीं है, किन्तु धर्मीमात्र में है । 'उक्त अभावत्रय तथा प्रमितित्व दोनों जहां एक में रहें, वह प्रत्यक्ष है' ऐसा हम कहते हैं ।

खंडन—आप भी किसी भिन्न धर्म से युक्त ही धर्मी में प्रमितित्व तथा उक्त अभावत्रय को मानेंगे । देखिये—यदि प्रमितित्व के क्वाचित्कत्व में कोई नियामक न कहा जाय, तो वस्तुमात्र ही प्रमिति हो जायगी या कुछ भी प्रमिति नहीं होगा । नियम में यदि अन्य की अपेक्षा न हो, तो सर्वत्र सत्ता या असत्ता हो जायगी ।

कारण भावों का क्वाचित्कत्व नियामक से होता है, उस नियामक को आश्रय में विशेषण मानेंगे या उपलक्षण ? प्रथम पक्ष में जो प्रमितित्व का नियामक आश्रय में विशेषण है, यदि वही अभावत्रय का नियमक भी आश्रय में विशेषण है, तो

अथान्यावच्छिन्ने प्रमितित्वमन्यधर्मावच्छिन्ने चाभावत्रयसम्बन्धः, तदा— नास्ति त्वत्पक्षेऽपि प्रमितित्वस्य एकधर्मविशिष्टाश्रयत्वलक्षणमेकाश्रयत्वम्, विशिष्टेऽपि धर्मिण्याश्रितो धर्म्याश्रित एवेति कृत्वा च प्रमितित्वस्य अभावत्रय-समानाश्रयत्वेऽनुमित्यादित्रयेऽपि प्रसङ्गस्तदवस्थः।

नापि द्वितीयः; उपलक्षणीभूतेन केनचिद्धर्मेण योऽसावुपलक्षितो धर्मी, स एव खलु त्रित्वविशिष्टोऽपि, विशेषणवतोऽपि यावद्विशेष्यवस्तुनो विशेष्यवस्त्वात्मकत्वात्। यथा दण्ड्यपि पुरुषः पुरुष एव। एवञ्च सत्युपलक्षितादनन्यभूते त्रित्वविशिष्टेऽप्यनु-मित्यादौ प्रमितित्वमाश्रितं नियामकेनोपलक्षणेन उपलक्ष्याभेदव्यवस्थिततया तस्याप्यवच्छिन्नत्वात्। तथा चातिव्याप्तिर्वज्रलेपायिता।

तथाप्युपलक्षकेण त्रित्वविशिष्टतया नोपलक्षितोऽसौ धर्मी, किन्तु स्वरूपेणेति चेन्न। उक्तमत्र। यदेव तदुपलक्षितं तदेव विशिष्टमपि। तथापि विशिष्टेन रूपेण

त्रित्वविशिष्ट अनुमित्यादि त्रय में उक्त अभावत्रय को दिखा आये हैं और प्रमितित्व भी त्रित्वविशिष्ट अनुमित्यादि में है; कारण दोनों के नियामक एक ही हैं। अतः प्रमितित्वरूप विशेषण से अनुमित्यादि समुदाय में अतिव्याप्ति का वारण नहीं हो सकता।

यदि अन्य धर्म से अवच्छिन्न (नियमित) आश्रय में प्रमितित्व तथा अन्य धर्म से अवच्छिन्न आश्रय में अभावत्रय मानें, तो आपके पक्ष में भी प्रमितित्व तथा अभाव-त्रय एकधर्मविशिष्ट प्रत्यक्ष में नहीं हैं, अतः असम्भव हो जायगा। यदि कहें कि यद्यपि अवच्छेदक-भेद है, तथापि प्रत्यक्षरूप धर्मी में प्रमितित्व और अभावत्रय दोनों हैं, अतः असम्भव नहीं है, तो अनुमिति आदि त्रय में भी त्रित्वविशिष्ट में अभावत्रय तथा प्रत्येक में अर्थात् प्रत्यक्षत्वविशिष्ट में प्रमितित्व भी है। अतः अतिव्याप्ति वैसी ही है।

नियामक आश्रय में उपलक्षण है, यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं। कारण उपल-क्षणीभूत धर्म से उपलक्षित धर्मी ही त्रित्वरूप विशेषण से विशिष्ट भी है; क्योंकि विशे-षणवान् विशेष्य भी विशेष्यरूप ही होता है; जैसे दण्डीपुरुष भी पुरुष ही है। ऐसा होने पर उपलक्षित में प्रमितित्व होने से उपलक्षित से अनन्यभूत त्रित्वविशिष्ट अनुमिति आदि त्रय में भी प्रमितित्व है। कारण उपलक्ष्य के अभेदरूप से व्यवस्थित होने से त्रित्वविशिष्ट भी नियामक उपलक्षण से अवच्छिन्न है। अतः प्रत्यक्षलक्षण की अनुमित्यादि त्रय में अतिव्याप्ति वज्रलेपतुल्य हो गयी।

समर्थन—यद्यपि उपलक्षित से अनन्यभूत त्रित्वविशिष्ट है; तथापि उपलक्षक से त्रित्वविशिष्ट रूप से उपलक्षित नहीं होता, किन्तु केवल धर्मीमात्र उपलक्षित होता है।

तावन्नोपलक्षितमिति चेत्, मोपलक्षि। अविशिष्टेनापि तन्नोपलक्षितमेव; अन्यथा प्रकृतेऽपि वैयधिकरण्यापत्तेः।

तदास्तामुल्लसत्पल्लवदलनविलसितेनेति। तदेवं लक्षणान्तरेऽपि प्रतिपादितोऽयं दूषणसमूहः स्वयमूहनीयः।

एतदेव परामृश्य भट्टैरिदमुदाहृतम्।
लक्षणस्याऽभिधानन्तु केनांशेनोपयुज्यते ॥ ४३ ॥

अन्याभिप्रायोक्तमपि हि तत्सामान्यतोऽप्युपपद्यमानमेवेति।

अथ अनुमान-खण्डने

अनुमिति-परामर्श-खण्डनम्

अनुमानमपि किमुच्यते ?

करणपक्षे लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति चेत्, किं लिङ्गत्वम् ?

खंडन—जो उपलक्षित है, वही त्रित्वविशिष्ट भी है। यदि कहें कि त्रित्वविशिष्टरूप से उपलक्षित नहीं है, तो न सही। अविशिष्टरूप से भी तो उपलक्षित नहीं है। अन्यथा यदि अविशिष्टत्व रूप से उपलक्षित में प्रमितित्व मानें, तो अविशिष्टत्व से उपलक्षित में प्रमितित्व तथा प्रत्यक्षत्वादिविशिष्टरूप से उक्त अभावत्रय होने से प्रत्यक्ष में भी भिन्न-अवच्छेद से प्रमितित्व और अभावत्रय है। अतः प्रत्यक्ष में असंभव हो जायगा।

तस्मात् शङ्कारूप पल्लव जिसमें उल्लसित हैं, ऐसे वचनों का आडम्बर व्यर्थ है। इसी प्रकार अन्य लक्षणों में भी इन दूषणसमूहों का स्वयं ऊह करना चाहिए।

इसी बात को विचारकर भट्टजी ने कहा है कि लक्षण का अभिधान किसी अंश में उपयोगी नहीं है। यद्यपि भट्टजी ने धर्म में नोदना (विधि) ही प्रमाण है या नोदना प्रमाण ही है, प्रत्यक्षादि लक्षण अनुपयोगी हैं—इस प्रस्ताव में यह कहा है, तथापि लक्षण-सामान्य में भी भट्टजी का कथन उपयोगी हो सकता है, क्योंकि लक्षणमात्र उक्त प्रकार से खण्डित हैं।

अनुमान-खण्डन के अन्तर्गत
अनुमिति और परामर्श का खण्डन

खण्डनकर्ता—अनुमान भी क्या वस्तु है ? अर्थात् प्रत्यक्ष की तरह ही अनुमान का लक्षण भी वक्ष्यमाण दोषों से बाधित होने के कारण अनुमान भी अनिर्वचनीय ही है।

समर्थन—'अनुमीयतेऽनेनेति अनुमानम्' यह करणव्युत्पत्ति-पक्ष स्वीकारकर लिङ्ग-परामर्श को ही अनुमान कहेंगे। *खंडन*—इस लक्षण के घटक लिङ्ग का निर्वचन होना चाहिए। अतः पहले यह कहिये कि लिङ्ग क्या वस्तु है ?

व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वमिति चेन्न। संशयस्योपलक्षणत्वे तत्र दृष्टाऽपि व्यापकं तत्परामर्शेऽतिप्रसङ्गात्। अत एव न तस्य वर्तमानस्य अतत्कालेऽप्युपलक्षणत्वात्। विशेषणत्वे चानुमाय व्यापकं धर्मिनाशवदप्रवृत्त्यापत्तेः।

पक्षधर्माद्धेतोः पक्षांशे विशेष्ये साध्यसिद्धिः, ईदृशश्च वैयधिकरण्यमिष्टमेवेत्यतो नैवमिति चेन्न। पक्षमादाय वैयधिकरण्ये नियतसामानाधिकरण्यलक्षणव्याप्तिलोपापत्तेः।

तथापि विशेष्यमादाय साऽस्त्येवेति चेन्न। साध्यविशेषसिद्धिरपि यत्र

निर्वचन— व्याप्तिविशिष्ट धूमादि का पक्षवृत्तित्व ही लिङ्ग है। *खण्डन*—इस पक्ष में भाव-व्युत्पत्ति के निरासार्थ आपको पक्षवृत्तित्वपदघटित पक्ष-पदार्थ यही कहना होगा कि 'जिस धर्मी में साध्य का सन्देह हो, वह पक्ष है।' एवञ्च यहाँ 'सन्देह' पक्ष में उपलक्षण है या विशेषण ? यदि उपलक्षण मानें, तो जहाँ पर्वत में वह्नि का प्रत्यक्ष होने पर भी धूम का परामर्श होता है, वहाँ धूमपरामर्श अनुमान तथा धूम लिङ्ग कहा जायगा। 'वर्तमान सन्देह से उपलक्षित धर्मी में वृत्ति व्याप्तिविशिष्ट धूमादि ही लिङ्ग है। प्रकृत स्थल में सन्देह वर्तमान नहीं है, अतः अतिप्रसङ्ग नहीं' यह भी नहीं कह सकते; कारण भूत, भविष्यत् भी [गुरुटीका, कुरु-क्षेत्र इत्यादि स्थल में] गुरु, कुरु, उपलक्षण देखे जाते हैं। भावार्थ यह है कि 'वर्तमान' विशेषण ही होता है, उपलक्षण नहीं। अतः यदि सन्देह में 'वर्तमान' विशेषण हो, तो वह सन्देह धर्मी का विशेषण हुआ, उपलक्षण नहीं। फिर यदि सन्देह को धर्मी का विशेषण मान लें, तो वह्नि का अनुमान हो जाने के बाद तदर्थ प्रवृत्ति न होनी चाहिए, कारण धर्मी का नाश होने पर धर्म के लिए प्रवृत्ति नहीं होती। यहां वह्नि की अनुमिति हो जाने पर तो सन्देह नष्ट हो जाने से सन्देहविशिष्ट धर्मी का भी नाश हो ही जाता है।

निर्वचन—सन्देहविशिष्ट पर्वत में विद्यमान धूम से केवल पर्वत में वह्नि की अनुमिति होती है और साध्यसिद्धि से सन्देह नष्ट होने पर भी पर्वत विद्यमान ही रहता है। अतः धर्मी के नाश के तुल्य अप्रवृत्ति नहीं होगी। हेतु और साध्य के बीच इस प्रकार का (हेतु समग्र पक्ष में रहे और साध्य पक्ष के एक अंश धर्मिमात्र में रहे, यह) वैयधिकरण्य होता हो, तो वह हमें इष्ट ही है। *खण्डन*—यदि सन्देहविशिष्ट पर्वत में धूम और केवल पर्वत में वह्नि को मानें, तो साधन में नियत-सामानाधिकरण्यरूप साध्य की व्याप्ति ही न रहेगी, अर्थात् व्याप्यसिद्धि हो जायगी।

निर्वचन— यदि सन्देहविशिष्ट पर्वत में धूम है, तो केवल पर्वत में है ही; क्योंकि

व्याप्तिबलायातं सामान्यं तत्र सामान्यप्रतीत्यपर्यवसानबलादेवेति सामान्यविशेष-सिद्ध्यनुपयोगिनी पक्षधर्मता त्वदिष्टा केवलं सिद्धसाधनपरिहाराय अनुमिति-कारणत्वेनैष्टव्या। सिद्धसाधनञ्च न स्वार्थानुमाने दोष इति नानुमितिमात्रहेतु-निवेशिनी सेति। मोक्षमाणैर्हि—

आगमेनानुमानेन ध्यानात्प्रत्यक्षणेन च।
त्रेधाऽऽत्मनि प्रमाणानां संप्लवः स्वार्थमिष्यते ॥ ४४ ॥—इति।

एतेन संशययोग्यताऽपि निरस्ता।

व्याप्यत्वमिति चेत्; किं वस्तुगत्या व्याप्यस्य स्वरूपेण परामर्शोऽनुमानं व्याप्यतया वा? नाद्यः; अगृहीतव्याप्तिनाऽपि धूमादिपरामर्शस्यानुमानताप्रसङ्गात्।

विशिष्ट में वृत्ति धर्म विशेष्य में भी रहता है। अतः पर्वत में साध्य तथा साधन दोनों, रहने से व्याप्ति का विलोप नहीं होगा। *खण्डन*—फिर भी पक्षधर्मत्व का निवेश व्यर्थ ही है। कारण, पर्वत में व्याप्तिविशिष्ट धूम के ज्ञान से ही वहाँ सामान्यतः वह्नि का ज्ञान होगा और वह सामान्य विशेषज्ञान के बिना अपर्यवसित होने से विशेष वह्नि का भी ज्ञापक हो जायगा। अतः पक्षधर्मत्व के निवेश का सामान्य या विशेषरूप से साध्य की सिद्धि में कोई उपयोग नहीं रहा। अब केवल सिद्धसाधनरूप दोष की निवृत्ति में ही उसका उपयोग कहा जा सकता है। किन्तु सिद्धसाधन स्वार्थानुमान में दोष नहीं है, क्योंकि मुमुक्षुओं के आगम (श्रवण), अनुमान (मनन) और ध्यान (निदिध्यासनरूप प्रत्यक्ष) तीनों आत्मा में होने से प्रमाणत्रय का एक में सङ्कर तथा शब्दसिद्ध आत्मा में अनुमिति भी देखने में आती है। अतः अनुमितिमात्र में पक्षधर्मता को कारण नहीं कहा जा सकता।

निर्वचन—'सन्देहयोग्य साध्य से विशिष्ट पर्वतादि पक्ष है तथा उक्त पक्ष में वृत्ति व्याप्तिविशिष्ट धूमादि हेतु ही लिङ्ग है।' *खंडन*—व्यापक वह्नि आदि का प्रत्यक्ष होने पर भी धूमादि हेतु का ज्ञान (परामर्श) हो जायगा; क्योंकि साध्य का निश्चय होने पर भी साध्य-सन्देह की योग्यता है ही, कारण योग्यता यावद्द्रव्यभावि हुआ करती है। अन्यथा उक्त पक्ष में कालान्तर में भी संशय न होने से अनुमिति न होगी।

निर्वचन—'व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग है और उसका परामर्श ही अनुमान है' इतना ही अनुमान का लक्षण कहेंगे। पक्षधर्मत्व का लिङ्गलक्षण में निवेश न रहे, तो क्या

नापि द्वितीयः ; व्याप्त्युल्लेखिनः प्रमाणस्यानुमानत्वप्रसङ्गात् । तस्यापि व्याप्यत्व-ग्राहितया अवश्यवक्तव्यत्वात् ।

अत एव द्वितीय-तृतीयविशेषणे अपि निरस्ते । धारावाहिनि तथात्वापत्तेः । गृहीतव्याप्तिनाऽपि युगपदुभयग्रहणे द्वावेतौ व्याप्यव्यापकाविति परामर्शस्यानुमानत्वप्रसङ्गात् । न च तदनुमानमेव ; असन्दिग्धतया पक्षत्वाभावेन तद्धर्मस्य हेतोः सिद्धसाधनवदपक्षधर्मत्वात्[1] ।

स्वार्थानुमाने नाऽयं दोष इति चेन्न । प्रत्यक्षलक्षणोपपत्त्या साक्षात्त्वासाक्षात्त्व-विरोधापत्तेः ।

हानि है ? *खंडन*—क्या वस्तुतः जो हेतु व्याप्तिविशिष्ट है, उसका स्वरूप से परामर्श अनुमान है या व्याप्तिविशिष्टस्वरूप से हेतु का परामर्श अनुमान है ? प्रथम पक्ष में जिस पुरुष को व्याप्तिग्रह न हुआ हो, उसका 'पर्वतो धूमवान्' यह ज्ञान अनुमान हो जायगा । द्वितीय पक्ष में व्याप्ति को विषय करनेवाला 'धूमाग्नी व्याप्तौ' यह ज्ञान भी अनुमान हो जायगा । कारण व्याप्त्युल्लेखी उक्त ज्ञान का व्याप्यत्व भी विषय होता ही है ।

अतएव (उक्त दोष से ही) 'द्वितीय लिङ्गपरामर्श (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः) या तृतीय लिङ्गपरामर्श (धूमवांश्चायम्) अनुमान है' यह कथन भी युक्त नहीं है । किञ्च—धारावाही ज्ञान का द्वितीय या तृतीय 'पर्वतो धूमवान्' यह ज्ञान भी अनुमान हो जायगा । किञ्च—जहाँ व्याप्ति के प्रत्यक्ष के बाद 'धूमवह्नी व्याप्यव्यापकौ' यह मानस-ज्ञान हुआ, तो वह भी अनुमान हो जायगा । 'वह ज्ञान अनुमान ही है' ऐसी इष्टापत्ति नहीं कह सकते; कारण वहाँ साध्य का सन्देह न होने से पर्वत पक्ष नहीं है । अतः उस पर्वत में विद्यमान हेतु, सिद्धसाधनस्थल की तरह, पक्ष का धर्म ही नहीं हो सकता ।

समर्थन—स्वार्थ-अनुमान में अपक्षधर्मत्व दोष नहीं है । अतः व्याप्तिप्रत्यक्ष के अनन्तर जात 'धूमवह्नी व्याप्यव्यापकौ' यह धूमपरामर्श अनुमान ही है । *खंडन*—यदि उक्त परामर्श को अनुमान मान लें, तो उसके अनन्तर होनेवाला 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान अनुमानजन्य होने से अनुमिति तथा चक्षु से अन्वित होने से प्रत्यक्ष भी होगा । एवञ्च अनुमितित्व और प्रत्यक्षत्व में सङ्कर हो जायगा ।

१ परार्थानुमान-स्थल में सिद्धसाधन दोष होने से वहाँ अतिव्याप्ति के वारणार्थ पक्ष-वृत्तित्व का निवेश आवश्यक है । फिर भी यह ग्रन्थ आपाततः है ।

अव्यापकविषयत्वे सतीति चेन्न । व्याप्यविषयत्वाभावप्रसङ्गात् । व्याप्यत्वं हि सप्रतियोगिकग्रहणम् , तथा चैतस्य व्याप्यमिदमिति गृह्यते । तथा च सति व्यापकस्यापि विशेषणस्य ग्रहणमवश्यं वक्तव्यम् । अन्यथा विशिष्टग्रहणस्य वक्तुमशक्यत्वात् ।

विशेषतो व्यापकाविषयत्वे सतीति चेन्न । 'अग्निधूमौ व्याप्तावि'त्याप्तोपदेशाद्, वा पूर्वं भूयोगृहीतवह्निधूमसाहचर्यस्य वह्निधूमाग्रहणकाले विमर्शवशाद् वा जायमानव्याप्तिग्रहणस्य व्याप्यपरामर्शोऽनुमानं स्यात् ।

न परामर्शः प्रत्ययमात्रं येन प्रथमग्रहणे प्रसङ्गः स्यात् । किन्नाम ? प्रत्यभिज्ञानमिति चेन्न । विचारादाप्तोपदेशाद्वा प्रतीत्य व्याप्तिं पुनराप्तोपदेशाद्विचाराद्वा यैव मया व्याप्तिर्गृहीता सैवेयमिति प्रत्यभिजानानस्य व्याप्तिज्ञानमनुमानं स्यात् ।

विशेषतो व्याप्यविषयत्वे सतीति चेन्न । अव्यापकत्वप्रसङ्गात् । एकव्यक्तिविष-

निर्वचन—'व्यापकाविषयक जो व्याप्यपरामर्श वह अनुमान है' ऐसा कहेंगे। *खंडन*—जो व्यापक को विषय न करे, ऐसा व्याप्यविषयक ज्ञान हो ही नहीं सकता, कारण व्याप्य व्यापक से निरूपित ही होता है । अर्थात् 'इसका यह व्याप्य है' ऐसा ही व्याप्य का ज्ञान होता है । अतः व्याप्ति में विशेषणरूप से व्यापक अवश्य भासता है । अन्यथा विशेषण के भान के बिना विशिष्ट का भान ही न सकेगा ।

निर्वचन—'जिस ज्ञान का विशेषरूप से व्यापक विषय न हो, ऐसा जो व्याप्य परामर्श वह अनुमान है' ऐसा कहेंगे । *खंडन*—'धूमाग्नी व्याप्यव्यापकौ' इस आप्त के उपदेश से या पूर्वकाल में जिस पुरुष को बार-बार वह्नि-धूम का साहचर्यज्ञान हुआ हो, उस पुरुष के वह्नि-धूम के अप्रत्यक्षकाल में विचार (तर्क) से जात व्याप्य-परामर्श अनुमान हो जायगा । कारण शाब्द या मानस होने से उक्त ज्ञानों में व्यापक विशेष रूप से नहीं भासता ।

समर्थन—हम ज्ञानमात्र को नहीं, किन्तु प्रत्यभिज्ञा को परामर्श कहते हैं । उक्त-शाब्द या मानस ज्ञान प्रत्यभिज्ञारूप नहीं हैं, अतः उनमें अनुमान-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—तब तो विचार या आप्तोपदेश से व्याप्तिज्ञान होने के बाद जायमान विचार या आप्तादेश से जो व्याप्ति गृहीत हुई थी, वही यह है' इत्याकारक व्याप्ति-प्रत्यभिज्ञा भी अनुमान हो जायगी ।

निर्वचन—विशेषरूप से व्याप्यविषयक परामर्श को ही अनुमान कहेंगे । अर्थात् 'जिसका विषय विशेषरूप से व्यापक नहीं हो, वह अनुमान है ।' *खण्डन*—'विशेष

यत्वस्य व्यक्त्यन्तरेऽसम्भवात् सामान्यतो व्यक्तिविषयत्वस्य चातिप्रसञ्जकत्वात् ।

किञ्च—धूमवत्त्वादेर्यदा कदाचिदग्निमत्त्वं वा प्रतीयते तदानीं वाऽग्निमत्त्वं पर्वतादेः ? नाद्यः ; तदानीमिव अन्यदाऽप्यग्न्यर्थिप्रवृत्तेस्तत्र प्रसङ्गात् । न द्वितीयः ; तदानीमग्निमत्तया व्याप्तत्वानवगमात् ।

तदेति धूमकालोऽपेक्षित इति चेन्न । क्वचिद्देशेऽन्यदाऽपि धूमस्यावस्थानमस्तीति कालान्तरस्यापि धूमकालत्वात् ।

तद्धूमकालोऽपेक्षित इति चेन्न । तच्छब्दस्य व्यक्तिविशेषवचनत्वे अप्रतीतव्याप्तिकत्वम्, यत्किञ्चिद्व्यक्तिवचनत्वे चोक्तदोषापत्तिः ।

रूप से व्याप्यविषयक हो' इस वाक्य का क्या पर्वतादिनिष्ठ तत्तद् धूमादिविषयक हो, यह अर्थ विवक्षित है या सामान्यतः व्यक्तित्वाधिकरण-विषयक हो, यह अर्थ है ? प्रथम पक्ष में अरण्यादिगत धूम-परामर्श में अव्याप्ति हो जायगी, कारण लक्षण में पर्वतगत धूमव्याप्ति विशेष होने से अरण्यगत धूम में उक्त लक्षण का असम्भव है । द्वितीय पक्ष में सामान्यतः व्यक्तित्वाधिकरण प्रत्यभिज्ञान का भी विषय है, अतः पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—धूम से पर्वत में जिस किसी काल से सम्बद्ध वह्नि की प्रतीति होती है या उसी काल से सम्बद्ध वह्नि की ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; कारण जैसे उस काल में अग्नि के लिए मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही अन्यकाल में भी होने लगेगी । द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं; कारण तात्कालिकत्वरूप से अग्नि की धूम वे व्याप्ति नहीं है, किन्तु अग्नित्वरूप से ही अग्नि की धूम में व्याप्ति है ।

निर्वचन—'यदा यदा धूमस्तदा तदा वह्निः' ईदृश व्याप्तिग्रह में काल भासता ही है, अतः धूमकालिक अग्नि की अनुमिति हो ही सकती है । *खंडन*—किसी देश में दूसरे काल में भी धूम रहता है, अतः अन्य काल भी धूमकाल होने से उस काल में भी अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति होनी चाहिए ।

निर्वचन—'तद्-शब्द परामर्शविषय धूमपरक है, अतः अन्य काल में अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति नहीं होगी । *खंडन*—यदि तद्-शब्द को परामर्शविषय तत्-तद् धूमव्यक्तिपरक मानें, तो तत्तद् धूमव्यक्तिविशेष में तो विशेषरूप से व्याप्तिग्रह है नहीं । फिर अनुमिति में उस काल का स्फुरण कैसे होगा ? यदि तद्-शब्द को जिस व्यक्ति में व्याप्तिग्रह हुआ है, उस व्यक्तिपरक मानें, तो सम्भव है कि अन्य काल में विद्यमान धूम में भी

हेतोः पक्षधर्मतयाऽप्यपर्वतादिधर्मः साध्यो मा भूत्, ततस्तु कालान्तरे किं न स्यात् । तं कालमन्तर्भाव्य पक्षत्वे कथं पश्चान्निष्कम्पं प्रवर्तेत। धूमकालमन्तर्भाव्य चेदुक्तमावर्तते । तद्धूमकालश्चेद्; अंशतः स्ववृत्तिः ।

व्याप्ति-तद्ग्रहोपाय-खण्डनम्

कश्च व्याप्तिशब्दार्थ इति वक्तव्यम् ।

अविनाभाव इति चेन्न । किमेकस्याव्यतिरेकेऽपरस्य भावोऽविनाभावपदार्थः, उत एकस्य व्यतिरेकेऽपरस्य व्यतिरेकः ? यद्याद्यः; तदाऽव्यतिरेकोऽन्वयार्थ

व्याप्तिग्रह हुआ हो । अतः अन्य काल में भी प्रवृत्ति हो जायगी ।

समर्थन—पक्षधर्मताबलात् भी पर्वतीय वह्नि की सिद्धि हो सकती है, केवल नियतकालीनता से नहीं । यहाँ वह अप्रयोजक है । *खण्डन*—हेतु की केवल पक्षधर्मता से पर्वतेतर देश और तत्कालेतरकालगत वह्नि न सिद्ध हो, बल्कि तद्देशकालीन साध्य ही सिद्ध हो । किन्तु अन्यकाल में अग्नि की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? यदि कहें कि 'अनुमितिकाल या लिङ्गकाल से विशिष्ट संदिग्धसाध्यधर्मी पक्ष है । अतः लिङ्गकाल अनुमिति में भासता है । इसलिए अन्य काल में साध्यसिद्धि की आपत्ति नहीं आयेगी', तो लिङ्गकाल का नाश होने पर धर्मी के नाश के तुल्य पक्ष में प्रवृत्ति ही नहीं होगी ।

निर्वचन—लिङ्गकाल पक्ष में विशेषरूप से नहीं भासता, किन्तु धूमकाल भासता है और धूमकाल धूम की अनुवृत्ति होने से प्रवृत्तिकाल भी है, अतः हानि नहीं । *खंडन*—यदि धूमकाल को पक्ष में विशेषण मानें, तो अन्य काल भी धूमकाल है अतः अन्य काल में भी प्रवृत्ति होनी चाहिए । यदि तद्धूमकाल पक्ष में विशेषण मानें, तो 'तद्धूमकालविशिष्टपर्वतः धूमवान्' इस तरह पक्षधर्मता का ज्ञान होने से अंशतः धूम धूमवृत्ति हो जायगा, अर्थात् अंशतः आत्माश्रय हो जायगा ।

व्याप्ति और व्याप्तिग्रहोपाय का खण्डन

किञ्च—आपको यह भी कहना होगा कि व्याप्यत्वघटक व्याप्तिशब्द का अर्थ क्या है ?

निर्वचन—अविनाभाव ही व्याप्ति-शब्द का अर्थ है । *खंडन*—इस 'अविनाभाव' शब्द का अर्थ क्या 'एक के अव्यतिरेक में अपर का भाव है' या 'एक के व्यतिरेक में अपर का व्यतिरेक ?' यदि प्रथम पक्ष मानें, तो अव्यतिरेक का अर्थ अन्वय होता है । तथा च 'एक के अन्वय में अपर का अन्वय', यह इसका अर्थ हुआ । ऐसा मानने पर

इत्येकस्यान्वयेऽपरस्यान्वय इत्युक्तं स्यात् । एवञ्च सति पार्थिवत्व-लोहलेख्यत्वयो-रन्वयो व्याप्तिः स्यात् ।

न क्वाचित्कः सम्बन्धो व्याप्तिः, सार्वत्रिकस्य तथात्वेन विवक्षितत्वादिति चेत् । किमिदं सार्वत्रिकत्वं सम्बन्धस्य ? सर्वासु तज्जातीयव्यक्तिषु विद्यमानतेति चेत् ; नेयं सर्वतज्जातीयव्यक्त्यपरिज्ञाने शक्याऽवधारणा । न च सर्वास्ता व्यक्तयो विशेषतो ज्ञातुं शक्याः, तत्तत्प्रमितिकरणासम्भवात् ।

इन्द्रियेण सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले सर्वास्तज्जातीय-व्यक्तयो गृह्यन्ते, यदनभ्युपगमे षण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिवेति वाचस्पतिरुपालम्भमवादीदिति चेत् । मैवम् ; सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिं गृह्णतः सार्वज्ञ्यप्रसङ्गात् ।

क्वचिदप्यज्ञानं ते न स्यादिति च सार्वज्ञ्यापादनमिति न प्रतिकृत्याऽपि ।

लोहलेख्यत्व (कुठारादिच्छेद्यत्व) रूप साध्य की पार्थिवत्व में व्याप्ति हो जायगी । कारण पार्थिवत्व का जिस काष्ठादि में अन्वय है, वहाँ लोहलेख्यत्व का भी अन्वय है ही ।

समर्थन—क्वाचित्क सम्बन्ध अर्थात् अन्वय व्याप्ति नहीं, किन्तु सार्वत्रिक अन्वय ही व्याप्ति है । एवञ्च पार्थिवत्व का लोहलेख्यत्व से सार्वत्रिक अन्वय नहीं है, कारण वज्र (हीरे) में वह व्यभिचरित हो जाता है । *खंडन*—सम्बन्ध में सार्वत्रिकत्व क्या वस्तु है ? यदि 'तज्जातीय सर्वव्यक्तियों में विद्यमानता' है, तो जबतक सर्वव्यक्तियों का ज्ञान न हो, तबतक सर्वव्यक्तियों में सम्बन्ध की विद्यमानता का भी ज्ञान हो नहीं सकता । सब व्यक्तियों का विशेषरूप से ज्ञान हो नहीं सकता; क्योंकि उक्त ज्ञान के लिए करणभूत इन्द्रियसन्निकर्ष ही नहीं है ।

समर्थन—चक्षुरिन्द्रिय से सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) द्वारा व्याप्ति-ग्रहकाल में धूमत्वेन सभी धूम और वह्नित्वेन सभी वह्नि व्यक्तियों का ग्रहण हो ही सकता है । सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति न मानकर व्याप्तिग्रह का स्वीकार करना षण्ढ से विवाहकर मुग्धा स्त्री द्वारा पुत्र-प्रार्थना के तुल्य ही है, यह उपालम्भ तो श्रीवाचस्पति मिश्र दे ही चुके हैं । *खंडन*—यदि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से व्याप्तिग्रहण-काल में सभी व्यक्तियों का ग्रहण मानें, तो प्रमेयत्व और अभिधेयत्व के व्याप्तिग्रह-काल में प्रमेयमात्र का ग्रह हो जाने से मनुष्यमात्र को सर्वज्ञ हो जाना चाहिए ।

प्रतिबन्दी प्रश्न—सर्वज्ञत्व का प्रसङ्ग हो जायगा, यह दोष भी सर्व के ज्ञान के बिना हो नहीं सकता । कारण जब आप सर्व को जानते ही नहीं, तो मुझमें सर्वज्ञान का

प्रमेयतया व्याप्तिग्रहणकाले सर्वतज्जातीयव्यक्तिग्रहणे प्रमेयत्वादिसर्वं तदा ज्ञायत एव, न तु रूपान्तरेणेति चेन्न। यदि रूपान्तरेण तत् प्रमेयं तदा रूपान्तरवतोऽपि प्रमेयत्वाधारतया कथमग्रहणम्। अथ न प्रमेयं नास्त्येव रूपान्तरेण तत्। येन तु रूपेणास्ति तेन सर्वेण प्रमेयमिति यावद्विद्यमानाकारेण ज्ञातत्वप्रसङ्गः। तथात्व-स्वीकारे च ज्ञायतां प्रमेयत्वदर्शिना भवता मामकी चित्तवृत्तिः, ततः श्रद्धास्ये।

स्यादेतत्—यथा भेदोऽन्योन्याभाववैधर्म्यादिः पृथक्, तथैक्यमपि वस्तूनाम्। ततः प्रमेयत्वाद्यपि धर्मिणामेकत्वमेकमेव। ततः प्रमेयत्वेन ज्ञायमानं तत् सर्वमपि तेनैक्येन प्रतीयमानैकव्यक्त्यात्मकमेव ज्ञायमानं भवतीति कथं तदेकत्ववेदिनः सार्वज्ञम्। न च वाच्यं नानात्वमपि व्यक्तीनां प्रमेयमिति तदपि धर्मितया

आरोप कैसे करेंगे? तब तो आपमें भी सर्वज्ञता की आपत्ति आ जायगी। उत्तर—यह प्रतिकृत्या (प्रतिबन्दी) भी युक्त नहीं है। कारण 'मेरे चित्त में क्या है' इस प्रश्न का उत्तर न देने से मेरी हृद्गत वस्तु को आप नहीं जानते, यह बात स्पष्ट है, जो मेरी हृद्गत वस्तु के जान लेने पर सिद्ध नहीं हो सकती—यही यहाँ सर्वज्ञत्वापादन का आशय है। अनिष्टकारक देवता को 'कृत्या' कहते हैं और उस देवता की निवारक देवता को 'प्रतिकृत्या' कहते हैं। प्रकृतमें लक्षणा से 'प्रतिकृत्या' शब्द प्रतिबन्दीपरक है।

समर्थन—सामान्यलक्षणा से प्रमेयत्वरूप से सर्व का ग्रहण होने पर भी रूपान्तर (तत्तद्रूप) से सर्व का ग्रहण नहीं होता, अतः सर्वज्ञत्व का प्रसङ्ग नहीं है। *खंडन*—यदि तत्तद्रूप से तत्-तत् वस्तु प्रमेय हैं, तो तत्तद्रूपविशिष्ट तत्तद्वस्तु भी प्रमेयत्व की आधार हैं ही। फलतः प्रमेयत्व रूप से उनका ग्रहण क्यों न हो? यदि अन्यरूप से वे प्रमेय नहीं हैं, तो अन्यरूप से वे हैं ही नहीं। जिस रूप से वे हैं, उस रूप से प्रमेय ही हैं। अतः यावत् विद्यमान आकारों से उसका ग्रहण होने लगेगा। यदि आप यह मान लें कि यावत् विद्यमान आकारों से सभी वस्तु ज्ञेय हैं, तो प्रमेयत्व से सब वस्तुओं को देखनेवाले आप मेरे चित्त में विद्यमान वस्तु को भी जान लें, तभी आपके वचन में मैं श्रद्धा करूँगा।

समर्थन—जैसे अन्योन्याभाव, वैधर्म्य आदि रूपभेद, वस्तुओं में पृथक्त्वरूप हैं, वैसे ही एकत्व, प्रमेयत्व आदि भी वस्तुओं के ऐक्यरूप ही हैं। एवञ्च प्रमेयत्व आदि भी धर्मियों के ऐक्यरूप ही हैं। तस्मात् प्रमेयत्व रूप से ज्ञायमान वह सर्ववस्तु

ग्राह्यमेवेति; यतस्तदपि प्रमेयत्वादिना गृह्यमाणमेकमेव गृहीतं भवतीति। तस्मात् "एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः।"—इति। तत्त्वतः = ताद्रूप्येण एकीभूता इति।

तदेतदपि नोपपन्नम्; नानैकमिति व्याहतप्रतीत्यापत्तेः। अथ रूपान्तरेण नानात्वं प्रमेयत्वादिना चैक्यमिति व्यवस्थित्या न व्याघातः स्यात्; तर्हि प्रमेयत्वाद्याधारस्य व्यक्तिभेदस्य कृत्स्नस्य ग्रहणात् सार्वज्ञापत्तिस्तादवस्थ्येवेति।

किञ्च—सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या तज्जातीयविशेषग्रहणे तासु सर्वासु व्यक्तिषु सम्बन्धास्तित्वे किं प्रमाणम्?

सर्वव्यक्तिवत् तत्सम्बन्धग्रहेऽपि व्याप्तिग्राहकमिन्द्रियमेव प्रमाणमिति चेत्; तर्हि क्वचिदेवमवधारितस्य यद्व्यभिचारो दृश्यते, तन्न स्यात्, इन्द्रियेण तत्सम्बन्धस्य प्रमितत्वात्।

ऐक्यरूप से प्रतीयमान एकरूपात्मक ही ज्ञात होता है। अतः एकत्ववेत्ता पर सर्वज्ञत्व का प्रसङ्ग कैसे आ सकता है? यदि कहें कि व्यक्तियों का नानात्व भी प्रमेयत्व रूप से ज्ञात होता है। अतः वस्तु नाना हैं, तो वह युक्त नहीं है। कारण; प्रमेयत्व रूप से गृहीत नानात्व भी एक ही होता है। कहा भी है: 'जिस पुरुष ने एक भाव (वस्तु) को प्रमेयत्वादि रूप से देख लिया, उसने संपूर्ण भावों को प्रमेयत्वादि रूप से एकता-प्राप्त ही देखा है।'

खण्डन—यदि ऐसा मानें, तो 'नाना एक हैं' ऐसी व्याहत प्रतीति होने लगेगी। यदि कहें कि अन्य रूपों से नाना हैं तथा प्रमेयत्व रूप से एक है, अतः व्याहत प्रतीति नहीं होगी, तो प्रमेयत्व के आधारभूत सभी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का ग्रहण हो जाने से सर्वज्ञत्व की आपत्ति पूर्ववत् ही बनी रही।

किञ्च—सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से सब व्यक्तियों का ज्ञान होने पर भी उनमें व्याप्तिरूप सम्बन्ध है, इसमें क्या प्रमाण है?

समर्थन—सभी व्यक्तियों के तुल्य उनके व्याप्तिरूप सम्बन्ध के ज्ञान में भी इन्द्रिय करण और सामान्यलक्षणा ही प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) है। अतः सम्बन्ध-ज्ञान में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। *खण्डन*—यदि सम्बन्ध-ज्ञान में प्रत्यक्ष को प्रमाण मानें, तो 'यत्र यत्र पार्थिवत्वं तत्र तत्र लोहलेख्यत्वम्' ऐसा व्याप्ति-निश्चय होने पर भी वज्र में देखा जानेवाला व्यभिचार न होना चाहिए, कारण प्रत्यक्ष से व्याप्तिरूप सम्बन्ध प्रमित ही है।

भ्रान्तिस्तत्र सम्बन्धप्रतीतिः पश्चाद् बाधादिति चेन्न। सामग्र्यभेदे काचिद् भ्रान्तिः, काचिदभ्रान्तिरिति विभागानुपपत्तेः। दोषादोषवैचित्र्यविवेचनस्य च दुष्करत्वात्।

कार्यभेदादेव सामग्रीभेदोऽप्युन्नेय इति चेत्। उन्नीयताम्; स एव तु कीदृगुन्नेय इति वाच्यम्। न तावत्सार्वत्रिकसम्बन्धभावाभावात्मकः, तदानीं भाविनां सम्बन्धानामसत्त्वेनाकारणत्वात्। सामान्यतश्च तज्जातीययोः सम्बन्धस्य प्रतीतेः पूर्वं सत्त्वं भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणम्। क्वचिदपि सम्बन्धाभावे भ्रान्तेरनुत्पादात्।

किमेतावता, अन्य एव तर्हि कार्यभेदात्कारणभेदः कल्पयिष्यत इति चेत्; स हि किमिन्द्रियसहकारिभूतः करणान्तरमेव वा कल्पनीय इति वाच्यम्। नाद्यः; इन्द्रियस्य भाविभूतसम्बन्धांशे प्रमाणत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्। प्रत्युत

समर्थन—वहां व्याप्तिरूप सम्बन्ध की प्रतीति भ्रमरूप है, कारण पीछे वह बाधित हो जाती है। *खण्डन*—धूम में वह्नि के व्याप्तिग्रह के इन्द्रिय, सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति आदि जो कारण हैं, वे ही तो पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व के व्याप्तिग्रह में भी कारण हैं। फिर जब कारण एक हैं, तो पूर्वस्थल में अभ्रान्ति और उत्तरस्थल में भ्रान्ति है, यह विभाग हो नहीं सकता। पूर्वस्थल में दोष नहीं है और उत्तरस्थल में दोष है, यह वैचित्र्य-विवेचन भी दुष्कर है।

समर्थन—कार्य के भेद से अर्थात् पूर्वस्थल में प्रमारूप तथा उत्तरस्थल में भ्रमरूप व्याप्तिग्रह होता है इससे सामग्रीभेद की अनुमिति करेंगे। *खंडन*—भले ही अनुमिति कीजिये, किन्तु यह कहिये कि वह सामग्रीभेद क्या है? वह्नि-धूमस्थल में सार्वत्रिक सम्बन्ध है और लोहलेख्यत्व-पार्थिवत्वस्थल में सार्वत्रिक सम्बन्ध नहीं है, यह सामग्रीभेद तो आप कह नहीं सकते। कारण व्याप्तिग्रहकाल में भावी सम्बन्ध तो है नहीं, अतः व्याप्तिग्रह के भावी सम्बन्ध कारण नहीं हो सकते। यदि कहें कि सामान्यरूप से वह्नि-धूमजातीय का सम्बन्ध व्याप्तिग्रह से पूर्व विद्यमान ही है, तो लोहलेख्यत्व और पार्थिवत्व का सम्बन्ध भी सामान्यरूप से काष्ठादि में व्याप्तिग्रहकाल में विद्यमान है। यदि कहीं भी लोहलेख्यत्व और पार्थिवत्व के सम्बन्ध का ग्रह न हो, तो भ्रान्ति कैसे होगी?

समर्थन—कार्यभेद से कारणभेद की कल्पना करेंगे और वह सार्वत्रिक सम्बन्ध से अन्य ही मानेंगे। *खण्डन*—वह कारण क्या इन्द्रिय का सहकारी है या स्वतन्त्र (इन्द्रिय-निरपेक्ष) अन्य ही? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि इन्द्रियों को भावि-भूत के सम्बन्धांश (व्याप्ति-अंश) में करण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत

व्युपरतेन्द्रियव्यापारस्यापि विचारयतः पूर्वप्रतीतसम्बन्धधर्मिद्वयस्य व्याप्त्यवधारणदर्शनात्।

तदाऽपि मनोऽस्तीन्द्रियमिति चेत्। अस्तु; तस्मिन् कार्ये मनसः करणत्वे तु प्रमाणाभावः, अवश्यपरिकल्पनीयेनान्येनैव सर्वानुपपत्त्युपशान्तेः। कारणत्वमात्रं तु चक्षुरादिजज्ञानवन्मनसस्तत्र स्यात्।

चक्षुरादिवत्करणमन्यदेव तत्कल्पनीयमिति सप्तममिन्द्रियं प्रमाणान्तरं वा प्रसज्येत। अन्यथा चाक्षुषादिप्रतीतावपि चक्षुरादेः करणत्वं न स्यात्। शक्यते तत्रापि वक्तुं मन एव तत्र सुखादिप्रतीतिवत्करणम्, चक्षुरादयस्तु सहकारिमात्रम्।

नापि द्वितीयः; इन्द्रियान्तरप्रसङ्गात्, प्रमाणान्तरप्रसङ्गाद्वा।

नापि विनाभाव एकस्य व्यतिरेकेणापरस्याव्यतिरेकः; तन्निषेधोऽविनाभाव

इन्द्रिय-व्यापार विरत होने पर भी 'वह्नि की व्याप्ति धूम में न हो, तो धूम और वह्नि का भूयः सहदर्शन नहीं हो सकता' यह विचार करनेवाले मनुष्य को पूर्वप्रतीत परस्परसम्बद्ध व्याप्य-व्यापक धर्मिद्वय का व्याप्तिग्रह (ज्ञान) देखा ही जाता है।

यदि कहें कि चक्षुरादि के उपरामकाल में भी मनरूप इन्द्रिय तो है ही, तो वह भी युक्त नहीं। कारण चाक्षुषादि ज्ञान के तुल्य व्याप्तिग्रह में भी मन कारण तो है, किन्तु अवश्य परिकल्पनीय सहकारी कारणों से ही सर्वदोषों की निवृत्ति होने से मन को व्याप्तिग्रह में करण मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहें कि जैसे चाक्षुषादि ज्ञान में चक्षु करण है, वैसे ही व्याप्तिग्रह में भी मन से अन्य ही कोई करण मानेंगे, तो वह भी ठीक नहीं। वैसी स्थिति में यदि आप व्याप्तिग्रह को प्रत्यक्ष मानें, तो सप्तम इन्द्रिय हो जायगी और यदि परोक्ष मानें, तो सप्तम प्रमाण हो जायगा, क्योंकि वह व्याप्त्यादिनिरपेक्ष होने से लिङ्गादि से विलक्षण है। एवञ्च अपसिद्धान्त हो जायगा। अन्यथा यदि मन को ही करण मानें, तो चाक्षुषादिज्ञान में भी चक्षु करण न होगा। कारण कह सकते हैं कि मन ही सुखानुभव की तरह चाक्षुष में भी करण है, चक्षु तो सहकारीमात्र है।

'वह कारण इन्द्रिय से निरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र कारण है' यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि फिर तो वह पूर्वोक्त रीति से सप्तम इन्द्रिय या सप्तम प्रमाण हो जायगा।

'एक के व्यतिरेक से अपर का अव्यतिरेक विनाभाव है और उसका निषेध अविनाभाव है' यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं। कारण ऐसा होने पर लोहलेख्यत्व

इति द्वितीयः पक्षः। एवं हि लोहलेख्यत्वव्यतिरेकश्च पार्थिवत्वव्यतिरेकश्च क्वचिदस्तीति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्यविनाभावः प्रसज्येत।

सार्वत्रिकं व्यतिरेकयौगपद्यं विवक्षितम्, न तु काचित्कम्। अत एवोच्यते—अविनाभावनियम इति चेन्न। सार्वत्रिकान्वयावधारणनिरासन्यायेन सार्वत्रिक-व्यतिरेकावधारणस्याप्यशक्यत्वात्। शक्यत्वे चाऽन्वयावधारणमेवास्तु सार्वत्रिकम्, कृतं व्यतिरेकावधारणकुटिलिकया।

यत्र विपक्षे वृत्तौ बाधकमस्ति, तयोरन्वयो व्याप्तिरिति केचित्। तन्न; यत्तु विपक्षे वृत्तौ बाधकं तत्प्रमाणं वा तर्को वा स्यात्?

आद्ये न तावदिन्द्रियम्; तदसम्भवात्। अन्यथा व्यभिचाराव्यभिचारसंशयो न स्यात्।

का व्यतिरेक (अभाव) और पार्थिवत्व का व्यतिरेक भी कहीं आकाश में है; अतः पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का भी अविनाभाव (व्याप्ति) हो जायगा।

समर्थन—व्यतिरेक का सार्वत्रिक साहित्य विवक्षित है, क्वाचित्क साहित्य विवक्षित नहीं है। अतएव 'अविनाभाव का नियम व्याप्ति है' ऐसा कहा जाता है। *खंडन*—सामान्यलक्षणा के न होने से सार्वत्रिक अन्वयज्ञान के तुल्य सार्वत्रिक व्यतिरेक-ज्ञान भी अशक्य ही है। किसी प्रकार वह अवधारण (ज्ञान) शक्य भी हो, तो अन्वय का अवधारण ही व्याप्ति मान लें, 'व्यतिरेक का अवधारण व्याप्ति है' यह वक्रोक्ति व्यर्थ है।

समर्थन—कोई आचार्य कहते हैं कि जिन साध्य-साधनों के बीच साधन के विपक्ष-वृत्तित्व (साध्याभावाधिकरण-वृत्तित्व) में बाधक हो, उन दोनों का अन्वय व्याप्ति है। *खण्डन*—यह भी युक्त नहीं है, कारण विपक्ष में साधन के वृत्तित्व का बाधक क्या है—प्रमाण या तर्क?

यदि प्रमाण बाधक हों, तो उनमें चक्षुरादि इन्द्रियाँ तो हो नहीं सकतीं; क्योंकि इन्द्रियाँ सम्बद्धमात्र को ही ग्रहण करती हैं। अतः उनसे अतीत, अनागत और असन्निकृष्ट विपक्षों का ज्ञान हो नहीं सकता। यदि इन्द्रियों द्वारा हेतु में अतीत, अनागत विपक्ष-वृत्तित्वाभाव का भी ग्रहण मानें, तो कहीं भी व्यभिचार का सन्देह नहीं होना चाहिए।

नाप्यनुमानम्; अनवस्थाप्रसङ्गात् ।

नाप्यर्थापत्तिः ; अनुमानाव्यतिरेकात् । व्यतिरेके वा यदि लिङ्गिव्यतिरेकेण लिङ्गस्यानुपपत्तिः, तदा तत एव लिङ्गिसिद्धेः कृतमनुमानेन । अनेवम्भावे च तयोः किमायातम् ।

अस्तु वा कथमपि तावदर्थापत्तिर्बाधिका; तथापि कीदृगभ्युपगम इति प्रष्टव्यम् । किं विपक्षवृत्तिबाधकसध्रीचीनो यत्र क्वचिदन्वयो व्याप्तिः, उत तत्सहितः सार्वत्रिकोऽन्वयः, उत किं नो विशेषगवेषणेन तत्सध्रीचीनः सामान्यतोऽन्वयो व्याप्तिः, उत सार्वत्रिकान्वयः, स च विपक्षे बाधकादवगम्यते ?

नाद्यः ; विकल्पानुपपत्तेः । तथा हि—किं विपक्षे वृत्तौ बाधकं सर्वव्यक्ति-

"ह्रदादिः धूमाभाववान् वह्न्यभावात्" इत्याकारक अनुमान भी विपक्ष-वृत्तित्व का बाधक प्रमाण नहीं हो सकता । कारण उक्त स्थल में वह्न्यभाव में धूमाभाव की जो व्याप्ति है, उसके घटक विपक्ष का बाधक भी अनुमान ही होगा; इस प्रकार अनवस्था हो जायगी ।

अर्थापत्ति भी विपक्ष-वृत्तित्व में बाधक प्रमाण नहीं है । कारण अनुमान में ही अर्थापत्ति का अन्तर्भाव है । यदि अर्थापत्ति को अनुमान से पृथक् भी मानें और उसका स्वरूप साध्य के अभाव में हेतु की अनुपपत्तिरूप मानें, तो उसीसे (अर्थापत्ति से ही) साध्य की सिद्धि हो जाने पर अनुमान व्यर्थ हो जायगा । यदि अन्य रूप अर्थात् कारण आदि के बिना कार्य आदि की अनुपपत्तिरूप मानें, तो उससे प्रकृत (विपक्षबाधक स्थल) में धूमाभावरूप साध्य तथा वह्न्यभावरूप हेतु को क्या लाभ हुआ, अर्थात् अर्थापत्ति से विपक्ष में धूम के बाध की सिद्धि नहीं हुई ।

किसी प्रकार विपक्ष में हेतु की वृत्तिता का बाधक अर्थापत्तिरूप प्रमाण मान भी लें, तब भी यह पूछा जायगा कि फिर व्याप्ति का स्वरूप क्या हुआ ? क्या 'विपक्षवृत्तित्व के बाधक से सहित जिस किसी अधिकरण में अन्वय' व्याप्ति है या 'विपक्षवृत्तित्व के बाधक से सहित सार्वत्रिक अन्वय' व्याप्ति है' अथवा विशेष विचार से क्या लाभ, 'विपक्ष-वृत्तित्व के बाधक से सहित सामान्यतः अन्वय' व्याप्ति है या 'सार्वत्रिक अन्वय व्याप्ति है और उसका ज्ञान विपक्ष में बाधक प्रमाण से होता है ?

इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण विकल्प की उपपत्ति ही नहीं है । देखिये— क्या विपक्ष में हेतु के वृत्तित्व का बाधक सर्वव्यक्तिविषयक होना चाहिए या सामान्य-विषयक ? प्रथम कल्प में जिस पक्ष में साध्य की अनुमिति करनी है, उस पक्ष में

विषयम्, उत सामान्यविषयम्? आद्ये यत्राप्यनुमानं प्रवर्तनीयं तत्रावश्योपस्थाप्यया अन्यथाभावबाधकभूतयाऽर्थापत्त्यैव साध्यसिद्धेः शान्तमनुमानव्यसनेन।

द्वितीये क्वचिद्व्यभिचारेऽपि क्वचिदव्यभिचारमाश्रित्य बाधकस्य चरितार्थत्वम्। धूमवत्तामात्रमग्निमत्तामात्रव्यतिरेकीत्येवंरूपो हि सामान्यतो विपक्षपक्षः, तत्र च बाधकं तयोरविरोधे पर्यवस्यति। अविरोधश्च क्वचित्साहित्याद् भवत्येवेति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि एवम्भूतव्याप्तत्वप्रसङ्गः।

नापि द्वितीयः; विशेषणवैयर्थ्यात्। सार्वत्रिकोऽन्वय इत्येवोच्यताम्। न च सोऽपि सङ्गत इत्युक्तम्।

नापि तृतीयः; बाधकस्य सामान्यविशेषविषयताविकल्पोक्तयुक्त्यैव निरस्तत्वात्।

भी 'अग्न्यभावे सति धूमाभावः' इस अन्यथाभाव की बाधक अर्थापत्ति (अग्न्यभावे धूमाभावोऽनुपपन्नः इति धूमभावेन वह्निभावः कल्प्यते) से ही साध्य की सिद्धि हो जाने से अनुमान का व्यसन व्यर्थ है।

द्वितीय कल्प में कहीं वज्रादि में व्यभिचार होने पर भी कहीं काष्ठादि में अव्यभिचार का आश्रयणकर बाधक अर्थापत्ति चरितार्थ हो सकती है। कारण धूम का अधिकरणत्वमात्र अग्नि के अधिकरणत्वमात्र का व्यतिरेकी (विरोधी) है—ऐसा सामान्यतः विपक्ष है। वहाँ बाधक अर्थापत्ति 'धूमवत्तामात्रमग्निमत्तामात्रविरोधीति अनुपपन्नमिति धूमवत्तामात्रम् अग्निमत्तामात्राविरोधि' इस प्रकार उन दोनों के अविरोध में पर्यवसित होता है। अविरोध कहीं साहित्य से भी होता ही है, अतः लोहलेख्यत्व की पार्थिवत्व में व्याप्ति हो जायगी।

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है। कारण 'सार्वत्रिक अन्वय व्याप्ति है' इतना मात्र कहने से ही कोई दोष नहीं होता, फिर 'विपक्षवृत्तिबाधकसहित' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा। सार्वत्रिक अन्वय भी ग्राहक प्रमाण न होने से व्याप्ति नहीं है, यह हम पीछे कह ही चुके हैं।

तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं। कारण विपक्ष में बाधक सर्वव्यक्तिविषयक हो या यत्किञ्चिद्विषयक, इस प्रकार विकल्पकर प्रथम पक्ष के तुल्य यह पक्ष भी खण्डित हो जाता है।

नापि चतुर्थः। तथा हि—यद्धूमवत् तदग्निमदित्यत्रेदमन्वयस्य सार्वत्रिकत्वं वाच्यम्—यत्सर्वासां धूमव्यक्तीनामग्निसम्बन्धित्वम्, तद्यदि व्याप्तिग्रहकाले गृहीतम्, तदा पक्षस्यापि धूमवद्व्यक्तेरग्निमत्त्वं प्राक् गृहीतं स्मर्यत एवेति गतमनुमानम्।

सामान्यतोऽग्निमत्त्वं तस्यापि गृहीतमेव, विशेषतस्त्वनुमीयत इति चेन्न। विशेषत इति किमग्निमत्त्वस्य विशेषो व्यक्तिरूपो विवक्षितः, उत कालदेशादि-सम्बन्धस्तस्य ?

नाद्यः ; सर्वव्यक्तीनां व्याप्तौ प्रतीतत्वेन भवतैवाङ्गीकारात्। नापि द्वितीयः ; अग्निमद्रूपतया स्मृतस्य पक्षीभूतस्य धूमवद्विशेषस्य चक्षुरादिभिरेव पर्वतत्वादि-देशकालविशेषादिमत्तया परिच्छेदात्। यथा प्राक्प्रत्ययाहितसंस्कारसध्रीचीनैश्चक्षु-रादिभिः परिच्छिद्यमानेदानीम्भावदेशविशेषावस्थानादेः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाय-मानताऽङ्गीक्रियते, तथैव अत्राऽप्यस्तु, कृतमनुमानेन।

नाप्युपमानं बाधकं विपक्षे शक्यं वक्तुम् ; तस्य नियतविषयत्वेनैतादृशे विषयेऽनुदयात्।

चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं। कारण 'यत् धूमवत् तत् वह्निमत्' यहाँ अन्वय का सार्वत्रिकत्व है—सर्वधूमवत् व्यक्तियों का अग्निसम्बन्धित्व। वह यदि व्याप्तिग्रहकाल में गृहीत है, तो धूमवत् पर्वत व्यक्ति का अग्निमत्त्व पहले से ही गृहीत है, उसीका स्मरण होगा। फलतः अनुमान व्यर्थ हो जायगा।

समर्थन—सामान्यतः धूमवत्पर्वत का अग्निभाव गृहीत ही है, किन्तु विशेष रूप अग्निमत्त्व की अनुमिति तो हो ही सकती है। *खंडन*—अग्निमत्त्व का विशेष क्या है, क्या वह व्यक्तिरूप है या देश-कालसम्बन्धरूप ?

प्रथम पक्ष युक्त नहीं, कारण व्याप्ति में सभी व्यक्ति सामान्यलक्षणा से प्रतीत होते हैं, यह आप भी मानते हैं। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं, कारण 'अग्निमत् है' इस रूप से स्मृत, पक्षभूत धूमवत् व्यक्ति की चक्षुरादि से ही पर्वतादि देश तथा वर्तमानादि काल-सम्बन्धिरूप से प्रतीति होगी। जैसे पूर्वकाल में जात ज्ञान से जन्य संस्कार से युक्त चक्षुरादि से एतद्देशकालयुक्त कार्षापण आदि की 'स एव अयम्' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही अनुमितिस्थल में भी है। फिर अनुमान व्यर्थ ही है।

उपमान भी विपक्ष में बाधक नहीं है; कारण उपमान से केवल संज्ञासंज्ञी-भाव का ही निश्चय होता है।

नापि शब्दः ; आप्तस्योपदेष्टुरभावे व्याप्त्यनवगमप्रसङ्गात् ।

अभावस्तु कदाचित् स्यात्, सोऽपि निरूप्यमाणो न घटते । एवं स वाच्यः — यदि वह्निव्यतिरेकेण धूमः स्यात्तदा तथोपलभ्येत, न चोपलभ्यते, अतोऽनुपलम्भान्नास्ति तद्व्यतिरेकेणेति । तच्च न । तथा हि—क्वचिद्व्यभिचारादर्शनाद्वा अयमभावः प्रवर्तते, सर्वत्र व्यभिचारादर्शनाद्वा ? नाद्यः ; पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः ; सर्वत्र योग्यानुपलम्भो वाऽनुपलम्भमात्रं वा वाच्यम् ? नाद्यः ; सर्वत्र योग्यानुपलम्भासम्भवात् । नापि द्वितीयः ; पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि सम्भवात् ।

तत्र वज्र एव व्यभिचार इति चेन्न । तदीयादर्शनदशायां व्यभिचारानवगमात् । तद्दर्शनदशायां तावदस्ति व्यभिचारः । यत्र तु न कदाचिदपि व्यभिचार-

शब्द भी विपक्षवृत्तित्व में बाधक नहीं है; कारण जहाँ आप्त-उपदेष्टा का अभाव है, वहाँ व्याप्ति का ग्रह ही नहीं होगा ।

विपक्ष में हेतु के वृत्तित्व का बाधक कथञ्चित् अभाव (अनुपलब्धि) हो सकता है, किन्तु विचार करने पर वह भी युक्तिसिद्ध नहीं है । देखिये—अभाव का आकार यह होता है कि 'यदि वह्नि के अभावाधिकरण में धूम होता, तो धूम का उपलम्भ (प्रत्यक्ष) होता । चूँकि उसका उपलम्भ नहीं होता, अतः वह्नि के अभाव में धूम नहीं है ।' यह हो नहीं सकता, कारण यदि कहीं साध्य-व्यतिरेक हेतु के अदर्शन से यह अभाव प्रवृत्त होता हो, तो आकाशादि में लोहलेख्यत्व के अभाव में पार्थिवत्व के अदर्शन से अभाव प्रवृत्त होने से लोहलेख्यत्व का पार्थिवत्व में व्याप्तिग्रह हो जायगा । यदि सर्वत्र साध्य के अभाव में हेतु के अदर्शन से अभाव-प्रमाण की प्रवृत्ति मानें, तो क्या सर्वत्र वह योग्यानुपलम्भ से प्रवृत्त होता है या अनुपलम्भमात्र से ? प्रथम कल्प युक्त नहीं है; कारण अतीत, अनागत, विप्रकृष्टादि सर्वत्र योग्यता का अभाव है । द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण लोहलेख्यत्वाभाव के अधिकरण आकाश में पार्थिवत्व के अदर्शन से लोहलेख्यत्व की पार्थिवत्व में व्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—वज्र में लोहलेख्यत्व के व्यतिरेक में पार्थिवत्व का दर्शन है, अतः व्याप्ति नहीं है । *खंडन*—वज्र की अदर्शन-दशा में पार्थिवत्व में व्यभिचार न दीखने से व्याप्ति बन जायगी ।

समर्थन—वज्र की दर्शन-दशा में तो व्यभिचार है ही । जिस स्थल में कदापि

दर्शनं तत्र व्याप्तिरिति चेत्, अत्रापि व्यभिचारो न दृश्यत इत्यत्रापि नियामकादर्शनात् ।

नापि विपक्षे बाधकस्तर्को वाच्यः ; तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वाभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । तदनभ्युपगमे मूलशैथिल्येन तर्काभासत्वापातात् ।

अथ ब्रूषे—न शक्यमिदं वक्तुम् । तथा हि, अग्निधूमव्यभिचारशङ्कायां बाधकस्तर्कोऽयमभिधीयते —'यदि धूमोऽग्निं व्यभिचरेत्, अकारणकः सन्नित्यः स्यात्, न स्यादेव वा ।' स चायमनुत्तरस्तर्कः ; तत्र शङ्कायां व्याघातापत्तेः । तदेव ह्याशङ्क्यते, यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा नावतरन्तीति लोकमर्यादा । एवं सर्वत्रानुत्तरस्तर्को बाधकोऽभिधेय इति ।

व्यभिचार-दर्शन नहीं होता, वहीं व्याप्ति रहती है । *खंडन*—यदि ऐसा कहें, तो कहीं भी व्याप्ति नहीं होगी । कारण वह्नि का धूम में कहीं भी व्यभिचार नहीं देखा जायगा, इसमें कुछ प्रमाण नहीं ।

समर्थन—इस तरह भले ही विपक्ष में हेतु की वृत्तिता में कोई प्रमाण बाधक न हो, किन्तु तर्क तो हो ही सकता है । *खंडन*—तर्क को भी विपक्ष में हेतु के वृत्तित्व का बाधक नहीं कह सकते । कारण यदि आपाद्य-आपादक की व्याप्ति को तर्क का मूल मानें, तो 'व्याप्ति का ज्ञान तर्क से और उस तर्क की मूलभूत व्याप्ति का ज्ञान अन्य तर्क से एवं उस तर्क की मूल व्याप्ति का ज्ञान अन्य तर्क से' इस प्रकार अनवस्था अथवा 'व्याप्ति के ज्ञान से तर्क की प्रवृत्ति और तर्क से व्याप्ति का ज्ञान' इस प्रकार अन्योन्याश्रय आदि हो जायँगे । यदि आपाद्य-आपादक की व्याप्ति को तर्क का मूल न मानें, तो तर्क में कोई मूल (प्रमाण) न होने से वह तर्काभास ही हो जायगा ।

समर्थन—तर्क को व्याप्तिमूलक मानने पर अनवस्था होगी, यह आप नहीं कह सकते । देखिये—धूम में अग्नि के व्यभिचार की शङ्का होने पर यह तर्क करेंगे कि 'यदि धूम अग्नि का व्यभिचारी होता, तो अकारण होकर नित्य हो जाता अथवा नहीं ही होता ।' यह तर्क अकाट्य है, अर्थात् इस तर्क की मूलभूत व्याप्ति के निर्णयार्थ तर्कान्तर अपेक्षित नहीं है । कारण उसमें यदि शङ्का हो, तो व्याघात हो जायगा । वही शङ्का हो सकती है, जिसमें स्वक्रिया-व्याघात आदि दोष न होते हों । ऐसा होने पर सर्वत्र व्यभिचार की शङ्का में तर्क ही अकाट्य बाधक होंगे ।

मैवम्; किमित्येवं शङ्कितव्यं यद्धेतुफलभाव एव न भविष्यति। एवं तु शङ्कितव्यम्—'अग्निं विहायान्यस्मादपि हेतोरयमुदेष्यतो'ति।

न च वाच्यम्—एवं हि सति धूमस्यैकजातित्वं न स्यादिति; क्वचिदिन्द्रियजन्यत्वे क्वचिदनुमानादिजन्यत्वेऽपि ज्ञानैकजात्यवत्तदुपपत्तेः।

तत्रेन्द्रियादीनामवान्तरसामान्ये साक्षात्कारित्वादौ प्रयोजकत्वम्, न ज्ञानतायामिति चेन्न। ज्ञानत्वस्याऽऽकस्मिकत्वपरिहारार्थं तत्कारणस्यानुगतस्य भवताऽवश्यं वक्तव्यत्वात्। धूमेऽपि वह्नेर्विशेष एव प्रयोजकत्वस्य तद्वच्छङ्कितुं शक्यत्वात्।

न दृश्यते तावदग्निप्रयोज्यो धूमे विशेष इति च न वाच्यम्; तददर्शनस्य आपाततो हेत्वन्तरप्रयोज्यावान्तरजात्यदर्शनेन अयोग्यतयाऽविकल्प्यत्वादप्युपपत्तेः। यदा तु हेत्वन्तरप्रयोज्यो धूमस्य विशेषो द्रक्ष्यते, तदाऽसौ विकल्पिष्यत इति सम्भावनाया दुर्निवारत्वात्।

खण्डन—ऐसी शङ्का ही क्यों करें कि 'धूम यदि वह्निव्यभिचारी हो, तो दोनों में कार्यकारणभाव ही नहीं होगा', जिससे व्याघात हो। किन्तु ऐसी शङ्का तो हो ही सकती है कि 'शायद अग्नि से अन्य कारण से भी धूम होता हो, तो वह वह्नि का व्यभिचारी हो सकता है।'

समर्थन—यदि धूम वह्नि से अन्य और किसी कारण से भी होता, तो एकजातीय (तुल्य) नहीं होता। किन्तु वह एकजातीय है, अतः वह्नि से अन्य से जन्य नहीं है। *खंडन*—कहीं इन्द्रिय तो कहीं अनुमान से जन्य होने पर भी जैसे ज्ञान एकजातीय होता है, वैसे ही कहीं वह्न्यतिरिक्त से जन्य होने पर भी धूम एकजातीय हो सकता है।

समर्थन—ज्ञानस्थल में इन्द्रियादि अवान्तर (विशेष साक्षात्कारित्व आदि) में प्रयोजक हैं, ज्ञानत्व में नहीं। *खंडन*—ज्ञानत्व आकस्मिक (प्रयोजक से रहित) न हो, इसलिए उसका कोई अनुगत प्रयोजक कहना ही होगा। वैसे ही वह्नि भी धूमविशेष में ही प्रयोजक है, ऐसी शङ्का हो सकती है।

समर्थन—धूम में अग्निकृत कोई विशेष देखने में नहीं आता? *खंडन*—यह कथन भी युक्त नहीं है; कारण धूम में अग्निकृत विशेष का न दीखना आपाततः अन्य हेतु से प्रयोज्य जातिविशेष के अदर्शन से भी उपपन्न हो सकता है। कारण जब वह्नि से अन्य हेतुजन्य धूम का विशेष देखा जायगा, तब धूम के विशेष का ज्ञान होगा, ऐसी सम्भावना करने में कोई बाधक नहीं है।

अस्त्यात्ममनोयोगोऽनुगतं कारणं ज्ञानोत्पत्ताविति चेन्न। यद्यात्ममनोयोगादुत्पद्यमानं ज्ञानं स्यादिच्छादयोऽपि ज्ञानं प्रसज्येरन्। यदि त्वदृष्टविशेषो वा शक्तिभेदो वा ज्ञानत्वजातिर्वा ज्ञानप्रागभावो वा तत्रानुगतं कारणमुच्यते, तदा तदितरत्रापि वह्निव्यभिचारे धूमस्यैकजात्यप्रयोजकतया शक्यत एव शङ्कितुम्।

दृष्टे व्यभिचारे युक्तमदृष्टादेरैकजात्यपरिकल्पनमिति चेत्; अस्तु दृष्टे तन्निश्चयः। अत्रापि व्यभिचारो न द्रक्ष्यत इत्यत्र नियामकाभावात् शङ्क्ष्यते।

एवं शङ्क्ष्यमाणस्य भवतो न क्वचिदनुमानं स्यात्। प्रतिवाद्यात्माद्यनुमानादिव्यतिरेकेण कथायामेव प्रवृत्त्यनुपपत्त्या स्वयं स्वकर्तव्येष्वनुमानेष्वेतादृशशङ्काक्रमणात् स एव व्याघात इति चेन्न। धूमवद्व्यक्तेरपि वह्निकारणविशेषानुमानस्यैवं सति सदनुमानत्वप्रसङ्गात्। सामग्रीसाम्येन प्रमाप्रमावैचित्र्यानुपपत्तेः।

साधारणधर्मदर्शनविशेषादर्शनादौ सत्यपि शङ्कायाश्चानुदये सामग्र्यां

समर्थन—ज्ञानत्व का प्रयोजक आत्ममनःसंयोगरूप अनुगत कारण है। किन्तु वह्न्यतिरिक्त कारणजन्यत्वरूप से सम्भावित धूमसाधारण धूमत्व का प्रयोजक कोई अनुगत कारण नहीं है। *खंडन*—यदि आत्ममनोयोग को ज्ञानत्व का प्रयोजक मानें, तो इच्छा आदि भी ज्ञान हो जायँगे। यदि अदृष्टविशेष, शक्तिविशेष, ज्ञानत्वजाति या ज्ञानके प्रागभाव को ज्ञान का अनुगत कारण मानें, तो धूमस्थल में भी वह्नि के व्यभिचार में धूम के ऐकजात्य के प्रयोजक अदृष्टादि हैं— ऐसी शङ्का हो ही सकती है।

समर्थन—व्यभिचार देखने पर अदृष्ट को ऐकजात्य का प्रयोजक मानना उचित भी होता है। किन्तु धूमस्थल में व्यभिचार तो दीखता नहीं, फिर अदृष्टादि को प्रयोजक मानना कहाँ तक उचित है? *खंडन*—यह ठीक है कि व्यभिचार होने पर ही ऐकजात्य की कल्पना युक्त है। किन्तु धूमस्थल में व्यभिचार देखा ही न जायगा, इसमें प्रमाण नहीं है, इसलिए व्यभिचार-शंका हो सकती है।

समर्थन—इस तरह शङ्का करनेवाले आप कहीं भी अनुमान न कर सकेंगे। फिर जबतक प्रतिवादी की आत्मा का अनुमान न हो, तबतक कथा में प्रवृत्ति ही न होगी। और यदि अनुमान करें, तो स्वकर्तव्य अनुमान में भी ऐसी ही शङ्का होगी। अतः वही व्याघात आपके ऊपर भी हो जायगा।

खण्डन—आपका क्या अभिप्राय है? क्या जहाँ व्यभिचार की शङ्का हो, वहाँ अनुमिति में दोष नहीं, होता, यह अभिप्राय है अथवा सदोष भी अनुमान प्रमाण है, यह अभिप्राय है? आप इनमें प्रथम पक्ष का स्वीकार नहीं कर सकते। कारण आप शङ्कितो-

सत्यामपि कार्यानुदयात् परप्रतिपत्त्युत्पादनार्थं वचनादिरूपां प्रतिपत्तिसामग्रीमुत्पादयितुं यतमानस्य भवतोऽपि स्वक्रियाव्याघातस्तुल्यः ।

व्याघातस्यैव विशेषत्वात् तद्दर्शनेन शङ्कासामग्र्येव नास्ति मत्पक्षे, कुतो व्याघातसाम्यमिति चेन्न । तद्धि न तावत् आहारादिकारणाज्जायमानमेष्टव्यम्, कूटविषयस्य तस्यातिप्रसञ्जकत्वात् । कूटभिन्नः प्रसञ्जकः प्रमितस्यैव स्यादिति चेन्न । तस्य तर्कावसरे निरस्यत्वात् ।

तस्मात् यदेतद्व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनं शङ्काप्रतिपक्षभूतमुच्यते, तत् किं प्रमाणात् कुतश्चिदुपजायमानं वक्तव्यं तर्काद्वा ? यदि प्रथमः ; शङ्कास्तित्वमपि

पाधि को दोष मानते हैं । यदि द्वितीय मानें, तो जैसे धूम से वह्नि की अनुमिति प्रमिति है, वैसे ही वह्नि से वह्नि के कारण तृणादि की अनुमिति भी प्रमिति हो जायगी । जब सामग्री समान है, अर्थात् पक्षधर्मता, व्यभिचारशङ्का आदि दोनों स्थलों में एक-से हैं, तो धूम से वह्नि की अनुमिति प्रमिति है और वह्नि से वह्नि के कारण-विशेष की अनुमिति अप्रमिति है, यह नहीं कहा जा सकता ।

समर्थन—व्याघात के भय से 'यदि वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यात्' यह शङ्का (सन्देह) ही नहीं हो सकती । *खण्डन*—व्याघात के भयमात्र से यदि साधारणधर्मदर्शन, विशेषादर्शन आदि शङ्का के कारण होने पर भी शङ्का न हो, तो पर के ज्ञान के लिए वचनादि रूप (ज्ञान) सामग्री के उत्पादन में आपकी प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिए ।

समर्थन—व्याघात ही विशेष है, अतः उस व्याघात-विशेष का दर्शन होने से हमारे मत में शङ्का की सामग्री ही नहीं है । फिर व्याघात का साम्य कैसे होगा ? *खंडन*—वह व्याघात आहार्य (बाधकालिक इच्छाजन्य) अर्थात् भ्रमरूप व्याप्य के आरोपरूप कारण से जन्य ही तो इष्ट है नहीं, कारण 'यदि पार्थिवत्व लोहलेख्यत्व का व्यभिचारी होता, तो प्रमेय ही नहीं होता' इस आभासजन्य व्याघात से पार्थिवत्व की लोहलेख्यत्व में भी व्याप्ति गृहीत हो जायगी । अनाहार्य प्रमाणरूप व्याप्य के आरोपरूप कारण से जन्य व्याघात विशेष है—इसका निरास तर्क के खण्डन के समय चतुर्थ परिच्छेद में करेंगे ।

किञ्च—आप जिस व्याघातरूप विशेष के दर्शन को शङ्का का विरोधी कहते हैं, क्या वह किसी प्रमाण से होता है या तर्क से ? यदि प्रमाण से कहें, तो शङ्का का

तेनैव प्रमाणेनोपनेयम्, शङ्कायां सत्यां व्याघातात्। यदि च शङ्कां विनाऽपि व्याघातः; तदा शङ्कमानाशङ्कमानयोर्व्याघातस्य साम्यं सिद्धमेव।

भवतु शङ्कायामपि तत्प्रमाणम्, किमेतावता? प्रथमोपजातशङ्कामवलम्ब्य व्यवस्थितस्य व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनात् शङ्कान्तरं नोत्पद्यत इति चेन्न। व्याघातसत्ताकाले तदवलम्ब्यया शङ्कयैव शङ्क्यमानव्यभिचारता, तस्याः शङ्काया व्युपरमे च तदवलम्बिनो व्याघातरूपस्य विशेषस्याभावात् कः शङ्कान्तरोत्पत्तेर्वारयितेति वक्तव्यम्।

मा नामास्तु तदा व्याघातात्मा विशेषः; तदवगमस्तदाहितो वा संस्कारस्तावदस्ति। विशेषावगमतत्संस्कारौ च शङ्काविरोधिनौ, न तु स्वरूपेण क्वचिदपि विशेषस्यावस्थानं तथेति चेन्न। अयावदाश्रयभाविनो विशेषस्य पूर्वस्थितस्य यद्दर्शनं तदाहितो वा संस्कारः, तस्य कालान्तरेऽपि तत्प्रतिधर्मसंशयविरोधित्वे अवयविपाकपक्षे कुम्भस्य परमाणुपाकपक्षे परम्परया तदारम्भकस्य परमाणोः पूर्वं श्यामतया ज्ञातस्य कालान्तरे सम्भावितपाकस्य पाकजन्यरूपविशेषवत्तायां संशयो न स्यात्।

अस्तित्व भी उसी प्रमाण से सिद्ध हुआ, क्योंकि शङ्का होने पर ही व्याघात होगा। यदि बिना शङ्का के व्याघात हो, तो जैसे शङ्का करने पर मेरे पक्ष में आप व्याघात देते हैं, वैसे ही बिना शङ्का के आपके पक्ष में हम भी व्याघात दे सकेंगे।

समर्थन—शङ्का में भी वह व्याघात ग्राहक प्रमाण रहे, इससे हानि क्या हुई? प्रथम शङ्का के अवलम्बन से उत्पन्न व्याघातरूप विशेष-दर्शन से ही अन्य शङ्का न होगी और उसीसे व्याप्तिग्रह हो जायगा। *खंडन*—व्याघात के सत्ताकाल में उसकी अवलम्बभूत शङ्का से ही व्यभिचार की शङ्का है और उस शङ्का का उपरम होने पर उसके अवलम्ब से उत्पन्न व्याघात को अभाव होने से अन्य शङ्का की निवृत्ति कौन करेगा?

समर्थन—उस काल में व्याघातरूप विशेष न रहे, तो क्या हानि है? व्याघात का ज्ञान या ज्ञान से आहित (कृत) संस्कार ही शङ्का का विरोधी है। स्वरूप से विशेष कहीं भी नहीं रहता। *खंडन*—यदि यावत् आश्रयकाल में न होनेवाले पूर्वस्थित विशेष के दर्शन को या विशेषदर्शन से जन्य संस्कार को कालान्तर में उत्पन्न उस विशेष के विरोधी धर्मविषयक संशय का विरोधी मानें, तो पूर्वकाल में श्यामत्वरूप से ज्ञात अवयविपाकवादी के मत में कुम्भ में तथा परमाणुपाकवादी के मत में परम्परा से घटारम्भक परमाणु में अन्य काल में पाक से सम्भावित रक्तत्वरूप का सन्देह न होगा।

यदि च शङ्कायां व्याघातस्तदा शङ्काश्रयस्य विशेषरूपस्य व्याघातस्य दर्शनात् शङ्कायां शङ्कान्तरं मा भूत् । यदि तु व्यभिचाराश्रयस्तदा व्यभिचारः स्यादेव, व्याघाताश्रयस्य व्यभिचारस्यापि प्रमित्यापत्तेः ।

अनादिसिद्धव्याप्तिकास्ते तर्का इति चेन्न । तद्बुद्धेः प्रमितित्वासिद्धेः, शरीरे स्वात्मप्रत्ययस्य तादृशस्याप्यप्रमात्वोपगमात्, अनादित्वासिद्धेश्चोभयत्राविशेषात् ।

नापि यद्यत्र व्यभिचारः शङ्क्येत, तदा व्याघातः स्यादित्येवंरूपात् तर्काद्व्याघातावगमः, व्याघातप्रतिपादकस्य तर्कस्य मूलशैथिल्ये तर्काभासत्वापातात् । तादृशस्यापि व्याघातोपनायकत्वे व्याघातापत्तेश्च साम्यम् । शक्यत एव तर्काभासाद् भवतोऽपि व्याघात उपनेतुम् ।

यदि शङ्का में व्याघात है, तो शङ्काश्रय व्याघातरूप विशेष के दर्शन से शङ्का में अन्य शङ्का न हो, किन्तु प्रथम शङ्का होने से व्याप्तिग्रह नहीं होगा । व्यभिचार में व्याघात दें, तो व्याघात को विषय करनेवाला प्रमा का विषय होने से व्यभिचार अवश्य होगा ।

समर्थन—विपक्ष में बाधक तर्क के व्याप्तिमूलक होने पर जो अनवस्था दोष देते हैं, वह ठीक नहीं । कारण जिनसे व्याप्तिग्रह होता है, उन तर्कों को हम अनादिसिद्ध व्याप्तिवाले मानते हैं । एवञ्च अनादि पुरुष-परम्परा में तद्बुद्धिधारा का अस्तित्व अनादिसिद्ध है । अतः अनादिसिद्ध होने से युगपत् व्याप्तिग्रह की अपेक्षा नहीं है, इसलिए अनवस्था नहीं है । तथा च असञ्जात विरोधित्वेन लब्धप्रतिष्ठ होने से तर्क बलवत्तर हों, तो वे आगन्तुक व्यभिचार-शंका का सहज ही निरास कर देंगे । *खण्डन*—अनादिसिद्ध होने मात्र से तर्क-मूलभूता व्याप्ति प्रमित (प्रमात्मक ज्ञान की विषय) नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमेय का सत्त्व प्रमाधीन ही हुआ करता है । अन्यथा अनादिसिद्ध होने से शरीर में आत्मबुद्धि भी प्रमित हो जायगी । यदि कहें कि किन्हीं विवेकियों को शरीर में आत्मबुद्धि अनादिसिद्ध नहीं है, तो तत्त्वज्ञ या मुक्तों को उक्त व्याप्तिबुद्धि भी अनादिसिद्ध नहीं है, उभयत्र अनादित्वासिद्धि तुल्य ही है ।

समर्थन—अत्र (वह्नि-धूमस्थल में) व्यभिचारः स्यात्तदा व्याघातः स्यात्' इस तर्क से ही व्याघात का ज्ञान हो जायगा । *खंडन*—व्याघात के प्रतिपादक उक्त तर्क का मूल शिथिल (व्याप्तिहीन) हो, तो यह तर्क तर्काभास हो जायगा । यदि तर्काभास से भी व्याघात का प्रतिपादन करें, तो आपके प्रति हम भी 'तर्कः आभास उपपादकश्च' ऐसा विरुद्ध-समुच्चयरूप व्याघात दे ही सकते हैं । आप भी

अथ तर्कस्य व्याप्तिर्मूलभूताऽभ्युपगम्यते । तत्रापि व्यभिचारशङ्कायां पुनरनवस्थैव । तत्रापि व्याघातापादने पुनरित्थमनवस्थैव ।

तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा ।
त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि ॥ ४४ ॥
व्याघातो यदि शङ्काऽस्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः ॥ ४५ ॥

अव्यभिचारश्च एकपरित्यागव्यवच्छेदेनापरान्वयः, समकालदृष्टे नष्टेऽदृष्टः शङ्क्यत इत्याहुः ।

तर्काभास से व्याघात का परिहार करते हैं, तो हम भी व्याप्तिविहीन उक्त व्याघातरूप तर्क दे ही सकते हैं ।

यदि तर्क का मूल व्याप्ति को मानें, तो उस मूल व्याप्ति में भी व्यभिचार की शङ्का होने पर अन्य तर्क का आश्रयण करना होगा एवं उस तर्क की मूल व्याप्ति में व्यभिचार की शङ्का होने पर अन्य तर्क का आश्रयण—इस तरह अनवस्था-प्रसङ्ग होगा । यदि कहें कि 'अनवस्था होने पर कहीं भी अनुमान न होने से परप्रतिपत्त्यर्थ वचन में प्रवृत्तिरूप व्याघात होगा, अतः अनवस्था नहीं है', तो जिस तर्क से अनवस्था में व्याघात का आपादन आप करते हैं, उस तर्क के मूल व्याप्ति में भी व्यभिचार की शङ्का होने से पुनः अनवस्था दोष होगा ।

तस्मात् इस विषय में हम भी कुछ ही अक्षरों को बदलकर तुम्हारी ही गाथा को पढ़ सकते हैं कि 'यदि व्याघात प्रामाणिक है, तो शंका अवश्य है । कारण शंका होने पर ही व्याघात होता है । यदि व्याघात नहीं है, तो प्रतिबन्धक के न होने से अवश्यमेव शङ्का है । शङ्का की अवधि (अवसान) व्याघात कैसे हो सकता है और तर्क शङ्का की अवधि कैसे होगा । कारण तर्क के मूल व्याप्ति में भी शङ्का तदवस्थ ही है ।

समर्थन—व्यभिचार की शङ्का में अव्यभिचार भी एक कोटि है, कारण शङ्का (सन्देह) उभयकोटिक होती है । अतः किसी अधिकरण में अव्यभिचार का निश्चय होने पर अनुमिति हो जायगी ? यदि अव्यभिचार कहीं भी सिद्ध न हुआ, तो शंका ही अनुपपन्न हो जायगी । *खंडन*—एक (साध्य) के अभाव के अनधिकरण में हेतु का अन्वय (वृत्तित्व) रूप अव्यभिचार, समकाल में ज्ञात दृष्ट तथा नष्ट दो पदार्थों में है, वहीं शङ्का में अपर कोटि की सिद्धि हो जायगी । यदि कहें कि उसी स्थल में अनुमिति हो जायगी, तो वह युक्त नहीं । कारण ऐसा स्थल कहीं दृष्ट नहीं है ।

स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यपरः। स प्रष्टव्यः—कस्य स्वाभाविकः, किं सम्बन्धिनो उत अन्यस्य ? न चरमः; वैपरीत्यापत्तेः।

आद्ये कः स्वाभाविकशब्दार्थ इति प्रष्टव्यम्—किं सम्बन्धिस्वभावाश्रितः, अथ सम्बन्धिस्वभावजन्यः, अथ सम्बन्धिस्वविवक्षितस्वभावानतिरिक्तः, अथ सम्बन्धिस्वभावव्याप्यः, अथवा सम्बन्धिस्वभावादन्येन न प्रयुक्तः, उतान्य एव कश्चिद्विवक्षितः ?

आद्ये पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गः।

न द्वितीयः; अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। अत एव न तृतीयः।

नापि चतुर्थः; व्याप्त्यनिरुक्तया व्याप्यत्वानिरुक्तेः। सम्बन्धस्य व्याप्यत्वे च

अन्य आचार्य कहते हैं कि स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है। उनसे पूछना चाहिए कि किसका स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है, संबन्धियों का या अन्य का ? यदि अन्य का कहें, तो जैसे असम्बन्धियों का सम्बन्ध व्याप्ति है, वैसे ही सम्बन्धियों का असम्बन्ध भी व्याप्ति हो जायगा।

यदि सम्बन्धियों का स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है, तो कहिये कि 'स्वाभाविक' शब्द का अर्थ क्या है ? जैसे वह्नि के स्वभाव (स्वरूप) के आश्रित औष्ण्य वह्नि का स्वाभाविक है, वैसे ही सम्बन्धी के स्वभाव (स्वरूप) का आश्रित सम्बन्ध व्याप्ति है, अथवा जैसे वसन्त से जन्य होने से वृक्षप्रसव वसन्त का स्वाभाविक है, वैसे ही सम्बन्धी स्वभाव (स्वरूप) से जन्य सम्बन्ध व्याप्ति है, किंवा सम्बन्धिस्वरूप से विवक्षित सम्बन्धी के स्वभाव से अनतिरिक्त अर्थात् स्वभावरूप सम्बन्ध ही व्याप्ति है अथवा सम्बन्धी के स्वभाव से व्याप्य सम्बन्ध व्याप्ति है या सम्बन्धी के स्वभाव (स्वरूप) से अन्य से प्रयुक्त (जन्य) न हो, ऐसा सम्बन्ध व्याप्ति है अथवा और ही कुछ वस्तु व्याप्ति है ?

प्रथम पक्ष में पार्थिवत्व में लोहलेख्यत्व का सम्बन्ध व्याप्ति हो जायगा।

द्वितीय पक्ष में जन्य होने से धूम का एकाश्रय में संयोगरूप सम्बन्ध वह्नि में व्याप्ति हो जायगा तथा अजन्य होने से रूप-रस का एकाश्रयसमवायरूप सम्बन्ध व्याप्ति न कहलायेगा।

तृतीय पक्ष में वह्नि का धूम में एकाश्रयसंयोगरूप सम्बन्ध व्याप्ति न होगा, कारण संयोग सम्बन्धी का स्वरूप नहीं, किन्तु अतिरिक्त है।

चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण जबतक व्याप्ति की निरुक्ति नहीं होती, तबतक सम्बन्धी-स्वभाव व्याप्य-सम्बन्धरूप निरुक्त व्याप्ति की निरुक्ति नहीं हो सकती

सम्बन्धिनोर्व्यापकयोः सम्भावितसम्बन्धाधिकदेशकालतया एकसम्बन्धिदर्शनेऽपरानुमानाय नियामकत्वायोगात् ।

नापि पञ्चमः ; 'न प्रयुक्तः' इति यदि न जनितस्तदा सम्बन्धस्याकृतकत्वपक्षे 'अन्येने'ति विशेषणवैयर्थ्यम्, अकृतकस्य सम्बन्धिस्वभावेनाऽप्यजनितत्वात् । सम्बन्धस्य कृतकत्वपक्षे स्वरूपासिद्धिरेव स्यात् । सामग्र्याः सर्वसम्भावादन्ततः कालदेशादृष्टादिभिरपि तज्जन्यत्वस्यावश्यवक्तव्यत्वात् ।

नापि षष्ठः पक्षः ; तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । एवमेव विकल्प्यायं चरमविकल्पः सर्वत्रोपन्यस्य दूष्यो न्यूनत्वशङ्काभयादिति ।

उपाधि-लक्षण-खण्डनम्

अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यपरः । स प्रष्टव्यः—कोऽयमुपाधिर्नाम, यच्छून्यत्वमनौपाधिकत्वम् ?

अर्थात् व्याप्ति के लक्षण में व्याप्ति का प्रवेश होने से आत्माश्रय दोष हो जायगा । किञ्च—यदि सम्बन्ध को व्याप्य मानेंगे, तो व्यापक सम्बन्धी अधिक देश-कालवृत्तित्व से सम्भावित है । अतः एक सम्बन्धी के दर्शन से अन्य सम्बन्धी की अनुमिति नहीं होगी ।

पञ्चम पक्ष भी युक्त नहीं है । कारण यदि 'अन्य से प्रयुक्त नहीं है' इसका 'अन्य से जनित नहीं है' यह अर्थ करें, तो 'सम्बन्ध अकृतक (नित्य) है' इस पक्ष में 'अन्य से' यह विशेषण व्यर्थ है । कारण जो अकृतक है, वह सम्बन्धी के स्वभाव से भी अजन्य है । यदि 'सम्बन्ध कृतक है' यह पक्ष मानें, तो 'सम्बन्धी के स्वभाव से प्रयुक्त न हो' यह स्वरूप ही असिद्ध है । कारण कार्यमात्र सामग्री से जन्य होता है । अतः देश, काल, अदृष्ट आदि से वह व्याप्तिरूप सम्बन्धप्रयुक्त है, यह अवश्य मानना होगा ।

षष्ठ पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण उसका निर्वचन नहीं हो सकता । इस रीति से विकल्प कर इस चरम विकल्प का सर्वत्र खण्डन करना चाहिए । अन्यथा न्यूनता हो जायगी । अर्थात् यदि वादी विकल्पित पक्षों से भिन्न पक्ष का आश्रयण करे, तो विकल्प में न्यूनता हो जायगी । किन्तु यदि 'उक्त से अन्यत्व' रूप से भी विकल्प कर दें, तो वादी से अवलम्बित पक्ष का उसमें अन्तर्भाव हो जाने से न्यूनता नहीं होगी ।

उपाधि-लक्षण का खण्डन

अन्य आचार्य कहते हैं कि उपाधिरहित सम्बन्ध व्याप्ति है । उनसे पूछना चाहिए कि वह उपाधि क्या वस्तु है, जिससे शून्य को आप व्याप्ति कहते हैं ? साथ ही

उपाधिः साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकः ।

अयञ्च—

'एकसाध्याविनाभावे मिथः सम्बन्धशून्ययोः ।
साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्ययः ॥

इत्यस्य व्यतिरेकमुखस्य यदत्ययः, स उपाधिरिति योज्यमानस्य पर्यवसितोऽर्थः । तद्धर्मभूता हि व्याप्तिर्जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिके साधनाभिमते चकास्तीति उपाधिरसावुच्यते ।'

तदिदमाहुः—

'व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः ।
अस्मिन्सत्यमुना भाव्यमिति यत्सा निरूप्यते ॥
अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः ।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा ॥'

स चोपाधिर्निश्चित इवाऽऽशङ्कितश्च, यत्रेदमुच्यते —

'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते ।
विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम् ॥'

लोहलेख्यत्व का पार्थिवत्व में एकार्थसमवायरूप सम्बन्ध भी व्याप्ति हो जायगा, कारण समवाय सम्बन्धी का स्वरूप है ।

समर्थन—'जो साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक हो, वह उपाधि है'—ऐसा लक्षण करेंगे । यह उदयनाचार्य के व्यतिरेकमुख से कथित लक्षण-वाक्य का फलितार्थ है । आचार्य के लक्षण-वाक्य का अक्षरार्थ तो यह है कि 'साधन और उपाधित्व से अभिमत—दोनों के मध्य जिसका अभाव साध्याभाव का व्याप्य हो, वह उपाधि है । वह्नि से धूम के अनुमितिस्थल में आर्द्रेन्धनसंयोग की उपाधि संज्ञा है । जैसे स्फटिक में जपाकुसुम के रक्तत्व के भान के निमित्त जपाकुसुम को उपाधि कहते हैं, वैसे ही आर्द्रेन्धनसंयोगनिष्ठ धूम की व्याप्ति के वह्नि में भान के निमित्त आर्द्रेन्धनसंयोग को भी उपाधि कहते हैं ।

कहा भी है कि अन्य (सोपाधिक) हेतु उपाधिनिष्ठ व्याप्ति का अवलम्बन करते हैं, वे सोपाधिक हेतु पक्ष में देखे भी जायँ, तो भी व्यापक की सिद्धि नहीं होती । वह उपाधि निश्चित के तुल्य आशङ्कित भी होती है । यह भी कहा है कि जब तक विपक्ष में हेतु के शतांश से भी अर्थात् उपाधि की शङ्का से भी शङ्का हो, तब तक हेतु में साध्यगमन की सामर्थ्य कैसे हो सकती है ?

इति चेत् ;

साध्यव्यापके पक्षेतरत्वेऽपि प्रसङ्गात् ।

तद्व्यतिरिक्त इत्यपीति चेन्न । बाधोन्नीतस्य तस्याव्यापनात् । अन्यथा निरुपाधिसम्बन्धित्वे बाधासिद्धेः । यदाह—'बाधेन वोपाधिरुन्नीयताम्, अन्येन वेति न कश्चिद्विशेषः ।'

एतदर्थमपि विशेषणीयमिति चेन्न । तथापि साधनाव्यापकत्वे सतीति तद्व्याप्त्यनवधारणे न शक्यावधारणम् । एवं साध्यव्यापक इत्यपि ।

अथ मन्यसे अदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वं साध्यव्यापकत्वम् । न ; वस्तुगत्या व्यभिचारिसाध्यस्यापि आपाततोऽदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वसम्भवात् तस्याप्युपाधि-

खंडन— साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक 'पक्षेतरत्व' भी उपाधि हो जायगा । 'पक्षेतरत्व उपाधि ही है' यह आप नहीं कह सकते, कारण पक्षेतरत्व-रूप उपाधि का सर्वत्र सम्भव होने से अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा ।

समर्थन—उपाधि के लक्षण में 'पक्षेतरत्व से भिन्न हो' ऐसा निवेश करने पर पक्षेतरत्व उपाधि न कहलायेगी । *खण्डन*—ऐसा निवेश करने पर 'वह्निः अनुष्णः कृतकत्वात्' इस अनुमान में वह्नीतरत्व उपाधि न कहलायेगी । 'यहाँ बाध ही दोष है, उपाधि नहीं' यह नहीं कह सकते । कारण यदि व्यभिचार न हो, तो हेतुमत् पक्ष में बाध ही अप्रमाणित सिद्ध होता है । यह भी कहा है कि बाध से अथवा व्यभिचार से उपाधि की अनुमिति होती है, इसमें कोई विशेष नहीं है ।

समर्थन—'उपाधि-लक्षणघटक बाधोन्नीत पक्षेतरत्व से अतिरिक्त पक्षेतरत्व-भिन्नत्व' का निवेश करने पर कोई दोष नहीं होगा । *खंडन*—तब भी जब तक साधन में उपाधि की व्याप्ति का ज्ञान न हो, तब तक साधन के अव्यापकत्व का ज्ञान न होने से अन्योन्याश्रय आदि दोष हो जायँगे । इसी प्रकार साध्य में उपाधि की व्याप्ति की अज्ञानदशा में साध्यव्यापकत्व का ज्ञान भी नहीं हो सकता ।

समर्थन—'साध्य में जिसका व्यभिचार अदृष्ट हो, वह साध्यव्यापक है ।' *खण्डन*—यह कथन भी युक्त नहीं, कारण वस्तुतः जिससे साध्य व्यभिचारी है, वह भी आपाततः अव्यभिचारी साध्यस्वरूप से ज्ञात हो सकता है । एवञ्च वह भी उपाधि हो जायगी । जैसे 'क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात्' यहाँ 'रूपित्व' उपाधि हो जायगी । यदि कहें कि 'अन्य काल में भी साध्य जिससे अदृष्ट-व्यभिचार हो, वह साध्यव्यापक है',

त्वापत्तेः। न दृश्यत इति च निरूपयितुमशक्यम् , व्याप्तिग्रहकाले च साध्यत्वा-भावेन तदव्यभिचारः कथमवधार्यः ?

साध्यं व्यापकमपेक्षितमिति चेन्न। व्याप्त्यनवगमे व्यापकार्थानवगमात्। सम्भावितव्यापकभावो व्यापकोऽपेक्षित इति चेन्न। व्यापकस्यानिरुक्तौ किंरूप-तया सम्भावनाऽपि स्यात्।

अथ साध्यव्यापक इत्येव भद्रम्, तदानीं साध्यत्वाभावेऽपि साधयितुमर्हत्वस्य विवक्षितत्वात्। न; कथं ह्यवगन्तव्यमिदमेव साधयितुमर्हमिदं नेति। व्यापकत्वादिति वक्तुमशक्यत्वात्।

तो वह्नि से धूम के साधनस्थल में 'आर्द्रेन्धन-संयोग भी उपाधि न होगी। कारण आर्द्रेन्धनसंयोग में धूमरूप साध्य का व्यभिचार नहीं देखा जायगा, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् कालान्तरभावी व्यभिचार संप्रति ज्ञेय न होने से सुतरां उसका अभाव दुर्निरूप्य हो जायगा। किञ्च—व्याप्तिग्रह काल में साध्यत्व (सिद्धिकर्मत्व) ही न होने से साध्य के साथ व्यभिचार का अभाव भी कैसे जाना जायगा ?

समर्थन—साध्यत्व सिद्धिविषयत्व नहीं, किन्तु व्याप्तिकर्तृत्व (साध्य का व्यापकत्व) ही है। एवञ्च उसका व्यभिचार व्याप्तिग्रह-काल में भी निरूप्य हो ही सकता है। *खंडन*—यह भी नहीं कह सकते, कारण जबतक व्याप्ति का ज्ञान न हो, तबतक व्यापकत्व का ज्ञान भी अशक्य है। 'जिसके व्यापकत्व की सम्भावना हो, वह व्यापक है' यह कथन भी युक्त नहीं। कारण जबतक व्यापकत्व की निरुक्ति न हो, तबतक उसकी सम्भावना भी कैसे होगी ?

समर्थन—'साध्यव्यापक' ही युक्त है, कारण व्याप्तिग्रह-काल में साध्यत्व का अभाव होने पर भी साधन-योग्यता तो है ही। हम साध्यत्व सिद्धिविषयत्व नहीं, किन्तु तद्योग्यता ही मानते हैं, जो यावद्द्रव्यभावी है। *खण्डन*—यह कथन भी युक्त नहीं। कारण व्याप्ति के अज्ञान-काल में यह कैसे जाना जायगा कि यह साधन-योग्य है और यह साधन-योग्य नहीं है। व्यापकत्व से साध्य का निश्चय नहीं हो सकता। अर्थात् व्याप्य-व्यापकभाव धूम-वह्नि का साध्य-साधनभाव नहीं कहा जा सकता। कारण जबतक व्याप्ति का लक्षण न हो, तबतक यह व्याप्य है और यह व्यापक—यह निश्चय कैसे होगा ?

न च साधनाव्यापकत्वं सर्वत्र निश्चेतुं शक्यम्, 'स श्यामो मैत्रतनयत्वा-दि'त्यत्र शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परया मैत्रतनयेऽभावस्य दुरधिगमत्वात्।

यत्रोक्तलक्षणस्य निश्चायकं प्रमाणमस्ति तत्र निश्चितोपाधित्वम्; अन्यत्र शङ्कितोपाधित्वम्। मैत्रतनयत्वव्याप्यशाकाद्याहारपरिणतिपरम्परया स्थातव्य-मित्यत्र नियामकाभावादिति चेन्न। मैत्रतनयत्वेनैव हेतुना तस्यापि प्रसाधने तच्छ-ङ्काया अपि छेत्तुमशक्यत्वात्।

तत्रापि तत्तत्सामग्रीत्युपाधिपरम्पराभिधाने च तस्या अपि मैत्रतनयत्वेनैव प्रसाधनस्य कर्तुं शक्यत्वात्।

किञ्च—इसी तरह उपाधिलक्षणघटक साधनाव्यापकत्व का भी सर्वत्र निश्चय नहीं हो सकता। कारण 'स श्यामः मैत्रतनयत्वात्' इस स्थल में शाकाद्याहार-परिणति-परम्परारूप उपाधि के अभाव का ज्ञान मैत्रतनय में हो नहीं सकता।

समर्थन—जिस उपाधि के साध्यव्यापकत्व और साधनाव्यापकत्व में प्रमाण हो, वह निश्चित उपाधि है और जिस उपाधि के उक्त उभय रूपों में प्रमाण न हो, उसे हम शङ्कित उपाधि ही मानेंगे। शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परा मैत्रतनयत्व की व्याप्य है, इसमें कोई नियामक नहीं है। अर्थात् गौर मैत्रतनय में शाकाद्याहार-परिणतिपरम्परा नहीं है, अतः यह शङ्कित उपाधि ही है। *खंडन*—'मैत्रतनयः शाकाद्याहार-परिणतिपरम्परावान् मैत्रतनयत्वात्' इस प्रकार मैत्रतनयत्वरूप हेतु से ही मैत्रतनय में शाकाद्याहार-परिणतिपर-म्परारूप उपाधि की अनुमिति होने से साधनाव्यापकत्व की शंका का उच्छेद हो सकता है।

समर्थन—मैत्रतनयत्व से शाकाद्याहार-परिणतिपरम्परा के साधन में शाकाद्याहार-सामग्रीसत्त्व उपाधि है। अतः उक्त अनुमिति न होने से 'स श्यामः मैत्रतनयत्वात्' इस स्थल में शाकपाकजत्व शंकित उपाधि हो सकती है। *खण्डन*—शाकाद्याहारसामग्री की भी मैत्रतनयत्व से ही अनुमिति होने के कारण वह साधन की अव्यापक न होने से उपाधि नहीं है। यदि शाकाद्याहारसामग्री की अनुमिति में भी शाकाद्याहारसामग्री की सामग्री को उपाधि कहें, तो मैत्रतनयत्व से शाकाद्याहारसामग्री की सामग्री का अनुमान होने से वह भी साधनाव्यापक न होने के कारण उपाधि न कहलायेगी। इसी तरह तत्सामग्री के उपाधित्व के उपन्यास में भी मैत्रतनयत्व द्वारा तत्सामग्री के अनुमान से साधनाव्यापकत्व जानना चाहिए।

अनवस्थैवं स्यादिति चेत् । न; उपाध्युपन्यास एव कुतोऽनवस्था न स्यात् ?
साध्यसामग्र्या उपाधित्वे धूमानुमानसाधारण्यात् । एवं च साध्ये सामग्र्युपाधित्वव्यवच्छेदार्थमपि लक्षणं विशेषणीयम् ।

श्यामत्वादौ साध्ये शाकाद्याहारपरिणतिपारम्पर्यादेस्तस्मिन्साध्ये श्यामत्वादेरुपाधित्वसम्भवेन कथमुपाधिरपि साधयितुं शक्यत इति चेत् । मैवम्; प्रत्येकं द्वयोरपि मैत्रतनयत्वादिना साधने साधनाव्यापकत्वस्य शङ्कितुमशक्यत्वात् । अन्यथा सकर्तृकत्वे साध्येऽदृष्टजत्वं अदृष्टजत्वे च सकर्तृकत्वमुपाधिरित्युभयासिद्धिः स्यात् । एवं बुद्धिमत्पूर्वकत्वे प्रयत्नवत्पूर्वकत्वं प्रयत्नवत्पूर्वकत्वे बुद्धिमत्पूर्वकत्वम्, एवं वह्नित्वजात्याक्रान्तवत्त्वेऽपि इन्धनत्वजात्याक्रान्तत्वं तस्मिन् वह्नित्वजात्याक्रान्तवत्त्वमुपाधिः स्यादित्यत्राऽपि विश्वमनुमानं व्याकुलं स्यात् ।

यदि कहें कि 'तत्सामग्री से तत्साधनव्यापकत्व का अनुमान करेंगे, तो साधन की अनवस्था है, तो उपाधि के साधनव्यापकत्व के साधन में उपाधि एवं उस उपाधि के साधनव्यापकत्व के साधन में उपाधि—इस रीति से उपाधि के उपन्यास में भी अनवस्था हो जायगी ।

किञ्च—यदि साध्यसामग्री को भी उपाधि मानें, तो 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ भी वह्निसामग्री उपाधि होने से अनुमितिमात्र का उच्छेद हो जायगा । अतः उपाधि के लक्षण में साध्यसामग्रीभिन्नत्व का निवेश करना होगा । एवञ्च मैत्रतनयत्व से शाकपाकजत्व के अनुमान में 'शाकपाकसामग्री' उपाधि न हो सकने से शाकपाकजत्व साधन का व्यापक हो जायगा, तो वह उपाधि नहीं हो सकता ।

समर्थन—मैत्रतनयत्व से श्यामत्व के साधन में शाकपाकजत्व उपाधि है तथा शाकपाकजत्व के साधन में श्यामत्व उपाधि है । अतः उपाधि का अनुमान न हो सकने से उपाधि में साधनाव्यापकत्व युक्त ही है । *खंडन*—दोनों का एक काल में ही मैत्रतनयत्व से साधन होने से शाकपाकजत्व में साधन-व्यापकत्व है ही । अतः साधनाव्यापकत्व की शङ्का हो ही नहीं सकती । ऐसे स्थलों में यदि एक साध्य की सिद्धि में अन्य उपाधि दें, तो क्षिति में कार्यत्व से सकर्तृकत्व के साधन में 'अदृष्टजत्व' तथा अदृष्टजत्व के साधन में 'सकर्तृकत्व' भी उपाधि होने से दोनों की असिद्धि हो जायगी । एवं बुद्धिमत्पूर्वकत्व के के साधन में प्रयत्नपूर्वकत्व तथा प्रयत्नपूर्वकत्व के साधन में बुद्धिमत्पूर्वकत्व उपाधि होने से दोनों की असिद्धि हो जायगी । एवं वह्नित्वरूप से वह्नि की अनुमिति में इन्धनज तेज को तथा इन्धनज तेजस्वरूप से वह्नि के साधन में वह्नित्वरूप से वह्नि उपाधि होने से

अत एव साध्यसाधनसम्बन्धं प्रति व्यापकत्वं साध्यव्यापकत्वमिष्टमित्यपि अयुक्तम् ।

यत्राप्युपाधिर्निश्चीयते, तत्राप्यतीन्द्रियोपाधिविषये तदभावस्य साधनाव्याप्त्यर्थ-मनुमेयतायां सोपाधीक्रियमाणेन साधनेनैव सत्प्रतिपक्षस्य कर्तुं शक्यत्वात् ।

तथा सति तत्र शङ्कितोपाधित्वमेव निर्व्यूढं स्थास्यतीति चेत्; एवं ब्रुवाणो नियतमजैषीः । परं मन्द ! मन्दाक्षम् , न प्रतिपक्षम् । तथा हि—स्वीकृतनिश्चितो-पाधिभावे शङ्कितोपाधित्वमापतदनुकूलं मन्यते कोऽन्यो जितलज्जात् ?

न च क्वचिन्निश्चितोपाध्यनभ्युपगमे तच्छङ्का शक्या ।

किसी भी रूप से वह्नि का अनुमान न होगा । तथा च अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा ।

'साध्य तथा साधन के सम्बन्ध का व्यापक तथा साधन का अव्यापक उपाधि है' यह लक्षण भी युक्त नहीं । कारण व्याप्ति, साध्य और साधन के निर्वचन के बिना इस लक्षण की निरुक्ति ही नहीं हो सकती । व्याप्ति की घटक उपाधि के निर्वचनकाल में इनका निर्वचन ही नहीं हैं ।

किञ्च—जहाँ उपाधि निश्चित है, वहाँ भी अतीन्द्रिय (शाकपाकजत्व) उपाधि के विषय में साधनाव्यापकत्व की उपपत्ति के लिए पक्ष (मैत्रतनय) में गौरत्व से शाकपाकजत्वाभाव की अनुमिति होती है । अतः गौरत्व से शाकपाकजत्वाभाव की अनुमिति में जिस हेतु को उपाधि से युक्त बनाते हैं, उसी हेतु से पक्ष में उपाधि का अनुमान कर हम सत्प्रतिपक्ष भी दे सकते हैं ।

समर्थन—यदि सत्प्रतिपक्ष होने से साधनाव्यापकत्व की सिद्धि न हुई, तो वहाँ शङ्कित उपाधि ही रहे, हानि क्या है ? *खण्डन*—ऐसा कहकर तूने अवश्य विजय पा ली । किन्तु हे मन्द ! वह विजय मन्दाक्ष (लज्जा) पर, शत्रु पर नहीं । देख—निश्चितरूप से स्वीकार कर पीछे वादी द्वारा खण्डन करने पर उपाधि को शङ्कितरूप में मानना निर्लज्ज से सिवा के अन्य कौन पुरुष अनुकूल मानेगा ?

किञ्च—कहीं भी निश्चय न हो, तो उपाधि का सन्देह भी नहीं हो सकता । कारण सामान्यदर्शन से कोटिद्वय का स्मरण होने पर सन्देह होता है और अनुभूत का ही स्मरण होता है । अतः उपाधि के निश्चय के बिना सन्देह ही कैसे होगा ?

यत्र प्रत्यक्षेणोपाधिनिश्चयस्तदेव तद्दर्शनस्थानं भविष्यतीति चेन्न। ऐन्द्रियकबाधे तज्जातीयस्य अतीन्द्रियस्याप्रयोजकीक्रियमाणेन हेतुनैव साधयितुं शक्यत्वात्। न च यदेकत्रैकजातीयमैन्द्रियकं तदन्यत्रैन्द्रियकबाधे हेतुबलादतीन्द्रियं न प्रसाध्येत, पाकदर्शनात् जठरानलादि।

साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक इति च न शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परासाध्यं व्याप्नोतीत्यव्यापकतादोषः। न हि शाकादित्वं नाम किञ्चिदेकमस्ति, यत्साध्यं व्याप्नुयात्।

अस्तु वा कथमपि, तथापि श्यामत्वं न व्याप्नोति, इन्द्रनीलशिलादिश्यामत्वस्य आहाराजन्यत्वात्।

शरीरश्यामत्वं साध्यम्, तच्च व्याप्नोत्येवेदमिति चेन्न। व्याप्तावुपाधेरभि-

समर्थन—वह्नि से धूम के साधनस्थल में जहाँ साधनभूत वह्नि के अधिकरण अयोगोलक में आर्द्रेन्धनसंयोग न होने से उसमें धूमरूप साध्य का व्यापकत्व तथा वह्निरूप साधन का अव्यापकत्व प्रत्यक्ष है, वहाँ निश्चित उपाधि है। *खंडन*—यद्यपि अयोगोलक में आर्द्रेन्धन संयोग का ऐन्द्रियक (चाक्षुष) बाध है; तथापि आर्द्रेन्धनजातीय अतीन्द्रिय आर्द्रेन्धनसंयोग की अनुमिति तो उसी वह्नि हेतु से हो सकती है, जिस हेतु को आप सोपाधिक बनाते हैं। जिसका एक स्थल में प्रत्यक्ष होता हो, उसका अन्य स्थल में प्रत्यक्ष-बाध होने पर भी हेतु के बल पर अतीन्द्रियत्व सिद्ध हो ही सकता है। जैसे—पाक से जाठर अग्नि।

किञ्च—'साध्य की व्यापक होकर जो साधन की अव्यापक हो, वह उपाधि है' इस उपाधि-लक्षण में शाकाद्याहार-परिणतिपरम्परारूप उपाधि श्यामत्वरूप साध्य की व्यापक नहीं है, अतः लक्षण में अव्याप्ति दोष है। साथ ही शाकादि एक अनुगत भी नहीं हैं, जो साध्य के व्यापक हों।

किसी प्रकार शाकादि को अनुगत मान लें, तो भी वह श्यामत्व का व्यापक नहीं है, कारण इन्द्रनीलशिला का श्यामत्व आहारजन्य नहीं है।

समर्थन—यहाँ यद्यपि साध्यत्व श्यामत्वरूप से है, तथापि उसका पर्यवसान पुरुषगत श्यामत्व में ही है और उसका व्यापक शाकपाकजत्व है ही। *खण्डन*—व्याप्ति में उपाधि होती है, अतः जिसकी जिस रूप से जिसमें व्याप्ति हो, उपाधि में उसी रूप से साध्य का व्यापकत्व तथा साधन का अव्यापकत्व होना चाहिए। प्रकृत में श्यामत्वरूप से व्याप्ति है। उसी रूप से उसे साध्य का व्यापक होना चाहिए। वह है

धेयत्वात्। न च पुरुषश्यामत्वेन व्याप्तिः। हेतुपक्षधर्मतयैव हि साध्यं पक्षधर्मः सिद्ध्यति न व्याप्त्या, अन्यथा पुरुषपदस्य व्यवच्छेदकस्याविशेषणत्वापातात्।

परम्परासम्बन्धिकज्जलादिलेपश्यामत्वव्यवच्छेदकत्वे च संयुक्तश्यामपुरुषसमवेतश्यामत्वस्य परम्परासम्बन्धिनः कथं व्यवच्छेदः स्यात्।

न च साध्यसाधनसम्बन्धादृष्टव्यभिचारत्वं साध्यव्यापकत्वं मा रूपसाक्षात्कृतिकरणादेस्तैजसादित्वे साध्ये भूदुद्भूतरूपवत्त्वादेरुपाधित्वम्।

साधनेनापि च विशेषणतया निवेश्येन यदि केवलसाध्यव्यापकं व्यवच्छेद्यम्, तदा तस्य व्यभिचारशङ्काधानक्षमस्याप्युपाधित्वं न स्यात्। अथ न किञ्चिद्व्यवच्छेद्यं तदा विशेषणत्वासिद्धिरेव। न हि प्रयोजनमात्राद्विशेषणमर्थवद् भवति,

नहीं, कारण मैत्रतनयत्वरूप हेतु पक्ष का धर्म है, इसीसे पक्षभूत मैत्रतनयरूप पुरुष में साध्य की सिद्धि होने से साध्यत्व का पुरुष-श्यामत्व में पर्यवसान है, व्याप्ति के बल से नहीं। अन्यथा (यदि पुरुष-श्यामत्वरूप से व्याप्ति मानें, तो) 'मैत्रतनयः पुरुषश्यामः मित्रातनयत्वात्' इत्यादि पञ्चावयव होने से साध्यदल में पुरुषीयत्व के निवेश का [व्यवच्छेद्य न होने से] वैयर्थ्य हो जायगा।

समर्थन—कज्जल-लेप से जात श्यामत्व की व्यावृत्ति के लिए पुरुषीयत्व का निवेश है। *खंडन*—यदि ऐसा हो, तो संयुक्त पुरुषनिष्ठ श्यामत्व की परम्परासम्बन्ध से व्यावृत्ति के लिए भी विशेषण देना चाहिए।

समर्थन—साध्य-साधनसम्बन्ध का व्यभिचार जिसमें दृष्ट न हो, वह साध्यव्यापक है। शाकपाकजत्व श्यामत्व और मैत्रतनयत्व के सम्बन्ध का व्यापक है, अतः दोष नहीं। *खंडन*—ऐसा मानने पर 'चक्षुः तैजसम्, साक्षात्कृतिकरणत्वात्' इस सत्-अनुमिति में उद्भूतरूपवत्त्व उपाधि हो जायगी। कारण तैजसत्व और साक्षात्कृतिकरणत्व दोनों के सम्बन्ध का व्यापक उद्भूतरूपवत्त्व है।

किञ्च—'साध्य-साधनसम्बन्ध का व्यापक' यहाँ सम्बन्ध द्वारा जो साधन का निवेश है, उससे केवल साध्यव्यापक का व्यवच्छेद होता है या नहीं? यदि होता है, तो 'अध्वरे पशवालम्भः अधर्मसाधनं हिंसावत्' इस स्थल में निषिद्धत्व केवल अधर्मसाधनत्वरूप साध्य का व्यापक होने से उपाधि न होगी। यदि केवल साध्यव्यापक का व्यवच्छेद नहीं होता, तो विशेषण व्यर्थ हो जायगा। कारण केवल प्रयोजन होने से विशेषण सफल नहीं होता, किन्तु किसीका व्यवच्छेद होने से ही सफल होता है। अन्यथा जैसे 'क्षित्यङ्कु-

केन्तु किञ्चिद्व्यवच्छेदादिति । अन्यथा शरीरजन्यत्वमिव अकर्तृकत्वे व्यक्त-
ग्सिद्धौ पर्यवस्येदिति ।

किञ्च—आभासे व्यतिरेकिणि पक्षधर्महेतौ जीवच्छरीरं पृथिव्याद्यष्टद्रव्या-
तिरिक्तानेकद्रव्यवत्, प्राणादिमत्त्वादित्यादौ कथमिदमुपाधिलक्षणं व्यवस्थाप्यम् ।
न ह्याभासे व्यतिरेक्यनुमानात्मनि यत्साध्यं तदुपाधिना व्याप्तमिष्यते, तस्य
पराभिमतस्य क्वचित् सिद्ध्यापत्तेः ।

व्यतिरेकयोर्व्याप्तावुपाधिश्चेत्, तर्हि व्यतिरेके यद्व्याप्यं तस्य व्याप्य उपाधि-
रवश्यं मन्तव्यः । अन्यथोपाधेरन्वये साध्यान्वयापत्तिरिति उपाधिव्यतिरेकव्याप्त्य-
वश्यम्भावस्य अभ्युपगम्यतया उपाधेर्यद्व्यापकं तद्व्यतिरेक उपाधेर्व्यतिरेक य

ादिकं कर्त्रजन्यं शरीराजन्यत्वात्' इस स्थल में शरीररूप विशेषण के व्यवच्छेदक न
होने से व्याप्यत्वासिद्धि होती है, वैसे ही 'मैत्रतनयत्वम् , श्यामत्वव्यभिचारि, मैत्रतनय-
त्वावच्छिन्नश्यामत्वव्यापक-शाकपाकजत्वव्यभिचारित्वात्' इस उपाधि-व्यभिचार से साध्य-
व्यभिचार के अनुमितिस्थल में भी हेतुदल में मैत्रतनयत्वरूप विशेषण के व्यवच्छेदक
न होने से व्याप्यत्वासिद्धि हो जायगी ।

किञ्च—केवलव्यतिरेकी हेत्वाभास में जहाँ पक्ष में हेतु है, वहाँ अर्थात् 'जीवच्छरीरं
पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत् प्राणादिमत्त्वात्' इस स्थल में इस लक्षण की व्यवस्था
कैसे होगी । अर्थात् वहाँ अव्याप्ति हो जायगी । केवल व्यतिरेकी आभास में जो साध्य
है, वह उपाधि (भोगायतनत्व) से व्याप्त नहीं है, कारण ऐसा मानने पर पराभिमत
साध्य की कहीं (पक्ष या सपक्ष में) सिद्धि हो ही जायगी । अर्थात् यदि पक्ष से
व्यतिरिक्त स्थल में साध्य में उपाधि-व्याप्यत्व कहें, तो सपक्ष प्रसिद्ध हो जाने से केवल-
व्यतिरेकित्व का व्याघात हो जायगा । यदि पक्ष में मानें, तो वहाँ हेतु के रहने से
फिर व्यभिचार ही नहीं दिया जा सकेगा । एवञ्च वह सत्-हेतु होने लगेगा ।

समर्थन—व्यतिरेकी हेत्वाभास में व्यतिरेकव्याप्ति में ही उपाधि होती है,
अन्वय में नहीं । अतः उपाधि के व्याप्त होने से साध्य की कहीं सिद्धि नहीं हो
सकती । *खंडन*—व्यतिरेकव्याप्ति भी 'यत्र यत्र पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत्त्वं
नास्ति, तत्र तत्र प्राणादिमत्त्वं नास्ति' यही है । उसमें पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेक-
द्रव्यवत्त्वरूप साध्य का जो अभाव है, उसका व्याप्य अभोगायतनत्वरूप उपाधि है—ऐसा
अवश्य मानना होगा । अन्यथा यदि उपाधि को साध्याभाव का व्याप्य न मानें, तो

व्याप्यतया मन्तव्य इति परसाध्यापत्तिः। असमव्याप्तिकयोरन्वयव्याप्तिसाध्य-साधनभाववैपरीत्येन व्यतिरेकव्याप्तेरिति।

न च दोषान्तरमेव तर्हि वाच्यमिति वाच्यम्; हेतोः पक्षधर्मत्वस्थितौ व्याप्तिक्षत्यर्थं त्वयोपाध्युपगमध्रौव्यात्।

भवतु वा या काचिद् व्याप्तिर्नाम। तत्सत्त्व एवानुमितिभावात्, तस्याश्चानुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्या, ततश्चाऽऽत्माश्रयः। तद्भेदे चाऽनुगमाविनिगमौ स्यातामिति।

पक्षता-लक्षण-खण्डनम्

व्याप्तिपक्षधर्मते अनुमितिं भावयत इति वदन्ति। कश्चायं पक्षो नाम, यद्धर्मत्वं पक्षधर्मत्वम्?

अभोगायतनत्वरूप उपाधि के अन्वय में साध्य का अन्वय हो जायगा। एवञ्च उपाधि में व्यतिरेकव्याप्ति अवश्यम्भावी होने से उपाधि-व्यापक के व्यतिरेक को उपाधि-व्यतिरेक (भोगायतनत्व) का व्याप्य अवश्य मानना होगा। अतः पराभिमत साध्य की कहीं सिद्धि हो जायगी। असमव्याप्तिक व्याप्य-व्यापकस्थल में ('जीवच्छरीरम्, अष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत् प्राणादिमत्त्वात्' इत्यादि स्थल में) अन्वयव्याप्ति में जो साध्य-साधनभाव है, व्यतिरेकव्याप्ति में उसके विपरीत साध्य-साधनभाव होता है।

व्यतिरेकी हेत्वाभास में उपाधिरूप दोष नहीं, किन्तु अन्य ही दोष है, यह तो नहीं कह सकते। कारण हेतु के पक्ष में होने पर व्याप्ति की क्षति के लिए आपको उपाधि मानना ही पड़ेगी। इस तरह उपाधि का निरूपण संभव न होने से 'निरुपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः' यह जो व्याप्ति का लक्षण करते थे, वह भी असिद्ध ही है।

अस्तु, व्याप्ति कुछ भी हो; किन्तु उसके होने पर ही अनुमिति होती है। अतः अनुमिति के व्याप्तिजन्य होने तथा जन्यत्व के व्याप्तिघटित होने से व्याप्ति की व्याप्ति अनुमिति में अवश्य माननी होगी। वह यदि वही व्याप्ति हो, तो आत्माश्रय है। यदि भिन्न मानें, तो उस व्याप्ति की अनुमिति में भी अन्य व्याप्ति, इस प्रकार अनवस्था, अनेक व्याप्तियाँ होने से अननुगम तथा कौन-सी व्याप्ति अनुमिति का अङ्ग है, इसमें विनिगमक का अभाव हो जायगा।

पक्षता-लक्षण का खण्डन

कुछ आचार्य कहते हैं कि व्याप्ति और पक्षधर्मता, दोनों अनुमिति के कारण हैं। किन्तु उस पक्षधर्मता का घटक पक्ष क्या वस्तु है?

सिषाधयिषितधर्मा धर्मीति चेन्न । सिषाधयिषा हि प्रतिपिपादयिषा वा स्यात् प्रतिपित्सा वा ? आद्ये स्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्गः । द्वितीये चासुरभिगन्धानुमेय-कुत्सितरसविषयस्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्गः ।

न चानवधारितधर्मा धर्मी पक्षः । हेतुमत्तयाऽप्यनवधारणे अनुमानोदय-निदानभावासम्भवात् । अवधारणे चानवधारितधर्मत्वानुपपत्तेः ।

न चाऽनवधारितहेतुविषयधर्मा धर्मी पक्षः । तथाहि—केन अनवधारितधर्मा ? न तावदनुमानप्रयोक्त्रा, स्वयमज्ञाते परं प्रत्यप्रयोगात् । प्रतिवादिनेति चेन्न । प्रतिवादिविदिते ह्यर्थे वादितया परस्परविद्योत्कर्षापकर्षनिरूपणार्थमनुमानदर्शनात् ।

निर्वचन—जिस धर्मी में साध्यरूप धर्म की सिषाधयिषा हो, वह पक्ष है । *खंडन*—'सिषाधयिषा' कथन की इच्छा है या ज्ञान की इच्छा ? यदि प्रथम पक्ष मानें, तो स्वार्थानुमिति ही नहीं होगी । कारण स्वार्थानुमिति में पञ्चावयवात्मक प्रतिपादन को इच्छारूप पक्षता नहीं रहती और अनुमितिमात्र में पक्षधर्मता कारण है । द्वितीय पक्ष में 'सटित-मांसं (सड़ा मांस) कुत्सितरसवत्, असुरभिगन्धवत्त्वात्' यह स्वार्थानुमान नहीं कहलायेगा । कारण यहाँ प्रतिपित्सारूप पक्षता नहीं है ।

निर्वचन—जिस धर्मी का धर्म ज्ञात न हो, वह धर्मी पक्ष है । 'पर्वतो वह्निमात् धूमात्' इत्यादि स्थल में पर्वतरूप धर्मी का धर्म साध्यरूप वह्नि अज्ञात है । अतः पर्वत पक्ष हुआ । *खण्डन*—साध्य की तरह हेतु भी पक्ष-धर्म है । एवञ्च एतादृश पक्षता रहने पर अर्थात् हेतुमत्तया पक्ष का अवधारण न होने पर हेतुमत्तावगाहि परामर्श नहीं हो सकता, जो कि अनुमिति की उत्पत्ति का निदान या कारण है । यदि हेतुमत्तया अवधारण हो, तो उक्त परामर्श हो सकने पर भी उक्त पक्षता नहीं बनती । उभयथा अनुमिति न हो सकने से उक्त लक्षण असम्भवग्रस्त हो जायगा ।

समर्थन—'हेतु का विषय (व्यापक) साध्यरूप धर्म जिस धर्मी में, अज्ञात हो वह पक्ष है' ऐसा लक्षण करेंगे । एवञ्च उपर्युक्त कोई दोष नहीं होगा । *खंडन*—यह लक्षण भी युक्त नहीं; कारण किससे अज्ञात कहेंगे ? यदि न्यायप्रयोक्ता द्वारा अज्ञात कहें, तो परार्थानुमान में अनुमानप्रयोक्ता द्वारा पर्वत में वह्नि ज्ञात ही होने से वह पक्ष न कहलायेगा । स्वयं बिना जाने दूसरे के लिए प्रयोग ही नहीं हो सकता । यदि प्रतिवादी द्वारा अज्ञात कहें, तो भी युक्त नहीं । कारण प्रतिवादी द्वारा साध्य के ज्ञात होने पर भी परस्पर विद्योत्कर्ष के बाधनार्थ प्रतिवादी अनुमान का प्रयोग करते ही हैं ।

तथा अनवधारणं यत्किञ्चिद्धेतुविषयधर्मगोचरम्, वादिप्रयोक्तव्यहेतुविषयगोचरं वा ? न तावदाद्यः ; अग्निमत्त्वनिश्चयदशायामपि तत्तद्धेतुविषयबहुतरापरधर्मानवधारणात् धूमं प्रति पर्वतस्य पक्षत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः ; तथापि तत्र प्रसङ्गात्। तद्धेतूनामपि वादिप्रयोज्यत्वात्।

असाधारणविवक्षायाश्च अननुगमात्, इतरेतराश्रयदोषाच्च। पक्षधर्मत्वेन हेतुत्वनिरूपणात्, व्याप्तपक्षधर्मत्वस्य हेतुत्वात्, हेतुना च पक्षनिरूपणात्।

स्वार्थानुमाने च हेतोरप्रयोज्यत्वात्, पक्षाभावेनानुमानानुदयप्रसङ्गात् विरुद्धहेतौ पक्षस्याभासत्वप्रसङ्गात्। तत्र साधस्य तद्धेतुविषयत्वाभावात्, हेतोरेव च साध्यविपरीतव्याप्त्या दुष्टत्वात्।

एतेन सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः ; साध्यत्वञ्च स्वपरार्थानुमानसाधारणमुत्पाद्यज्ञानत्वमिति निरस्तम्।

इसी तरह यत्किञ्चित् हेतुविषय धर्म का अनवधारण अपेक्षित है या वादिप्रयोक्तव्य हेतुविषय धर्म का अनवधारण ? प्रथम पक्ष में अग्नि का निश्चय होने पर भी तत्-तत् अन्य हेतुविषय बहुत-से धर्मों का अनिश्चय होने से धूम के प्रति पर्वत पक्ष हो जायगा। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; कारण अग्नि की निश्चयदशा में भी वादिप्रयोक्तव्य धूमरूप हेतु के विषय श्यामत्व-प्रदेशवत्त्व आदि धर्मों का अज्ञान है ही। अथवा अन्य हेतु भी कदाचित् वादी से प्रयोक्तव्य है ही।

यदि कहें कि 'वादिप्रयोक्तव्य धूमरूप हेतु के विषय वह्निरूप धर्म का अनवधारण जहाँ हो, वह पक्ष है,' तो साध्य-साधनभेद से पक्ष-लक्षण का भेद होने से लक्षण में अननुगम दोष हो जायगा। किञ्च—अन्योन्याश्रय दोष भी होगा। कारण व्याप्ति-पक्षधर्मताविशिष्ट को ही हेतु कहते हैं, अतः पक्ष से हेतु का और हेतु से पक्ष का निरूपण है।

किञ्च—स्वार्थानुमान में हेतु का प्रयोग भी नहीं होता, अतः पक्ष न होने से अनुमिति नहीं होगी। किञ्च—विरुद्ध हेतु में पक्षधर्मत्व का अभाव हो जायगा; कारण वहाँ साध्य हेतु का विषय (व्यापक) नहीं होता, किन्तु साध्यभाव से व्याप्य होने से ही हेतु दुष्ट होता है।

'जहां साध्य का सन्देह हो, वह पक्ष है' और साध्य वही है, जो स्वार्थ-परार्थ अनुमिति-साधारण जायमान ज्ञान का विषय हो'—ऐसा कुछ लोग कहते थे। किन्तु

पक्षधर्मता-लक्षण-खण्डनम्

भवतु वा यः कश्चन पक्षः, केयं पक्षधर्मता ?

पक्षाश्रिततेति चेन्न। नैयायिकादीन् प्रति प्रमेयत्वस्याहेतुत्वप्रसङ्गात्। विषयविषयिभावस्य ज्ञेयज्ञानरूपातिरिक्तस्यानङ्गीकारात्। तयोश्च ज्ञेयाश्रितत्वायोगात्।

प्रतीतिं व्याप्तिबलेन सामान्यतो व्यापकावगाहनप्रवृत्तां विशेषमादाय परं पर्यवसाययितुं व्याप्तस्य सामर्थ्यं सेति चेन्न। तस्याः सामान्यविषयायाः अनुपपत्तेरसिद्धेर्व्याप्तिवत्सम्भवात्।

अनुपपत्तित्वे व्याप्त्यनुप्रवेशात्, अधिकविषयाकाङ्क्षित्वे विरम्य व्यापारापत्तेः, मानान्तरत्वापत्तेर्वा। विशेषविषयायाश्च अनुपपत्तित्वेऽतिप्रसङ्गात्।

इससे वह भी निरस्त हो गया, कारण सन्देह के विशेषणत्व या उपलक्षणत्व दोनों कल्पों में दोष कह आये हैं। किञ्च—'वादी का सन्देह या प्रतिवादी का ?' ऐसा विकल्प-कर पूर्वोक्त युक्ति से भी वह अयुक्त है।

पक्षधर्मता-लक्षण का खण्डन

अथवा छोड़ दें, पक्ष कुछ भी वस्तु हो, किन्तु यह पक्षधर्मता कौन-सी वस्तु है ?

निर्वचन—पक्षमें आश्रितत्व (वृत्तित्व) ही पक्षधर्मता है। *खण्डन*—तब तो नैयायिक आदि के मत में प्रमेयत्व हेतु न कहलायेगा। कारण नैयायिक विषय-विषयी-भावरूप प्रमेयत्व को ज्ञेय और ज्ञान के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं मानते। पक्षरूप ज्ञेय, ज्ञान प्रमेय के आश्रित नहीं, आत्मादि-आश्रित हैं।

निर्वचन—व्याप्ति के बल सामान्यरूप से व्यापक को विषय करनेवाली प्रतीति को विशेष में पर्यवसित (निराकाङ्क्ष) करनेवाली जो व्याप्य की सामर्थ्य है, वह पक्षधर्मता है।' *खंडन*—यह लक्षण भी युक्त नहीं है। कारण सामान्य-विषयक प्रतीति विशेष की प्रतीति के बिना अनुपपन्न ही नहीं है; क्योंकि जैसे 'जो-जो धूमवान् है वह-वह वह्निमान् है' यह सामान्यविषयक व्याप्तिज्ञान विशेष की प्रतीति के बिना ही होता है। इसी तरह अनुमिति भी विशेष की प्रतीति के बिना ही होगी। यदि विशेष की प्रतीति के बिना सामान्य की प्रतीति को अनुपपन्न मानें, तो व्याप्ति की प्रतीति भी विशेषविषयक हो जायगी। एवञ्च कतिपय विशेषों का अनुप्रवेश हो तो अननुगम होगा और अशेष विशेषों का प्रवेश होने पर सर्वज्ञतापत्ति या अनुमानोच्छेद हो जायगा; क्योंकि व्याप्तिग्रह से ही सभी विशेष सिद्ध होंगे।

यदि कहें कि विशेष के बिना सामान्यविषयक प्रतीति अनुपपन्न नहीं, किन्तु वह

पक्षधर्मतया च यदि साध्यव्यक्तिभेदः सिद्ध्येत्, तर्ह्यनुमाय तां प्रत्यक्षेण पुरुषद्वयदर्शने तद्विशेषासंशयो स्यात्। प्राग्विशेषादर्शनात्तथा स्यादिति चेन्न। पश्चात्तत्र तद्दर्शित्वान्न संशयोतेति।

उपमान-लक्षण-खण्डनम्

उपमानमपि किमुच्यते ?

साहश्यज्ञानमुपमानमित्येके। तन्न ; स्मृतावपि प्रसङ्गात्।

विशेष की आकाङ्क्षा करती है और यही अपर्यवसान है, तो सामान्यविषयक प्रतीति ही अधिक की आकाङ्क्षा करती है अथवा अन्य किसी (पक्षधर्मता आदि) अधिक (विशेष) की आकाङ्क्षा करती है ? प्रथम पक्ष में सामान्यबुद्धि के दो व्यापार मानने पड़ेंगे। एक स्वजन्म और द्वितीय विशेष-विषयक आकाङ्क्षा। एवञ्च बुद्धि का बार-बार व्यापार न होने से वह अयुक्त है। द्वितीय पक्ष में व्याप्ति के बल पर सामान्यविषयक प्रतीति एक प्रमिति तथा पक्षधर्मता के बलपर विशेषविषयक अन्य प्रमिति, इस रीति से दो प्रमाण हो जायँगे। यदि कहें कि सामान्य-विषयक प्रतीति अनुपपन्न नहीं है, किन्तु विशेष की प्रतीति ही पर्वतनिष्ठत्वादि अन्य विशेष के बिना अनुपपन्न है तो पर्वतनिष्ठत्व भी अन्य विशेष के विना अनुपपन्न है एवं अन्य विशेष भी अन्य विशेष के बिना, इस तरह अनवस्थादोष हो जायगा।

यदि पक्षधर्मता से साध्यव्यक्ति का भेद (विशेष) सिद्ध होता, तो अनुमान कर चक्षु से वह्नि के दर्शन-काल में तथा शब्दविशेष से पुरुष का अनुमान कर चक्षु से पुरुषद्वय के दर्शनकाल मे 'यही अनुमित वह्नि व्यक्ति है या अन्य' तथा 'यही अनुमित पुरुष है या अन्य' इत्याकारक सन्देह न होता। यदि कहें कि पूर्वकाल में विशेष का दर्शन (प्रत्यक्ष) नहीं है, अतः सन्देह होता है, तो पश्चात् (इदानीं सन्देहकाल में) विशेष का प्रत्यक्ष है, इसलिए सन्देह न होना चाहिए। सन्देह होता है, इसलिए जानते हैं कि अनुमिति सामान्यविषयक ही होती है; विशेषविषयक नहीं।

उपमान-लक्षण का खंडन

उपमान भी क्या है ? अर्थात् लक्षण न होने से वह भी अनिर्वचनीय ही है।

निर्वचन—कुछ लोग कहते हैं कि 'साहश्य का ज्ञान उपमान है' ऐसा लक्षण हो सकने से वह अनिर्वचनीय नहीं है। खण्डन—यदि ऐसा मानें, तो साहश्य की स्मृति भी उपमान हो जायगी। साहश्य की स्मृति को उपमितिकरणरूप उपमान

अनुभव इत्यभिधाने च 'सदृशाविमौ' इतोन्द्रियजेऽपि प्रसङ्गात्। 'सोऽपि गवयो गवा सदृशो गवयत्वात्, गवयान्तरवदि'त्यनुमानस्यापि तत्त्वापत्तेः। एवमाप्तोक्तिजेऽपि।

किञ्च—उपमितिलक्षणमिदमुपमितिकरणलक्षणं वा स्यात्? नाद्यः; सादृश्यस्योपमेयत्वापत्तेः। सदृशे चोपमेयव्यवहारोऽस्ति, 'चन्द्रोपमेयं मुखमि'त्यादि।

सदृशमितिः सेति चेन्न। अक्षादिकरणासम्भवे तदुदाहरणासिद्धेः।

नापि द्वितीयः; सादृश्यज्ञानस्य सर्वस्यासम्भवत्प्रमाणान्तरव्यापारफलजनकताया दर्शयितुमशक्यत्वात्।

न च सादृश्यमेकमनुगतमस्ति। मुखसादृश्यस्य हस्तसादृश्यस्य च भेदेनैवोपलम्भात्।

नहीं मान सकते। कारण उसके अनन्तर अन्य अनुभव नहीं होता, जो फलरूप उपमिति कहलाये। साथ ही सादृश्य की स्मृति अप्रमा है और उपमिति प्रमा। इसलिए भी सादृश्य की स्मृति को उपमिति (फलरूप उपमान) नहीं मान सकते।

समर्थन—सादृश्य का अनुभव उपमान है। *खंडन*—ऐसा करने पर 'सदृशौ इमौ' यह चक्षु आदि से जायमान ज्ञान भी उपमान हो जायगा। इसी तरह 'सोऽपि गवयो गवा सदृशो गवयत्वात्, गवयान्तरवत्' यह अनुमिति तथा 'गोसदृशो गवयः' इस शब्द से जात ज्ञान भी उपमान हो जायगा।

किञ्च—'सादृश्य का अनुभव उपमान है' यह लक्षण उपमिति का है या उसके करण का? प्रथम कल्प युक्त नहीं है; कारण तब तो सादृश्य भी उपमेय हो जायगा। 'चन्द्रोपमेयं मुखम्' इस स्थल में सदृश में ही उपमेयव्यवहार होता है, सादृश्यमें नहीं।

समर्थन—'सदृश का अनुभव उपमान है।' *खंडन*—जहाँ चक्षुरादि, हेतु या शब्दरूप करण न हो, वहाँ सदृश का ज्ञान होता ही नहीं, जो उपमान कहलाये। जहां चक्षुरादि करण हैं, वहाँ सदृश-ज्ञान प्रत्यक्षादि ही है।

'सदृश का अनुभव उपमिति-करणरूप उपमान है, यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है। कारण जिसमें इन्द्रियादि अन्य प्रमाणों के व्यापार न हों, वैसा उपमितिरूप फल प्रसिद्ध ही नहीं है, जिसके करण को सदृशज्ञानरूप उपमान मानें।

किञ्च—सदृशमात्र में अनुगत एक सादृश्य नहीं है; कारण मुख में चन्द्र का सादृश्य तथा हस्त में पल्लव का सादृश्य भिन्न भिन्न होता है, एक नहीं। अतः यदि मुखनिष्ठ सादृश्य के ज्ञान को उपमान कहें, तो हस्तनिष्ठ सादृश्य के ज्ञान में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

न च सादृश्यरूपत्वमनुगतं तेष्वपी"यदोषः। तथापि सादृश्येन सह सादृश्ये अनेकस्थत्वादौ सादृश्यरूपत्वाश्रिते सादृश्यरूपत्वस्याऽऽश्रयणाभ्युपगमे परस्पराश्रय-भावः, अनभ्युपगमे वाऽननुगमः। तयोः सादृश्यानभ्युपगमे वाऽन्यत्रापि तथापत्तिः।

किञ्च—वैधर्म्यप्रतीतेरपि प्रमाणान्तरत्वमेवं स्यात्, अविशेषात्। एवमेवाभ्यु-पगमे च परिगणितप्रमाणाधिक्यप्रसङ्गो वा सादृश्यबुद्धेरपि वा परिगणितेष्वेवान्त-र्भावः स्यादिति।

अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यप्रमितिरुपमानमित्यपि न; आप्त-वाक्यादपि तथा प्रमितेः।

समर्थन—सर्वसादृश्य में सादृश्यत्वरूप धर्म अनुगत है। अतः 'सादृश्यत्वविशिष्ट का अनुभव उपमान है' ऐसा लक्षण करने पर हस्तनिष्ठ सादृश्यज्ञान में अव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—सादृश्य का अनेकस्थत्वरूप से सादृश्यत्व में जो सादृश्य है, उसमें यदि सादृश्यत्व मानें, तो अन्योन्याश्रय हो जायगा। यदि सादृश्यत्व न मानें, तो उस सादृश्य के ज्ञान का असंग्रह होने से उसमें उपमान के लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—यदि कहें कि सादृश्य का सादृश्य सादृश्यत्व में हम मानते ही नहीं, तो फिर मुख में चन्द्र का सादृश्य भी न मानिये। कारण सादृश्य के न रहने पर भी यदि सादृश्य के सादृश्य की प्रतीति हो जाती है, तो मुख में भी चन्द्र-सादृश्य की प्रतीति हो ही सकती है।

किञ्च—यदि सादृश्यज्ञान को प्रत्यक्षादि से भिन्न प्रमाण मानते हैं, तो 'गोविलक्षणोऽयं महिषः' यह वैलक्षण्य-प्रतीति होने से वैधर्म्यज्ञान भी एक अन्य (पञ्चम) प्रमाण हो जायगा। सादृश्य की प्रतीति से वैधर्म्य की इस प्रतीति में कोई विशेष नहीं है, जिससे सादृश्य की प्रतीति को प्रमाण मानें और वैधर्म्य की प्रतीति को प्रमाण न माना जाय। यदि वैधर्म्य की प्रतीति को भी प्रमाण मान लें, तो परिगणित प्रमाण का आधिक्य हो जायगा, अथवा वैधर्म्य की प्रतीति तुल्य सादृश्य की प्रतीति का भी किसी प्रमाण में अन्तर्भाव हो जायगा।

समर्थन—मीमांसक कहते हैं कि 'प्रतीयमान (गवय) के अप्रतीयमान (गौ) में सादृश्य की प्रमिति उपमिति है और उसका करण उपमान है।' *खण्डन*—तब तो 'त्वदीया गौः अनेन गवयेन सदृशी' इस आप्तवाक्य से उत्पन्न सादृश्य की प्रमिति भी उपमिति कही जाने लगेगी।

यत्र तद्व्यापारो नास्तीति चेन्न । 'स चायश्च अभिन्नौ' इतिवत् 'स चायश्च सदृशावि'ति पूर्वप्रतीतस्य प्रतीयमानेन सहैव ऐन्द्रियकसादृश्यप्रतीतावपि प्रसंगात्।

इन्द्रियासम्पृक्तस्येति चेन्न । प्रत्यक्षतो गोगवयसादृश्यं प्रतीत्य 'साऽपि च गौर्गवयेन सदृशी, गोत्वादियमिवे'त्यनुमितावपि प्रसंगात् ।

अलिङ्गजापीति चेन्न । नन्वेवं प्रत्यक्षानुमानशब्दानुत्थत्वे सतीत्युक्तं स्यात् । तथा च विशेषणमेव समर्थमित्यप्रतीयमानस्येत्यादि व्यर्थम् ।

नोपादेयमेव पदान्तरमिति चेन्न । अर्थापत्तेरवश्यं सम्भवात्, तेन साधर्मेतत्सादृश्यस्यानेन सार्धं तत्सादृश्यव्यतिरेकेणानुपपद्यमानत्वात् । अन्यथा प्रत्ययोत्पत्तिविषयं प्रमाणान्तरमापद्येत । तस्मात् 'अयं ह्रस्वः' इति प्रतीतेः 'अस्मात् स

समर्थन—'जहाँ शब्द का व्यापार न हो, ऐसी उक्त प्रमिति उपमिति और उसका करण उपमान है' ऐसा कहेंगे । *खंडन*—'स च अयश्च अभिन्नौ' इस प्रत्यभिज्ञा की तरह 'स च अयश्च सदृशौ' यह चाक्षुष प्रत्यभिज्ञा भी होती है। किन्तु अब वह उपमान हो जायगी ।

समर्थन—'जहाँ इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी न हो, ऐसी उक्त प्रमिति उपमान है।' *खण्डन*—जहाँ प्रत्यक्ष से गो तथा गवय के सादृश्य की प्रतीति के अनन्तर 'साऽपि गौः गवयेन सदृशी, गोत्वात्, इयमिव' ऐसी अनुमिति होती है, उसमें उपमानत्व का प्रसङ्ग हो जायगा ।

समर्थन—'लिङ्ग से भी अजन्य उक्त प्रमिति उपमान है' ऐसा कहेंगे । *खण्डन*—तब तो 'प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से जो अजन्य हो—यह अर्थ हुआ। एवञ्च 'प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से अजन्य ज्ञान उपमान है' इतना ही लक्षण युक्त है, 'अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन' इत्यादि विशेष्यदल व्यर्थ हो जायगा ।

यदि कहें कि 'अप्रतीयमानस्य' आदि विशेष्यांश नहीं ही देना चाहिए, तो भी युक्त नहीं । कारण उपमान का फल अर्थापत्ति से ही सिद्ध है । देखिये—उसके साथ इसका सादृश, इसके साथ उसके सादृश्य के बिना अनुपपन्न है, अतः उसके साथ इसके सादृश्य से इसके साथ तत्सादृश्य का आक्षेपरूप ज्ञान हो जायगा । अन्यथा यदि प्रतीयमान के साथ अप्रतीयमान के सादृश्य की प्रतीति को अर्थापत्ति न मानें (प्रमाणान्तर मानें), तो प्रतीयमान महिष के साथ अप्रतीयमान गौ के वैधर्म्य की प्रतीति भी प्रमाणान्तर कही जायगी । इसी तरह 'उससे यह ह्रस्व है' इस प्रतीति से उत्पन्न 'इससे

दीर्घः' इति चान्यथा कतमा प्रमा स्यात् । अर्थापत्तिं प्रमाणान्तरमनिच्छताऽपि इयमर्थापत्तिरनुमाने वाऽन्तर्भाव्या पृथक् प्रमाणीकर्तव्या वा ।

एतेन—अप्रतीतगवय-गवान्तरसामान्यस्य अदृष्टान्तानुमानासम्भवात् 'गवयेनानेन सदृशी सा गौरि'ति मितिरुपमितिरित्यपि व्युदस्तम् । तयैतत्सादृश्यस्य एतेन तत्सादृश्यं विनाऽनुपपत्त्यैव सिद्धेरिति ।

अनवगतसङ्गति-संज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्य संज्ञिन्यनुसन्धानमुपमानमित्यपि न ; प्रस्मृतसङ्गतेरेवम्भूतोपमित्यव्यापनात् ।

अस्मृतसंगतीत्यभिधेयमिति चेन्न । अनुभूत-स्मृत-कालान्तरप्रस्मृतसङ्गतेरव्यापनात् ।

वह दीर्घ है' यह प्रतीति कौन-सी प्रमा होगी ? जो पण्डित अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर नहीं मानते, अनुमान में अन्तर्भूत ही मानते हैं, उन्हें 'इससे वह दीर्घ है' इस अर्थापत्ति को अनुमान के अन्तर्गत या पृथक् प्रमाण मानना ही होगा ।

'जिस पुरुष को पूर्वकाल में गो-गवय के सादृश्य की प्रतीति नहीं है, उसे दृष्टान्त के न होने से अनुमिति तो होगी नहीं । अतः उस पुरुष की 'इस गवय के सदृश मेरी गौ है' यह प्रतीति उपमान है'—यह कथन भी खण्डित जानना चाहिए । कारण उसे उसके साथ एतत्सादृश्य की [इसके साथ तत्सादृश्य के बिना] अनुपपत्ति से ही 'इस गवय के सदृश मेरी गौ है' यह प्रतीति हो सकती है ।

निर्वचन—नैयायिक कहते हैं कि 'जिस शब्द का संकेत अज्ञात हो, उस शब्द से युक्त वाक्य के अर्थ का शब्द में अनुसंधान उपमान है ।' *खंडन*—यह लक्षण भी युक्त नहीं है, कारण जिस शब्द का संकेत प्रथम तो अवगत हो और पश्चात् विस्मृत हो गया हो, उस शब्द से समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में उपसंहार भी सिद्धान्ततः उपमान है । किन्तु वहाँ सङ्केतज्ञान पहले हो जाने के कारण उक्त लक्षण न जाने से अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'जिस शब्द का संकेत अस्मृत हो, उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में अनुसंधान उपमान है ।' प्रकृत में यद्यपि संकेत अवगत है, तथापि स्मृत तो नहीं है, अतः अव्याप्ति नहीं है । *खंडन*—जहाँ प्रथम तो संकेत अनुभूत हुआ, पश्चात् स्मृत होकर पुनः कालवश विस्मृत हुआ हो, वहाँ भी शब्द में उक्त वाक्यार्थ का अनुसन्धान उपमान ही है । किन्तु संकेत में स्मृतिविषयत्व ही है, उसका अभाव नहीं है । अतः वहाँ उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ।

अस्मर्यमाणेति चेन्न। कदाचित् स्मर्यमाणतायास्तत्रापि सम्भवात्। सर्वदा अस्मर्यमाणतायाः क्वचिदप्यसम्भवात्।

उपमितिप्राक्काल इति चेत्, स्यादेवैतत् यद्युपमितिर्लक्षिता स्यात्। तदर्थमेव तु क्रन्दनमिदं भवतः।

किञ्च—सर्वैरनवगतसङ्गतित्वस्य प्रकृतेऽप्यसिद्धेः। केनाप्यनवगतसङ्गतित्वस्य वाक्यजेऽपि सम्भवात्। उपमात्रेति च पूर्ववत् निरस्तम्। यस्या प्रमितेर्येन प्रमात्रेति चाभिधाने अनुगतरूपाभावात् व्यक्तौ पतनेन लक्षणाननुगत्यापत्तेः।

समर्थन—'अस्मर्यमाण (वर्तमान स्मरण का अविषय) है संकेत जिस शब्द का, उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में अनुसन्धान उपमान है।' उक्त स्थल में वर्तमान स्मरण नहीं, अतः अव्याप्ति नहीं। *खंडन*—यदा कदाचित् वर्तमान स्मरण का विषयत्व उक्त स्थल में भी है, अतः वह अव्याप्ति तदवस्थ ही है। सर्वदा वर्तमान स्मरण-विषयत्व का अभाव कहीं भी नहीं है, कारण स्मृति क्षणिक होने से सर्वदा वह वर्तमान नहीं रहती। अतः अलीकप्रतियोगिक होने से उक्त अभाव प्रसिद्ध न हो सकने के कारण असम्भव हो जायगा।

समर्थन—'उपमिति से प्राक्-काल में वर्तमान स्मरण का अविषय जो संकेत' आदि कहें, तो कुछ दोष नहीं होगा। *खंडन*—ऐसा कह सकते, यदि उपमिति की निरुक्ति हो चुकी होती। उपमिति के लक्षण के लिए ही तो आपका यह क्रन्दन है। फिर इस काल में ऐसा परिष्कार कैसे हो सकता है?

किञ्च—सब मनुष्यों से अनवगत संकेत उपमितिस्थल में भी नहीं है और एक-दो-व्यक्तियों से अनवगत संकेत वाक्य से जायमान बोधमात्र में है। अतः सब मनुष्यों से अनवगतत्व की विवक्षा करें, तो असम्भव और एक-दो व्यक्तियों से अनवगतत्व की करें, तो अव्याप्ति हो जायगी। 'उपमितिकर्ता से अनवगत संकेत' आदि तो उपमिति-निरुक्ति से पूर्व कह ही नहीं सकते। यदि कहें कि 'जिस प्रमाता से जिस संज्ञा का संकेत अनवगत है, उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में अनुसन्धान उस प्रमाता के लिए उस शब्द के विषय में उपमान है', तो यत्-तत् शब्द के व्यक्तिपरक होने से जिस व्यक्ति का यत्-शब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्य व्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी।

संज्ञेत्यप्याकुलम् ; 'गोसदृशो गवयः प्रायः कानने महति दृश्यते' इति श्रुत-वाक्यस्य काननपदाविदितसङ्गतेर्गवयपदविदितसङ्गतेश्च असंज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रति-पत्तिफलायामीदृशप्रतिपत्तौ गतत्वेनातिव्यापकत्वात् । विनाऽपि वा प्रायः शब्दमभिहितस्य तस्यानुसन्धाने प्रसङ्गः । तत्र काननसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धावधारणेऽपि अन्यत्रेव पदान्तरसमभिव्याहारोत्थाया अन्यथानुपपत्तेः प्रमाणत्वात् , न तु उपमानस्य । उपमेयसंज्ञासमभिव्याहृतेति विशेषणे च पूर्वोक्त एव निरासः ।

वाक्यार्थेऽपि तादृगेव; प्रतिपत्तिकालास्मृतातिदेशवाक्यावगत-काननादिपदार्थस्य तथाविधप्रत्ययाव्यापनात् । वाक्यैकदेशस्यापि वाक्यत्वेन विवक्षितत्वे 'सदृशो गवयः' इत्यादिस्मारिणोऽपि प्रत्यये प्रसङ्गात् ।

किञ्च—लक्षण में शब्दपद का निवेश भी सदोष ही है। देखिये—जिस पुरुष ने 'गोसदृशो गवयः प्रायो महति कानने दृश्यते' इस वाक्य का श्रवण तो किया, पर कानन पद का संकेत नहीं जाना और गवय पद का संकेत जानता है, उस पुरुष के अनुमानरूप [यही कानन है, गवयाधार होने से' इत्याकारक] अनुसन्धान में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि उसके भी कानन पद का फल संकेतज्ञान ही है। जहाँ 'प्रायः' पद नहीं है, ऐसे उक्त वाक्य के अनुसन्धान में भी अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण यहाँ भी कानन पद के संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध के अवधारण में 'इह हि प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इस वाक्यगत मधुकर पद के समान पदान्तरसमभिव्याहार से उत्थित अन्यथानुपपत्ति ही प्रमाण है, उपमान प्रमाण नहीं। अर्थात् 'यदि यह कानन पद का अर्थ न हो, तो कानन पद में गवय पद का सन्निधान अनुपपन्न हो जायगा' इत्याकारक अनुपपत्ति से ही कानन पद का संकेत ग्रह होगा। 'अनवगतसङ्गति-उपमेयसंज्ञा से समभिव्याहृत' आदि निवेश करें, तो उसका भी पूर्वोक्त निरास है, अर्थात् उपमिति की निरुक्ति से पूर्व वह नहीं हो सकता।

किञ्च—लक्षण में वाक्यार्थ का निवेश भी सदोष ही है। सुनिये—जहाँ पहले 'गोसदृशो गवयः प्रायो महति कानने दृश्यते' वह वाक्य तो श्रुत हो, किन्तु अदृष्टवश वाक्यघटित कानन पद का अर्थ स्मृत न हुआ हो, उस स्थल में वाक्यार्थ का अनुसन्धान नहीं है। किन्तु वाक्य के एकदेशार्थ का अनुसन्धान है, अतः अव्याप्ति हो जायगी। यदि वाक्य के एकदेश को भी वाक्य मान लें, तो 'सदृशो गवयः' एतावन्मात्र के अर्थ का अनुसन्धान भी उपमान हो जायगा।

प्रतीत्युत्पत्तिं प्रति प्रयोजकीभूतं यावत्, तावद्वाक्यं विवक्षितमिति चेन्न। अन्तर्भावितवनाधिकरणतादृशप्रतिपत्तिं प्रति तस्यापि प्रयोजकत्वात्। उपमितिं प्रतीति तु पूर्ववन्निरस्तमिति।

यावत् संज्ञासंज्ञिबुद्ध्यौपयिकं तावद्विवक्षितमिति चेन्न। लक्षणसहचरितसंज्ञोपदेशार्थानुसन्धानेऽपि प्रसङ्गात्।

किञ्च—यदा तर्कानुसन्धानविरहिणः सत्यप्येवंविधानुसन्धाने सादृश्यमेव गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति मितिः फलमुत्पद्यते, तदा तस्याप्रमाकरणस्यापि उपमानत्वमापद्यते। प्रमाफलकमिति विशेषणप्रक्षेपपक्षे चानुसंहितरूपव्यवहार्यतानुमित्युत्पादेनापि एतादृशानुसन्धानमुपमानं स्यात्।

समर्थन—'प्रतीति की उत्पत्ति का प्रयोजक जितना वाक्य हो, तदर्थ का अनुसन्धान उपमान है।' 'सदृशो गवयः' यह वाक्य प्रतीति में प्रयोजक नहीं है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं है। *खंडन*— वन भी जिसका विषय है, ऐसी प्रतीति का प्रयोजक 'गोसदृशो गवयः प्रायो महति कानने दृश्यते' यह वाक्य भी है। किन्तु दैववश जहाँ उक्त वाक्यगत कानन पदार्थ का स्मरण नहीं हुआ, उस स्थल में वाक्यार्थ का अनुसन्धान न होने से 'उपमिति का प्रयोजक जितना अंश हो, उतना ही उक्त लक्षण में वाक्य है'—यह नहीं कह सकते। 'उपमितिरूप प्रतिपत्ति के प्रति प्रयोजक' इत्यादि तो कह नहीं सकते; क्योंकि वह तो पूर्ववत् निरस्त हो जायगा। अर्थात् उपमिति की निरुक्ति के पूर्व ऐसा कह ही नहीं सकते।

समर्थन—संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध की बुद्धि का प्रयोजक यावत् अंश हो, उक्त लक्षण में वाक्यशब्द से तावन्मात्र की विवक्षा मानेंगे, तो कोई दोष नहीं होगा। *खण्डन*— 'गन्धवती पृथिवी' इस लक्षणवाक्य के श्रवण के बाद गन्धयुक्त व्यक्ति का प्रत्यक्ष होने पर जो 'सेयं गन्धवती पृथिवी' यह अनुसन्धान होता है, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण यहाँ भी अज्ञात-संकेत-समभिव्याहृत वाक्यार्थ का संज्ञी में अनुसन्धान है ही। किन्तु यह व्यतिरेकी अनुमान है, उपमान नहीं।

किञ्च—लाघवरूप तर्क का अनुसन्धान न होने पर 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य के श्रवण के बाद गोसदृश व्यक्ति का प्रत्यक्ष होने पर जहाँ 'स एवायं गोसदृशो गवयः' यह अनुसन्धान होता है, उस स्थल में 'गोसादृश्य ही गवय पद का प्रवृत्तिनिमित्त है' ऐसा ज्ञान होता है। उस अप्रमा का करण भी उपमान हो जायगा। यदि कहें कि 'प्रमिति के जनक उक्त वाक्य के अर्थ का अनुसन्धान उपमान है', तो अनुसंहित जो पृथिवीत्व-

अव्याप्तविषयप्रमाफलकमिति विशेषणीयमिति चेन्न । वस्तुगत्याऽव्याप्तत्वस्योपमेयेऽप्यभावात् । व्याप्ततयाऽनवगम्यमानस्येति च कृते यत्प्रति तल्लिङ्गं तेन सह व्याप्तत्वावगतमुपमितिकरणमपि न व्याप्नुयात् ।

उपमेयेन सह व्याप्तत्वानवगतत्वोक्तावप्यनुमाने प्रसङ्गस्तदवस्थः । अनुमेयेन सहेति कृते च तदनपायादव्याप्तिस्तदवस्थैव ।

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रमितिकरणमिति चेन्न । तथात्वासिद्धेः, अर्थापत्त्यादितस्तत्सिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वात् ।

रूप धर्म तद्व्यवहार्यत्वानुमिति के उत्पादक लक्षणवाक्य के अर्थ के अनुसन्धान में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'व्याप्त (लिङ्ग) जिसका विषय न हो, ऐसा जो [प्रमाफलक उक्त वाक्यार्थ के संज्ञी में] अनुसन्धान है, वह उपमान है ।' अतः लक्षण-वाक्यार्थ के अनुसन्धान में अतिव्याप्ति नहीं, कारण पृथिवीत्व से व्यवहार्यत्व का व्याप्त गन्धवत्त्व आदि लिङ्ग उक्त अनुसन्धान के विषय हैं । *खण्डन*—ऐसा मानने पर 'स एवायं गोसदृशो गवयः' इत्याकारक अनुसन्धान भी उपमान न कहलायेगा, कारण पदार्थत्व आदि से व्याप्त ही गोसादृश्य उक्त अनुसन्धान का विषय होता है । यदि कहें कि 'व्याप्तत्वरूप से ज्ञात है विषय जिसका, ऐसा [प्रमाफलक उक्त वाक्यार्थ का] अनुसन्धान उपमान है । गोसादृश्य व्याप्त होने पर भी व्याप्तत्वरूप से ज्ञात नहीं है; अतः अव्याप्ति नहीं', तो जिस काल में पदार्थत्व के व्याप्तत्वरूप से गोसादृश्य अवगत होता है, उस काल में उसका अनुसन्धान उपमान न कहा जायगा ।

समर्थन—उपमेय के साथ व्याप्तत्वरूप से अनवगम्यमानविषयक उक्त अनुसन्धान उपमान है । गोसादृश्य, उपमेय गवय से व्याप्तत्वरूप से अवगत नहीं है, अतः अव्याप्ति नहीं । *खंडन*—गन्धवत्त्व भी उपमेय के साथ व्याप्यत्वरूप से अनवगम्यमान नहीं है, अतः लक्षणवाक्यार्थ का अनुसन्धान भी उपमान हो जायगा । यदि अनुमेय के साथ व्याप्तत्वरूप से अनवगम्यमान कहें, तो जिस काल में गोसादृश्य पदार्थत्व के साथ व्याप्तत्वरूप से अवगत है, उस काल में 'स एवायं गोसदृशो गवयः' यह अनुसन्धान उपमान नहीं कहलायेगा ।

समर्थन—'संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध की प्रमिति का कारण जो उक्त अनुसंधान है, वह उपमिति है ।' *खंडन*—तब तो लक्षणवाक्यार्थ का अनुसन्धान भी उपमान हो जायगा । किञ्च—संज्ञा-संज्ञिभाव की प्रमिति, अर्थापत्ति या अनुमान से ही सिद्ध है । अतः उक्त अनुसन्धान उसका कारण नहीं ।

अननुमितिजनकं तादृक् प्रतिसन्धानमुपमानमिति चेन्न। तज्जातीयस्यानुमितिजनकत्वात्। व्यक्त्यपेक्षायाश्च जनकत्वस्य सामान्याकारपर्यवसायिनो नित्यं व्यक्तावसम्भावितया अननुगमेन चायुक्तत्वादिति।

किञ्च—गोसादृश्यं विहाय गवयत्वजातौ गवयशब्दार्थताप्रतीतिः कल्पनालाघवाख्यं तर्कमपास्य न स्यादिति तदुपन्यासस्थितौ किमानुमानिक्येव तत्र गवयत्वस्य गवयपदवाच्यताप्रमितिरियं नेष्यते। सम्भवति हि प्रयोगः—विमतिपदं गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तथात्वे तर्केण विषयीक्रियमाणविपर्ययकत्वात्, न यदेवं न तदेवं यथा गोत्वम्, तथा चेदम्, ततस्तथेति। न ह्यस्ति सम्भवो मूलशैथिल्यादिदोषविरहिततर्कनिवेदितविपर्ययश्चार्थो न च तथेति।

समर्थन—'अनुमिति का अजनक उक्त अनुसन्धान उपमान है।' *खण्डन*—इसका क्या अर्थ है, क्या जिस अनुसन्धान का सजातीय अनुमिति का अजनक हो, यह अर्थ है या जो अनुसन्धान व्यक्ति अनुमिति का अजनक हो, यह अर्थ है? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं; कारण 'स एवायं गोसदृशो गवयः' इस अनुसन्धान का सजातीय अन्य अनुसन्धान भी कदाचित् अनुमिति का जनक हो सकता है। द्वितीय कल्प भी अयुक्त है; कारण सामान्यरूप से गृहीत जनकत्व [फलोपधायकत्व न हो, किन्तु स्वरूपयोग्यत्व] सभी व्यक्तियों में अवश्य रहता है। अतः कोई भी व्यक्ति अनुमिति का अजनक न होने से असम्भव हो जायगा। साथ ही लक्षण में व्यक्ति का प्रवेश होने से व्यक्ति-भेद से लक्षण के भेद होने के कारण अननुगम हो जायगा।

किञ्च—गोसादृश्य को छोड़कर गवयत्व-जाति में गवयशब्दार्थत्व की कल्पना लाघवरूप तर्क के बिना हो नहीं सकती। जब उपमान में भी लाघवरूप तर्क की अपेक्षा ही है, तो जिस अनुमान को सभी मानते हैं, उसीमें लाघवरूप तर्क को सहकारी क्यों न माना जाय? पञ्चावयव के प्रयोग का भी सम्भव है। देखिये—'विप्रतिपत्ति (सन्देह) का विषय गवयत्व गवयशब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है, गवयत्व के प्रवृत्तिनिमित्तत्व में तर्क से अविषयीकृत विपर्यय होने से, जो गवयशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है, वह तर्क से अविषयीक्रियमाण विपर्ययक नहीं है, जैसे गोत्व अथवा गोसादृश्य, यह गवय तर्क से अविषयीक्रियमाण विपर्ययक है, अतः गवयशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है।' यह सम्भव नहीं कि कोई अर्थमूलशैथिल्य आदि दोषों से रहित तर्क से निवेदित विपर्ययक हो और प्रवृत्ति में निमित्त न हो।

अथवा गवयपदमसम्भवत्प्रवृत्तिनिमित्तान्तरमनुपपद्यमानाप्तोक्तगोसादृश्य-सामानाधिकरण्यमर्थाद् गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकतामाक्षिपतीत्यर्थापत्तिरेवात्र प्रमाण-मस्तु। सा च त्वया व्यतिरेकीकृत्य परेण पृथगेवावश्यं प्रमाणनीयेति।

शब्द-लक्षण-खण्डनम्

शब्दोऽपि क उच्य ?

आप्तवाक्यं हि शब्दः प्रमाणमिति न युक्तम्; विकल्पानुपपत्तेः। तथा हि—कोऽयमाप्तो नाम ?

यथादृष्टवादीति चेन्न। भ्रान्तिप्रतिपन्नवादिवाक्येऽपि प्रसङ्गात्। प्रमाण-दृष्टेति विशेषणे च तथाभूतस्यान्यथावादव्यापनात्।

अथवा 'गवय' शब्द के 'गवयत्व'रूप प्रवृत्तिनिमित्तकत्व के बिना उसमें आप्तपुरुषों से उक्त 'गोसदृश'शब्द का सामानाधिकरण्य अनुपपद्यमान है। अतः वह अपने गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का आक्षेप करेगा। इस तरह अर्थापत्ति ही प्रमाण रहे। उसे आप नैयायिक व्यतिरेकी अनुमानरूप और अन्य मीमांसकादि पृथक् प्रमाणरूप मानते ही हैं। गोत्व कथंचित् कालिकादि सम्बन्ध से गवय में रहता है, अतः उसको प्रवृत्तिनिमित्त मानने में गौरव है। एवञ्च प्रसिद्धपद के समभिव्याहार से जनित अन्यथा-नुपपत्ति ही सम्बन्ध-प्रमिति का मूल होने से उपमान नामक कोई प्रमाणान्तर ही नहीं है।

शब्द-लक्षण का खण्डन

प्रमाणभूत शब्द भी क्या वस्तु है ? अर्थात् शब्द-प्रमाण का लक्षण न हो सकने से वह भी अनिर्वचनीय ही है।

निर्वचन—'आप्त का वाक्य ही प्रमाण-शब्द है' ऐसा लक्षण हो सकने से वह अनिर्वचनीय नहीं है। *खंडन*—यह लक्षण युक्त नहीं, कारण आप्तत्व की निरुक्ति ही नहीं हो सकती। कहिये, आप्त कौन है ?

निर्वचन—'जैसा देखा हो, वैसा ही कहनेवाला आप्त है।' **खण्डन**—तब तो भ्रम से शुक्ति को रजतत्वरूप से देखकर जो शुक्ति को रजत कहता है, वह भी आप्त हो जायगा। कारण उसने जैसा देखा है, वैसा ही कहा है।

यथाप्रमाणेति करणे चांशे तथाभूतवादिवाक्यस्यायथार्थस्यापि व्यापनात्।

यावद्यथाप्रमाणदृष्टनिरुक्तौ च प्रायेणातथाभूतत्वादेव लक्ष्याणां तदव्याप्तेः। नहि यावत्प्रमितं तावदभिधीयते।

यथाप्रमितस्यैव च वक्तुर्वाक्यमिति व्याकारे च युधिष्ठिरवाक्यस्यापि अनेवम्भूतत्वेनाव्याप्त्यापत्तेः। तत्र विषय इति विशेषणे च विशेषरूपस्य विषयस्यासाधारण्येन अव्यापकत्वापातात्।

अथ निर्दोषस्य वाक्यं तथेति चेन्न। सदोषस्य 'नास्ति घटः' इत्यभिधित्सतः 'अस्ति घटः' इति दैवान्निर्गतयथार्थवाक्याव्याप्तेः। तत्प्रमाणं न भवत्येवेति चेन्न।

समर्थन—'प्रमाण से जो दृष्ट हो, उसे कहनेवाला आप्त है।' *खण्डन*—'प्रमाण से दृष्ट शुक्ति को इदानीं रजत कहनेवाला भी आप्त हो जायगा।

समर्थन—'प्रमाण से जैसा देखा हो, वैसा ही कहनेवाला आप्त है।' *खण्डन*—रङ्ग (राँगे) में 'इमे रङ्ग-रजते' इस भ्रमस्थल में उक्त वाक्य का वक्ता भी आप्त हो जायगा, कारण रङ्गत्वरूप से प्रमाणदृष्ट को रङ्गत्वरूप से भी वह कहता ही है।

समर्थन—'जितनी वस्तुएँ जिन रूपों से प्रमाण द्वारा दृष्ट हों, उतनी ही वस्तुओं को उन्हीं रूपों से कहनेवाला आप्त है।' *खण्डन*—प्रायः ऐसे उदाहरण नहीं मिलते, अतः असम्भव हो जायगा। जिस-जिस रूप से वस्तु प्रमित होती है, उन सभी रूपों से वस्तु का एक साथ कथन हो नहीं सकता।

समर्थन—'जैसा जो प्रमित हो, वैसे ही उसीको जो कहे, अप्रमित को कदापि न कहे, ऐसे वक्ता का वाक्य प्रमाण है।' *खंडन*—युधिष्ठिर जो आप्तत्वरूप से प्रसिद्ध हैं, उनके वाक्य में भी अव्याप्ति हो जायगी। कारण उन्होंने भी कभी अप्रमित 'अश्वत्थामा हतो नरो वा हस्ती वा' यह वाक्य कहा था।

समर्थन—'जैसा जो प्रमित हो, उसे वैसा ही कहनेवाला उस विषय में आप्त है और उसी विषय में उसका 'वाक्य प्रमाण है।' *खंडन*—लक्षण में यत्शब्द को तद्व्यक्तिपरक ही मानेंगे, अतः जिस व्यक्ति का ग्रहण करेंगे, उससे अन्य व्यक्ति में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'निर्दोष पुरुष का वाक्य प्रमाण-शब्द है।' *खण्डन*—घटवत् भूतल में आशय-दोष से 'नास्ति घटः' यह कहना चाहनेवाले भी सदोष पुरुष के मुँह से दैववश निकला हुआ 'अस्ति घटः' यह वाक्य भी प्रमाण न कहलायेगा, कारण उसका

पूर्वमुक्तोत्तरत्वात् । प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यावधारणसम्भवादापाततः सन्देहेऽप्यदोषात् । सामान्यतो निर्दोषत्वस्य भीमाग्रजेऽप्यभावात्, विशेषतस्तथात्वस्य असाधारण्यपर्यवसायित्वात् ।

यथार्थवाक्यं शब्दः प्रमाणमित्यत्र को दोष इति चेन्न । पूर्वोक्तयाथार्थ्यदूषणानि तावत्प्रथमः । यथार्थमिति विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वाऽव्यवच्छेदकत्वयोः पूर्ववद्दोषश्च द्वितीयः । वाक्यत्वानिरुक्तिश्च तृतीयः । तथाहि—किमिदं वाक्यं नाम ?

प्रयोक्ता सदोष ही है । 'वह वाक्य अप्रमाण है' यह नहीं कह सकते; कारण उसका विषय अबाधित है और संवादी प्रवृत्ति होने से उसमें प्रामाण्य ही सम्भव है । सदोष पुरुष का वचन होने से उसमें आपाततः सन्देह हो; तो भी कुछ हानि नहीं । किञ्च—यदि निर्दोष शब्द का अर्थ सब दोषों से रहित मानें, तो युधिष्ठिर भी ऐसे नहीं हैं । यदि यत्किञ्चित् दोष के अभाव से विशिष्ट को निर्दोष शब्दार्थ मानें, तो लक्षण सर्वलक्ष्यसाधारण न होने से अननुगम हो जायगा । अर्थात् यदि वञ्चनारूप दोष के अभाव का लक्षण में निवेश करें, तो तदभावविशिष्ट वक्ता के वाक्यमात्र में समन्वय हो जायगा, पर लोभरूप दोषाभावविशिष्ट वक्ता के वाक्य में समन्वय नहीं होगा ।

समर्थन—'यथार्थवाक्य शब्द-प्रमाण है' इस लक्षण में क्या दोष है ? *खंडन*—प्रथम तो 'यथार्थानुभवः प्रमा' इस लक्षण के खण्डन में उक्त दोष होंगे । अर्थात् यदि वाक्य में अर्थसादृश्य प्रमेयत्वरूप से ग्रहण करें, तो आभासवाक्य में अतिव्याप्ति हो जायगी । अतः 'यथार्थज्ञानजनक वाक्य प्रमाण है' ऐसा लक्षण करना होगा । इस लक्षण में भी यदि यत्किञ्चित् रूप से सादृश्य का ग्रहण करें, तो भ्रान्तिज्ञान प्रमेयत्वरूप से अर्थसदृश होने से तज्जनक वाक्य में अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि भासमान आकार से सादृश्य का ग्रहण करें, तो 'रूपी घटः' इस वाक्य में अव्याप्ति हो जायगी; कारण रूपवत्त्व से ज्ञान में अर्थसादृश्य नहीं है, आदि दोष होंगे । इसी तरह यदि अयथार्थ वाक्य को 'यथार्थ' इस विशेषण का व्यवच्छेद्य मानें, तो जो अंशतः यथार्थ और अंशतः अयथार्थ वाक्य है, वह यथार्थ अंश में भी प्रमाण न होगा । यदि व्यवच्छेद्य न मानें, तो यथार्थविशेषण व्यर्थ हो जायगा—यह द्वितीय दोष है । वाक्यत्व की अनिरुक्ति तृतीय दोष है । देखिये—वाक्य क्या वस्तु है ? अर्थात उसका निर्वचन नहीं हो सकता ।

एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायो वाक्यमिति चेन्न। एकत्वविषयत्वावच्छिन्नत्वानां वाच्यानि दूषणानि तावत्सन्तु, पदपदार्थं तु चिन्तयामः।

सुप्तिङन्तं पदमिति केचित्। वर्णा विभक्त्यन्ताः पदमित्यन्ये।

तत्र नाद्यः; प्रत्येकं मिलितस्य चाव्यापकत्वात्। पृथक्प्रवृत्तिनिमित्ततायाश्च वाक्यलक्षणाव्यापकत्वापातात्।

नापि द्वितीयः; विभक्त्यर्थस्यानुगतस्यासम्भवात् 'विभक्तिश्चे'त्यनेन सुप्तिङोः, 'प्राग्दिशोऽविभक्ति'रित्यनेन च तसिलादेः पृथक् पृथगेव विभक्तिसंज्ञाविधानात् शब्दसाम्येन च लक्षणायोगात्।

निर्वचन—'एक अर्थ से अवच्छिन्न अर्थात् एक अर्थ का वाचक पदसमुदाय वाक्य है।' *खंडन*—एकत्व, अर्थत्व और अवच्छिन्नत्व में वक्तव्य दोष संप्रति रहने दें। अर्थात् सम्प्रति क्या एकत्व संख्यारूप है या द्वित्वादिविरहरूप ?' इसी तरह अवच्छिन्नत्व भी विशेषण-विशेष्यसम्बन्धत्व से अतिरिक्त है या अनतिरिक्त ? दोनों ही विकल्प नहीं बन सकते, यह सब चतुर्थ परिच्छेद में विचारा जायगा। यहाँ केवल पद शब्द के अर्थ का विचार करते हैं कि पदशब्द का अर्थ क्या है ?

निर्वचन—कोई आचार्य 'सुप्तिङन्तं पदम्' यह पद का लक्षण करते हैं। अन्य आचार्य 'विभक्त्यन्त वर्ण' को पद कहते हैं।

खण्डन—इनमें प्रथम लक्षण युक्त नहीं है, कारण यदि सुबन्त को पद कहें, तो तिङन्त में और यदि तिङन्त को पद कहें, तो सुबन्त में अव्याप्ति हो जायगी। यदि सुप्तिङन्त को पद कहें, तो सुप्तिङ दोनों किसीके अन्त में नहीं हैं, अतः असम्भव हो जायगा। यदि 'सुबन्तं पदम्, तिङन्तं पदम्' इस रीति से दो लक्षण करें, तो सुबन्त पद है इस लक्षण की तिङन्त में और तिङन्त पद है, इस लक्षण की सुबन्त में अव्याप्ति हो जायगी।

द्वितीय लक्षण भी युक्त नहीं है, कारण 'विभक्तिश्च' इससे सुप्-तिङ् की और 'प्राग्दिशोऽविभक्तिः इससे तसिलादि की पृथक्-पृथक् विभक्ति-संज्ञा होने से विभक्तिशब्द का अनुगत अर्थ नहीं है। अतः शब्दसम होने से केवल सुबन्त-तिङन्त में समन्वित विभक्त्यन्त वर्ण पद है, यह लक्षण हो नहीं सकता। अन्यथा यदि यह लक्षण मानें, तो सुप्रहित केवल तसिलन्त भी पद हो जायगा।

किञ्च—वर्णा इति बहुत्वस्य विवक्षितत्वे 'अहम्' इत्यादेरपदत्वप्रसङ्गः। अविवक्षितत्वे 'देवदत्त' इत्यन्ताकारस्य पदत्वापातः, तस्य विभक्त्यन्तत्वात्।

सार्थकस्तथेति चेत्; 'भवती'त्यादौ शबकारादीनां पदत्वप्रसङ्गः, शपः सार्थकत्वात्। यत्र विहिता विभक्तिस्तदिति चेन्न। शबकारं परित्यज्य पदत्वप्रसङ्गात्।

तन्मध्यपतितत्वाच्छबकारोऽपि गृह्यत इति चेत्; तर्हि यत्र विभक्तिर्विधीयते तत्र तद्विभक्तिमध्यपतितं पदमिति वा विवक्षितम्, यत्र विभक्तिर्विधीयते तत्तद्विभक्तिमध्यवर्तिसहितं पदमिति वा? आद्ये शबकारस्यापि पृथगेव पदत्वप्रसङ्गः, लक्षणस्य चाव्यापकत्वात्। द्वितीये 'देवदत्तः' इत्यस्यापदत्वप्रसङ्गः, मध्यवर्तिनोऽभावेन मध्यवर्तिसहितविशेषणाभावात्।

क्वचिन्मध्यवर्तिसहितस्य क्वचित्केवलस्येति यथासम्भव इति चेन्न। एकानुगतरूपानभिधाने लक्षणस्याव्यापकतापत्तेर्दुर्निवारत्वात्।

किञ्च—'वर्णाः' यहाँ यदि अच् सहित हलों के बहुत्व की विवक्षा करें, तो 'अहम्' इत्यादि पद न कहलायेगा। यदि बहुत्व की विवक्षा न करें, तो 'देवदत्तः' यहाँ 'अः' भी विभक्त्यन्त होने से पद कहा जायगा।

समर्थन—'सार्थक विभक्त्यन्त' पद है, अतः 'देवदत्तः' इसका घटक 'अः' पद हो जायगा। *खंडन*—ऐसा कहने पर 'भवति' का घटक 'अति' भी पद हो जायगा। कारण शप्-प्रत्यय होने से वह सार्थक भी है। *समर्थन*—'जिससे विभक्ति विहित हो, [सार्थक विभक्त्यन्त] वह पद है।' शप् से विभक्ति विहित न होने से वह विभक्त्यन्त पद नहीं होगा। *खण्डन*—शप् के अकार को त्यागकर 'भूति' एतावन्मात्र पद हो जायगा। लोक में तन्मात्र में पदत्व प्रसिद्ध नहीं है, अतः इष्टापत्ति नहीं कह सकते।

समर्थन—'प्रकृति-प्रत्यय के मध्य होने से शप्-विशिष्ट ही पद है।' *खंडन*—इसमें जहाँ-जहाँ विभक्ति का विधान हो, वहाँ तन्मध्यपतित पद है, यह अर्थ विवक्षित है अथवा जिससे विभक्ति का विधान हो, तन्मध्यपतितयुक्त पद है, यह अर्थ विवक्षित है? प्रथम पक्ष में शप् का अकार पृथक् ही पद हो जायगा। किञ्च—'भवति' आदि में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। द्वितीय पक्ष में 'देवदत्तः' यह पद न कहलायेगा, कारण मध्यवर्ती का अभाव होने से वह तद्विशिष्ट नहीं है।

समर्थन—'कहीं-कहीं जिससे विभक्ति विहित हो, मध्यवर्तिसहित विभक्त्यन्त वह पद है' तथा 'कहीं-कहीं जिससे विभक्ति विहित हो, केवल वह विभक्त्यन्त ही पद है।'

किञ्च—'देवदत्त + सु' इत्यपि पदं स्यात्। अथ अपशब्दोऽयम्, पदत्वे सति रुत्वादेर्विधानस्यावश्यम्भावित्वादिति चेन्न। यत एवायमपशब्दः, अत एव भवतो दोषः प्रसज्यते—अपशब्देऽपि पदलक्षणं गतमिति। तस्मात् पाणिनिनाऽऽचार्येण शब्दसिद्ध्यर्थं पदसंज्ञेयं रुत्वादिविध्यनुरोधेनापशब्ददशायामन्यैव कृता नदी-संज्ञावत्, न लौकिकपदव्यवहारसिद्ध्यर्थम्। साधुशब्दविशेषे ततश्च तस्यान्यदेव लक्षणं वाच्यम्। अन्यथा दाक्षीनन्दनोदीरितनदीसंज्ञाप्रत्यभिज्ञायां पाथः प्रार्थयमानः काननस्थलीमलीकाभिमानी भवानीहेत।

अथोच्यते—विभक्त्यन्तमेव सर्वलक्षणप्रवृत्त्या निष्पन्नं व्यावहारिकं पदमिति लक्षणमस्तु। मैवम्; सर्वलक्षणप्रवृत्तेः सर्वत्रासम्भवात्।

सम्भवत्सर्वलक्षणप्रवृत्त्येति चेन्न। सम्भवत्त्वं तत्काले कालान्तरे वा विवक्षितम्? आद्ये 'देवदत्त+रु' इत्यपि पदं स्यात् रुत्वविधानकाले विसर्गस्यासम्भावितत्वात्।

खण्डन—सब लक्ष्यों में एक अनुगत लक्षण न होने से प्रथम लक्षण की द्वितीय लक्षणों के लक्ष्य में और द्वितीय की प्रथम लक्षण के लक्ष्य में अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—'देवदत्त + सु' यह भी पद हो जायगा, कारण यह भी विभक्त्यन्त है। *समर्थन*—यह अपशब्द या अशुद्ध शब्द है, अतएव ऐसा नहीं बोलते। किन्तु पद तो है ही, कारण यदि यह पद न हो, तो रुत्व-विसर्ग कैसे होगा? *खण्डन*—अपशब्द है, इसीलिए तो दोष होता है कि अपशब्द में भी आपके पद-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। तस्मात् आचार्य पाणिनि ने शब्दसिद्धि के लिए रुत्व आदि विधियों के अनुरोध से नदीसंज्ञा के तुल्य अपशब्द-साधारण पद का अन्य ही लक्षण किया है। लौकिक पद-व्यवहार की सिद्धि के लिए केवल साधुशब्दविषयक लक्षण नहीं किया है। अतः लौकिक पद का और ही लक्षण करना चाहिए। अन्यथा यदि पाणिनिकृत लक्षण को लोकसाधारण मानें, तो दाक्षीनन्दनकृत नदीसंज्ञा का अनुसन्धानकर अलीक-अभिमानी आप निर्जल काननस्थली को नदी मानकर जल के लिए उसे प्राप्त कीजिये।

समर्थन—विभक्त्यन्त ही [सब लक्षणों की प्रवृत्ति से निष्पन्न] लौकिक पद है। *खंडन*—सर्वत्र सब लक्षणों की प्रवृत्ति न होने से असम्भव हो जायगा।

समर्थन—जिन-जिन लक्षणों की जहाँ-जहाँ प्रवृत्ति हो, उन सब लक्षणों से निष्पन्न विभक्त्यन्त लौकिक पद है। *खंडन*—'उस काल में जिन-जिन लक्षणों की प्रवृत्ति सम्भव हो', यह अर्थ है अथवा 'अन्य काल में भी जिन-जिन लक्षणों की प्रवृत्ति

कालान्तरेऽपीति पक्षे 'देवदत्त' इत्यपि पदं न स्यात्, इत्यादिपदपूर्वकालभाविनो यत्वयलोपादेरकरणात्।

शब्दान्तरसन्निधिव्यतिरेकेण यद्भावि लक्षणं तद्विवक्षितमिति चेन्न। 'जीविकाकृत्य व्याचष्टे' इत्यर्थे 'जीविकां कृत्वा व्याचष्टे' इति प्रयुज्यमानं वाक्यं स्यात्। एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायस्य तत्रापि गतत्वात्। कृत्वेत्यनेन सम्बद्धस्य जीविकामित्यस्योक्तपदलक्षणेन सङ्गृहीतत्वात्।

यदुपाधिका यल्लक्षणप्रवृत्तिस्तदुपाधिसम्पत्तौ तेन निष्पन्नं तथेति चेन्न। यत्र नास्त्युपाधिसम्पत्तिस्तत्र केवले तस्यां सत्यामित्यस्याभावादपदत्वापत्तेः।

यस्यामवस्थायां यस्य लक्षणस्योपनिपातस्तत्सर्वसम्पत्तौ विभक्त्यन्तं पदमिति

का सम्भव हो', यह अर्थ है ? प्रथम पक्ष में 'देवदत्त+रु' यह भी पद हो जायगा, कारण रुत्वविधानकाल में विसर्ग की प्रवृत्ति तो है नहीं और जिन-जिन सूत्रों की प्रवृत्ति है, वे प्रवृत्त हो चुके हैं। द्वितीय पक्ष में 'देवदत्तः' यह भी पद न कहलायेगा, कारण उसके साथ 'इति' आदि जोड़ने पर यत्व, यलोप आदि की प्रवृत्ति की भी सम्भावन है, किन्तु वे अभी प्रवृत्त नहीं हुए हैं।

समर्थन—'शब्दान्तर-सन्निधान के अभावकाल में जिन-जिन लक्षणों की प्रवृत्ति हो, उन-उन लक्षणों की प्रवृत्ति से निष्पन्न पद है।' *खण्डन*—'जीविकाकृत्य व्याचष्टे' इस अर्थ में प्रयुक्त 'जीविकां कृत्वा व्याचष्टे' यह भी वाक्य हो जायगा। कारण 'कृत्वा' इससे सम्बद्ध 'जीविकाम्' यह उक्त पद लक्षण से संगृहीत हो जाने से वह एक अर्थ से अवच्छिन्न पदसमुदायरूप वाक्य है ही।

समर्थन—'जिन-जिन कारणों से जिन-जिन सूत्रों की प्रवृत्ति हो, उन-उन कारणों की सम्पत्ति होने पर उन-उन सूत्रों की प्रवृत्ति से निष्पन्न ही पद है। और औपम्यरूप अर्थ तथा 'कृत्वा' और 'जीविकाम्' इन दो पदों के परस्पर सन्निधानरूप कारण से गति-संज्ञा-समासल्यप् की प्रवृत्ति होती है। अतः इन सूत्रों की प्रवृत्ति होने पर ही उक्त वाक्यघटक पद होंगे, अन्यथा नहीं। *खंडन*—जहाँ औपम्यादि कारण नहीं हैं, वहाँ 'उपाधिसम्पत्तौ सत्याम्' इस लक्षणांश का समन्वय न होने से पदत्व नहीं होगा।

समर्थन—'जिस अवस्था में जिन-जिन सूत्रों की प्रवृत्ति हो, उन उन-उन सूत्रों की प्रवृत्ति होने पर उस अवस्था में विभक्त्यन्त पद है।' *खंडन*—लक्षण में **'अवस्था'** पद से अवस्था-विशेष का ग्रहण है या अवस्था-सामान्य का ? यदि

चेन्न । यस्यामवस्थायामित्यवस्थानां भिन्नभिन्नाकारेण परामर्शे लक्षणस्याननुगमाद्व्यापकतादोषः । अवस्थानामैक्यमविवक्षितमसम्भावितं च । सर्वदा सर्वावस्थाविषये लक्षणप्रसङ्गादिति । स च 'भवति, भवति, भवतीति, भवत्यस्तीति, पटः पटाविति, पटं पट इति चे'त्यतिव्याप्तिः ।

एतेन—अपौरुषेयं वाक्यं तदित्यपि निरस्तम् ।

अर्थापत्ति-लक्षण-खण्डनम्

का पुनरर्थापत्तिरपि ?

अवस्था-विशेष का ग्रहण करें, तो जिस 'देवदत्तः' इस अवस्था का लक्षण में निवेश होगा, उससे अन्य यज्ञदत्त आदि अवस्थाओं में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगा। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; कारण अवस्थामात्र में ऐकरूप्य अविवक्षित तथा असम्भावित है। अन्यथा सब अवस्थाओं में, सब कालों में सब लक्षणों की प्रवृत्ति हो जायगी। अर्थात् यदि अवस्थाओं का ऐक्य पदों की एकरूपतारूप है, तो 'भवति' यह तिङन्त तथा 'भवति' सप्तम्यन्त तथा 'भवति' सम्बोधन तीनों की एक अवस्था होने से 'भवति' इस अवस्था में प्रवृत्त सब लक्षणों की प्रवृत्ति किसी 'भवति' में नहीं है, अतः तीनों में अपदत्व हो जायगा। यदि अर्थैक्यरूप अवस्थाओं का ऐक्य हो, तो 'अस्ति, भवति' इन दोनों की एक अवस्था होने से उस अवस्था में प्रवृत्त सब लक्षणों की एक में प्रवृत्ति न होने से अव्याप्ति हो जायगी।

यदि एकविभक्तिकत्वरूप अवस्थाओं का ऐक्य हो, तो 'पटः पटौ' इन दोनों में प्रथमारूप एक विभक्ति होने से एक-अवस्था हो जायगी और उस अवस्था में प्रवृत्त सभी लक्षणों से प्रत्येक की निष्पत्ति न होने से अव्याप्ति हो जायगी। यदि प्रातिपदिक का ऐक्यरूप अवस्थाओं का ऐक्य है, तो 'पटम्, पटः' इन दोनों की एक-अवस्था में प्राप्त सब लक्षणों से प्रत्येक की निष्पत्ति न होने से अव्याप्ति हो जायगी।

पद तथा वाक्य की निरुक्ति न होने से ही अपौरुषय वैदिकवाक्य प्रमाण-शब्द है, यह लक्षण भी खण्डित जानना चाहिए।

अर्थापत्ति-लक्षण का खण्डन

अर्थापत्ति क्या वस्तु है ? अर्थात् लक्षण न होने से मीमांसक का अभिमत अर्थापत्ति-प्रमाण भी अनिर्वचनीय ही है।

अन्यथानुपपत्ति'रिति चेन्न । यतोऽन्यत्वं तत्सिद्धेरग्रे तदसिद्धेः ।

सिद्धेनानुपपत्तिरिति चेन्न । विशेषणव्यवच्छेद्याप्रतीतौ तद्वैयर्थ्येन तदनुपादाने सर्वथाऽनुपपत्त्यर्थतायां फलविरोधात् । केनाऽप्यनुपपत्त्यर्थत्वे साध्यसिद्ध्यपर्यवसानात् ।

निर्वचन—'अन्यथा (बहिःसत्त्व के बिना) जीवित देवदत्त के गृह में असत्त्व की अनुपपत्ति अर्थापत्ति प्रमाण है' ऐसा लक्षण हो सकने से वह अनिर्वचनीय नहीं है। *खंडन*—जिस बहिःसत्त्व के बिना अनुपपत्ति है, उसकी पहले से ही सिद्धि होने से आगे अर्थापत्ति प्रमाण की सिद्धि ही नहीं हो सकती। अर्थात् बहिःसत्त्वान्यथात्वरूप उपपादक का ज्ञान प्रतियोगिज्ञानाधीन होने से पहले बहिःसत्त्व ज्ञात होना ही चाहिए। फिर तो बहिःसत्त्वरूप अर्थापत्ति का कोई प्रयोजन ही नहीं रहा।

समर्थन—देवदत्त का बहिःसत्त्व अर्थापत्ति का फल है और सामान्यतः सिद्ध बहिःसत्त्व के बिना अनुपपत्ति अर्थापत्तिरूप करण है। अतः सामान्यतः बहिःसत्त्व की प्रथम से सिद्धि होने पर भी कुछ हानि नहीं है। *खंडन*—यदि विशेषतः असिद्ध देवदत्तीय बहिःसत्त्व के व्यवच्छेदार्थ 'सिद्धेन' यह विशेषण है, तो पूछा जा सकता है कि वह व्यवच्छेद्य प्रसिद्ध है या नहीं? यदि हाँ, तो फल पहले से ही सिद्ध होने से अर्थापत्ति व्यर्थ है। यदि वह प्रसिद्ध नहीं है, तो व्यवच्छेद्य का अभाव होने से ही उक्त विशेषण व्यर्थ है। यदि वह विशेषण न देकर अनुपपत्तिमात्र को अर्थापत्ति कहें, तो फल के साथ विरोध हो जायगा। अर्थात् 'सर्वप्रकारेण अनुपपत्तिमात्र' को करण कहें, तो अनुपपत्ति शब्द का फल के साथ विरोध होने से उपपादक प्रमा अनुपपन्न हो जायगी, कारण वह भी सर्वान्तःपाती है। एवञ्च लक्षण में असंभव हो जायगा। यदि 'केनापि प्रकारेण अनुपपत्तिमात्र'को करण कहें, तो वैसा करण चाहे कुछ भी फल सिद्ध कर सकता है, 'देवदत्तीय बहिःसत्त्व' रूप साध्य की सिद्धि में ही उसका पर्यवसान हो नहीं सकता।

१ जहाँ ज्योतिषशास्त्र से 'वर्षशतजीवी देवदत्तः' ऐसा ज्ञान होने पर 'देवदत्तः क्वचिदस्ति वर्षशतजीवित्वात्' ऐसा सामान्यतो दृष्ट अनुमान होता है, फिर अनुपलब्धि प्रमाण से 'देवदत्तो गृहे नास्ति' ऐसा ज्ञान होता है, वहाँ 'देवदत्तस्य गृहे असत्त्वे सति वर्षशतजीवित्वं बहिःसत्त्वं विना अनुपपन्नम्, इति तेन बहिःसत्त्वं कल्प्यते' ऐसा ज्ञान होता है। यहाँ पर अन्यथानुपपत्ति प्रमाणरूप अर्थापत्ति है और बहिःसत्त्वकल्पन फलरूप अर्थापत्ति है। 'अर्थस्य आपत्तिर्यस्याः' इस व्युत्पत्ति से प्रमाण में और 'अर्थस्य आपत्तिः' इस व्युत्पत्ति से प्रमा में अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग होता है। मीमांसक प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों से पृथक् अर्थापत्ति को पञ्चम प्रमाण मानते हैं। उसीका खण्डन यहाँ करते हैं।

प्रमाणयोर्विरोधानुपपत्तिरिति चेन्न । असिद्धत्वात् । प्रमाणत्वेनाभिमन्यमानयोरिति । अभिमतेभ्रमार्थत्वेऽतिप्रसङ्गात् । ज्ञानार्थत्वेऽप्युक्तदोषानिवृत्तिरेव । अनिर्णीय प्रामाण्याप्रामाण्ययोरित्यत्रापि तथैव । तथाहि—सत्प्रतिपक्षेऽपि तस्य तदुपपादकः .फलकत्वापत्तेः ।

तत्र विरोधे व्याहत्यैकाप्रामाण्यनिश्चयः, यत्र तु नैवं तद्विवक्षितमिति चेन्न । एवं सत्प्रतिपक्षवदन्यत्रापि विरोधार्थत्वेनैवाभासत्वाविशेषात् ।

समर्थन—ज्योतिःशास्त्र से 'वर्षशतजीवी देवदत्तः' ऐसा निश्चय होने पर 'देवदत्तः क्वचिदस्ति वर्षशतजीवित्वात्' यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान और 'देवदत्तः गृहे नास्ति' यह अनुपलब्धि दोनों प्रमाणों का बहिःसत्त्व-कल्पना के बिना परस्पर विरोध होना अनुपपत्ति या अर्थापत्ति है, जो बहिःसत्त्वरूप फल की कल्पनाकर शान्त हो जाती है। *खण्डन*—प्रमाणों में परस्पर विरोध कहीं भी देखा नहीं गया है, अतः ऐसा लक्षण अयुक्त (असंभव

समर्थन—अपने-अपने विषय में शूर होने से भले ही प्रमाणों में विरोध न हो, प्रमाणत्वेन अभिमतों में विरोध की अनुपपत्ति अर्थापत्ति है, ऐसा कहेंगे, तब तो असंभव न होगा । *खण्डन*—'अभिमत' शब्द का अर्थ क्या है, क्या भ्रम है, क्या ज्ञान है या ऐसा ज्ञान, जिसका प्रामाण्य-अप्रामाण्य अनिश्चित हो ? तीनों पक्षों में दोष होगा । यदि अभिमत का अर्थ भ्रम कहें, तो अतिप्रसंग हो जायगा । अर्थात् माला में एक को 'सर्पोऽयम्' यह भ्रान्ति हुई, तो दूसरे को 'दण्डोऽयम्' । एवञ्च यहाँ भी दोनों में विरोधानुपपत्ति होकर उपपादकान्तर की कल्पना अर्थापत्ति होने लगेगी । यदि ज्ञान अर्थ मानें, तो भी उक्त दोष बना ही रहेगा, अर्थात् उस ज्ञान को प्रमाण मानेंगे, तो विरोध ही असिद्ध होगा और यदि अप्रमाण या प्रमाण-अप्रमाणसाधारण मानें, तो पहले पक्ष का ही दोष रहेगा । तृतीय पक्ष में भी वसा ही अतिप्रसंग है । देखिये—यदि ज्ञानों के विरोध की अनुपपत्ति से उपपादक की कल्पना करें, तो 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्' इस सत्प्रतिपक्षस्थल में भी ज्ञानों का विरोध अनुपपन्न होकर किसी अन्य उपपादक की कल्पना करेगा । अर्थात् वहाँ भी अर्थापत्ति का लक्षण अतिव्याप्त हो जायगा ।

समर्थन—सत्प्रतिपक्ष-स्थल में विरोध होने पर व्याघात होने से एक के अप्रामाण्य का निश्चय होता है । किन्तु अर्थापत्ति-स्थल में बहिःसत्त्व की कल्पना से भी उपपत्ति हो जाती है, व्याघात नहीं होता । अतः वहा एक के अप्रामाण्य का निश्चय नहीं होता । हमें यहाँ ऐसा ही विरोध विवक्षित है । *खंडन*—जैसे सत्प्रतिपक्ष-स्थल में विरोध

तर्कयोर्विरोधोऽपेक्षित इति चेन्न। मिथो विरोधेन तर्कयोरप्याभासत्वात्।

विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थप्रतिक्षेपविषयत्वसंशयोऽविशेषप्रवृत्ततद्विपरीतार्थप्रमाणस्य विरोध इति चेन्न। विशेषविषयप्रमाणबोधितवैपरीत्ये सति तद्विरुद्धार्थतांशे संशयस्य दुर्बलस्यानवकाशत्वेन अविशेषप्रवृत्तप्रमाणविषयतां तदीयां गोचरयितुमप्यसामर्थ्यादेव।

अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य तद्विपरीतार्थविशेषविषयप्रमाणदर्शनं तदितरविशेषविषयप्रमाफलकं तथेति चेन्न। अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य तद्विपरीतार्थविशेष-

से एक के आभासत्व की कल्पना होती है, वैसे ही अर्थापत्ति-स्थल में भी विरोध से एक का आभासत्व हो जायगा।

समर्थन—यहाँ 'विरोध' पद से तर्कों का विरोध विवक्षित है। अर्थात् ज्योतिषशास्त्र से 'वर्षशतजीवी देवदत्तः' ऐसा ज्ञान होने पर 'यदि देवदत्तः क्वचित् न स्यात् तदा वर्षशतजीवी न स्यात्, यदि देवदत्तः बहिर्न स्यात् तदा गेहनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न स्यात्' इन दोनों तर्कों के 'क्वचित्' शब्द का गृहसत्त्व में पर्यवसान होने से विरोध की अनुपपत्ति ही अर्थापत्ति है। *खंडन*—प्रमाणों की तरह तर्कों में भी विरोध नहीं होता। यदि विरोध हो, तो वे तर्काभास हो जाते हैं। प्रकृत में अनुपलब्धि से बाधित होने से क्वचित्त्व से प्रवृत्त तर्क का गृहसत्त्व में पर्यवसान नहीं हो सकता, अतः विरोध नहीं है।

समर्थन—'सामान्यतः प्रवृत्त सत्त्वविषयक पूर्वजात सामान्यतो दृष्टरूप अनुमानप्रमाण-धर्मिक तादृश संशय को ही अर्थापत्ति कहेंगे, जिसका विषय पश्चात् जात अनुपलब्धिरूप प्रमाण के विषय गृहासत्त्व का अभाव (गृहसत्त्व) हो।' अर्थात् 'देवदत्तः क्वचिदस्ति वर्षशतजीवित्वात्, इत्यनुमितौ गृहसत्त्वविषयत्वमस्ति न वा' यह संशय अर्थापत्ति है। *खंडन*—'देवदत्तो गेहे नास्ति' इस अनुपलब्धिरूप प्रमाण से गृहासत्त्व का बोध (विशेष-दर्शन) होने पर गृहसत्त्व अंश के बोधन में दुर्बल संशय बाधित हो जाने से उसमें सामान्यतः प्रवृत्त प्रमाण की विरुद्ध-अंशीय विषयता को विषय करने की सामर्थ्य ही नहीं हो सकती। अर्थात् संशय विशेषादर्शनमूलक ही होता है। यहाँ जब गृहासत्त्व का विशेषदर्शन हो गया, तो गृहसत्त्वविषयक संशय हो ही नहीं सकता।

समर्थन—'सामान्यतः प्रवृत्त 'देवदत्तः क्वचिदस्ति वर्षशतजीवित्वात्' इस सामान्यतो दृष्टरूप प्रमाण का तद्विषयविपरीतार्थ गृहासत्त्वविषयक अनुपलब्धिरूप प्रमाण का दर्शन तदितरविषय बहिःसत्त्वप्रमा का जनक है और वही अर्थापत्ति है।' *खंडन*—प्रमाणों का विपरीतार्थत्वज्ञान उभय विषयों के सत्त्वासत्त्वरूप विरोध-गर्भ

विषयस्य च प्रमाणस्य च विषययोस्तद्विपरीतत्वविशेषणप्रतीत्यङ्गीकारलब्धायां परस्परविरुद्धत्वप्रतीतौ धर्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदस्य विरोधविवेचनस्फुटतद्गर्भ-प्रवेशतया तत्सहज्ञेयस्य तन्नान्तरीयकस्य वाऽन्यत्रेवाऽन्यत एव प्राप्तेः ।

किञ्च—अविशेषप्रवृत्तस्यैव तस्य किं विशेषविषयत्वम्, अथ सामान्यतः प्रवृत्तस्य नान्तरीयकतया प्रागेव विशेषविषयस्य विशेषविषयत्वेनाज्ञातस्य विशेष-विषयत्वम्, अथवा सामान्यस्य तद्विषयस्य विशेषः, उत तद्विषयीकृतविशेषगतं किमपि धर्मान्तरमिदानीं प्रमीयते ?

नाद्यः; अर्थापत्तेर्भ्रमकरणत्वापत्तेः । न द्वितीयः; तदनुव्यवसायोत्पत्ते-स्तद्विषयप्रतीत्यसम्भवात् । न तृतीयः; सामान्यस्यानन्तर्भावितश्रयस्य प्रत्येतुम-शक्यत्वात् प्रागेव तत्सिद्धेः ।

है और विरोधपदार्थ सत्त्व-असत्त्व का एक धर्मी में असमावेश ही है । अतः विरोध-ज्ञान के साथ ही धर्मिभेद ज्ञात हो ही जाता है । यदि भेद को अन्योन्याभावरूप मानें, तो 'सत्त्वासत्त्वे भिन्नधर्मिके विरुद्धत्वात्' इस अनुमान से ही धर्मिभेद सिद्ध हो जायगा । यद्यपि सत्त्वासत्त्व से धर्मिभेदमात्र की ही सिद्धि होती है, सत्त्व के बहि-र्धर्मिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती; फिर भी जब असत्त्व गृहधर्मिक प्रमित हो जाता है, तब सत्त्व का धर्मिभेद बहिर्धर्मिक ही पर्यवसित होता है । एवञ्च फिर स्वतन्त्र अर्थापत्ति प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती ।

किञ्च—सामान्यतः प्रवृत्त प्रमाण में ही विशेषविषयकत्व पश्चात् ज्ञात होता है, या सामान्यतः प्रवृत्त प्रमाण ही नान्तरीयक होने से प्रथम से ही विशेषविषयक है, किन्तु वह विशेषविषयकत्व अज्ञात है, जो इदानीं ज्ञात होता है अथवा सामान्यविषयक ज्ञान ही विनिगमक न होने से गृहसत्त्व और बहिःसत्त्व उभयविषयक है, 'गृहे नास्ति' इस अन्यथानुपपत्ति से उसका इदानीं बहिःसत्त्व में पर्यवसान ज्ञात होता है किंवा सामान्य-ज्ञान के विषय-विशेष में कोई अन्य धर्म इदानीं प्रतीत होता है ?

इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण सामान्यविषयक ज्ञान में विशेषविषयत्व का विषय करनेवाला ज्ञान भ्रम हुआ । अतः उसका करण अर्थापत्ति अप्रमाण हो जायगी । द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं, कारण सामान्यविषयक ज्ञान नान्तरीयक होने से विशेष-विषयक भी है । अतः अनुव्यवसाय से ही विशेषविषयत्व का ज्ञान हो जाने से तदर्थ अर्थापत्ति का स्वीकार व्यर्थ ही है । तृतीय कल्प भी युक्त नहीं, कारण यदि सामान्यज्ञान नान्तरीयक होने से विशेषद्वयविषयक मानें, तो भी अभिमत बहिःसत्त्वविषयकत्व पूर्व से ही सिद्ध है । अतः तद्ज्ञापक अर्थापत्ति अनुवादक ही हुई, स्वतन्त्र प्रमाण नहीं ।

नापि चतुर्थः ; तद्धि प्रतीयमानविरोधिव्यतिरिक्तत्वम् , अन्यद्वा स्यात् ? नान्त्यः; तत्प्रतीतौ सामर्थ्यानुपदर्शनेन अनियमप्रसङ्गात् । न प्रथमः; अनुगताननुगतजातिव्यक्तिचाक्षुषाचाक्षुषादिव्यक्तिगन्धादितादात्म्यवादिनये तदुभयप्रमातादात्म्यविषयताव्युदासं विना विरोधासिद्ध्या तद्गमनिकाबलस्यैवासिद्धेः । तदुभयप्रतीतौ च तदवधारणे प्रागेव तत्प्रतीत्याऽर्थापत्त्यनुवादतापत्तेः ।

अनुपलब्धिलक्षण-खण्डनम्

योग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाकरणमित्यप्ययुक्तम् ; प्रमाणाभावस्य तथात्वे

चतुर्थ कल्प भी युक्त नहीं है । कारण वह धर्म क्या है, प्रतीयमान विरोधी धर्म-(गृहासत्त्व) व्यतिरिक्तत्व (बहिःसत्त्व) है या उससे अन्य ही कोई धर्म है ? इनमें द्वितीय पक्ष तो युक्त नहीं है ; कारण उक्त धर्म का अन्यत्वरूप से ज्ञान होने पर भी विशेषरूप से ज्ञान न होने से उसमें अर्थापत्ति की सामर्थ्य कह नहीं सकते । प्रथम पक्ष भी अयुक्त है, कारण जो (आचार्य) अनुगत जाति और अननुगत व्यक्ति का तथा चाक्षुष व्यक्ति और अचाक्षुष गन्ध का तादात्म्य मानते हैं; उनके मत में देवदत्त के सत्त्व-असत्त्व का भी गृह के साथ तादात्म्य ही है । अतः उन दोनों का विरोध ही नहीं है । फिर वह विरुद्धत्व प्रतीति से बहिःसत्त्व का गमक कैसे होगा ? जो धर्म और धर्मी का भेद मानते हैं, उनके मत में भी धर्मी का भेद धर्मी के विरोध की प्रतीति के साथ ही ज्ञेय है या नान्तरीयक होने से अनुमान का विषय है । अतः इस कल्प में भी अर्थापत्ति अनुवादक होने से प्रमाण नहीं हो सकती ।

अनुपलब्धि-लक्षण का खण्डन

'योग्य अनुपलब्धि अभाव-प्रमा का करण है'—यह भी अयुक्त है; कारण यदि उपलब्धि शब्द का अर्थ प्रमा हो, तो 'इदं रजतम्' इस भ्रम से पूर्व रजतत्व की स्मृतिरूप ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति होने पर भी रजतत्व की प्रमा का अभाव ही है । अतः अनुपलब्धिरूप कारण होने से 'इदं न रजतम्' ऐसी अभाव-प्रमा ही होनी चाहिए, 'इदं

१ 'भूतले घटः; भूतले पटः' इत्यादि व्यवहार से जैसे घटादि भावों को बाह्य पदार्थ मानते हैं, वैसे ही 'भूतले घटाभावः, भूतले पटाभावः' इत्यादि व्यवहार से भेदवादी अभाव को भी बाह्य पदार्थ मानते हैं । भेद यह है कि नैयायिक उसे प्रत्यक्षसिद्ध मानते हैं, तो मीमांसक चक्षुरादि सन्निकर्ष न होने से इस अभाव-प्रमा को अनुपलब्धिप्रमाणजन्य मानते हैं । यहाँ उसी अनुपलब्धि प्रमाण का खण्डन करते हैं ।

विभ्रमानुदयप्रसङ्गात् । उपलम्भाभावमात्रस्य तथात्वे शङ्खधवलिमप्रतिसन्धानवतः पीतभ्रमानुदयप्रसङ्गात् ।

कालभेदात्तत्राविरोध इति चेन्न । तथापि संसृष्टयोरन्योन्याभावाग्रहणप्रसङ्गात्, तादात्म्यस्य स्वरूपमात्रानतिरेकात् । अभावस्फुरणे च तत्प्रतिभानस्य ध्रौव्यात् ।

किञ्च—योग्यता हि तत्तदविनाभूतान्यप्रतियोगिप्रमापकसाकल्यमिष्यते ।

रजतम्' ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिए । यदि उपलम्भ शब्द का ज्ञानमात्र अर्थ करें, तो यद्यपि 'इदं रजतम्' इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही भ्रमस्थल में दोष नहीं है, कारण प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष के बिना भान न होने से भ्रम से पूर्व ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष के सम्पत्त्यर्थ रजतत्व की स्मृति अवश्य माननी पड़ेगी । अतः रजतत्वोपलब्धि का अभावरूप कारण न होने से 'इदं न रजतम्' यह अभाव-प्रमा नहीं होगी [किन्तु 'इदं रजतम्' यह भ्रम ही होगा ।] फिर भी 'श्वेतः शंखः' ऐसा स्मरण रखनेवाले को विरोधी ज्ञान होने से पीतत्वस्मृति नहीं रहती । एवञ्च वहाँ पीतत्वोपलम्भाभावरूप कारण होने से 'पीतो न शंखः' यह अभाव-प्रमा ही होनी चाहिए, 'पीतः शंखः' यह भ्रम नहीं होना चाहिए ।

समर्थन—'पीतः शङ्खः' इस भ्रम में पीतत्व का भान पीतत्वस्मृतिरूप ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति के बिना हो नहीं सकता । अत. अनुभव के अनुरोध से कल्पना करेंगे कि उक्त स्मृति के जनक संस्कार के उद्बोधक पित्तादि दोष से ही 'श्वेतः शङ्खः' इस पूर्वद्वितीयक्षणवर्ती प्रतिसन्धान का प्रतिबन्ध भी होता है । अर्थात् प्रतिबन्धक के न होने से भ्रम से पूर्वक्षण में पीतत्व-स्मृति है । अतः अनुपलम्भरूप कारण न होने से अभाव की प्रमा नहीं होती, किन्तु 'पीतः शङ्खः' ऐसा भ्रम ही होता है । *खंडन*—तब तो चक्षुःसंयुक्त घट-पटादि के अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष न होगा । कारण अभाव-प्रत्यक्ष में प्रतियोगी के प्रत्यक्ष का अभाव कारण है और अन्योन्याभावग्रह-स्थल में सर्वत्र नियमतः प्रतियोगी का प्रत्यक्ष रहता है । 'तादात्म्य अन्योन्याभाव का प्रतियोगी है, घट-पट नहीं' यह नहीं कह सकते, कारण घट-पट का तादात्म्य घट-पटरूप होने से यदि तादात्म्य उसका प्रतियोगी है, तो घट-पट भी प्रतियोगी ही हैं । इसी प्रकार 'घटः पटात्मा न' इत्याकारक अन्योन्याभाव के प्रत्यक्षस्थल में सर्वत्र नियमतः घट-पट की प्रतीति ही रहती है । अतः यदि अनुपलब्धि को कारण मानें, तो अन्योन्याभाव का कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं होगा ।

किञ्च—प्रतियोगी और उससे व्याप्त प्रतियोगिसन्निकर्षादि से अन्य प्रतियोगि प्रमाजनक आलोकादि का समूह ही योग्यता है । ऐसा मानने पर जहाँ भाव (प्रति-

तथा सति च यत्र भावोपलम्भस्तत्राप्यभावप्रमा स्यात् । न हि तत्र हेतुव्यतिरेकेणैव वा सत्येव वा तदभावप्रमोत्पद्यते ।

तत्तदविनाभूतविरहसहितः स तथेति चेन्न । तदविनाभूतव्यतिरेकस्य तद्व्यतिरेकेणैवान्यथासिद्धसन्निधेरपि हेतुत्वाङ्गीकारे प्रमाणाभावात् । अत एव आलोकस्याध्यक्षणे नाऽऽलोकान्तरवत्ताऽवयवेनावयविना वा, आलोकेनान्यथासिद्धसन्निधिरहेतुरित्यालोकाभावग्रहे सा नापेक्ष्यते । अर्थाक्षयोगस्तु नार्थव्याप्तः, अंशत ऐक्यात् ।

तद्विरहसहितः स तथेति चेन्न । इन्द्रियसन्निकर्षस्य हि प्रतियोग्युपलम्भे तावद्धेतुताऽङ्गीक्रियते । तत्र किं सन्निकर्षव्यतिरेके कार्यानुदयोदाहरणमेष्टव्यं न वा?

योगी) का प्रत्यक्ष होता है, वहाँ भी अभाव की प्रमा हो जायगी । अर्थात् जहाँ 'घटः' ऐसी प्रमा है, वहाँ भी 'घटो नास्ति' ऐसी प्रमा हो जानी चाहिए । कारण वहाँ हेतु के बिना ही या विद्यमान ही घटादि-प्रमा नहीं होती है, किन्तु हेतु से ही होती है । अतः प्रतियोगी की प्रमा की कारणसमूहरूप योग्यता विद्यमान है ।

समर्थन—प्रतियोगी और प्रतियोगिव्याप्त के अभाव से युक्त प्रतियोगिप्रमाजनक साकल्य उक्त स्थल में नहीं है, किन्तु प्रतियोगी का सन्निकर्ष ही है । अतः अभाव की प्रमा नहीं होती । *खण्डन*—प्रतियोगिव्याप्त का अभाव प्रतियोगी के अभाव से अन्यथासिद्ध होने से उसे प्रमा का हेतु मानने में कोई प्रमाण नहीं है । अर्थात् जब अभाब की प्रमा में प्रतियोगी-व्याप्त का अभाव कारण ही नहीं है, तब प्रतियोगिव्याप्त के होने पर भी अभाव-प्रमा होनी चाहिए । अन्यथासिद्ध हेतु नहीं होता, इसीलिए अवयवी या अवयवरूप आलोक के प्रत्यक्ष में अवयव या अवयवीरूप अन्य आलोक अन्यथासिद्ध होने के कारण आलोकाभाव (तम) के प्रत्यक्ष में भी उसकी अपेक्षा नहीं होती ।

किञ्च—योग्यता के लक्षण में 'तदविनाभूत' शब्द से प्रतियोगी के सन्निकर्ष का ग्रहण अभिप्रेत है । किन्तु प्रतियोगी से व्याप्त प्रतियोगी का सन्निकर्ष नहीं होता, कारण प्रतियोगी का सन्निकर्ष 'प्रतियोगी' से घटित है; अतः अंशतः एक है । एवञ्च स्व से व्याप्त स्व नहीं होता, अतः असंभव हो जायगा ।

समर्थन—प्रतियोगी के अभाव से सहित प्रतियोगी की प्रमा का जनक साकल्य अभाव-प्रमा का हेतु है, ऐसा कहेंगे । प्रतियोगी के प्रत्यक्षस्थल में प्रतियोगी का अभाव नहीं है, अतः वहाँ अभाव की प्रमा नहीं होती । *खण्डन*—इन्द्रिय-सन्निकर्ष

न यदि, तदा सन्निकर्षस्य हेतुतैव कुतो मन्तव्या, अन्यथैव कार्योत्पत्त्युपपत्तेः। एष्टव्यं चेत्तर्हि तत्रैवोदाहरणे व्यवधायकेनेन्द्रियसन्निकर्षशून्ये परमार्थतश्चाभाववति उक्तकरणसम्पत्तेरभावप्रमा स्यात्।

तत्र व्यवधायकाभावः प्रतियोग्युपलम्भको नास्तीति चेन्न। सन्निकर्षस्य प्रमाव्यतिरेकप्रयोजकत्वावधारणोदाहरणमेव तर्हि तन्न स्यात्। व्यवधायकस्य सन्निकर्षविरोधिनैव प्रमाविरोधित्वमिति चेत्; तर्हि व्यवधायकाभावः सन्निकर्षोत्पत्तौ कारणम्, न त्वभावप्रमाविशेषोत्पत्ताविति स्थिते स प्रसङ्गस्तदवस्थ एव।

न च सन्निकर्षाभावादेव तदानीमुक्तकारणासम्पत्तिः, प्रतियोगिसन्निकर्षस्य अभावप्रमोत्पादकत्वे नित्यं तदनुत्पत्त्यापत्तेः।

को आप प्रतियोगी के उपलम्भ में हेतु मानते हैं। वहाँ सन्निकर्ष के अभाव में प्रतियोगी की अप्रत्यक्षता इष्ट है या नहीं? यदि नहीं, तो सन्निकर्ष की हेतुता ही सिद्ध कैसे होगी, कारण सन्निकर्ष के बिना भी कार्य की उत्पत्ति हो गयी। यदि उक्त स्थल में अप्रत्यक्ष इष्ट हो, तो उसी उदाहरण में व्यवधायक के होने पर इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं है और वस्तुतः अभाव और उक्त योग्यता भी है। अतः वहाँ अभाव-प्रमा होनी चाहिए।

समर्थन—वहाँ व्यवधायकाभावरूप प्रतियोगी के उपलम्भ का कारण नहीं है, अतः उक्त योग्यता के न होने से अभाव की प्रमा नहीं होती। *खण्डन*—यदि व्यवधायकाभाव को कारण मानें, तो उक्त स्थल सन्निकर्ष के अभाव से प्रतियोगी की प्रमा के अभाव का उदाहरण नहीं हुआ। एवञ्च सन्निकर्ष की हेतुता सिद्ध नहीं होगी। यदि कहें कि व्यवधायक सन्निकर्ष का विरोधी होने से प्रमा का विरोधी है, तो व्यवधायक का अभाव सन्निकर्ष की उत्पत्ति में कारण है, प्रतियोगी की प्रमा में नहीं। अतः उक्त स्थल में अभाव की प्रमा क्यों नहीं होती, यह आपत्ति वैसी ही बनी रही।

समर्थन—प्रतियोगी का सन्निकर्ष प्रतियोगी का व्याप्त नहीं है, कारण अंशतः एक है और स्व से स्व व्याप्त नहीं होता। अतः तत्-तत् अविनाभूत से अन्य प्रतियोगी के प्रमापक साकल्य के मध्य प्रतियोगी का सन्निकर्ष भी आता है और उक्त स्थल में वह है नहीं। अतः वहाँ अभाव की प्रमा नहीं होती। *खण्डन*—प्रतियोगी का सन्निकर्ष अभाव-प्रमा का कारण नहीं है; क्योंकि यदि उसे कारण मानें, तो प्रतियोगी के सन्निकर्षस्थल में नियमतः अभाव का ही ग्रहण होने लगेगा।

अत एव नाव्यवधानमधिकं कारणमेष्टव्यम्, इन्द्रियसन्निकर्ष एव तदुपपत्तेः। न चाऽऽश्रयसाक्षात्कारोऽपि, प्राङ्नास्तिताग्रहादौ व्यभिचारात्।

ननु व्यवधायकसद्भावेऽपि यत्र परमार्थतोऽस्त्यभावः, तत्रोक्तकारणादभावावधारणमस्त्येव को विरोधः। स न तावद्भावयोगिन्यपि तावता तद्विरहप्रमा प्रसज्येत। तर्हि प्रतियोग्यभावसहितोऽनुपलम्भ एवाभावप्रमाणमस्तु, जहीहि योग्यताविशेषणनिवेशव्यसनम्। योग्यताविशेषणाप्रक्षेपेऽनुपलम्भमात्रतो वस्तुगत्या प्रतियोग्यभाववत्यपि न भावनिश्चयः। कदाचित्तु संशयो जायते, तत्कथं तथाऽङ्गीक्रियत इति चेत्; तर्हि व्यवधानेऽप्येवमेवेति योग्यताविशेषणप्रक्षेपेऽपि तुल्यम्।

अतएव व्यवधायक के अभाव के तुल्य व्यवधान का अभाव भी प्रतियोगी के प्रत्यक्ष में अधिक कारण नहीं है। कारण इन्द्रियसन्निकर्ष की उत्पत्ति में ही उसका सार्थक्य है। *समर्थन*—अभाव के प्रत्यक्ष में आश्रय का साक्षात्कार भी कारण है। उक्त स्थल में वह नहीं है, अतः अभाव की प्रमा नहीं होती। *खण्डन*—यदि अभाव की प्रमा में आश्रय के साक्षात्कार को कारण मानें, तो घर से बाहर स्थित पुरुष को गृहनिष्ठ चैत्राभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण उसे आश्रय का साक्षात्कार नहीं है।

समर्थन—व्यवधायक के होने पर भी वस्तुतः जहाँ अभाव है, वहाँ उक्त कारण होने से अभाव-प्रमा होती ही है। उसमें विरोध ही क्या है? जहाँ व्यवहित भाव है, वहाँ प्रतियोगिविरहरूप कारण न होने से अभाव की प्रमा नहीं होगी। *खंडन*—तब तो प्रतियोगी के अभाव से विशिष्ट अनुपलम्भ को ही अभाव-प्रमा का कारण मानिये, 'योग्यता' के निवेश का व्यसन छोड़िये।

समर्थन—यदि योग्यता का निवेश न करें, तो अन्धकार में वस्तुतः अभावयुक्त देश में भी अनुपलब्धिमात्र से अभाव का निश्चय नहीं होता; किन्तु कदाचित् सन्देह ही होता है (पिशाच के न रहते हुए भी अन्धकार में 'पिशाच रहता हुआ भी दिखायी नहीं पड़ता या वह है ही नहीं?' ऐसा सन्देह होता ही है), वह उपपन्न कैसे होगा? अर्थात् यदि योग्यता पद न दें, तो ऐसे अनुपलम्भ में अतिव्याप्ति हो जायगी। *खण्डन*—तब तो व्यवधायक होने पर भी अभाव का सन्देह ही होता है, निश्चय नहीं। एवञ्च उक्त योग्यता का निवेश करने पर भी अतिव्याप्ति तुल्य ही है।

अपि च—मेयस्य वास्तवसत्त्वं प्रमाणकोटावनिवेशार्हमेव। मेयवस्तुसत्त्व-निर्धारणार्थमेव हि प्रमाणाप्रमाणविवेचनं विचारकाणाम्। अन्यथाऽनुमाने व्याप्तावुपाधिनिरासाय आयासो व्यर्थः स्यात्, व्याप्तपक्षधर्मताज्ञानमात्रस्यैव कारणत्वाङ्गीकारेण सौष्ठ्यात्।

प्राङ्नास्तिताप्रमितौ च यद्यभावप्रमाणतां मन्यसे, तर्हि सा न स्यात्। तत्रेदानीं जायमानाभावप्रमोत्पत्तौ अभाववास्तवसत्ताविरहस्यापीदानीं क्वचित्स-म्भवात्। फलविषयकालिकाभावोपलक्षिताश्रयादेः कारणकोटिनिवेशने विशेषा-भावात्। तदुपलक्षितत्वस्यैव विशेषणस्य विशेषत्वेऽतिप्रसङ्गात्।

तथापि सामान्यतो विशेषाभावोऽसिद्ध इति चेन्न। तस्य सत्त्वे निर्वचनापातात्।

किञ्च—मेय का वास्तविक सत्त्व प्रमाण-कोटि में निवेशार्ह नहीं है। कारण मेय-रूप वस्तु के सत्त्व के निर्धारणार्थ ही विचारक लोग लक्षण से प्रमाण-अप्रमाण का विवेचन करते हैं। अन्यथा (यदि मेय के स्वरूप का प्रमाण-दल में निवेश कर सकें, तो) अनुमानस्थल में व्याप्ति में उपाधि के निरासार्थ प्रयास व्यर्थ हो जायगा। कारण मेयविशिष्ट व्याप्तिपक्षधर्मता के ज्ञानमात्र को कारण मानने से ही निर्वाह हो सकेगा।

किञ्च—यदि 'प्रतियोगी के अभाव से विशिष्ट प्रतियोगी के प्रमापक साकल्यरूप योग्यता से विशिष्ट अनुपलब्धि' को प्रमाण मानें, तो जहाँ सम्प्रति घट है, किन्तु पहले उसका अभाव था, वहाँ अतीत अभाव की 'प्रागत्र घटो नासीत्' ऐसी प्रमा नहीं होगी, कारण सम्प्रति अभावघटित उक्त प्रमाण नहीं है। यदि 'फल (प्रमा) विषय जो अतीत-काल तात्कालिक अभाव से उपलक्षित अधिकरण से विशिष्ट प्रतियोगी के प्रमापक साकल्य' को योग्यता कहें, तो उक्त स्थल में यद्यपि आपाततः दोष की प्रतीति नहीं होती, तथापि उक्त निवेश में कोई विशेष नहीं है। 'फलविषयकालिक अभावोपलक्षितत्व' को अतिप्रसङ्ग होने से विशेष कह नहीं सकते। यदि अभाव से उपलक्षित आश्रय को अभाव-प्रत्यक्ष में कारण मानें, तो सर्वत्र प्रतियोगी से युक्त अधिकरण में अभाव की प्रमा हो जायगी, कारण यदा-कदाचित् विद्यमान अभाव से उपलक्षित प्रतियोगी से युक्त अधिकरणमात्र है ही।

समर्थन—यद्यपि विशेष का निर्वचन नहीं हो सकता, तथापि प्राङ्नास्तितास्थल में अभाव की मा होती है और अन्यत्र प्रतियोगी से युक्त अधिकरण में अभाव की प्रमा नहीं होती; अतः फल के अनुरोध से विशेष की कल्पना करेंगे कि कोई विशेष है। *खण्डन*—यदि उक्त स्थल में विशेष है, तो अवश्य ही उसका निर्वचन होना चाहिए। अन्यथा सर्वत्र सामान्यतः ही उत्तर होगा, विशेषतः उत्तर का सर्वत्र अभाव हो जायगा।

हेत्वाभासखण्डने असिद्ध-लक्षण-खण्डनम्

कश्चायमसिद्धो नाम ? तथाहि—व्याप्तिपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इत्यलक्षणम्; हेत्वाभासान्तराणामपि ह्यसिद्धप्रवेश एवं सति स्यात्। व्याप्तिं पक्षधर्मतां तत्प्रमितिं वा न विरुन्धतां हेतुदोषत्वासम्भवात्।

ननु नेदमीदृशम्। तथाहि—केचिद् दोषा व्याप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमितिविरहा-

हेत्वाभास के खंडन में असिद्ध-लक्षण का खंडन

'सामान्यतो[1] विशेषाभावोऽसिद्धः' यह जो पीछे कहा है, वहाँ असिद्ध भी क्या वस्तु है ? अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है। *निर्वचन*—व्याप्ति और पक्षधर्मता से जो अप्रमित हो, वह असिद्ध है। *खण्डन*—ऐसा मानने पर विरुद्ध आदि अन्य हेत्वाभासों का भी असिद्ध में ही प्रवेश हो जायगा। कारण व्याप्ति तथा पक्षधर्मता और उनकी प्रमिति के जो विरोधी नहीं, वे हेतु-दोष ही नहीं कहे जा सकते। विरुद्धादि हेतुदोष हैं, अतः वे व्याप्ति तथा पक्षधर्मता और तत्प्रमिति के विरोधी अवश्य हैं। एवञ्च विरोधी होने से वे व्याप्ति-पक्षधर्मता से अप्रमित हैं ही।

समर्थन—ऐसा बात नहीं है। देखिये—कोई दोष व्याप्ति-पक्षधर्मता और तत्प्रमिति के अभावरूप हैं, कोई व्याप्ति आदि के अभाव के अनुमापक हैं, तो कोई

१ यहाँतक प्रमाण-सामान्य का लक्षण और उसके विशेष प्रत्यक्ष, अनुमानादि के लक्षणों का विस्तार के साथ खण्डन किया जा चुका। अब प्रसंगतः प्रमाणाभासों का भी खण्डन कर रहे हैं, जिनमें अनुमानाभास या हेत्वाभासों का यह खण्डन आरम्भ हो रहा है। यहाँ सहज ही यह शंका उठती है कि जब प्रमाणाभासों का ही खण्डन करना है, तो प्रत्यक्षाभासों का खण्डन ग्रन्थकारने क्यों नहीं किया ? किन्तु इसका समाधान यही है कि न्यायसूत्रकार ने भी शब्दतः प्रत्यक्षाभासों का निरूपण नहीं किया है। अतः अलग से उनका खण्डन आवश्यक नहीं है। ग्रन्थकारों ने तत्तत् प्रसंग में उनका उल्लेख अवश्य किया है, तो यहाँ भी प्रसंगतः तत्तत् स्थलों में उनका खण्डन किया ही गया है। इसके विपरीत हेत्वाभास कथाङ्ग होने के कारण सूत्रकार ने उन्हें कण्ठतः कहा है। अतएव उनका यहां प्रधान रूप से खण्डन किया जा रहा है। यदि कहें कि संशय भी उन्होंने कण्ठतः कहा है, तो उसका भी प्रत्यभिज्ञा-खण्डन के समय कुछ खण्डन किया ही गया है, शेष चतुर्थ परिच्छेद में भी होगा। हेत्वाभासों में भी सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्षित, असिद्ध, बाधित—यह क्रम होने पर भी यतः यहाँ पीछे 'सामान्यतः विशेषाभावोऽसिद्धः' कहा गया है, अतः प्रकृततया बुद्धिस्थ होने से पहले असिद्ध का ही खण्डन प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि भेदस्थापना के लिए हेत्वाभासों का उपन्यास करना वादी का स्ववधार्थ उद्यम ही माना जायगा, क्योंकि उनका सहज परिहार हो जाने से वादी निगृहीत हो जायगा। अतः उसके हेत्वाभासों का खण्डन आवश्यक नहीं। फिर भी उन्हीं हेत्वाभासों को लेकर द्वैतापत्ति तो आ ही सकती है। इसलिए उनका यहाँ खण्डन उचित ही है।

त्मानः, केचित्तु व्याप्त्यादिभङ्गे लिङ्गभूताः, प्रतिबन्धकतयाऽनुमित्युत्पत्तिं निरुन्धानाश्च केचिद्दोषभूयं भजन्ते। तत्र प्रथमे तावदसिद्धमध्यमध्यासते। तद्यथा—व्याप्यत्वासिद्धः सोपाधिरूपः, अनौपाधिकसम्बन्धिता हि व्याप्तिः, सहोपाधिता चानुपाधिताविरहरूपैव।

एवमधिकरणासिद्धिरपि असिद्धावेवान्तर्भविष्णुः, पक्षपदोपात्तस्याऽऽश्रयस्य व्यतिरेकरूपा हि सा। सिद्धसाधनमपि तथैव। सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो हि पक्ष उच्यते। यच्च सिद्धं न तत्र सिषाधयिषाऽस्ति। ततो विशेषणाभावायत्तो विशिष्टपक्षरूपस्य तत्राभावः।

न च वाच्यं यथा सव्यभिचारत्वाद्भग्नव्याप्तिकमिति पृथगेव सव्यभिचारस्य दोषत्वम्, तथाऽसिद्धत्वात्तत्र सिषाधयिषा नास्तीति सिद्धत्वस्यापि पृथगेव दोषत्वं प्राप्नोति, लिङ्गद्वारेणासिद्धिपर्यवसायित्वात्। अन्यथा व्याप्त्यादिविरहपर्यवसायितमात्रेण सव्यभिचारत्वादीनामप्यसिद्धावेवान्तर्भावः स्यादिति।

यतः सिषाधयिषाभावो न प्रतिपत्त्रा सिद्धत्वाल्लिङ्गाद्गम्यते। किं नाम ?

प्रतिबन्धक होने से अनुमिति का निरोध करते हैं। उनमें प्रथम दोष असिद्ध के मध्य आता है, कारण व्याप्यत्वासिद्ध सोपाधिरूप है। अनौपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है और अनौपाधित्वविरह ही सोपाधित्व है।

इसी प्रकार अधिकरणासिद्धि भी असिद्ध के मध्य अन्तर्भूत होने योग्य है, कारण वह पक्ष पद से उपात्त आश्रय का व्यतिरेकरूप है। ऐसे ही सिद्धसाधन भी असिद्ध के मध्य अन्तर्भूत है। कारण सिषाधयिषित (सिद्धिविषयक इच्छा का विषय) धर्मविशिष्ट ही पक्ष कहा जाता है। जो सिद्ध है, उसमें सिषाधयिषा नहीं होती। तस्मात् विशेषण (सिषाधयिषा) के अभाव से प्रयुक्त विशिष्टरूप पक्ष का भी वहाँ अभाव है ही।

प्रश्न—'जैसे 'यह हेतु नष्टव्याप्तिक है, सव्यभिचार होने से' ऐसी अनुमिति होने के कारण असिद्ध से पृथक् ही सव्यभिचारत्व दोष होता है, वैसे ही साध्य के सिद्ध होने से सिषाधयिषा नहीं होती, अतः सिद्धत्व भी असिद्धि से पृथक् ही दोष होना चाहिए। सिद्धत्व का हेतुरूपता द्वारा असिद्धि में पर्यवसान है। यदि सिद्धसाधन को पृथक् दोष न मानें, तो व्याप्त्यादि के विरह में पर्यवसित होने से सव्यभिचार आदि का भी असिद्ध में ही अन्तर्भाव हो जायगा।

उत्तर—प्रतिपत्ता (ज्ञाता) को सिद्धत्वरूप हेतु से सिषाधयिषाभाव का ज्ञान नहीं होता, किन्तु इच्छाभावरूप उसका ज्ञान न्यायमत में प्रत्यक्ष से और मीमांसक के

इच्छाभावस्य तस्य यथादर्शनं प्रत्यक्षादेरेवाधिगमः। इच्छैव तु तत्र यन्नास्ति तत्र सिद्धत्वं प्रयोजकमित्येतावन्मात्रेण सिद्धत्वमुपन्यस्यते सिद्धसाधने, न त्विच्छाभावमनुमातुं लिङ्गतयेति। एवं स्वरूपासिद्धिरपि पक्षधर्मताविरहरूपैव।

ये तु व्याप्तिपक्षधर्मताविरहलिङ्गभूतास्तेऽसिद्धतः पृथगेव हेत्वाभासाः। तद्यथा—विरुद्धः साध्यविपरीतव्याप्तः। तत्र साध्यव्यतिरेकव्याप्तता हेतोर्न साध्यव्याप्तताभावः। किन्नाम? साध्यव्यतिरेकेण सहानौपाधिकः सम्बन्धोऽन्य एवासौ। इत्थमेव पक्षधर्मताविरहात्माऽपि नायम्। किन्नाम? ततः साध्यव्यतिरेकेण सह निरुपाधिसम्बन्धत्वात् तत्र साध्यव्याप्तिरस्य नास्तीत्यनुमीयते। तथा सति च साध्यव्याप्तिव्यतिरेकलिङ्गं सद्विरुद्धः पृथगेव हेत्वाभासो भवति।

एवमनैकान्तिकोऽपि न व्याप्तिव्यतिरेकरूपः, किन्तु तल्लिङ्गमेव। तथाहि—हेतोरन्वयस्य व्यतिरेकस्य वा व्यभिचारो न साध्यसाधनव्याप्तिविरहात्मा। किं नाम? व्यभिचारो हेतोः साध्यव्याप्तिविरहं विना न सम्भवतीति लिङ्गभावेन

मत में अनुपलब्धि से ही होता है। वहाँ जो इच्छा नहीं होती, उसमें सिद्धत्व प्रयोजक है, इसीलिए सिद्धत्व का सिद्धसाधन में कथन है, इच्छाभाव के अनुमान में लिङ्गरूप से नहीं। इसी प्रकार 'शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्' यहाँ स्वरूपासिद्धि भी पक्षवृत्तित्वरूप पक्षधर्मता का अभावरूप ही है।

प्रश्न—तब तो व्याप्ति और पक्षधर्मतादि के अभाव के हेतु हेत्वाभास भी असिद्ध में ही अन्तर्भूत हो जायँगे, क्योंकि दोनों के आभासत्व में कोई विशेष ही नहीं है?
उत्तर—जो दोष व्याप्ति और पक्षधर्मता के अभाव के हेतु हैं, वे असिद्ध से पृथक् ही हेत्वाभास हैं। देखिये, साध्याभाव से व्याप्त विरुद्ध है। हेतु में साध्याभावव्याप्तता साध्यव्याप्तत्वाभावरूप नहीं, किन्तु उससे अन्य साध्याभाव के साथ अनौपाधिक सम्बन्धरूप है। इसी प्रकार विरुद्ध भी पक्षधर्मता का विरहरूप नहीं है; किन्तु यतः साध्याभाव के साथ निरुपाधिक सम्बन्ध होने से 'साध्य की व्याप्ति इस हेतु में नहीं है' ऐसी अनुमिति होती है, अतः विरुद्ध भी साध्य की व्याप्ति के अभाव में हेतु होने से पृथक् ही हेत्वाभास है।

इसी प्रकार अनैकान्तिक भी व्याप्ति का अभावरूप नहीं, किन्तु व्याप्त्यभाव का लिंगरूप है। देखिये—हेतु के अन्वय या व्यतिरेक का व्यभिचार साध्य-साधनव्याप्तिविरहरूप नहीं है। किन्तु हेतु में साध्य की व्याप्ति के विरह के बिना व्यभिचार हो ही नहीं सकता, अतः वह हेतुरूप से व्याप्तिभङ्ग का बोधन करता है। यदि हेतु

व्याप्तिभङ्गं बोधयति । यदि हि निरुपाधिः साध्येन सम्बन्धोऽस्य भवेत्, कथं व्यभिचरितुं शक्नुयात् । तस्माद् व्याप्तिविरहलिङ्गं व्यभिचारः, न तु व्याप्ति-विरहः । पक्षधर्मताविरहरूपता त्वनैकान्तिकस्यासम्भावितैव ।

सत्प्रतिपक्षतायां चानवगम्यमानविशेषप्रतिपक्षप्रतिरुद्धतया यत्साध्यनिश्चया-जनकत्वं हेतोः स प्रतिबन्धकसद्भावे कार्याजनकत्वमितरकारणसाधारणो वस्तु स्वभावः । तस्य व्याप्तिपक्षधर्मताविरहरूपताऽसम्भावितैव ।

बाधस्तु साधनवति पक्षे साध्याभावबोधनात्मा भवन्नपि न व्याप्तिविरहाव-गमरूपः । सामान्यतोऽनौपाधिकसम्बन्धरूपा हि व्याप्तिः, साधनवति च पक्षे साध्यविरहो न सोपाधिता साध्याविरोधिस्वभावत्वात्तस्याः ।

नाप्यसौ सामान्यतः साध्यसाधनसम्बन्धस्य विरहरूपः, बाधे सत्यपि सामान्येन साध्यसाधनयोः सम्बन्धस्य दृष्टान्तावगतस्यानपलापात् ।

में साध्य का निरुपाधिक सम्बन्ध होता, तो व्यभिचार कैसे होता ? इसलिए व्यभिचार व्याप्तिविरह का लिङ्ग है, व्याप्तिविरहरूप नहीं । 'शब्दोऽनित्यः सत्त्वात्' इत्यादि व्यभिचारस्थल में पक्षधर्मता ही है, अतः व्यभिचार को पक्षधर्मता का विरहरूप भी नहीं कह सकते ।

सत्प्रतिपक्ष में प्रकृत हेतु साध्यनिश्चय का जनक नहीं हो पाता । कारण प्रतिपक्षी द्वारा उद्भावित प्रतिहेतु की अपेक्षा हेतु में व्याप्ति-पक्षधर्मता का सत्त्व या असत्त्वरूप विशेष ज्ञात न होने से वह प्रतिहेतु द्वारा प्रतिबद्ध हो जाता है । सत्प्रतिपक्ष में प्रति-बन्धक होने पर साध्यनिश्चय की यह अजनकता अन्य कारण-साधारण वस्तुस्वभाव है । वह कोई व्याप्तिविरहरूप या उसका उन्नायक होने से दोष नहीं है । अतः सत्प्रतिपक्ष की व्याप्ति-पक्षधर्मताविरहरूपता सम्भव ही नहीं ।

साधनयुक्त अधिकरण में साध्याभाव का ज्ञानरूप बाध भी व्याप्ति-विरह का ज्ञान-रूप नहीं है । देखिये—सामान्यतः अनौपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है । साधनवान् पक्ष में साध्य का अभाव उपाधिरूप नहीं है, क्योंकि उपाधि साध्य की विरोधि नहीं हैं और साध्याभाव साध्य का विरोधी है ।

इसी प्रकार सामान्यतः साध्य-साधनसम्बन्ध का विरह भी बाध नहीं है, कारण बाध होने पर भी दृष्टान्त में ज्ञात साध्य-साधनसम्बन्ध का अपलाप नहीं हो सकता ।

बाधस्य किञ्चिद्विशेषविषयत्वात् सामान्याकारपरिगृहीतस्य सम्बन्धस्य विशेषान्तरमादाय पर्यवसानाविरोधात् । तस्माद्विशेषबाधेन सामान्यतः सम्बन्धस्य सोपाधिताऽनुमीयते, निरुपाधित्वे बाधानुपपत्तेः । यथाऽऽह—'बाधाद्वोपाधिरुन्नीयतेऽन्यथा वेति न कश्चिद्विशेषः' इति ।

अन्यस्तु सत्प्रतिपक्षवत् बाधस्यापि प्रतिबन्धकत्वमेव, तेन बाधे सति प्रतिबद्धत्वान्निश्चयं न करोति हेतुरिति व्याप्तिपक्षधर्मतादोषमनालोच्य अन्यथैव बाधस्य दोषत्वमित्याह ।

तस्माद् व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितत्वानां यत्र साक्षादेव विरहस्योद्भावनं तत्रासिद्धः, यत्र तु व्याप्त्यादिविरहलिङ्गोपन्यासः सत्प्रतिपक्षोपन्यासो वा तत्रान्यो हेत्वाभासः ।

ननु सोपाधित्वादयोऽपि यतोऽवगम्यन्ते, तत् कुतः पृथक् दूषणं न भवत्यनैकान्तिकत्वादिवत् । मैवम्; अनैकान्तिकत्वादेर्व्याप्त्यादिविरहबोधने लिङ्गभावनियमात् पृथगुपन्यासः । सोपाधित्वादेस्तु प्रत्यक्षादपि प्रतीतेः, न तु लिङ्गभावनियमं तत्र प्रतिपादकं किञ्चिदस्ति ।

बाध पर्वतादि विशेषविषयक है और सामान्याकार से गृहीत व्याप्ति का अन्य विशेष (महानस) का आदान करके भी उसका पर्यवसान हो सकता है । अतः विशेषविषयक बाध से सामान्यतः गृहीत सम्बन्ध में सोपाधित्व का अनुमान होता है, कारण निरुपाधि में बाध नहीं हो सकता । कहा भी है कि बाध से अथवा अनुकूलतर्काभाव से उपाधि का अनुमान होता है ।

वाचस्पति मिश्र तो सत्प्रतिपक्ष के तुल्य बाध को भी अनुमिति का प्रतिबन्धक ही मानते हैं । तस्मात् बाध होने पर प्रतिबन्धक होने से हेतु साध्य का निश्चय नहीं कर पाता । अतः व्याप्ति-पक्षधर्मता के अभाव का पर्यालोचन न कर बाध साक्षात् ही दोष है ।

इस तरह स्पष्ट है कि जहाँ व्याप्ति, पक्षधर्मता या तत्प्रमिति के साक्षात् अभाव का उद्भावन हो, वहाँ तो असिद्ध है और जहाँ व्याप्ति आदि के विरह के लिङ्ग का अथवा सत्प्रतिपक्ष का उपन्यास हो, वहाँ अन्य हेत्वाभास हैं ।

प्रश्न—जैसे व्याप्तिविरह का हेतु व्यभिचार पृथक् हेत्वाभास है, वैसे ही सोपाधित्व का ज्ञान जिनसे होता है, वे भी पृथक् हेत्वाभास क्यों न कहे जायँ ? *उत्तर*—व्याप्ति-विरह के बोधन में अनैकान्तिक (व्यभिचार) नियमतः हेतु होता है । अतः उसका पृथक् उपन्यास है । किन्तु हेतु में उपाधि तो प्रत्यक्ष से भी ज्ञात होती है, लिङ्गभाव से नियतप्रतिपादक वहाँ कुछ नहीं है ।

न च वाच्यं यत्र लिङ्गात्सोपाधितादेः प्रतीतिरतीन्द्रियप्रभृतिविषये, तत्र तल्लिङ्गं पृथगेव दूषणतयाऽभिधीयताम्, न ह्यनैकान्तिकत्वादिकमपि सार्वत्रिकं व्याप्तिविरहलिङ्गमिति हेत्वाभासाधिक्यमापन्नमिति। अनैकान्तिकत्वादिवत्तेषां लिङ्गानामैकरूप्येण निर्देष्टुमशक्यात्, पृथक् पृथगेव वाऽभिधानमशक्यमपरिसङ्ख्येयत्वादिति। वक्ष्यामश्चाग्रे हेतुं तदनभिधानस्य।

नन्वनुचितमुच्यते व्याप्त्यादिविरहलिङ्गतया अनैकान्तिकत्वादीनां पृथग्दूषणत्वमिति, यतो व्याप्तिपक्षधर्मतोपेतलिङ्गप्रमितिसाध्यानुमितिस्तद्वैकल्यान्न भवेत्। यतश्च सा न भवति, तदेव तस्यां दूषणं वक्तुं युक्तम्—'इदमनुमित्युत्पत्तिकारणमिह नास्ती'ति।

न च व्याप्तिपक्षधर्मते तत्प्रमितिश्च विहायान्यत् तदुत्पत्तिकारणमस्ति व्यतिरेकोपदर्शनयोग्यम्। तस्मादनुमितिदोषप्रतीतिकारणत्वमनैकान्तिकत्वादीनाम्,

प्रश्न—अतीन्द्रिय स्थल में जहाँ ('अध्वरे हिंसाऽधर्मसाधनम्, हिंसात्वात्, ब्राह्मणहिंसावत्' यहाँ निन्दितत्व हेतु से ज्ञायमान निषिद्धत्व-उपाधिक स्थल में) लिङ्ग से सोपाधित्व की प्रतीति होती है, वहाँ उस लिङ्ग को असिद्धि से पृथक् दूषण कहना चाहिए। यदि कहें कि यहाँ सोपाधिकत्व-ज्ञान लिङ्ग द्वारा होने पर भी सर्वत्र लिङ्ग से वह ज्ञान नहीं होता, अतः पृथक् हेत्वाभास नहीं होगा, तो यह भी ठीक नहीं। कारण व्यभिचार भी सर्वत्र व्याप्तिविरह का लिङ्ग नहीं है, विरुद्धादि से भी कहीं-कहीं व्याप्तिविरह का ज्ञान होता ही है। एवञ्च व्यभिचार भी पृथक् दोष न होने लगेगा। अतः यह हेत्वाभासाधिक्य हो ही गया। *उत्तर*—अनैकान्तिक के तुल्य उन लिङ्गों का एकरूप से निर्देश नहीं हो सकता और असंख्येय होने से पृथक् पृथक् निर्देश भी असंभव है। अतः सोपाधित्व के लिङ्ग पृथक् हेत्वाभास नहीं हैं। इसके अन्य भी हेतु आगे कहे जायँगे।

प्रश्न—'व्याप्ति आदि के विरह का लिङ्ग होने से अनैकान्तिक आदि पृथक् दूषण हैं' आपका यह कथन अनुचित है, कारण व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्ट लिङ्ग की प्रमिति से साध्य की अनुमिति होती है और उसके वैकल्य में नहीं होती। एवञ्च जिनसे अनुमिति नहीं होती, उन्हींको अनुमिति में दोषरूप से कहना उचित है कि ये अनुमिति के कारण यहाँ नहीं हैं।

व्याप्ति, पक्षधर्मता, तत्प्रमिति से अन्य अनुमिति का कारण नहीं है, जिनका व्यतिरेक अनुमिति के व्यतिरेक में ही देखा जा सकता है। तस्मात्

न तु साक्षाद्दोषत्वम् । दोषप्रतिपादकतयाऽपि च दोषत्वं साक्षाद्दोषत्वमनुपजीव्या-शक्याभिधानमिति प्रधानदोषस्यैव दोषतयोद्भावनं युक्तम्, न सव्यभिचारत्वा-दीनामिति विभागसूत्रमनर्थकमिति ।

सत्यमेतत् । साक्षाद्दोषत्वं प्रतिबन्धकस्य व्याप्त्यादिविरहस्य वा । विरुद्धत्वा-दीनां तु तत्प्रमापकतया यद्यपि दोषपक्षनिक्षेपः; तथापि विरुद्धत्वादयो यद्दोषप्रति-पादकतयोक्तास्तदुद्भावनलाघवानुरोधात् ।

व्याप्त्यादिविरहे तत्रोद्भाव्यमाने न हेतुर्मन्तुं शक्यते ।

अनैकान्तिकत्वादौ तु उद्भाविते व्याप्त्यादिविरहोऽर्थाद् गम्यते, व्याप्त्यादि-विरहव्यतिरेकेण अनैकान्तिकत्वादेरनुपपन्नत्वात् । यथा 'तस्माद्दीर्घोऽयम्'

अनैकान्तिक आदि अनुमिति-दोषों का प्रतीति में कारण हैं, साक्षात् दोष नहीं हैं । जो दोष-प्रतिपादक होने से दोष हैं, उनका अभिधान साक्षात् दोष के उपजीवन के बिना अशक्य है । अतः प्रधान दोष का ही दोषरूप से अभिधान युक्त है, सव्यभिचार आदि का दोषरूप से कथन युक्त नहीं । एवञ्च सव्यभिचार आदि हेत्वाभास-भेदप्रतिपादक गौतमीय विभाग-सूत्र अनर्थक है ।

उत्तर—आपकी यह शङ्का युक्त ही है, साक्षाद्दोष तो अनुमिति-प्रतिबन्धक सत्प्रति-पक्ष या व्याप्ति आदि के विरह ही हैं। विरुद्ध आदि की भी व्याप्त्यादि-विरह के प्रमापक होने से ही दोषों में गणना है । फिर भी विरुद्ध आदि को जो पृथक् दोषरूप में कहा गया है, वह उद्भावन में लाघव होने से ही है । वे अपनी प्रतीति में अन्य की अपेक्षा नहीं करते, यही उद्भावना-लाघव है ।

यदि कहें कि फिर तो व्याप्त्यादि-विरह को ही दोष मानिये, क्योंकि प्रधान वे ही हैं और उनमें एतादृश लाघव भी है, तो वह भी ठीक नहीं । कारण 'अनयोर्न व्याप्तिः' इस प्रकार व्याप्त्यादिविरह का उद्भावन करेंगे, तो 'कुतः' यह हेत्वाकांक्षा बनी रहेगी और उसके रहते इसका ज्ञान नहीं हो सकता । याने व्याप्त्यादिविरह अनैकान्तादि हेतुदोष-विशेष से व्याप्त होने के कारण उन्हें भी उसके साथ कहना होगा और इस तरह गौरव हो जायगा ।

इस पर यह नहीं कह सकते कि 'तुल्ययुक्त्या अनैकान्तादि का उद्भावन करने पर भी व्याप्त्यादि-विरह का ज्ञान न हो सकने से तत्कल्पनाकृत गौरव होगा ही । कारण अनैकान्तिक स्थल में यदि अनैकान्तिक का उद्भावन करें, तो व्याप्त्यादि का विरह

इत्युक्ते 'अस्मात् ह्रस्वः सः' इत्यर्थाद्गम्यते, न तु तत्र प्रतिपाद्यान्तरापेक्षा, तथेहापि 'निरग्नौ धूमोऽस्ती'ति प्रतिपादिते 'अग्निनाऽसौ न व्याप्तः' इत्यर्थाद् गम्यते। न हि सम्भवति 'अग्निना च व्याप्तोऽनग्नौ चास्ती'ति।

अत एवाऽऽनन्त्यात् अतीन्द्रियोपाध्यादिलिङ्गानां येषां पूर्वमनभिधानं समर्थितम्, तेषामनभिधानेऽयमपि हेतुः—तानि ह्युपाधिलिङ्गानि नार्थवशादुपाधिमनपेक्षाणि गमयन्ति, येन तेषां व्याप्तिर्नावधारिता तं प्रति तत्प्रतिपादनमन्तरेण अप्रतिपादकत्वस्यापि सम्भवात्। अनैकान्तिकत्वाद्यवगतौ च व्याप्त्यादिविरहबोधाय न प्रतिपादनीयान्तरापेक्षा कस्यचित्सचेतसः सम्भवतीति पूर्वपक्षसङ्क्षेपः।

एवमसिद्धलक्षणे व्यवस्थिते बाधोऽयमभिधीयते। एतेन कीदृशमसिद्धलक्षणं व्यवस्थापितमायुष्मता[1] भवति? व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इति तावत्

अर्थाद्गम्य होता है, कारण व्याप्ति-विरह के बिना अनैकान्तिकत्व अनुपपन्न है। जैसे 'उससे यह दीघ है' यह कहने पर 'इससे वह ह्रस्व है' यह अर्थाद्गम्य होता है, अन्य प्रतिपाद्य की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही 'अग्नि के अनधिकरण में धूम है' ऐसा कहने पर 'धूम अग्नि से व्याप्त नहीं है' यह अर्थाद्गम्य होता है। कारण यह सम्भव नहीं कि धूम अग्नि से व्याप्त हो और अग्नि के अनधिकरण में रहता हो।

'अतीन्द्रिय उपाधियों के लिङ्गों के अनन्त होने से उनका हेतुदोष के रूप में अभिधान नहीं है' यह जो पीछे कह आये, वहाँ उनके अनभिधान में यह भी हेतु जानना चाहिए कि उपाधियों के वे लिङ्ग अन्य प्रतिपाद्य की अपेक्षा न करके उपाधि के अर्थवशात् बोधक नहीं है। कारण जिस पुरुष ने उपाधि की उपाधि-लिंग में व्याप्ति न जानी हो, सम्भव है वह व्याप्ति के प्रतिपादन के बिना उपाधि की अनुमिति न कर सके। किन्तु किसी सचेता को अनैकान्तिकत्व आदि का ज्ञान होने पर व्याप्त्यादि-विरह-बोधन के लिए अन्य प्रतिपाद्य (व्याप्तिविरह की अनैकान्तिकत्व में व्याप्ति) की अपेक्षा नहीं होती, यह पूर्वपक्ष का संक्षेप है।

खण्डन—इस तरह असिद्ध का लक्षण व्यवस्थित होने पर यह दोष होता है कि आयुष्मान् (आप) ने इस पूर्वपक्ष में उक्त कथन से असिद्ध का कौन-सा लक्षण स्थिर किया? 'व्याप्ति-पक्षधर्मता से अप्रमित असिद्ध है' यह लक्षण विरुद्धादि-साधारण है या नहीं?

१. 'आयुष्मता' यहाँ निन्दा अर्थ में मतुप् प्रत्यय है।

विरुद्धादिषु लक्षणं किं नास्ति, किं वाऽस्ति ? यदि नास्ति, तदा व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यां प्रमिता विरुद्धादयः प्राप्नुवन्ति । अथास्ति तदा तेऽप्यसिद्धभेदाः प्राप्ताः । अथैतस्मिंल्लक्षणे सत्यपि ते नासिद्धान्तर्भूताः, तर्हि लक्षणमिदमतिव्यापकमापन्नम् ।

अथ यत्र व्याप्तिपक्षधर्मत्वाप्रमितत्वं साक्षादुद्भाव्यते तदसिद्धमित्युच्यते, तर्हि लक्षणान्तरमिदमुक्तं स्यात् । न चैतदपि युक्तम्; यत्र व्याप्यत्वासिद्धेर्व्याप्तिविरहमात्रं प्रतिपाद्यते, तत्र व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितत्वानां हानं मिलितं नोद्भाव्यत इति नासावसिद्धः स्यात् । एवं सर्वासिद्धविशेषमुदाहृत्य प्रसङ्गो विधातव्यः ।

अथ प्रत्येकमिदं लक्षणम्—व्याप्त्यप्रमिततया साक्षादुद्भाव्योऽसिद्धः, पक्षधर्मत्वाप्रमिततया चेति ; तर्हि अन्योन्योदाहरणाव्याप्तेरव्यापकत्वमुभयोः । अथोभयोरप्यसिद्धविशेषलक्षणत्वात् अन्योन्यविषयाव्यापकता न दोषायेति मन्यसे । न; सामान्यलक्षणे निर्वक्तुमशक्ये कथमिदं विशेषलक्षणमपि घटते ।

यदि नहीं, तो विरुद्धादि तो व्याप्तिपक्षधर्मता से प्रमित उपलब्ध होते हैं, उनकी क्या गति होगी ? यदि यह विरुद्धादि-साधारण है, तो विरुद्धादि भी असिद्ध के ही भेद सिद्ध हुए । यदि इस लक्षण का समन्वय होने पर भी विरुद्धादि को असिद्ध में अन्तर्भूत न मानें, तो प्रस्तुतः लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित हो जायगा ।

समर्थन—'जिसमें व्याप्ति-पक्षधर्मता से प्रमितत्व का अभाव साक्षात् उद्भावित हो, वह असिद्ध है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—फिर तो यह लक्षणान्तर हुआ, अतः प्रतिज्ञाहानिरूप आपका निग्रह हुआ । किञ्च—व्याप्यत्वासिद्ध में केवल व्याप्ति का ही विरह उद्भावित होता है । एवञ्च वहाँ व्याप्ति-पक्षधर्मताप्रमितत्व का अभाव उद्भावित न होने से वह असिद्ध नहीं कहलायेगा । इसी तरह आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध में केवल पक्षधर्मता का विरह ही उद्भावित होने से उनमें भी उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—प्रत्येक यह लक्षण है अर्थात् 'व्याप्ति की प्रमिति के अभाव का जहाँ साक्षात् उद्भावन हो, वह असिद्ध है' तथा 'पक्षधर्मता की प्रमिति के अभाव का जहाँ साक्षात् उद्भावन हो, वह असिद्ध है' इस प्रकार दो लक्षण करेंगे । *खंडन*—ऐसा करने पर प्रथम लक्षण की आश्रयासिद्ध में और द्वितीय लक्षण की व्याप्यत्वासिद्ध में अव्याप्ति हो जायगी । यदि कहें कि ये लक्षण असिद्धविशेष के हैं, अतः अव्याप्ति नहीं है, तो सामान्य-लक्षण के निर्वचनीय न होने पर विशेष-लक्षण का भी निर्वचन हो नहीं सकता; कारण सामान्य-ज्ञान के बिना विशेष की जिज्ञासा ही नहीं होती ।

अथ अनुमितेरसाधारणहेतुव्यतिरेकोद्भावनं सामान्यलक्षणमस्तु। मैवम्; सत्प्रतिपक्षोद्भावनं तथेत्यतिव्याप्तेः। भावरूपतया हेतुविशेषणे च निरुपाधित्वव्यतिरेकोद्भावनाव्याप्तेः। स्वरूपासिद्धिः सर्वप्रमाणसाधारणो दोष इत्यत्र तदुद्भावनाव्याप्तेश्च।

अथोच्यते—व्याप्तत्वपक्षधर्मताभ्यां प्रमितत्वस्य व्यतिरेको यत्र साक्षादुपन्यस्यते, सोऽसिद्ध इति। इदमप्यलक्षणम्; अव्यापकत्वात्। यत्र व्याप्त्यादिव्यतिरेक उपन्यस्यते, तत्र वस्तुगत्या व्याप्तत्वप्रमितेर्व्यतिरेकोऽस्तु नाम, न तु उपन्यस्यतेऽपि, प्रयोजनाभावात्। व्याप्तिव्यतिरेकदर्शनादेव अनुमानाङ्गवैकल्यात्मनो दोषस्योद्भावनपर्यवसानात्। तस्मात्तत्र प्रमितत्वव्यतिरेकोद्भावनं नास्तीत्यव्यापकत्वं दोषः।

ननु विशेषणाद्यभावोऽपि वस्तुतो विशिष्टाभाव एवेति नोक्तदोषः। न; यदि विशेषणाद्यधिको विशिष्टः, तदा तदभावभेदोऽपि स्यात्। अथ नाधिकः, तदा

समर्थन—'अनुमिति के असाधारण कारण के अभाव का उद्भावन असिद्ध है,' ऐसा सामान्य-लक्षण करेंगे। *खंडन*—अनुमिति का असाधारण कारण असत्प्रतिपक्षत्व भी है और उसका अभाव सत्प्रतिपक्षत्व है। अतः सत्प्रतिपक्ष का उद्भावन भी असिद्ध हो जायगा। यदि कहें कि 'अनुमिति के भावरूप असाधारण कारण अभाव का उद्भावन असिद्ध है', तो व्याप्यत्वासिद्ध में अव्याप्ति हो जायगी। कारण अनुमिति का असाधारण कारण अनौपाधिकत्व भावरूप नहीं है, जिसके अभाव औपाधिकत्व का उद्भावन करने से वह असिद्ध हो पाता। किञ्च स्वरूपासिद्धि सर्वप्रमाणसाधारण दोष है, अनुमिति का असाधारण नहीं। अतः उसके उद्भावन में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'जहाँ व्याप्तत्व और पक्षधर्मत्व से विशिष्ट प्रमितत्व का अभाव साक्षात् उद्भावित हो, वह असिद्ध है' ऐसा लक्षण करेंगे, तो अव्याप्ति न होगी। *खंडन*—अव्यापक होने से यह भी लक्षण संभव नहीं। कारण जहाँ व्याप्ति के अभाव का उद्भावन होता है; वहाँ भले ही वस्तुतः व्याप्ति-प्रमिति का अभाव रहे, किन्तु कोई प्रयोजन न होने से उसका उपन्यास नहीं होता, क्योंकि व्याप्तिव्यतिरेक के दर्शन से ही अनुमानसाधनत्व का अभाव उद्भावित हो जाता है। तस्मात् वहाँ प्रमितत्वव्यतिरेक का उद्भावन न होने से अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—विशेषण (व्याप्ति) का अभाव भी वस्तुतः विशिष्टाभाव (व्याप्तिप्रमितत्वाभाव) रूप ही है, अतः उक्त दोष नहीं होगा। *खण्डन*—यदि विशिष्ट विशेषण-विशेष्य से भिन्न है, तो विशिष्टाभाव भी विशेषणाभाव से भिन्न ही है। यदि

विशेषणाभावत्वान्नान्या सा विशिष्टाभावतेति विशेष्याभावेऽपि तथात्वे पृथगेव विशिष्टाभावत्वार्थस्तयोरित्यननुगम एव । स्वार्थानुमित्यसिद्ध्यव्याप्तिश्चानुद्भावनादिति ।

अथ ब्रूषे—यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः साक्षाच्छक्योपन्यासस्तदसिद्धम्, शक्योपन्यासत्वस्यानुपन्यस्तेऽपि सम्भवान्नास्त्यव्यापकतेति ।

नैतदपि युक्तम्; तथाहि—शक्योपन्यासत्वं किं शक्यस्वरूपनिर्देशत्वमात्रम्, उत शक्यप्रमापणत्वम् ? आद्ये अनैकान्तिकादावपि व्याप्तिशून्यत्वं शक्यप्रतिज्ञं भवत्येव । द्वितीयेऽपि यदि साक्षादिति प्रत्यक्षेणेत्यर्थः, तदा प्रत्यक्षेण प्रमापणीयत्वं व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहस्य प्रत्यक्षप्रतियोगिकाभावप्रत्यक्षतावादिमते विरुद्धादावप्यस्तीत्यतिव्याप्तिः । अन्यमते न क्वचिदपीति सर्वाव्याप्तिः ।

अथ व्याप्तिपक्षधर्मताविरहस्यापि प्रत्यक्षप्रमापणीयता विवक्षिता, सा न

वह भिन्न नहीं है, तो जैसे विशेषणाभाव विशिष्टाभाव है, वैसे ही विशेष्याभाव भी विशिष्टाभाव है, अतः अननुगम हो जायगा । किञ्च— स्वार्थानुमिति में व्याप्त्यादि-व्यतिरेक का उद्भावन न होने से अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'जिस स्थल में व्याप्ति-पक्षधर्मताप्रमितत्व का व्यतिरेक साक्षात् शक्योपन्यास हो, वह असिद्ध है । जहाँ उपन्यास नहीं होता, वहाँ भी वह संभाव्य तो है ही, अतः अव्याप्ति नहीं होगी ।

खंडन—'शक्योपन्यास' शब्द का क्या अर्थ है ? जिसके स्वरूप का निर्देश शक्य (संभव) हो यह अर्थ है, अथवा जिसका प्रमापण शक्य हो, यह अर्थ है ? प्रथम पक्ष में अनैकान्तिक आदि में भी व्याप्ति-व्यतिरेक का उपन्यास शक्य है, अतः अव्याप्ति तदवस्थ ही है । द्वितीय पक्ष में साक्षात् शब्द का 'प्रत्यक्षतः' ऐसा अर्थ करें, तो प्रत्यक्ष-धर्मिक अभाव को प्रत्यक्षरूप माननेवालों के मत में व्याप्ति-पक्षधर्मता-प्रमिति के विरह का प्रत्यक्ष से प्रमापणीयत्व विरुद्धादि में भी है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी । जो प्रत्यक्षधर्मिक अभाव को प्रत्यक्ष नहीं मानते, अपितु षष्ठ प्रमाण मानते हैं, उनके मत में सर्वत्र असम्भव हो जायगा । अर्थात् असिद्ध में भी व्याप्त्यादि-प्रमिति के व्यतिरेक की प्रत्यक्षता नहीं है, कारण वह अनुपलब्धिगम्य है ।

समर्थन—'जहाँ व्याप्ति तथा पक्षधर्मता का अभाव प्रत्यक्षज्ञान का विषय हो, वह असिद्ध है' ऐसा कहेंगे । *खंडन*— यह भी युक्त नहीं, कारण प्रमितिघटित उक्त लक्षण-वाक्य ('व्याप्तत्व-पक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः') में यह अर्थ बोधन करने की सामर्थ्य ही

युक्ता; उक्तलक्षणवाक्यस्य व्याप्तिपक्षधर्मताविरहानभिधायित्वात् । तद्विरहेऽपि तात्पर्याभ्युपगमे प्रत्येकसमुदितलक्षणताविकल्पेन अव्यापकत्वापातात् । अतीन्द्रिय-पक्षादिविरहे च विषये तदभावादव्यापकत्वापत्तेः ।

एतेन यदि लिङ्गानपेक्षत्वं साक्षादर्थः, सोऽपि निरस्तः ।

अथोच्यते—यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षतया तत्प्रमापकस्य लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भावनः, तदसिद्धमिति ।

नैतदप्युपपन्नम् ; अतिव्यापकत्वात् । तथाहि—विरुद्धादौ शक्यते तावद्वि-

नहीं है । मान भी लें कि उक्त वाक्य का यह भी अर्थ है, तो यदि उभयविरह का उद्भावन मिलितरूप में असिद्ध हो, तो जहाँ केवल व्याप्तिविरह का उद्भावन है, वहाँ अव्याप्ति हो जायगी । यदि एक-एक के अभाव का उद्भावन असिद्ध है, तो व्याप्तिविरह के उद्भावन को असिद्ध मानने पर पक्षधर्मताविरह के उद्भावनस्थल (आश्रयासिद्ध) में और पक्षधर्मता-व्यतिरेक के उद्भावन को असिद्ध मानने पर व्याप्यत्वासिद्ध में अव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—जहाँ पक्षादि-विरह अतीन्द्रिय है, वहाँ पक्षधर्मता और व्याप्ति का व्यतिरेक प्रत्यक्षप्रमा का विषय नहीं है; अतः वहाँ भी अव्याप्ति हो जायगी । अर्थात् मीमांसक द्वारा प्रयुक्त 'परमाणवः अनित्याः सर्वगतत्वात्' यहाँ अतीन्द्रिय पक्षधर्मत्व का विरह है और 'वन्ध्यासुतः चतुर्वेदाभिज्ञः ब्राह्मणीप्रसूतत्वात्' यहाँ अतीन्द्रिय व्याप्तिविरह है । वे प्रत्यक्ष-प्रमा के विषय हो ही नहीं सकते, अतः वहाँ अव्याप्ति है ।

अतएव "साक्षात्' शब्द का लिङ्गानपेक्षत्व अर्थ है, अर्थात् जहाँ व्याप्ति-पक्षधर्मता का विरह लिङ्ग की अपेक्षा न रखकर प्रमा का विषय हो, वह असिद्ध है" ऐसा जो कहते थे, वह भी खण्डित हो जाता है । कारण अतीन्द्रिय पक्षस्थल में आश्रयासिद्धि का लिंग से ही बोध होता है, अतः अतीन्द्रिय आश्रयासिद्ध में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'जहाँ अन्य प्रतिपाद्य की अपेक्षा न रखते हुए तथा प्रमितिजनक हेतु के उपन्यास के बिना ही व्याप्ति-पक्षधर्मता या तत्प्रमिति के व्यतिरेक का कथन हो सके, वह असिद्ध है' ऐसा कहेंगे । इस लक्षण में विरुद्ध में लिङ्ग का उपन्यास होने से अति-व्याप्ति नहीं है । इसी तरह अतीन्द्रिय पक्षस्थल में लिंग का उपन्यास तो है, किन्तु लिंग में व्याप्ति-प्रतिपादन की अपेक्षा न होने से वहाँ अव्याप्ति भी नहीं है ।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं है, कारण 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, शब्दोऽनित्यः

पक्षवृत्तिदण्डभूततर्काभावात् सोपाधिताऽवगन्तुम् । यदाह—'यत्रानुकूलस्तर्को नास्ति सोऽप्रयोजकः' इति । तस्मात्तेषामप्येवं लक्षणयोगित्वादसिद्धत्वप्रसङ्गः ।

न च तादृशतर्काविषयत्वमपि प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षव्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहप्रमापकलिङ्गभूतमेवेति वाच्यम्; तथा सति विरुद्धत्वादिवत्तस्य हेत्वाभासान्तरत्वप्रसङ्गात् ।

अथोच्यते—तथोपन्यस्यमानं तदसिद्धं भवतु । साध्यविपरीतव्याप्तत्वादिना तु दूष्यमाणं विरुद्धाद्येव तत् । उपन्यासप्रकारभेदाच्च भेदव्यवस्था हेत्वाभासानाम् । न ह्यत्र गोत्वाश्वत्वादिवदत्यन्तासङ्कर इष्यते । किं नाम ? प्रमाणप्रमेयभाववत् प्रकारासङ्करमात्रमिति ।

तदप्ययुक्ताभिधानम्; वक्तव्यं हि केन प्रकारेणासिद्धत्वं भवति ? न

प्रमेयत्वात्' इत्यादि विरुद्ध-अनैकान्तिक स्थलों में विपक्षबाधक तर्काभाव से भी व्याप्ति के व्यतिरेक का अवगम होता है । यह बात उदयनाचार्यजी ने भी कही है कि जहाँ अनुकूल तर्क न हो, वह हेतु अप्रयोजक (व्याप्तिरहित) है । तस्मात् विरुद्धादि में उक्त लक्षण चला जाने से अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—विपक्ष-बाधक तर्क का अभाव भी इतर प्रतिपादनीय की अपेक्षा न होने से लिंगरूप से ही विरुद्धादि में व्याप्तिविरह का अनुमापक है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है । *खंडन*—ऐसा मानने पर विरुद्धादि की तरह विपक्षबाधक तर्काभाव भी हेत्वाभास हो जायगा ।

समर्थन—कृतकत्व आदि हेतुओं में जिस समय विपक्षबाधक तर्क के अभाव से व्याप्त्यभाव का ज्ञान होता है, उस समय वह असिद्ध है और जब साध्याभावव्याप्तत्वादिरूप हेतु से व्याप्त्यभाव का ज्ञान होता है, तब वह विरुद्धादि है । इस तरह उपन्यास के प्रकार-भेद से ही हेत्वाभासों में भेद है । यह भेद गोत्व, अश्वत्व के तुल्य नहीं, किन्तु प्रमाण, प्रमेय के तुल्य है । अर्थात् जैसे एक ही वस्तु चक्षुरादि-प्रमिति की करण होने से प्रमाण और प्रमिति की विषय होने से प्रमेय है, वैसे ही प्रकार का यह असङ्करमात्र है ।

खंडन—यह कथन भी अयुक्त है, कारण प्रकार का असङ्कर होने पर भी यह अवश्य कहना होगा कि किस प्रकार से असिद्धत्व है ? उक्त लक्षणरूप प्रकार से असिद्धत्व नहीं कह सकते, कारण व्याप्ति-पक्षधर्मताप्रमिति के अभाव का शक्योद्भावनत्व-

तावदुक्तलक्षणेन, तथाशक्योद्भावनत्वस्य विरुद्धोचितप्रकारेणोपन्यस्यमानस्य सम्भवात् । सर्वथा निष्प्रकारकस्य असिद्धधर्मिणस्तदुद्भावनाशक्यत्वात् ।

न च तथाशक्योद्भावनत्वमप्युद्भाव्यते असिद्धेः, येन प्रकारभेद-व्यवस्थितिरनेन भवेत् ।

न च शक्योद्भावनपदस्थाने उद्भाव्यमानत्वमिति कृते निस्तारः; सोपाधित्वाद्युद्भावने प्रमित्यभावोद्भावनं व्यर्थत्वान्न क्रियत इति तदव्यापकत्वं प्रसज्येतेति प्रागेवोक्तत्वादिति ।

एतेन 'असिद्धः साध्यसमः' इति प्रत्युक्तम्; यथाकथञ्चित्साध्यसाम्यस्य सर्वसाधारणत्वात् । साम्यविशेषस्य चोक्तप्रकारपर्यवसानव्यतिरेकेण अन्यस्यासम्भवात् ।

रूप उक्त प्रकार विरुद्ध के उचित प्रकार (लक्षण) द्वारा कथित कृतकत्वादि में भी विद्यमान है । अर्थात् यदि असिद्ध का उक्त लक्षण करें, तो विरुद्धस्थल में असिद्धरूप हेत्वाभास से ही अनुमिति का प्रतिबन्ध होने से विरुद्ध की पृथक् हेत्वाभास में गणना व्यर्थ हो जायगी ।

समर्थन—'जहाँ साध्य के अभाव से व्याप्तत्वरूप विरुद्धत्व का उद्भावन न हो और व्याप्तिपक्षधर्मता-प्रमिति के व्यतिरेक शक्योद्भावनत्व का उद्भावन हो, वह असिद्ध है ।' *खण्डन*—ऐसा कोई स्थल नहीं है, जहाँ विरुद्धादि प्रकार न हों, केवल असिद्ध ही हो । किञ्च—स्वार्थानुमिति में असिद्धस्थल में भी शक्योद्भावनत्व का उद्भावन नहीं होता । फिर उक्त स्थल में उक्त प्रकार से भी व्यवस्था कैसे होगी ?

समर्थन—'शक्योद्भावन' पद के स्थान में 'उद्भावन' मात्र देंगे अर्थात् 'व्याप्ति-पक्ष-धर्मताप्रमिति के व्यतिरेक का जहाँ उद्भावन हो, वह असिद्ध है, ऐसा कहेंगे । विरुद्धादि में यद्यपि उक्त व्यतिरेक है, तथापि उसका उद्भावन नहीं होता, अतः अति-व्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—व्याप्यत्वासिद्ध स्थल में केवल व्याप्ति के व्यतिरेक का ही उद्भावन होता है, प्रयोजन न होने से व्याप्तिप्रमिति के व्यतिरेक का उद्भावन नहीं होता । एवञ्च वहाँ अव्याप्ति ही जायगी, इत्यादि पीछे कह ही आये हैं ।

समर्थन—'साध्य से सम असिद्ध है ।' *खण्डन*—यदि अस्तित्व, ज्ञेयत्व आदि धर्म से साम्य की विवक्षा करें, तो विरुद्धादि हेतु भी साध्यसम होने से असिद्ध हो जायँगे । यदि साम्यविशेष की विवक्षा करें, अर्थात् जैसे 'साध्य, साध्य से व्याप्तत्वरूप से प्रमित नहीं है, एक होने से' तथा 'साध्य, पक्षधर्मता से प्रमित नहीं है, संदिग्ध होने से' इस तरह व्याप्ति-पक्षधर्मता से जो प्रमित न हो, वह साध्यसम है' ऐसी विवक्षा करें, तो उक्त प्रकार में ही पर्यवसान होगा और उन प्रकारों का खण्डन कर ही चुके हैं ।

लक्षणान्तरेषु चोक्तदूषणप्रकारा यथासम्भवमिह योजनीया इत्यलं विस्तरेणेति ।

विरुद्ध-लक्षण-खण्डनम्

अपि च—असिद्धलक्षणविशेषणेषु प्रमाणव्यवच्छेदकव्यतिरिक्तेन यद्व्यवच्छेद्यं तत् किं केनचिद्विरुद्धं केनचिदन्यदिति चेत्, विरुद्धमेव किमुच्यते ?

तथाहि—साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्ध इत्याहुः । तन्न ; साध्यव्यतिरेकेण हि व्याप्तिः कार्त्स्न्येन वा, अनौपाधिको वा स्वाभाविको व, सम्बन्ध इत्याद्युक्तिभिः सविशेषणः सहभाव एव निरुच्यते । तथा सति च साध्यव्यतिरेकेण सामानाधिकरण्यमेव विशेषणविशेषयुक्तं विरुद्धत्वमित्युक्तं स्यात् । यदा चैवं तदा साध्यव्यतिरेकसामानाधिकरण्यमेव हेतोरगमकत्वे समर्थमिति तन्मात्रमुद्ग्राह्यम्, वृथा विशेषणप्रक्षेपः । तथा चानैकान्तिक एवायं स्यात् ।

असिद्ध के अन्य लक्षणों में भी उक्त दूषणों की या उक्त दूषणों के सदृश अन्य दूषणों की यथासंभव योजना करनी चाहिए, ग्रन्थ का विस्तार व्यर्थ है ।

विरुद्ध-लक्षण का खण्डन

किञ्च—'व्याप्ति-पक्षधर्मता-तत्प्रमिति के व्यतिरेक का जहाँ लिङ्ग के उपन्यास के बिना कथन हो सके, वह असिद्ध है' इस लक्षण में प्रमित्यन्त पद प्रमाण (सद्धेतु) का व्यवच्छेदक है, किन्तु 'लिङ्ग के उपन्यास के बिना' तथा 'शक्योपन्यास' इन विशेषणों के व्यवच्छेद्य कौन हैं ? यदि कहें कि किसी का व्यवच्छेद्य विरुद्ध है और किसी का स्वार्थानुमितिस्थलीय असिद्ध का संग्रह फल है, तो विरुद्ध ही क्या वस्तु है ? अर्थात् लक्षण न होने से वह अनिर्वचनीय ही है । अतः व्यवच्छेद्य के न होने से उक्त विशेषण व्यर्थ ही हैं ।

समर्थन—'साध्याभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध है ।' *खण्डन*—ऐसा नहीं कह सकते, कारण यहाँ साध्याभाव के साथ व्याप्ति पदार्थ विशेषणयुक्त सहभाव ही कहना होगा, क्योंकि सार्वत्रिक, अनौपाधिक या स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति है । एवञ्च साध्याभाव के साथ विशेषण (सार्वत्रिकत्वादि) से युक्त सहभाव (सामानाधिकरण्य) ही विरुद्ध हुआ । यदि ऐसा ही है, तो साध्याभाव के साथ सामानाधिकरण्य ही हेतु के व्याप्तिशून्यत्व में समर्थ प्रयोजक है, अतः उतना ही लक्षण कहना चाहिए, विशेषण का प्रक्षेप व्यर्थ है । तथाच यदि विशेषण न दें, तो विरुद्ध भी अनैकान्तिक ही हो जायगा ।

ननु साध्यव्यतिरेकसम्बन्धो यद्यपि विरुद्धानैकान्तिकयोर्द्वयोरप्यस्ति, तथापि वस्तुगत्या स्वाभाविकोऽसौ विरुद्ध एवेत्येतावन्मात्रविशेषविवक्षया विरुद्धःयानैकान्तिकाद्भेदोपन्यासः ।

मैवम् ; दत्तोत्तरत्वात् । वस्तुगत्या सन्नप्ययं विशेषो नोद्भावनार्ह इत्युपेक्षणीय इत्युक्तम् । तथाहि—नेदमस्य साधकम्, एतत्साध्यं प्रति विरुद्धत्वादित्यभिधीयमाने विरुद्धशब्दार्थनिरुक्तौ विशेषणाधिक्यस्योक्तन्यायेन दुष्परिहरत्वात् ।

अत एव 'अनैकान्तिके सन्देहेन प्रत्यवस्थानम्, विरुद्धे तु व्यतिरेकनिश्चयेनेति विशेषादनयोर्भेदेनोपन्यासः' इत्यप्यनवकाशम् ; अनुमितिहेतुव्यतिरेको हि हेतुदोषः, अनुमितिहेतुश्चैको व्याप्तिः; ततस्तदभावस्य दोषत्वात्तावन्मात्रं ज्ञाप्यम् । तच्च हेतुविपक्षसम्बन्धोद्भावनमात्रादेव गम्यते । तस्मादनुमितिहेतुव्याप्तिप्रमितिव्यतिरेकबोधनाय संशये व्यतिरेकनिश्चये चोद्भाव्यमानेऽपि 'कुतस्तावेवे'त्यत्र

समर्थन—यद्यपि साध्याभाव के साथ विरुद्ध और अनैकान्तिक दोनों का सम्बन्ध है, तथापि स्वाभाविक सम्बन्ध विरुद्ध में ही है । केवल इसी दृष्टि से विरुद्ध से अनैकान्तिक का भेद कहा गया है ।

खण्डन—वस्तुतः सार्वत्रिकत्व-निवेशकृत ही यह भेद है । किन्तु यह भेद कथन के योग्य नहीं, अतः उपेक्षणीय है, यह हम कह ही चुके हैं । देखिये—'यह हेतु साध्य का साधक नहीं है, साध्य-विरुद्ध होने से' यह कहने पर तद्घटक विरुद्धशब्दार्थ की निरुक्ति में उक्त रीति से विशेषण के वैयर्थ्यका परिहार किया ही नहीं जा सकता । तथाच यह हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हो जायगा ।

समर्थन—अनैकान्तिक में हेतु में साध्याभाव की व्याप्ति का सन्देहमात्र रहता है और विरुद्ध स्थल में हेतु में साध्याभाव के साथ व्याप्ति का निश्चय रहता है, यही दोनों में परस्पर भेद है । *खण्डन*—यह भी युक्त नहीं, कारण अनुमितिहेतुओं का अभाव ही हेतु-दोष है । अनुमिति का एक हेतु व्याप्ति है और दूसरा पक्षधर्मता । एवञ्च इन दोनों का अभाव ही दोष होने से तन्मात्र ही ज्ञाप्य है और उसका ज्ञान हेतु के विपक्ष में सम्बन्धमात्र से ही हो जाता है । तस्मात् अनुमिति-हेतु व्याप्ति-प्रमिति के अभाव के बोधनार्थ पूर्वोक्त सन्देह या निश्चय का उद्भावन भी करें, तो 'वे (उक्त सन्देह या निश्चय) ही कैसे हुए ?' ऐसी जिज्ञासा होने पर विपक्षसम्बन्धमात्र तथा नियत विपक्षसम्बन्ध अवश्य कहने होंगे । एवञ्च व्याप्ति या तत्प्रमिति के अभाव

विपक्षसम्बन्धमात्रनियततत्सम्बन्धाववश्योपन्यास्याविति तत्सम्बन्धमात्रमेवास्तु। व्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकस्य लिङ्गत्वादुद्भाव्यम्, कृतमितराभ्यामिति।

लकारभेदप्रयोगे तैस्तैर्लकारैः कालविषयविशेषप्रतिपादनवांद्वभक्तिभिर्लिङ्ग-सङ्ख्याज्ञापनवत् 'पर्वतोऽग्निमानि'त्यादौ धर्म्यादिप्रतिपादनवच्च नेदं घटते, तत्र तेषामतात्पर्यविषयाणामपि पदप्रयोगे विशिष्टबोधने वा अन्यथासिद्धानां यथा बोधनं तथा यद्यत्रापि व्याप्तेरतात्पर्यविषयत्वं तदनैकान्तिकसाधारण्यादेव। अन्यथा उक्तदोषापरिहारादेवेति।

अनैकान्तिकत्वञ्च अनुद्भावयता अनधिगच्छता वा विरुद्धमशक्योद्भावन-मशक्याधिगमञ्चेति तदुपजीवित्वान्न पृथक् दूषणम्, विशेष्यप्रतिपादनं विशेष्या-वगमञ्च विना विशिष्टप्रतिपादनस्य विशिष्टावगमस्य चाशक्यत्वात्।

एवमन्यत्रापि विशेषणस्याप्रयोजकता विशेष्यस्य सामर्थ्ये स्वयमूहनीया।

का कारण होने से विपक्ष में सम्बन्धमात्र का ही कथन करना चाहिए, सन्देह या निश्चय का उपन्यास व्यर्थ है।

'शब्दो नित्योऽस्ति' इस प्रतिज्ञा-वाक्य में कालसामान्य की विवक्षा होने से वर्तमान के प्रतिपादन के तुल्य तथा 'वासः परिधेहि' यहाँ कर्ममात्र की विवक्षा होने से लिङ्ग-संख्या के बोधन के तुल्य 'पर्वतो वह्निमान्' यहाँ विशिष्ट के बोध में तात्पर्य होने से धर्म्यादि के बोध के तुल्य सम्भव नहीं है। कारण जैसे उक्त स्थलों में तात्पर्य का विषय न होने से पदप्रयोग या विशिष्ट के बोध में अन्यथासिद्ध (तात्पर्य का अविषय) काल-विशेषादि का बोध होता है, वैसे ही यदि विरुद्धस्थल में व्याप्ति के बोध को तात्पर्य का विषय मानें, तो लक्षण अनैकान्तिक-साधारण हो जायगा। यदि व्याप्तिबोध को तात्पर्य का विषय न मानें, तो लक्षण में उक्त प्रकार से व्याप्ति का निवेश व्यर्थ हो जायगा।

किञ्च—अनैकान्तिक के अज्ञान तथा अनुद्भावन के काल में विरुद्ध का ज्ञान तथा उद्भावन अशक्य है। कारण साध्याभाव के साथ सम्बन्धरूप विशेष्य के ज्ञान और प्रतिपादन के बिना सार्वत्रिकसम्बन्धरूप विशिष्ट का अवगम और प्रतिपादन अशक्य है, अतः विशेष्य-ज्ञान उपजीव्य है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी विशेष्य की सामर्थ्य होने पर विशेषण का वैयर्थ्य जानना चाहिये। देखिए—'इदं साधारणं साधारणानैकान्तिकत्वात्' यहाँ 'साधारण' विशेषण तथा 'इदमसाधकं सपक्षविपक्षगतत्वात्' यहाँ सपक्ष विशेषण व्यर्थ है। इसी प्रकार 'शब्दो

तद्यथा—'इदमसाधकं साधारणानैकान्तिकत्वादि'त्यत्र साधारणेति विशेषणं, सपक्षविपक्षगतत्वादित्यत्र सपक्षगतत्वेऽप्युद्भाव्यमाने; एवमसाधारणेऽपीति। 'इदमसाधकं जातित्वादि'ति जातित्वविवेचने स्वव्याघातकमुत्तरं जातिरिति स्वव्याघातकत्वस्यैव, 'सर्वमसत् ज्ञेयत्वादि'त्याद्यजातिजातिसाधारणस्य दूषणसमर्थत्वेनोत्तरत्वाभिधान इति।

किञ्च—साध्यविपरीतेति साध्याभावेत्यर्थे यदा अभावात्मैव साध्यः क्वचिद्भवति, तत्र तद्विपरीतस्य भावत्वात्तदव्यापकत्वं लक्षणस्य।

न च विपरीतशब्दस्य विरोधिमात्रार्थत्वे भावाभावोभयव्याप्तिरिति वाच्यम्। सहानवस्थानं हि भावाभावयोर्विरोधोऽभ्युपेयते। अनवस्थानञ्च संसर्गनिषेधः। स च भावाभावयोरन्योन्यानवस्थानमेव, परस्परप्रतिषेधरूपत्वात्तयोः। तथा च सति भावाभावयोः स्वरूपस्यानुपसङ्ग्रहे प्रत्येकमव्याप्तिः मिलितस्यासम्भव एवेति। वक्ष्यामश्च भावाभावयोर्विरोधनिरुक्तिनिराकरणमुपरिष्टादिति।

नित्यः शब्दत्वात्' इस असाधारण स्थल में 'शब्दत्वम्, असाधकम्, असाधारणानैकान्तिकात्वात्' यहाँ 'असाधारण' विशेषण तथा 'शब्दत्वम्, असाधकम्. सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वात्' यहाँ 'विपक्ष'-विशेषण व्यर्थ जानना चाहिए। 'इदमसाधकं जातित्वात्' यहाँ 'स्वव्याघातक उत्तर जाति है' यह जातिशब्दार्थ मानने पर 'स्वव्याघातकत्व' ही 'सर्वम्, असत्, ज्ञेयत्वात्' इस अजातिस्थल के तुल्य दूषण में समर्थ है, अतः 'उत्तर' इस विशेष्य-अंश का अभिधान व्यर्थ है।

किञ्च—लक्षण में 'साध्यविपरीत' शब्द का यदि 'साध्याभाव' अर्थ करें, तो जहाँ अभाव ही साध्य है, वहाँ साध्यविपरीत भाव ही होता है, अभाव नहीं। अतः वहाँ लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—लक्षणघटक 'विपरीत' शब्द का विरोध अर्थ है। अतः उससे भाव और अभाव दोनों का ग्रहण होने से अव्याप्ति नहीं है। *खण्डन*—सह-अनवस्थान ही भाव और अभाव का विरोध है। अनवस्थान संसर्ग का निषेध है और वह भाव-अभाव के अन्योन्य का अनवस्थानरूप है। कारण भाव का प्रतिषेधरूप अभाव है और अभाव का प्रतिषेधरूप भाव है। ऐसी स्थिति में 'विरोध' शब्द से दोनों के स्वरूप का संग्रह नहीं होगा। अतः लक्षण में अभाव का उपादान होने पर जहाँ अभावरूप साध्य 'विपरीत है, वहां अव्याप्ति हो जायगी। लक्षण में भाव, अभाव दोनों का 'विपरीत' शब्द से ग्रहण करें, तो सर्वत्र असम्भव हो जायगा। साथ ही भाव तथा अभाव के विरोध की निरुक्ति का खण्डन भी आगे किया जायगा।

सव्यभिचारलक्षणखण्डनम्

किञ्च—व्याप्तिपदेन लक्षणप्रविष्टेन किं व्यवच्छेद्यम् । अनैकान्तिकमिति चेत्, किं तदनैकान्तिकम् ? तथाहि—[1]अनैकान्तिकः सव्यभिचार इत्यलक्षणम् । सव्यभिचारत्वं हि यदि विपक्षवर्तिता, तदानीं विरुद्धेऽपि प्रसङ्गः, असाधारणानैकान्तिकाव्याप्तिश्च । अथ सपक्षविपक्षगताभावता, तदा साधारणोदाहरणाव्यापकत्वम् ।

अथोच्यते—सव्यभिचारत्वं सपक्षविपक्षसाधारणता अभिप्रेता । सा चान्वयेन साधारणस्य व्यतिरेकेणासाधारणस्यानैकान्तिकस्य सङ्ग्राहिका । सपक्षविपक्षसाधा-

सव्यभिचार-लक्षण का खण्डन

किञ्च—विरुद्ध के लक्षण में प्रविष्ट व्याप्ति का व्यवच्छेद्य क्या है ? यदि अनैकान्तिक है, तो अनैकान्तिक क्या वस्तु है । अर्थात् लक्षण न होने से वह अनिर्वचनीय है । एवञ्च व्यावर्त्य न होने से लक्षण में व्याप्ति का निवेश व्यर्थ हो जायगा ।

निर्वचन—अनैकान्तिक ही उसका व्यवच्छेद्य होगा । *खण्डन*—यह ठीक नहीं, क्योंकि अनैकान्तिक सिद्ध ही नहीं है । लक्षण से उसकी सिद्धि हो सकती है, किन्तु उसका कोई लक्षण ही नहीं हैं । यदि कहें कि 'अनैकान्तिक सव्यभिचार है', तो यह लक्षण युक्त नहीं है । कारण सव्यभिचार क्या है, क्या वह विपक्षवृत्तित्व है, सपक्ष-विपक्षवृत्तित्व है या सपक्ष-विपक्षसाधारणता है ? यदि विपक्षवृत्तित्व को सव्यभिचार कहें, तो 'शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्' इस विरुद्ध में अतिव्याप्ति तथा 'शब्दोऽनित्यः आकाशविशेषगुणत्वात्' इस असाधारण में अव्याप्ति हो जायगा । यदि सपक्ष-विपक्ष में जिसका अभाव हो, वह सव्यभिचार है, तो 'शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात् इस साधारण अनैकान्तिक में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—सपक्ष-विपक्ष में साधारणता सव्यभिचारत्व है । वह अन्वय से साधारण का और व्यतिरेक से असाधारण का संग्राहक है । यदि केवल अन्वय से सपक्ष-विपक्षसाधारणता कहें, तो असाधारण में और यदि केवल व्यतिरेक से कहें, तो साधारण में और यदि अन्वय-व्यतिरेक दोनों से सपक्ष-विपक्षसाधारणता कहें, तो दोनों में अव्याप्ति

1. 'एकस्मिन्नेव साध्ये नियतः एकान्तः, न एकान्तः अनैकान्तः । व्यभिचारश्च सम्बन्धानियमस्तेन सहितः सव्यभिचारः । एवञ्च अनियतसाध्यसम्बन्धोऽनैकान्त इति ।' अर्थात् एक ही साध्य में जो नियत हो, वह एकान्त है और जो एकान्त नहीं, वह अनैकान्त है । इसी तरह व्यभिचार का अर्थ है (व्याप्ति)-सम्बन्धका अनियम, उसके सहित सव्यभिचार है । अर्थात् जिस हेतु का साध्य के साथ नियत (व्याप्ति)-सम्बन्ध न हो, वह सव्यभिचार हेत्वाभास है ।

रणता अन्वयेन व्यतिरेकेण वेति विशेषणवत्तया न विवक्षिता, अतः साधारणा-साधारणानैकान्तिकयोरुभयोरपि सङ्ग्रहः ।

'विवादाध्यासितं क्षणिकं सत्त्वादि'त्यादेरनुपसंहार्यस्यापि सपक्षविपक्षगतत्वा-भावेन साम्यमिति ।

विचार्यमेतद् व्याख्यानम्, परमस्तु तावदापाततः; तथापि व्यतिरेकेण सपक्षविपक्षसाधारणतायाः सपक्षाव्यापके सद्धेतौ धूमविशेषादौ गतत्वेनातिव्यापकत्वात्। यदि त्वस्य दोषस्य परिहाराय सर्वविपक्षसपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति ब्रूषे, तदा व्यतिरेकमात्रेण सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता धूमानुमानादिगामिनी न भवतु नाम । अन्वयेन तु सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता विपक्षसपक्षैकदेशगामिनं साधारणानैकान्तिकं 'शब्दो न नित्यः प्रत्यक्षाग्राह्यत्वादि'त्यादिकं न सङ्गृह्णाती-त्यव्याप्तिरित्येकं सन्धित्सतोऽपरं प्रच्यवते ।

हो जायगी, अतः विशेष की विवक्षा नहीं है। किन्तु जहाँ अन्वय से समन्वय की सम्भावना हो, वहाँ अन्वय से और जहाँ व्यतिरेक से लक्षण के समन्वय की सम्भावना हो, वहाँ व्यतिरेक से सपक्ष-विपक्षसाधारणता का ग्रहण करना चाहिए।

'विवाद-विषय सब वस्तुएँ क्षणिक हैं, ज्ञेय होने से' इस अनुपसंहारी का भी, सपक्ष-विपक्ष न होने से ही, व्यतिरेक से सपक्ष-विपक्षसाधारणता बन जाने के कारण संग्रह हो जाता है ।

खंडन—यह व्याख्यान विचारणीय है, अर्थात् विचारणीय होने से रमणीय अवश्य है, किन्तु आपाततः ही। फिर भी व्यतिरेकतः यत्किञ्चित् सपक्ष-विपक्षसाधारणता सपक्षाव्यापक (तप्त अयोगोलक में अवृत्ति) धूमरूप सद्धेतु में भी है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि इस दोष के वारणार्थ 'सर्वसपक्ष-विपक्ष-साधारणता' को अनैकान्तिक कहें, तो भले ही व्यतिरेक से सब सपक्षविपक्ष-साधारणता धूमरूप सद्धेतु में न होने से वहाँ अतिव्याप्ति न हो, फिर भी अन्वय से सर्व-सपक्ष-विपक्षसाधारणता विपक्ष (आत्मा) और सपक्ष (घटादि) के एकदेश में स्थित 'शब्दोऽनित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वात्' इस साधारण अनैकान्तिक में अव्याप्ति हो जायगी। कारण सब सपक्षों में गुरुत्व गुण और सब विपक्षों में आकाश भी आते हैं, उनमें अन्वय से प्रत्यक्षत्व नहीं है। इस प्रकार आप एक दोष का परिहार करना चाहते हैं, तो अन्य दोष टपक पड़ता है।

रणता अन्वयेन व्यतिरेकेण वेति विशेषणवत्तया न विवक्षिता, अतः साधारणासाधारणानैकान्तिकयोरुभयोरपि सङ्ग्रहः ।

'विवादाध्यासितं क्षणिकं सत्त्वादि'त्यादेरनुपसंहार्यस्यापि सपक्षविपक्षगतत्वाभावेन साम्यमिति ।

विचार्यमेतद् व्याख्यानम् , परमस्तु तावदापाततः ; तथापि व्यतिरेकेण सपक्षविपक्षसाधारणतायाः सपक्षाव्यापके सद्धेतौ धूमविशेषादौ गतत्वेनातिव्यापकत्वात् । यदि त्वस्य दोषस्य परिहाराय सर्वविपक्षसपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति ब्रूषे, तदा व्यतिरेकमात्रेण सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता धूमानुमानादिगामिनी न भवतु नाम । अन्वयेन तु सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता विपक्षसपक्षैकदेशगामिनं साधारणानैकान्तिकं 'शब्दो न नित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वादि'त्यादिकं न सङ्गृह्णातीत्यव्याप्तिरित्येकं सन्धित्सतोऽपरं प्रच्यवते ।

हो जायगी, अतः विशेष की विवक्षा नहीं है । किन्तु जहाँ अन्वय से समन्वय की सम्भावना हो, वहाँ अन्वय से और जहाँ व्यतिरेक से लक्षण के समन्वय की सम्भावना हो, वहाँ व्यतिरेक से सपक्ष-विपक्षसाधारणता का ग्रहण करना चाहिए ।

'विवाद-विषय सब वस्तुएँ क्षणिक हैं, ज्ञेय होने से' इस अनुपसंहारी का भी, सपक्ष-विपक्ष न होने से ही, व्यतिरेक से सपक्ष-विपक्षसाधारणता बन जाने के कारण संग्रह हो जाता है ।

खंडन—यह व्याख्यान विचारणीय है, अर्थात् विचारणीय होने से रमणीय अवश्य है, किन्तु आपाततः ही । फिर भी व्यतिरेकतः यत्किञ्चित् सपक्ष-विपक्षसाधारणता सपक्षाव्यापक (तप्त अयोगोलक में अवृत्ति) धूमरूप सद्धेतु में भी है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि इस दोष के वारणार्थ 'सर्वसपक्ष-विपक्ष-साधारणता' को अनैकान्तिक कहें, तो भले ही व्यतिरेक से सब सपक्षविपक्ष-साधारणता धूमरूप सद्धेतु में न होने से वहाँ अतिव्याप्ति न हो, फिर भी अन्वय से सर्व-सपक्ष-विपक्षसाधारणता विपक्ष (आत्मा) और सपक्ष (घटादि) के एकदेश में स्थित 'शब्दोऽनित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वात्' इस साधारण अनैकान्तिक में अव्याप्ति हो जायगी । कारण सब सपक्षों में गुरुत्व गुण और सब विपक्षों में आकाश भी आते हैं, उनमें अन्वय से प्रत्यक्षत्व नहीं है । इस प्रकार आप एक दोष का परिहार करना चाहते हैं, तो अन्य दोष टपक पड़ता है ।

अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वसपक्षविपक्षागतत्वाद् धूमानुमानादौ स एव प्रसङ्गः, विशेषरूपेण तयोरविवक्षितत्वात् ।

किञ्च—सर्वसपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति वाक्ये यदि सर्वेति विपक्षस्यापि विशेषणं तदा विपक्षैकदेशवृत्तेः सपक्षव्यापिनः साधारणानैकान्तिकस्य 'त्रसरेणुः कार्यवयवको महत्त्वात् घटवद्'त्यादेरव्यापकं लक्षणमिदम् । अथ सर्वेति न विपक्षस्य विशेषणं तदा व्यतिरेकमादाय विपक्षसर्वसपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति एतद्विपक्षैकदेशमात्रवृत्तौ विरुद्धे 'क्षितिर्नित्या सावयवत्वादि'त्यादौ गतत्वादतिव्यापकमिति ।

का चेयं वाचो युक्तिः सपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्युक्ते सर्वं सङ्गृह्यते अन्वयेन व्यतिरेकेण चेति । कथमनुपसंहार्यस्यासत्सपक्षविपक्षस्य सपक्षे विपक्षे वा अन्वयेन व्यतिरेकेण वा साधारण्यं स्यात्, तयोरेवाभावात् ।

यदि च सपक्षे च विपक्षे च साधारणत्वमुभयत्र स्वरूपानुगमो विवक्षितः,

किञ्च—अन्वय-व्यतिरेक से सभी सपक्षों और व्यतिरेक से सभी विपक्षों में साधारण (व्यापक) होने से धूमादि सद्धेतु में अतिव्याप्ति भी हो जायगी, कारण 'केवल अन्वय या केवल व्यतिरेक से ही जो सपक्ष-विपक्षसाधारण हो', ऐसी विशेष की विवक्षा तो है ही नहीं ।

किञ्च—'सर्वसपक्ष-विपक्षसाधारणमनैकान्तिकम्' इस वाक्य में 'सर्व' को यदि विपक्ष का भी विशेषण मानें, तो परमाणुरूप में विपक्ष न रहने से विपक्ष का एकदेश दिग् आदि में वृत्ति तथा सर्वसपक्षवृत्ति 'त्रसरेणुः कार्यावयवकः महत्त्वात् पटवत्' इस साधारण अनैकान्तिक में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । यदि सर्व को विपक्ष का विशेषण न मानें, तो 'विपक्ष तथा सब सपक्षों में साधारण अनैकान्तिक है' ऐसा लक्षण हुआ । उसकी 'क्षितिर्नित्या सावयवत्वात्' इस विरुद्ध में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण व्यतिरेक से बुद्ध्यादि विपक्ष और परमाणु आदि सब सपक्षों में सावयवत्व-हेतु साधारण है ।

किञ्च—'सपक्ष-विपक्षसाधारणरूप अनैकान्तिक अन्वय-व्यतिरेक से सबका संग्राहक है' यह वचन-भंगी सर्वथा निन्द्य है, कारण सपक्ष-विपक्षरहित अनुपसंहारी का अन्वय या व्यतिरेक से सपक्ष-विपक्षसाधारण्य संभव ही कैसे है, क्योंकि उसे पक्ष या विपक्ष कुछ भी नहीं होता ।

यदि सत्त्व का सपक्ष-विपक्ष में साधारण्य कहें, तो असाधारण अनैकान्तिक का असंग्रह हो जायगा; कारण असाधारण हेतु का सत्त्व सपक्ष-विपक्ष में नहीं होता । यदि

तदानीमसाधारणानैकान्तिकाव्याप्तिः । अथोभयस्मिंस्तस्मिन्नसत्त्वं तद्विवक्षितम्, तदा सर्वाव्याप्तिः, तदसत्त्वस्यातद्धर्मत्वात् । अथ तदुभयवर्त्यभावप्रतियोगित्वं तदुभयसम्बन्धस्य योऽभावस्तदाश्रयत्वं वाऽभिप्रेतम्, तदाऽपि साधारणोदाहरणाव्याप्तिः ।

अथ मन्यसे तदुभयसाधारण्यं नाम एकस्मिन् याद्रूप्यं हेतोः सत्त्वमसत्त्वं वा ताद्रूप्यमपरस्मिन्नपि यत्तदुच्यते, तथा सति नाव्यापकतादोष इति । नैवम्; मुख्यस्तावद्वचनार्थो नोपपद्यते—हेतोरैकरूप्यस्य सपक्षविपक्षावाश्रय इति । किं नाम ? ऐकरूप्यवतो हेतोस्तौ आश्रयाविति स्यात् । तदा चासाधारणाव्याप्तिः, तत्र सपक्षे विपक्षे च हेतोरसत्त्वेन तदाश्रयत्वासम्भवात् । तस्मात् सपक्षे विपक्षे च साधारणत्वं हेतोरनैकान्तिकत्वमित्यनुपपन्नमेव ।

असत्त्वपक्षे हेतोस्तदाश्रयकत्वानुपपत्त्या सपक्षे विपक्षे चेति सप्तमीनिर्देशस्यासङ्गतत्वात् । तदभावापेक्षया चाश्रयत्वस्योपपत्तौ हेतोस्तदाश्रयत्वे किमायातम् ।

असत्त्व का सपक्ष-विपक्ष में साधारण्य कहें, तो असम्भव हो जायगा; कारण हेतुवृत्ति असत्त्व हेतु में नहीं रहता, क्योंकि अंशतः आत्माश्रय हो जायगा । यदि 'सपक्ष-विपक्ष में स्थित जो अभाव, तत्प्रतियोगित्व' अथवा 'सपक्ष-विपक्षसम्बन्ध का जो अभाव, तदाश्रयत्व' को साधारण्य कहें, तो साधारण अनैकान्तिक में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—एक (सपक्ष या विपक्ष) में हेतु का जो रूप (सत्त्व या असत्त्व) हो, उसी रूप का अन्य (विपक्ष या सपक्ष) में होना ही सपक्ष-विपक्ष-साधारण्य है अतः अव्याप्ति दोष नहीं है । *खण्डन*—'हेतु के ऐकरूप्य (सत्त्व या असत्त्व) के सपक्ष और विपक्ष आश्रय हैं' यह मुख्य अर्थ तो सम्भव नहीं । कारण हेतु के सत्त्व का आश्रय हेतु ही है, क्योंकि वह उसीका धर्म है, सपक्षादि नहीं । किन्तु लक्षणा द्वारा 'ऐकरूप्य से युक्त हेतु के सपक्ष-विपक्ष आश्रय हों' यही अर्थ करना होगा । ऐसा अर्थ मानने पर असाधारण में अव्याप्ति हो जायगी; कारण असाधारण हेतु के पक्षमात्रवृत्ति होने के कारण उसका सपक्ष या विपक्ष में असत्त्व होने से उसमें सपक्ष-विपक्षाश्रयत्व नहीं है । तस्मात् हेतु का सपक्ष-विपक्ष में साधारणत्व अनैकान्तिकत्व है, यह अनुपपन्न ही है ।

किञ्च—असाधारण स्थल में हेतु का सत्त्व सपक्षादि में नहीं है, अतः 'हेतु की अपेक्षा सपक्ष में, विपक्ष में' यह सप्तमी-निर्देश अनुपपन्न है । यद्यपि हेत्वभाव की अपेक्षा सप्तमी-निर्देश उपपन्न है, परन्तु उससे हेतु में लक्षण का समन्वय कैसे होगा ?

आयातु वा किञ्चित् ; तथापि साधारणोदाहरणेषु हेत्वभावापेक्षया सपक्षविपक्षयोर्नाऽऽश्रयता सप्तम्यर्थः । किन्तु हेत्वपेक्षयैवेति एकार्थापर्यवसायित्वे वाक्यस्य लक्षणाव्यापकतापत्तिरेव ।

किञ्च सपक्षविपक्षसाधारणत्वं यदि सामान्यतो लक्षणं साधारणासाधारणानैकान्तिकभेदद्वयसङ्ग्रहार्थमुच्यते, तदा सपक्षविपक्षयोरन्यत्वादिभिर्हेतोः साधारण्यमस्त्यन्यत्रापीत्यतिव्याप्तिः ।

अथातिव्याप्तिपरिजिहीर्षया अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्युच्यते, तदा अन्वयव्यतिरेकयोः प्रत्येकमिलितविकल्पानुपपत्त्या अव्यापकत्वापातः ।

स्यादेतत्—स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वं सपक्षविपक्षसाधारण्यं विवक्षितम्, एवं नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति । तदप्यसत् ; तथाहि—अस्तु तावत्सर्व-

यदि ऐसा कहें कि सपक्ष-विपक्षनिष्ठ अभाव का प्रतियोगित्व हेतु में होने से समन्वय हो जायगा, तो भी साधारण के उदाहरण में 'हेत्वभाव की अपेक्षा आश्रयत्व' सप्तम्यर्थ नहीं है, किन्तु 'हेतु की अपेक्षा आश्रयत्व' ही सप्तम्यर्थ है । अतः वाक्य के अनेकार्थक होने से लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—यदि साधारण, असाधारण दोनों अनैकान्तिकों के संग्रहार्थ सामान्यतः सपक्ष-विपक्ष-साधारणत्वमात्र लक्षण करें; तो अन्यत्र विरुद्धादि में भी हेतु का [अन्यत्व, सत्त्व, ज्ञेयत्व आदि से] सपक्ष-विपक्ष-साधारण्य (सादृश्य) है। अतः उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी ।

यदि अतिव्याप्ति के परिहार की इच्छा से यह कहें कि 'अन्वय-व्यतिरेक से सपक्ष-विपक्षसाधारण्य अनैकान्तिक है', तो यदि केवल अन्वय से साधारण्य की विवक्षा करें, तो असाधारण में और केवल व्यतिरेक से विवक्षा करें, तो साधारण में और दोनों से विवक्षा करें, तो उभयत्र अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'जिस हेतु का सपक्ष-विपक्ष, हेतु और हेत्वभाव के विरोध के आश्रय का आश्रय हो, तत्त्व सपक्ष-विपक्ष-साधारण्य है ।' अतः अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति नहीं हैं । *खण्डन*—यह भी युक्त नहीं, कारण सपक्ष-विपक्ष में 'सर्व' विशेषण देंगे या नहीं ? प्रथम पक्ष में 'शब्दो न नित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वात्' इस साधारण में अव्याप्ति हो जायगी । द्वितीय पक्ष में तथा प्रथम में भी पक्ष, सपक्ष के धूम-धूमाभाव के विरोध के

पदविशेषणोपादानानुपादानपक्षोक्तदोषापातः, सर्वशब्दोपादाने धूमानुमानादौ प्रसङ्गश्च ।

स्वस्वाभावविरोधशब्दार्थस्यापि एकस्यानुगतस्यासम्भवेन लक्षणानुगमाभावो दोषः। तत्तदभावयोर्हि विरोधः सहानवस्थानम्, अनवस्थानञ्च अवस्थानप्रतिषेधः । न च तद् भावस्य अभावस्वरूपादन्यत् । न चाभावस्याप्यनवस्थानं भावस्वरूपादन्यत्, किन्तु तदेव भावस्य स्वरूपम् । तत्र स्वस्वाभावविरोधाश्रय इत्यस्य नार्थैक्यं किञ्चिन्मृग्यमाणमवाप्यते ।

स्वस्वाभावविरोधाश्रय इति वचनं विचारमर्हति । स्वस्वाभावयोर्विरोधविशेषणतया आधेयकोटिनिवेशात् विशेषणघटितमूर्तित्वाद्विशिष्टपदार्थस्य तदाधारत्वानुपपत्तेः ।

अतिव्यापकता च स्यात् । अन्वयमादाय सपक्षे, व्यतिरेकमादाय विपक्षे, वर्तमानस्याप्युक्तलक्षणोपेतत्वात् । स्वस्वाभावाविशेषितस्य तु विरोधस्याश्रयेऽभिधीयमाने सर्वानुमानव्यापकत्वमनैकान्तिकलक्षणस्याऽऽपतेत् ।

आश्रय का आश्रय होने से 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस सत् हेतु में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—'स्वस्वाभाव-विरोध' शब्द का एक अनुगत अर्थ न हो सकने से लक्षण का अननुगम हो जायगा । देखिये—प्रतियोगी और अभाव का विरोध सह-अनवस्थान ही है और यह अनवस्थान अवस्थान का प्रतिषेधरूप है । वह भाव का अनवस्थान अभावरूप से अन्य नहीं है, किन्तु अभावस्वरूप ही है और अभाव का अनवस्थान भावस्वरूप से अन्य नहीं है, किन्तु भावस्वरूप ही है । अतः खोजने पर भी 'स्वस्वाभावविरोधाश्रय' शब्द का एक अर्थ प्राप्त नहीं होता ।

किञ्च—'स्वस्वाभाव-विरोधाश्रय' यह वचन भी विचारणीय है । स्वस्वाभाव विरोध में विशेषण होने से उसका आधेयकोटि में निवेश है । विशिष्ट पदार्थ विशेषण से घटितमूर्तिक होता है और स्वस्वाभावविशिष्ट विरोध का आश्रय स्वस्वाभाव नहीं हो सकता, कारण अंशतः आत्माश्रय होने से स्व का स्व आश्रय नहीं होता ।

किञ्च—सद्धेतुमात्र में अतिव्याप्ति हो जायगी. कारण वहाँ भी स्व (हेतु) से आश्रित सपक्ष और स्वाभाव से आश्रित विपक्ष हैं । यदि स्वस्वाभाव से अविशेषित विरोधाश्रयाश्रित सपक्ष-विपक्षत्व का अभिधान करें तो, सम्पूर्ण अनुमानों में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण हेतुमात्र में अभेद के विरोध के आश्रय-भेद से आश्रित सपक्ष-विपक्षत्व हैं ।

न च वाच्यं स्वस्वाभावोपलक्षितो विरोधोऽभिमतः, तेन विशेषणपक्षोक्तदोषस्य नावकाश इति ; यतः स्वस्वाभावाभ्यां विरोधमात्रं वा लक्ष्यते तद्व्यक्तिर्वा काचित् ? आद्ये यदेव स्वस्वाभावाभ्यां लक्षितं विरोधमात्रं तदेवान्यदपीति उक्तातिव्याप्तिस्तदवस्थैव, स्वस्वाभावपदोपादानवैयर्थ्यं च । अथ द्वितीयस्तदा लक्षणस्याननुगमः, एकस्य विरोधव्यक्तिविशेषस्यात्र परिगृहीतस्यापरविरोधव्यक्त्यनात्मत्वात् ।

अथ यावत्योऽपेक्षिता विरोधव्यक्तयस्ता उपलक्ष्यन्त इत्युच्यते; किन्नोपलक्ष्यन्ते, किन्तु किं केनचिदनुगतेन रूपेण, उत प्रतिस्वं व्यावृत्तेनाऽऽत्मना ? प्रथमे तदेवोच्यतां किमुपलक्षणोपन्यासप्रयासेन । न च तत्सम्भवति विरोधमात्रस्यातिप्रसञ्जकत्वात् , प्रतिस्वं व्यावृत्तेन व्यक्तीनामात्मनोपलक्ष्यत्वे तथैव तासां लक्षणप्रवेश इति मिलितानां लक्षणत्वे सर्वाव्याप्तिः, प्रत्येकं लक्षणत्वे परस्परोदाहरणाव्याप्तिः ।

समर्थन—'स्वस्वाभाव से उपलक्षित जो विरोध है, तदाश्रयाश्रित सपक्ष-विपक्षत्व' ऐसा लक्षण करेंगे । अतः विशेषणपक्षोक्त दोष न होंगे । *खंडन*—स्वस्वाभाव से विरोधमात्र उपलक्षित होता है अथवा कोई एक विरोध व्यक्ति ? प्रथम कल्प में स्वस्वाभाव से उपलक्षित विरोध के आश्रय सद्धेतु में अतिव्याप्ति हो जायगी । किञ्च—जब अव्याप्ति-अतिव्याप्तिका परिहार ही नहीं होता, तो 'स्वस्वाभाव' का निवेश व्यर्थ ही है । द्वितीय कल्प में लक्षण का अननुगम हो जायगा; कारण लक्षण में प्रविष्ट जो एक विरोध व्यक्ति है, वह अन्यत्र नहीं है ।

यदि कहें कि 'अनैकान्तिक हेतु में अपेक्षित जितने विरोध व्यक्ति हैं, वे सब स्वस्वाभाव से उपलक्षित किये जाते हैं' तो ठीक है, क्यों नहीं उपलक्षित करते ? किन्तु यह कहिये कि किसी अनुगत रूप से संगृहीत तावद् व्यक्तियों का उपलक्षण करते हैं या प्रतिव्यक्ति भिन्न एक-एक का ? प्रथम पक्ष में उसी अनुगत रूप को कहिये, उपलक्षण में व्यर्थ प्रयास क्यों करते हैं ? अनुगत रूप सम्भव नहीं है और विरोधमात्र अन्यत्र भी है । यदि प्रतिव्यक्ति में विद्यमान अन्य व्यक्ति से व्यावृत्त किसी स्वरूप को उपलक्षण मानें, तो जिस रूप से उपलक्षित मानें, उसी रूप से उसका लक्षण में प्रवेश होगा । यदि सम्पूर्ण व्यक्तियों का लक्षण में प्रवेश करें, तो विरोध व्यक्ति कहीं भी नहीं है; अतः असम्भव हो जायगा । यदि एक व्यक्ति का लक्षण में प्रवेश करें, तो परस्पर उदाहरण में अव्याप्ति हो जायगी ।

स्यादेतत्—सपक्ष एव विपक्ष एव वर्तते न यः, सोऽनैकान्तिक इति लक्षणमस्तु। तेन साधारणासाधारणानैकान्तिकोदाहरणव्याप्तिर्भवतीति। एतदप्यलक्षणम्; सद्धेतौ धूमादावपि गतत्वात्। न ह्यसौ विपक्ष एव वर्तते, सर्वथा तत्रावृत्तेः। नापि सपक्ष एव, पक्षेऽपि वर्तमानत्वात्।

अथ पक्षवृत्तिरिति विशेषयसि; तथापि सद्धेतोरपरित्यागः, पक्षवृत्तित्वादेव सपक्ष एव वृत्तेरभावात्, असिद्धानैकान्तिकसङ्कराव्याप्तिश्च।

अथ पक्षव्यतिरिक्त इति विशेषणं प्रक्षिपसि, तदानीमप्रसक्तव्यावर्तनमनुपपन्नम्। न हि पक्षाव्यतिरिक्तः सपक्षो विपक्षो वा सम्भवतीति सपक्षस्य विपक्षस्य च कुतश्चिदव्यावर्तकं विशेषणमेवेदं तयोः कथं घटेत।

अथ पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमान इति विशेषयसि, तदानीमसाधारणाव्याप्तिः, नासौ पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानः।

समर्थन—'जो न केवल सपक्ष में और न केवल विपक्ष में ही रहे, वह अनैकान्तिक है' ऐसा लक्षण करेंगे। इससे साधारण और असाधारण दोनों का संग्रह हो जायगा। *खण्डन*—ऐसा भी लक्षण नहीं कर सकते, क्योंकि सद्धेतु धूम में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण धूम विपक्ष में सर्वथा न रहने से 'विपक्ष में ही नहीं है' और पक्ष में भी होने से 'सपक्ष में ही नहीं है'।

समर्थन—'पक्षवृत्ति होता हुआ जो हेतु न तो सपक्षमात्र में और न विपक्षमात्र में ही न रहता हो, वह अनैकान्तिक है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—फिर भी सद्धेतु में ही अतिव्याप्ति है ही, कारण वह पक्षवृत्ति होने से सपक्षमात्र में वृत्ति नहीं है। किञ्च—'शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्' इस असिद्ध और नित्य अभाव में वृत्ति होने से अनैकान्तिक के सङ्करस्थल में अव्याप्ति हो जायगी, कारण हेतु पक्षवृत्ति नहीं है।

समर्थन—'पक्षव्यतिरिक्त सपक्षमात्र में और विपक्षमात्र में ही जो न रहता हो, वह अनैकान्तिक है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—'पक्षव्यतिरिक्त' विशेषण व्यर्थ है, कारण यदि कहीं सपक्ष और विपक्ष पक्षरूप होते, तो उनकी व्यावृत्ति के लिए यह विशेषण सार्थक होता। पक्षाव्यतिरिक्त सपक्ष-विपक्ष हैं नहीं, अतः पक्षव्यतिरिक्त-विशेषण व्यर्थ है।

समर्थन—'पक्षव्यतिरिक्त' में वर्तमान जो हेतु सपक्ष में ही और विपक्ष में ही न रहता हो, वह अनैकान्तिक है' ऐसा कहेंगे। *खंडन*—ऐसा लक्षण करने पर असाधारण में अव्याप्ति हो जायगी, कारण वह पक्षव्यतिरिक्त में वर्तमान नहीं है।

अथ पक्षव्यतिरेकेणेति विशेषणमुपादत्से, तदाऽपि पक्षव्यतिरेकस्य पक्षविरहरूपस्योपलक्षणत्वं हेतुत्वं वा द्वयमपि पक्षमात्रवृत्तावसाधारणानैकान्तिके न सम्भवति, पक्षविरहस्य तत्रासम्भवादेव। निषेध्यविशेषणत्वे त्वस्य सद्धेतौ गमनं स्यात्।

एतेन पक्षं विना पक्षमन्तरेणेत्याद्यक्षरैर्विशेषाभिधानमपास्तम्।

अथ यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते तदा सपक्ष एव विपक्ष एव न वर्तते यः सोऽनैकान्तिकः, तथा सत्यसाधारणस्यापि व्याप्तिः, सद्धेतौ चाप्रसक्तिरिति मन्यसे; तदा भ्रान्तोऽसितराम्। एवं सति नोभयस्यापि सङ्ग्रहः।

असाधारणे तावद्यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तत इत्येतन्न सम्भवति, तस्य पक्षमात्रवृत्तेः कदाचिदपि पक्षव्यतिरिक्तवृत्तिसम्भावनानुपपत्तेः।

समर्थन—'पक्षव्यतिरेकेण सपक्ष में ही विपक्ष में ही जो न रहता हो, वह अनैकान्तिक है।' पक्षव्यतिरेकेण' यहाँ 'पक्षव्यतिरेक' का अर्थ पक्ष का अभाव है और तृतीयार्थ हेतु या उपलक्षण दोनों होता है। उक्त उपलक्षणत्व या हेतुत्व दोनों पक्षमात्रवृत्ति असाधारण में नहीं हो सकते; कारण असाधारण हेतु में पक्षविरहत्व ही नहीं है, फिर वह उपलक्षण या हेतु होगा कैसे? एवञ्च वहाँ अव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि 'पक्षव्यतिरेकेण' यहाँ तृतीयार्थ उपलक्षणत्व या हेतुत्व का व्यावर्त्य (निषेध्य) सद्धेतु और विरुद्ध में अन्वय है, तो सद्धेतु में पूर्वोक्त प्रकार से अतिव्याप्ति हो जायगी। अर्थात् धूमादि सत्-हेतु पक्षव्यतिरेकेण विद्यमान भी सपक्षमात्र वृत्ति नहीं, कारण पक्ष में रहता है, अतः वहाँ अव्याप्ति है।

चूँकि 'पक्षव्यतिरेकेण' को संग्राह्य अनैकान्तिक का विशेषण मानें, तो असाधारण में अव्याप्ति होती है और निषेध्य का विशेषण मानें, तो सद्धेतु में अतिव्याप्ति होती है, इसलिए जो लोग 'पक्षव्यतिरेकेण' के स्थान पर 'पक्षं विना' या 'पक्षमन्तरेण' आदि शब्दान्तरों की योजनाकर लक्षण करते हैं, वे लक्षण भी खण्डित हो जाते हैं। कारण उसमें भी ये दोष बने ही रहेंगे।

समर्थन—'यदि पक्षव्यतिरिक्त में रहता हो, तो जो न सपक्ष में ही और न विपक्ष में ही रहे, वह अनैकान्तिक है' ऐसा कहने पर असाधारण का संग्रह और सद्धेतु का वारण दोनों हो जाते हैं। *खंडन*—यदि आप ऐसा मानते हैं, तो अतिभ्रम में हैं, कारण इससे साधारण, असाधारण दोनों का भी संग्रह नहीं हुआ।

देखिये—असाधारण में 'यदि पक्षव्यतिरिक्त में रहता हो' यह अंश समन्वित

साधारणेऽपि निश्चितसपक्षविपक्षवृत्तौ यद्यर्थं न पश्यामो यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तत इति । न हि निश्चितवृक्षभावायां शिंशपायां प्रयुज्यते 'यदि शिंशपावृक्षः स्यादि'ति । तत्कस्य हेतोः ? संशयोपस्थापितात् कोटिद्वयादेकस्यां कोटौ तदाश्रये किञ्चिद्धर्मोपदर्शनार्थमारोप्यमाणायां यदीति प्रयुज्यते, न तु निश्चित एव वस्तुनि । तस्मादसाधारणानैकान्तिकसङ्ग्रहाय यदीत्याद्युपात्तं तन्न साधारणमपि समग्रहीत् ।

अथ विपक्ष एव सपक्ष एव न वर्तते यो हेत्वाभासः सोऽनैकान्तिक इति मन्यसे । तदप्यनुपपन्नम्; अनैकान्तिकत्वमनिश्चित्याग्रत एव हेत्वाभासत्वावधारणे तत एव हेतोरसाधकत्वं सिद्धमिति कृतं तदुपजीविनाऽनैकान्तिकत्वोपन्यासेन । अथाग्रे हेत्वाभासत्वं नावधार्यते, तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वम्, विशेषणस्य हेत्वाभासत्वस्यानवधारणात् ।

नहीं होता, क्योंकि वह पक्षमात्रवृत्ति है । उसमें कदापि पक्षव्यतिरिक्तवृत्तित्व की सम्भावना ही नहीं है ।

साधारण में भी सपक्षवृत्तित्व निश्चित है, अतः 'यदि पक्षव्यतिरिक्त में रहता हो' इस 'यदि' शब्द का अर्थ हम नहीं देखते । कारण जिसमें वृत्तित्व निश्चित हो, उस शिंशपा में 'शिंशपा यदि वृक्षः स्यात्' ऐसा वाक्य-प्रयोग नहीं होता । निश्चय होने पर यदि-घटित वाक्य न बोलने का कारण यही है कि संशय से उपस्थापित कोटिद्वय के मध्य एक कोटि के विषय में किसी धर्म के आरोप के लिए ही 'यदि' शब्द का प्रयोग होता है । निश्चित वस्तु में 'यदि' का प्रयोग नहीं होता । तस्मात् असाधारण अनैकान्तिक के संग्रहार्थ प्रयुक्त 'यदि' शब्द साधारण का भी संग्रह न कर सका ।

समर्थन—'जो हेत्वाभास सपक्षमात्र में और विपक्षमात्र में न रहता हो, वह अनैकान्तिक है' ऐसा लक्षण करेंगे । तथाच सद्धेतु में निश्चितसाध्यवन्मात्र-वृत्तित्वाभाव होने पर भी अतिव्याप्ति नहीं है, कारण उसमें हेत्वाभासत्व नहीं है । *खंडन*—अनैकान्तिकत्व के निश्चय के बिना यदि प्रथम ही हेत्वाभासत्व का ज्ञान हो जाता है, तो उसीसे हेतु में असाधकता सिद्ध हो जायगी । एवञ्च हेत्वाभासत्व-घटित अनैकान्तिक का यह लक्षण व्यर्थ है । यदि प्रथम हेत्वाभासत्व अनिश्चित है, तो विशेषण के अनिश्चय से लक्षण का ज्ञान ही नहीं होगा ।

अथ ब्रूषे—असिद्धविरुद्धप्रकरणसमकालात्ययापदिष्टादन्यो हेत्वाभासोऽनैकान्तिक इति; तदप्युक्तन्यायेनैव निरस्तम्। किञ्च—एवमसिद्ध्यादिसङ्कीर्णस्य अनैकान्तिकस्य न सङ्ग्रहः स्यात्।

न च तदसिद्धादित्वादेव अहेतुर्भविष्यतीति वाच्यम्; इतरानैकान्तिकवद् विपक्षगतत्वादिनाऽप्युद्भावने दोषत्वसम्भवात्।

अथ मन्यसे—साधारणत्वासाधारणत्वयोर्व्यतिरेकाभ्यां मिलिताभ्यां विशिष्टादन्यत्वं साधारणासाधारणानैकान्तिकव्यापि सामान्यलक्षणमस्तु।

मैवम्; यदि व्यतिरेकद्वयविशिष्टादन्यत्वम्, तर्हि तस्य विशिष्टस्य विशेष्ये विशेषणे च इदमस्तीत्यव्याप्तिः। यदि व्यतिरेकद्वयवत्तोपलक्षणं तदोपलक्ष्यस्वरूपाणां यदि भेदेनैवोपलक्ष्यता तदा व्यतिरेकोऽप्यविशिष्टे तस्मिन्नस्ति। न हि यदेवाविशिष्टं तन्मात्रं विशिष्टम्। एवमभेदेनापि।

समर्थन—'असिद्ध विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष और बाध से अन्य हेत्वाभास अनैकान्तिक है' ऐसा कहेंगे। *खण्डन*—यह लक्षण भी हेत्वाभास-घटित होने से पूर्वोक्त प्रकार से असङ्गत ही है। किञ्च—असिद्ध से सङ्कीर्ण अनैकान्तिक ('शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्') में असिद्ध से अन्यत्व न होने से अव्याप्ति हो जायगी।

प्रश्न—यहाँ अनैकान्तिक का लक्षण समन्वित न हो, तो हानि क्या है? असिद्ध होने से ही वह अनुमिति का असाधक तो हो ही जायगा। *उत्तर*—शुद्ध अनैकान्तिक के तुल्य असिद्धत्व से सङ्कीर्ण अनैकान्तिक भी विपक्षगतत्व रूप से ही जहाँ उद्भावित होता है, वहाँ भी वह दोष कहलाता है। किन्तु अब उस रूप से दोष न कहलायेगा।

समर्थन—'साधारणत्व और असाधारणत्व का जो अभाव तद्विशिष्ट से अन्य अनैकान्तिक है' ऐसा कहेंगे। सद्धेतु और हेत्वाभासान्तर में तादृशाभावविशिष्टता ही है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं है। इसी तरह जहाँ अनैकान्तिक का सांकर्य है, उसका भी संग्रह हो जायगा।

खण्डन—अभावद्वय विशेषण है या उपलक्षण? प्रथम पक्ष में व्यतिरेकद्वयविशिष्टान्य विशेषण (व्यतिरेकद्वय) तथा उसका विशेष्य (सद्धेतु) भी है, कारण विशेषणमात्र या विशेष्यमात्र तादृश व्यतिरेक से विशिष्ट नहीं होते। अतः उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी। और उपलक्षण पक्ष में व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित जो विशेष्य (सद्धेतु आदि) उससे अन्य विशिष्ट भी हुआ, कारण विशिष्ट और शुद्ध (विशेष्य) में भेद है। जो शुद्ध है, तन्मात्र ही विशिष्ट नहीं है।

भेदाभेदात्तदेवातदपि चेन्न। अतदपीति प्रसङ्गतादवस्थ्यात्।

ततोऽत्यन्तान्यत्वं लक्षणमिति चेन्न। असिद्ध्यादिसङ्कीर्णानैकान्तिकोदाहरणाव्यापनात्। स्वरूपाणाञ्च आनन्त्येन तत्प्रतियोगिकान्यत्वावधारणस्याशक्यता, तेषामानन्त्यात्। तन्मध्यपतितकतिपयान्यत्वे चान्यत्र कतिपये प्रसङ्गतादवस्थ्यात्।

उपलक्षणत्वे चोभयव्यतिरेकस्य अन्यत्वप्रतियोगिकोटयप्रवेशेन तत्सङ्गृहीतव्यतिरेकपक्षतापातात्।

एवञ्च अदृष्टबाणादिना गोत्वादेवम्भूताद् बाणादिविषाणित्वानुमानौचित्यापातात्।

समर्थन—यद्यपि विशिष्ट से शुद्ध का भेद है, कारण केवल विशेष्य में विशिष्ट की प्रतीति नहीं होती, तथापि अभेद भी है। कारण वस्तुतः विशेष्य ही विशिष्ट भी है। अतः व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित जो शुद्ध, उससे अभेद होने से विशिष्ट भी तदन्य नहीं है। *खण्डन*—भेद भी तो है, अतः उपलक्षित विशेष्य से विशिष्ट के अन्य होने से उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो ही जायगी।

समर्थन—उपलक्षित से अत्यन्त भेद लक्षण में घटित है और उपलक्षित से अत्यन्त भेद विशिष्ट में नहीं है। *खण्डन*—'शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्' इस संकीर्ण अनैकान्तिक स्थल में अव्याप्ति हो जायगी, कारण व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित जो असिद्ध, उससे अत्यन्त भेद चाक्षुषत्व में नहीं है।

किञ्च—व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित व्यक्ति अनन्त हैं। अर्थात् सम्पूर्ण में अनुगत प्रतियोगितावच्छेदक धर्म नहीं है। अतः तत्प्रतियोगिक भेद का अवधारण अशक्य है, कारण प्रतियोगी के अनन्त होने से भेद भी अनन्त हैं।

यदि कतिपय उपलक्षित व्यक्तियों से अन्यत्व का लक्षण में प्रवेश करें, तो कतिपय उपलक्षित सद्धेतु—आदि से अन्य होने से कतिपय सद्धेतु—आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—साधारणत्व और असाधारणत्व एतत्-व्यक्तिद्वयोपलक्षितत्व ही अनुगत प्रतियोगितावच्छेदक धर्म है, अतः उक्त दोष नहीं है। *खण्डन*—उक्त व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वरूप धर्म व्यतिरेकद्वय में नहीं है। अतः उक्त व्यतिरेकद्वय का प्रतियोगिकोटि में प्रवेश न होने से व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वावच्छिन्नप्रतियोगिक अभावरूप उक्त लक्षण की उक्त व्यतिरेकद्वय में अतिव्याप्ति हो जायगी।

इसी प्रकार जिस पुरुष ने गोपदवाच्य बाण आदि को नहीं देखा, उस पुरुष द्वारा प्रयुक्त गोपदवाच्यत्व हेतु से बाण में विषाणित्व की अनुमिति उचित हो जायगी, कारण

हेत्वाभासान्तरमप्येवं किं न समग्राहीति वासनायां यदेवानयोरितरेभ्यो वैधर्म्यं वाच्यम् , तस्यैव लक्षणस्य निर्वचनतापत्तेरिति ।

असिद्धत्वादिप्रकारादन्येन प्रकारेण हेत्वाभासोऽनैकान्तिक इति चेत् ; वाच्यस्तर्हि स प्रकारः कस्यान्यथा, ततस्ततोऽन्यत्वं ज्ञेयम् ।

किञ्चैवं तर्हि असिद्धत्वादन्यदनैकान्तिकमिति कृत्वा विरुद्धादीनामनैकान्तिकत्वेनैव सङ्ग्रहे शक्ये विरुद्धादिवद्रूपान्तरासङ्ग्राह्ययोः साधारणासाधारणयोरेव यदनेन प्रकारेण सङ्ग्रहमकार्षीस्तत्र नियतं रुचिरेव भवतो नियन्त्री ।

यदा च त्वमसिद्धादिव्यतिरिक्ततयाऽनैकान्तिकं लक्षयसि, तदाऽसिद्धादिभेदकं

गोपदवाच्यत्वरूप हेतु अश्वादि विपक्ष में न होने से साधारण नहीं है तथा सपक्ष गौ में होने से असाधारण नहीं है । अतः साधारणत्व-असाधारणत्व-व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित होने से तदन्यत्वरूप अनैकान्तिक नहीं है और प्रथम से विषाणित्व का निश्चय न होने से बाधित भी नहीं है ।

किञ्च—इसी प्रकार 'साधारणत्व-असाधारणत्व-असिद्ध-व्यतिरेक से उपलक्षित से अन्यत्व अनैकान्तिकत्व है' ऐसा लक्षणकर असिद्ध का भी अनैकान्तिक में संग्रह क्यों न माना जाय, ऐसी शंका होने पर साधारण, असाधारण में इतर (विरुद्ध) से वैलक्षण्य अवश्य कहना पड़ेगा । फिर तो वह वैलक्षण्य ही लक्षण क्यों न मान लिया जाय ?

समर्थन—'असिद्धत्व आदि प्रकारों से अन्य प्रकार से जो हेत्वाभास हो, वह अनैकान्तिक है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—वह प्रकार कहिये । यदि वह प्रकार न कहें, तो उसने अन्यत्व किसमें जाना जायगा ?

किञ्च—'असिद्ध से अन्य हेत्वाभास अनैकान्तिक है' ऐसा लक्षणकर विरुद्धादि का अनैकान्तिक रूप से संग्रह सम्भव होने पर भी विरुद्ध के तुल्य रूपान्तर (अन्य लक्षण) से असंग्राह्य साधारण, असाधारण का ही जो संग्रह किया है, उसमें केवल आपकी रुचि ही प्रमाण है ।

किञ्च—जब आप 'असिद्धादि-व्यतिरिक्तत्व' अनैकान्तिक का लक्षण करते हैं, तो तो जबतक असिद्धादि का भेदक धर्म अर्थात् असिद्ध का लक्षण ज्ञात न हो, तबतक अन्यत्वघटित अनैकान्तिक का यह लक्षण भी नहीं बन सकता । और यदि असिद्धि आदि की निरुक्ति करें, तो उनके लक्षणों में पूर्वोक्त दोष भी प्राप्त होंगे । किञ्च—'स्मृतिव्यतिरिक्तत्वघटित अनुभव-लक्षण में कथित दोष भी होंगे । अर्थात् 'स्मृत्यन्यज्ञानत्वमनु-

प्रकारमनवगम्य तदन्यत्रमशक्याधिगममिति तदभिधाने प्रसक्ते तदाश्रया ये दोषा दर्शितास्तैः स्मृतिव्यतिरिक्तत्रोक्तदोषैश्च निराकर्तव्योऽसि ।

साध्येनाव्याप्यत्वे सति तदभावाव्याप्तोऽनैकान्तिक इत्यपि न ; साध्याविशिष्टेऽपि गतत्वात् । विशेषणीभूतसाध्याव्याप्यत्वावगमाच्च प्राथमिकी व्याप्यत्वासिद्धिरेवोपजीव्या दूषणं स्यात् । विशेषणांशस्यैव चासाधकत्वसाधनसामर्थ्याद् व्यर्थविशेष्यताऽपि ।

वस्तुगतिव्यापकवन्मात्रपर्यवसायिनि तदभाववन्मात्रपर्यवसायिनि वा तत्कालसन्दिह्यमानान्यतरव्यापकत्वे 'शब्दोऽनित्यः श्रोत्रविशेषगुणत्वादि'त्यादावसाधारणे व्यावृत्तत्वाच्च । वस्तुतः साध्याव्याप्ते तत्कालेऽपि च सत्प्रतिपक्षतया अनिर्धारितसाध्यव्याप्तिके प्रकरणसमे गतत्वाच्च ।

भवत्वम्' इस लक्षण में स्मृत्यन्यत्व स्मृत्यन्तर में भी है, इत्यादि जैसा खंडन किया गया है, वैसा ही यहाँ ना चाहिए ।

समर्थन—'साध्य का अव्याप्य होकर साध्याभाव का जो अव्याप्य हो, वह अनैकान्तिक है ।' यहाँ सद्धेतु में अतिव्याप्ति न हो, एतदर्थ साध्याव्याप्यत्व का निवेश है और विरुद्ध में अतिव्याप्ति न हो, इसलिए साध्याभावाव्याप्यत्व का निवेश है । **खण्डन**—'शब्दोऽनित्यः अनित्यत्वात्' इस स्थल में जहाँ साध्य से अविशिष्ट (अभिन्न) अर्थात् साध्य ही हेतु है, वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी । किञ्च—यहाँ साध्याव्याप्यत्वरूप विशेषण का ज्ञान विशिष्ट अनैकान्तिक के ज्ञान का उपजीव्य है, अतः साध्याव्याप्यत्वरूप प्राथमिक व्याप्यत्वासिद्धि को ही दोष मानिये, विशिष्ट को दोष मानना व्यर्थ है । किञ्च—जब विशेषणमात्र ही हेतु में असाधकत्व-साधन में समर्थ है, तो विशेष्य दल का उपादन भी व्यर्थ है ।

किञ्च—जहाँ पक्ष में व्यापक (साध्य) मात्र हो अथवा व्यापकाभावमात्र हो, परन्तु उस काल में सन्देह हो कि हेतु साध्य का व्याप्य है या साध्याभाव का व्याप्य, वहाँ 'शब्दोऽनित्यः श्रोत्रविशेषगुणत्वात्' इस असाधारण में अव्याप्ति हो जायगी । कारण यदि वह साध्य का अव्याप्य हो, तो साध्याभाव का अव्याप्य नहीं होगा ।

किञ्च—'शब्दोऽनित्यः पक्षसपक्षान्यतरत्वात्' इत्यादि स्थल में जहाँ वस्तुतः हेतु साध्य का अव्याप्य है, परन्तु उस काल में 'शब्दो नित्यः श्रोत्रग्राह्यत्वात्' यह सत्प्रतिपक्षित होने से साध्याव्याप्यत्व अनिर्धारित है, उस सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्ति हो जायगी । कारण अज्ञानकाल में भी वस्तुतः साध्य का अव्याप्यत्व है ही ।

एतेन—अनैकान्तिकः सव्यभिचार इति प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । सव्यभिचार-स्योक्तप्रकाराधिकस्य निर्वक्तुमशक्यत्वादिति ।

सत्प्रतिपक्ष-लक्षण-खण्डनम्

अपि चोक्तलक्षणविशेषणेन प्रमाणव्यवच्छेदकादन्येन किं व्यवच्छेद्यम् ? केनचित् सत्प्रतिपक्षः केनचिदन्य इति चेत् ; कः पुनः सत्प्रतिपक्षः ?

तथाहि—सत्प्रतिपक्षलक्षणमनुयुक्तो यद्याह, 'समानबलबोधितसाध्यविपर्ययको हेतुत्वेनाभिमतः सत्प्रतिपक्षः' इति । तन्न ; तथाहि—किमिह बलं[1] विवक्षितम् ? सामर्थ्यमिति चेत्, तत् कुत्र कार्येऽभिमतम् ? न तावत् सर्वस्मिन्नेव कार्ये; सत्प्रतिपक्षहेत्वोर्भिन्नविषयबुद्ध्यादिजनकतया सर्वकार्ये समशक्तिकताया असम्भवात् ।

इससे 'सव्यभिचार अनैकान्तिक है' यह लक्षण खण्डित जानना चाहिए, कारण उक्त प्रकारों से अधिक सव्यभिचार के प्रकारों का निर्वचन हो नहीं सकता और उक्त सभी प्रकार खण्डित ही हैं ।

सत्प्रतिपक्ष-लक्षण का खण्डन

अपिच—'असिद्ध-विरुद्ध-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्ट से अन्य हेत्वाभास अनैकान्तिक है' इस पूर्वोक्त लक्षण में 'हेत्वाभास' विशेषण से तो प्रमाण (सद्धेतु) का व्यवच्छेद होता है, किन्तु अन्य विशेषणों के व्यवच्छेद्य क्या हैं ? यदि कहें कि किसीका सत्प्रतिपक्ष तो किसीके अन्य (बाध आदि) व्यवच्छेद्य हैं, तो सत्प्रतिपक्ष ही क्या वस्तु है ? अर्थात् लक्षण न होने से वह अनिर्वचनीय है। फलतः व्यवच्छेद्य न होने से विशेषण व्यर्थ हैं ।

समर्थन—'जिस हेतु के साध्य का अभाव समान बल से युक्त प्रतिहेतु से बोधित हो, ऐसा जो हेतुत्वेन अभिमत हो वह सत्प्रतिपक्ष है' इस तरह उसका लक्षण कहा ही जा सकता है । खण्डन – यह ठीक नहीं है । देखिये—यहाँ बल क्या वस्तु है ? यदि कहें कि सामर्थ्य बल है, तो वह सामर्थ्य किस कार्य में है ? यदि कहें कि 'सब कार्यों में, तो वह युक्त नहीं । कारण सत्प्रतिपक्षित हेतु भिन्न-भिन्नविषयक स्वस्वसाध्यविषयक बुद्धि के जनक होने से सब कार्यों में समान शक्तिवाले नहीं हैं । यदि कहें

१. यहाँ 'बल' शब्द के दो अर्थ हैं—१. सामर्थ्य, जिसे मीमांसक 'शक्ति' कहते हैं और २. नैयायिकसम्मत योग्यता, जो पक्षसत्त्वादि रूप है । आरम्भ से सामर्थ्यरूप बल का खण्डन किया जा रहा है । आगे ही 'अथोच्यते' से नैयायिकसम्मत योग्यतारूप बल का खण्डन किया जायगा ।

नापि यत्र क्वचित् कार्ये; प्रकृतसाध्यं प्रति प्रतीयमानासिद्धत्वादिदोषेणापि प्रमेयत्वप्रतिपादनादौ समर्थेन प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षताप्रसक्त्या सर्वहेतूनां शक्य-करणसमहेत्वाभासत्वापत्तेः ।

नापि पूर्वहेतुसाध्याभावबोधनरूपे कार्ये, उत्तरहेतोरेवमसत्प्रतिपक्षत्वे स्वसाध्य-साधकतापत्तेः ।

प्रतिहेतोरिति चेन्न । तत्प्रतिहेतोरसामर्थ्यादेव समशक्तिकत्वानुपपत्तेः । इत्थमेव न हेतुसाध्यस्य विपर्ययबोधनेऽपि ।

अथोच्यते—स्वकीये स्वकीये प्रकृतसाध्ये यत् सामर्थ्यं पक्षसपक्षसत्त्वविपक्ष-व्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वलक्षणं तत् सत्प्रतिपक्षहेत्वोस्तुल्यम् । तदभिप्रायेणेदं सम-बलाभिधानम् । तेनेदमुक्तं भवति—पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वै-स्तुल्येन बोधितसाध्यव्यतिरेकः सत्प्रतिपक्ष इति ।

कि जिस किसी कार्य में समानबल युक्त हों, तो प्रकृत साध्य के प्रति असिद्धत्व आदि दोष ज्ञात होने पर भी प्रमेयत्व-साधन में समान बल से युक्त प्रतिहेतु में भी सत्प्रति-पक्षत्व अतिव्याप्त होने से सभी हेतु सत्प्रतिपक्षित होने लगेंगे ।

समर्थन—'पूर्व हेतु का जो साध्य, उसके अभावरूप कार्य में समान बल से युक्त उत्तर हेतु से बोधित है, साध्याभाव जिस पूर्व हेतु का, वह सत्प्रतिपक्ष है' ऐसा कहेंगे । *खण्डन*—फिर तो उत्तर हेतु असत्प्रतिपक्षित होने से वह अपने साध्य का साधक होने लगेगा ।

समर्थन—'प्रतिहेतु का जो साध्य, उसके अभावरूप कार्य में समान बलयुक्त हेतु से जिस हेतु का साध्यविपर्यय बोधित हो, वह प्रतिहेतु सत्प्रतिपक्ष है ।' पूर्व और उत्तर दोनों हेतु हैं तथा दोनों परस्पर प्रतिहेतु हैं, अतः उत्तर हेतु भी सत्प्रतिपक्षित हो जाता है । *खण्डन*—सत्प्रतिपक्ष स्थल में दोनों हेतुओं के परस्पर साध्याभावबोधनरूप कार्य व्यवस्थित हैं, अतः एक कार्य में दोनों का समान बल नहीं है । इसी प्रकार 'हेतु का जो साध्य, उसके अभाव के बोधनरूप कार्य में समान बलयुक्त प्रतिहेतु से बोधित है साध्य-विपर्यय जिसका, वह हेतु सत्प्रतिपक्ष है' यह लक्षण भी खण्डित जानना चाहिए ।

समर्थन—अपने-अपने प्रकृत साध्यरूप कार्य में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व और अबाधितत्वरूप जो सामर्थ्य है, वह दोनों हेतुओं में तुल्य है, इसी अभिप्राय से समबलत्व का अभिधान किया गया है । इससे यह निष्कृष्ट लक्षण हुआ कि 'पक्षसपक्ष-सत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्व-अबाधितत्वरूप बल जिनका तुल्य हो, ऐसे हेतुओं से बोधित हैं साध्यविपर्यय जिनके, वे हेतु सत्प्रतिपक्ष हैं ।'

नैतदपि युक्तम्; प्रतीयमानभागासिद्धत्वेनापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात्। कियत्यपि पक्षे सत्त्वेन तस्य पक्षसत्त्वभावात्। न चेष्टव्यमेव भागासिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षत्वम्, प्रतीयमानदोषान्तरेणापि; तथा सति सत्प्रतिपक्षत्वस्यैष्टव्यत्वापत्तेः, हेत्वाभासान्तरत्वाविशेषात्।

न च सर्वपक्ष इति कृते नायं दोष इति वाच्यम्; यत्रैक एव पक्षः प्रतिहेतौ तस्य सत्प्रतिपक्षस्याव्यापनात्। तत्र पक्षस्य सर्वशब्दार्थत्वाभावादेव सर्वपक्षसत्त्वाभावेनोक्तलक्षणानुपपत्तेः। एतेन—यावदित्यपि पक्षविशेषणे दोष उक्तप्रायः।

किञ्च—अन्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकिणा, केवलव्यतिरेकिणश्चान्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे लक्षणमिदं नास्ति, सपक्षसत्तया तुल्यतायास्तत्राभावात्।

खण्डन—यह भी युक्त नहीं, क्योंकि 'परमाण्वाकाशौ नित्यौ नीरूपद्रव्यत्वात् आत्मवत्' इसका 'परमाण्वाकाशौ अनित्यौ भूतमहत्त्वात् घटवत्' इससे [जहाँ भागासिद्धि ज्ञात है, वहाँ भी] सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा। कारण किसी एक पक्ष में रहने से इस भागासिद्ध हेतु में पक्षसत्त्व तो है, किन्तु भागासिद्धत्व प्रतीयमान होने से उसमें सत्प्रतिपक्षत्व इष्ट नहीं है। अन्यथा जहाँ अन्य दोष प्रतीयमान हों, वहाँ भी हेतु में सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा, कारण अन्य हेत्वाभासों से भागासिद्ध में कोई विशेष नहीं है।

समर्थन—'सर्वपक्षसपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्व-अबाधितत्वरूप समान बलयुक्त हेतु से बोधित है, साध्यविपर्यय जिसका, वह सत्प्रतिपक्ष है' इस प्रकार पक्ष में 'सर्व' विशेषण देने से ज्ञात भागासिद्ध स्थल में यह अतिव्याप्ति (सत्प्रतिपक्षत्व) नहीं होगी। *खण्डन*—जहाँ एक ही पक्ष है—जैसे 'आकाशं नित्यं नीरूपद्रव्यत्वात् आत्मवत्', 'आकाशम् अनित्यम् बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषणगुणाधिकरणत्वात्'—वहाँ अव्याप्ति हो जायगी। इसी तरह पक्ष में यावत्त्व विशेषण दें, तो जो दोष होगा, वह उक्तप्राय ही है। अर्थात् 'सर्व' पद की तरह 'यावत्' पद भी अनेकार्थवाची होने से यही दोष बना रहेगा।

किञ्च—'आत्मा स्वव्यवहारहेतुप्रकाशः अदृष्टत्वात् घटवत्' इस केवलव्यतिरेकी से 'आत्मा प्रत्यक्षः महत्त्वे सति अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात् घटवत्' इस अन्वयव्यतिरेकी का सत्प्रतिपक्षत्व तथा 'विवादाध्यासितं चित्कर्तृकं सावयवत्वात्' इस केवलव्यतिरेकी का 'विवादाध्यासितम्, अकर्तृकम्, शरीराजन्यत्वात्; आत्मवत्' इस अन्वयव्यतिरेकी से सत्प्रतिपक्षत्व नहीं होगा, कारण वहाँ सपक्षसत्त्वरूप तुल्यबलत्व नहीं है। केवलव्यतिरेकी हेतु का सपक्ष न होने से वह सपक्षसत्त्व में अन्वय-व्यतिरेकी प्रतिहेतु से हीनबल हो जायगा।

न च सपक्षसत्तया तुल्येनेति लक्षणे तदनुरोधान्न कर्तव्यमेव; तथा सति असाधारणानैकान्तिकतया निश्चितेनापि सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात् ।

न चान्वयव्यतिरेकिणैव अन्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकिणैव केवलव्यतिरेकिणः सत्प्रतिपक्षता, न व्यत्यासेनापीति नियमोऽभ्युपगन्तुं शक्यः ; उभयोरपि अनवगम्यमानदोषान्तरत्वदशायाम् 'एकसम्बन्धिनो दोषस्यावश्यम्भावितया एकतरस्य व्याप्यत्वपक्षधर्मत्वावगमो मे भ्रान्तिरि'ति बुद्धिमादाय प्रतिपत्तुर्निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धमाधातुं केवलव्यतिरेकिणि अन्वयव्यतिरेकिणोऽन्वयव्यतिरेकिणि च केवलव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोः सामर्थ्यस्य दुरपवादत्वात् । एतदेव च सत्प्रति-

समर्थन– उक्त स्थल में अव्याप्ति न हो, इसलिए सपक्षसत्त्व का लक्षण में निवेश ही नहीं करेंगे । *खंडन*— सपक्षसत्त्व का निवेश न करने पर 'शब्दोऽनित्य: कार्यत्वात्' यहाँ कार्यत्व-हेतु में 'शब्दो नित्यः आकाशविशेषगुणत्वात्' इससे असाधारणत्व के ज्ञानकाल में भी सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा; कारण पक्ष-सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व, अबाधितविषयस्वरूप बल दोनों में तुल्य ही है ।

समर्थन—हम यह कहेंगे कि अन्वय-व्यतिरेकी के साथ अन्वय व्यतिरेकी की और केवल-व्यतिरेकी के साथ केवल-व्यतिरेकी को ही सत्प्रतिपक्षता है, इसके विपरीत नहीं । एवञ्च सपक्षसत्त्व पद न देने पर भी पूर्वोक्त असाधारण में अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—अन्वय-व्यतिरेकी में केवल-व्यतिरेकी प्रतिहेतु की निश्चयोत्पत्ति (अनुमिति)-प्रतिबन्धकता की सामर्थ्य या केवल-व्यतिरेकी में अन्वय-व्यतिरेकी प्रतिहेतु की निश्चयोत्पत्ति (अनुमिति)-प्रतिबन्धकता की सामर्थ्य का आप अपवाद (खण्डन) नहीं कर सकते । कारण वैसे दोनों हेतुओं के बीच एकमें असिद्ध्यादि दोष का ज्ञान हो, तो दूसरा सद्धेतु हो ही जायगा । किन्तु जहाँ दोनों में कोई दोष ज्ञात न हो, उस समय भी ऐसे हेतु यह बुद्धि उत्पन्नकर स्थापनावादी की निश्चयोत्पत्ति (अनुमिति) रोक ही सकते हैं कि 'इन दोनों हेतुओं के बीच एक में दोष अवश्यम्भावी होने से उनमें से एक को व्याप्ति-पक्षधर्मतायुक्त मानना मेरी भ्रान्ति ही है ।' यदि कहें कि इस तरह अन्वय-व्यतिरेकी और केवल-व्यतिरेकी प्रतिहेतुओं में परस्पर निश्चयप्रतिबन्धकता तो मान लेंगे, पर उनमें सत्प्रतिपक्षता क्यों मानी जाय, तो वह भी ठीक नहीं । कारण सत्प्रतिपक्ष को दोष मानने का यही मूल है कि समान बलवाले प्रतिहेतु होने पर

पक्षत्वस्य दोषत्वाभ्युपगमे मूलं यन्नाम व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिरस्मिन् सति न भवितुमर्हतीति ।

अथाभिधत्से—पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वयोगिना बोधितसाध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्ष इति । न ; निरस्तप्रायत्वात् पक्षपदे सर्वशब्दविशेषणप्रक्षेपाप्रक्षेपपक्षोक्तदोषस्य केवलव्यतिरेक्यव्यापकत्वस्यापि भावात् ।

किञ्च—सोपाधिमसिद्धभेदं वदतां मते सोपाधितया निश्चीयमानेऽपि सर्वं यथोक्तमिदं लक्षणमस्तीति तेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यात् ।

अथ ब्रूषे— असिद्धविरुद्धानैकान्तिकबाधितविषयत्वहीनेन बोधितसाध्यासत्त्वः प्रकरणसम इति । नैतदपि सुस्थम् ; आपाततोऽस्फुरद्दोषेण वस्तुगत्या बासिद्ध्यादिदोषवता सत्प्रतिपक्षतास्वीकारात् तदव्यापकत्वात् ।

किञ्च—विरुद्धार्थगोचरयोः सत्प्रतिपक्षहेत्वोर्मध्येऽवश्यमन्यतरासिद्ध्यादिदोषेण

व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रमिति नहीं होती और यही बात इन विधर्मी प्रतिहेतुओं में भी है। अन्यथा कहीं सत्प्रतिपक्षता ही नहीं हो सकेगी।

समर्थन—'पक्ष-सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व, अबाधितविषयत्व से योगी (ज्ञायमान) हेतु से बोधित है साध्य-विपर्यय जिसका, वह सत्प्रतिपक्ष है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—यह लक्षण प्रायः पहले ही खण्डित हो चुका है। देखिये—पक्ष में 'सर्व' विशेषण न दें, तो प्रतीयमान भागासिद्ध से भी सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा। यदि 'सर्व' विशेषण दें, तो जहाँ एक व्यक्ति पक्ष है, वहाँ अव्याप्ति हो जायगी।

किंच—जो आचार्य सोपाधिक हेतु को असिद्ध का भेद मानते हैं, उनके मत में सोपाधित्वरूप से निश्चित हेतु से भी सत्प्रतिपक्षता हो जायगी, कारण वहाँ भी उक्त लक्षण समन्वित हो जाता है।

समर्थन—'असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनैकान्तिकत्व, बाधितविषयत्व से हीन हेतु से बोधित है साध्यविपर्यय जिसका, वह सत्प्रतिपक्ष है' ऐसा लक्षण करेंगे। **खंडन**—यह भी निर्दोष नहीं है, कारण यदि वास्तविक असिद्धत्वादिहीन कहें, तो आपाततः जहाँ दोष का स्फुरण नहीं है पर वस्तुतः असिद्धि आदि दोष हैं, उस हेतु में भी सत्प्रतिपक्षत्व होता है। किन्तु वहाँ यह लक्षण अव्याप्त हो जायगा, क्योंकि वह हेतु वस्तुतः असिद्धि आदि से हीन नहीं है।

यदि असिद्धत्वादि-दुष्टत्वप्रतीति से रहित कहें, तो विरुद्धार्थसाधक सत्प्रतिपक्ष स्थल के दो हेतुओं के बीच एक में अवश्य ही असिद्ध्यादि होंगे। अन्यथा (यदि

भवितव्यम् ; अन्यथा धर्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गात्। तत्रैकस्य व्यवच्छिद्य दोषा-निश्चयात् प्रतिहेतावप्यसिद्ध्यादिदोषाशङ्कायामापतितायाम् 'असिद्ध्यादिहीनेने'ति-लक्षणांशस्यानिश्चयात् लक्षणस्य दुरवधारणत्वम् ।

न च वाच्यं किमर्थं सत्प्रतिपक्षहेत्वोरन्यतरासिद्ध्यादिकमवश्यमभ्युपेयम्, सत्प्रतिपक्षलक्षणदोषदुष्टत्वादेव तयोर्न धर्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यस्तत्वमापत्स्यत इति। यतोऽवश्यं दुष्टे हेतौ व्याप्तेः पक्षधर्मताया वाऽभावेन भवितव्यम्, तत्सत्ताभ्युपगमे साध्यसत्ताया अभ्युपगमप्रसङ्गात् ।

बाधादीनामप्युपाधिख्यापनद्वारा व्याप्त्यादिभङ्ग एव पर्यवसानात् ।

सत्प्रतिपक्षत्वादुन्नीयमानोऽपि व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गो न विशिष्यैकस्मिन् हेतौ

दोनों को सद्धेतु मानें तो) धर्मी में दो विरुद्ध धर्म मानने पड़ेंगे । इस तरह उनके मध्य एक में व्यवच्छेद्य असिद्ध्यादि दोषों का निश्चय होने पर प्रतिहेतु में भी असिद्धि की शङ्का होगी ही । अतः 'असिद्ध्यादिहीनेन' यह अंश असिद्ध होने से प्रायः कहीं भी लक्षण समन्वय नहीं होगा ।

समर्थन—सत्प्रतिपक्षित हेतुओं के मध्य किसी एक में असिद्ध्यादि दोष क्यों माने जायँ ? सत्प्रतिपक्षरूप दोष होने से ही धर्मी में दो धर्मों के अध्यास की आपत्ति न आयेगी । *खण्डन*—दुष्ट हेतु में व्याप्ति या पक्षधर्मता का अभाव अवश्य रहता है, कारण यदि किसी हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों मानें, तो साध्य की सत्ता भी अवश्य माननी पड़ेगी । व्याप्य की सत्ता होने पर व्यापक की सत्ता अवश्य माननी पड़ती है । एवञ्च सत्प्रतिपक्षमात्र से विरुद्धधर्माध्यास की आपत्ति से बच नहीं सकते । अतः वहाँ भी असिद्ध्यादि मानने ही पड़ेंगे, तो पुनः असम्भव है, यह भाव है ।

समर्थन—बाध में व्याप्ति और पक्षधर्मता के बीच किसी एक का भी भंग नहीं होता, वह तो साक्षात् अनुमिति का प्रतिबन्धक है । *खंडन*—बाध का भी उपाधि (पक्षेतरत्व आदि) के बोधन द्वारा व्याप्तिभङ्ग में ही तात्पर्य है । व्याप्त्यादिभंग-निरपेक्षतया दोषत्व नहीं है ।

समर्थन—जहाँ व्याप्ति-पक्षधर्मता अन्यतर के भंग का निश्चय होगा, तो हेतु हीन-बल हो जायगा । तथाच वहाँ सत्प्रतिपक्ष कैसे हो सकेगा ? *खंडन*—सत्प्रतिपक्षत्व से अनुमीयमान भी व्याप्तिपक्षधर्मता का अभाव किसी एक हेतु में विशेषरूप से निश्चित नहीं किया जा सकता, और न उसकी आवश्यकता ही है । कारण अन्यतर

निर्णेतुं शक्यः, अन्यतरस्मिन् व्याप्त्यादिभङ्गेनापि सत्प्रतिपक्षत्वस्योपपत्तेः। अतो विशेषनिष्ठतया तदुन्नयने स्थिते यदि साक्षादसौ अवधार्यते तदानीमसिद्धिः। अथ लिङ्गतोऽनुमीयते, तदाऽनैकान्तिकादेरन्यतमं दूषणं वस्तुगत्याऽस्ति सत्प्रतिपक्षे। तत्कथमसिद्ध्याद्यन्यतमं नाभ्युपेयं तत्र। तस्मात्तस्य तस्य दोषस्य कुत्र द्वयोर्मध्येऽस्तित्वमस्तीत्यन्यतरानिर्धारणे प्रतिहेतावपि तच्छङ्कायां सत्यामसिद्ध्यादि-हीनेनेति लक्षणांशस्य दुरवधारणत्वं दुष्परिहरमेव।

स्यादेतत्—अस्तु लक्षणांशस्यासिद्ध्यादिहीनत्वस्यानिश्चयः। संशयोऽपि तावदस्ति। तत्संशयेन शङ्कितसत्प्रतिपक्षतादोषग्रस्तत्वादेवासाधकत्वं दूष्यानुमानस्य शङ्कितोपाधाविव असिद्धिशङ्कया।

न च यामसिद्ध्यादिशङ्कामुपजीव्य सत्प्रतिपक्षादिशङ्कादोषः स्यात्, सैव तदा दोष इति वाच्यम्; असिद्ध्यादिशङ्काया एव तादृशप्रतिहेतुदर्शनमूलकतया तदुपजीवकत्वादिति।

मैवम्; यतः शङ्कितोपाधिनाऽसिद्धेनाप्येवं सत्प्रतिपक्षता प्रसज्येत।

में भी व्याप्ति-पक्षधर्मता के अभाव के ज्ञान से सत्प्रतिपक्षत्व की उपपत्ति हो जाती है। एवञ्च एक में दोष का उन्नयन स्थिर होने पर यदि साक्षात् दोष अध्यवसित हो, तो असिद्धि और यदि हेतु से अनुमित हो, तो अनैकान्तिक आदि दोष वस्तुतः सत्प्रतिपक्ष में हैं। फिर वहाँ असिद्ध्याद्यन्यतम क्यों न माने जायँ। तस्मात् वह दोष दोनों के मध्य कहाँ है, इसका निश्चय न होने से प्रतिहेतु में भी दोष की शङ्का होगी और इसीलिए 'असिद्ध्यादिहीनेन' इस लक्षणांश की दुरवधार्यता अपरिहार्य ही हो जायगी।

समर्थन—भले ही 'असिद्ध्यादिहीन' इस लक्षणांश का निश्चय न रहे, उससे हानि क्या है ? असिद्ध्यादि की शंका (सन्देह) तो है ही, उसीसे शङ्कित (सन्दिग्ध) सत्प्रतिपक्षत्वरूप दोष से ग्रस्त होने से ही दूष्य अनुमान असाधक हो जायगा, जैसे कि व्याप्यत्वासिद्धि की शङ्का से शङ्कित उपाधि दूषक होती है।

यदि कहें कि 'जिस असिद्धि की शङ्का से सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का होती है, उस असिद्धि के सन्देह को ही दोष मानिये, सत्प्रतिपक्ष को दोषान्तर क्यों मानते हैं', तो वह ठीक नहीं। कारण असिद्धि की शङ्का प्रतिहेतु के दर्शन से ही होती है। अतः उपजीव्य होने से सत्प्रतिपक्ष में ही दोषत्व मानना ठीक होगा।

खण्डन—जहाँ उपाधि की शङ्का से असिद्धि की शङ्का होती है, वहाँ भी शङ्कित सत्प्रतिपक्ष हो जायगा।

ननु भवत्वेवमपि, तेन किन्नाम भवेत् ? तस्यासिद्धतया हीनबलस्य सिद्ध्यादिमता पक्षबाधं विधूय न किञ्चिदन्यत् ।

बाधादेव तर्हि न तेन सत्प्रतिपक्षतेति चेन्न । सन्दिह्यमानासिद्धतया सत्प्रतिपक्षहेतोरपि तर्हि कथं परहेत्वसाधकत्वप्रसाधकत्वं भविष्यति, हेत्वाभासत्वाविशेषात् ।

हेत्वाभासान्तरं न दोषसंशयापादकमतो नैवमिति चेन्न । तर्हि यमुपाधिमादाय न्यूनबलतया बाध्यता, तामादायैव तथाविधोपाभेदोषसंशयक्षमत्वादेव ।

किञ्च—क्वचित्सत्प्रतिपक्षत्वनिश्चयाभावे संशयानुपपत्तिः ।

समर्थन—निश्चित उपाधिस्थल में भले ही सत्प्रतिपक्ष न हो, किन्तु शङ्कित उपाधिस्थल में तो वह (सत्प्रतिपक्ष) इष्ट ही है; उसमें क्या हानि है ? *खण्डन*—वहाँ प्रतिहेतु में उपाधि की शङ्का से असिद्धि की शङ्का होती है । अतः हीनबल होने से उसके पक्ष का, सिद्धि होने के कारण बलवान् स्थापनानुमान से, बाध हो जायगा । एवञ्च असमबल होने से वहाँ सत्प्रतिपक्षत्व नहीं हो सकता ।

समर्थन—तब तो शङ्कित उपाधिस्थल में बाध होने से ही सत्प्रतिपक्ष की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती । *खण्डन*—यदि आप ऐसा कहें, तो जहाँ प्रतिहेतु के दर्शन से असिद्धि की शङ्का होती है, वहाँ भी हीनबल होने से प्रतिहेतु से स्थापनानुमान के हेतु में असाधकत्व का साधन नहीं होगा, कारण उपाधि की शङ्का से जहाँ हेतु में असिद्धि की शङ्का हुई ।' उससे और जहाँ प्रतिहेतु के दर्शन से असिद्धि की शङ्का हुई है, उस हेतु के हेत्वाभासत्व में कोई विशेष नहीं है ।

समर्थन—शङ्कित उपाधि से सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का नहीं होती और प्रतिहेतु के दर्शन से ज्ञात असिद्धि की शङ्का से सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का होती है । अतः उस स्थल में शङ्कित सत्प्रतिपक्ष माना जाता है । *खण्डन*—उपाधि के शङ्कास्थल में असिद्धि की शङ्का तो अवश्य मानेंगे । फिर वहाँ सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का नहीं होती और प्रतिहेतु दर्शन से ज्ञात असिद्धि के शङ्कास्थल में वह होती है, इसमें कोई विशेष कारण नहीं है ।

किञ्च—किसी स्थल में सत्प्रतिपक्षत्व का निश्चय हो, तो अन्यत्र शङ्कित सत्प्रतिपक्ष से भी व्यवहार हो सकता है । किन्तु उक्त प्रकार से जब कहीं भी असिद्ध्यादिहीनत्व का निश्चय नहीं है, तो असिद्ध्यादि की शङ्का से सत्प्रतिपक्षत्व की शङ्का कैसे होगी ?

अथान्यथाकारं लक्षणमभिधत्से—असिद्धविरोधव्यभिचारकालात्ययापदेश-विरहितया प्रतीयमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः, स प्रकरणसम इति। एतदपि विचारासहम्; केन तथा प्रतीयमानत्वमभिमतं किं प्रत्यनुमानप्रयोक्त्रा, अथ प्रथमानुमानवादिना, द्वाभ्यामपि वा, येन केनचिद्वा?

न तावदाद्यः; स्वयं दोषं जानतोऽपि दूषणान्तरापरिस्फूर्तौ यद्ययं दोषं न प्रतिसन्धास्यति तदाऽभीष्टमेव। अथ प्रतिसन्धास्यति तदानीमन्यथाऽपि ममास्फुरद्दोषान्तरस्य पराजये अनेन कक्षान्तरारूढायां कथायां शाखान्तरं वा सङ्क्रमितुमवकाशमासादयिष्यामीत्यभिप्रायवतोऽल्पप्रज्ञस्य, मयि वदत्यसत्पक्षोऽपि निर्वहतीति लोके प्रकर्षदर्शनार्थम्, कथमपि ग्रन्थकारादिभिरुक्तस्य वा तथाविधप्रतिहेतोर्निर्वाहार्थमन्यानुयुक्तस्य प्रौढप्रज्ञस्य स्फुरद्दोषेणापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षीकरणदर्शनात्। तत्र परेण दोषानुद्भावने जयस्यापि भावात्।

समर्थन –'असिद्धि, विरोध, व्यभिचार, कालात्ययापदेश से रहितस्वरूप से ज्ञायमान जो हेतु, उससे जिस हेतु के साध्य का अभाव बोधित है, वह प्रकरणसम है' ऐसा लक्षणान्तर करेंगे। *खंडन*—यह कथन भी विचारसह नहीं है। देखिये—अन्ततः किससे प्रतीयमानत्व कहेंगे? क्या प्रति-अनुमानप्रयोक्ता से, प्रथम अनुमानप्रयोक्ता से, दोनों से या जिस किसीसे?

इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है; कारण जब वादी-प्रयुक्त हेतु में असिद्धि आदि दोषों की स्फूर्ति नहीं होती, तब अल्पज्ञ पण्डित सदोष हेतु से भी इस आशय से सत्प्रतिपक्ष देते हैं कि 'यदि वादी को दोषस्फूर्ति न हुई, तो निश्चय ही विजय होगी और यदि हुई, तो भी द्वितीय कक्षा में पराजय होगी या शाखान्तर के अवलम्बन का अवसर मिलेगा, जब कि सदोष हेतु सत्प्रतिपक्ष से न दें, तो इसी कक्षा में पराजय होती है। इतना ही नहीं, विशेषज्ञ भी जगत् में अपनी यह अतिशयता प्रकट करने के लिए सदोष हेतु से भी सत्प्रतिपक्ष देते हैं कि हमारे कहने पर असत्पक्ष का भी निर्वाह हो जाता है, तो सत्पक्ष की बात ही क्या है। किंवा 'ग्रन्थकार या गुरुओं द्वारा प्रयुक्त स्फुट दोष प्रतिहेतुका निर्वाह कैसे हो?' इस प्रकार शिष्य या वादी द्वारा पूछे जाने पर उसके निर्वाहार्थ भी प्रौढमति सदोष हेतु से सत्प्रतिपक्ष दे ही सकता है। वैसी स्थिति में प्रतिपक्षी को उसमें दोषस्फूर्ति न हो, तो विजय भी संभाव्य हो जाती है अर्थात् एकान्त पराजय की अपेक्षा विजय-संशय ही अच्छा है।

किञ्च—प्रतीयमानता यदि निश्चीयमानता विवक्षिता, तदानीमसम्भव एव; यतो विरुद्धार्थयोरेकस्यावश्यं दोषः, स च कस्यास्त्विति तदा निर्धारयितुमशक्यतया प्रतिहेतावपि तत्संशयात् । अथ सम्भावना प्रतीयमानता, तत्रोद्भावनसम्भावनां दूषयन्तो यद्वक्ष्यामस्तदेव दूषणमतिदेष्टव्यम् ।

नापि द्वितीयतृतीयचतुर्थाः ; परबुद्धेरवधारणतया परस्यासिद्ध्यादिविरहित्वबुद्धिरत्र भविष्यतीत्यग्रेऽवधारयितुं प्रमाणाभावेनाशक्यत्वात् कथं सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञाय व्युत्पादयेत् । शङ्कान्तरश्चात्र निरसिष्यामः ।

एतेन—असिद्धिविरोधकालात्ययापदेशव्यभिचारवत्तया व्याप्तिपक्षधर्मताविरहवत्तया वाऽगृह्यमाणेन बोधितसाध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्ष इति निरस्तम् । केनागृह्यमाणत्वमिति निर्वक्तुमशक्यत्वात् ।

किञ्च—यदि प्रतीति को निश्चयरूप कहें, तो असम्भव हो जायगा, कारण विरुद्ध अर्थ के साधक दो हेतुओं में से एक हेतु में अवश्य दोष रहता है, पर वह किसमें है, इसका निश्चय उस काल में नहीं रहता; अतः प्रतिहेतु में दोष का संशय ही रहता है। यदि 'प्रतीति' से सम्भावना का ग्रहण करें, तो हम उद्भावना की सम्भावना के खण्डन के प्रस्ताव में जो दोष देंगे, यहाँ भी उन्हीं दोषों को जानना चाहिए। अर्थात् यदि संभावना दोषोद्भावन से पूर्वकालिकी विवक्षित हो, तो बाद में प्रतिहेतु-दोष कहने पर भी पूर्वकालिक अनुद्भावना में कोई प्रतिबन्ध नहीं। अतः सभी हेत्वाभास सत्प्रतिपक्ष हो जायँगे। यदि उद्भावना का जो अवसर हो, तात्कालिकी संभावना विवक्षित हो, तो सत्प्रतिपक्षादि के उत्पादन-काल में वह नहीं है। एवञ्च विशेषण के अभाव से ही लक्षण का अभाव हो जायगा, यह भाव है।

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ कल्प भी युक्त नहीं हैं, कारण दूसरे को पर की बुद्धि का अवधारण न होने से, 'पर की असिद्ध्यादिरहितत्व बुद्धि यहाँ होगी' इस अवधारण में कुछ प्रमाण नहीं। अतः वह सत्प्रतिपक्ष की प्रतिज्ञा कर उसका व्युत्पादन कैसे करेगा? इस लक्षण की अन्य शङ्काओं का निरास आगे करेंगे।

समर्थन—'असिद्ध, विरोध, कालात्ययापदेश और व्यभिचार से युक्तत्व रूप से तथा व्याप्तिपक्षधर्मता-विरहितत्वरूप से अगृह्यमाण प्रतिहेतु से बोधित है साध्य-विपर्यय जिस हेतु का, वह सत्प्रतिपक्ष है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—यह लक्षण भी खण्डित है, कारण इस लक्षण में 'किससे अगृह्यमाण हो? इत्यादि विकल्पक पूर्वोक्त दोष विद्यमान ही हैं।

किञ्च—सर्वेषामेवैषां लक्षणानां धर्म्यादिग्राहकानुमानबाधितेऽपि गतत्वादतिव्यापकत्वम् ।

एतेन—स्वार्थानुमाने तदाभासेऽपि वा सत्प्रतिपक्षस्य दोषत्वमपोढम् ।

अथोच्यते—अगृह्यमाणविशेषेण बोधितसाध्यविपर्ययः प्रकरणसम इति । अस्तु तावत् केनागृह्यमाणत्वमित्यादिविकल्पदोषाभिधानम् ।

यदि यः कश्चिद्विशेषो विशेषशब्देनाभिप्रेतस्तदा तदग्रहणं क्वचिदपि नास्तीति सर्वाव्याप्तिः । अथ हेतुदोषलक्षणो विशेषोऽभिमतस्तदा धर्म्यादिग्राहकानुमानबाधितेऽपि गतत्वादतिव्यापकता, अगृह्यमाणहेतुदोषरूपविशेषेण बोधितसाध्यविपर्ययत्वात्तस्यापि, तत्र हेतुदोषस्याभावादेवागृह्यमाणविशेषत्वात् ।

न च अगृह्यमाणपरमार्थस्थितहेतुदोषरूपविशेषेणेति कृते निस्तारः; तथा

किञ्च—इन सभी लक्षणों की धर्मिग्राहक मान से बाधित हेतु में अतिव्याप्ति है, देखिये—'परमाणुः निरवयवः विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावत्वात् व्योमवत्' इस अनुमान में 'परमाणुः सावयवः मूर्तत्वात् घटवत्' इस अनुमान से सत्प्रतिपक्ष हो जायगा। कारण उक्त हेतु परमाणुरूप धर्मी के ग्राहक 'अणुपरिमाणतरतमभावः क्वचिद्विश्रान्तः, परिमाणतरतमादिभावत्वात्, महत्परिमाणतरतमादिभाववत्' इस अनुमान से बाधित होने से वास्तव में सत्प्रतिपक्षित नहीं है । इससे 'स्वार्थानुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष है और वहाँ स्व से दोष अगृहीत है, अतः 'केन प्रतीयमानत्वम्' इत्यादि विकल्पोक्त दोष नहीं हैं,' यह कथन भी खण्डित हो जाता है। कारण उस दोष के न होने पर भी धर्मिग्राहक प्रमाण से बाधित अनुमानस्थलीय यह दोष तदवस्थ ही है ।

समर्थन—'अगृह्यमाण है विशेष जिसका, ऐसे हेतु से बोधित है साध्यविपर्यय जिसका, वह हेतु प्रकरणसम है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खंडन*—इस लक्षण में भी 'केन अगृह्यमाणत्वम्' इत्यादि विकल्पोक्त दोष हैं ही ।

किंच—विशेष से यदि यत्किंचित् विशेष का ग्रहण करें, तो यत्-किंचित् विशेष सर्वत्र गृहीत है, अतः अगृह्यमाणत्व न होने से सर्वत्र असम्भव हो जायगा। यदि हेतु-दोष लक्षण-विशेष का ग्रहण करें, तो धर्मिग्राहक अनुमान से बाधित में अतिव्याप्ति हो जायगी । कारण वहाँ भी अगृह्यमाण है, विशेष जिसका ऐसे हेतु से बोधित साध्यविपर्यय है ही; हेतु में दोष न होने से ही दोष अगृहीत है ।

समर्थन—'अगृह्यमाण है परमार्थतः स्थित हेतुदोषरूप विशेष जिसका, ऐसे हेतु से जिसका साध्यविपर्यय बोधित है, वह प्रकरणसम है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—

सति सत्प्रतिपक्षहेतुकः सत्प्रतिपक्षो न व्याप्यते। परमार्थतस्तिष्ठतीति च दर्शनीयम्, न च ज्ञेयमिति च महती प्रज्ञा।

न चागृह्यमाणहेतुदोषहेतुगुणरूपविशेषेणेति विशेषणे विवक्षिते निस्तारः, व्यतिरेकिण्यन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे हेतुगुणरूपो विशेषः सपक्षसत्त्वलक्षणो गृह्यते इति तदव्यापकत्वापत्तेः।

अथ अगृह्यमाणव्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गरूपविशेषेणेति क्रियते, तदा प्रष्टव्यम्—किमपेक्ष्य विशेषत्वमिदमिष्टम्? यदि यत्किञ्चिदपेक्ष्य, तदा प्रसिद्धासिद्ध्यादिभावं हेत्वाभासमपेक्ष्य विशेषो गृह्यते सदनुमानात्मके प्रतिहेताविति तत्राव्यापकत्वम्।

अथ प्रकृतविरोधिनं हेतुमपेक्ष्य, तदा लक्षणवाक्यमीदृशं पर्यवस्यति—

ऐसा मानने पर सद्हेतु से सत्प्रतिपक्षस्थल में अव्याप्ति हो जायगी, कारण सद्हेतु में परमार्थतः दोष नहीं होता। किञ्च—इस हेतु में परमार्थतः दोष है, यह दिखाना पड़ेगा; फिर वह अगृह्यमाण कैसे रहेगा? अतः दोष परमार्थतः स्थित हो तथा अगृह्यमाण हो, यह आपका कथन बड़ी ही बुद्धिमानी का रहा!

समर्थन—'अगृह्यमाण है हेतु का दोषगुणरूप विशेष जिसका' इत्यादि विवक्षा से निर्वाह हो जायगा। *खंडन*—इस विवक्षा में 'आत्मा स्वव्यवहारहेतुप्रकाशः अदृष्टत्वात्' इस व्यतिरेकी में 'आत्मा प्रत्यक्षः महत्त्वे सति अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात्' इस अन्वय-व्यतिरेकी से सत्प्रतिपक्ष स्थल में सपक्षसत्त्वलक्षण हेतु का गुणरूप विशेष गृहीत है। अतः उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। प्रतिवादी स्वोक्त हेतु में सपक्षसत्त्व को न जानता हो, यह अशक्य है।

समर्थन—'अगृह्यमाण है व्याप्तिपक्षधर्मता (भाव-अभाव) रूप विशेष जिसका, ऐसे हेतु से बोधित है साध्यविपर्यय जिसका, वह सत्प्रतिपक्ष है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—इस लक्षण में यह प्रष्टव्य है कि किसकी अपेक्षा से विशेष अभिप्रेत है, यदि यत्किञ्चित् की अपेक्षा, तो यत्किञ्चित् की अपेक्षा विशेष सदनुमान में भी अगृहीत है, अतः वहाँ अव्याप्ति हो जायगी।

यदि प्रकृत हेतु की अपेक्षा कहें, तो लक्षण-वाक्य ऐसा हुआ—'व्याप्तिपक्षधर्मता भंग-अभंगरूप (भाव-अभावरूप) प्रकृत हेतु की अपेक्षा जिसका विशेष गृह्यमाण

१. सन् = निरवद्य- प्रतिपक्षः = प्रतिहेतुः सद्धेतुरित्यर्थः।

व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपः प्रकृतहेतुतो यस्य विशेषो न गृह्यते, तेन बोधितो यदीयसाध्यव्यतिरेकः स प्रकरणसम इति। ईदृशमप्येतद्वाक्यं व्याकारमर्हति। तथाहि—व्याप्तिपक्षधर्मतेति मिलितस्य भङ्गाभङ्गपदसम्बन्धे विवक्षिते प्रत्येकोदाहरणातिव्याप्तिः।

तद्भङ्गाभङ्गरूप इत्यस्य च मिलितस्य विशेषपदसम्बन्धेऽभिप्रेते सर्वथाऽसम्भवितया सर्वाव्याप्तिः।

अपि च एवमस्य वाक्यस्यार्थो वक्तव्यः—'व्याप्तिभङ्गरूपो व्याप्त्यभङ्गरूपः पक्षधर्मताभङ्गरूपः पक्षधर्मत्वाभङ्गरूपः प्रकृतहेतुतो विशेषो न गृह्यते यस्य तेन बोधितो यदीयसाध्यव्यतिरेकः स प्रकरणसमः।' तथा सति 'परमाणुर्निरवयवो विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावत्वात्, व्योमवदि'त्युक्ते 'परमाणुः सावयवो मूर्तत्वात् घटवदि'ति प्रत्युनुमानेन प्रतिवाद्युक्तेन परमाणुधर्मिग्राहिणोऽपि 'अणुपरिमाणतरतमादिभावः क्वचिद्विश्रान्तः परिमाणतरतमादिभावत्वात् महत्परिमाणतरतमादिभाववदि'त्यादेः सदनुमानतयेष्टस्य पक्षधर्मताबलेन तदीयनिरवयवत्वेऽपि प्रमाणतां गतस्य सत्प्रतिपक्षता स्यात्।

न हो, उससे बोधित है साध्यविपर्यय जिसका, वह सत्प्रतिपक्ष है।' अब इस वाक्य में यह विचारणीय है कि यदि व्याप्तिपक्षधर्मता-समुदाय का मिलित भङ्गाभङ्ग पद से सम्बन्ध करें, तो जहाँ केवल व्याप्ति का भङ्ग या केवल पक्षधर्मता का भङ्ग ही गृह्यमाण हो, वहाँ भी समुदाय का भङ्गाभङ्ग अगृह्यमाण होने से अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—मिलित भङ्गाभङ्गरूप समुदाय का विशेष पद से सम्बन्ध करें, तो एक हेतु में भावाभावरूप भङ्ग-अभङ्ग दोनों कहीं नहीं रहते, अतः सर्वत्र असम्भव हो जायगा।

अतएव यदि भङ्गाभङ्गरूप समुदाय का विशेष में सम्बन्ध न करें, तो ऐसा वाक्यार्थ-बोध होगा—'व्याप्तिभङ्गरूप या पक्षधमताभङ्गरूप व्याप्त्यभङ्गरूप या पक्षधर्मत्वाभङ्गरूप हेतु से जिस हेतु का विशेष गृह्यमाण न हो, उससे बोधित है साध्यविपर्यय जिसका, वह प्रकरणसम है।' ऐसा लक्षण होने पर 'परमाणुः निरवयवः विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावात् व्योमवत्' यह कहने पर प्रतिवादी द्वारा उक्त 'परमाणुः सावयवः मूर्तत्वाद् घटवत्' इस प्रत्यनुमान से परमाणुरूप धर्मी के ग्राहक, सदनुमानरूप से इष्ट तथा परमाणु की निरवयवता का प्रमापक 'अणुपरिमाणतरतमादिभावः क्वचिद्विश्रान्तः परिमाणतरतमादि-भावत्वात् महत्परिमाणतरतमादिभाववत्' यह अनुमान भी सत्प्रतिपक्षित हो जायगा।

यश्चास्य सदनुमानतां न मन्यते, तं प्रत्येवंप्रायाणि बहून्युदाहरणानि सन्तीति तेषु प्रसङ्गः ।

न च सोऽपि तथाऽस्त्येव ; तस्य धर्मिसिद्ध्यर्थमुपजीव्यत्वेन बलवत्त्वात् ।

तद्व्यवच्छेदार्थं स प्रकृतः प्रकरणसम इति कर्तव्यमिति चेत् ; तथाप्यनुपपत्तिः। अत्र हि यदि यस्य न गृह्यत इति सम्बन्धः, तेन यत्सम्बन्धितया न गृह्यत इत्यर्थो विवक्षितः तदाऽव्यापकत्वं दोषः । तथाहि—यत्र द्वयोरपि हेत्वोः परमार्थतः साधारणो व्याप्त्यादिभङ्गः सत्प्रतिपक्षदशायामगृह्यमाणस्तत्र नास्त्येतल्लक्षणम् । न हि तत्र व्याप्त्यादिभङ्गो विशेषः, अपि तु प्रकृतहेतुना सह साधारण एव ।

नन्वत्यन्तासतो व्याप्त्यादिभङ्गरूपस्य विशेषस्यापि तावत्तत्राग्रहणमस्ति, तदादायैव लक्षणं तद्व्यापि भविष्यति । तर्हि यत्र वादी स्वहेतुसाधारणं व्याप्तिभङ्गादिदोषं जानन् प्रतिहेतुनिष्ठतया परस्योद्भावयति, परश्च परिहर्तुं न शक्नोति

जो भट्ट आदि इसको सदनुमान ही मानते हैं, उनके मत में 'आकाशं विभु निःस्पर्शद्रव्यत्वात्' यह कहने पर 'आकाशं न विभु आत्मान्यविशेषगुणवत्त्वात्' इससे 'शब्दो भूतेन्द्रियग्राह्यो बहिर्द्रव्यत्वात्' इसे सत्प्रतिपक्षत्व हो जायगा । यहाँ आकाशरूपधर्मी का ग्राहक तृतीय अनुमान आकाश के विभुत्व में पर्यवसित है ।

यहाँ तृतीय अनुमान सत्प्रतिपक्षित ही है, ऐसी इष्टापत्ति नहीं कह सकते । कारण वह अनुमानरूप धर्मी की सिद्धि के लिए है, अतः उपजीव्य होने से प्रबल है ।

समर्थन—इस दोष के निवारणार्थ हेतु में प्रकृत (प्रथम) विशेषण देंगे । एवञ्च तृतीय में अव्याप्ति नहीं होगी । *खंडन*—फिर भी अनुपपत्ति है ही । यहाँ 'यदि विशेषो यस्य न गृह्यते' ऐसा अन्वय करें, तो 'विशेष यत्सम्बन्धित्वरूप से गृहीत न हो' यह अर्थ हुआ, तब अव्याप्ति दोष होगा । देखिये—जहाँ दोनों हेतुओं में वस्तुतः साधारण (व्याप्त्यादिभङ्गरूप) दोष है और सत्प्रतिपक्ष-दशा में वह अगृह्यमाण है, वहाँ इस लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । कारण व्याप्ति आदि का भङ्ग विशेष नहीं है, किन्तु दोनों हेतुओं के सम्बन्धी होने से साधारण (सामान्य) ही है । फिर जब विशेष नहीं है, तो हेतुसम्बन्धित्वरूप से ग्रहण किसका होगा ?

यदि कहें कि 'अत्यन्त असत् जो व्याप्त्यादिभङ्गरूप विशेष, उसका अग्रहण यहाँ है ही, अतः अव्याप्ति नहीं होगी' तो जहाँ व्याप्त्यादिभङ्गरूप दोष को वादी स्वहेतुसाधारण जानता हुआ, पर के प्रति प्रतिहेतुनिष्ठत्वरूप से उद्भावन करता है और प्रति-

तत्राप्येवं सत्प्रतिपक्षताऽक्षतैव स्यात्, यत उक्तरूपविशेषवत्तया तेनासौ न गृहीतः, उक्तरूपस्य समानतयैव तेन गृहीतत्वात् ।

तथापि प्रतिहेतुवादिना तावद्विशेषवत्तयैव गृहीतस्तस्य तत्साधारणभावास्फुरणात्, भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणस्य चात्र ग्रहणमात्रस्य विवक्षितत्वादिति चेन्न । प्रतिहेतुवाद्यभिप्रायेण अगृह्यमाणतापक्षस्य प्रागेव निरस्तत्वात् ।

किञ्च प्रतिहेतुवाद्यपि यदि साधारणतां तस्य दोषस्य तदैव पश्येत्तदा का गतिः?

यद्यसौ वादिहेतावपि दोषं पश्येत् तदा तमुद्भावयेत्; तथा सति च तत्रैव कथासङ्क्रमः स्यात् सत्प्रतिपक्षमुपेक्ष्येति चेन्न । यदि पश्यन्नपि प्रतिवादी तत्र दोषमेवं मन्त्रयेत्—'यदीदानीं सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञातां विहाय दोषान्तरमुद्भावयामि तदाऽपि प्रतिज्ञातत्यागान्मम भङ्गः । अथ नोद्भावयामि, तथापि प्रतिज्ञातदोषानिर्वाहान्मम पराजयः । 'तदेवं वृथा दोषान्तरव्युत्पादनायासः' इति परामृश्य तूष्णीमास्ते तदा का गतिः ?

पक्षी उसका परिहार करने में समर्थ नहीं है, वहाँ भी सत्प्रतिपक्षता हो जायगी । कारण व्याप्ति आदि के भङ्ग [सामान्यरूप से ग्रहण होने पर भी विशेषरूप से] अगृह्यमाण ही हैं ।

समर्थन—प्रतिवादी द्वारा विशेषरूप से ही व्याप्ति का भङ्ग गृहीत है, कारण वादी के हेतु में व्याप्तिभङ्ग की उसे स्फूर्ति नहीं है । लक्षण में भ्रान्ति-प्रमासाधारण-प्रतीतिमात्र का निवेश है । *खण्डन*—प्रतिहेतुवादी के अभिप्राय से अगृह्यमाणता-पक्ष का पहले खण्डन हो ही चुका है ।

किञ्च—प्रतिहेतुवादी भी यदि व्याप्त्यादि के भङ्गादि की उभयहेतुसाधारणता उसी काल में जान जाय, तो वहाँ क्या गति होगी ? अर्थात् वहाँ अतिव्याप्ति हो ही जायगी ।

समर्थन—यदि वह वादी के हेतु में भी दोष जान ले, तो सत्प्रतिपक्ष की उपेक्षा कर उस दोष का ही उद्भावन करेगा और सत्प्रतिपक्ष को छोड़कर उसीमें कथा का सङ्क्रम हो जायगा । *खंडन*—यदि दोष को देखता हुआ भी प्रतिवादी ऐसा ध्यान करे कि 'यदि उस काल में सत्प्रतिपक्षता की प्रतिज्ञा को त्यागकर अन्य दोष की उद्भावना करता हूँ, तो प्रतिज्ञा-त्याग नामक भङ्ग (पराजय) होता है । यदि उद्भावना नहीं करता, तो प्रतिज्ञात दोष का अनिर्वाह होने से मेरी पराजय होती है । तस्मात् 'दोषान्तर के उपन्यास में आयास व्यर्थ है,' ऐसा सोचकर चुप होकर बैठ जाय, तो क्या गति होगी ?

अथ यस्य विशेष इत्युक्तलक्षणवाक्ये पदसम्बन्धस्तवाभिमतः, तदा उक्तस्तावद्दोषो दोषान्तरं च स्यात्। व्याप्त्यभङ्गादेर्विरुद्धार्थहेत्वोः साधारणस्यासम्भवाद् विशेषपदेनाऽव्यवच्छेदकेन सह विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः।

अथोच्यते—व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहेत्वपेक्षविशेषवत्तया अनुद्भाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः स प्रकृतः सत्प्रतिपक्ष इति। तदपि नोपपन्नम्; यदि परः 'त्वदीयोऽयं प्रतिहेतुरित्थं भग्नव्याप्तिकः' इत्येवाभिधत्ते, न तु 'मद्धेतुतोऽयं विशेषः' इत्यपि ब्रूते, आभासान्तरत्वव्युत्पादनादेव प्रतिहेतोः सत्प्रतिपक्षताभङ्गात्, तदापीत्थं सत्प्रतिपक्षता न निवर्तेत। तथा सति च प्रतीयमानासिद्ध्यादिनाऽपि सत्प्रतिपक्षीकरणमिति साधु व्युत्पादितं सर्वानुमानानुकूलं स्यात्।

किञ्च—कस्मिन् काले तथाऽनुद्भाव्यमानत्वमपेक्षितम्? यदि यदा प्रतिहेतूद्भावनेन परहेतुं दूषयति प्रतिवादी तस्मिन् कालेऽनुद्भावनम्; तदा पश्चादुक्तेऽपि

और यदि 'यस्य विशेषः' (यत्सम्बन्धी विशेष) ऐसा उक्त लक्षण-वाक्य में पद-सम्बन्ध हो, तो भी प्रथम पक्ष में उक्त दोष तो है ही, अन्य भी दोष है। देखिये—व्याप्ति आदि के भङ्गादि (विरुद्ध अर्थ के साधक दो हेतुओं में) कहीं साधारण तो मिलेंगे ही नहीं। फिर विशेष पद अव्यवच्छेदक है, अतः भङ्गाभङ्ग के साथ विशेष पदार्थ विशेषणभाव से सम्बद्ध नहीं होगा।

समर्थन—'व्याप्तिपक्षधर्मता-भङ्गाभङ्ग जो प्रकृत हेत्वपेक्ष विशेष है, तादृशविशेषवत्त्व रूप से अनुद्भाव्यमान जो प्रतिहेतु, उससे बोधित है साध्यविपर्यय जिस हेतुका, वह सत्प्रतिपक्ष है' ऐसा लक्षण करेंगे। खंडन—यह भी लक्षण युक्त नहीं, कारण यदि प्रतिपक्षी कहे कि 'तुम्हारा हेतु इस प्रकार व्याप्तिरहित है' और 'मेरे हेतु से यह विशेष है' ऐसा न कहें—क्योंकि व्याप्तिभङ्ग कहने से ही प्रतिहेतु में सत्प्रतिपक्षत्व का भंग हो जाता है— तो वहाँ सत्प्रतिपक्षत्व नहीं है। पर उक्त लक्षण चला जाता है, अतः उक्त लक्षण की वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी। ऐसा मान लेने पर जिस हेतु में असिद्धादि प्रतीयमान भी हैं, उस हेतु से भी सत्प्रतिपक्षत्व हो सकेगा। अतः आपने बहुत सुन्दर कहा, आपका कथन अनुमितिमात्र के अनुकूल हुआ!

किञ्च—जिस काल में प्रतिहेतु का उद्भावन कर वादी परहेतु को दूषित करता है, यदि उस काल में विशेषवत्त्वरूप से उद्भावन अभिप्रेत है, तो जहाँ उस काल में प्रतिहेतु के दोष का उद्भावन नहीं है, किन्तु पश्चात् है, वहाँ भी पूर्वकालिक अनुद्भावन के वारण का कोई प्रतीकार नहीं है। अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। इसी

प्रतिहेतुदोषे पूर्वकालिकानुद्भावने प्रतीकारो न कश्चिदिति सर्वहेत्वाभासैः सत्प्रतिपक्षीकरणमदुष्टमिति गतमनुमानकथया ।

अथ प्रतिवादिनाऽभिहिते यदा पुनर्वादिवचनावसरस्तदाऽनुद्भावनमिष्टम्, तर्हि तत्कथमग्रे प्रत्यनुमानवादिनाऽवधारणीयमयमत्र विशेषतो दोषं नोद्भावयिष्यतीति ।

दोषशून्यत्वात् स्वकीयस्य प्रतिहेतोः समर्थस्तदवधारयितुं शक्नोतीति चेन्न । उक्तमत्र प्रतीतदोषेणाऽपि सत्प्रतिपक्षताकरणं सम्भवति, तत्र परेण दोषेऽनुद्भाविते विजयश्च भवतीति ।

किञ्च—विशेषदोषशून्यत्वमपि स्वकीयहेतोः कथमयमवधारयेत् ? विरुद्धार्थयोस्तावद्धेत्वोरेकस्यावश्यं दोषेण भाव्यम् । तत्र यथा तेन स्वहेतौ दोषो न दृश्यते तथा परहेतावपि । तद्दर्शने तमेवोद्भावयेत् । को हि सचेता निश्चितं दोषमुपेक्ष्य सदोषस्य निर्दोषसामान्येन प्रत्यवतिष्ठते । तस्मात् सदोषेऽपि दोषमपश्यन्नयं न स्वेनादर्शनं दोषाभावे प्रमाणयितुमर्हतीति ।

प्रकार स्फुट ज्ञात सभी हेत्वाभासों से सत्प्रतिपक्षत्व होने पर तो अनुमान की कथा ही नष्ट हो जायगी, अर्थात् सद्हेतु में भी व्यक्त हेत्वाभास से युक्त प्रतिहेतु से सत्प्रतिपक्ष दे सकते हैं ।

यदि कहें कि प्रतिवादी के कथन के बाद फिर जब वादी के वचन का अवसर हो, उस काल में उद्भावन अभिप्रेत है, तो आप यह बतायें कि पूर्वकाल में प्रतिवादी यह कैसे जानेगा कि यहाँ वादी दोष का उद्भावन नहीं करेगा ?

'अपने हेतु में दोष न होने से वादी इसमें दोषोद्भावन नहीं करेगा, यह निश्चय हो सकता है' यह कथन युक्त नहीं, कारण हम कह आये हैं कि सदोष हेतु से भी सत्प्रतिपक्षीकरण हो सकता है और पर यदि दोष का उद्भावन न करे, तो विजय भी होती है ।

किञ्च—विशेष दोष से शून्यत्व का भी अवधारण हेतु में कैसे करेगा, विरुद्धार्थ हेतुओं के बीच एक में दोष अवश्य है और प्रतिवादी जैसे अपने हेतु में दोष नहीं देखता, वैसे ही परहेतु में भी नहीं देखता । यदि वह परहेतु में भी दोष देखता, तो उसीका उद्भावन करता । कौन बुद्धिमान् पुरुष निश्चित दोष को छोड़कर निर्दोष के साम्य से सदोष का खण्डन करेगा ? तस्मात् सदोष में भी दोष को न देखता हुआ वह स्व के अदर्शन (अनुपलब्धि) को दोषाभाव में प्रमाण नहीं कर सकता ।

अथोच्यते—व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहेत्वपेक्ष विशेषवत्त्वेनानुद्भाव्यतया सम्भाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः स प्रकृतः प्रकरणसम इति, नैतदपि सुस्थम्; यद्युद्भावनकालात् पूर्वकालिकी सम्भावना विवक्षिता, तदा तात्कालिकानुद्भावनपक्षोक्त एव दोषोऽतिदेष्टव्यः।

अथोद्भावनस्य योऽवसरो भविष्यति तात्कालिकतया,तदा सत्प्रतिपक्षताव्युत्पादनकाले सा नास्तीति विशेषणाभावाल्लक्षणाभावः।

अथोच्यते—यावत्सम्भावनाऽनुवर्तते तावत्सत्प्रतिपक्षता, किं सम्भावनायाः कालनियमगवेषणेन। मैवम्; एवं हि प्रतिहेतोर्दोषेऽनुद्भाविते प्रत्युत निर्दोषतयैव स्वीकृते दोषोद्भावनसम्भावनाया निवृत्तेः सत्प्रतिपक्षता निवर्तते। तथा चेत्थङ्कार-

समर्थन—'व्याप्तिपक्षधर्मता-भङ्गअभङ्गरूप प्रकृतहेतु से जो विशेष है, तादृश विशेषवत्त्वेन अनुद्भाव्यमानत्व से सम्भाव्यमान जो हेतु उससे बोधित है साध्यविपर्यय जिसका, वह प्रकृत सत्प्रतिपक्ष है ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—यह भी युक्त नहीं, कारण यदि उद्भावन से पूर्वकालिक सम्भावना की अर्थात् जिस काल में प्रतिवादी प्रतिहेतु का उद्भावन करता है, उससे पूर्वकालिक संभावना का ग्रहण विवक्षित हो, तब जहाँ प्रतिहेतु के उद्भावनकाल में तो दोषोद्भावन की सम्भावना है नहीं; किन्तु फिर जब वादी के वचन का अवसर हुआ, उस काल में दोषोद्भावन की सम्भावना है, वहाँ भी पूर्वकालिक अनुद्भावन की सम्भावना होने से अतिव्याप्ति हो जायगी।

यदि कहें कि प्रतिहेतु के उपन्यास के बाद जब वादी के दोष के उद्भावन का अवसर हो, उस काल में दोषानुद्भावन की सम्भावना विवक्षित है, तो जहाँ स्थापनावादी से प्रतिहेतु को दूषित करने पर प्रतिवादी दोषों का उद्धार कर सत्प्रतिपक्षत्व को ही दृढ़ करे, वहाँ अनुद्भावन की सम्भावना न होने से लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—जबतक दोषानुद्भावन हो, तभीतक सत्प्रतिपक्षत्व रहता है अर्थात् जिस काल में प्रतिवादी वादी के दोषों का उद्धार कर सत्प्रतिपक्षत्व का दृढ़ीकरण करता है, उस काल में वह सत्प्रतिपक्ष ही नहीं है। फिर अव्याप्ति कहाँ होगी? किन्तु उस काल में वादी से उक्त दोषों का उद्धार कर निरनुयोज्यानुयोग रूप निग्रहस्थान से ही वादी की पराजय अभिप्रेत है। अतः सम्भावना-काल का गवेषण व्यर्थ है। *खण्डन*—यदि ऐसा ही है, तो प्रतिहेतु में दोष-उद्भावन न कर, प्रत्युत निर्दोषत्वरूप से प्रतिहेतु को स्वीकार करने पर दोषों के उद्भावन या अनुद्भावन की सम्भावना की निवृत्ति हो

मेव वादी सत्प्रतिपक्षतां परिहरेदिति साधु स्यात् । प्रतिहेतोः प्रतिक्षेपमकृत्वा स्वीकृत्यैव तत् सत्प्रतिपक्षता प्रतिक्षेप्स्येति ।

न च स्वीकारादेव प्रतिहेतोः पराजयः स्यात्, सत्प्रतिपक्षतापरिहारोपायतया स्वीकारस्य करणात्, स्वीकारे सति सम्भावनानिवृत्त्या तल्लक्षणकस्य सत्प्रतिपक्षस्यापि निवृत्तेः । तस्मात् स्वीकारोऽप्ययं परस्यानिष्टार्थं सिद्धसाधने परकीयसाध्यस्वीकारवद् गुणाय स्वीकर्तुर्न दोषायेति ।

यदि च सत्प्रतिपक्षे वादिनोः समानप्रतिपक्षदर्शनजनितात् स्वहेतावाभासत्वसंशयात्, तदा क्वचिदपि नास्ति सत्प्रतिपक्षता, स्वहेतुपक्षपातेन परहेतावेव दोषः कश्चिदस्ति, मया तु न गृह्यत इति ताभ्यां मन्यमानत्वात् । यदाह—'निश्चितौ हि वादं कुरुतः' इति ।

अथौचित्यादावर्जता संशयेन सत्प्रतिपक्षता स्यात्, तदा सर्वत्रैव वादे

जाने से सम्भावनाघटित उक्त लक्षण भी व्यावृत्त हो जायगा । तब इसी प्रकार सर्वत्र वादी सत्प्रतिपक्ष का परिहार करेगा । अतः यह अच्छा हुआ कि सत्प्रतिपक्षहेतु का प्रतिक्षेप न कर उसके स्वीकार से ही सत्प्रतिपक्ष का प्रतिक्षेप हो गया ।

समर्थन—वादी ने प्रतिहेतु का स्वीकार किया, इसीसे उसकी पराजय होगी । *खण्डन*—सत्प्रतिपक्षता के परिहार का उपायरूप से स्वीकार किया है, कारण स्वीकार करने पर सत्प्रतिपक्षत्व भी निवृत्त हो जाता है । सत्प्रतिपक्षत्व का स्वीकार भी पर की पराजय के लिए ही है, जैसे कि सिद्धसाधन में पर के साध्य का स्वीकार स्वीकर्ता के लिए अत्यन्त उपकारक होता है, दोषकारक नहीं ।

किञ्च—यदि सत्प्रतिपक्ष का फल वादी, प्रतिवादी दोनों को (प्रतिपक्ष-दर्शन से जनित स्वहेतु में आभासत्वका संशय है, तो कहीं भी सत्प्रतिपक्षत्व नहीं होना चाहिए। कारण स्वहेतु में 'पक्षपात होने से परहेतु में ही कोई दोष होगा, हमें ज्ञात नहीं होता' ऐसा दोनों मानेंगे । फिर सन्देह कैसे होगा ? कहा भी है कि 'निश्चय में ही विवाद करते हैं ।'

समर्थन—यद्यपि स्वहेतु में पक्षपात है; तथापि प्रतिहेतु का दर्शन होने पर उसके उचित होने से ही स्वहेतु में आभासत्व का सन्देह संभव होने से सत्प्रतिपक्षता युक्त ही है । *खण्डन*—तब तो सभी वादोंमें अनुमानमात्र में सत्प्रतिपक्षत्व दुर्निवार हो जायगा,

सर्वानुमानानां सत्प्रतिपक्षता दुर्निवारा । तद्यथा— शब्दानित्यत्वानमानेन बुद्धिमद्भिः शतशः शब्दनित्यत्ववादिजयात्, शब्दनित्यत्वानुमानेन च प्राज्ञैः शतशः शब्दानित्यत्ववादिजयात् । द्वयोः पक्षयोरनुमानेषु कतरद्वस्तुतः सदनुमानमित्यर्हतो दोषसंशयस्य दुर्निवारत्वादिति ।

बाध-लक्षण-खण्डनम्

प्रकारभेदाभावाच्च न कालात्ययापदिष्टः पृथक् । तद्यथा—बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इत्यलक्षणम् ।

तथाहि—बाधितविषयत्वं किं विवक्षितम् ? न तावद् बलवता बोधितो विषयविपर्ययो यस्य तत्त्वम्; यथाश्रुतस्य सत्प्रतिपक्षेऽपि गतत्वात् । तत्र प्रत्यनुमानस्य प्रथमानुमानविषयविपर्ययबोधकस्य पक्षधर्मतादिबलसम्भवात् ।

अथ बलवतेत्यधिकबलेनेति विवक्षितम्, तदाऽपि केवलव्यतिरेकिणोऽन्वय-

कारण बुद्धिमान् नैयायिकों ने शब्दानित्यत्वानुमान से सौ बार शब्दनित्यत्ववादियों को परास्त किया होगा । और प्राज्ञ मीमांसकों ने शब्दनित्यत्वानुमान से हजार बार शब्दानित्यत्ववादियों को परास्त किया होगा । अतः दोनों पक्षों में कौन वस्तुतः सदनुमान है, यह योग्य सन्देह सर्वत्र दुर्वार है । फिर जब स्वहेतु में औचित्य से आभासत्व का सन्देहरूप सत्प्रतिपक्ष का फल सर्वत्र विद्यमान है, तो सर्वत्र सत्प्रतिपक्षत्व क्यों न हो ?

बाध-लक्षण का खण्डन

उक्त हेत्वाभास के प्रकारों से अन्य प्रकार भी सम्भव नहीं है, अतः कालात्ययापदेश (बाध) भी भिन्न हेत्वाभास नहीं है । देखिये—'बाधित विषय (साध्य) है जिसका, वह कालात्ययापदेश है,' यह लक्षण उसका नहीं कह सकते । कारण बाधितविषयत्व क्या है, इसका निर्वचन नहीं हो सकता ।

देखिये—'बलवान् से बोधित विषय (साध्य) का अभाव जिसका, वह बाधितविषयत्व है' यह नहीं कह सकते; क्योंकि यथाश्रुत (बलवत्त्व के विवेचन के बिना (सामान्यतः) लक्षण सत्प्रतिपक्ष में भी अतिव्याप्त है । वहाँ भी प्रथम अनुमानके विषय के अभाव के बोधक द्वितीय अनुमान में पक्षधर्मता आदि बल है ही ।

यदि 'बल' से अधिक बलका ग्रहण करें, तो केवल-व्यतिरेकी के अन्वय-व्यतिरेकी से

व्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे गतत्वादतिव्यापकत्वम्, तत्रान्वयव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोः सपक्षसत्त्वलक्षणबलाधिक्यसम्भवात्।

किञ्चैवं प्रत्यक्षेणानुमानाभासबाधो न स्यात्। प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नाभ्रान्तज्ञानकरणत्वमात्रं बलम्, अनुमानस्य तु पक्षधर्मत्वादिभूयिष्ठं बलमिति।

अथ मन्यसे—अनन्यथासिद्धत्वं बलं विवक्षित्वेदमुच्यते। तेनानन्यथासिद्धेन बोधितो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकस्तत्त्वं बाधितविषयत्वमिति। मैवम्; तथाऽपि वस्तुतोऽनन्यथासिद्धेन सत्प्रतिपक्षेऽपि गतत्वम्।

किञ्च—अन्यथेत्यन्येन प्रकारेणेत्युच्यते, अनन्यथेति चानन्येन प्रकारेण, यस्मादनन्यत्वं तेनैवेत्यर्थः सम्पद्यते। तथा च वक्तव्यं किं तदन्यताप्रतियोगीति? प्रामाण्यं तदिति चेत्, अहो दुर्वैदग्धी भवतः। प्रामाण्येनेति वक्तव्ये 'प्रामाण्यात् योऽन्यः, स यो न भवति, तेन प्रकारेण यः सिद्धः प्रतीत उत्पन्नो वा तेने'ति ब्रुवाणस्य।

दिये जानेवाले सत्प्रतिपक्षत्व में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण वहाँ अन्वय-व्यतिरेकी प्रतिहेतु में सपक्षसत्त्वरूप बल अधिक है।

किञ्च—ऐसा लक्षण मानने पर प्रत्यक्ष से अनुमानाभास का बाध नहीं होगा, कारण प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न भ्रमभिन्न ज्ञानमात्र का करणत्वरूप बल है, किन्तु अनुमान में तो पक्षधर्मता आदि बहुत-सा बल है।

समर्थन—अनन्यथासिद्ध बल के अभिप्राय से यहाँ अधिक बल का कथन है। अतः 'अनन्यथासिद्ध बलवान् से जिसके साध्य का अभाव बोधित है, वह कालात्ययापदिष्ट है' ऐसा लक्षण करेंगे, तो कोई दोष न होगा। *खंडन*—ऐसा लक्षण करने पर भी वस्तुतः अनन्यथासिद्ध (सद्धेतु) से दिये गये सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—'अन्यथा, शब्द का 'अन्य प्रकार से' यह अर्थ है और 'अनन्यथा' शब्द का 'अनन्य प्रकार से'। अर्थात् जिससे अन्य न हो 'उसीसे' यह अर्थ सम्पन्न हुआ। अब यह बताना होगा कि इस अन्यत्व का प्रतियोगी कौन है? यदि प्रामाण्य को उसका प्रतियोगी कहें, तो प्रामाण्य से सिद्ध अर्थात् 'प्रमाण से' इस कथन के स्थान पर 'प्रामाण्य से जो अन्य, वह जो न हो, उससे सिद्ध (उत्पन्न या प्रतीत) उससे' यह कथन करनेवाले आपकी वैदग्धी (चातुर्य) सचमुच आश्चर्यजनक है।

तथापि प्रमाणेन बोधितविपर्ययो विषयो यस्य स कालात्ययापदिष्ट इति। न; 'इदं रजतमि'ति शुक्तिं विषयीकुर्वति प्रत्यक्षाभासे 'नेदं रजतमि'ति प्रमाणेन बाध्यमानेऽपि हेत्वाभासविशेषलक्षणमिदं गच्छदतिव्यापकतामापद्येत। एवं बाध्यविषयिण्यामिच्छायामपि गच्छेत्।

प्रमाणेन बोधितो यदीयविषयस्यान्यथाभावः स हेतुः कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न। यदि मुख्यार्थो हेतुशब्दः, तदा हेत्वाभासत्वव्याघातः। अथामुख्यार्थस्तदा कोऽस्यार्थः, यत्रैष व्यवस्थाप्यते इति सोऽभिधातव्यः।

प्रमाणेन बोधितो यदीयविषयस्य व्यतिरेकः, स हेत्वाभासः कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न। यद्यग्रे हेत्वाभासत्वानिश्चयस्तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वम्। अथ कालात्ययापदिष्टत्वे निरूपित एव हेत्वाभासत्वनिर्णयस्तदा तत एव दुष्टत्वसिद्धेः कृतं पश्चात्प्रतीतिकस्य कालात्ययापदेशस्योपन्यासेनेति।

निर्वचन—तब भी प्रमाण से बोधित है साध्य का अभाव जिसका, वह कालात्ययापदिष्ट है।' *खण्डन*—यह युक्त नहीं, कारण जहाँ 'नेदम् रजतम्' इस प्रत्यक्ष प्रमाण से शुक्ति को विषय करनेवाले 'इदं रजतम्' इस प्रत्यक्षाभास का बाध होता है, वहाँ इस हेत्वाभास-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। इसी प्रकार से जहाँ 'परस्त्रियं न गच्छेत्' इस शब्द से उत्पन्न बोध से परदारा में सुभ्रूत्वादि के अभ्यास से जनित 'परस्त्रियं न गच्छेयम्' इस इच्छाका बाध होता है, वहाँ बाधित इच्छा में भी अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'प्रमाण से यदीय साध्यका अन्यथाभाव, बोधित है, वह हेतु कालात्ययापदिष्ट है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—इस लक्षण में 'हेतु' शब्द यदि मुख्यार्थक अर्थात् 'व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्ट' अर्थ को बोधित करता है, तो उसमें हेत्वाभासत्व का व्याघात हो जायगा, कारण हेतु हेत्वाभास नहीं हो सकता। यदि वह मुख्यार्थपरक न हो, तो उसका क्या अर्थ है, जिसमें यह 'हेतु' शब्द व्यवस्थित हो, यह आप बतायें।

यदि कहें कि 'प्रमाण से जिसके विषय का व्यतिरेक बोधित है वह हेत्वाभास कालात्ययापदिष्ट है', तो यह युक्त नहीं। कारण यदि प्रथम से हेत्वाभास का निश्चय न हो, तो लक्षण का ज्ञान ही न होगा। और यदि कालात्ययापदिष्ट की अनिश्चय-दशा में ही हेत्वाभासत्व का निश्चय हो, तो उसीसे हेतु में दुष्टत्व सिद्ध है। अतः जिसकी पश्चात् प्रतीति है, उस कालात्ययापदिष्ट का उपन्यास व्यर्थ है।

तदिदं त्वन्मते लक्षणमस्तु मा वा भूत्, सामुद्रिकप्रमाणेन पुनर्महदेतदलक्षणं कालात्ययापदेशस्य, येनास्य नाम हेत्वाभासभेदपदेऽपभ्रंशः प्रासाधि ।

अथ ब्रूषे—हेत्वाभासत्वं हेतुवदाभासमानत्वं हेतुसदृशतया प्रतीयमानत्वम्, न तु हेतुदोषवत्त्वमिति । मैवम्; हेतुना तुल्यता ह्यहेतुत्वावगमं विना न शक्यप्रतिपत्तिः, सादृश्यस्य भिन्नाधिष्ठानस्य तथैव प्रतीतेः । अन्यथा हेतोरपि हेत्वाभासत्वापातात् । ततश्च हेतुरूपवैकल्यस्यावश्यं प्रत्येतव्यत्वेन प्रागुक्तदोषानिवृत्तिः ।

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयपक्षव्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न । आश्रयासिद्धव्यापनात् ।

आश्रयासिद्धव्यतिरिक्त इति विशेषणीयमिति चेन्न । विशेषणाद्यसिद्ध्या आश्रयासिद्धेन सह सङ्कीर्णकालात्ययापदिष्टोदाहरणमेवं न व्याप्येत ।

तस्मात् आपके मत में कालात्ययापदिष्ट का यह लक्षण हो या न हो, किन्तु सामुद्रिक-प्रमाण (ज्योतिषशास्त्र) से कालात्ययापदिष्ट का यह महान् अलक्षण (कुलक्षण) ही हुआ कि यह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास के एक प्रकाररूप पद से वह भ्रष्ट (पतित) हो गया ।

समर्थन—इस लक्षण में हेत्वाभासत्व 'हेतु-सदृश रूप से प्रतीयमानत्व' है, हेतुदोषवत्त्व' नहीं है । *खंडन*—हेतु से तुल्यता अहेतुता के ज्ञान के बिना प्रमित नहीं हो सकती, कारण भेदनिबन्धन सादृश्य की प्रमिति भेदज्ञानपूर्वक ही हो सकती है । अन्यथा हेतु भी हेत्वाभास हो जायगा । तब हेतुरूप का अभाव अवश्य ज्ञातव्य हुआ । एवञ्च यदि वह लक्षण से पूर्व अज्ञात है, तो लक्षण का अवधारण नहीं होगा । यदि प्रथम से ज्ञात है, तो उसीसे हेतु में दुष्टत्व का ज्ञान हो जायगा, फिर कालात्ययापदिष्ट का यह लक्षण व्यर्थ है ।

समर्थन—'प्रमाण से जिसके पक्ष का अभाव बोध्यमान है, वह कालात्ययापदिष्ट है ।' बाधस्थल में साध्यरूप विशेषण के अभावकृत सिषाधयिषित साध्यरूप धर्म से विशिष्ट पक्ष का भी अभाव रहता है, अतः असम्भव नहीं होगा । **खंडन**—आश्रयासिद्धि पक्ष का अभावरूप है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी ।

यदि लक्षण में 'आश्रयासिद्धि-भिन्नत्व' का निवेश करें, तो आश्रयसिद्धि-संकीर्ण 'प्रधानपुरुषेश्वरा अनित्याः पदार्थत्वात्' इस कालात्ययापदिष्ट में उक्त विशेषण का अभाव होने से अव्याप्ति हो जायगी ।

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न। प्रत्यक्षाभासव्यापनात्। तत्रापि हि साध्यस्य ज्ञाप्यरूपस्य व्यतिरेको बोध्यत एव प्रमाणेन।

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य व्यापकस्य व्यतिरेकः, स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न। प्रमाणेन बोध्यमानाभावस्य प्रकृतहेतुव्यापकत्वासम्भवात्।

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य प्रतिज्ञातस्याभावः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न। स्वार्थानुमाने कालात्ययापदिष्टस्यैवमव्यापनात्। तत्र शब्दरूपस्य प्रतिज्ञातस्याभावात्, शब्दस्य परार्थत्वात्।

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य पक्षनिविष्टस्य व्यतिरेकः, स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न। तथाभूतस्य पक्षाभासत्वाभ्युपगमेन मुख्यपक्षार्थत्वासम्भवात्। पक्षाभासनिविष्टत्वे सतीति तु क्रियमाणे पूर्वं पक्षाभासत्वप्रतीत्यप्रतीतिपक्षयोः पृथक् हेत्वाभासत्वप्रतीत्यप्रतीतिपक्षोक्तदोषवद्दोषो द्रष्टव्यः।

समर्थन—'प्रमाण से जिसके साध्य का अभाव बोध्यमान है, वह कालात्ययापदिष्ट है।' *खण्डन*—जहाँ 'नेदं रजतम्' इस प्रत्यक्ष से प्रत्यक्षाभास का बाध होता है, वहाँ (प्रत्यक्षाभास में) अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण 'इदं रजतम्' इससे ज्ञाप्य होने से रजत भी साध्य ही है।

समर्थन—'प्रमाण से बोध्यमान है व्यापक साध्य का व्यतिरेक जिसका, वह कालात्ययापदिष्ट है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—प्रमाण से जिस साध्य का अभाव बोध्यमान है, वह साध्य हेतु का व्यापक नहीं हो सकता।

समर्थन—'प्रमाण से जिसके प्रतिज्ञात साध्य का अभाव बोध्यमान है, वह कालात्ययादिष्ट है।' *खण्डन*—स्वार्थानुमान में अव्याप्ति हो जायगी, कारण शब्दप्रयोग दूसरे के लिए होता है, अतः यहाँ शब्दरूप प्रतिज्ञा नहीं होती।

समर्थन—'प्रमाण से जिसके पक्षनिविष्ट साध्य का व्यतिरेक बोध्यमान है, वह कालात्ययापदिष्ट है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—बाधस्थल में मुख्य पक्ष का अभाव होने से 'पक्ष' से पक्षाभास का ही ग्रहण करना होगा। एवञ्च पक्षाभास-निविष्ट साध्य का ग्रहण करने पर 'लक्षण से पूर्व पक्षाभासत्व की प्रतीति है या नहीं?' ऐसा विकल्पकर, हेत्वाभासघटित लक्षण में 'लक्षण से पूर्व हेत्वाभासत्व की प्रतीति है या नहीं?' इस विकल्प के तुल्य दोष जानना चाहिए।

पक्षत्वाभिमतांशभूतस्येति च क्रियमाणे प्रष्टव्यं किं पक्षत्वाभिमतत्वम्—किमु पक्षतयाऽभ्युपगम्यमानत्वम्, अथ तत्तया प्रमितत्वम्, उत प्रत्यक्षतया प्रतीतत्वम् ?

नाद्यः; दूषकं प्रति तदसम्भवात्, तेन बाध्यसाध्यस्य पक्षाभासतयैव प्रत्युताङ्गीकारात् । अनुमानवाद्यपेक्षयाऽपि नियमाभावः, सदनुमानापरिस्फूर्तौ मन्दप्रज्ञेन प्रज्ञाभिमानभृता च 'मयि वदति स्फुटदोषमपि को दूषयितुं शक्तः' इत्यभिप्रायेण यदृच्छया ज्ञातदोषस्यापि प्रयोगस्य सम्भवात् । तत्रानुमानवादिना पक्षत्वाङ्गीकाराभावेन तथाभूतबाधितानुमानाव्यापकमिदं लक्षणं स्यात् ।

न च पक्षतयोपन्यस्यमानत्वमङ्गीकारार्थ इति युक्तम्; तथा सति स्वार्थानुमाने कालात्ययापदेशाव्याप्तिः ।

नापि द्वितीयः; पक्षत्वेन प्रमिते विषये कालात्ययापदेशानवकाशात् । नापि तृतीयः; तदा ह्येवं लक्षणमिदं सम्पद्यते—प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्य पक्ष-

यदि साध्य में 'पक्षत्वाभिमत में अंशभूत' यह विशेषण दें, तो यह पूछा जायगा कि पक्षत्वाभिमतत्व क्या वस्तु है—क्या पक्षत्वरूप से अभ्युपगम्यमानत्व है अथवा पक्षत्वरूप से प्रमितत्व है या पक्षत्वरूप से प्रतीतत्वमात्र है?

इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं; कारण बाध का उद्भावनकर्ता (अनुमान का दूषक) वहाँ साध्य बाधित होने से उसे पक्षरूप से स्वीकार नहीं करता, किन्तु पक्षाभासत्वरूप से ही स्वीकार करता है । अनुमानवादी भी उसे पक्षरूप मानें, यह नियम नहीं है; कारण सत्-अनुमान की अस्फूर्तिदशा में मन्दप्रज्ञ तथा प्रज्ञाभिमानी भी 'जब मैं कहता हूँ, तो स्फुट दोष को भी कौन दूषित कर सकता है' इस अभिप्राय से स्वेच्छा से सदोषत्वरूप से ज्ञात का भी प्रयोग करता है । वहाँ बाधित अनुमान के विषय पक्ष को अनुमानवादी भी पक्षत्वरूपसे स्वीकार नहीं करता । अतः उस स्थल में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'पक्षत्वरूप से उपन्यास अभ्युपगम्यमानत्व है ।' उक्त स्थल में उपन्यास है, अतः दोष नहीं है । *खंडन*—यह भी युक्त नहीं, कारण स्वार्थानुमान में पक्ष का उपन्यास नहीं होता, अत वहाँ अव्याप्ति हो जायगी ।

द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है; कारण जहाँ पक्ष की प्रमिति है, वहाँ कालात्यया-पदेश नहीं हो सकता । तृतीय कल्प भी युक्त नहीं है; कारण उस कल्प में ऐसा लक्षण सम्पन्न हुआ कि 'प्रमाण से जिसके पक्ष की प्रतीति के अंशभूत साध्य का व्यतिरेक बोधित है, वह कालात्ययापदिष्ट है । इस वाक्य का कहीं भी सम्भव नहीं दीखता । जब

प्रतीतिविषयांशस्य व्यतिरेकः, स कालात्ययापदिष्ट इति । अस्य च वाक्यार्थस्य न कदाचिदपि सम्भवं पश्यामः । यदा तावत्प्रमाणेन साध्यस्य व्यतिरेकबोधस्तदा पक्षप्रतीतिर्नास्ति विशेषदर्शने भ्रमस्यानवकाशात् । ततश्च तदा पक्षप्रतीत्यभावेन तद्विषयत्वाभावात् तद्विषयांशस्येति विशेषणाभावाधीनो विशिष्टस्य लक्षणात्मनोऽभावः ।

यदाऽपि च प्रमाणेन साध्यव्यतिरेकबोधनं नास्ति, तदा तस्यैव लक्षणभागस्याभावात् लक्षणाभाव इति नित्यमसत्त्वव्यवस्थितेन लक्षणेन लक्ष्यं व्यवस्थापयन् श्लाघनीयप्रज्ञो भवान् ।

न च वैशेषिकप्रक्रियामाश्रित्य विनश्यदवस्थाऽपि पक्षप्रतीतिस्तत्काले सम्भावनीया। तदीयसाध्यव्यतिरेकावगमनिवर्तनीया हि सा । तत्साध्यव्यतिरेकावगमश्च पूर्वतरमेव भूत इत्यवश्यमभ्युपगम्यम् । अन्यथा प्रमाणेन बोध्यमानत्वं कथं साध्यव्यतिरेकस्य तदाऽवगम्येत ।

न च वाच्यं प्रतीतिविषयत्वमिदं विशेषणं न भवति, किन्तु उपलक्षणम् ।

साध्य के व्यतिरेक का बोध हो, तब पक्ष की प्रतीति हो ही नहीं सकती । कारण विशेष-दर्शन होने से भ्रम का अवकाश ही नहीं है । तब तो उस काल में पक्ष की प्रतीति का अभाव होने से तद्विषयत्व का अभाव है । अतः तद्विषयांशरूप विशेषण के अभाव से विशिष्ट लक्षण का भी अभाव होने के कारण सर्वत्र अव्याप्ति हो जायगी ।

फिर जिस काल में प्रमाण से साध्य के व्यतिरेक का बोध नहीं है; उस काल में उसी लक्षणभाग का अभाव होने से लक्षण का अभाव है । अतः सदा लक्ष्य में अविद्यमान लक्षण से लक्ष्य की व्यवस्था करनेवाले आपकी बुद्धि प्रशंसनीय (बुद्धि की बलिहारी) है !

समर्थन—वैशेषिक-प्रक्रिया (योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यत्व-रूप नियम) का आश्रयणकर बाधग्रहकाल में भी विनश्यत्-अवस्था का या द्वितीय-क्षणचुम्बिनी पक्ष की प्रतीति हो सकती है । अतः उस प्रतीति का आश्रयणकर समन्वय हो जायगा । *खण्डन*—साध्य-प्रतीति की निवृत्ति साध्याभाव-प्रतीति से होती है और साध्याभाव की प्रतीति पहले हो चुकी है, यह अवश्य मानना होगा । अन्यथा साध्य-व्यतिरेक का प्रमाणतः बोध्यमानत्व ज्ञात कैसे होगा ?

समर्थन—'प्रतीति-विषयत्व' पक्ष का विशेषण नहीं, किन्तु उपलक्षण है । एवञ्च अविद्यमान भी उपलक्षण व्यवच्छिन्नत्व रूप से उपलक्ष्य की प्रतीति का कारण

उपलक्षणेन चासताऽपि व्यवच्छिन्नप्रतीतिरुपजन्यते। यथा—'काकवन्तो देवदत्तगृहाः' इत्युपलक्षणीभूतया काकवत्तया देवदत्तगृहस्य व्यवहारकाल इति। यतस्तत्रोपलक्ष्यदेवदत्तगृहस्य स्वाभाविको विशेषोऽस्ति व्यवहारकाले, तेन काकवत्ताभावेऽपि तमादाय व्यवहारनियमप्रवृत्तिः, न तु तत्राऽप्यसत उपलक्षणस्य कारणत्वम्। अत्र तु व्यक्तीनामुपलक्ष्यत्वे लक्षणस्याननुगतत्वम्। अनुगतश्च किञ्चिदुपलक्ष्यं न लक्षयामहे। अत उक्तमेव वाक्यार्थमादाय प्रवर्तमाने लक्षणात्मके साधने विशेषणासिद्धिर्दुर्निवारा।

एतेन पूर्वशङ्कितस्य हेतुरित्यस्य प्रत्यक्षाभासव्यवच्छेदार्थमुपात्तस्य स्थाने हेतुत्वाभिमत इत्येतादृशस्य करणं दूषितप्रायम्।

होता ही है। जैसे 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः' यहाँ असत् भी काक उपलक्ष्य देवदत्तगृह की प्रतीति का जनक होता है। खण्डन—'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः' इस स्थल में व्यवहार-काल में काकरूप उपलक्षण न होने पर भी उपलक्ष्य देवदत्त-गृह में इष्टका-दारुमयत्व आदि विशेष विद्यमान ही हैं। अतएव व्यवहार की प्रवृत्ति होती है। असत् काक वहां भी व्यवहार का कारण नहीं है। यदि यहाँ तत्-तत् व्यक्ति को उपलक्ष्य मानें, तो लक्षण का अननुगम होगा। कोई अनुगत रूप हमें नहीं दीखता, अतः प्रतीति को विशेषण ही मानना होगा। एवञ्च लक्ष्य में व्यतिरेकानुमिति के साधक उक्त लक्षण में विशेषण की असिद्धि हो जायगी।

इसी प्रकार प्रत्यक्षाभास के व्यवच्छेद के लिए उपात्त 'हेतु' पद के स्थान पर विकल्प-भय से 'हेतुत्वाभिमतत्व'रूप जो विशेषण दिया गया है, वह भी दूषितप्राय जानना चाहिए। अर्थात् 'हेतुत्वाभिमत' यहाँ अभिमान क्या पदार्थ है? क्या वह अभ्युपगम है, प्रमा है या भ्रान्ति है? अभ्युपगम कहें, तो वह दूषक का नहीं है, क्योंकि उसने असद्धेतु माना है। स्थापनावादी का भी नहीं, कारण उसने भी अपने हेतु में आभासता समझकर ही स्थापना का प्रयोग किया है। सिवा इसके उपन्यास को अभ्युपगम मानें, तो स्वार्थानुमान-बाध का असंग्रह हो जायगा। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, बाधित हेतु में व्याप्ति या पक्षधर्मता इनमें से किसी एक का भंग निश्चित होने से हेतुत्वप्रतीति प्रमा नहीं, अप्रमा ही है। तृतीय पक्ष भी अस्वीकार्य है, बाधग्रह होने पर हेतुभ्रम नहीं हो सकता। कदाचित् उसे अपेक्षणीय मानें, तो अव्यावर्तकता या अतिव्याप्ति होगी, कारण प्रत्यक्षाभासादि में कदाचित् हेतुभ्रम हो सकता है, यह भाव है।

अथ ब्रूषे—प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्याभावः, स प्रत्यक्षाभासातिरिक्तः कालात्ययापदिष्ट इति। नैतदपि सुस्थम्; शब्दोपमानाभाससाधारण्यात्।

तद्व्यतिरिक्त इत्यपि विशेषणीयमिति चेत्। एतदपि विचार्यताम्; किं प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वं प्रत्यक्षाभासादिभ्यो वैधर्म्यं किञ्चित्, उत स्वरूपभेदः, अथवाऽन्योन्याभावः?

न तावदाद्यः; तद्भेदकस्य धर्मस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। नापि द्वितीयः; स्वरूपस्य परस्परव्यावृत्ततया लक्षणानौपयिकत्वात्। नापि तृतीयः; व्यतिरिक्तत्वस्यान्योन्याभावात्मनः प्रत्यक्षाभासादावपि भावेन तद्व्यवच्छेदानुपपत्तेः।

ननु न व्यतिरिक्तत्वमात्रमन्योन्याभावस्वरूपं विशेषणमस्माभिरुपात्तम्, किन्नाम? प्रत्यक्षाभासादिभ्यो व्यतिरिक्तत्वम्। न च प्रत्यक्षाभासादयः स्वात्मभ्य एव भिन्नाः, तत्कथमुक्तस्य प्रसङ्गस्यावकाशः? अवगतमिदं त्वद्विव-

समर्थन—'प्रमाण से बोधित है साध्यव्यतिरेक जिसका, और जो प्रत्यक्षाभास से व्यतिरिक्त भी हो, वह कालात्ययापदिष्ट है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—यह भी युक्त नहीं है, कारण जहाँ शब्द से शब्दाभास का अथवा उपमानाभास का बाध है, वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'शब्दाभास-उपमानाभास-व्यतिरिक्तत्व' निवेश कर देंगे, तो उक्त दोष नहीं होगा। *खण्डन*—यहाँ यह भी विचारें कि प्रत्यक्षाभासादि-व्यतिरिक्तत्व क्या वस्तु है? क्या प्रत्यक्षाभास से कुछ वैधर्म्य है, स्वरूपभेद है या अन्योन्याभाव है?

इनमें प्रथम वैधर्म्यरूप व्यतिरिक्तत्व नहीं कह सकते; कारण अद्यावधि कालात्ययापदेश में कोई भेदक धर्म निरुक्त हो नहीं है। द्वितीय (स्वरूपरूप) व्यतिरिक्तत्व भी नहीं कह सकते, कारण स्वरूप परस्पर व्यावृत्त होने से लक्षण का उपयोगी नहीं है। अर्थात् लक्षण लक्ष्यमात्र का उपसंग्राहक होना चाहिए और स्वरूप ऐसा नहीं है। तृतीय (अन्योन्याभावरूप) व्यतिरिक्तत्व भी ठीक नहीं है, कारण वह प्रत्यक्षाभास में भी विद्यमान है, अतः उसका व्यवच्छेद नहीं हो सकता।

समर्थन—हम अन्योन्याभावरूप व्यतिरिक्तत्वमात्र विशेषण नहीं देते, किन्तु प्रत्यक्षाभास-व्यतिरिक्तत्व विशेषण देते हैं। एवञ्च प्रत्यक्षाभास अपनी आत्मा से भिन्न नहीं, फिर उसमें अतिव्याप्ति कैसे होगी? *खण्डन*—आप क्या कहना चाहते हैं, वह सब तो जान लिया। विचारणीय यही है कि अन्योन्याभाव का लक्षण में निवेश

अथ ब्रूषे—प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्याभावः, स प्रत्यक्षा
कालात्ययापदिष्ट इति । नैतदपि सुस्थम्; शब्दोपमानाभाससाधारण्य
तद्व्यतिरिक्त इत्यपि विशेषणीयमिति चेत् । एतदपि विचार्यता
क्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वं प्रत्यक्षाभासादिभ्यो वैधर्म्यं किञ्चित्, उत
अथवाऽन्योन्याभावः ?

न तावदाद्यः; तद्भेदकस्य धर्मस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । नाि
स्वरूपस्य परस्परव्यावृत्ततया लक्षणानौपयिकत्वात् । नापि तृतीयः;
त्वस्यान्योन्याभावात्मनः प्रत्यक्षाभासादावपि भावेन तद्व्यवच्छेदानुप

ननु न व्यतिरिक्तत्वमात्रमन्योन्याभावस्वरूपं विशेषणमस्म
किन्नाम ? प्रत्यक्षाभासादिभ्यो व्यतिरिक्तत्वम् । न च प्रत्य
स्वात्मभ्य एव भिन्नाः, तत्कथमुक्तस्य प्रसङ्गस्यावकाशः ? अवगतमि

समर्थन—'प्रमाण से बोधित है साध्यव्यतिरेक जिसका, और जो
व्यतिरिक्त भी हो, वह कालात्ययापदिष्ट है' ऐसा लक्षण करेंगे । खंड
युक्त नहीं है, कारण जहाँ शब्द से शब्दाभास का अथवा उपम
बाध है, वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'शब्दाभास-उपमानाभास-व्यतिरिक्तत्व' निवेश कर दें
दोष नहीं होगा । *खण्डन*—यहाँ यह भी विचारें कि प्रत्यक्षाभासा
क्या वस्तु है ? क्या प्रत्यक्षाभास से कुछ वैधर्म्य है, स्वरूपभेद है य
भाव है ?

इनमें प्रथम वैधर्म्यरूप व्यतिरिक्तत्व नहीं कह सकते; कारण
कालात्ययापदेश में कोई भेदक धर्म निरुक्त हो नहीं है । द्वितीय
व्यतिरिक्तत्व भी नहीं कह सकते, कारण स्वरूप परस्पर व्यावृत्त होने
उपयोगी नहीं है । अर्थात् लक्षण लक्ष्यमात्र का उपसंग्राहक होना चाहिए
ऐसा नहीं है । तृतीय (अन्योन्याभावरूप) व्यतिरिक्तत्व भी ठीक नही
वह प्रत्यक्षाभास में भी विद्यमान है, अतः उसका व्यवच्छेद नहीं हो स

समर्थन—हम अन्योन्याभावरूप व्यतिरिक्तत्वमात्र विशेषण नहीं
प्रत्यक्षाभास-व्यतिरिक्तत्व विशेषण देते हैं । एवञ्च प्रत्यक्षाभास अपनी आ
नहीं, फिर उसमें अतिव्याप्ति कैसे होगी ? *खण्डन*—आप क्या कहना
वह सब तो जान लिया । विचारणीय यही है कि अन्योन्याभाव का लक्ष

क्षितम्। एतदेव विचार्यते—किं प्रत्यक्षाभासादिभिर्विशेषितोऽसौ अन्योन्याभावस्त्वयोच्यते, उत तैरुपलक्षितः, यं प्रत्यक्षाभासादिष्वप्रसक्तं मन्यसे ?

आद्यस्तावन्न सम्भवति ; न हि प्रतियोगिरूपविशेषणरहितोऽभावः क्वचिदप्यस्ति। ततस्तादृशस्य विवक्षितत्वे सर्वाव्याप्तिः। द्वितीये तु प्रत्यक्षाभासादिभिरुपलक्षणैर्यदुपलक्ष्यमन्योन्याभावस्य स्वरूपमेकं तत्प्रत्यक्षाभासादिषु बाधितानुमानेषु च साधारणमिति कथं नोक्तदोषप्रसङ्गः।

अन्यदस्तु सदात्मकं विशेषणंम् प्रतियोगी त्वभावस्यासन्नेव तज्ज्ञानस्य विशेष्ये व्यावृत्तबुद्धयाधानाविरोधात् विशेषणं भवतीति चेत्।

अयुक्तमेतत्; विशिष्टं तावदभावस्य स्वरूपमिहोपात्तम्। तच्च विशेष्यमात्रशरीरं न भवितुमर्हति; तथा सति विशेष्यस्वरूपमेवोच्यताम्, वृथा विशेषणपदोपन्यासः ? तदनुपन्यासे चान्योन्याभाववत्त्वमात्रमुपन्यस्तं भवेत्। तच्च प्रत्यक्षाभासादेर्व्यवच्छेद्यस्यापि सङ्ग्राहकम्। ततश्च विशेष्यादन्योन्याभावादधिकं किञ्चिद्वक्तव्यं तद्विशिष्टमुपन्यस्यताम्। स च यदि प्रतियोगी तदीयोऽभिधीयते, तर्हि तस्याभावात्तदानीं विशिष्टाभावः प्रसक्तः। विशेष्यमात्रं परिशिष्टम्, तच्च केवलमतिप्रसक्तम्।

प्रत्यक्षाभास से विशेषित है या उपलक्षित, जिसे प्रत्यक्षाभास में अप्रसक्त आप मानते हैं।

प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारणप्र तियोगी से विशिष्ट अभाव कहीं नहीं रहता। अतः लक्षण में वैसा निवेश करने पर असम्भव हो जायगा। द्वितीय पक्ष में प्रत्यक्षाभासरूप उपलक्षण से उपलक्ष्य जो अन्योन्याभाव का एक स्वरूप है, वह प्रत्यक्षाभास और बाधित अनुमान उभय-साधारण है। अतः प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति क्यों न हो ?

समर्थन—गुण, क्रिया आदि तो विद्यमान ही विशेषण होते हैं, किन्तु प्रतियोगी अविद्यमान ही अभाव का विशेषण होता है। कारण विशेषण का ज्ञान विशेष्य में इतरव्यावृत्तत्व-बुद्धि कर सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

खंडन—यह कथन अयुक्त है, कारण यहाँ विशिष्ट अभाव का स्वरूप कहा गया है। वह विशेष्यमात्र-शरीर नहीं हो सकता। कारण यदि विशेष्यमात्र ही उसका शरीर हो तो उतना ही कहें, 'विशेषण' पद का उपन्यास व्यर्थ है। यदि विशेषण का उपन्यास न कर विशेष्यमात्र का उपन्यास करें, तो अन्योन्याभावमात्र का उपन्यास हुआ, वह व्यवच्छेद्य प्रत्यक्षाभास का भी संग्राहक हो जायगा। अतः विशेष्य अन्योन्याभाव से अधिक कुछ कहना चाहिए। तब यद्विशिष्ट अभाव का उपन्यास करेंगे, वह यदि प्रतियोगी है, तो उस लक्ष्य में प्रतियोगी का अभाव होने से विशिष्ट

तस्माद्विशिष्टव्यवहारप्रवर्तनकाले विशेष्यातिरिक्तं किञ्चिदनभ्युपेत्य विशिष्टसत्ता व्यवहर्तुमशक्या। अतः प्रतियोगी नाभावस्य विशेषणं भवितुमर्हति। उपलक्षणं तु स्यात्, तत्र चोक्तमेव।

न चान्योन्याभाव एको न भवति, भिन्नप्रतियोगिकौ द्वावभावौ तौ। तथाच प्रतियोगिलक्षितं तत्स्वरूपमन्यदेवेति सिद्धान्ताविरोधि। न च युक्तम्; उभयं ह्यन्योन्याभावस्यैकात्मतया प्रतियोगि, एकात्मतायाश्च भेदविरोध एव। ततश्च येन च रूपेण प्रतियोगित्वं तेन रूपेण भेदानवकाशात्, भिन्नप्रतियोगिकता कुतोऽन्योन्याभावस्य। येन च रूपेण भिन्नता तेनान्योन्याभावं प्रति प्रतियोगिता नास्ति वस्तुनोः।

ननु वस्तुतस्तयोरेकत्वाभावात् कथमेकतया प्रतियोगित्वमन्योन्याभावं प्रति घटेत वस्तुनोः? यथा वस्तुतो भूतलसंसर्गाभावेऽपि घटस्य भूतलसंसृष्टतया संसर्गाभावं प्रति, तत्र यथाऽन्यद् भूतलसंसृष्टया दृष्टं तथाऽत्रापि तावेव सप्रकारभेदौ तदात्मानौ दृष्टौ। सोऽयं त्वद्दर्शनाभिप्रायो नास्माकं निर्वाहार्ह इत्यास्तां विस्तरः।

(प्रत्यक्षाभासान्योन्याभाव) का भी अभाव है; अतः असम्भव हो जायगा। यदि विशेष्यमात्र कहें, तो उसकी प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति हो जायगी।

तस्मात् विशिष्ट-व्यवहार के प्रवर्तनकाल में विशेष्य से अन्य कुछ न मानकर विशिष्टसत्ता का व्यवहार असम्भव है। अतः व्यवहारकाल में प्रतियोगी का अभाव अवश्य स्वीकार करना होगा। एवञ्च प्रतियोगी उक्त प्रकार से विशेषण तो हो नहीं सकता, किन्तु उपलक्षण हो सकता है और उपलक्षण पक्ष में दोष दे ही आये हैं।

समर्थन—अन्योन्याभाव एक नहीं है, किन्तु कालात्ययापदिष्ट में प्रत्यक्षाभासान्य है और प्रत्यक्षाभास में कालात्ययापदिष्टान्य है। अतः प्रत्यक्षाभासप्रतियोगिक अन्योन्याभाव प्रत्यक्षाभास में न होने से प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति नहीं है। *खंडन*—यह कथन सिद्धान्त का अविरोधी नहीं है और न युक्त ही है, कारण अन्योन्याभाव के (तादात्म्य के) दोनों प्रतियोगी हैं और तादात्म्य का भेद विरोध है। अतः जिस रूप (तादात्म्य) से प्रतियोगी है, उस रूप से भेद नहीं है। अतः अन्योन्याभाव के अन्यान्य प्रतियोगी कैसे होंगे? जिन घटत्व-पटत्वादि रूपों से भेद है, उन्हीं रूपों से वस्तु अन्योन्याभाव के प्रतियोगी ही नहीं हैं।

समर्थन—उन घट-पटादि वस्तुओं में वास्तविक तादात्म्य है ही नहीं, फिर तादात्म्य से अन्योन्याभाव का प्रतियोगी कैसे होगा? *खण्डन*—जैसे वस्तुतः घट भूतल-संसृष्ट नहीं है, तथापि संसर्गाभाव का भूतलसंसृष्टत्वरूप से घट प्रतियोगी होता है, वैसे ही

अपि च—घटपटयोः स्वरूपभेदेन वैधर्म्यभेदेन चोभयकोटीकृतयोरन्योन्याभावनिरूपणं भवति। अत्र तु प्रत्यक्षाभासादेः प्रत्यक्षाभासत्वादिना एककोटिताऽस्तु नाम। यत्तु प्रत्यक्षाभासत्वादिभ्यो व्यतिरिक्ततया प्रतिपत्तव्यं तस्य केन रूपेणैककोटीकरणम्? न तावत्प्रतिव्यक्तिभिन्नेन स्वरूपेण, तेषामनन्ततया बुद्धिस्थीकर्तुमशक्यत्वात्। नापि यद्रूपोपात्तं विशेष्यं प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वेन विशेषणेन विशेषणीयम्, तद्रूपक्रोडीकृततयैव अन्योन्याभावनिरूपणमिति युक्तम्; तस्य स्वरूपस्य प्रत्यक्षाभासादिसङ्ग्राहकतया कोटिद्वैतभङ्गापादकत्वेन अन्योन्याभावनिरूपणविरोधित्वात्।

वस्तुतः तादात्म्य न होने पर भी तादात्म्यरूप से घट-पट प्रतियोगी हों, तो उसमें हानि क्या है? यदि कहें कि 'अन्य घट का अर्थ और कालान्तर में उसी घट का भूतल में संसर्ग प्रसिद्ध है, किन्तु घट-पट का तादात्म्य तो अप्रसिद्ध ही है, अतः वह प्रतियोगी कैसे होगा?' तो घट-पट का तादात्म्य भी प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, सत्त्वरूप प्रकारों से सहित में आप मानते ही हैं। कारण प्रमेयत्वादि रूप से घट-पट का भेद अनुभवविरुद्ध है, यह आपके दर्शन का अभिप्राय है। हमें उसका निर्वाह करना नहीं है, अतः विस्तार व्यर्थ है। अर्थात् इस तरह अन्योन्याभाव का तादात्म्यप्रतियोगित्व आपके दर्शन में मान्य है। यदि उसे छोड़ देते हैं, तो अपसिद्धान्त होता है। यदि मानते हैं, तो असत्प्रतियोगित्व होगा, अतः वह आपके लिए ही निर्वाह्य है, हमारे (अनिर्वचनीयवादी के) लिए नहीं, यह भाव है।

किञ्च—घट-पट स्वरूपभेद या वैधर्म्यभेद से उभयकोटिक हैं, अतः उन दोनों (प्रतियोगी-अनुयोगियों) से अन्योन्याभाव का निरूपण कथञ्चित् हो सकता है। किन्तु यहाँ प्रत्यक्षाभासत्व से प्रत्यक्षाभास का एककोटीकरण (अनुयोगिताग्रह) तो है, किन्तु जिसे प्रत्यक्षाभास व्यतिरिक्तत्वरूप से जानना है, उसकी किस रूप से कोटि करेंगे? प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न जो स्वरूप उससे एककोटीकरण नहीं हो सकता, कारण अनन्त होने से वे बुद्धिस्थ ही नहीं हो सकते। प्रत्यक्षाभास-व्यतिरिक्तत्वरूप से विशेषणीय जो विशेष्य (उपलक्षण) है, तद्रूप-क्रोडीकृततया (तद्रूपावच्छिन्न अनुयोगिता-ग्रह से) अन्योन्याभाव का निरूपण नहीं हो सकता, कारण वह रूप प्रत्यक्षाभास में भी है। अतः उस रूप से दो कोटियाँ न रहने के कारण उस रूप से अन्योन्याभाव का निरूपण कैसे होगा?

तस्मात् स्वरूपभेदं वैधर्म्यभेदं वा कोटिद्वयं व्यवस्थापकमप्रतिसन्धाय अन्योन्याभावनिरूपणमशक्यमिति स्थिते स्वरूपभेदपक्षस्येह दूषितत्वाद्धर्मभेदः कश्चिद्वक्तव्यः। न चासौ वक्तुं शक्यः, शक्यत्वे वा तमादायैव लक्षणव्यवस्थितिरस्तु, कृतमन्योऽन्यव्यतिरिक्तत्वकुयुक्त्या।

तदनेन न्यायेन अन्यत्राप्यतिप्रसक्त्युदाहरणान्यत्वेन व्यावर्तनं लक्षणवादिनो भग्नस्य शरणमस्त्रं निरसनीयम्। अत एव भेदकान्तरं विना तद्व्यतिरिक्तत्वमेव दुर्निरूपमित्यभिप्रायेण तत्तदन्यत्वे सतीति विशेष्यमाणं वैशेषिकहेतुं 'नैतदेवं येन येन व्यभिचारस्तदन्यत्वे सति प्रमेयत्वादि'ति सत्प्रतिपक्षहेतूपन्यासादुपहसन्ति सन्त इति।

इति कवितार्किकचक्रवर्ति-श्रीश्रीहर्षकृते खण्डनखण्डखाद्ये
प्रमाण-तदाभासखण्डनं नाम प्रथमः परिच्छेदः।

तस्मात् कोटिद्वय के व्यवस्थापक स्वरूप-भेद या वैधर्म्य-भेद का स्मरण न करके अन्योन्याभाव का निरूपण अशक्य है। ऐसा होने पर स्वरूपभेद से लक्षण की व्यवस्था अनन्त या अननुगत होने से अशक्य है, अतः किसी अन्य धर्म को कहना होगा और उसे कह नहीं सकते। यदि किसी धर्म को कह सकें, तो उसीसे लक्षण व्यवस्थित हो जाने से अन्योन्य-व्यतिरिक्तत्वरूप कुसृष्टि व्यर्थ है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी जिसमें अतिव्याप्ति दी जाय, तदन्यत्व विशेषण देकर उसका व्यावर्तक भग्न (परास्त) लक्षणवादी का रक्षक वह अस्त्र निरसनीय है। जबतक भेदक धर्म ज्ञात न हो, तबतक तदन्यत्व का निरूपण हो ही नहीं सकता। अतः तदन्यत्व से विशेषित वैशेषिक (लक्ष्य में इतरभेद के साधक) लक्षणरूप हेतु का लक्ष्य इतर से भिन्न नहीं है, 'जिस-जिस में व्यभिचार हो, तदन्य होकर प्रमेयत्व होने से' इस सत्प्रतिपक्ष का उपन्यास करने पर सन्त लोग उपहास करते हैं।

प्रथम परिच्छेद का भाषानुवाद समाप्त।

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

प्रतिज्ञाहानि-लक्षण-खण्डनम्

ननु यदि दुर्लक्ष्या हेत्वाभासास्तर्हि निग्रहस्थानानि प्रतिज्ञाहान्यादीनि बाधकानि भविष्यन्ति। मैवम्; का पुनः प्रतिज्ञाहानिः ?

स्वीकृतोक्तपरित्यागः प्रतिज्ञाहानिरित्यलक्षणम्। तथाहि—झटिति संवरणेऽनिग्रहस्थानेऽपि गतत्वेन परदूषिते सतीत्यपि विशेषणीयत्वात्।

किञ्च—स्वीकृतेत्यनेनाभीष्टमात्रं वाऽभिधीयते अस्तित्वेनेष्टं वा ? आद्ये केनचिद्रूपेणेष्टस्य रूपान्तरेण त्यागः क्व नाम नास्तीत्यतिव्याप्तिः।

प्रतिज्ञाहानि-लक्षण का खण्डन

शिवमनोहरपादरजोजुष शिवमनोहरशर्मजनिप्रद।
शिवमनोहरपादसरोरुह शिवमनोहरपूतरजोजुष॥

समर्थन—यदि हेत्वाभास के लक्षण करने में मेरी अशक्ति है, तो क्या हानि है, प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थान ही अद्वैतसिद्धि या विजय के बाधक होंगे। *खण्डन*—प्रतिज्ञाहानि भी क्या वस्तु है। अर्थात् लक्षण न होने से वह अनिर्वचनीय है। फिर उससे अद्वैतसिद्धि का प्रतिबन्ध कैसे होगा ?

निर्वचन—'स्वीकृत उक्त का परित्याग' प्रतिज्ञाहानि है। *खण्डन*—यह लक्षण युक्त नहीं है। देखिये—जहाँ नैयायिक 'अनित्यः शब्दः' इस प्रतिज्ञा के स्थान पर प्रमाद से 'नित्यः शब्दः' ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठे, किन्तु शीघ्र ही स्मरण होने पर 'अनित्यः शब्दः' ऐसी पुनः प्रतिज्ञा करे, वहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इस भय से 'परदूषित' विशेषण भी देना पड़ेगा। फिर तो 'हेत्वन्तर' नामक निग्रहस्थान हो जायगा।

किञ्च—'स्वीकृत' शब्द से इष्टमात्र अभिप्रेत है या अस्तित्व से इष्ट ? प्रथम पक्ष में गुणत्वरूप से इष्ट शब्द का नित्यत्वरूप से त्याग होने पर उस त्याग में अतिव्याप्ति हो जायगी।

स्वीकारपूर्वकोऽस्वीकारस्त्यागः। न च रूपान्तरेण तत्र तत्स्वीकारः। ततस्त्याग एवासौ न भवतीति नातिप्रसङ्ग इति चेन्न। स्वीकारस्यापि परित्यागपदार्थान्तर्भावे स्वीकृतेति व्यर्थम्, तत्त्यागेऽपि च नाद्यद्वितीयौ, अस्तित्वेनेष्टस्य रूपान्तरेण सर्वत्रैवानिष्टत्वसम्भवात्।

संयोगाद्यव्याप्यवृत्तितावादिपक्षे चैकस्यैव संयोगस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्याम्युपगम्यमानत्वात्। एवञ्च कालदेशादिभेदेन सत्त्वासत्त्वाभ्युपगमेऽपि प्रसङ्गो द्रष्टव्यः।

तस्यैव तदैव तत्रैव तेनैव तथैवेष्टत्वानिष्टत्वे विवक्षिते अत्रेति चेत्; एवं तर्हि कालमभ्युपगम्यानभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्न स्यात्। तत्र तदेत्युक्तविशेषणांशस्यासंभवात्। नहि कालः कालान्तरं स्वात्मानमेव वाऽध्यास्ते। काले तदेति

यदि कहें कि "स्वीकारपूर्वक अस्वीकार त्याग है', नित्यत्वरूप से शब्द का 'स्वीकार' नहीं है, अतः उस रूप से अस्वीकार त्याग ही नहीं है, एवञ्च अतिव्याप्ति नहीं है", तो स्वीकार त्यागपद के अर्थ में अन्तर्भूत होने से 'स्वीकृत' विशेषण व्यर्थ हो जायगा। स्वीकृत विशेषण न भी दें, तब भी दोनों पक्ष युक्त नहीं, कारण 'अस्तित्व' रूप से इष्ट का अन्य रूप (नित्यत्व आदि) से त्याग सर्वत्र शब्दादि स्थल में है, अतः अतिव्याप्ति हो जायगी।

जो लोग संयोग आदि को अव्याप्यवृत्ति मानते हैं, उनके मत में वृक्ष में अस्तित्व से इष्ट संयोग नास्तित्व रूप से भी इष्ट है, वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी। इसी प्रकार देश और कालभेद से मीमांसक के अनुयायी बनकर जो शब्द का नित्यत्व मान चुके हैं, वे ही यदि इस देश-काल में नैयायिक बनकर शब्दनित्यत्व का त्याग करें, तो उसमें भी अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'जिस देश-काल में जिस पुरुष ने जिस रूप से जिस पदार्थ का अस्वीकार किया हो, उस देश-काल में उस पुरुष का उस रूप से उस पदार्थ का अस्वीकार प्रतिज्ञाहानि है' ऐसा लक्षण करेंगे। अतः देश-काल, पुरुष या प्रकार-भेद से स्वीकृत के अस्वीकार में अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—ऐसा लक्षण करने पर 'कालोऽस्ति' ऐसा मानकर 'कालो नास्ति' ऐसा कहने पर भी प्रतिज्ञाहानि नहीं होगी। अर्थात् वहाँ प्रतिज्ञाहानि के लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी; कारण काल अन्य काल में या अपने में नहीं रहता, अतः वहाँ 'तदा' यह विशेषण नहीं है। यदि कहें कि कालस्थल के लक्षण में 'तदा' यह विशेषण नहीं देंगे और अन्य

विशेषणस्य प्रतिक्षेपेऽन्यत्र च प्रक्षेपे लक्षणैकताक्षतिः। कालं प्रति च प्रतिज्ञाहानेरदोषत्वे तद्वदन्यत्राप्यदोषत्वापातः। यदैव स्वीकारस्तदैवास्वीकारासिद्धेश्च।

तदेति तत्कथाकालो विवक्षित इति चेन्न। तच्छब्दस्यैकव्यक्तिपरत्वे लक्षणाननुगमः, वादादित्वेन साम्ये कदाचिदपि तद्विपरीतवादान्तराकरणप्रसङ्गः, एवं तथैव तस्यैवेत्यादिपदस्य द्रष्टव्यम्।

उक्तेति पदस्य चापसिद्धान्तव्यवच्छेदकस्य विरुद्धन्यायेनासमर्थविशेषणत्वम्। एवं सर्वनिग्रहस्थानेषु द्रष्टव्यमिति सङ्क्षेपः।

स्थलों के लक्षणों में 'तदा' विशेषण देंगे, एवञ्च कालस्थल में अव्याप्ति नहीं है, तो एक लक्षण न रहा, किन्तु लक्षण-भेद हुआ। यदि कहें कि कालस्थल में प्रतिज्ञाहानि दोष नहीं है, तो इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। यदि प्रमाण के बिना भी कालस्थल में प्रतिज्ञाहानि को दोष न मानें, तो अन्यत्र भी प्रतिज्ञाहानि दोष न होगा। किञ्च—जिस काल में स्वीकार हो, उसी काल में अस्वीकार हो भी नहीं सकता।

समर्थन—'यदा-तदा' पद एकक्षणपरक नहीं, किन्तु तत्कथा-कालपरक हैं। एवञ्च एक कथा से उपलक्षित काल में क्षणभेद से स्वीकार-अस्वीकार हो सकता है, अतः असम्भव दोष नहीं है। *खंडन*—तत् शब्द एककथाव्यक्तिपरक है अथवा कथात्वपरक है, वादत्वादिरूप से कथामात्रपरक है या वादमात्रपरक? प्रथम पक्ष में जिस कथा व्यक्ति का तत् शब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्यत्र अव्याप्ति हो जायगी। यदि तत्-शब्द को कथामात्रपरक मानें, तो मीमांसक होकर कदाचित् किसी वाद में शब्द-नित्यत्व स्वीकारकर, नैयायिक बनकर अन्य कथा में भी शब्द-नित्यत्व का अस्वीकार प्रतिज्ञाहानि हो जायगी। इसी प्रकार 'तथा' शब्द को यदि एक प्रकारव्यक्तिपरक मानें, तो अन्य प्रकार से स्वीकार-अस्वीकार स्थल में अव्याप्ति हो जायगी। यदि प्रकारमात्रपरक कहें, तो अस्तित्व से स्वीकृत का नित्यत्व से अस्वीकार प्रतिज्ञाहानि हो जायगी। इसी प्रकार 'तस्य, तेन' इत्यादि पदों में भी दोष जानने चाहिए।

किञ्च—'स्वीकृत उक्त का परित्याग प्रतिज्ञाहानि है' इस लक्षण में अपसिद्धान्त का व्यवच्छेदक 'उक्त' पद, विरुद्ध के लक्षण में सव्यभिचार के व्यवच्छेदक नियम के तुल्य व्यर्थ है; कारण स्वीकृत का परित्यागमात्र दूषण में पर्याप्त है। संक्षेप में इसी प्रकार अन्य निग्रहस्थानों के लक्षणों में भी विशेषण का वैयर्थ्य जानना चाहिए।

प्रतिज्ञान्तर-लक्षण-खण्डनम्

प्रतिज्ञाहान्यादीत्यादिपदेन च किं सङ्गृह्यते ? प्रतिज्ञान्तरादीति चेन्न। प्रतिज्ञान्तरमेव न निरूपयितुं शक्यते।

तद्यथा—स्वोक्तस्य परदूषितस्य साध्यभागस्य पूर्वानुक्तविशेषणवतोऽभिधानं प्रतिज्ञान्तरमित्यलक्षणम्। तथा हि, यत्र वादिना प्रथमं सविशेषणः प्रतिज्ञाभागोऽभिहितः, परेण च निर्विशेषणोक्तभ्रमाद् दूषितः। ततो वादी प्रथमाभिहितं सविशेषणमेवोपन्यस्य 'ईदृशं मयोक्तम्, न तु निर्विशेषणमतो निरनुयोज्यानुयोगो भवतः' इति सदुत्तरमेव ब्रूते, तत्रापि गतत्वादतिव्यापकमेतत्।

पूर्वानुक्तविशेषणवत्त्वं तत्र नास्ति, तत्कथमतिव्याप्तिरिति चेन्न। प्रथमोक्तेः प्रागभावस्य पूर्वं स्थितत्वात्। विशेष्योक्तिरपि तदा नाऽऽसीदिति चेत्; किमायातं तावता विशेषणानुक्त्यतिप्रसङ्गस्य।

प्रतिज्ञान्तर-लक्षण का खण्डन

प्रस्तुत परिच्छेद के आरम्भ में 'प्रतिज्ञाहान्यादि' यहाँ आदि पद से किसका ग्रहण करेंगे ? यदि कहें कि प्रतिज्ञान्तर आदि का ग्रहण करेंगे, तो वह ठीक नहीं। कारण प्रतिज्ञान्तर का निरूपण ही नहीं हो सकता।

समर्थन—'स्व से उक्त और पर से दूषित साध्यभाग का पूर्वानुक्त विशेषणयुक्तत्व रूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है।' *खण्डन*—यह लक्षण युक्त नहीं, कारण जहाँ वादी ने सविशेषण ही साध्यभाग कहा, किन्तु प्रतिवादी विशेषणरहितत्व भ्रम से उसे दूषित करता है। इसके बाद वादी पूर्वकथित सविशेषण प्रतिज्ञाभाग का उल्लेख कर यह कहे कि 'हमने ऐसा कहा है, निर्विशेषण नहीं कहा, अतः आपका दोष अयुक्त है', तो यह सत्-उत्तर ही है। किन्तु यहाँ आपके इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—यहाँ हमने प्रथम विशेषण देकर ही कहा है, अतः वह पूर्वानुक्त विशेषण नहीं है। एवञ्च लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। *खंडन*—प्रथम विशेषण की उक्ति से पूर्वकाल में विशेषणोक्ति का अभाव है ही, अर्थात् पूर्वानुक्त इत्यादि शब्द का पूर्वकाल में विद्यमान जो प्रागभाव, तत्प्रतियोगी जो उक्ति, तद्विषय जो विशेषण, तादृश विशेषणवत्त्वरूप से अर्थ है। उक्त स्थल में प्रथमोक्ति से पूर्व विद्यमान प्रागभाव का प्रतियोगी जो उक्ति, तद्विषयविशेषणवत्त्वरूप से अभिधान है, अतः अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है।

समर्थन—उस काल में विशेष्य की उक्ति भी नहीं है। *खण्डन*—इस कथन से

विशेष्योक्तिकाले विशेषणानुक्तिर्विवक्षितेति चेन्न। एककर्तृकाया वाचो गपदसम्भवेन सर्वत्र तथाभावस्यैव भावात्।

विशेष्योक्तेरनन्तरकाल इति चेन्न। नीलोत्पलमित्यादौ पूर्वनिपातिविशेषणे दभावात्। विशेष्योक्तेरव्यवहितपूर्वकाल इति चेन्न। 'उत्पलं नीलमित्यादौ दभावात्। अव्यवहित इति चेन्न। बहुविशेषणके विशेष्ये तदभावात्।

विशेषणाभिधानोचितकाल इति चेन्न। नानाविशेषणके विशेष्ये क्रमवृत्ति-वाद्वाचः क्रमेणाभिधीयमाने य एकविशेषणाभिधानकालः सोऽपरेषामपि विशे-

वेशेषगुणानुक्ति का जो अतिप्रसङ्ग है, उसमें क्या लाभ हुआ। अर्थात् वह अतिप्रसङ्ग ज्यों-का-त्यों बना ही रहा।

समर्थन—'विशेष्योक्ति के काल में अनुक्त जो विशेषण, तादृश विशेषणवत्त्वरूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है' ऐसा कहेंगे। अनूदित विशेषण की तो तदानीं अनुक्ति नहीं है, अतः अतिप्रसंग नहीं है। *खण्डन*—एक पुरुष द्वारा उच्चरित वचन में एक काल में विशेष्य और विशेषण दोनों की उक्ति नहीं हो सकती, कारण वह क्रमभावी है। अतः सविशेषण वाक्य में सर्वत्र विशेष्योक्ति-काल में अनुक्त जो विशेषण, तादृश विशेषणवत्त्वरूप से अभिधान हो जाने से अतिव्याप्ति हो ही जायगी।

समर्थन—'विशेष्योक्ति के उत्तर काल में अनुक्त जो विशेषण, तादृश विशेषणवत्त्व रूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है' ऐसा कहेंगे। *खण्डन*—ऐसा निवेश करने पर जहाँ विशेष्योक्ति से पूर्वकाल में विशेषणोक्ति है, वहाँ अर्थात् 'नीलमुत्पलम्' इस स्थल में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि 'विशेष्योक्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में अनुक्त जो विशेषण' इत्यादि निवेश करें, तो 'उत्पलन्नीलम्' यहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि 'विशेष्योक्ति से अव्यवहित काल में अनुक्त जो विशेषण' इत्यादि निवेश करें, तो बहु-विशेषणवाले 'सुरभि नीलम् उत्पलं विकासि मनोहरम्' वाक्य में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'विशेषण के अभिधान के लिए उचित जो काल, उसमें अनुक्त जो विशेषण, तादृश विशेषणवत्त्वरूप से स्वोक्त परदूषित साध्यभाग का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है' ऐसा लक्षण करेंगे। एवञ्च 'सुरभि नीलमुत्पलम्' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्यों में अतिव्याप्ति नहीं है, कारण उक्त वाक्यों में विशेषणोक्ति-काल में सभी विशेषण उक्त ही हैं, अनुक्त नहीं। *खंडन*—नाना विशेषणवाले विशेष्य में वचन क्रमवृत्तिक होने से जहाँ क्रमशः विशेषण का अभिधान है, वहाँ एक विशेषण का जो अभिधान-काल है, वही

षणाभिधानानां योग्यो भवत्येवेति तदाऽन्येषां क्रमभाविनामभावात्सैवातिव्याप्तिः ।

सर्वस्मिन् योग्यकाल इति चेन्न । दूषणानन्तरकालस्य योग्यकालत्वाभ्युपगमेऽव्याप्तिः ।

दूषणपूर्वकालस्य तथाऽभिमतत्वे च दूषणानन्तरभाविन्या विशेषणोक्तिव्यक्तेस्तदानीमभावात् पूर्ववदतिव्याप्तिः ।

सर्वस्यास्तज्जातीयाया विशेषणस्योक्तेरभावो विवक्षित इति चेन्न । व्यक्तीनामभावप्रतियोगिभूतानां सर्वासां पृथक् पृथक् प्रमाणेन केनापि अस्मादृशा प्रत्येतुमशक्यतयाऽभावानिरूपणेन लक्षणस्याज्ञानादसिद्धिप्रसङ्गात् । सामान्यप्रत्यासत्त्या व्यक्तयः प्रतिभान्तीति निरस्तमनुमानावसरे ।

अन्य विशेषण के अभिधान के भी योग्य है ही और एक विशेषण के अभिधान में अन्य विशेषण की अनुक्ति भी है । अतः पूर्वोक्त अतिव्याप्ति तद्वस्थ ही है ।

समर्थन—'सम्पूर्ण योग्य काल में अनुक्त जो विशेषण, तादृश विशेषणवत्त्वरूप से स्वोक्त परदूषित साध्यभाग का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है' ऐसा लक्षण करेंगे । उक्त वाक्य में सम्पूर्ण योग्यकाल में अनुक्त विशेषण नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं । *खंडन*—जहाँ दूषणदान से उत्तर काल में विशेषण का अभिधान है, वहाँ लक्ष्य में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ भी योग्यकाल में विशेषण उक्त ही है, अनुक्त नहीं ।

समर्थन—'दूषणदान से पूर्वकाल में अनुक्त जो विशेषण, तादृश विशेषणवत्त्व रूप से स्वोक्त परदूषित साध्यभाग का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है' ऐसा कहेंगे । *खंडन*—प्रत्युच्चारण शब्द भिन्न-भिन्न होने से दूषण के उत्तर काल में उक्त विशेषण-व्यक्ति भी पूर्वकाल में अनुक्त होने से पूर्वोक्त स्थल में (जहाँ सविशेषण ही निर्विशेषण-भ्रम से वादी द्वारा दूषित होने पर पूर्वोक्त विशेषणवत्त्व रूप से कहा गया हो, वहाँ) अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'दूषण से पूर्व उक्त जो विशेषण, तत्सजातीय जो यावत् विशेषण, उन सबसे भिन्न जो विशेषण, तादृश विशेषणवत्त्वरूप से स्वोक्त परदूषित साध्यभाग का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—उक्त लक्षण में अभाव के प्रतियोगी सम्पूर्ण विशेषण-व्यक्तियों का हम लोगों को किसी भी प्रमाण से ज्ञान न होने से अभाव दुर्ज्ञेय हो जाने के कारण लक्षण ही असिद्ध हो जायगा । सामान्यलक्षणा से सभी प्रतियोगी व्यक्तियों का ज्ञान नहीं हो सकता, कारण सामान्यलक्षणा का खण्डन हम अनुमान-खण्डन के अवसर पर कर ही चुके हैं ।

एतेन पूर्वमविशिष्टोक्तस्येति विशेषणं प्रक्षेप्यमिति निरस्तम्। उत्तरकाल-वाक्यविशेषणकविशेष्यस्य प्रथममविशिष्टोक्तत्वसम्भवस्य दर्शितत्वात्।

किञ्च—प्रथममविशिष्टमुक्त्वा भवता यदि विशेषणमिदं प्रक्षिप्यते, तदा हेत्वन्तरं भवतोऽपि स्यात्तथापि तदभावे वा ममापि कुतः प्रतिज्ञान्तरम्।

अथ प्रथममेवेदं विशेषणमुपादाय ब्रवीषि; तथाप्यव्याप्तिः। प्रथमं सविशेषण-मुक्त्वा विशेषणवैयर्थ्यभ्रमेण झटिति संवरणान्निर्विशेषणेऽभिहिते परेण च दूषिते पुनः सविशेषणमभिदधतो नैवं प्रतिज्ञान्तरं स्यादित्यव्याप्तिः, स्वपरसाध्यपूर्वपदानां विवेचने व्यक्तौ पतनादव्याप्तिश्च। प्रकरणादिलभ्यतया प्रागनुक्तस्य विशेषणस्य भ्रान्तपरदूषितस्य प्रकरणलभ्यविशेषणवत्तयाऽनुवदतोऽपि सद्वादे प्रसङ्गः।

समर्थन—'पूर्वकाल में अविशिष्टत्व रूप से उक्त परदूषित साध्यभाग का विशेषण-वत्त्वरूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—'किससे पूर्वकाल में अविशिष्टत्व रूप से उक्त हो' यह विशेषरूप से नहीं कहा है। अतः यदि विशेष्योक्ति से पूर्वकाल का ग्रहण करें, तो जहाँ विशेष्य से उत्तर काल में विशेषण की उक्ति है, वहाँ विशेष्योक्ति से पूर्व अविशिष्टत्वरूप से अनुक्ति होने से अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—प्रथम तो आपने 'पूर्वम् अविशिष्टतया उक्तस्य' यह विशेषण दिया नहीं, अब दे रहे हैं; अतः आपका 'हेत्वन्तर' नामक निग्रहस्थान हो जायगा। फिर भी यदि हेत्वन्तर न हो, तो हमें भी प्रतिज्ञान्तर कैसे होगा?

यदि प्रथम से ही यह विशेषण देकर आप कहें, तब भी अव्याप्ति है। देखिये—जहाँ प्रथम से सविशेषण ही कहकर विशेषण के वैयर्थ्य के भ्रम से झटिति विशेषण का त्यागकर निर्विशेषण का ही अभिधान किया हो और फिर प्रतिवादी के दोष देने पर सविशेषण का अभिधान हो, वहाँ अव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—यदि लक्षणघटक स्वपर-साध्य-पद के अर्थ का विवेचन करते हैं, तो वह तत्-तत् व्यक्तिपरक होने से जिस व्यक्ति का स्वशब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्यत्र अव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—जहाँ प्रकरण से लभ्य होने से प्राक्काल में विशेषण अनुक्त है, परन्तु अज्ञानवश प्रतिवादी से दूषित है और वादी ने प्रकरणलभ्य विशेषण का अनुवादमात्र किया है, वहाँ सद्वाद में अतिव्याप्ति हो जायगी।

अनुक्तस्थाने चाऽप्रतिपादितकरणेऽपि दोषः ; परस्मिन्नजातप्रतिपत्तौ प्रति-पादितत्वानुपपत्तेरित्यादि स्वयमूहनीयम् ।

प्रतिज्ञाविरोध-लक्षण-खण्डनम्

प्रतिज्ञान्तरादीति आदिपदेन किमिष्टम् ?

प्रतिज्ञाविरोधादीति चेन्न । यत एकवक्तृकैकवाक्यांशयोर्मिथो व्याघातः साध्यविपरीतव्याप्तत्वोद्भावनानपेक्षोद्भावनः प्रतिज्ञाविरोधः । तदेतदलक्षणम् ; तथाहि—'इह भूतले घटो नास्ती'त्यादावपि गतत्वेनातिव्यापकमिदम् । वचनयोर्हि व्याघातोऽन्योन्यविरुद्धार्थत्वम् । तच्चेहास्ति, घटोऽस्तीत्यंशस्य घटसत्त्वबोधकत्वात्, नकारस्य च तन्निषेधकत्वात् ।

नन्वयुक्तमिदमुच्यते । न हि 'घटो नास्ती'त्यत्र घटोऽपि विधीयते

यदि 'पूर्वकाल में अप्रतिपादित विशेषणवत्त्वरूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है', ऐसा लक्षण करें, तो यद्यपि प्रकरणलभ्य विशेषण भी प्रतिपत्ति का विषय होने से प्रति-पादित ही है, अप्रतिपादित नहीं, अतः उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं है; तथापि पर को जहाँ प्रतिपत्ति नहीं हुई है, वहाँ प्रकरणलभ्य विशेषण के भी अप्रतिपादित होने से अतिव्याप्ति वैसी ही बनी हुई है, इत्यादि दोष स्वयं ऊहनीय हैं ।

प्रतिज्ञा-विरोध-लक्षण का खंडन

'प्रतिज्ञान्तरादि' यहाँ 'आदि' पद से किसका ग्रहण इष्ट है ?

समर्थन—प्रतिज्ञाविरोध का ही ग्रहण करेंगे । *खण्डन*—यह संभव नहीं, क्योंकि उसका लक्षण ही नहीं कर सकते । यदि 'साध्य के अभाव के व्याप्तत्व के उद्भावन की अनपेक्षा से जिसका उद्भावन हो, ऐसा एक वक्ता के एक वाक्य के दो अंशों का परस्पर व्याघात प्रतिज्ञा-विरोध है' ऐसा लक्षण करेंगे, तो वह युक्त नहीं । देखिये—'इह भूतले घटो नास्ति' यहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी । परस्पर विरुद्ध अर्थ होना ही वचनों का व्याघात है । वह विरोध यहाँ 'घटः' इस अंश के घटसत्त्व बोधक होने से और 'न' के घट-निषेध-बोधक होने से विद्यमान ही है ।

समर्थन—'घटो नास्ति' इस वाक्य में घट और घट-निषेध दोनों का विधान नहीं है, जिससे व्याघात हो । किन्तु घट-निषेध का ही विधान है, फिर इस वाक्य

अनुक्तस्थाने चाऽप्रतिपादितकरणेऽपि दोषः ; परस्मिन्नजातप्रतिपत्तौ प्रतिपादितत्वानुपपत्तेरित्यादि स्वयमूहनीयम् ।

प्रतिज्ञाविरोध-लक्षण-खण्डनम्

प्रतिज्ञान्तरादीति आदिपदेन किमिष्टम् ?

प्रतिज्ञाविरोधादीति चेन्न। यत एकवक्तृकैकवाक्यांशयोर्मिथो व्याघातः साध्यविपरीतव्याप्तत्वोद्भावनानपेक्षोद्भावनः प्रतिज्ञाविरोधः । तदेतदलक्षणम् ; तथाहि—'इह भूतले घटो नास्ती'त्यादावपि गतत्वेनातिव्यापकमिदम् । वचनयोर्हि व्याघातोऽन्योन्यविरुद्धार्थत्वम् । तच्चेहास्ति, घटोऽस्तीत्यंशस्य घटसत्त्वबोधकत्वात्, नकारस्य च तन्निषेधकत्वात् ।

नन्वयुक्तमिदमुच्यते । न हि 'घटो नास्ती'त्यत्र घटोऽपि विधीयते

यदि 'पूर्वकाल में अप्रतिपादित विशेषणवत्त्वरूप से अभिधान प्रतिज्ञान्तर है', ऐसा लक्षण करें, तो यद्यपि प्रकरणलभ्य विशेषण भी प्रतिपत्ति का विषय होने से प्रतिपादित ही है, अप्रतिपादित नहीं, अतः उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं है; तथापि पर को जहाँ प्रतिपत्ति नहीं हुई है, वहाँ प्रकरणलभ्य विशेषण के भी अप्रतिपादित होने से अतिव्याप्ति वैसी ही बनी हुई है, इत्यादि दोष स्वयं ऊहनीय हैं ।

प्रतिज्ञा-विरोध-लक्षण का खंडन

'प्रतिज्ञान्तरादि' यहाँ 'आदि' पद से किसका ग्रहण इष्ट है ?

समर्थन—प्रतिज्ञाविरोध का ही ग्रहण करेंगे । *खण्डन*—यह संभव नहीं, क्योंकि उसका लक्षण ही नहीं कर सकते । यदि 'साध्य के अभाव के व्याप्तत्व के उद्भावन की अनपेक्षा से जिसका उद्भावन हो, ऐसा एक वक्ता के एक वाक्य के दो अंशों का परस्पर व्याघात प्रतिज्ञा-विरोध है' ऐसा लक्षण करेंगे, तो वह युक्त नहीं । देखिये—'इह भूतले घटो नास्ति' यहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी । परस्पर विरुद्ध अर्थ होना ही वचनों का व्याघात है । वह विरोध यहाँ 'घटः' इस अंश के घटसत्त्व बोधक होने से और 'न' के घट-निषेध-बोधक होने से विद्यमान ही है ।

समर्थन—'घटो नास्ति' इस वाक्य में घट और घट-निषेध दोनों का विधान नहीं है, जिससे व्याघात हो । किन्तु घट-निषेध का ही विधान है, फिर इस वाक्य

घटनिषेधोऽपि च, येन मिथो व्याघातः स्यात्। किन्तु घटो निषिध्यते, घटनिषेध एव तु विधीयत इति यावत्। तत्कुतो व्याहतिरिति चेत्।

मैवम्; घट इत्यस्य तावदंशस्य घटविधिबोधकत्वम्, नास्तीत्यस्यापि तत्प्रतिषेधार्थत्वं भवताऽपि मन्तव्यम्। यदि त्वेवं नाभ्युपैषि, तदा तयोरविरुद्धार्थतया घटश्चाऽपेक्षितनिषेधास्तित्वं च भूतलाश्रितं द्वयमस्य वाक्यस्य बोधनीयं स्यादिति। तस्माद्विधिरूप एव घट इति तत्प्रतिक्षेप एव च नेति किमेतौ एककर्तृकवाक्यांशौ न भवतः, परस्परविरोधार्थाभिप्रायकौ वा न भवतः, येन लक्षणमिदं भवतस्तत्र न गच्छेत्।

न मिथो विरुद्धत्वमात्रं मिथो व्याघातकत्वम्, किन्त्वेकदेशकालादौ परस्परविरुद्धार्थयोरस्तित्वम्। न च नास्तीत्यनेन एकदेशकालादौ विधिनिषेधौ वर्तमानौ बोध्येते इति चेन्न। उक्तोत्तरत्वात्, देशकालाद्यनन्तर्भावे विरोधस्यैवानुपपत्तेः।

किञ्च—यद्येकदेशादौ विरुद्धास्तित्वं प्रामाणिकमभ्युपैषि, तदा विरुद्धशब्द-

में व्याघात कहाँ है? अतः 'घटो नास्ति' इस वाक्य में व्याघात है, यह कथन युक्त नहीं है।

खंडन—'घटः' यह अंश घटविधि का बोधक है और 'नास्ति' यह अंश घट-निषेध का—यह तो आप भी मानेंगे। यदि ऐसा न मानें, तो दोनों के अविरुद्धार्थक होने से घट और घटनिषेध दोनों का भूतल में अस्तित्व वाक्यार्थ हो जायगा। तस्मात् 'घट' विधिरूप है और 'न' का अर्थ उसका निषेध ही है। फिर क्या यह एककर्तृक वाक्य का अंश नहीं हुआ या परस्पर विरुद्ध अर्थ का वाचक नहीं है, जिसमें आपके लक्षण की अतिव्याप्ति न हो?

समर्थन—परस्पर विरोधमात्र व्याघात नहीं है, किन्तु एकदेश या एककाल में विरुद्ध दो पदार्थों का अस्तित्व व्याघात है। उक्त वाक्य से एकदेश अथवा एककाल में वर्तमान विधि-निषेध बोधित नहीं होते, अतः उक्त वाक्य में व्याघात नहीं है। *खण्डन*—घट और घट-निषेध दोनों परस्पर विरुद्ध हैं—यह तो आप भी मानते ही हैं। वह विरोध एकदेश और एककाल के अन्तर्भाव के बिना हो नहीं सकता। अतः अगत्या देश-काल का अन्तर्भाव भी मानना ही पड़ेगा।

किञ्च—विरुद्ध पदार्थों का एकदेश या एककाल में अस्तित्व प्रामाणिक है या नहीं? यदि एकदेश में अस्तित्व प्रामाणिक है, तो रूप-रस के तुल्य वे दोनों एक

स्तवायमन्य एव सामयिकार्थः कश्चित्, प्रमाणेन तथाभूतस्य ग्रहणादेव विरुद्धत्वाभ्युपगमशान्तेः। अथ प्रामाणिकं तन्नाभ्युपैषि, तदाऽप्रामाणिकं मिथो व्याघातकत्वं क नाम नास्तीत्यतिव्याप्तिः।

अथ मन्यसे—यथा परेणाभिधीयेते अर्थौ तथा मिथो व्याघातकाविति ब्रूमः, तत्र च प्रमाणं प्रसरत्येवेति। न; कथमपि तत्र प्रमाणप्रसृतौ विरोधभावापरिभाषामात्रत्वापत्तेः।

यथा परेणोक्तोऽर्थस्तथा मिथो व्याघातक इत्यपि क्वचिन्मिथोव्याघातकमर्थमप्रमाय न वक्तुं शक्यम्। प्रसज्यते मिथो व्याघातः, न प्रसाध्यत इति चेन्न। क्वचिदप्यप्रमितस्य प्रसञ्जयितुमपि भवताऽशक्यत्वात्।

देश में रहने से विरुद्ध ही नहीं हैं। उन्हें विरुद्ध कहना तुम्हारा सङ्केतमात्र है। यदि उन दोनों का एकदेश में अस्तित्व प्रामाणिक नहीं है, तो 'अमुक वाक्य व्याहत है' इस कथन का यह अर्थ हुआ कि यहाँ अप्रामाणिक व्याघात दोष है। फिर इससे हानि क्या हुई, कारण प्रामाणिक दोष ही कार्य का प्रतिबन्धक होता है। ऐसा अप्रामाणिक व्याघात कहां नहीं है ? वह 'घटो नास्ति' इस वाक्य में भी है, अतः पूर्वोक्त अतिव्याप्ति वैसी ही बनी हुई है।

समर्थन—वादी ने जिस प्रकार अर्थात् सामानाधिकरण्यरूप से वन्ध्यात्व और मातृत्व रूप दो अर्थों का प्रयोग किया है, उस (सामानाधिकरण्य) रूप से वह व्याघातक है—यह हम कहते हैं। वहाँ वाद्युक्त 'वन्ध्या-माता' इस वाक्य के बाधितार्थक होने से अप्रमाण होने पर भी उक्त वाक्यप्रतिपाद्यत्वरूप से वन्ध्यात्व-मातृत्व-सामानाधिकरण्य प्रमाण-विषय हैं ही, अतः उक्त दोष नहीं है। *खंडन*—किसी प्रकार अर्थात् वाक्यप्रतिपाद्य-त्वरूप से भी यदि वन्ध्यात्व और मातृत्व का सामानाधिकरण्य प्रमाण का विषय है, तो रूप-रस के तुल्य वे दोनों विरुद्ध ही नहीं हैं, अतः विरोध का कथन परिभाषामात्र है।

किञ्च—जबतक परस्पर व्याघातकत्व अन्यत्र प्रमित नहीं होता, तबतक 'जिस प्रकार पर ने कहा, उस प्रकार मिथो व्याघात है' यह साधन नहीं किया जा सकता। *समर्थन*—पर द्वारा उक्त वन्ध्या में माता इस प्रसञ्जक (आरोपक) वाक्य से परस्पर व्याघात का प्रसञ्जन (आरोप) मात्र होता है, साधन नहीं। *खण्डन*—जो कहीं प्रमित नहीं है, उसका प्रसञ्जन भी नहीं हो सकता। तर्कस्थल में भी ह्रद में प्रमित ही धूमाभाव का पर्वत में प्रसञ्जन होता है।

मा प्रमायि, अप्रमायैव तद्व्यवहार इति चेन्न । क्वचिदप्यप्रमितमाभासमात्रोपस्थितं क नाम नोपस्थापयितुं शक्यमित्युक्तैवातिव्याप्तिरावर्तते ।

अनेकत्र नियतयोरेकत्र प्रसञ्जनमिति चेन्न । प्रसञ्जकस्य तद्द्वयस्यैकत्र स्थितिनियतताप्रमितावविरोधस्यानेवंभावे चाऽनापादकत्वस्याऽऽपत्तेः ।

एकैकव्याप्याभ्यां पृथक् पृथक् तद्द्वयापादनमिति चेन्न । एकैकमव्याघातात् ।

अर्थात् द्वयं स्यादिति चेन्न । अर्थापत्त्यर्थत्वेनैवाव्याघातात् ।

अर्थादापादनम् , न साधनमिति चेन्न । मिथो विरोधित्वेन नर्काभासत्वापत्तेः, इष्टापादनाच्च ।

समर्थन—प्रमित न हो, तो क्या हानि है, पर का जो अभ्युपगम है, उसीसे प्रसञ्जन होगा, जैसा कि भ्रम के 'नेदं रजतम्' इस बाध में शुक्ति-रजततादात्म्य प्रतियोगीरूप से भासता है । *खण्डन*—अप्रमित और केवल भ्रम से उपस्थित व्याघात का प्रसञ्जन कहाँ नहीं होता, अर्थात् सर्वत्र हो सकता है । अतः 'घटो नास्ति' इस वाक्यस्थल में भी उसका प्रसञ्जन होने से पूर्वोक्त अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है ।

समर्थन—वन्ध्या में वन्ध्यात्व और माता में मातृत्व प्रमित है, उन दोनों के एक धर्मी में ['वन्ध्या-माता' इस वाक्य में] प्रसञ्जक के बल से प्रसञ्जन करेंगे । *खण्डन*—दो विरुद्ध धर्मों का एक में प्रसंजन बिना किसी प्रसञ्जक के हो नहीं सकता । उस प्रसञ्जक में यदि प्रसज्यद्वय की व्याप्ति प्रमित है, तो उन दोनों के एकत्र प्रमित होने से वस्तुतः विरोध ही नहीं है, केवल विरोध की परिभाषामात्र है । यदि व्याप्ति प्रमित नहीं है, तो वह आपादक ही नहीं हो सकता ।

समर्थन—एक-एक के व्याप्य दो प्रसञ्जकों से मिलित दोनों का आपादन नहीं होता, किन्तु पृथक्-पृथक् दोनों का आपादन होता है । *खण्डन*—ऐसा होने पर दोनों एकत्र साधक तो हैं नहीं, अतः व्याघात ही नहीं होगा ।

समर्थन—दोनों के व्याप्यों से एक-एक का अवस्थान होने पर अनुपपत्ति से ही दोनों की एकत्र अवस्थिति होने से व्याघात है । *खण्डन*—प्रत्येक दोनों के एकत्र आपादन की अनुपपत्ति से आप उन दोनों की अवस्थिति का एकत्र साधन करते हैं या आरोपमात्र ? प्रथम पक्ष में उक्त अनुपपत्ति अर्थापत्तिरूप प्रमाण होने से उससे प्रमित विरुद्धद्वय का एकत्र अवस्थान रूप-रस के तुल्य व्याहत ही नहीं है ।

यदि कहें कि अनुपपत्ति से प्रसञ्जनमात्र करते हैं और प्रसञ्जन में प्रमा की अपेक्षा नहीं, कारण प्रसञ्जन ज्ञानमात्र से ही होता है, अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है,

मिथो व्याघातात् कथं तथा स्यादिति चेन्न। तद्द्वयधर्मिकत्वात् व्याघातापत्तेर्धर्मिणि प्रमापेक्षायामव्याघातात्।

प्रतिबन्दी-लक्षण-खण्डनम्

एवमादीनां दोषाणां परं प्रत्यभिधाने तवापि सर्वमिदं सुवचमिति चेन्न। तवाप्यन्यत्र दोषो मयाऽऽपादित इति प्रतिबन्दीं गृह्णतः किं परपक्षे दोषापादन-

तो जैसे व्यापक धर्मद्वय का एकत्र अवस्थान व्याघात है, वैसे ही उनके व्याप्य आपादक दोनों का एकत्र अवस्थान भी व्याघात है, अतः उनसे प्रसञ्जन तर्काभास हो जायगा। किञ्च—एक-एक का आपादन इष्ट है, अनिष्ट नहीं। अनिष्ट का आपादान ही तर्क है। इससे भी यह तर्काभास ही है।

समर्थन—एक-एक का आपादन ही विरुद्ध धर्मद्वय के आपादन में पर्यवसित होता है। अतः वह अनिष्टापादन ही है, इष्टापादन कैसे होगा? *खंडन*—तब तो 'एक धर्मीविरुद्ध धर्मद्वय युक्त है' ऐसा ही व्याघात का आपादन हुआ। यह तब हो सकता, जब धर्मद्वययुक्त धर्मी प्रमित हो। यदि उसे प्रमित मान लें, तो रूप-रस के तुल्य प्रमित होने से वे व्याहत ही नहीं हैं।

प्रतिबन्दी-लक्षण का खंडन

समर्थन—आप अद्वैतसिद्धि में प्रवृत्त हैं। यदि आपको नैयायिक आदि प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थान से निगृहीत करें, तो जैसे आप प्रतिज्ञाहानि आदि के लक्षण का खण्डनकर प्रतिज्ञाहानि आदि का निवारण करते हैं, वैसे ही नैयायिक आदि द्वैतसिद्धि में प्रवृत्त हों और यदि आप भी प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों का उपन्यास

१. शांकरीकार इस ग्रन्थ का इस प्रकार संल्लापन करते हैं—कहा जा सकता है कि विरोध, व्याघात आदि पद यदि सार्थक हों तो उनका खण्डन निरवकाश है। यदि वे निरर्थक हैं, तो आपने ही सार्थक समूह के साथ उनका जो उच्चारण किया, वह अनुपपन्न हो जायगा। किञ्च—प्रतीत व्याघात का खंडन कर रहे हैं या अप्रतीत का? यदि प्रतीत का कहें, तो वह प्रतीति प्रमात्मक है या भ्रमात्मक? यदि प्रमात्मक कहें, तो खंडन व्याहत है। भ्रमात्मक कहें, तो भ्रान्ति अभ्रान्तिपूर्वक होने से पुनरपि खंडन व्याहत है। यदि अप्रतीत व्याघात का खंडन करते हैं तो भी खंडन व्याहत है। अप्रतीयमान दोषवत्तया ज्ञाप्य ही नहीं हो सकता। अतः यह प्रतिबन्दी सर्वथा दुस्तर है इस आशय से शंका करते हैं—'एवम्' इत्यादि से।

मात्रं विवक्षितम्, उत यस्त्वया तत्र समाधिरभिप्रेयः, स मयाऽप्यन्यभिप्रायात् स्वपक्षे समाधिः ?

न तावदाद्यः ; अप्रस्तुतत्वात् । परोक्तदोषानुद्धारे तावतैव कथायास्तदर्धस्य वा पर्यवसानात्, निग्रहापरिहारावधित्वात्तयोः । द्वितीये तु स एवाभिधीयताम्, का नो हानिः ?

भवाँस्तावदभिधत्तां कस्तत्र समाधिः, ततो मयाप्यभिधेय इति चेन्न । मया तदभिधानस्य साम्प्रतमप्रस्तुतत्वात् । नहि मया स्वपक्षसाधनं त्वया च तद्दूषणं प्रकृते वक्तुमारब्धमस्ति । किन्तु त्वया स्वपक्षो निर्वाह्यः, तद्दूषणञ्च मयाऽभिधानीयमिति कथा प्रस्तुता वर्तते । ईदृशि च कथाविभागे मत्पक्षसमाधानाय मां पर्यनुयोक्तुं भवतः कुतोऽधिकारः ?

अथ विशेषतस्तन्निष्टङ्कने किं प्रयोजनम्, अस्ति तावदेतादृशि चोद्ये परिहारो

करें, तो नैयायिक आदि भी प्रतिज्ञाहान्यादि के लक्षणों का खण्डनकर प्रतिज्ञाहान्यादि का निवारण कर ही सकते हैं। अर्थात् प्रतिबन्दी उत्तर दे सकते हैं। *खंडन*—क्या आप अन्य पक्ष में दोष के आपादन द्वारा प्रतिबन्दीरूप दोष देकर केवल परपक्ष में दोष का आपादनमात्र चाहते हैं या जो परपक्ष में दोष है, वह दोष मेरे पक्ष में भी है, इस अभिप्राय से स्वपक्ष में समाधि (समाधान) चाहते हैं । अर्थात् दोष-सामान्य विवक्षित है या परिहारसाम्य ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं, कारण सम्प्रति परपक्ष में दोष प्रस्तुत ही नहीं है । स्वपक्ष में परोक्त दोष का उद्धार न होने से ही वितण्डारूप कथा तथा वादजल्परूप कथा का अर्धभाग समाप्त हो जाता है, कारण निग्रहस्थान का अपरिहार ही उनकी अवधि है ।

द्वितीय पक्ष में उस समाधि को ही कहिये, मेरी क्या हानि है ?

समर्थन—पहले आप ही कहिये कि आपके पक्ष में क्या समाधि है, पीछे हम भी अपने पक्ष में समाधि कहेंगे । *खंडन*—हमारे पक्ष में समाधान सम्प्रति अप्रस्तुत है, कारण हमने स्वपक्ष में समाधान कहने और आपने हमारे पक्ष में दूषण कहने का आरम्भ नहीं किया । किन्तु आप अपने पक्ष का निर्वाह करें और हम आपके पक्ष में दोष दें, ऐसी कथा प्रस्तुत है । इस कथा में मेरे पक्ष में समाधान के लिए मुझे प्रेरणा करने में आपका अधिकार कैसे हो सकता है ?

समर्थन—विशेषरूप से अपने पक्ष में समाधान देने से क्या लाभ है, इस दोष

यतस्त्वयाऽपि स्वपक्षेऽसौ स्वीकार्य इत्याशयस्ते । सोऽपि न युक्तः ; न हि मत्पक्षे चेत्समाधिरस्ति तावता त्वत्पक्षेऽपि तेन भवितव्यमित्यत्र किञ्चिदपि प्रमाणमस्ति। साम्यादेवमिति चेन्न । वैषम्यस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । यदि तद्गतमसाधारणं स्वरूपमादाय मद्दर्शनं प्रतितन्त्रसिद्धान्तं वा तत्र समाधिः स्यात् । अत्र च त्वत्पक्षे तदभावान्न स्यात् , तथा सति साम्यमात्रात्कथं समाधिरसावत्रापीति निश्चेतुं शक्यते ।

कोऽसौ तत्र विशेष इति चेन्न । मया साम्प्रतं तदभिधानस्याप्रस्तुतत्व-मित्युक्तत्वात् ।

चोद्यसाम्यात् समाधिसाम्यमिति चेन्न । दूष्यगतविशेषभावाभावविशेषि-तत्वादिनापि तद्वैषम्यसम्भवात् । यथा—सद्व्यवहारस्य सत्तास्वीकारत्वे तुल्येऽपि

का समाधान है ही, कारण आप भी अपने पक्ष में उस समाधान को स्वीकार करते हैं । *खण्डन*—आपका यह आशय युक्त नहीं, है, कारण मेरे पक्ष में समाधान होने से आपके पक्ष में भी समाधान हो, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है ।

समर्थन—दोष तुल्य होने से समाधान भी तुल्य है, ऐसा अनुमान हो ही सकता है । अर्थात् 'प्रत्यक्षदोषाः परिहारवन्तः एकदोषत्वात्, स्वप्रस्थदोषवत्' यह अनुमान हो ही सकता है । *खण्डन*—समाधेय की व्यक्तिगत विशेषता को लेकर तथा स्वदर्शन-प्रतिदर्शन के सिद्धान्तों का आश्रयण कर समाधान में वैषम्य अवश्य मानना ही पड़ेगा । देखिये—जहाँ नैयायिक द्रव्य में सद्व्यवहारविषयत्व से सत्ता की सिद्धि करता हो और 'यदि सत्ता की सिद्धि सद्व्यवहारविषयत्व से ही हो, तो सत्ता में भी सद्व्यवहारविषयत्व से सत्ता की सिद्धि क्यों न हो ?' ऐसी प्रतिबन्दी मीमांसक देता हो, वहाँ समाधेय व्यक्ति सत्ता और द्रव्य भी विशेष हैं तथा सत्ता में सद्व्यवहार स्वरूपसत्त्व को विषय करता है, ऐसा नैयायिकदर्शन, प्रतिदर्शन (मीमांसा) सिद्धान्तरूप समाधि है और तुम्हारे पक्ष में द्रव्य में वह समाधान नहीं है । अतः दोष के साम्यमात्र से यहाँ भी वही समाधि है, यह निश्चय कैसे हो सकता है ?

समर्थन—दोष तुल्य होने पर भी समाधि में वैषम्य का प्रयोजक विशेष क्या है ? *खण्डन*—मैं विशेष का अभिधान करूँ, यह अप्रस्तुत है—यह कह ही आया हूँ । अर्थान्तर के भय से मैं उसे कह नहीं सकता ।

समर्थन—फिर भी जब प्रश्न सम है, तब समाधि भी सम ही होनी चाहिए । अर्थात् तुम्हारे पक्ष में जो समाधि है, उसीका हम यहाँ साधन नहीं करते । किन्तु

सत्तायां तदभ्युपगमेऽनवस्थया तदाश्रये च तदभावेन। एवमन्यत्रापि बहुलं दर्शनादिति।

किञ्च—परोद्भावितमसिद्ध्यादिकमपरिहृत्य प्रतिबन्द्या प्रत्यवतिष्ठमानस्य कोऽभिप्रायः,' किं यदिदं दोषतया परेणोद्भावितं तद्दूषणम्, अदूष्येऽपि गतत्वात्, उत दूषणमपि सन्नोद्भावनीयं तुल्ययोगक्षेमत्वात्?' यथाऽऽहुः—'यत्रोभयोरि'त्यादि।

नाद्यः; यद्यत्रासिद्ध्यादिलक्षणमस्ति उद्भाविते दूषणे तदा दोषत्वस्याशक्यपरिहारत्वात्, परिहारेऽपि वा तस्यालक्षणत्वप्रसङ्गात्।

यद्येतद् दूषणं कथं तर्ह्यदूष्यत्वेन वादिनाऽङ्गीकृतेऽपि प्रतिबन्दीस्थाने गतमिति चेत्; यद्येतददूषणं कथं दोषलक्षणोपपन्नमित्यत्रापि दीयतां दृष्टिः।

उसीके सदृश समाधि का ही साधन करते हैं। एवञ्च स्वरूपविशेषादि होने पर भी कोई विरोध नहीं है। *खण्डन*—दूष्य व्यक्ति में रहनेवाले विशेषों (भाव-अभावों) में भी समाधि में भेद हो सकता है। देखिये—सद्-व्यवहार सत्ता-साधन में तुल्य होने पर भी सत्ता में सत्ता मानने में अनवस्था [का भाव] है और द्रव्य में सत्ता मानने में अनवस्था का अभाव है। इसी प्रकार अन्यत्र भी बहुत-से स्थलों में दोष सम होने पर भी समाधि में वैषम्य देखा जाता है।

किञ्च—स्वपक्ष में प्रतिवादी द्वारा उद्भावित असिद्धि आदि का परिहार न कर प्रतिबन्दी से समाधान करनेवाले का क्या अभिप्राय है—'क्या आप जिस दोष को देते हैं, वह दोष नहीं है, क्योंकि आपके मत में भी वह अदूष्य है,' यह अभिप्राय है अथवा 'दूषण तो है, पर उसका उद्भावन नहीं करना चाहिए, क्योंकि दोनों पक्षों में उसकी स्थिति तुल्य है?' यही बात कुमारिल भट्ट ने कही भी है कि 'जहाँ दोष दोनों पक्षों में समान हों और उनका समाधान भी तुल्य हो, ऐसे अर्थ के विचार में किसी एक पर पर्यनुयोग नहीं करना चाहिए।'

इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं; कारण यदि यहाँ कथित दोष में दोष का लक्षण घटता है, तो दोषत्व का परिहार अशक्य है। यदि दोषत्व का परिहार करें, तो वह दोष का लक्षण ही नहीं कहलायेगा।

समर्थन—यदि यह दोष है, तो वादी द्वारा अदूष्यत्वरूप से स्वीकृत प्रतिबन्दी में कैसे गया? *खण्डन*—यदि यह दोष नहीं है, तो दोष के लक्षण से युक्त कैसे हुआ, इस पर भी ध्यान दीजिये।

नियामकभावे तर्ह्येतदीयदूषणत्वे सन्देहः पर्यवसित इति चेत्; अस्तु दोषत्व-सन्देहेऽपि भवदीयसाधनस्यासाधकत्वात् सन्दिग्धासिद्धवत्।

किञ्च—यल्लक्षणवतोऽस्य दोषत्वसन्देहस्तल्लक्षणक एवायमन्यत्रापीति तत्राप्यसिद्ध्यादेरदूषणत्वमेव स्यादितीयं प्रतिबन्दी दुरुत्तरा प्रतिवादिनेति।

नापि द्वितीयः; तथाहि—उभयवादिसम्मतादूष्यत्वं धूमानुमानादिकं यदि प्रतिबन्दीकरोति परस्तदा तद्दर्शनेऽन्यत्र क्वचिदप्येतदसिद्ध्यादिकं नोद्भावनीयम्, परसाधनेषु तस्यैव धूमानुमानादेः प्रतिबन्ध्या भयादित्येषा मयाऽपि सुग्रहैव तं प्रति प्रतिबन्दी। अत्रापि शक्यत एव पठितुम्—'यत्रोभयोः समो दोषः' इत्यादि।

समर्थन—नियामक अर्थात् विशेष-दर्शन का अभाव होने से प्रकृत दोष में दोषत्व का सन्देह ही होगा। अर्थात् निश्चित दोषत्वरूप से आप भी उसका उद्-भावन नहीं कर सकते। *खंडन*—दोषत्व का सन्देह ही रहे, तो हानि क्या है। संदिग्ध असिद्धि के तुल्य दोष के सन्देह से ही आपका हेतु साधक नहीं होगा।

किञ्च—जिस लक्षण से युक्त असिद्ध्यादि में प्रकृत स्थल में दोषत्व का सन्देह है, उस लक्षण से युक्त ही असिद्ध्यादि अन्यत्र भी हैं। अतः यदि असिद्ध्यादि को यहाँ दूषण न मानें, तो अन्यत्र भी असिद्ध्यादि दूषण न कहलायेंगे, यह प्रतिबन्दी प्रतिबन्दीवादी को भी दुरुत्तरणीय ही है।

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है। देखिये—'वर्णा अनित्याः श्रावणत्वात् ध्वनिवत्' नैयायिक की इस अनुमिति में मीमांसक द्वारा उपान्त्य वर्ण में असिद्धि और शब्दत्व में अनैकान्तिकत्व दोष देने पर नैयायिक उभयमत में अदूष्य धूमानुमान को यदि प्रतिबन्दी करें (अर्थात् नैयायिक यह कहे कि यदि प्रस्तुत स्थल में असिद्धि और अनैकान्तिक दोष हों, तो वे दोष धूमानुमान में भी हो जायँगे, कारण धूम भी आकाश में अनैकान्तिक है तथा आर्द्रेन्धन-संयुक्त प्रदेश अन्यत्र पर्वत में असिद्ध है), तो नैयायिक-मत में कहीं भी धूमानुमानरूप प्रतिबन्दी के भय से असिद्धि आदि का उद्भावन न हो सकेगा। भाव यह है कि यदि प्रस्तुत श्रावणत्वानुमान में धूमानुमानरूप प्रतिबन्दी के भय से असिद्ध्यादि दोष न कहलायें, तो उक्त प्रतिबन्दी के भय से कहीं भी असिद्ध्यादि दोष न कहलायेंगे—ऐसी प्रतिबन्दी नैयायिक पर भी हो सकती है। यहाँ भी 'यत्रोभयोः' इत्यादि श्लोक पढ़ ही सकते हैं।

अथ यं विशेषमादाय प्रतिबन्दी स्यात् तन्मात्रस्यानुद्भावनम्, न तु सामान्यत एवेति चेन्न। तत्र विशेषे प्रतिबन्द्या त्याजितदुष्टत्वे गतत्वात्तल्लक्षणमेव नेति स्यात्।

विशिष्य तद्विशेषत्याजने च तादृशस्य लक्षणस्यासिद्धिरेव स्यादिति कृतं प्रतिबन्द्या।

अथ मद्दर्शनमात्राभ्युपगतादृश्यत्वं किञ्चित्पदार्थं प्रतिबन्दीकरोति तदैतदुक्तं तेन स्यात्—इह नेदं दूषणं वक्तव्यमित्यभिधानेऽनयैव युक्त्या तवेष्टभङ्गप्रसङ्गादिति। तन्न; इदमिह दूषणं वक्तव्यम्, अनभिधानेऽस्यैवानिष्टस्य परसिषाधयिषितस्य सिद्धिप्रसङ्गादित्यभिधानानुकूलाया अपि प्रतिबन्द्याः सम्भवात्।

नन्वेवमेवास्तु, तथाचाभिधानेऽनभिधाने चोभयतःपाशा प्रतिबन्दीरज्जुर्भवत

समर्थन—असिद्धि के जिस प्रकार-विशेष को लेकर प्रतिबन्दी करते हैं, उस दोष से विशिष्ट प्रकृत हेतु का उद्भावन नहीं होता। किन्तु सामान्यतः असिद्धि का उद्भावन तो होता ही है। *खंडन*—प्रतिबन्दी ने जिस (असिद्धि) विशेष में दोषत्व तो दूर कर दिया और असिद्धि का लक्षण है, उस स्थल में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—असिद्धि आदि दोषों के लक्षण में 'प्रतिबन्दी से त्याजित दुष्टत्व से अन्य' ऐसा निवेश करने पर अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—यदि ऐसा है, तो प्रतिबन्दी का उद्भावन व्यर्थ है, असिद्धि के लक्षण का अभाव है, केवल इतना ही उद्भावन करना चाहिए।

समर्थन—जहाँ 'प्रपञ्चः सत्यो व्यावहारिकत्वात्' इस नैयायिक के अनुमान में वेदान्ती असिद्धि का उद्भावन करे और उस पर नैयायिक ऐसी प्रतिबन्दी का उपन्यास करे कि "यदि मेरी अनुमिति में असिद्धि-दोष हो, तो 'प्रपञ्चो मिथ्या व्यावहारिकत्वात्' इस आपके अनुमान में भी असिद्धि हो जायगी", वहाँ उसका यही अभिप्राय है कि 'यहाँ इस दोष का अभिधान न करो, यदि करोगे, तो इसी दोष से तुम्हारे इष्ट का भी भङ्ग हो जायगा।' *खंडन*—'यहाँ दोष अवश्य कहना चाहिए। यदि न कहेंगे, तो पर के सिषाधयिषित अनिष्ट का प्रसङ्ग हो जायगा', ऐसे अभिधान के अनुकूल प्रतिबन्दी भी सम्भव हो सकती है।

समर्थन—ऐसा ही रहे, क्या हानि है? यदि असिद्धि का अभिधान करते हैं, तो इसी दोष से मेरे अभीष्ट की असिद्धि होती है और यदि अभिधान नहीं करते,

एव दुर्निवारा स्यात् । मैवम्; मिथो विरुद्धायाः प्रतिबन्द्यास्तर्काभासत्वात्, मिथो विरुद्धत्वस्य तर्कदूषणत्वात् । सत्प्रतिपक्षानुमानवद् द्वयोरपि परस्परप्रति-क्षेपेणैव उपक्षीणत्वादिति ।

न्याय-द्वितीयाध्यायप्रथमाह्निकसूत्रे च 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' इत्यत्र आपादितदृष्टान्ताभावलक्षणदोषसाम्येन प्रत्यवस्थितं पूर्वपक्षवादिनं निराकर्तुमाचार्यः

तो पर के सिषाधयिषित मेरे अनिष्ट की सिद्धि होती है—इस प्रकार उभयतः पाश-प्रतिबन्दी वेदान्ती पर ही होती है। *खंडन*—असिद्धि आदि दोषों के अभिधान-अनभिधान से मेरे पक्ष में दोष का आपादन आप करते हैं—यह तृतीय प्रतिबन्दी होती। है वह युक्त नहीं, कारण परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में एक का आपादन तर्काभास हो जाता है, कारण मिथोविरोध तर्क का दोष है। आपके मत में प्रतिबन्दी को तर्क-विशेष ही माना गया है। सत्प्रतिपक्षानुमान के तुल्य यदि अभिधान पक्ष में दोष हो, तो अनभिधान पक्ष दोषयुक्त नहीं है और यदि अनभिधान पक्ष में दोष हो, तो अभिधान पक्ष में दोष नहीं है—इस प्रकार परस्पर के प्रतिक्षेप से दोनों पक्षों में दोष अनुपपन्न है।

समर्थन—यदि इस तरह आप प्रतिबन्दी को दूषक न मानें, तो 'यत्रोभयोः समो दोषः' इत्यादि वचन द्वारा भट्टपाद ने उसे जो दूषक बतलाया है, उससे विरोध हो जायगा। *खंडन*—भट्टपाद के उक्त वचन के साथ उद्योत-कर के वचन का विरोध होने से उसमें हमारा कोई आदर नहीं है। इसी बात को ग्रन्थकार के शब्दों में कहना हो, तो यों कहा जा सकता है कि 'न्यायदर्शन के द्वितीयाध्याय के प्रथम आह्निक के १६ वें सूत्र ('प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्') के वार्तिक में आपादित दृष्टान्ताभावरूप दोषसाम्य द्वारा प्रत्यवस्थित पूर्वपक्षवादी का निराकरण करते हुए जिन आचार्य उद्योतकर ने 'समानमित्यनुत्तरमभ्युपगमात्' इत्यादि कहा है, उन्हींको भट्ट का प्रतिभट (प्रतियोद्धा) बना दीजिये।' अर्थात् उन्होंने भी भट्ट के इस वचन की उपेक्षा की है, अतः वे ही भट्ट से निपट लें। हम तो उद्योतकर का वह वचन प्रमाण मानकर प्रतिबन्दी को अदूषक ही मानेंगे, यह भाव है।

उक्त सूत्र, भाष्य और वार्तिक का पूरा प्रसंग इस प्रकार है—शंका हुई कि चक्षु आदि प्रमेय होने से उनमें प्रमाणत्व कैसे रहेगा, क्योंकि प्रमाकरणत्वरूप प्रमाणत्व और

'समानमित्यनुत्तरमभ्युपगमात्, अभ्युपगतं तावद्भवता नास्मत्पक्षे दृष्टान्तोऽस्तीति' ब्रुवन्नुद्योतकरो 'यत्रोभयोरि'त्यादि वदतो भट्टस्य प्रतिभटीकर्तव्यः ।

अपसिद्धान्त-लक्षण-खण्डनम्

तत् किं प्रतिबन्ध्यादि दूषणं न भवत्येव ? नन्वेवं भवतोऽपसिद्धान्तः

प्रमाविषयत्वरूप प्रमेयत्व परस्पर विरोधी होने से एक में दोनों नहीं रह सकते । इस पर समाधान करते हुए सूत्रकार ने कहा—'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत् ।' यहाँ 'च' शब्द का अर्थ 'अपि' (भी) है । एवञ्च जैसे तुला या तराजू प्रमेय होती हुई भी प्रमाण (प्रमापक) होती है । यहाँ भाष्यकार, वार्तिककार ने और भी उदाहरण देते हुए कहा है कि 'जैसे एक ही वृक्षरूप पदार्थ में अनेक कारकत्व और अनेक कालयोगित्व का व्यवहार होता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए । एक में अनेक कालसम्बन्धिता में प्रमाण कारण का कार्यानुगतत्व रूप में अनुभव ही है ।' इस पर बौद्ध कहता है कि 'यह ठीक नहीं, अननुगत ही कारण और अनन्वित ही कार्य हैं, क्योंकि क्षणिक पदार्थों में ही कार्य-कारणभाव हुआ करता है । एवञ्च कारण से कार्य अनुगत है, इसमें कोई प्रमाण नहीं ।' इस पर नैयायिक कहता है कि 'कारण से अननुगत ही कार्य होता है, इसमें कोई दृष्टान्त नहीं है ।' बौद्ध इसके उत्तर में कहता है—'कार्य के 'कारण से अनुगत होने में भी तो कोई दृष्टान्त नहीं है ।' इस प्रकार प्रतिबन्दीरूप प्रश्न करने पर उसके समाधान में प्रयुक्त 'समानमिति अनुत्तरमभ्युपगतत्वात्' इस सूत्र के व्याख्यान में उद्योतकर ने इस बात को मान लिया है कि मेरे पक्ष में दृष्टान्त नहीं है, अतः स्वमत में दृष्टान्ताभाव को मानकर परपक्ष में दृष्टान्ताभावरूप दोष देनेवाले आपके प्रति मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान प्राप्त हुआ । अर्थात् यहाँ उद्योतकर ने स्पष्ट ही प्रतिबन्दी को दूषक मानकर प्रतिपक्षी को मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान से निगृहीत किया है ।

अपसिद्धान्त-लक्षण का खण्डन

प्रश्न—तब क्या प्रतिबन्दी आदि दूषण होते ही नहीं ? ऐसा मानने पर तो आपको अपसिद्धान्त दोष हो जायगा । कारण स्थान-स्थान पर शंकराचार्य प्रभृति ने प्रतिबन्दी को माना ही है । उत्तर—यदि ऐसा है, तो प्रकृत से सम्बद्ध होने के कारण 'अपसिद्धान्त' का ही लक्षण बतलाइये । लक्षण न कहकर केवल वचनमात्र से

स्यादिति चेत्; तर्हि दर्शय अपसिद्धान्तस्य लक्षणं प्रकृतसम्बद्धतया। वाङ्मात्रेणापसिद्धान्ते भवतः किमिति नापसिद्धान्तः स्यात्।

सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमोऽपसिद्धान्तः। प्रतिबन्द्यादि च भवता सिद्धान्तत्वेनाभ्युपेतम्, 'मयेदं दर्शनमाश्रित्याभिधेयमि'ति भवता दर्शनविशेषस्याभ्युपेतत्वात्। दर्शनस्य च तत्तत्पदार्थस्वीकारात्मकत्वात्, तेषु च पदार्थेषु प्रतिबन्दीदूषणादेः प्रविष्टत्वादिति चेन्न। लक्षणमेव तावदपसिद्धान्तस्य नोपपद्यते, मत्सिद्धान्तविपरीतमभ्युपगच्छतो भवतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात्।

स्वसिद्धान्तस्तथाऽपेक्षित इति चेन्न। विशेषणपूरणमन्तरेण तदलाभात्। अन्यथा सर्वत्र विशेषणोपादानप्रयासवैयर्थ्यं स्यात्। एवमेवाभ्युपगमे भवत एवापसिद्धान्तकृत्या निवृत्त्याऽऽपतेत्, त्वत्सिद्धान्ते शतशो हेत्वादौ विशेषणोपादान-

यदि अपसिद्धान्त हो जाता हो, तो आपको ही अपसिद्धान्त क्यों नहीं है ? अर्थात् लक्षणधीन ही लक्ष्य का ज्ञान होता है, अतः प्रथम अपसिद्धान्त का लक्षण ही कहिये।

निर्वचन—'सिद्धान्त से विपरीत का अभ्युपगम (स्वीकार) अपसिद्धान्त है।' आप प्रतिबन्दी आदि को सिद्धान्तरूप से मानते हैं, कारण 'हम अमुक दर्शन का आश्रयण कर कहेंगे' इस प्रकार कहकर आपने दर्शन (शास्त्र)-विशेष को मान ही लिया है। दर्शन तत्तत् पदार्थों का स्वीकाररूप है और उन पदार्थों में प्रतिबन्दी दूषण भी प्रविष्ट है। *खण्डन*—अपसिद्धान्त का यह लक्षण ही युक्त नहीं, कारण मेरे सिद्धान्त से विपरीत सिद्धान्त का अभ्युपगम तो आप भी करते हैं, अतः आपके इस अभ्युपगम में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'स्वसिद्धान्त से विपरीत का अभ्युपगम अपसिद्धान्त है।' दूसरे के सिद्धान्त से विपरीत सिद्धान्त मानने में तो कहीं भी अपसिद्धान्त नहीं होता। *खंडन*—जबतक 'स्व' का विशेषण रूप से निवेश न हो, तबतक उक्त अर्थ का लाभ ही नहीं होगा। अन्यथा [यदि विशेषण-प्रवेश के बिना ही विशेषण का लाभ हो जाता हो तो] सर्वत्र विशेषण के उपादान का प्रयास ही व्यर्थ हो जायगा। क्षण-भर यह मान लें कि विशेषण देने में श्रम व्यर्थ ही है अर्थात् विना विशेषण दिये ही सर्वत्र विशेषण का लाभ हो जाता है, तो अपसिद्धान्तरूप कृत्या लौटकर आप पर ही आ गिरेगी, कारण आपके शास्त्र में शतशः हेतु आदि में विशेषणों का उपादान

दर्शनात् । परसिद्धान्तहेतूनाञ्च अनुपात्तविशेषणानामनैकान्तिकीकृत्य त्वच्छास्त्रे बहुशो दूषितत्वात् ।

प्रथमं स्वशब्दं विशेषणमनुपादाय दूषणभयेनेदानीं तत्करणे च हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवतः । हेत्वन्तरं हि प्रथममविशेषणं साधकभागमभिधाय पश्चाद्विशेषणवत्तद्वचनम् ।

किञ्चैवं लक्षणमभिदधानस्य भवतोऽप्राप्तकालतापातः । अप्राप्तकालोऽवयव-विपर्यास इति । लक्ष्यमभिधाय हि लक्षणाभिधानं युक्तम्, तस्य च भवता विपर्यासः कृतः । एवमेवाभ्युपगमे भवत एवापसिद्धान्तापातात् ।

यस्तु प्रथमत एव स्वेतिविशेषणमुपादत्ते, तं प्रत्यनुपात्तविशेषणपक्षाभिहितो दोषो वक्तव्यः । मदीयो हि सिद्धान्तः स्वसिद्धान्त एव मम ।

अत्र वाक्येऽभ्युपगमपदश्रवणादभ्युपगन्ता लभ्यते, तस्य यः स्वकीयः स स्व-शब्दार्थः पर्यवस्यतीति चेन्न । ममाभ्युपगन्तृत्वात्, मयापि हि किञ्चिदभ्युपगम्यत एव ।

देखा जाता है तथा विशेषणरहित जो परसिद्धान्त के हेतु हैं, उन्हें आपके शास्त्र में शतशः अनैकान्तिक दोष से दूषित किया गया है ।

पहले स्वशब्दरूप विशेषण न देकर दूषण के भय से बाद में वह विशेषण दें, तो हेत्वन्तररूप निग्रहस्थान हो जायगा । 'प्रथम विशेषणरहित साधक भाग का अभिधान कर पीछे विशेषणयुक्त साधन का कथन' हेत्वन्तर है ।

किञ्च—'सिद्धान्त-विपरीताभ्युपगम अपसिद्धान्त है' ऐसा लक्षण करनेवाले आपके मत में 'अप्राप्तकालता' नामक निग्रहस्थान हो जायगा । देखिये—अप्राप्तकाल 'अवयव का विपर्यास' है । लक्ष्य का अभिधान करके ही लक्षण का अभिधान करना उचित होता है, किन्तु आपने उसका विपर्यास किया है । यदि आप अप्राप्तकालता को दोष न मानें, तो आपको ही अपसिद्धान्त हो जायगा ।

जो वादी प्रथम ही स्व-विशेषण देकर लक्षण का उपादान करते हैं, उनके प्रति भी स्वपद के अनुपादान पक्ष का दोष कहना चाहिए, कारण मेरा सिद्धान्त भी मेरा स्वसिद्धान्त ही है और उसके विपरीत का आप अभ्युपगम करते हैं । अतः आपका अभ्युपगम भी अपसिद्धान्त हो जायगा ।

समर्थन—इस वाक्य में 'अभ्युपगम' पद का श्रवण है, अतः अभ्युपगन्ता का भी लाभ होता है । उसका जो स्वकीय हो वही यहाँ 'स्व' शब्द का अर्थ होगा । *खण्डन*—मैं भी अभ्युपगन्ता ही हूँ, कारण मैं भी कुछ तो मानता ही हूँ ।

विपरीताभ्युपगन्ताऽपेक्षित इति चेन्न । अविशेषात् ।

सिद्धान्तविपरीताऽभ्युपगन्ता विपरीताभ्युपगन्तेति चेन्न । तथाप्यविशेषात्, ममापि त्वत्सिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्तृत्वात् ।

स्वसिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता तथाऽपेक्षित इति चेन्न । नूनमतिप्राज्ञोऽसि, यत् स्वपदमभ्युपगन्त्रा विशेषयितुं प्रवृत्तोऽभ्युपगन्तारमेव स्वपदद्वारा विशेषयसि, परस्पराश्रयादपि न बिभेषि, स्वपदेऽपि साधारण्यप्रत्यवस्थानं परोक्तं पुनस्तद-वस्थमेवेति च न प्रतिसन्धत्से ।

यस्य यः सिद्धान्तस्तेन तत्परित्यागोऽपसिद्धान्तस्तदीय इति चेत् । मैवम्; यस्य यः सिद्धान्त इति पुरुषव्यक्तिविशेषसिद्धान्तव्यक्तिविशेषपरत्वे असाधा-रण्यादव्यापकत्वं लक्षणदोषः । यस्येति सिद्धान्तसम्बन्धिन इत्यर्थे तेनेति सिद्धान्तसम्बन्धिनेत्यर्थे च भवतोऽपसिद्धान्तात् । तथाहि—सिद्धान्तसम्बन्धिनो मम यः सिद्धान्तः, तस्य सिद्धान्तान्तरसम्बन्धिना भवता त्यागोऽस्त्येव ।

समर्थन—विपरीत का अभ्युपगन्ता स्वशब्द का अपेक्षित अर्थ है । *खण्डन*—इसमें भी कुछ विशेष नहीं है, कारण मैं भी आपके विपरीत का अभ्युपगन्ता ही हूँ ।

समर्थन—सिद्धान्त के विपरीत का अभ्युपगन्ता स्व-शब्द का अर्थ है । *खण्डन*—तब भी कुछ विशेष नहीं हुआ, कारण हम भी आपके सिद्धान्त के विपरीत के अभ्युपगन्ता हैं ही ।

समर्थन—स्वसिद्धान्त के विपरीत का अभ्युपगन्ता स्व-शब्द का अर्थ है । *खण्डन*—निश्चय ही आप अति बुद्धिमान् हैं, कारण स्वपद को अभ्युपगन्ता से विशिष्ट करने के लिए प्रवृत्त होकर अभ्युपगन्ता को ही स्वपद से विशिष्ट करते हैं और अन्योन्याश्रय से नहीं डरते । अभ्युपगन्ता के विशेषण स्वशब्द में भी परोक्त प्रश्न वैसा ही है, इसका भी ध्यान नहीं करते ।

समर्थन—'जिसका जो सिद्धान्त हो, उसका उसके द्वारा त्याग अपसिद्धान्त है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—यहाँ 'यत्-तत्' शब्द पुरुष-व्यक्ति के विशेष-सिद्धान्त व्यक्तिविशेष का यदि ग्रहण करें, तो असाधारण (एकव्यक्तिवृत्ति) होने से जिस व्यक्ति का यत् शब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्यत्र लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । यदि 'यत्-तत्' शब्द को सिद्धान्तसम्बन्धीपरक मानें, तो आप पर ही अपसिद्धान्त हो जायगा । देखिये—सिद्धान्तसम्बन्धी मेरा जो सिद्धान्त, उसका अन्य सिद्धान्त-सम्बन्धी आप द्वारा त्याग है ही ।

त्याग एव तस्य नास्ति, मया परिगृहीतविषयत्वात् त्यागस्येति चेन्न। यदि त्यागोऽस्वीकारस्तदा न परिगृहीतविषयतानियमः। अथ स्वीकृतस्यास्वीकारस्तदा मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वीकारो भवत्येव तथेति विशेषो नास्ति।

अथ तेनैव स्वीकृतस्य तेनैवास्वीकारः। सोऽपि न; तेनेति स्वीकर्त्रेत्यर्थे ममापि स्वीकर्तृत्वेन मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वीकारे तवापसिद्धान्तापातः।

एकेनैकस्य स्वीकृतस्यास्वीकारोऽपसिद्धान्त इति चेन्न। एकेनेति यद्येकसङ्ख्यायोगिनेति, तदा मम यथैकसङ्ख्यायोगित्वं तथा तवापीति स एवापसिद्धान्तापातः। अथैकेनेति अभिन्नेनेति; तथापि स्वस्मादभिन्नत्वं तव च मम च समानम्। अन्यस्मादभिन्नत्वं न मम, न वा तवेत्यपसिद्धान्तविषयोच्छेदः। अथ स्वीकर्तुरस्वीकर्तृतो न भिन्नत्वं तदाऽयमर्थः स्यात्—'स्वीकर्तृतो न भिन्नेनैकस्य स्वीकृतस्यास्वीकारोऽपसिद्धान्तः।' तथाच स एव भवतोऽपसिद्धान्तः, मया यदीयाङ्गी-

समर्थन—हमारे द्वारा आपके सिद्धान्त का त्याग ही नहीं है, कारण परिगृहीत का ही त्याग होता है और हमने उसका ग्रहण ही कहाँ किया है ? *खण्डन*—यदि त्याग शब्द का अस्वीकार अर्थ है, तो स्वीकृत का ही त्याग होता है, यह नियम नहीं रहा। यदि स्वीकृत का अस्वीकार ही त्याग है, तब भी कोई हानि नहीं, कारण मेरे द्वारा स्वीकृत का आप द्वारा अस्वीकार भी त्याग है ही। अतः इस कथन से भी कोई विशेष लाभ नहीं।

समर्थन—'उसके द्वारा स्वीकृत का उसीके द्वारा अस्वीकार त्याग है', अतः यह दोष नहीं है। *खण्डन*—यहाँ तद्-शब्द का स्वीकर्ता अर्थ मानें, तो मैं भी स्वीकर्ता हूँ। अतः मेरे द्वारा स्वीकृत का आप द्वारा अस्वीकार होने से आपका पुनः अपसिद्धान्त हो जायगा।

समर्थन—'एक व्यक्ति द्वारा एक के स्वीकृत का अस्वीकार अपसिद्धान्त है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—'एक' शब्द का यदि एकत्वसंख्यायोगी अर्थ करें, तो जैसे हम एकत्वसंख्या से युक्त हैं, वैसे ही आप भी एकत्वयोगी हैं। अतः आप पर भी वही अपसिद्धान्त है। यदि एक शब्द का अभिन्न अर्थ करें, तो भी 'स्व' से अभिन्न आप भी हैं और हम भी। अन्य से अभिन्नत्व न हममें है, न आपमें ही। अतः अपसिद्धान्त के विषय का ही उच्छेद हो जायगा। यदि स्वीकर्ता में अस्वीकर्ता से अभिन्नत्व की विवक्षा करें, तो यह अर्थ हुआ कि 'स्वीकर्ता से अभिन्न एक द्वारा स्वीकृत का अस्वीकार अपसिद्धान्त है,' तो वही अपसिद्धान्त आपके प्रति हुआ। देखिये—मैंने

कारः किञ्चित्स्वीकर्तुरभिन्नस्य भवतस्तदीयास्वीकर्तृत्वात् ।

एतेन—एकस्यैकेन स्वीकारास्वीकारावपसिद्धान्त इत्यपास्तम् । मिलितयो-रेवाऽऽवयोरपसिद्धान्तापातात् ।

अथ तत्स्वीकर्तुरेव तदस्वीकर्तुरभिन्नत्वमेकशब्देनाभिमतम्; तदाऽपि यदि स्वीकारविषयाभिन्नत्वं तच्छब्देनोच्यते अस्वीकारविषयस्य, तदा स्वीकर्त्रन्तरस्वीकार-विषयस्य भवता किञ्चित्स्वीकर्त्रभिन्नेनास्वीकारविषयतया स्वीकारकर्तृविषया-भिन्नत्वस्वीकारेण भवतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् ।

एकेन स्वीकर्त्रा, न तु भिन्नेन स्वीकारास्वीकारौ विवक्षिताविति चेन्न । एकेन स्वीकर्त्रेत्येतदेव विवेचयन् भूयस्तदेवाऽऽकर्षन्नभिहिततद्दूषणगणाव्यावृत्त्यापत्त्या

जिसका अङ्गीकार किया है, कुछ स्वीकार करने वाले आप द्वारा उसका अस्वीकार है ही ।

समर्थन—'एक वस्तु का एक पुरुष द्वारा स्वीकार-अस्वीकार दोनों मिलकर अप-सिद्धान्त है ।' *खण्डन*—मिलित हम दोनों के प्रति अपसिद्धान्त हो जायगा । अर्थात् दोनों एक संख्यायोगी होने से एक हैं । अतः मेरे द्वारा स्वीकृत का तुम्हारे द्वारा अस्वीकार करने पर भी स्वीकारों के एकनिष्ठ होने से दोनों को अपसिद्धान्त हो जायगा ।

समर्थन—तत्स्वीकर्ता से तदस्वीकर्ता का अभेद एक शब्द का अर्थ है । *खंडन*—'तत्' शब्द से यदि अस्वीकार के विषय से स्वीकार के विषय का अभिन्नत्व अभिप्रेत है, तो स्वीकर्ता के अन्य स्वीकार का विषय (अनिर्वचनीयत्व आदि) भी कुछ स्वीकार करनेवाले से अभिन्न आपके अस्वीकार का विषय होने से स्वीकर्ता के स्वीकार के विषय में अभिन्नत्व है, अतः आपके प्रति अपसिद्धान्त दुर्वार है ।

समर्थन—'एक स्वीकर्त्ता द्वारा (भिन्न से नहीं) जो स्वीकार-अस्वीकार है, वह अपसिद्धान्त है ।' *खण्डन*—'एकेन स्वीकर्त्रा' इसका विचार करते हुए आप फिर भी उसी एक 'अभिन्न' शब्द का आकर्षण करते हैं, अर्थात् निरस्त विशेषण का पुनः उपादान करते हैं । एवञ्च कथित दूषण-समूहों की व्यावृत्ति न होने से कहिये, आप सान्द्र वर्षाकाल के आगमन से प्रादुर्भूत चञ्चलतर तरंगोंवाली नदी की धारा की जलवृद्धि से उत्पन्न भँवरों (भ्रमि-समूहों) से बुरी तरह फेंके जानेवाले तृणसमूह की विडम्बना का अनुभव क्यों न करेंगे ? सारांश यह कि 'एकेन स्वीकर्त्रा' यहाँ 'एकत्वसंख्यायोगित्व क्या है ?' इसके विवेचन के लिए प्रवृत्त आप उसका निर्वचन किये बिना ही पुनः 'एकेन' यह विशेषण देते हैं, तो वह उचित नहीं है । कारण

कथय कथं न घनघनाघनसमय-समागमोदीयमान-तरलतरतरङ्गिणीवेणिजलविवर्त-निर्वर्तितावर्तचक्रचङ्क्रम्यमाण-तृणकदम्बविडम्बनामनुभविष्यसि ।

स्वीकृत्यास्वीकारः स इति चेन्न । क्त्वार्थविवेचनेन उक्तबाधापातात्, अस्वीकृत्य स्वीकारे च तदभावापत्तेः ।

किञ्च—सिद्धान्तपरित्यक्तरि यदपसिद्धान्तोद्भावनं तत् किं स्वीकृतदर्शनानुमतापसिद्धान्तदूषणभावे वादिनि, उतानेवम्भूते । आद्ये पूर्वसिद्धान्तवदपसिद्धान्तेऽप्यनेन व्युत्थातुं शक्यते तत्र किं वक्तव्यम् ?

न तावन्न वक्तव्यमेव किञ्चित् पूर्वसिद्धान्तत्यागादेवापसिद्धान्तेन निगृहीतत्वादिति युक्तम्; अपसिद्धान्ते तत्परिहारस्य तद्दूषणत्वान्यतरासिद्धेस्तेनाभिहितत्वात् ।

एक-शब्द का निर्वचन सिद्ध होने पर ही विशिष्ट लक्षण सिद्ध होगा । उसके सिद्ध होने पर उक्त अतिप्रसंग का परिहार सिद्ध होगा और वह सिद्ध होने पर एकवचन का निर्वचन सिद्ध हो सकेगा, इस तरह चक्रक हो जायगा ।

समर्थन—'स्वीकृत्य (स्वीकार करके) अस्वीकार अपसिद्धान्त है ।' *खण्डन*—यह भी अयुक्त है, कारण 'क्त्वा' का अर्थ एककर्तृकत्व भी है । अतः एक शब्द के अर्थ का विवेचन करने पर पुनः उक्त दोष आ ही जायँगे । सिवा इसके शब्द नित्यत्ववादी पहले उसे अनित्य न मानता हुआ भी बाद में मान लें, तो उस अपसिद्धान्त में अव्याप्ति हो जायगी । कारण 'स्वीकृत्य' यहाँ 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ स्वीकारपूर्वक अस्वीकार ही अर्थ होता है और वैसा अस्वीकार वहाँ नहीं है ।

किञ्च—सिद्धान्त को त्यागनेवाले वादी के प्रति आप जो अपसिद्धान्त देते हैं, वह किस वादी के प्रति, क्या जिसके दर्शन (शास्त्र) में अपसिद्धान्त दूषण मान्य है, उसके प्रति या जिसके दर्शन में अपसिद्धान्त दूषण अनुमत नहीं है, उसके प्रति ? प्रथम पक्ष में वह वादी पूर्व-सिद्धान्त के तुल्य अपसिद्धान्त का भी अस्वीकार कर सकता है, वहाँ आप क्या कहेंगे ?

समर्थन—वहाँ कुछ नहीं कहेंगे, कारण पूर्वसिद्धान्त के त्यागने से अपसिद्धान्तरूप निग्रहस्थान से ही वह निगृहीत (पराजित) है । मृत का मारण अयुक्त ही है । *खंडन*—यदि वह अपसिद्धान्त दूषण को स्वीकार करता, तो अपसिद्धांत से निगृहीत अवश्य होता । किन्तु वह अपसिद्धांत को निग्रहस्थान मानता ही नहीं, अतः उसने अपसिद्धांत-दूषण का अस्वीकाररूप परिहार या अपसिद्धांत का परिहार इन दोनों में से

अन्यथा स्वाभिप्रायेणासिद्धिमुद्भाव्यैव कथं विच्छिन्दानो विजयेत परासिद्धिपरिहारं नापेक्षेतेति अनसिद्धावप्यसिद्धिमुद्भाव्य परं पराजित्याप्रत्यूहं गृहान् प्रतिष्ठेत ।

निगृहीतस्य तस्यापरमभिधानमनादरणीयमेवेति चेन्न । अन्यतरासिद्ध्या निग्रहपरिहारस्यैव तेनाभिधीयमानत्वात् । तथाऽप्यनादरणेऽनसिद्धावसिद्धिमुद्भाव्य पराभिधीयमानमसिद्धिपरिहारमनादृत्य विजयेतैवेत्युक्तम् ।

अथ मन्यसे—मध्यस्थेनैतद्विचारणीयं किमनसिद्धावनेनासिद्धिरुक्ता, अनपसिद्धान्ते वाऽपसिद्धान्तः । एतद्विचार्य तेनैव जयपराजयाववधारणीयौ । तदर्थमेव मध्यस्थोपस्थापनमिति । न; तर्हि वादिना साधनेऽभिहिते दुष्टमेतदित्यभिधायैव प्रतिवादिना निवर्तनीयम् । मध्यस्थस्तु परमार्थतो दुष्टत्वमदुष्टत्वं वा तस्य साधनस्य विचार्य जयपराजयाववधारयिष्यति । सोऽयं प्रसूय निर्वृत्तीभूतपिकदाम्पत्यापत्य-

अपसिद्धान्त-दूषण का अस्वीकाररूप अपसिद्धान्त का परिहार कर ही दिया, फिर वह निगृहीत कैसे होगा ? अन्यथा (यदि अपसिद्धांत को स्वीकार न करके भी अपसिद्धांत से निगृहीत हो तो) अपने अभिप्राय से रचित असिद्ध का उद्भावन कर कथा का विच्छेद करनेवाला भी विजय प्राप्त कर सकता है । वह वादी-कृत असिद्ध-परिहार की अपेक्षा भी नहीं करेगा । अतः वह जहाँ असिद्ध नहीं है, वहाँ भी असिद्ध का उद्भावन कर वादी को पराजित मानकर निर्विघ्न अपने घर प्रस्थान करेगा।

समर्थन—वह हार गया है, अतः उसका बाद में कुछ कहना आदरणीय ही न होगा । *खण्डन*—उसने अपसिद्धान्त का अस्वीकार कर उसीका परिहार किया है, वह हारा नहीं है । फिर भी यदि उसके वचन का आदर न करे, तो जहाँ असिद्धि नहीं है, वहाँ भी असिद्धि का उद्भावन कर प्रतिवादी द्वारा किये गये असिद्धि-परिहार का आदर न करते हुए विजय का लाभ कर लें ।

समर्थन—मध्यस्थ को यह विचारना चाहिए कि जहाँ असिद्धि नहीं है, वहाँ यह असिद्धि उद्भावित हुई है; जहाँ अपसिद्धान्त नहीं है, वहाँ यह अपसिद्धान्त उद्भावित हुआ है और इस प्रकार विचारकर उसीको जय-पराजय की व्यवस्था करनी चाहिए । इसीलिए तो वाद में मध्यस्थ होता है । *खंडन*—यदि ऐसा मानें, तो वादी द्वारा साधन (हेतु) कहने पर प्रतिवादी को 'यह दुष्ट है' इतना ही कहकर निवृत्त हो जाना चाहिए, कारण मध्यस्थ ही उस साधन के परमार्थतः दुष्टत्व या अदुष्टत्व का विचारकर जय-पराजय की व्यवस्था कर लेगा । तुम्हारी ऐसी कुत्सित मन्त्रणा से बेचारा

पोषणकृतमहायासवायसव्यसनं समासादयिष्यति मध्यस्थो वराकस्तावकदुष्परामर्शप्रकर्षेण।

अथोच्यते—सम्प्रति विप्रतिपद्यतां नामापसिद्धान्तेऽप्यसौ किमेतावता, पूर्वं स्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभावस्य दर्शनस्य तावत्तेन स्वीकरणमकारि। तदेवाऽऽदायापसिद्धान्तस्योपन्यासो युक्त इति।

मैवम्; यदीदानीन्तन्यननुमतिरस्य नाद्रियते, अस्यामुपजातायामपि प्राक्तनानुमतिमादायैव च दूषणप्रवृत्तिस्तदाऽपसिद्धान्तस्यापि कुतोऽवकाशः। स हि पूर्वानुमतस्येदानीमननुमतिमाश्रित्यैव प्रवर्तते, नान्यथा। तस्मात् स्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभावमपि वादिनं प्रति विप्रतिपत्तिकाले साधनीयमपसिद्धान्तस्य दोषत्वमिति द्वितीयानवकाशः। यस्य तु सौगतादेर्मतेऽपसिद्धान्तो न दूषणं तं प्रत्यवश्यं साधनीयमेवास्य दूषणत्वम्।

न च वाच्यं योऽपसिद्धान्ते विप्रतिपत्तिं करोति तं प्रति व्याघात एवाभि-

मध्यस्थ स्वयं उत्पन्न कर निवृत्त हुए कोकिल के अपत्य के पालन में महान् परिश्रम करनेवाले काक के दुःख को पायेगा।

समर्थन—सम्प्रति वह अपसिद्धान्त को न मानता हो, तो उससे हानि क्या हुई, जिस दर्शन में अपसिद्धान्त दूषण स्वीकृत है, उस दर्शन का तो वह स्वीकार करता ही है। इसीसे उस पर अपसिद्धान्तरूप निग्रह का उपन्यास हो सकता है।

खण्डन—यदि प्रतिवादी की वर्तमानकालिक अनुमति के अभाव का आदर न करें, अर्थात् वर्तमान काल में अस्वीकार होने पर भी भूतकालिक स्वीकार का ग्रहण करके ही दूषण की प्रवृत्ति हो, तो अपसिद्धान्त ही कैसे होगा, कारण वह पूर्वानुमत का ही वर्तमान काल में अस्वीकार करता है, अन्यथा नहीं करता और वर्तमान अस्वीकार का आप आदर ही करते नहीं। तस्मात् जो वादी अपसिद्धान्त-दूषण को स्वीकार न करता हो, उसके प्रति विप्रतिपत्ति-काल में अपसिद्धान्त-दूषण का साधन अवश्य करना होगा। अतः इस विषय में मध्यस्थ का अवकाश ही नहीं। अर्थात् अपसिद्धान्त है या नहीं, इसका निर्णय मध्यस्थ करेगा, इत्यादि आपका कथन युक्त नहीं है। साथ ही सौगत आदि अपसिद्धान्त को दूषण न मानें, तो उनके प्रति भी अपसिद्धान्त दूषण का साधन करना होगा।

समर्थन—जो अपसिद्धान्त में विप्रतिपत्ति करते हों, उनके प्रति व्याघात का ही

धेयः, दर्शनविशेषं स्वीकुर्वता प्रथमं तद्दर्शनान्तर्निवेशिनः प्रतिबन्दीदूषणत्वादेस्तेन स्वीकारात्, पश्चात्तस्यैवास्वीकारः। तावेतौ स्वीकारास्वीकारावेकेनैकस्य व्याहताविति।

यद्ययमपसिद्धान्तात्मैव व्याघातः, तदाऽपसिद्धान्तदूषणत्वेऽपि विप्रतिपन्नस्य विप्रतिपत्तिमभ्युदस्य नाभिधातुं युक्तः। अथ दूषणान्तरमयं व्याघातोऽपसिद्धान्तमनुपजीव्य सम्भाव्यमानोद्भावनस्तदा सार्वत्रिकापसिद्धान्तोदाहरणेऽयमेवास्तु, किमपसिद्धान्तस्य दूषणत्वाङ्गीकारेण।

किञ्चैवमपसिद्धान्त उद्भाविते पश्चात्तद्विप्रतिपत्तौ उपजातायामपसिद्धान्तमुपेक्ष्य व्याघातलक्षणस्यास्य दोषान्तरस्याभिधाने प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः। प्रतिज्ञाहानिः स्वीकृतोक्तत्याग इति। एवं प्रथमं किञ्चिद्दूषणमुक्त्वा तत्परिहारिणि दूषणान्तराभिधाने न प्रतिज्ञाहानिरिति गतं प्रतिज्ञाहान्यादिभिर्निग्रहैः।

प्राक् प्रतिज्ञातदोषनिर्वाहार्थमेव निग्रहान्तरकथनान्नैष दोष इति चेन्न। पूर्व-

अभिधान करना चाहिए। देखिये—दर्शन (शास्त्र) के विषय के स्वीकर्ता वादी ने उस दर्शन के अन्तर्गत प्रतिबन्दी दूषण का प्रथम स्वीकार किया हो और पीछे वह उसका अस्वीकार करे, यह तो एक से एक का स्वीकार-अस्वीकार व्याहत है।

खंडन—यदि व्याघात अपसिद्धान्तरूप ही है, तो जो अपसिद्धान्त को नहीं मानता, उसके प्रति अपसिद्धान्त का साधन न कर व्याघात का भी अभिधान नहीं कर सकते, कारण जो अपसिद्धान्त में विप्रतिपन्न है, वह तद्रूप व्याघात में भी विप्रतिपन्न ही है। अतः उसके प्रति व्याघात का अभिधान कैसे हो सकता है ? यदि अपसिद्धान्त की अपेक्षा न रखकर जिसके उद्भावन की सम्भावना हो, ऐसा व्याघात दूषणान्तर है, तो सर्वत्र अपसिद्धान्त के उदाहरण में उसीका उद्भावन करना चाहिए, अपसिद्धान्त व्यर्थ है।

किञ्च—इस प्रकार अपसिद्धान्त का उद्भावन होने पर पीछे अपसिद्धान्त में विप्रतिपत्ति करने पर उस विप्रतिपत्ति का निरास न कर अपसिद्धान्त की उपेक्षा करते हुए यदि व्याघात का उद्भावन करें, तो प्रतिज्ञाहानि भी हो जायगी। स्वीकृत उक्त का परित्याग ही प्रतिज्ञाहानि है। इस प्रकार पहले किसी दूषण का कथन करें और फिर उसे त्यागकर अन्य दूषण का अभिधान करने पर भी यदि प्रतिज्ञाहानि न हो, तो कहीं भी प्रतिज्ञाहान्यादि न होने से वे (प्रतिज्ञाहान्यादि) सर्वथा व्यर्थ हो जायँगे।

समर्थन—प्रथम प्रतिज्ञात दोष के निर्वाहार्थ ही अन्य निग्रह का कथन किया है, अतः प्रतिज्ञाहानि नहीं होगी। *खण्डन*—यदि पूर्वनिग्रह अपसिद्धान्त का परिहार

तत्र कश्चिदाह—शास्त्रमनाश्रित्य कथारम्भानुपपत्तिः। यदा हि क्षणभङ्गसाधनप्रयोक्ता अस्फूर्तिमता स्थिरवादिना सिद्धसाधनमुद्भाव्य निगृह्यते तदा किं कुर्यात्।

प्रथमविप्रतिपत्तिविरोधमुद्भावयेदिति चेत्; एवं तर्हि विप्रतिपत्त्यनुगुणप्रमेयान्तरव्यतिक्रममप्युद्भावयेदेव। अन्यथा विप्रतिपत्तिव्यतिक्रममप्युपेक्षेत, न खलु तत्तदनुगुणव्यतिक्रमयोर्विरोधापत्तिं प्रति कश्चिद्विशेषः।

न चैकपुरुषार्थानुगुणाङ्गाङ्गिभावव्यवस्थितपदार्थजातव्युत्पादनादन्यच्छास्त्रं

विवेचन करने की सामर्थ्य न होने से उत्पन्न होने के साथ ही सिद्धान्त-विशेष का अवलम्बन न करनेवाले प्राणी को किस दुर्मति ने ये तत्तत् सिद्धान्त प्राप्त कराये ? अर्थात् कोई सिद्धान्त किसीका 'अपना सिद्धान्त' नहीं होता। फिर उसे त्यागने पर उसे अपसिद्धान्त कैसे कहा जाय ? अर्थात् आरंभ से रीते ही जन्मे व्यक्ति को बाद में सिद्धान्त-विशेष में रोकना भी दुर्मति ही है। यहाँ 'सिद्धान्तविषयग्रहाः' यह रूपक है। अर्थात् विषय याने ग्राम आदि जैसे राजा द्वारा किसीको प्राप्त होते हैं, वैसे सिद्धान्त किसी को प्राप्त नहीं होते, यह भाव है।

समर्थन—यहाँ कोई (श्रीउदयनाचार्य) कहते हैं कि शास्त्र का आश्रयण न कर कथा का आरम्भ ही नहीं हो सकता। कारण जिस काल में क्षणभङ्ग के साधक अनुमान ('यत् सत् तत्क्षणिकम्, यथा जलधराः, सन्तश्चामी भावाः') प्रयोक्ता स्फूर्तिरहित, स्थिरवादी नैयायिक द्वारा सिद्धसाधन का उद्भावन कर निगृहीत किया जाय, तो वह क्या करे ? क्षणिकत्व मानने से अपसिद्धान्त होगा, ऐसा वह कह नहीं सकता, क्योंकि अपसिद्धान्त को वह मानता ही नहीं ?

यदि कहें कि प्रथम विप्रतिपत्ति ('विमतं क्षणिकम् अक्षणिकं वा') के विषय क्षणिकत्व का स्वीकार करने से वह व्याघात ही का उद्भावन करेगा, तब तो वह विप्रतिपत्ति के विषय के साधक अन्य प्रमेय (प्रत्यभिज्ञा) आदि के अस्वीकार का भी उद्भावन करेगा ही। कारण स्थिरवादी प्रत्यभिज्ञा का स्वीकार करता है, अतः उसे व्याघात होता है। यदि इस व्याघात के होते हुए भी उसका उद्भावन न करे, तो विप्रतिपत्ति के विषय स्थिरत्व के स्वीकार-अस्वीकाररूप व्याघात का भी उद्भावन नहीं करेगा, दोनों के उद्भावन में कोई विशेष नहीं है।

एक पुरुषार्थ—(स्वर्ग या अपवर्ग) के साधक उपकार्य-उपकारकभाव से युक्त पदार्थ-समूह का कथन ही शास्त्र है, इससे अन्य शास्त्र नहीं है। तस्मात् जो

नाम। तस्मात् क्षणिकत्वस्वीकारे तदनुगुणापोहादिसमस्तस्वीकारः, तदेकपरिहारे वा समस्ततदनुगुणपरिहार इति सर्वज्ञोऽपि नान्यथा प्रमातुं क्षमः।

न च समस्ततदनुगुणपदार्थजातं कथारम्भे स्वशब्देनाभिधातुमुचितम्, तदैव शास्त्रप्रणयनप्रसङ्गात्, परिषदनपेक्षितत्वाच्च। न च तद्व्यतिक्रमोद्भावनाय समस्ततदनुगुणोहः परस्परस्य शास्त्रमनाश्रित्य शक्यः। न च तत्तदनुगुण-व्यतिक्रमे तदुपेक्षणे वा तत्त्वप्रतिपत्तिजयाविति अकामेनापि तदधिकारप्रवृत्तं शास्त्रमेवाऽऽश्रयणीयमिति।

तदेतदपेशलम्; किं तदनुगुणं प्रमेयान्तरं यदनभ्युपगमे विरोधमुद्भावयेदि-त्युच्यते। द्वयमभ्युपगम्यं सम्भवति। एकं तावद्यदनभ्युपगमे कथैव प्रवर्तयितुमश-क्या, यथा प्रमाणादि सर्वकथकसिद्धम्। इतरत्तु प्रतिदर्शनसिद्धं किञ्चित्, यथा क्षणभङ्गेश्वरादि। तत्र यदि प्रथममभ्युपगम्यैव कथाप्रवृत्तिरिति तत्स्वीकारे

क्षणिकत्व का स्वीकार करता हो, वह क्षणिकत्व के अनुगुण अपोह आदि सभीका स्वीकार करेगा। यदि वह एक क्षणिकत्व का अस्वीकार करेगा, तो उसके अनुगुण समस्त अपोहादि का भी अस्वीकार करना पड़ेगा। इसके अन्यथाकरण में परमेश्वर भी समर्थ नहीं है।

क्षणिकत्व के अनुगुण अपोहादि सम्पूर्ण पदार्थों का कथाकाल में अभिधान नहीं हो सकता, कारण यदि सम्पूर्ण पदार्थों का उसी काल में अभिधान करें, तो उसी काल में शास्त्र का प्रणयन हो जायगा। फिर सम्पूर्ण के अभिधान को परिषद् चाहती भी नहीं है। विरोध के उद्भावन के लिए सम्पूर्ण तदनुगुण की ऊहा शास्त्र के आश्रयण के बिना हो भी नहीं सकती और क्षणिकत्व के अनुगुण अपोहादि का विरोध होने पर क्षणिकवादी का और अपोहादि व्यतिक्रम की उपेक्षा करने पर स्थिरवादी का तत्त्वनिर्णय या विजय हो ही नहीं सकती। अतः न चाहते हुए भी क्षणिकत्वादि के साधन में प्रवृत्त शास्त्र अवश्य मानना होगा।

खंडन—यह मत सुन्दर नहीं है। कहिये, तदनुगुण अन्य प्रमेय कौन हैं, जिनके अनभ्युपगम में अपसिद्धान्त का उद्भावन हम करेंगे—ऐसा आप कहते हैं। कथा में दो ही बातें स्वीकार्य होती हैं। एक तो यह, जिसके अनभ्युपगम से कथा की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। जैसे—सब कथकों द्वारा सिद्ध प्रमाणादि। दूसरी प्रति-दर्शन से सिद्ध कुछ; जैसे क्षणभङ्ग, ईश्वर आदि। उनमें प्रथम प्रमाणादि के स्वीकार करने

पश्चात्तदनङ्गीकारोऽपसिद्धान्तः । तन्न ; स्वव्याघातकत्वेन तस्य भवद्भिरेव जातित्वाङ्गीकारात् । जातेश्च निरनुयोज्यानुयोगे निवेशात् ।

नापि द्वितीयः ; दर्शनभेदनियतं हि क्षणभङ्गादि यत्कथारम्भेऽभ्युपगन्तव्यं तत् किं तदभ्युपगमस्य प्रकृतसाध्यापोहाद्युपायतया, उत तन्नान्तरीयकतया ? न प्रथमः ; क्षणभङ्गसाधनप्रस्तावे अपोहादि परित्यजतः सौगतस्यापसिद्धान्ताभावापत्तेः, तदभ्युपगमस्य तदनुपायत्वात् । अन्योन्याभ्युपगमोपायत्वे चान्योन्यविचारस्य निष्पत्तिरेव न स्यात्, विचारे सति प्रामाणिकत्वप्रतीतौ तदभ्युपगमः तदनभ्युपगमे च विचार इति ।

अभ्युपगतोपायत्यागविषय एवायमपसिद्धान्तो नान्यत्रेति चेन्न । यो हि यदुपायस्तमभ्युपगम्य विचारः प्रवर्तयितव्य इत्येव कुतः ? तस्योपायतया तेन विचारः प्रवर्तयितव्य इत्येव युक्तम्, न तु तदभ्युपगमोऽपि तावता तदुपायः स्यात् । तस्य च तदभ्युपगमस्य च पृथक्कारणत्वाभ्युपगमे प्रमाणस्योपदर्शयितु-

पर ही कथा की प्रवृत्ति होती है, अतः उनको स्वीकार कर बाद में उनका अनङ्गीकार अपसिद्धान्त कहें, तो वह युक्त नहीं । कारण स्वव्याघातक होने से उसे आप ही जाति मानते हैं और जाति का निरनुयोज्यानुयोगरूप निग्रहस्थान में निवेश है ।

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; कारण दर्शन-विशेष में नियत क्षणभङ्गादि का जो कथा के आरम्भ में स्वीकार किया जाय, क्या वह इसलिए कि क्षणभङ्गादि का अभ्युपगम, प्रकृत साध्य अपोहादि के साधन का उपाय है या अपोह के नान्तरीयक (व्याप्य) होने से ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; कारण क्षणभङ्ग के साधन की अवस्था में अपोहादि के त्यागनेवाले बौद्ध को अपसिद्धान्त नहीं होगा । अपोह का अभ्युपगम क्षणभङ्ग के साधन का उपाय नहीं है । अन्योन्य के अभ्युपगम को अन्योन्य का उपाय मानें, तो अन्योन्य के विचारों की निष्पत्ति ही नहीं होगी; कारण विचार होने पर प्रामाणिकत्व की प्रतीति होने पर अन्योन्य का अभ्युपगम होगा और अभ्युपगम होने पर विचार, इस तरह अन्योन्याश्रय है ।

समर्थन—अन्योन्य का अभ्युपगम स्वसूत्रकार के प्रामाण्य से होता है, विचार से नहीं, अतः अन्योन्याश्रय नहीं है । *खंडन*—जो जिसका उपाय है, उसे मानकर ही विचार की प्रवृत्ति करनी चाहिए, यह कैसे हो सकता है । वह उपाय है, इसलिए उसीसे विचार करना चाहिए, यही युक्त है । एतावता उपाय का अभ्युपगम भी उसका उपाय

मशक्यत्वात् । शक्यत्वेऽपि वा तत्रापि स्वाभ्युपगमः किमित्यभ्युपेयो वैयर्थ्यात्, उपायत्वादेव परस्य तथा प्रतीत्युपपत्तेः ।

अथोच्यते—उपेयमुपायेन साधयता उपेयवदुपायस्यापि सत्त्वमुपगन्तव्यमिति । पश्चात्तदनुपगमेऽपसिद्धान्तोपन्यासः सावकाशः, असत उपायत्वानुपपत्तेः । तदुपायत्वेनोपन्यसनात् तत्सत्त्वाभ्युपगमः, तस्य साक्षादश्रुतोऽप्यसत्त्वेनाभ्युपगम्यमानस्य उपायत्वस्वीकारानुपपत्त्या कल्पनीयः । कल्पितेन तेन श्रूयमाणतत्सत्त्वानभ्युपगमविरोधादपसिद्धान्तोऽभिधेयः । एवञ्च सति सत्त्वानभ्युपगम एवोपायत्वानुपपत्तिप्रसङ्गो दूषणमुच्यतामुपजीव्यत्वात्, तदुपन्यासमन्तरेण अश्रूयमाणतदीयाभ्युपगमस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् कृतं तदुपजीविना पश्चात्तनेन अपसिद्धान्तेन ।

अत एव न द्वितीयः ; तन्नान्तरीयकाभ्युपगमोऽपि हि तत्सत्तानभ्युपगमे

नहीं होगा, कारण उपाय और उपाय का अभ्युपगम दोनों की पृथक्-पृथक् कारणता में कोई प्रमाण नहीं दिखा सकते । उपाय के स्वीकार की कारणता में कोई प्रमाण दिखा सकें, तब भी उपाय का स्वीकार हम करें—यह व्यर्थ है, क्यों करें ? उपाय होने से ही वादी उसे मान लेगा ।

समर्थन—कारण से कार्य का साधन करनेवाला कार्य के तुल्य कारण की सत्ता भी अवश्य मानेगा । बाद में उसके न मानने पर वहाँ अपसिद्धान्त का अवकाश रहेगा ही, क्योंकि सर्वथा असत् कभी कारण ही नहीं होता । *खण्डन*—तब तो आप यही कहेंगे न कि असत्त्वरूप से स्वीकृत कारण नहीं होता और उसका कारणत्वरूप से कथन है; अतः कारणत्व की अनुपपत्ति से साक्षात् अश्रुत भी कारण को स्वीकार करना पड़ेगा । तथाच कल्पित कारण के स्वीकार से श्रूयमाण अस्वीकार का विरोध होने के कारण अपसिद्धान्त हो जायगा । यदि ऐसा ही है, तो सत्त्व का अस्वीकार होने पर कारणत्व की अनुपपत्ति को ही दूषण मानिये, क्योंकि अनुपपत्ति के कथन के बिना अश्रुत कारण का स्वीकार दिखा नहीं सकते । अतः वह (अनुपपत्ति) उपजीव्य है । एवञ्च अनुपपत्ति से जनित, पीछे होनेवाले अपसिद्धान्त का उद्भावन व्यर्थ है ।

'प्रकृत साध्य अपोह क्षणिकत्व का नान्तरीयक (व्याप्य) है, अतः उसके सत्त्व से क्षणिकत्व का अभ्युपगम है' यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है; कारण क्षणिकत्व के सत्त्व का स्वीकार न करें, तो प्रकृत साध्य अपोह का अभाव हो जायगा । अतः

साध्यस्याभावापत्त्याऽनुमन्तव्यः। तथाच सैव दूषणमस्त्वनभ्युपगमे, कृतं तयाऽभ्युपगमं परिकल्प्य तेनानभ्युपगमविरोधादपसिद्धान्तोपन्यासेनेति।

एवं निग्रहान्तरखण्डनमूहनीयम्।

इति कवितार्किकचक्रवर्ति-श्रीश्रीहर्षकृते खण्डनखण्डखाद्ये

निग्रहानिरुक्तिर्नाम द्वितीयः परिच्छेदः

अपोह से व्यापक क्षणिकत्व का स्वीकार किया जाता है। तब तो व्यापक क्षणिकत्व के स्वीकार के अभाव में व्याप्य के सत्त्व की अनुपपत्ति ही दोष मानिये। उससे कल्पित क्षणिकत्व के स्वीकार से श्रुत क्षणिकत्व के अस्वीकार का विरोध होने से अपसिद्धान्त का कथन व्यर्थ है।

इसी प्रकार अन्य निग्रहस्थानों का खण्डन भी स्वयं कर लेना चाहिए।

द्वितीय परिच्छेद का भाषानुवाद समाप्त



अथ तृतीयः परिच्छेदः

सर्वनामार्थ-खण्डनम्

अथ यान्यवलम्ब्य बहुलं वाग्व्यवहारास्तेषां सर्वनाम्नामर्थाः कथं निर्वाच्याः। तथाहि—ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणमिति ब्रुवाणः प्रतिवक्तव्यः, किं शब्दोऽयमाक्षेपार्थो वा, कुत्सितार्थो वा, वितर्कार्थो वा प्रश्नार्थो वा स्यात् ? तत्र यदि प्रथमः पक्षः ; तदेश्वरसद्भावे नास्ति प्रमाणमित्युक्तं स्यात् । तथाच सति न प्रतिज्ञामात्रात्साध्यसिद्धिरिति हेत्वादिकं वाच्यं भवति । तच्च भवता नाभ्यधायि, तस्मात् न्यूनत्वं दोषः ।

अत एव न द्वितीयः; ईश्वरसद्भावे कुत्सितं प्रमाणमित्यस्यापि प्रतिज्ञामात्रत्वात् ।

अपिच—साध्यासाधकत्वाद्वा तत् कुत्स्यते भवता, अन्यथा वा ? अन्यथा चेदलं तदुद्भावनया, साध्यसिद्धेरप्रत्यूहत्वात् । नापि प्रथमः ; प्रमाणञ्च साध्यसाधकञ्चेति व्याघातात् ।

सर्वनामार्थ का खंडन

जिन सर्वनामों का अवलम्बनकर बहुत-से व्यवहार होते हैं, उनका क्या अर्थ है ? देखिये—'ईश्वरे किं प्रमाणम्' इस प्रश्न के कर्ता से पूछना चाहिए कि यहाँ किम्-शब्द का अर्थ निषेध है, कुत्सा है, वितर्क है या प्रश्न ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं; कारण प्रथम पक्ष में 'ईश्वर-सद्भाव में प्रमाण नहीं है' यह अर्थ हुआ । पर वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञामात्र से साध्य की सिद्धि नहीं होती । अतः कुछ हेतु तो कहना ही होगा और उसे आपने कहा नहीं है, जिससे न्यूनत्व दोष हो जायगा ।

इसीलिए द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; कारण 'ईश्वर में कुत्सित प्रमाण है' यह भी प्रतिज्ञामात्र है ।

किञ्च—आप प्रमाण की जो कुत्सा (निन्दा) करते हैं, वह उसके साध्य के असाधक होने से या अन्य किसी कारण से ? यदि अन्य किसी कारण करते हों, तो उसका उद्भावन व्यर्थ है, क्योंकि उसके बिना भी साध्य की सिद्धि हो ही जाती है । प्रथम कल्प भी युक्त नहीं है, कारण साध्य का असाधक हो और प्रमाण भी हो, यह वचन परस्पर व्याहत है ।

गौणोऽयं प्रमाणशब्द इति चेन्न। प्रमाणत्वयोगिनि यद्ययं प्रमाणशब्द-प्रयोगस्तदा गौणत्वव्याघातो मुख्यत्वात्। अथ प्रमाणाभासे, तदा अलं तदुद्भावनया। ईश्वरसद्भावे यः प्रमाणाभासः कुत्सित इत्यत्र परस्यापि सम्प्रतिपन्नत्वात्। ईश्वरसद्भाव इति च विशेषोपादानं व्यर्थं स्यात्, अन्यत्रापि हि विषये प्रमाणाभासः कुत्सित एव, साध्यासाधकत्वात्।

नापि तृतीयः; तथा सति हि वितर्कस्य पक्षान्तरसापेक्षत्वेन पक्षान्तरमपि वचनीयं भवति—ईश्वरसद्भावे किमेतत् प्रमाणमुत अन्यदिति। तच्च भवता नाभ्यधायि, ततो न्यूनत्वं दोषः।

नापि चतुर्थः; प्रश्नार्थात् खलु किंशब्दात्कस्यचित् पदार्थस्य जिज्ञास्यमानता प्रतीयते। सा चेह प्रमाणपदसमभिव्याहारात् प्रमाणविषयिणी प्रतीयते। यद्विषयश्च प्रश्नस्तदुत्तरवादिनाऽभिधेयम्। तदयं प्रश्न ईश्वरसद्भावे प्रमाण-सामान्यविषयस्तद्विशेषविषयो वाऽभिप्रेतः? आद्यश्चेत्; ईश्वरसद्भावे प्रमाणमित्ये-

समर्थन—यहाँ 'प्रमाण' शब्द गौण है। *खंडन*—यदि प्रमाण में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग हो, तो उसे गौण कहना व्याहत है, क्योंकि वह मुख्य ही हुआ। यदि प्रमाणा-भास में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग है, तो उसमें कुत्सितत्व का उद्भावन व्यर्थ है, कारण ईश्वर में जो प्रमाणाभास है वह कुत्सित है, यह प्रतिवादी भी मानता है। किञ्च—'ईश्वरसद्भाव'रूप विषय-विशेष का कथन व्यर्थ हो जायगा, कारण अन्य विषयों में भी साध्य का असाधक होने से प्रमाणाभास कुत्सित है ही।

इसीलिए तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण वितर्क अन्य पक्ष में सापेक्ष होने से उसे भी कहना चाहिए। अर्थात् 'ईश्वर-सद्भाव में यह प्रमाण है या यह?' ऐसा कहना चाहिए। किन्तु आपने वैसा नहीं कहा, अतः न्यूनत्व दोष हो जायगा।

चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं, कारण प्रश्नार्थक किम्-शब्द से किसी पदार्थ की जिज्ञासा प्रतीत होती है। प्रकृत में प्रमाण पद का सन्निधान होने से वह जिज्ञासा प्रमाणविषयक प्रतीत होती है। साथ ही जिस विषय में प्रश्न हो, उत्तरवादी को उसी-को कहना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह पूछा जा सकता है कि क्या ईश्वर-सद्भाव में यह जो प्रश्न है, वह प्रमाणसामान्यविषयक है या प्रमाण-विशेषविषयक? यदि प्रथम पक्ष है, तो 'ईश्वरसद्भावे प्रमाणम्' यही उत्तर ठीक है, कारण जिस विषय में

वोत्तरमापद्येत। यद्विषयो हि प्रश्नस्तदभिधेयम्। प्रमाणसामान्यविषयश्च प्रश्नः, तच्च प्रमाणशब्देनाभिधीयत एव।

अथ द्वितीयः; तथापीश्वरसद्भावे प्रमाणमित्येवोत्तरमापद्येत। यथा प्रश्नवाक्ये प्रमाणशब्दो विशेषपरस्तथोत्तरवाक्येऽपि।

कोऽसौ विशेष इति चेन्न। पूर्ववदुत्तरत्वात्। अस्यापि प्रश्नस्य विशेषो विषयः, किंशब्दस्य विशेषशब्देन सामानाधिकरण्यात्। तथाच सति विशेष इत्येवोत्तरं स्यात्।

स्यादेतत्—विशेषशब्देन न विशेषमात्रमनिर्धारितमत्र विवक्षितम्, किन्त्वसाधारणी व्यक्तिस्तत्र विशेषशब्दस्य तात्पर्यम्। तस्मात् काऽसावसाधारणी प्रमाणव्यक्तिरिति प्रश्नार्थः। तत्र च तादृश्याः प्रमाणव्यक्तेरभिधानमुत्तरं युक्तम्, नैवंविधाः प्रलापा इति। नैतदेवम्; यतोऽत्रापि विशेष इत्येवोत्तरम्, यथा प्रश्नवाक्यगतस्य विशेषशब्दस्य सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपायां प्रमाणव्यक्तौ तात्पर्यं तथोत्तरवाक्यस्थितस्यापि। एवञ्च सति यत्र विषये भवदीयस्य प्रश्नवाक्यस्य तात्पर्यं तदेवास्माकमुत्तरवाक्येन प्रतिपादितमिति युक्तमुक्तम्।

प्रश्न हो, उसीका कथन करना चाहिए। यहाँ प्रमाण-सामान्यविषयक प्रश्न है और उस (प्रमाण-सामान्य) का 'प्रमाण' शब्द से कथन हुआ ही है।

यदि द्वितीय पक्ष है, तब भी 'ईश्वर प्रमाण है' यही उत्तर ठीक होता है, कारण प्रश्नवाक्य में जैसे प्रमाणशब्द विशेषपरक होगा, वैसे ही उत्तर-वाक्य में भी प्रमाणशब्द विशेपरक हो जायगा।

प्रश्न—वह विशेष कौन है ? *उत्तर*—इस प्रश्न का उत्तर भी पूर्व के तुल्य ही जानना चाहिए। इस प्रश्न का किंशब्द से सामानाधिकरण्य होने से विशेष ही विषय है, यदि ऐसा है, तो 'विशेष' यही उत्तर युक्त है।

प्रश्न—यहाँ प्रश्न-वाक्य में 'विशेष' शब्द से अनिश्चित केवल विशेष विवक्षित नहीं, किन्तु असाधारण (एक) व्यक्ति में किंशब्द का तात्पर्य है। अतः वह असाधारण व्यक्ति कौन है, यह प्रश्न का तात्पर्य है। यहाँ उस असाधारण व्यक्ति का अभिधान ही उत्तर होगा, ऐसा प्रलाप नहीं। *उत्तर*—इस आशय में भी 'विशेष' यही उत्तर युक्त है। जैसे प्रश्नवाक्यगत विशेषशब्द का सर्वतः व्यावृत्त व्यक्ति में तात्पर्य है, वैसे ही उत्तर-वाक्यगत विशेषशब्द का भी सर्वतः व्यावृत्त व्यक्ति में तात्पर्य होगा। ऐसा होने पर आपके प्रश्न-वाक्य का जिस विषय में तात्पर्य है, वही हमारे उत्तर-वाक्य द्वारा प्रतिपादित होता है। अतः युक्त ही उत्तर है।

यथार्थश्चेत्; तर्हि तेनैव ज्ञानेन स्वकीयो विषयः प्रमाणमुपस्थाप्यते, विषये प्रमाणप्रवृत्तिमन्तरेण तदीययथार्थत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तेनापि प्रमाणेन स्वगोचर ईश्वरसद्भाव उपस्थाप्यत इत्यनायासेनैव सिद्धोऽस्माकमीश्वरसिद्धि-मनोरथः।

अथाऽयथार्थम्; तत्रास्मिन्नयथार्थज्ञानविषये यद्यस्माभिरयथार्थमेव ज्ञान-मुत्पादनीयमिति भवतः पृच्छतो वाञ्छितं तदा केयं स्वाधीनेऽर्थे परापेक्षा ? भवानेव अयथार्थज्ञानोत्पादनकुशलो यथैकं तत्र मिथ्याज्ञानमजीजनत्, तथा परमप्युत्पादयतु। वयं पुनर्यथार्थज्ञानस्योत्पादयितारो मिथ्याज्ञाने सर्वथैवा-कृतिनः किमिह नियुज्येमहीति।

अथ मदीयस्यायथार्थज्ञानस्य यो विषयः स मदीययथार्थज्ञानविषयो भवता क्रियतामिति त्वदीयं वाञ्छितम्; तदा व्याघातादीदृश्यर्थे भवतः प्रवृत्तिरेवानुपपन्ना। 'शुक्तिका रजतत्वेन मम यथार्थज्ञानविषयो भवत्वि'त्येतदर्थं प्रेक्षावान् कथङ्कारं प्रयतेत ? येन रूपेणायथार्थज्ञानविषयत्वं तेनैव रूपेण यथार्थज्ञानविषयत्वे व्याघातात्।

यदि यथार्थ कहें, तो वही ज्ञान स्वविषय प्रमाण की भी उपस्थिति करेगा, कारण विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति के बिना प्रमाणविषयक ज्ञान की यथार्थता का निश्चय नहीं हो सकता। फिर वह प्रमाण भी स्वविषय ईश्वर के सद्भाव की उपस्थिति कर ही देगा। इस तरह बिना परिश्रम के ही हमारा ईश्वरसद्भावरूप मनोरथ सिद्ध हो गया !

यदि आप यह चाहते हों कि अयथार्थ ज्ञान का विषय प्रमाण हममें अयथार्थ ज्ञान ही उत्पन्न करे, तो स्वाधीन अर्थ में दूसरे की अपेक्षा क्यों ? यथार्थ ज्ञान के उत्पादन में तो आप ही कुशल हैं। जैसे उस विषय में एक मिथ्याज्ञान को उत्पन्न किया है, वैसे ही और भी अयथार्थ ज्ञान का उत्पादन कर लें। हम तो यथार्थ ज्ञान के उत्पादक हैं और मिथ्याज्ञान के उत्पादन में सर्वथा अकुशल हैं। फिर इस विषय में हमें क्यों प्रेरित करते हैं ?

समर्थन—मेरे अयथार्थ ज्ञान के विषय को मेरे यथार्थ का ज्ञान विषय आप करें।
खण्डन—यदि ऐसी आपकी इच्छा है, तो व्याघात होने से इस विषय में आपकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। 'शुक्तिका रजतत्वरूप से मेरे यथार्थ ज्ञान का विषय हो' इसके लिए कोई भी बुद्धिमान् किस तरह प्रवृत्त होगा ? जो पदार्थरूप से यथार्थ ज्ञान का विषय हो, उसी रूप से वह अयथार्थ ज्ञान का भी विषय हो, इसमें व्याघात है।

अथ मन्यसे—स्वसिद्धान्तमनुरुन्धानेन भवता यथार्थज्ञानं तत्रोत्पादनीयम्, अतस्तदर्थं भवाननुयुज्यत इति। मैवम्; य ईश्वरसद्भावविषयो भवता प्रमाणाभासः प्रमाणतया भ्रान्त्या प्रतीतः, तस्य प्रमाणत्वमस्माभिर्व्युत्पादनीयमिति नास्माकमीदृशः सिद्धान्तः। प्रत्युतेश्वरसद्भावविषयं यत्प्रमाणं भवता प्रमाणाभासत्वेन भ्रान्त्या प्रतीतमस्ति तत्प्रमाणनीयमिति।

स्यान्मतमीश्वरसद्भावविषयस्य प्रमाणस्य भवता ज्ञापनमात्रं क्रियतामित्यभिमतं पृच्छतामस्माकम्, न तु प्रमाणेनाऽप्रमाणेन वेति विशेषोऽप्यभिमत इति। न; ज्ञापनमात्रस्याप्रमाणज्ञानमादायाऽप्युपपत्तेः। तत्र स्वाधीने केयं परापेक्षेत्याद्युक्तमनुषञ्जनीयम्।

स्यादेतत्—येयमीश्वरसद्भावविषया प्रमाणप्रतीतिरस्माकमुत्पन्ना सा व्यभिचारिणी सत्या वेति संशयोऽत्रास्माकम्। तेनैकपक्षनिर्धारणाधीनं यदिदं दूषणमवादि भवता, तन्निरवकाशमिति। नैतदस्ति; एवं हि तस्यां प्रतीतौ यथार्थत्वा-

समर्थन—अपने सिद्धान्त के अनुसार आप ईश्वरविषयक प्रमाण में यथार्थ ज्ञान का उत्पादन करें, इसीलिए हम आपको प्रेरित कर रहे हैं। *खंडन*—यदि प्रश्न का यही आशय हो, तो वह ठीक नहीं। कारण ईश्वर-सद्भावविषयक प्रमाणाभास (अनुमानादि) को आप भ्रमवश प्रमाण मानते हैं। हम उस प्रमाणाभास के प्रमाणत्व का प्रतिपादन करें—यह हमारा सिद्धान्त नहीं। प्रत्युत हमारा यही सिद्धान्त है कि ईश्वरसद्भावविषयक प्रमाण (वेद) को आपने भ्रमवश प्रमाणाभास मान रखा है, उस (वेद) के प्रमाणत्व का प्रतिपादन करें।

समर्थन—प्रश्नकर्ता का यही आशय है कि आप ईश्वर-सद्भावविषयक प्रमाण का बोधनमात्र करें, प्रमाण से ही बोधन करें या अप्रमाण से ही—ऐसा कोई विशेष अभिमत नहीं है। *खण्डन*—आपका यह मत भी युक्त नहीं है, कारण केवल बोधन अप्रमाण से भी हो सकता है और अयथार्थ ज्ञान के उत्पादन में आप स्वाधीन ही हैं। उसमें दूसरे की अपेक्षा व्यर्थ है, अतः पूर्वोक्त खण्डन की अनुवृत्ति ही कर लेनी चाहिए।

समर्थन—ईश्वर-सद्भावविषयक प्रमाण का जो ज्ञान हमें हुआ है, वह यथार्थ या अयथार्थ है, ऐसा इस विषय में हमें सन्देह है। अतः एककोटि यथार्थत्व या अयथार्थत्व का निश्चय कर जो दूषण आपने दिया है, वह युक्त नहीं है।

यथार्थत्वसंशयेन तस्याः प्रतीतेर्गोचरो यत्प्रमाणं तस्यापि योऽसौ विषय ईश्वर-सद्भावस्तत्र सर्वत्रैव संशयानस्य भवतः प्रश्नोऽयम्, न तु विप्रतिपन्नस्येति स्यात्। तथाच स्वीकुरु शिष्यभावम्, प्रसाद्य चिरं चरणशुश्रूषाभिरस्मान्, च्छेत्स्यामस्ते संशयमिति।

विप्रतिपन्ना एव वयम्, आहार्यः संशयोऽस्माकमिति चेत्; तर्ह्यवधृतैककोटय एव, वयं कार्यानुरोधात्तु संशयमालम्बामह इत्युक्तं स्यात्। एवं तर्हि तदेव कोट्यवधारणं भवतां यथार्थमयथार्थं वेति विकल्पोक्तयुक्त्या दूषणीयम्।

एतेन—अनध्यवसायेन[1] तदस्माभिः प्रतिपन्नमित्यपि निरस्तं वेदितव्यम्। व्यभिचारिविषयमव्यभिचारिविषयं वा तदिति विकल्पाभ्यां तस्यापि ग्रस्तत्वात्

खंडन—प्रश्न का यह आशय हो नहीं सकता। कारण ऐसा मानने पर अर्थात् प्रमाण की प्रतीति में यथार्थत्व-अयथार्थत्व का सन्देह होने पर उस प्रतीति का विषय जो प्रमाण है, उसके भी विषय ईश्वर-सद्भाव में तुम्हें सन्देह ही है। अतः संशय से ही तुम यह प्रश्न करते हो, विप्रतिपन्न नहीं हो। तब तो हमारे शिष्य बनो, चरण-शुश्रूषा कर हमें प्रसन्न करो। हम तुम्हारे सन्देह का छेदन कर देंगे।

समर्थन—हम विप्रतिपन्न ही हैं और हमारा संशय भी आहार्य (इच्छा से ही जन्य) है। *खंडन*—तब ऐसा कहिये कि एक कोटि अर्थात् अभाव का हमें निश्चय है। विजय की इच्छा से हम सन्देह का अवलम्बन करते हैं—यह आपके प्रश्न का आशय हुआ। एवञ्च आपका वह एककोटि का ज्ञान भ्रम है या यथार्थ, ऐसा विकल्प कर उक्त युक्ति से खण्डनीय है।

समर्थन—वैशेषिकाभिमत अनध्यवसाय अविद्यारूप ज्ञान से ईश्वर-सद्भाव में प्रमाण ज्ञात होने के कारण उसमें प्रश्न हो सकता है। *खंडन*—वह अविद्यारूप ज्ञान भी यथार्थ है या अयथार्थ, इस विकल्प से ग्रस्त होने से उक्त आशय भी खण्डनीय है। यथार्थत्व-अयथार्थत्व ये दोनों कोटियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। अतः एक कोटि के न होने पर अन्य द्वितीय कोटि की ही प्राप्ति होती है। दोनों से अन्य तृतीय कोटि की प्राप्ति नहीं होती। भाव यह है कि निर्विकल्पकात्मक उक्त ज्ञान भ्रम-प्रमा से बहिर्भूत

१. 'किं स्वित्' इत्यकारक विशेषरूप से कोटिद्वय का अनुल्लेखी ज्ञान, जो विशेषतः विरुद्ध कोटिद्वयों के उल्लेखक संशयात्मक ज्ञान से विलक्षण है, 'अनध्यवसायात्मक ज्ञान' कहा जाता है, जिसके विषय में 'न्यायलीलावती' में विशेष रूप से विचार किया गया है।

'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः' इति न्यायात् ।

एवमीश्वराभिसन्ध्यादावपि तत्तत्स्थाने तिष्ठत्सर्वनामान्तरखण्डनमत्र द्रष्टव्यम् ।

इति कवितार्किकचक्रवर्ति--श्रीश्रीहर्षकृते खण्डनखण्डखाद्ये
सर्वनामार्थनिरुक्तिर्नाम तृतीयः परिच्छेदः ।

नहीं है, भ्रमभिन्नत्वरूप प्रमात्व का आश्रय होने से अनित्य प्रमा में ही गुण की अपेक्षा होती है ।

इसी प्रकार 'ईश्वराभिसन्धि' नामक ग्रन्थ के तत्-तत् प्रकरण में किया गया अन्य सर्वनाम-शब्दों का खण्डन यहाँ भी समझ लेना चाहिए । अतः उनका यहाँ खण्डन न करने से कोई न्यूनता नहीं है ।

तृतीय परिच्छेद का भाषानुवाद समाप्त ।



चतुर्थः परिच्छेदः

भावत्व-लक्षण-खण्डनम्

ननु तथापि भावात्मके तस्मिन्नीश्वरे विधायकं किञ्चित्प्रमाणं वक्तव्यमिति चेत्; किं पुनर्भावत्वम्?

विधित्वमिति चेन्न। पर्यायाप्रश्नात्। स्वरूपसत्त्वमिति चेत्; अभावस्यापि तथाभावात्, प्रतिस्वं व्यावृत्तत्वेनाननुगतत्वापत्तेश्च।

अस्तीति प्रतीतिविषयत्वमिति चेन्न। 'अभावो घटस्यास्ती'ति प्रत्ययसम्भवेन अभावस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। नास्तीति प्रतीतिविषयत्वेऽपि च घटादेर्भावत्वानिवृत्तेः।

भावत्व-लक्षण का खंडन

'यद्यपि किम्-शब्दार्थ का निर्वचन न होने से ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, तो भी भावरूप ईश्वर में विधायक कुछ प्रमाण अवश्य कहना चाहिए'—यदि ऐसा कहें, तो वह भावत्व क्या वस्तु है, अर्थात् निर्वचन न होने से भावत्व अनिर्वचनीय है। उसमें प्रमाण का कोई प्रयोजन ही नहीं है।

निर्वचन—विधि ही भाव है। *खण्डन*—हम पर्याय नहीं, लक्षण पूछते हैं, अतः आपको भाव का लक्षण कहना चाहिए। *समर्थन*—'स्वरूप से जो सत् हो, वह भाव है।' *खंडन*—अभाव भी स्वरूप से सत् है, अतः अभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—स्वरूपसत्त्व प्रतिव्यक्ति पृथक्-पृथक् होने से उसे लक्षण मानने में उक्त लक्षण से लक्ष्य का अनुगम नहीं होगा।

समर्थन—"'अस्ति' इस प्रतीति का विषय भाव है।" *खण्डन*—'घटस्य अभावोऽस्ति' ऐसी प्रतीति होती है, अतः 'अस्ति' इस प्रतीति का विषय होने से अभाव में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—यदि 'अस्ति' इस प्रतीति के विषय को भाव कहें, तो 'घटाभावो नास्ति' इस प्रतीति के विषय होने से घट में भावत्व की निवृत्ति होनी चाहिए।

अस्तीति चास्त्यर्थो वा शब्दो वा विवक्षितः ? नाद्यः; तस्यानिरुक्तेः। सत्ता तदर्थ इति चेन्न। सामान्यादीनां तदभावादभावत्वापत्तेः। स्वरूपसत्त्वञ्च निरस्तम्।

नापि द्वितीयः; अभावोऽस्तीति प्रतीतेरुक्तत्वात्। वर्तत इत्याद्याकारेण च प्रतीयमानस्याभावत्वप्रसङ्गात्।

सोऽप्यस्तिपर्याय इति चेन्न। उभयसाधारणैकार्थनिर्वचनमन्तरेण पर्यायत्वस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्।

यत्रैकस्यास्तिपदप्रयोगः, तत्रैवापरस्य वर्तत इति प्रयोगात् सामान्येन तावत्

किञ्च—'अस्ति' से अर्थ अभिप्रेत है या शब्द ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है; कारण अबतक अस्ति के अर्थ की निरुक्ति हुई ही नहीं है। यदि सत्ता को अस्ति का अर्थ मानें, तो सामान्य आदि में सत्ता का अभाव होने से उनमें लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। यदि स्वरूपतः सत्त्व को अस्ति का अर्थ मानें, तो वह अभाव में भी होने से लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण द्वितीय पक्ष में अस्ति-शब्द से जिसका उल्लेख होता हो, ऐसी प्रतीति का विषय भाव है, ऐसा लक्षण हुआ। उसकी 'अभावोऽस्ति' इस प्रतीति के विषय अभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि केवल अस्ति-शब्द के उल्लेखवाली प्रतीति के विषय को ही भाव मानें, तो 'घटो वर्तते', 'घटो भवति' इत्यादि प्रतीतियों का विषय घट अभाव हो जायगा। अर्थात् उसमें भावत्व का लक्षण न जाने से अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'अस्ति-पर्याय का उल्लेख करनेवाली प्रतीति का विषय भाव है', ऐसा लक्षण करेंगे। एवञ्च अस्ति के पर्याय 'भवति, वर्तते' भी हैं, अतः भवति, वर्तते का उल्लेख करनेवाली प्रतीति के विषय में अव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—एक अर्थ के वाचक को ही पर्याय कहते हैं। अतः जबतक भावरूप एक अर्थ का निर्वचन न हो, तबतक पर्यायघटित इस लक्षण का ज्ञान ही नहीं हो सकता।

समर्थन—जिस अर्थ में एक पुरुष 'अस्ति' का प्रयोग करता है, उसी अर्थ में अन्य पुरुष 'भवति, वर्तते' का भी प्रयोग करता है। अतः सामान्यरूप से भावत्व के निर्वचन के बिना भी पर्यायत्व का ज्ञान हो सकता है। *खण्डन*—एक अर्थ में प्रयुक्त

पर्यायत्वं शक्याधिगममिति चेन्न। प्रमेयाभिधेयादिशब्दानां तथात्वेऽप्यपर्यायत्वात्।

यत्रेत्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तार्थत्वे च तन्निर्वचनप्रसङ्गस्तदवस्थः, स एवार्थो भावत्वमुच्यताम्, किं शब्दोल्लेखगवेषणया।

अपरप्रतिषेधात्मकत्वं भावत्वमिति चेन्न। व्यवच्छेद्यासम्भवेन परपदवैयर्थ्यात्, भावाभावयोः परस्परप्रतिषेधात्मकतास्वीकाराच्च।

तथापि 'भावो नास्ती'त्यभावप्रतिपत्तिवत् 'अभावो नास्ती'ति भावस्याप्रतीतिरिति चेन्न। तावतापि लक्षणानिरुक्तेः।

अपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमेव भावत्वमिति चेन्न। चक्षुरादिभिर्भावत्वा-

होने पर भी 'प्रमेय' और 'अभिधेय' शब्द पर्याय नहीं हैं, अतः एक अर्थ में प्रयोग होने से पर्यायत्व का सामान्यतः ज्ञान नहीं हो सकता।

समर्थन—जिन दो अर्थों का एक प्रवृत्तिनिमित्त हो, वे दोनों आपस में पर्याय हैं। प्रमेय और अभिधेय शब्दों के प्रमाविषयत्व और अभिधाविषयत्वरूप दो प्रवृत्तिनिमित्त हैं, अतः उनमें पर्यायत्व नहीं है। *खण्डन*—जबतक अस्ति-शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का ज्ञान न हो, तबतक प्रवृत्तिनिमित्तत्वघटित पर्यायत्व का भी ज्ञान न होने से पर्यात्वघटित उक्त लक्षण का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा। अतः उस 'अस्ति' के प्रवृत्तिनिमित्त का ही निर्वचन कीजिये। 'अस्ति' शब्द के उल्लेख का अन्वेषण व्यर्थ है।

समर्थन—'जो पर का प्रतिषेधरूप न हो, वह भाव है', ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—'अप्रतिषेधरूप भाव है' इतना ही कहने में कोई दोष तो है नहीं, फिर कोई व्यवच्छेद्य न होने से 'पर' पद का निवेश व्यर्थ है। किञ्च—भाव भी अभाव का प्रतिषेधरूप है, अतः उक्त लक्षण का असम्भव हो जायगा।

समर्थन—जैसे 'भावो नास्ति' इस तरह अभाव की प्रतिषेधरूप से प्रतीति होती है, वैसे 'अभावो नास्ति' इस तरह भाव की प्रतिषेधरूप से प्रतीति नहीं होती। अतः असंभव नहीं है। *खण्डन*—इस कथन से भी लक्षण की निरुक्ति तो नहीं हुई। अर्थात् एतादृश प्रतीति न होने पर भी भाव में स्वाभावाभावत्व का तो आप भी अपलाप नहीं कर सकते। एवञ्च पूर्वोक्त असंभव बना ही हुआ है।

समर्थन—'पर के प्रतिषेधरूप से जो अप्रतीयमान हो, वह भाव है', ऐसा लक्षण

ग्रहणप्रसङ्गात्। नहि प्रतीयमानत्वं चक्षुरादिग्राह्यम्। 'अभावो नास्ती'ति प्रतीतेर्निर्विषयत्वप्रसङ्गाच्च। नहीयं भावविषया, भवत्पक्षे परप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वात्। नाप्यभावविषयैव, तन्निषेधार्थत्वात्। नैवं प्रतीतिरेव स्यादिति चेन्न। शाब्द्याः प्रतीतेः सम्भवात्। आकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः प्रतिस्वं संसर्गबोधनात्।

'अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।'

प्रत्यक्षप्रतीतेस्तथा विवक्षितत्वादयमदोष इति चेन्न। सर्वस्य भावस्य प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारात्। सेश्वरपक्षे सर्वं प्रत्यक्षमिति चेन्न। तेन तेषामपरप्रतिषेधात्मतया ग्रहणे प्रमाणाभावात्।

तेषां विधिरूपतया तथैव ग्रहणमिति चेन्न। विधिरूपत्वस्यानवधारणात्।

करेंगे। वही भाव की विशेषता है। एवञ्च अब असंभव न होगा। *खण्डन*—प्रतीतिघटित उक्त भावत्व का चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण प्रतीति का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। किञ्च 'अभावो नास्ति' यह प्रतीति निर्विषयक हो जायगी। देखिये—यह प्रतीति भावविषयक नहीं है, कारण आपके मत में वह पर के प्रतिषेधरूप से प्रतीयमान है। अभावविषयक भी नहीं है, कारण अभाव के प्रतिषेधरूप से प्रतीयमान है। ऐसी प्रतीति ही नहीं होती, यह भी नहीं कह सकते; कारण आकांक्षादियुक्त पदों से प्रतिपदार्थों का परस्पर संसर्ग-बोध होने से शब्दजन्य ऐसी प्रतीति हो सकती है। जब 'शशश्रृङ्गं नास्ति' इस शब्द-प्रयोगस्थल में अत्यन्त असत् अर्थ का भी शब्द से बोध होता है, तब प्रकृत स्थल में जहाँ सत् अर्थ है, वहाँ शब्द से प्रतीति क्यों नहीं होगी?

समर्थन—'अपर-प्रतिषेधमुख से जायमान जो प्रत्यक्ष, उसका विषय भाव है।' 'घटाभावो नास्ति' ऐसी प्रतीति होने पर भी घटादि का प्रत्यक्ष प्रतिषेधरूप से नहीं होता; अतः उसमें अव्याप्ति नहीं है। *खण्डन*—देश, काल और स्वरूप से विप्रकृष्ट भावों का प्रत्यक्ष न होने से सभी भावों का प्रत्यक्ष होता हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि ईश्वर और योगी को सब वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है, तब भी उन्हें अपरप्रतिषेधरूप से ही प्रत्यक्ष होता हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

समर्थन—घटादि विधि अपरप्रतिषेध है, अतः उसी रूप से ग्रहण होता है। *खंडन*—अद्यावधि घटादि के विधि (अपर-प्रतिषेध) रूपत्व का अवधारण ही नहीं हुआ है।

यदपरप्रतिषेधात्मकतया शब्देनापि बोध्यते, तत्तावत् भावरूपमिति चेन्न। परपदवैयर्थ्यात्। तत्त्यागेऽप्यचाक्षुषादित्वापत्तेः।

'सुरभि चन्दनमि'त्यादाविव अन्योपनीतभागवत् तत्र चाक्षुषत्वं भविष्यतीति चेन्न। तथाविधविषयेण विशिष्टाया बुद्धेर्विषयविशेषणताग्रहे स्वाश्रयोऽप्यंशतः स्यात्। तेनोपलक्षितायास्तथात्वे चाभावविशिष्टभावग्रहाथस्याभावस्य तथात्वापत्तेः।

तेन यदेवंविधं तद्भावरूपमिति च ब्रुवता एवंविधत्वाद्भावत्वमन्यद्वाच्यम्, अभेदे च यदेवंविधं तद्भावरूपमिति नियमानुपपत्तेः। अस्योपलक्षणत्वे चोपलक्ष्यस्यान्यस्य वाच्यत्वात्।

समर्थन—'जो अपरप्रतिषेधरूप से शब्द द्वारा भी बोधित हो, वह भाव है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—पूर्वोक्त रीति से 'पर' पद का वैयर्थ्य हो जायगा। यदि 'पर' पद का लक्षण में निवेश न भी करें, तब भी बोध-घटित होने से उक्त भावत्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा।

समर्थन—जैसे 'सुरभि चन्दनम्' यहाँ सौरभ का तथा 'ज्ञातो घटः' यहाँ ज्ञान का ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से भान होता है, वैसे ही उक्त लक्षणरूप भावत्व का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जायगा।

खंडन—अपरप्रतिषेधरूप जो विषय, उससे विशिष्ट बुद्धि को यदि लक्षण-प्रविष्ट विषय का विशेषण मानें, तो विषय-विशिष्ट बुद्धि के विषय में वृत्ति होने से बुद्धि द्वारा विषय भी विषयवृत्ति हुआ, अतः आत्माश्रय हो जायगा। यदि अपरप्रतिषेधरूप विषय को बुद्धि में और उससे उपलक्षित बुद्धि को विषय में उपलक्षण मानें, तो अपर भूतल पर विषय से उपलक्षित 'घटाभाववद् भूतलम्' इत्याकारक बुद्धि से उपलक्षित घटाभावरूप विषयत्व घटाभाव में भी है। अतः लक्षण की घटाभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी।

किञ्च—'अपरप्रतिषेधरूप से प्रतीयमान भाव है' ऐसा आप कहते हैं, तो लक्षण से अन्य भावत्वरूप लक्ष्यतावच्छेदक का भी निर्वचन करना होगा। कारण लक्षण और लक्ष्यतावच्छेदक को एक मानें, तो 'जो ऐसा हो वह भाव है' यह कथन नहीं बनेगा। यदि लक्षण को उपलक्षण मानें, तो भी उपलक्ष्यता का उपलक्षण से अन्य कोई अवच्छेदक कहना ही होगा।

अस्यैव भावार्थत्वे चाभावो नास्तीति कृत्वा प्रतीयमानस्य भावस्य भावत्वाभावप्रसङ्गात् । भिन्नश्च भावत्वं न सम्भवति, षट्पदार्थव्यतिरेकप्रसङ्गात् ।

यच्च किञ्चिद्भावत्वं तत्स्वात्मन्यस्ति नो वा ? अस्ति चेदात्मनि वृत्तिविरोधः, नास्ति चेत्स्वस्यान्यप्रतिषेधमुखेन चाप्रतीयमानस्याभावत्वप्रसङ्ग इति ।

अभावत्व-लक्षण-खण्डनम्

नन्वेवमीश्वरे प्रमाणानुपदर्शनात्तदभाव एवाऽऽपद्यत इति चेत्, अभावत्वं किमभिधीयते ?

निषेधात्मकत्वमिति चेत्, तद्यदि प्रतिक्षेपात्मकत्वं तदा भावेऽप्यस्ति, भावाभावयोर्द्वयोरपि परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वस्वीकारात् । अथाभावत्वमेव, तदा न निवृत्तः पर्यनुयोगः ।

यदि किसी प्रकार 'अपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्व'रूप लक्षण को ही लक्ष्य का अवच्छेदक मानें, तो 'अभावो नास्ति' इस प्रकार प्रतिषेधरूप से प्रतीयमान घटादि भाव लक्ष्य न कहलायेगा । फिर, उस लक्षण से अन्य भावत्व सम्भव भी नहीं है, कारण तब उसे द्रव्यादि षट्-पदार्थों से अन्य पदार्थ मानना पड़ेगा ।

किञ्च—जो कुछ भी भावत्व कहें, वह भावत्व के लक्षण में रहता है या नहीं ? यदि रहता है, तो स्व में स्व का वृत्तित्व हो जायगा, जो विरुद्ध है । यदि नहीं रहता, तो लक्षण में परप्रतिषेधरूप से अप्रतीयमान होने पर भी अभावत्व का प्रसङ्ग हो जायगा ।

अभावत्व-लक्षण का खण्डन

प्रश्न—इस प्रकार प्रश्न में प्रश्न कर ईश्वर में प्रमाण नहीं दिखा सके, तो ईश्वर का अभाव होने लगेगा । *उत्तर*—अभाव ही क्या वस्तु है ? अर्थात् निर्वचन न हो सकने से वह भी अनिर्वचनीय है, अतः ईश्वर का अभाव नहीं होगा ।

निर्वचन—'जो निषेधरूप हो, वह अभाव है' ऐसा लक्षण कर ही सकते हैं । *खंडन*—यदि निषेध प्रतिक्षेपरूप है, तो भाव में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण भाव और अभाव दोनों परस्पर प्रतिक्षेपरूप हैं । यदि निषेध अभाव ही है, तो प्रश्न निवृत्त नहीं हुआ, अर्थात् प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ ।

एतेन निषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमिति निरस्तम् ।

भावविरोधित्वमिति चेन्न । सर्वभावविरोधित्वं तद्विशेषविरोधित्वं वा ? नाद्यः; असिद्धेः, नहि घटाभावो भूतलादि विरुणद्धि । नापि द्वितीयः; भावानामपि केषाञ्चित्तथाभावात् ।

अथ सहानवस्थानं विरोधो विवक्षितः, स भावानां नास्तीति चेन्न । गोत्वाश्वत्वादौ तस्यापि भावात् ।

एकविधावन्यनिषेधः स इति चेन्न । भेदे भावभेदयोरेव प्रसङ्गात् । एकविधिरेवापरनिषेधः स इति चेन्न । निषेधस्याभावार्थत्वे भावार्थत्वे चासिद्धेः ।

समर्थन—'निषेधमुखेन प्रतीयमानत्व' अभावत्व है। *खण्डन*—यह लक्षण भी युक्त नहीं, कारण यदि निषेध को प्रतिक्षेपरूप मानें, तो भाव में अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि अभावरूप मानें, तो प्रश्न निवृत्त नहीं हुआ ।

समर्थन—'भाव का विरोधी अभाव है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खंडन*—सभी भावों का विरोधित्व विवक्षित है या यत्-किञ्चित् भाव का ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, कारण घटाभाव का भूतल अविरोधी है । अतः सर्व भावों का किसी भी अभाव से विरोध न होने से असंभव हो जायगा । द्वितीय पक्ष में यदि किञ्चिद्भाव (उत्तर-संयोग) के साथ वध्यघातकभावरूप विरोध कर्म में भी है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—यहाँ 'सहानवस्थान'रूप विरोध विवक्षित है, वह भावों में नहीं है । *खण्डन*—गोत्व और अश्वत्व में सहानवस्थानरूप विरोध है, अतः उनमें अतिव्याप्ति होने से यह भी कह नहीं सकते ।

समर्थन—'एक की विधि में अन्य का निषेध अभाव है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—यदि लक्षणघटक विधि-निषेध में परस्पर भेद है, तो पीत की विधि में नील का निषेध होने से नील में अव्याप्ति हो जायगी ।

यदि 'एक की विधि ही अपर का निषेध है' इस प्रकार विधि-निषेधों का अभेद मानें और यहाँ 'निषेध' शब्द का अभाव अर्थ करें, तो अभीतक अभाव की निरुक्ति न होने से लक्षण असिद्ध हो जायगा । यदि निषेध शब्द का भाव अर्थ करें, तो निषेध का भावार्थत्व अप्रसिद्ध होने से पुनः लक्षण की असिद्धि हो जायगी ।

नास्तीति प्रतीयमानत्वमिति चेन्न । घटाभावो नास्तीति घटस्य तथाप्रतीयमानतया अभावत्वापत्तेः । अस्तीति भावत्वनिरुक्तौ यदुक्तं दूषणं तदापत्तेश्च ।

प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वमिति चेन्न । प्रतियोगिनः परार्थत्वेऽतिप्रसङ्गात् । विरोध्यर्थत्वे चैतदनिरुक्तेः । असदर्थत्वे नञर्थस्यासिद्धेः अतीतानागतज्ञानादौ विषयादिनाऽतिप्रसङ्गात् ।

यच्च किञ्चिदभावस्य लक्षणमुच्यते, स भावोऽभावो वा स्यात् ? नाद्यः ; भावस्याभावानाश्रितत्वात्, विषयिधर्मेण च कथमपि तथात्वे तन्निर्वाच्यं स्यात् ।

समर्थन—'नास्ति इत्याकारक जो (प्रतीति), उसका विषय अभाव है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—'घटाभावो नास्ति' इत्याकारक प्रतीति का विषय घट भी है । अतः घट में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—इस लक्षण में "अस्ति' इत्याकारक प्रतीति का विषय भाव है" इस भावलक्षण में उक्त दोष भी हो जायँगे । अर्थात् 'नास्ति' यह शब्द शब्दपरक है या अर्थ परक ? यदि शब्दपरक मानें, तो 'न वर्तते, न भवति' इत्यादि प्रतीतियों के विषय अभाव न कहलायेंगे । यदि अर्थपरक कहें, तो अभीतक 'नास्ति' शब्द के अर्थ का निश्चय हुआ नहीं है, अतः अप्रसिद्धि या आत्माश्रय दोष हो जायगा, यह भाव है ।

समर्थन—'प्रतियोगी के निरूपण के अधीन जिसका निरूपण हो, वह अभाव है,' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—यदि प्रतियोगी शब्द का 'पर' अर्थ करें, तो विषय के निरूपण के अधीन बुद्धि का निरूपण होने से बुद्धि में एवं संयोगादि, ह्रस्वादि में अतिव्याप्ति हो जायगी । उसका 'विरोधी' यह अर्थ नहीं कर सकते, कारण अभीतक विरोध का निर्वचन ही हुआ नहीं है । नञर्थ की निरुक्ति न होने से प्रतियोगी शब्द का 'असत्' अर्थ भी नहीं कर सकते । किञ्च—अतीत, अनागत वस्तु का ज्ञान वर्तमान काल में असत् विषय से ही निरूपित होता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति भी हो जायगी ।

किञ्च—आप जो कुछ अभाव का लक्षण करते हैं, वह भाव है या अभाव ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण भाव अभाव में नहीं रहता । यदि विषयिधर्म प्रमेयत्व, अभिधेयत्व के तुल्य भावरूप लक्षण को अभाव मानें, तो भी उस लक्षण का निर्वचन तो करना ही होगा । इस प्रकार सभी निर्वचन खण्डित हैं । यदि प्रमेयत्व के तुल्य अभाव का कोई भावरूप लक्षण कहें और उक्तलक्षणयुक्त अभाव को अभाव मानें, तो उसमें भी लक्षण का अस्तित्व कहना पड़ेगा । तब तो विशिष्टवृत्ति धर्म के विशेषण में

अन्यदेव तद्वदिति चेन्न । तद्वदभावस्याभावत्वे स्ववृत्तिः, भावत्वे च व्याघातात् ।

न द्वितीयः; तस्याऽऽत्मनि वृत्तौ विरोधापत्तेः, अवृत्तावव्यापकत्वप्रसङ्गादिति ।

प्रतिक्षेप्यविशिष्टमेव यत् प्रतिभाति सोऽभाव इति चेन्न । प्रतिक्षेपानिरुक्तौ प्रतिक्षेप्यानिरुक्तेः ।

विशिष्ट-लक्षण-खण्डनम्

विशिष्टशब्दार्थश्च निर्वचनीयः स्यात् । तत्र विशिष्टं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा ? नाद्यः; दण्डपुरुषसम्बन्धमन्तरेण दण्डिनोऽन्यस्याप्रतीतेः । 'दण्डिनमानये'त्युक्तेऽतदानयनप्रसङ्गाच्च ।

तत्सम्बन्धेनोपलक्षितत्वात् तथेति चेन्न । अतद्वत उपलक्ष्यत्वेऽतिप्रसङ्गात् । तद्वतश्चान्यत्वात् ।

रहने से आत्माश्रय हो जायगा । लक्षणयुक्त अभाव को यदि भाव कहे, तो 'अभाव भाव है' यह व्याघात हो जायगा ।

द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, यदि लक्षण को अभावरूप मानें और उसे स्ववृत्ति भी मानें, तो आत्माश्रय होगा । यदि अभावरूप लक्षण में लक्षण की स्थिति न मानें, तो लक्षणरूप अभाव में ही लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'प्रतिक्षेप निषेध्य से विशिष्ट ही जो भासता हो, वह अभाव है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खंडन*—जबतक 'प्रतिक्षेप' शब्द के अर्थ की निरुक्ति न हो, तबतक यह लक्षण दुर्बोध है । 'प्रतिक्षेप' शब्द के अर्थ की अभीतक निरुक्ति ही हुई नहीं है ।

विशिष्ट-लक्षण का खण्डन

किञ्च—'प्रतिक्षेप्यविशिष्टमेव' यहाँ अभावलक्षणघटक विशिष्ट पदार्थ का भी लक्षण कहना होगा । वह कह नहीं सकते, क्योंकि वह विकल्पासह है । देखिये—विशिष्ट विशेषण, विशेष्य और उनके सम्बन्ध से भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, कारण 'दण्डिनमानय' इस वाक्य के श्रवण के अनन्तर दण्ड-पुरुष-सम्बन्ध से भिन्न किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती । यदि विशिष्ट को भिन्न मानें, तो 'दण्डिनमानय' इस वाक्य के कथन के अनन्तर विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध से भिन्न का आनयन होना चाहिए । किन्तु इनसे भिन्न का आनयन नहीं होता ।

समर्थन—विशिष्ट विशेषण-विशेष्य के सम्बन्ध से उपलक्षित होता है । अतः विशिष्ट में होता हुआ व्यवहार विशेषण-विशेष्य में भी होता है । *खण्डन*—प्रकृत

सम्बन्धो हेतुः; स च तदधिकरण एवेति चेन्न। सम्बन्धात्तदधिकरण-सम्बन्धान्यत्वापत्तेरित्येष न पन्थाः।

तत्सम्बन्धिनि तत्र व्यवहार इति चेन्न। तस्यापि विशिष्टत्वेनान्यत्वापत्तौ व्यवहारविषयगतविशेषस्य वक्तुमशक्यत्वात्।

एवं परम्पराकल्पनायामप्यनवस्थामात्रम्, न तु व्यवहार्यगतो विशेषः कश्चित्।

विशेषण-विशेष्य से शून्य विशिष्ट उपलक्ष्य है या प्रकृत विशेषण-विशेष्य से घटित? प्रथम पक्ष में 'दण्डिनमानय' ऐसा कहने पर कुण्डली की प्रतीति या आनयन होना चाहिए। द्वितीय पक्ष में विशिष्ट के अन्य होने से विशेषण-विशेष्य में विशिष्ट का व्यवहार नहीं होना चाहिए।

समर्थन—सम्बन्ध विशिष्ट की प्रतीति या व्यवहार में हेतु है और वह विशेषण-विशेष्य उभयाश्रित है। अतः विशिष्ट-व्यवहार विशेषण और विशेष्य, दोनों को ग्रहण कर ही होता है। *खण्डन*—केवल सम्बन्ध अतिप्रसक्त होने से विशिष्ट-व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता, किन्तु दण्डादिरूप अधिकरण से विशिष्ट सम्बन्ध ही हेतु है। दण्डाधि-करणविशिष्ट सम्बन्ध विशिष्ट होने से सम्बन्ध से अन्य है और विशिष्ट-व्यवहार का हेतु उक्त विशिष्ट का अधिकरण—अंशतः आत्माश्रय होने से—विशेषण-विशेष्य है नहीं। अतः विशिष्ट-व्यवहार विशेषण, विशेष्य दोनों में नहीं होगा। तस्मात् विशिष्ट अन्य है—यह कथन युक्त नहीं है।

समर्थन—यद्यपि विशिष्ट विशेषण-विशेष्यसम्बन्ध से अन्य है, तथापि विशेषण-विशेष्य का सम्बन्धी है, अतः विशिष्ट-व्यवहार विशेषण और विशेष्य उभय को ग्रहण कर ही होता है। *खंडन*—विशिष्टमात्र तो दण्ड-पुरुष का सम्बन्धी है नहीं, किंतु दण्ड-पुरुषीयत्व-विशिष्ट ही विशिष्ट दण्ड-पुरुष का सम्बन्धी है। वह अन्य है। अतः दण्ड-पुरुषीयत्वविशिष्ट में जो व्यवहार होता है, वह भले ही दण्ड-पुरुष का आदान करके हो। केवल दण्डीरूप विशिष्ट में जो व्यवहार होता है, वह दण्ड-पुरुष में कैसे होगा?

समर्थन—'दण्डी पुरुषः' इस विशिष्ट का सम्बन्धी दण्ड-पुरुषीयत्व से विशिष्ट विशिष्ट है और उसका सम्बन्धी दण्ड-पुरुष है। अतः परम्परया विशिष्ट का सम्बन्धी दण्ड-पुरुष भी होने से विशिष्ट में दण्ड-पुरुष का ग्रहण करके ही व्यवहार होगा।

द्वितीये तु प्रत्येकं दण्डिव्यवहारप्रसङ्गो विशेषाभावात् ।

न ते प्रत्येकं दण्डिपदार्थाः, किन्तु मिलिता इति चेत्; मिलिता इति किं ते च मेलकं चाभिधीयते, उत तेभ्योऽन्य एव कश्चित् ? आद्ये प्रत्येकं स एव प्रसङ्गः, मेलकेऽप्यधिकः । द्वितीयस्तु प्रतीतिव्यवहारविरोधात्पूर्ववदेव निरस्तः ।

एकज्ञानारूढो वा अविरलनानाज्ञानारूढो वाऽनेकश्च सम्बन्धश्च विशिष्ट-पदार्थ इति चेन्न । 'घटपटावि'ति बुद्धावारूढौ घटपटौ सम्बन्धश्च घटपटरूपो विशिष्टः स्यात् । घटत्वपटत्वसम्बन्धानां तद्बुद्धावारूढानामभ्युपगमेन सम्बन्ध-स्यापि तद्बुद्ध्यारोहोपगमध्रौव्यात् । अन्यथा घटत्वविशिष्टरूपो घटः पटत्वविशिष्ट-रूपश्च पटः कथमभ्युपेयस्तत्र ।

खण्डन—दण्ड-पुरुषीयत्व से विशिष्ट भी विशिष्टमात्र नहीं है, किन्तु विशिष्ट-विशेष ही है। वह अन्य है तथा दण्ड-पुरुष का सम्बन्धी भी नहीं है, अतः विशिष्ट का व्यवहार दण्ड-पुरुष का आदान करके नहीं होगा । इस रीति से विशिष्ट-परम्परा के आश्रयण में केवल अनवस्था होगी, व्यवहर्तव्य विषयगत विशेष का लाभ नहीं होगा ।

'विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध से अभिन्न ही विशिष्ट है', इस द्वितीय पक्ष में भी दण्ड, पुरुष और सम्बन्ध प्रत्येक में दण्डी-व्यवहार हो जायगा ।

समर्थन—दण्ड, पुरुष आदि प्रत्येक दण्डी-पद का अर्थ नहीं, किन्तु मिलित (समुदाय) दण्डी-पद का अर्थ है । अतः प्रत्येक में दण्डी-व्यवहार नहीं होगा । *खंडन*—'मिलित' शब्द का अर्थ क्या है, दण्ड, पुरुष, सम्बन्ध और इनका समूह अर्थ है या दण्डादि से अन्य ही समुदायरूप अर्थ है ? प्रथम पक्ष में प्रत्येक में भी विशिष्ट-व्यवहार हो जायगा और समुदाय में भी विशिष्ट व्यवहार होगा—यह अधिक हुआ । द्वितीय पक्ष का पूर्व ही (विशिष्ट अन्य है, इस कल्प के खण्डन के समय में ही) निराकरण कर आये हैं ।

समर्थन—एकज्ञान या अव्यवधान से उत्पन्न अनेक ज्ञानों के अनेक विषय और सम्बन्ध विशिष्ट पद का अर्थ है । *खण्डन*—'घटपटौ' इत्याकारक बुद्धि का विषय घट-पट तथा संबन्ध भी घट-पटरूप विशिष्ट हो जायगा, कारण घटत्व, पटत्व और उनका संबन्ध उस ज्ञान के विषय होने से सम्बन्ध भी उस ज्ञान का विषय है ही । यदि सम्बन्ध को उस ज्ञान का विषय न मानें, तो घट को घटत्वविशिष्ट तथा पट को पटत्वविशिष्ट कैसे मानेंगे ?

न च 'घटपटावि'त्यपि विशिष्टमेव, स्वतन्त्रयोः घटपटयोः परस्परासम्बन्धयोस्तत्र व्यवहारात्, न पुनर्यथा 'दण्डी पुरुषः', तथा 'घटी पटः, पटो घट' इति वा तत्र व्यवहारः ।

न चैकज्ञानाद्यारूढतैव तयोर्न मन्तव्या, यतो 'घटपटावि'ति द्वित्वं तयोस्तद्द्वयानवगाहिना कथं विज्ञानेनावगाह्येतेति प्रत्यभिज्ञाप्रस्तावोक्तान्दोषानाह्वास्यामः।

अत एव अविरलनानाज्ञानारूढताऽपि विशिष्टता निरवकाशा ।

अथाप्रकाशमानासम्बन्धोऽनेक एकबुद्ध्यारूढस्तथा, नचैवं घटपटौ । तत्कथमुक्तदोषापत्तिरिति चेन्न । अप्रकाशमानोऽसम्बन्धो ययोरित्ययमप्यर्थो विशकलित इति घटत्वपटत्वव्यक्त्यादिवैशिष्ट्यमपि तत्र भज्येताविशेषात् ।

अथ धर्मधर्मिसम्बन्धाः स्वतन्त्रा एवैकबुद्ध्यारूढास्तथा । न च घटपटौ धर्मधर्मिरूपावित्यनतिप्रसंग इति चेन्न । धर्मत्वस्यैकस्य दण्डादिगुणादिसाधारणस्य

घट पटविशिष्ट ही है, ऐसा नहीं मान सकते । कारण स्वतन्त्र (परस्पर असम्बद्ध) ही घट-पट का वहाँ व्यवहार होता है । जैसे 'दण्डी-पुरुषः' यह व्यवहार होता है, वैसे ही 'घटी पटः', 'पटी घटः' ऐसा व्यवहार नहीं होता ।

समर्थन—घट, पट दोनों एकज्ञान के विषय नहीं होते । *खंडन*—तब तो घट, पट दोनों को विषय न करनेवाले विज्ञान का विषय उभय-गत द्वित्व कैसे होगा ? उक्त इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा के खण्डन के प्रकरण के ही दोष आहूत होंगे—वे दोष उपस्थित हो जायँगे।

इसीलिए 'अव्यवधान से उत्पन्न नानाज्ञानविषय अनेक और सम्बन्ध विशिष्ट हैं'—यह लक्षण भी खण्डित जानना चाहिए ।

समर्थन—'अप्रकाशमान है असम्बन्ध जिनका, ऐसे एकबुद्धि के विषय अनेक विशिष्ट हैं ।' घट-पट का असम्बन्ध प्रकाशित है, अतः 'घटपटौ' इत्याकारक समूहालम्बन ज्ञान के विषय घट-पट में विशिष्ट-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—'अप्रकाशमान है असम्बन्ध जिनका' यह अर्थ स्पष्ट नहीं है । किसका किसमें असम्बन्ध अप्रकाशित हो, यह स्पष्ट कहना चाहिए । अतः घटत्व का पट में तथा पटत्व का घट में असम्बन्ध अप्रकाशित होने से घटत्वविशिष्ट घट, पटत्वविशिष्ट पट में अव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'जहाँ धर्म, धर्मी और सम्बन्ध तीनों स्वतन्त्र (विशिष्ट के अविशेषण) रूप से एकबुद्धि के विषय हों, वह विशिष्ट है ।' घट और पट परस्पर धर्म-धर्मिभावापन्न

वक्तव्यत्वापातात् । सोऽप्येष्टव्य इति चेत्; इष्यताम्, परं तस्यापि वालुकावद्विशकलितस्योपगन्तव्यत्वेन धर्म्येव किं न धर्मः स्यात् ।

तथाप्रतीत्यभावान्न स्यादिति चेन्न । त्वदुक्तैकप्रतीत्यारोहस्याविशेषे प्रतीतिरपि तथा किं न स्यात् ।

माऽस्तु धर्मत्वमनुगतम्, तत्तद्रूपादिपदार्थस्वरूपमेव तथा विचित्रं यत्तदेव धर्मिणा सम्बन्धेन च सममेकबुद्ध्यारूढं विशिष्टं नान्यदिति चेन्न। तेषां स्वरूपाणां भेदेन नानाभूतेषु विशिष्टेषु अनुगता विशिष्टबुद्धिर्न स्यात् ।

सम्बन्धमपि च तर्हि विलुम्प, एवंस्वभावादेव रूपादिकं तथाधियमाधत्ताम् ।

एतदपि किं न स्यादिति चेत्तर्हि वराको धर्म्यपि विसृज्यताम् । यथा विना

नहीं हैं, अतः उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं है । *खण्डन*—दण्डादि और गुणादि उभयसाधारण धर्म का निर्वचन करना होगा । यदि प्रमेयत्वादि के तुल्य दण्डादि साधारण धर्म को मान भी लें, तब भी विशिष्ट का अद्यावधि निर्वचन न होने से 'धर्मत्वविशिष्ट धर्म है' ऐसा धर्म का लक्षण नहीं हो सकता । अतः उपसंग्राहक रूप न होने से बालू के तुल्य विशकलित ही धर्म हुए । फिर धर्मी को ही धर्म क्यों न कहा जाय ?

समर्थन—धर्मत्वविशिष्ट रूप से धर्मी की प्रतीति नहीं होती, अतः धर्मी धर्म नहीं है । *खण्डन*—जबतक विशिष्ट की निरुक्ति न हो, तबतक ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती । किसी प्रकार हो भी, तो धर्मत्व, धर्मी और सम्बन्ध, एकबुद्धि के विषय होते ही हैं । अतः आपके अभिमत विशिष्ट लक्षण का समन्वय होने से धर्मत्वविशिष्टरूप से धर्मी की प्रतीति ही क्यों न हो ?

समर्थन—धर्मत्व अनुगत न हो, तो हानि क्या है ? रूपादि पदार्थों के स्वरूप ही ऐसे विलक्षण हैं, जो धर्मी और संबन्ध के साथ एकबुद्धि के विषय होकर विशिष्ट हैं, विशिष्ट कोई तत्त्वान्तर नहीं है । *खण्डन*—रूपादि के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं, अतः नाना विशिष्टों में अनुगत विशिष्टबुद्धि नहीं होगी ।

किञ्च—यदि रूपादि के स्वभाव के वैचित्र्य से ही निर्वाह करना है, तो सम्बन्ध को भी त्यागिये । स्वभाव से ही रूपादिसम्बन्धविषयक बुद्धि भी हो जाय ।

यदि कहें कि क्या हर्ज है, सम्बन्ध को भी त्याग देंगे; तो बेचारे धर्मी को भी त्यागिये ।

सम्बन्धं विशिष्टबुद्धी रूपादिस्वभावसामर्थ्यात्समर्थिता तथा विना धर्मिणमप्यस्त्विति जितं जैनैः।

स्यादप्येवं यदि शुक्ल इत्येतावन्मात्राद्येव प्रतीयेत। किन्तु 'शुक्लः शङ्खः' इत्यादिना प्रत्ययेन सामानाधिकरण्यमुल्लिखता धर्म्यप्यानीय दीयत इति चेन्न। शङ्खत्वजातेरुपाधेर्वा रूपादेरविरलतादृगवस्थितस्य वा स्वरूपवैलक्षण्यमेव तत्पदेऽभिषिच्यतां येन विनाऽप्यधिकरणं सामानाधिकरण्यव्यवहारः स्यात्।

किञ्च—नैतावन्मात्रम्, बुद्धिमादाय तदर्थगतवैचित्र्यान्तरखण्डने बुद्धिरेव स्वकारणसामर्थ्यात्तथोत्थिता तत्तद्व्यवहारप्रसवित्री स्वीक्रियतां कृतमर्थव्यसनेन। तस्मात्—

'प्रत्येतव्यस्य वैचित्र्यं प्रत्ययोल्लेखसाक्षिकम्।
धियं निवेश्य लुम्पद्भ्यो भङ्गं सात्येव यच्छति॥ १॥'

यत्तु—केनचिदभावस्य स्थाने तन्मात्रधीरभिषिक्ता, तत्तस्य परमुचितम्।

जैसे बिना सम्बन्ध के रूपादि के स्वभाव से विशिष्टबुद्धि होगी, वैसे ही बिना धर्मी के भी विशिष्टबुद्धि हो जायगी। अतः धर्मी को भी न माननेवाले बौद्ध जीत ही गये।

समर्थन—ऐसा संभव हो सकता, यदि 'शुक्लः' इत्याकारक ही प्रतीति होती। किन्तु सामानाधिकरण्य का उल्लेख करनेवाले 'शुक्लः शंखः' इस ज्ञान से धर्मी भी गृहीत होता है। *खण्डन*—शंखत्वजाति या उपाधि तथा एकज्ञानविषय रूपादि के स्वरूप के वैलक्षण्य को ही धर्मी के स्थान पर अभिषिक्त कीजिये, जिससे अधिकरण के बिना भी सामानाधिकरण्य-व्यवहार हो जायगा।

किञ्च—यही नहीं, किन्तु यदि बुद्धि को ग्रहणकर उसके अर्थ के वैचित्र्य का खण्डन करें, तो स्वकारण की सामर्थ्य द्वारा विचित्र रूप से उत्थित बुद्धि को ही उस-उस व्यवहार का जनक मान लीजिये, बाह्य अर्थ के स्वीकार का व्यसन व्यर्थ है। तस्मात्—

ज्ञान का आकार जिसमें प्रमाण है, ऐसे प्रत्येतव्य (विशिष्टरूप विषय) के वैलक्षण्य का—बुद्धिघटित लक्षण का निवेशकर—अपलाप करनेवाले मनुष्य को इस प्रकार बाह्य पदार्थमात्र के खण्डन द्वारा बुद्धि ही पराजय देगी। अर्थात् अतिरिक्त विशिष्ट का खण्डन कक्षाक्रम से प्रपञ्च के मिथ्यात्व में ही पर्यवसित होता है, अतः उसे सत्य माननेवाले नैयायिक के लिए वह अपसिद्धान्त हो जायगा॥ १॥

जो मीमांसक (प्रभाकर) अभाव के स्थान पर अभाव-बुद्धि को अभिषिक्त करते हैं—

'गुरुर्धियमभावस्य स्थाने स्थानेऽभिषिक्तवान् ।
प्रसिद्ध एव लोकेऽस्मिन् बुद्धबन्धुः प्रभाकरः ॥ २ ॥'

अपिच—एकबुद्ध्यारूढोऽनेकश्च सम्बन्धश्च विशिष्ट इति पक्षे योऽप्येवं-रूपवैलक्षण्यभाग्विशिष्ट इति कथ्यते, सोऽप्ययं विशिष्टोऽविशिष्टाद्वैलक्षण्येन बोध्यमानो ज्ञानमन्तर्भाव्यैव स्यादिति तत्र तत्रापि ज्ञानान्तरनिवेशनेऽनवस्था । क्वचिदनिवेशे तदभावादविशिष्टत्वे शेषस्याऽऽमूलमविशिष्टत्वापातः ।

तद्योग्यस्तथेति चेत् । न; तर्हि योग्यताऽपि तद्विशेषणं वालुकावद-संलग्नाऽतिप्रसङ्गिकैवेत्युक्तमावर्तते ।

एवमेकमिति ज्ञानमित्यारूढमित्यादिद्वारैर्द्रष्टव्यम् । तथाहि –

'अविशिष्टाद्विशिष्टस्य वैशिष्ट्ये यदि धीर्विशेत् ।
तद्बुद्धिधाराविश्रान्तिः स्याद्वा मूलाविशिष्टता ॥ ३ ॥'—इति ।

'घटाभाववत् भूतलम्' इत्याकारक ज्ञान ही भूतल में घटाभाव है, उक्त बुद्धि से अन्य घटाभाव बाह्य पदार्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं, उनका वह कथन युक्त ही है। कारण इस लोक में वे 'गौतमश्चार्कबन्धुश्च' इस अमरकोष के अनुसार (अर्कप्रभाकर है बन्धु जिसका) बुद्ध के बन्धु प्रसिद्ध ही हैं ॥ २ ॥

किञ्च—एकबुद्धि में आरूढ, अनेक तथा सम्बन्ध-विशिष्टत्व विशिष्ट का जो लक्षण है, उस रूप का विशिष्ट भी लक्ष्य ही है। अतः उसकी अविशिष्ट से व्यावृत्ति भी अन्य ज्ञान से घटित उक्त लक्षण से ही होगी। एवञ्च ज्ञानपरम्परा के निवेश से अनवस्था हो जायगी। यदि अन्य ज्ञान का निवेश न करें, तो मूलपर्यन्त अविशिष्ट हो जायगा।

समर्थन—लक्षण-विशिष्ट में अन्यज्ञानघटित लक्षण नहीं रहता, किन्तु ज्ञान की योग्यता से घटित ही लक्षण रहता है। अतः ज्ञान-परम्परा का निवेश न होने से अनवस्था नहीं है। *खण्डन*—योग्यताघटित उक्त लक्षण-विशिष्ट में भी यदि उक्त लक्षण को मानें, तो अनवस्था और यदि न मानें, तो मूलपर्यन्त अवैशिष्ट्य हो जायगा।

इसी प्रकार एकत्वविशिष्ट एक, ज्ञानत्वविशिष्ट ज्ञान और आरूढत्वविशिष्ट आरूढ़-रूप विशेषण से विशिष्ट जो लक्षणरूप बिशिष्ट, वह भी लक्ष्य होने से उसमें लक्षण का वैशिष्ट्य मानना होगा। इस प्रकार बिशेषण-परम्पराविशिष्ट लक्षण-परम्परा स्वीकार करने में अनवस्था जाननी चाहिए। उक्तार्थ का संग्राहक श्लोक कहते हैं—

लक्षण-विशिष्ट की अविशिष्ट से व्यावृत्ति यदि अन्य ज्ञान से घटित उक्त लक्षण से मानें, तो ज्ञान-परम्परा मानने में अनवस्था और यदि व्यावृत्ति न करें, तो मूलपर्यन्त अवैशिष्ट्य हो जायगा ॥ ३ ॥

विशिष्टनिरासेन च सर्वाणि लक्षणानि निरस्तानीति मन्तव्यम् । यथा—'गुणाश्रयो द्रव्यमि'त्यादि ।

द्रव्य-लक्षण-खण्डनम्

इतोऽपि गुणाश्रयो द्रव्यमित्यसङ्गतम् । तथाहि—कथमेतल्लक्षणमवधारणीयम्, सङ्ख्यारूपगुणवत्तया रूपादेरपि प्रतीतेः । भ्रान्तिरसाविति चेत्; पृथिव्यादौ कथमभ्रान्तिरिति वक्तव्यम् । तत्र बाधकाभावादिति चेत्; तुल्यम् ।

गुणस्य गुणवत्तायां बाधकमस्माभिरवश्यं वक्तव्यम्, 'निर्गुणा गुणाः' इति सिद्धान्तादिति चेन्न । रूपादेर्गुणत्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

'सामान्यवानगुणः' इत्यादिगुणलक्षणयोगात्तन्निश्चय इति चेन्न । 'अगुणः'

विशिष्ट के खण्डन से सम्पूर्ण लक्षण खण्डित जानने चाहिए। कारण विशिष्ट के प्रवेश के बिना कोई भी लक्षण नहीं हो सकता। जैसे—'गुण-विशिष्ट द्रव्य है' यह द्रव्य-लक्षण ।

द्रव्य-लक्षण का खण्डन

वक्ष्यमाण दोषों से 'गुणविशिष्ट द्रव्य है' यह लक्षण भी असङ्गत है। देखिये—संख्यारूप गुण रूप, रस आदि में भी रहते हैं। फिर यह कैसे जाना जाय कि गुणविशिष्ट द्रव्य ही होता है ? यह भी नहीं कह सकते कि 'रूप-रस में सङ्ख्या की प्रतीति भ्रम है', कारण भ्रान्ति अभ्रान्तिपूर्वक होने से पृथिवी आदि द्रव्यों में संख्यावत्त्व की प्रतीति को पहले अभ्रान्ति सिद्ध करना पड़ेगा। वह हो नहीं सकता, क्योंकि पृथ्वी आदि में संख्या की प्रतीति भ्रम नहीं है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। यह भी नहीं कह सकते कि 'इयं प्रतीतिः, न भ्रान्तिः, अबाध्यप्रतीतित्वात्' यह अनुमान ही पृथिव्यादि में संख्यावत्त्वप्रतीति की अबाध्यता में प्रमाण है। कारण रूपादि में संख्या की प्रतीति में भी उक्त बाधकाभाव तुल्य ही है ।

समर्थन—रूपादि गुणों में संख्यादि गुण नहीं रहते, इसमें हम बाधक अवश्य कह सकते हैं, कारण 'निर्गुणा गुणाः' यह सिद्धान्त है। *खण्डन*—प्रमाण न होने से 'रूपादि गुण हैं' यह भी निश्चित नहीं कर सकते ।

समर्थन—'जिसमें जाति रहती हो और गुण न रहता हो, वह गुण है'

इति गुणलक्षणांशस्यासिद्धेः सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्विद्यमानत्वात् ।

भ्रान्तिरिति चेन्न । परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्भ्रान्तित्वे गुणलक्षणसिद्धिः, तत्सिद्धौ च बाधेन भ्रान्तित्वस्थापनम् ।

न च हेत्वन्तराद्रूपादेर्गुणत्वसिद्धौ बाधकसिद्धिः ; दृष्टान्तस्यापि सङ्ख्यायोगिप्रत्ययाक्रान्तत्वेन प्रसक्तद्रव्यकोटिप्रवेशतया गुणत्वेनासिद्धेः। सङ्ख्यायाः सङ्ख्यावत्त्वेनानवस्थाप्रसङ्गात्, निःसङ्ख्यत्वव्यवस्थितौ दृष्टान्तत्वं सम्भविष्यतीति चेन्न । पृथक्त्वेनापि तस्याः सम्भावितद्रव्यकोटिप्रवेशत्वात् । एवं पृथक्त्वस्यापि सङ्ख्यावत्तयेति ।

'जातीतरानाश्रयोऽकर्मरूपो गुणः' इत्यपि न ; जातिव्यापकत्वात् । जाति-

इस लक्षण से निश्चय करेंगे कि रूपादि गुण हैं । *खंडन*—रूप में संख्यारूप गुणवत्त्व की प्रतीति होने से प्रस्तुत गुणलक्षणघटक 'अगुण' यह अंश ही असिद्ध है ।

समर्थन—रूप-रस आदि में संख्या की प्रतीति भ्रम है । *खण्डन*—अन्योन्याश्रय हो जायगा । देखिये—'रूप में संख्या की प्रतीति भ्रम है' ऐसा निश्चय होने पर रूप में गुणलक्षण की सिद्धि होगी और लक्षण की सिद्धि होने पर बाध होने से उक्त प्रतीति भ्रम सिद्ध होगी ।

समर्थन—'रूपादयो गुणाः सामान्यवत्त्वे सति अचलनात्मकत्वात् शब्दवत्' इस अनुमान से रूप में गुणत्व की सिद्धि होने पर उसमें संख्या का बाध सिद्ध हो जायगा । *खंडन*—शब्दरूप दृष्टान्त में संख्या के होने से उसका द्रव्य-कोटि में प्रवेश हो जाने के कारण दृष्टान्त का अभाव हो जायगा, जिससे अनुमिति नहीं होगी। यह भी नहीं कह सकते कि 'अनवस्था-भय से संख्या में संख्या न होने के कारण संख्या ही दृष्टान्त हो जायगी', कारण संख्या में भी पृथक्त्वरूप गुण रहता है । अतः उसका द्रव्य में ही अन्तर्भाव होने से वह दृष्टान्त नहीं हो सकता । इसी प्रकार पृथक्त्व में संख्या होने से वह भी दृष्टान्त नहीं हो सकता ।

समर्थन—'जो जाति से इतर का आश्रय न हो और कर्म से भिन्न हो, वह गुण है,' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—यह लक्षण भी जाति में अतिव्याप्त होने से अयुक्त है । *समर्थन*—'जो केवल जाति का ही आश्रय हो और कर्म से भिन्न हो, वह गुण है' ऐसा कहेंगे । *खंडन*—अभाव के सब गुणों में रहने से असम्भव हो जायगा । *समर्थन*—'केवल जातिरूप भाव का जो आश्रय हों तथा कर्म से भिन्न हो, वह गुण है' ऐसा

मात्राश्रय इत्येवार्थ इति चेन्न। अभावाश्रयतया सर्वाव्यापनात्। जातिमात्र-भावाश्रय इति चेन्न। उपाधीनामपि तदाश्रितत्वात्।

नोपाधीनामाश्रयो रूपादिः, किन्तु कथमपि सम्बन्धी। तावतैवानुमानादि-प्रवृत्तिरिति चेन्न। उपाधिसम्बन्धं प्रत्यप्याश्रयत्वस्य मन्तव्यत्वात्। अन्यथा यदि किञ्चिद्रूपमत्र नेष्यते, तदा सामान्यविशेषानुमानं तत्र न स्यात्, व्यधिकरणयो-र्गम्यगमकभावानभ्युपगमात्।

तस्माद्यदेतदेव लक्षणं तत्तावन्न जातिरूपम्, तदिदं रूपं यदि रूपादौ नास्ति तदानीमस्ति, यद्यस्ति तदा नास्तीति विचित्रेण लगेत्युक्ते न लगति, मा लगेत्युक्ते च लगतीति प्रवह्लिकामनुकरोति।

अपिच—गुणाश्रय इत्यत्र कश्चाऽऽश्रयार्थः? समवायीति चेन्न। गुणत्वाद्-रपि द्रव्यत्वप्रसङ्गात्, गुणावच्छिन्नस्य समवायस्य गुणत्वेऽपि विश्रान्तत्वात्।

लक्षण करेंगे। *खण्डन*—गुण में प्रमेयत्व आदि उपाधियों के होने से पुनः असम्भव हो जायगा।

समर्थन—यहाँ रूपादि प्रमेयत्व आदि उपाधियों के आश्रय नहीं, किन्तु किसी प्रकार सम्बन्धी हैं। अतएव 'रूपादि अभिधेयं प्रमेयत्वात्' इस अनुमिति की प्रवृत्ति होती है। *खण्डन*—रूपादि को प्रमेयत्व के सम्बन्ध का आश्रय अवश्य मानना होगा। यदि ऐसा न मानें, तो रूपादि में विशेषगुणत्व तथा संख्यादि में सामान्यगुणत्व का अनुमान नहीं होगा। कारण एक अधिकरण में न रहनेवालों में गम्यगमकभाव नहीं होता। वहाँ आपके मत में कोई उपाधि नहीं है।

तस्मात् यह लक्षण जातिरूप तो है नहीं, किन्तु उपाधिरूप है। अतः यदि वह रूपादि में नहीं, तब तो लक्षण का समन्वय होने से है, और यदि है तो लक्षण का समन्वय न होने से नहीं है। एवञ्च आपका लक्षण 'लग' कहने पर तो नहीं लगता और 'मा लग' कहने पर लगता है—इस विचित्र पहेली का अनुकरण करता है[1]।

किञ्च—'गुण का आश्रय द्रव्य है' यहाँ सम्बन्ध द्रव्याश्रय होने से 'आश्रय' शब्द का अर्थ क्या है? 'समवायी' (समवाय का सम्बन्धी) यह अर्थ नहीं हो सकता, कारण गुण-समवाय गुणत्व में भी होने से वह भी द्रव्य हो जायगा।

१ प्रश्न—ऐसी कौन वस्तु है, जो 'मा लग' कहने पर लगती हो और 'लग' कहने पर न लगती हो? उत्तर—ओष्ठ।

गुणः समवेतो यत्र स गुणसमवायीति विवक्षितमिति चेन्न । यत्रेत्यस्य अधिकरणार्थस्य अद्याप्यनिरूपणेन तेनैव तद्व्याकारानुपपत्तेः ।

इहेति प्रत्ययहेतुराधार इति चेन्न । 'इह शङ्खे पीतिमे'ति प्रत्ययाच्छङ्खस्य पीतगुणाधिकरणत्वप्रसङ्गात् । भ्रान्तिरसौ, यथार्थश्च प्रत्ययोऽत्र विवक्षित इति चेन्न । तदर्थासत्त्वनिरूपणव्यतिरेकेण तदप्रामाण्यस्य बोद्धुमशक्यत्वात् । न चाद्यापी-हेति प्रत्ययस्यार्थः प्रतीतो यत्प्रतियोगिकमसत्त्वं तत्र निरूप्यते ।

पीतत्वं प्रतियोगि, तच्च क्वचित्सिद्धमेवेति चेन्न । तस्य प्रमितत्वादेवासत्त्वा-नुपपत्तेः । तत्र न तस्य प्रमितत्वमिति चेन्न । तत्रेत्याधारत्वानिरूपणादिति ।

एतेन 'समवायिकारणं द्रव्यमि'त्यपि लक्षणं निरस्तम् । कथं निर्णेतव्यम् 'इदं

समर्थन—'गुण समवाय सम्बन्ध से जहाँ रहता हो, वह गुण-समवायी अर्थात् 'गुणसमवायानुयोगित्व' ही द्रव्य का लक्षण विवक्षित है । *खण्डन*—'इह' शब्द के अर्थ अधिकरण का अद्यावधि निरूपण न होने से अधिकरण से ही अधिकरण का लक्षण करना युक्त नहीं ।

समर्थन—"'इह' इत्याकारक जो ज्ञान, उस ज्ञान का विषय अधिकरण है" ऐसा अधिकरण का लक्षण करेंगे । *खंडन*—'इह शंखे पीतिमा' ऐसी प्रतीति होने से शंख भी पीतिमा का आश्रय हो जायगा । 'उक्त प्रतीति भ्रम है और लक्षण में यथार्थ प्रतीति विवक्षित है, अतः शंख में पीतिमाधिकरणता की आपत्ति नहीं', यह नहीं कह सकते; कारण जबतक अधिकरणरूप अर्थ की असत्ता का निश्चय न हो, तबतक "'शंखे पीतिमा' यह ज्ञान भ्रम है" ऐसा निश्चय नहीं हो सकता । अभीतक 'इह' इस ज्ञान का विषय निर्णीत नहीं है, जिसकी असत्ता का 'शंखे पीतिमा' इस ज्ञान में निश्चय करें ।

समर्थन—असत्त्व का प्रतियोगी पीतत्व है, वह पुष्पादि में कहीं सिद्ध ही है । *खण्डन*—पीतत्व के प्रमित होने से ही पीतिमा का असत्त्व नहीं है, तो भी शंखरूप अधिकरण में उसका असत्त्व है ही । *खण्डन*—जबतक अधिकरण की निरुक्ति न हो, तबतक 'शंखरूप अधिकरण में' आदि विशेष का प्रदर्शन नहीं कर सकते ।

समर्थन—'समवायिकारण द्रव्य है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खंडन*—घटादि सम-वायी कारण हैं और रूपादि नहीं, यह निश्चय कैसे हो ? कारण घटादि और रूपादि में संख्या-समवायिकारणत्व की युक्ति तुल्य है । अर्थात् 'एको घटः' इस प्रतीति की तरह

समवायिकारणमिदं ने'ति, रूपादौ घटादौ च सङ्ख्यासमवायिकारणत्वयुक्ते-स्तुल्यत्वात् ।

सङ्ख्यैव रूपादौ नास्तीति चेत्; घटादौ कथमस्ति ? प्रत्ययस्योभयत्रापि तुल्यत्वादित्युक्तमनुषञ्जनीयम् ।

द्रव्य एव सङ्ख्यास्वीकारे तत्सम्बन्धात् गुणेऽपि तद्व्यवहारोपपत्तौ कल्पनालाघवात् गुणे सङ्ख्याद्यस्वीकार इति चेत्; विपरीतमेव कुतो न स्यात् ? सत्तासामान्याद्यपि गुणादौ किमर्थमङ्गीक्रियते, द्रव्यद्वारैव तत्र व्यवहारोपपत्तेः ।

सामान्य-लक्षण-खण्डनम्

ननु सामान्यार्थ एव कः ? तथाहि—'अनुवृत्तप्रत्ययकारणं सामान्यमि'ति न लक्षणम्; सामग्र्याः सर्वकार्योत्पत्तेः, तया तदेकदेशान्तरैश्च व्यभिचारात् ।

'एकं रूपम्' यह समवायिता की प्रतीति तुल्य ही होती है । दोनों में किसी प्रकार का वैलक्षण्य नहीं है ।

समर्थन—रूप में संख्या नहीं है, अतः रूप में समवायी कारणत्वरूप लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है । *खण्डन*—घट में संख्या है, इसमें क्या प्रमाण है ? यदि 'एको घटः', 'द्वौ घटौ' इस प्रतीति को प्रमाण कहें तो 'एकं रूपम्, द्वे रूपे' इत्यादि प्रतीति से रूप में भी संख्या होने से उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—द्रव्य में ही संख्या समवाय से उत्पन्न होती है और गुण में संख्या-व्यवहार सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से भी हो सकता है । फिर गौरव होने से रूप में संख्या-समवाय क्यों माना जाय ? *खंडन*—इसके विपरीत ही क्यों न मानें, अर्थात् गुण में समवाय से संख्या की उत्पत्ति और द्रव्य में उक्त परम्परा-सम्बन्ध से उसका व्यवहार क्यों न मानें ? किञ्च—फिर तो गुण में सत्ता सामान्य (जाति) क्यों मानते हैं ? द्रव्य में सत्ता है, तो उसीसे ही परम्परासम्बन्ध द्वारा गुण में सत्ता की प्रतीति का निर्वाह हो जायगा ।

सामान्य-लक्षण का खण्डन

'सामान्य' शब्द का क्या अर्थ है ? अर्थात् उसका भी निर्वचन नहीं किया जा सकता । देखिये—'अनुवृत्त जो प्रत्यय अर्थात् अनेक वस्तुओं में एकाकार ज्ञान, उसका कारण सामान्य है' यह लक्षण युक्त नहीं है, कारण सामग्री से सब कार्य होते हैं । अतः सामग्री में तथा सामग्री के एकदेश में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । भाव यह है कि अनुगत प्रतीति केवल विषय के ही रहने से नहीं होती, प्रत्युत संपूर्ण प्रत्यय-सामग्री से होती है । अतः उस सामग्री में और उसके एकदेश चक्षु आदि में भी अतिव्याप्ति हो जायगी ।

असाधारणविशेषणादनन्यजातीयप्रयोजकत्वञ्च तदिति चेन्न । स्वसामग्र्यामपि प्रसङ्गतादवस्थ्यात्, भेदप्रतिपत्त्यादावपि प्रयोजकत्वाच्च ।

एतत्प्रतिपत्तिप्रमाणकत्वमिति चेन्न । स्वसामग्र्यामप्यस्याः प्रमाणत्वात् । एतदेकप्रमाणकत्वमिति चेन्न । अर्थक्रियाभेदादेरपि तत्र प्रमाणत्वात् ।

एतत्प्रतिपत्तिप्रमाकत्वमिति चेन्न । तद्विशिष्टस्यापि तत्त्वप्रसङ्गात् । तदव-

समर्थन—'अनुवृत्त प्रत्यय का असाधारण कारण सामान्य है' यहाँ अन्यजातीय कार्य का अप्रयोजकत्व 'असाधारण' शब्द का अर्थ है । उक्त सामग्री या तदेकदेश कार्यान्तर का भी प्रयोजक होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं है । *खण्डन*—स्वसामग्री भी अन्यजातीय कार्य की अप्रयोजक होती है, अतः उसमें अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है । किञ्च—सामान्य तो 'अयं न महिषः गोत्वात्' इस भेदानुमिति का भी कारण होता है । अतः वह भी अनुवृत्त प्रत्यय का असाधारण कारण नहीं है । फलतः असंभव हो जायगा ।

समर्थन—'अनुवृत्त प्रत्यय है प्रमाण जिसमें, वह सामान्य है' ऐसा लक्षण करेंगे । अर्थात् 'असाधारण कारण' यहाँ 'कारण' शब्द का अर्थ 'प्रमाण' करेंगे । एवञ्च सामग्री के कारण होने पर भी उसमें अनुवृत्त प्रत्यय प्रमाण न होने से अतिव्याप्ति नहीं है । *खण्डन*—कार्य से कारण की अनुमिति होने से स्वसामग्री में भी अनुवृत्त प्रत्यय प्रमाण है, अतः पुनः स्वसामग्री में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'अनुवृत्त प्रत्यय ही है एकमात्र प्रमाण जिसमें, वह सामान्य है' ऐसा कहेंगे । सामग्री में तो अन्य भी प्रमाण हैं,; जैसे सामग्री का एकदेश चक्षु रूपज्ञान से अनुमेय है और आलोक प्रत्यक्ष है । अतः स्वसामग्री में अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खंडन*—अर्थक्रिया (कार्यभेद) आकस्मिक न हो, इसलिए कारणतावच्छेदकत्वरूप से सामान्य की सिद्धि होती है, जैसे कि कार्य के समवायि-कारणतावच्छेदकत्व रूप से द्रव्यत्वजाति की सिद्धि होती है । एवञ्च एकमात्र अनुवृत्त प्रत्यय ही सामान्य में प्रमाण न होने से असम्भव हो जायगा ।

समर्थन—'अनुवृत्त प्रत्यय ही प्रमा जिसमें हो, वह सामान्य है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—सामान्य से विशिष्ट व्यक्ति में भी अनुवृत्त प्रत्यय ही प्रमा है, अतः व्यक्ति में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'विषयरूप से सामान्य से अवच्छिन्न प्रमा जिसमें प्रमाण है, वह

च्छिन्नप्रमांशप्रमाकत्वमिति चेन्न। तदसिद्धयैवासिद्धेः। 'इयं प्रतीतिर्येन विना नोपपद्यते तत्सामान्यमि'ति चेन्न। कारणान्तराणामपि तथात्वादिति।

'अनुवृत्तं सामान्यमि'त्यप्यलक्षणम्। किमिदमनुवृत्तत्वं नाम ? अनेकाश्रितत्वमिति चेन्न। अवयविना संयोगादिभिश्च व्यभिचारात्। नित्यत्वे सतीति चेन्न। समवायेन व्यभिचारात्। अत एव न बहुवृत्तित्वमित्यपि। असम्बन्धत्वे सतीति चेन्न। अणुभिर्व्यभिचारादिति।

नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यमिति चेन्न। विकल्पासहत्वात्। एतल्लक्षणं नित्यमनित्यं वा स्यात् ? नाद्यः ; स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्, विशिष्टप्रविष्टमपि हि नित्यत्वं नित्यमेव।

सामान्य है' ऐसा कहेंगे। व्यक्ति और वैशिष्ट्य का जात्यंश में प्रमाविषयत्व नहीं है, कारण विषय-भेद से ज्ञान में भी अंशभेद होता है। *खण्डन*—जबतक सामान्य की सिद्धि न हो, तबतक इस लक्षण की सिद्धि नहीं होगी और इस लक्षण से ही सामान्य की सिद्धि है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जायगा।

समर्थन—अनुवृत्त प्रत्यय जिसके बिना न हो, वह सामान्य है। अर्थात् 'अनुगतप्रत्ययान्यथानुपपत्तिप्रमापकत्वम्' यह लक्षण करेंगे। *खण्डन*—आत्ममनःसंयोग आदि अन्य कारणों के बिना भी अनुवृत्त प्रत्यय नहीं होता, अतः उनमें भी लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'जो अनेक में अनुवृत्त हो, वह सामान्य है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—'अनुवृत्तत्व' क्या वस्तु है ? यदि अनुवृत्तत्व अनेक में आश्रितत्व कहें, तो संयोग तथा अवयवी में भी अनेकाश्रितत्व होने से अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि 'जो नित्य होकर अनेकाश्रित हो, वह अनुवृत्तत्व है', तो समवाय में अतिव्याप्ति हो जायगी। अतएव 'बहुवृत्तिकत्व' भी अनुवृत्तत्व नहीं है। यदि 'जो सम्बन्ध से भिन्न हो,' यह भी निवेश करें, तो परमाणु संयोग सम्बन्ध से अनेक दिशाओं में रहते हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'नित्य होकर अनेक में जो समवाय सम्बन्ध से रहे, वह सामान्य है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—विकल्पासह होने से यह लक्षण भी युक्त नहीं है। देखिये—यह लक्षण नित्य है या अनित्य ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है; कारण विशिष्टवृत्ति धर्म विशेषण में भी रहता है। अतः लक्षण में नित्यत्व के रहने से लक्षण के विशेषण में भी नित्यत्व रहेगा। अतः अंशतः आत्माश्रय हो जायगा।

नापि द्वितीयः; सामान्यस्य समवायस्य च नित्यत्वाभावप्रसङ्गात् । आत्मत्वादौ व्यक्त्यभावायत्तस्यापि विशिष्टाभावस्यासम्भवात् ।

तस्य च कदाचिदसत्त्वानङ्गीकारे तदनित्यत्वस्यैव वक्तुमशक्यत्वात् । तद्ग्राहिणश्च प्रत्ययस्यैककालिकस्य च मिथ्यात्वेऽविशेषात् सार्वकालिकस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गेन सर्वथा तदसत्त्वापत्तेः । एकस्य च सत्यत्वेऽविशेषात् सर्वसत्यतायां कदाचिदपि तदसत्त्वं नास्तीति ।

एकदा तत्सम्बन्धेनोपलक्षितस्य अन्यदाऽपि विद्यमानत्वात् तथात्वमिति चेन्न । तादृशोपलक्ष्यासम्भवात्, व्यक्तीनां भेदादनित्यत्वानुपपत्तिरेवेति ।

एतेन नित्यत्वमन्यत्रापि प्रतिवचनीयमिति ।

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; कारण लक्षण में प्रविष्ट समवाय तथा लक्ष्य सामान्य भी अनित्य मानने पड़ेंगे, तभी लक्षण अनित्य होगा । यदि कहें कि लक्षणघटक व्यक्ति के अनित्य होने से लक्षण भी अनित्य है, तो जहाँ आत्मत्वादि-स्थल में आत्मारूप व्यक्ति भी नित्य है, वहाँ लक्षण अनित्य कैसे होगा ?

किञ्च—लक्ष्य में कदाचित् भी लक्षण का असत्त्व न हो, तो लक्षण को अनित्य नहीं कह सकते । फिर यदि लक्षण का कदाचित् असत्त्व मान लें और उस समय लक्षण-विशिष्ट लक्ष्यग्रह भी मानें, तो उसके भ्रम होने से सर्वत्र भ्रम ही होगा । फलतः लक्षण का सर्वदा असत्त्व ही पर्यवसित हो जायगा । यदि कहें कि 'जिस समय लक्षण वस्तुसत् रहेगा, उस समय लक्षणविशिष्ट लक्ष्य-प्रतीति सत्य ही है । एवञ्च उसके सार्वकालिक असत्त्व की आपत्ति नहीं आ सकती', तो वह भी ठीक नहीं । कारण एक को सत्य मानें, तो अविशेषात् (विषय का बाध न होने से) सभी ज्ञान यथार्थ होंगे । फलतः कभी भी लक्षण का असत्त्व बन नहीं पायेगा ।

यदि कहें कि लक्षण अपने असत्त्व-काल में भी लक्ष्य-सामान्य का उपलक्षण करता है, अतः असत्त्वकाल में भी लक्षण से उपलक्षित लक्ष्य का ज्ञान भ्रम नहीं है, तो सामान्य-रूप व्यक्ति भिन्न-भिन्न होने और सबमें वृत्ति एक कोई उपलक्ष्यतावच्छेदक धर्म न होने से लक्षण उपलक्षण नहीं हो सकता । अतः इससे लक्षण में अनित्यत्व अनुपपन्न है ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी नित्यत्व का खण्डन जानना चाहिए । जैसे—आकाशादि का नित्यत्व यदि नित्य है, तो आत्माश्रय होगा और यदि अनित्य है, तो आकाशादि भी अनित्य हो जायँगे । इसी प्रकार नित्यत्वघटित लक्षणान्तरों का भी खण्डन करना चाहिए ।

विशेष-लक्षण-खण्डनम्

के चानेन लक्षणेन व्यवच्छिद्यन्ते । विशेषादय इति चेत्; विशेषा एव केऽभिधीयन्ते ?

तत्र 'नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषाः' इत्यलक्षणम्; आत्मत्वादिना व्यभिचारात् ।

नित्यान्तरेऽसत्त्वात् न तत्सर्वत्र नित्ये वर्तते; विशेषास्तु नैवम्, वर्तन्त एवेति नियमादिति चेन्न । प्रतिविशेषमव्याप्त्याऽलक्षणत्वात् ।

यज्जातीय एवमिति लक्षणार्थ इति चेन्न । जातेरनङ्गीकारात् । जातीयेत्यस्यापदत्वात् उपाधिरेव तथा विवक्षित इति चेन्न । तस्येतरव्यावृत्तस्यावगतौ व्यर्थमिदं तदुपजीवि लक्षणम्, अत एव विजातीयव्यावृत्तिप्रतीतेः । इतरव्यावृत्तस्य वा अनधिगतौ लक्षणस्य दुरवधारणत्वापत्तेः, इतरव्यावृत्ततया तज्जातीयत्वस्याप्रतीतेः ।

विशेष-लक्षण का खंडन

सामान्य के इस लक्षण में प्रविष्ट 'अनेक' विशेषण का व्यवच्छेद्य क्या है ? यदि कहें विशेष ही, तो वे विशेष क्या हैं ? लक्षण न होने से वे अनिर्वचनीय हैं ।

समर्थन—जो नित्य में ही और द्रव्य में ही रहें, वे विशेष हैं । *खंडन*—आत्मत्व भी नित्य में ही और द्रव्य में ही रहता है । अतः आत्मत्व में अतिव्याप्ति होने से यह लक्षण असङ्गत है ।

समर्थन—आत्मत्व सब नित्यद्रव्यों में नहीं रहता । 'सभी नित्यद्रव्यों में जो रहे वह विशेष है,' ऐसा लक्षण करेंगे । एवञ्च आत्मत्व में अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खंडन*—विशेष भी तत्तद्-व्यक्ति-विश्रान्त होने से सब नित्यों में नहीं रहते, अतः असंभव हो जायगा ।

समर्थन—जिससे समान जातिवाला सब नित्यों में रहता हो, वह विशेष है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—विशेष में जाति न होने से जातिघटित उक्त लक्षण अयुक्त है। यदि जाति से उपाधि का ग्रहण करें, तो भी युक्त नहीं । कारण यदि विशेष में वृत्ति इतरव्यावृत्तत्व उपाधि प्रथम से ज्ञात है, तो उसीसे इतरव्यावृत्तत्वरूप से विशेष का ज्ञान हो जाने से उस उपाधि का उपजीवी यह लक्षण व्यर्थ है । यदि इतरव्यावृत्तत्व रूप से उपाधि का ज्ञान नहीं है, तो इस लक्षण का ज्ञान अशक्य है । कारण इतरव्यावृत्तत्व रूप तज्जातीयत्व की प्रतीति ही नहीं है ।

भवतु स एवोपाधिर्लक्षणमिति चेन्न। तस्यानिरुक्तेः।

यतो नित्यद्रव्यव्यक्तिषु विश्वव्यावृत्तधीर्योगिनां स विशेष इति चेन्न। स्वरूपधर्मव्यक्तिभेदेष्वपि प्रसङ्गात्। अन्यथा कार्यद्रव्यगुणादिव्यक्तिषु सा तेषां कुतः स्यात्।

तास्विव वैधर्म्यान्तरस्य नित्येष्वपि सम्भवात्, विशेषवत् विशेषासम्भवेन लक्ष्यासिद्धिरिति।

सम्बन्ध-लक्षण-खण्डनम्

अपिच—विशेषादिभ्यो विशेषलक्षणादेर्भेदात् कथं तत्र तत्रैव तैर्विशेषादि-

समर्थन—वह उपाधि ही लक्षण हो। *खण्डन*—यह भी नहीं कह सकते; कारण अद्यावधि उस उपाधि की निरुक्ति ही नहीं हुई।

समर्थन—'नित्य-द्रव्य व्यक्तियों में योगियों को जिससे विश्व-व्यावृत्तत्व-बुद्धि हो, वह विशेष है,' ऐसा कहेंगे। *खण्डन*—अतीन्द्रिय कार्य-द्रव्यों तथा गुणों में योगियों को जिस स्वरूपभेद या धर्मभेद से व्यावृत्तत्व-बुद्धि होती है, वे तो विशेष नहीं हैं, अतः उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। अन्यथा (यदि स्वरूप-भेदादि को व्यावृत्तत्व-बुद्धि का हेतु न मानें, तो) अतीन्द्रिय कार्य-द्रव्यादि में उन योगियों को व्यावृत्तत्व-बुद्धि कैसे होगी ?

यदि कहें, कि 'विशेष के लक्षण में ही 'नित्य-द्रव्य में व्यावृत्तत्व-बुद्धि जिससे हो' ऐसा निवेश है, अतः अतीन्द्रिय कार्य-द्रव्यों में व्यावृत्त-बुद्धि के हेतु स्वरूप-भेदादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी,' तो जैसे अतीन्द्रिय कार्य-द्रव्यों में स्वरूपभेदादि से व्यावृत्तत्व-बुद्धि होती है, वैसे ही नित्य-द्रव्यों में भी व्यावृत्तत्व-बुद्धि हो जायगी। एवञ्च नित्य-द्रव्य में भी विशेष का स्वीकार व्यर्थ है। किञ्च—विशेष में भी बिना विशेष के जैसे स्वरूप-भेद से ही व्यावृत्तत्व-बुद्धि होती है, वैसे ही नित्य-द्रव्यों में भी वह हो जायगी। इसलिए भी विशेष का स्वीकार व्यर्थ ही है।

सम्बन्ध-लक्षण का खण्डन

किञ्च—यदि विशेषादि लक्ष्यों से विशेषादि के लक्षणों का भेद है, तो उन विशेषादि लक्ष्यों में ही उन-उन लक्षणों से व्यवहार क्यों होता है, अन्यत्र क्यों नहीं होता ? यदि कहें कि लक्ष्य में लक्षण का सम्बन्ध व्यवहार का नियामक है, तो उस

व्यवहारः क्रियताम्, नान्यत्र ? सम्बन्धो नियामक इति चेन्न। सम्बन्धस्यापि सम्बन्धान्तरेण नियामकत्वेऽनवस्थापातात्। अन्यथा त्वनियमात्।

तदनिरुक्तेश्च। तथाहि—कः सम्बन्धशब्दार्थः ? समवायादय इति चेत्, सत्यम्; किन्तु केन निमित्तेनेति हि प्रश्नवाक्यतात्पर्यम्—प्रतिस्वं व्यावृत्तेन संयोगत्वादिना, अन्येन वा ?

आद्ये अनुगतव्यवहारानुपपत्तिप्रसङ्गः। अस्ति चासौ इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नादि प्रत्यक्षम्, नित्या प्राप्तिः समवाय' इत्यादि। न द्वितीयः; तस्यैकस्यासम्भवात्।

नियामकत्वं तदिति चेन्न। स्वभावस्यापि भवता नियामकत्वाङ्गीकारात्। तथाविधः सोऽपि सम्बन्ध एवेति चेन्न। त्वया सर्वस्वभावनियन्तृताया अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वेन नियामकनिरुक्तिलभ्यसत्त्वादधिकांशासामर्थ्यापत्तेः।

सम्बन्ध का भी नियामक यदि अन्य सम्बन्ध मानें, तो अनवस्था हो जायगी। यदि अन्य सम्बन्ध को सम्बन्ध का नियामक न मानें, तो सम्बन्ध का नियम ही नहीं रहेगा।

किञ्च—सम्बन्ध की निरुक्ति भी नहीं हो सकती। कहिये—सम्बन्ध शब्द का क्या अर्थ है ? अर्थात् निरुक्ति न होने से वह अनिर्वचनीय है। यदि कहें कि समवाय आदि सम्बन्ध हैं, तो ठीक है; किन्तु 'किस रूप से' यह प्रश्न-वाक्य का तात्पर्य है—क्या प्रतिसम्बन्ध में व्यावृत्त संयोगत्वादि रूप से या सम्बन्धमात्र में विद्यमान किसी अन्य रूप से ?

इनमें प्रथम पक्ष मानें, तो सम्बन्धमात्र में अनुगत सम्बन्ध-व्यवहार की उपपत्ति नहीं होगी; 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इस सूत्र में सम्बन्धवाचक सन्निकर्ष शब्द से संयोग और समवाय दोनों का ग्रहण होता है तथा 'नित्या प्राप्तिः समवायः' यहाँ भी सम्बन्धार्थक प्राप्ति-पद से सम्बन्धमात्र का अभिधान होने से अनुगत-व्यवहार देखा जाता है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; कारण सम्बन्धमात्र में अनुगत एकरूपत्व सम्भव नहीं है।

समर्थन—नियम का जनक अर्थात् 'अतिप्रसङ्ग की निवृत्ति का जनक सम्बन्ध है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—अभाव, समवाय आदि की विशिष्ट-बुद्धि में आप स्वरूप को भी नियामक मानते ही हैं। किन्तु वह सम्बन्ध है नहीं, अतः वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—स्वरूप नियम का जनक भी है, अतः वहाँ सम्बन्ध का लक्षण जाना

नियम्यस्य च स्वस्यानतिप्रसङ्गेन नियामकत्ववाचोयुक्त्यनुपपत्तेः। अति-प्रसक्तत्वे च तस्यैव नियामकत्वादतिप्रसक्तेन नियमायोगात्।

भूत्वा नियमकरणे च प्रागनियतत्वापत्तेः। एवमन्येनापि जन्यनियमे। अन्यदपि हि यदि पूर्वं घटादिरूपेणानियतमेव घटादि करोति, तदा पटाद्यपि तथा कुर्यात्।

न घटादित्वे नियन्तृत्वमन्यस्य, किन्तु घटादेः कालविशेषयोग इति चेन्न।

भूषण ही है, दूषण नहीं। *खण्डन*—आप स्वरूपमात्र को सम्बन्ध अवश्य मानेंगे; अतः नियामक पदार्थ की नियतपूर्वसत्त्वरूप निरुक्ति का घटक 'सत्त्व' ही सम्बन्ध का लक्षण मानिये, सत्त्व से अधिक अंश व्यर्थ है।

किञ्च—स्वरूप अनतिप्रसक्त नियम्य का नियामक नहीं हो सकता, कारण वह स्वतः ही अनतिप्रसक्त है। उसको अतिप्रसक्ति-निवारकरूप नियामक कहना अनुपपन्न है। यदि नियम्य अतिप्रसक्त है तो नियामक भी वही है। अतः अतिप्रसक्त स्वरूप नियमन नहीं कर सकता, कारण अतिप्रसङ्ग का निवारण ही नियमन है।

किञ्च—नियम्याकार कार्य है, इसलिए यदि नियामक को उससे अभिन्न मानते हैं तो वह भी कार्य हो गया। एवञ्च यह भी प्रश्न होगा कि वह नियामक उत्पन्न होकर नियमन करता है या अनुत्पन्न ही? यदि उत्पन्न होकर नियामक है, तो वह आप ही नियम्य है और नियामक भी। अतः वह उत्पत्ति से पूर्व अनियत हो जायगा। यदि उसे उत्पत्ति से पूर्व अनियत मानें, तो उत्पत्ति से उत्तर भी वह अनियत हो जयागा। इसी प्रकार अन्य कारणादि से अन्य कार्यों के नियमन में भी दोष जानने चाहिए। देखिये—यदि अन्य दण्डादि कारण घटादिरूप कार्य से पूर्वकाल में असत् घटादि का नियमन करते हैं, तो वे पटादि का भी नियमन क्यों न करें?

समर्थन—दण्डादि कारण घटादि कार्यों के नियामक नहीं हैं, क्योंकि वे तो सदा नियत ही हैं। किन्तु कालविशेष के सम्बन्ध के नियामक हैं, कारण वह अनियत है। *खण्डन*—यदि दण्डादि घटादिसम्बन्धी काल के सम्बन्ध का नियमन करते हों, तो घटादि का ही नियमन अर्थात् लब्ध हुआ। अतः पूर्वोक्त दोष हो जायगा।

अभूत्वा च करणे व्याघातात् ।

सम्बन्धिनश्चाऽऽधारत्वात् सम्बन्धस्याऽऽधेयत्वात् तस्यैव तदाधारत्वानुपपत्तेः । नहि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वस्कन्धमारुह्य नृत्यति । नाप्यन्यस्यासौ सम्बन्धः ; त्वयैव तथाऽनभ्युपगमात् । स्वभावादेवायमीदृश इति हि स्वभाववादः तत्र परस्य नियमनाभावात् कथं परः सम्बन्धी सङ्गच्छेत ।

यच्च किञ्चित्सम्बन्धत्वमभिधीयते, तत्समवायेऽपि स्वीकार्यम् । न च समवायाधारत्वं द्रव्यादिषट्कस्य संभवति । न चोपाधिभावात् स्यात् ; संयोगसमवायासम्भवात् । स्वभावसम्बन्धस्य च निरस्तत्वात् ।

न चासावभावोऽपि, प्रतिषेध्यप्रतियोगिभावभेदाभिधानप्रसङ्गात् । सप्तपदार्थीपरिसमाप्तश्च जगत् , परस्परविरोधेन तल्लक्षणव्यवस्थापनादिति ।

यदि कहें कि असत् कारण नियामक है, तो व्याघात हो जायगा, क्योंकि आप नियम से पूर्व सत को ही नियामक कहते हैं ।

किञ्च—सम्बन्धी आधार होता है और सम्बन्ध आधेय । एवञ्च यदि स्वरूप को सम्बन्ध मानें, तो स्व को स्व का आधार मानना पड़ेगा । वह अयुक्त है, कारण सुशिक्षित भी नट का बालक अपने कंधे पर आरूढ़ होकर नृत्य नहीं कर सकता । फिर, अन्य का स्वरूप अन्य का सम्बन्ध नहीं है, कारण आप ऐसा नहीं मानते । स्वरूपतः ही अभावादि नियमित हैं, यह आपका स्वभाववाद है । उस वाद में पर का नियमन न होने से पर सम्बन्धी कैसे होगा ?

किञ्च—आप सम्बन्ध का जो भी लक्षण करेंगे, उसका सत्त्व समवाय में भी अवश्य मानना होगा । किन्तु द्रव्यादिकों में से कोई भी समवाय में नहीं रहता । यदि कहें कि प्रमेयत्व के तुल्य उपाधि ही सम्बन्ध का लक्षण है और वह समवाय में रहती है, तो उस लक्षण का भी संयोग या समवायरूप सम्बन्ध समवाय में अवश्य मानना पड़ेगा । किन्तु वह समवाय में नहीं है । इसके अतिरिक्त स्वरूप के सम्बन्धत्व का निरास कर ही चुके हैं ।

सम्बन्ध का लक्षण अभावरूप भी नहीं है, कारण यदि लक्षण को अभावरूप मानें, तो प्रतिषेध्य भावरूप प्रतियोगी का कथन करना पड़ेगा । अर्थात् भूतल में तादृश

आधार-लक्षण-खण्डनम्

यदपि नियम्यात् भिन्नं नियामकं तदपि कथं तदेव नियमयति, नान्यदिति। तदाधारत्वादिति चेत्, कः पुनराधारार्थः ?

यत्र स्थीयते तदिति चेन्न। यत्रेति सप्तम्यर्थस्यापि विवेचनीयत्वात्। इहेति प्रत्ययविषय इति चेन्न। तत्रेति प्रत्ययविषयस्यानाधारत्वप्रसङ्गात्।

किञ्च प्रत्ययविशेषावगमो विषयविशेषावगमात्। विषयविशेषावगमश्च प्रत्ययविशेषावगमादिति व्यक्तमन्योन्याश्रयः।

समवायीति चेत्; 'शशे शृङ्गाभावः', 'कुण्डे बदरमि'त्याद्यव्याप्तेः। गौणस्तत्र

प्रतियोगी का अभाव रहते हुए भी सम्बन्धत्व-व्यवहार नहीं होता, वह होने लगेगा। यदि कहें कि उस सम्बन्ध को सप्त पदार्थ से अन्य ही मानें, तो वह भी ठीक नहीं। कारण सारा जगत् सात पदार्थों में ही अन्तर्भूत है, क्योंकि तुम्हारे मत से परस्पर विरुद्ध धर्मों के बीच एक का निषेध होने पर अपर का विधान नियत मानकर ही सप्त-पदार्थों के लक्षण किये गये हैं।

आधार-लक्षण का खण्डन

नियम्य से भिन्न जो नियामक सम्बन्ध है, वह भी उसीका कैसे नियमन करता है, अन्य का नियमन क्यों नहीं करता ? यदि कहें कि उसका आधार होने से उसीका नियमन करता है, तो आधार क्या वस्तु है ? अर्थात् लक्षण न होने से आधार अनिर्वचनीय है, फिर उससे अन्य का नियम कैसे होगा ?

समर्थन—'जिसमें वस्तु स्थित होती है, वह आधार है' यह आधार का लक्षण हो ही सकता है। *खंडन*—'यत्र' इस सप्तमी का क्या अर्थ है, इसका विवेचन करना होगा। *समर्थन*—'इह' इत्याकारक ज्ञान का विषय सप्तम्यर्थ है। *खण्डन*—तब तो 'तत्र' इस ज्ञान का विषय सप्तम्यर्थ (आधार) नहीं कहलायेगा।

किञ्च—ज्ञान-विशेष का ज्ञान अर्थात् 'यह ज्ञान भ्रम है, यह प्रमा है' ऐसा निश्चय विषय-विशेष के निश्चय से होता है और आपके मत में विषय-विशेष (आधार) का निश्चय होगा ज्ञान विशेष (प्रमा) से, अतः अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है।

समर्थन—'समवायी (समवाययुक्त) आधार है' ऐसा कहेंगे। *खंडन*—'शशे शृङ्गाभावः, कुण्डे बदरम्' इत्यादि स्थलों में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें

प्रयोग इति चेत्; नैतावन्मात्रम्, 'प्रत्ययश्च भ्रान्तः' इत्यपि वक्तव्यमवशिष्यते भवतः। ओमिति चेत्; अथ विपरीतमेव कुतो न स्यात्। 'शशे विषाणं नास्ती'ति च यदि विशेषणाभावाधिकरणत्वप्रतीतिर्भ्रान्ता, शृङ्गस्य तर्हि शशोऽधिकरणं स्यात्। भावाभावयोरन्यतरनिषेधस्य अन्यतरविधिपर्यवसायित्वेनाभ्युपगमात्।

पतनप्रतिबन्धकमधिकरणमिति चेन्न। अवयविनं गुणादिकञ्च प्रति तदभावात्।

अव्यवहिताधःस्थितमिति चेन्न। गुणाद्यपेक्षया गुणवदादेरधःस्थितत्वे प्रमाणाभावात्। अविशेषेण वाऽवयविगुणादीनामवयवाधारत्वप्रसङ्गात्। ऊर्ध्व-स्थितस्य संयोगिनः संयोगं प्रति च तदभावात्। सूत्रावलम्बितद्रव्यादौ बहुलं व्यभिचारात्।

यद्येकोऽधिकरणार्थो नोपपद्यते, तर्हि अक्षशब्दार्थवद्भिन्न एवास्त्विति चेत्;

कि यह प्रयोग गौण है, तो इतना ही नहीं, यह भी कहिये कि 'यह ज्ञान भी भ्रम है। यदि ऐसा भी (उक्त प्रतीति को भ्रम) मान लें, तो हम पूछते हैं कि विपरीत ही क्यों न मानें ? अर्थात् 'घटे घटत्वम्' इस प्रतीति को भ्रम तथा 'शशे शृङ्गाभावः' इस प्रतीति को प्रमा क्यों न मानें ? किञ्च—यदि 'शशे शृङ्गाभावः' इस प्रतीति को भ्रम मानें, तो 'शशे शृङ्गम्' यह प्रमा हो जायगी। कारण भाव-अभाव दोनों के बीच एक का निषेध अन्य की विधि में पर्यवसित होता है।

समर्थन—'पतन का प्रतिबन्धक अधिकरण है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—अवयवी के पतन का प्रतिबन्धक अवयव तथा गुण के पतन का प्रतिबन्धक गुणी नहीं होता। अतः उनके वे अधिकरण नहीं होंगे, अर्थात् उनमें अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'अव्यवहित (व्यवधान से रहित) जो अधःस्थित हो, वह आधार है' ऐसा कहेंगे। *खण्डन*—गुण तथा अवयवी की अपेक्षा गुणी तथा अवयव अधःस्थित हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं। किञ्च—विशेष न होने से अवयवी के गुणों के आधार अवयव हो जायँगे। किञ्च—ऊर्ध्वस्थित घटादि भूतल-घटसंयोग के आधार न कह-लायेंगे। किञ्च—सूत्र आदि में अवलम्बित कन्दुक (गेंद) आदि के सूत्रादि आधार नहीं कहलायेंगे।

समर्थन—यदि 'अधिकरण' शब्द का एक अर्थ उपपन्न नहीं होता, तो 'अक्ष'-

आश्रयासिद्ध्यादेर्भेदप्रसङ्गात्। सोऽपि स्वीकार्य इति चेन्न। असिद्ध्यादिविधा-परिगणनस्य व्यवहारतोऽन्यथाभावप्रसङ्गात्। क्वचिदाश्रयस्य समवायित्वात् क्वचिच्चाभावं समवायश्च हेतुं प्रति तदसम्भवात्। एकस्य च तेषामुपसङ्ग्राहकस्य वक्तुमशक्यत्वात्।

बहव एवाऽऽश्रयशब्दार्थाः, आश्रयासिद्ध्यादयोऽपि पृथक् पृथगेव बहवः। असिद्धभेदपरिगणनग्रन्थोऽप्यन्यथाकारं बोद्धव्यो बाधदर्शनादिति चेन्न। तथापि 'इह कुण्डे बदरमि'त्यत्र क आधारार्थ इति वक्तव्यम्। न तावत्पतनप्रतिबन्धकत्वम्, सहैव कुण्डेन पतति बदरे तदसम्भवात्।

नापि संयोगित्वम्; वैपरीत्यस्यापि प्रसङ्गात्।

शब्द की तरह उसे अनेकार्थ[1] ही मानें तो क्या हानि है? *खण्डन*—आश्रयासिद्धि, व्यभिचार आदि के परिगणित भेदों का व्यवहारतः अन्यथाभाव हो जायगा। अर्थात् उनके लक्षणों में आधार या अधिकरण शब्द प्रविष्ट होने से उसे नानार्थ मानने पर आश्रयासिद्धि, व्यभिचार आदि भी अनेक हो जायँगे। यदि आश्रयासिद्धि आदि के अनेक भेद मानलें, तो न्यायशास्त्र में असिद्ध्यादि के तीन प्रकार से परिगणन का जो व्यवहार है, उससे विरोध हो जायगा। कारण 'इदं द्रव्यं कर्मणः' यहाँ आश्रय समवायीरूप है। 'शब्दो नित्यः अकृतकत्वात्' तथा 'पृथ्वी इतरभिन्ना गुणसमवायात्' यहाँ आश्रय के ही अनेकरूप होने से एकरूप आश्रय न रहा—सब आधारों का उपसंग्राहक एकरूप नहीं रहा।

समर्थन—'आश्रय शब्द के बहुत-से अर्थ हैं। आश्रयासिद्धि भी पृथक्-पृथक् अनेक ही हैं। असिद्धिभेदों की गणनापरक ग्रन्थ का भी रूपान्तर से व्याख्यान कर कर लेना चाहिए। अर्थात् आधार की निरुक्ति में उक्त बाध होने से लक्षणा द्वारा 'स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि से अन्य असिद्धि आश्रयासिद्धि है' यही कहना चाहिए। *खण्डन*—तब भी 'इह कुण्डे बदरम्' यहाँ आधार शब्द का क्या अर्थ है, यह कहना होगा। किञ्च—जहाँ कुण्ड के साथ ही बदर गिरते हैं, वहाँ कुण्ड बदर का अधिकरण न कहलायेगा।

संयोगित्व भी आधार नहीं है, कारण कुण्ड का संयोग बदर में भी है। अतः बदर भी कुण्ड का आधार हो जायगा।

१. अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति या ज्ञप्ति (ज्ञान) के लिए जिसके द्वारा जो अपेक्षित होता है, वह आधार है, इस प्रकार नानार्थक ही 'आधार' शब्द मानेंगे।

संयोगित्वे सत्यधःस्थितत्वं तत्राधिकरणार्थ इति चेन्न । तस्मिन् सत्यप्यन्यत्र चरणतलमिलितधूलीपटलादौ अधिकरणप्रतीत्यनुपपत्त्या, प्रत्युत चरणतले धूलीत्येव प्रतीत्या आधारत्वप्रतीतौ व्यभिचारित्वेन प्रकृतेऽपि तथास्वीकारानुपपत्तेः ।

न सार्वत्रिकोऽयमाधारार्थः, किन्तु काचित्को नानारूपाधारत्ववादिपक्ष इति चेन्न । भवत्वन्यत्र अन्यस्याऽऽधारार्थत्वम् ; तस्य त्वाधारार्थत्वं नोपपद्यते, अनाधारप्रतीतिविषयेऽपि सत्त्वादित्युक्तेः ।

आधेयापेक्षया महत्परिमाणत्वे सतीति चेन्न । करतलस्थिततूलराश्यादौ तदसम्भवात् , अन्यस्य च तत्राऽऽधारार्थस्य वक्तुमशक्यत्वात् ।

अधःशब्दार्थस्य च वक्तुमशक्यत्वात् ।

पतनाभिमुखदिगवस्थितत्वमिति चेन्न । पतनार्थस्य गमनाधिकस्याधःशब्दार्थ-

समर्थन—'संयोगी होकर जो अधःस्थित हो, वह आधार है' ऐसा कहेंगे । *खण्डन*—ऐसा लक्षण करने पर 'कुण्डे बदरम्' यहाँ निर्वाह होने पर भी चरणतल में मिलित धूलीपटल में अव्याप्ति हो जायगी । 'धूलीपटले चरणतलम्' ऐसा व्यवहार नहीं होता, इससे विपरीत 'चरणतले धूलिः' यही व्यवहार होता है। अतः यह लक्षण युक्त नहीं है ।

खण्डन—आधार को नानारूप माननेवालों के पक्ष में यह आधार का लक्षण सार्वत्रिक नहीं, किन्तु कादाचित्क ही है। प्रकृत में यही आधार पदार्थ हो। *खंडन*—भले ही अन्यत्र आधार का अन्य अर्थ हो, किन्तु वह आधार पद का शक्यतावच्छेदक नहीं हो सकता । कारण वह अनाधारप्रतीति-विषय धूलीपटल आदि में होने से अतिप्रसक्त है, यह हम कह ही चुके हैं ।

समर्थन—'आधेय की अपेक्षा जो महत्परिणाम होकर अधःस्थित संयोगी हो, वह आधार है' ऐसा कहेंगे। चरणतल-मिलित धूलि में महत्परिणाम न होने से अतिव्याप्ति नहीं है । *खण्डन*—करतलस्थित तूल-राशि में अव्याप्ति हो जायगी; कारण तूलराशि की अपेक्षा करतल में महत्परिमाण नहीं है । फिर, तूल-राशि का करतल में अन्य प्रकार का आधारत्व भी हो नहीं सकता ।

किञ्च—'अधःस्थितत्व'घटक अधःशब्दार्थ का भी आप निर्वचन नहीं कर सकते ।

समर्थन—'पतन की अभिमुख दिशा में जो अवस्थित हो, वही अधःस्थित है ।'

आश्रयासिद्ध्यादेर्भेदप्रसङ्गात् । सोऽपि स्वीकार्य इति चेन्न । असिद्ध्यादिविधा-परिगणनस्य व्यवहारतोऽन्यथाभावप्रसङ्गात् । क्वचिदाश्रयस्य समवायित्वात् क्वचिच्चाभावं समवायश्च हेतुं प्रति तदसम्भवात् । एकस्य च तेषामुपसङ्ग्राहकस्य वक्तुमशक्यत्वात् ।

बहव एवाऽऽश्रयशब्दार्थाः, आश्रयासिद्ध्यादयोऽपि पृथक् पृथगेव बहवः। असिद्धभेदपरिगणनग्रन्थोऽप्यन्यथाकारं बोद्धव्यो बाधदर्शनादिति चेन्न । तथापि 'इह कुण्डे बदरमि'त्यत्र क आधारार्थ इति वक्तव्यम् । न तावत्पतनप्रतिबन्धकत्वम्, सहैव कुण्डेन पतति बदरे तदसम्भवात् ।

नापि संयोगित्वम् ; वैपरीत्यस्यापि प्रसङ्गात् ।

शब्द की तरह उसे अनेकार्थ[1] ही मानें तो क्या हानि है ? *खण्डन*—आश्रयासिद्धि, व्यभिचार आदि के परिगणित भेदों का व्यवहारतः अन्यथाभाव हो जायगा । अर्थात् उनके लक्षणों में आधार या अधिकरण शब्द प्रविष्ट होने से उसे नानार्थ मानने पर आश्रयासिद्धि, व्यभिचार आदि भी अनेक हो जायँगे । यदि आश्रयासिद्धि आदि के अनेक भेद मानलें , तो न्यायशास्त्र में असिद्ध्यादि के तीन प्रकार से परिगणन का जो व्यवहार है, उससे विरोध हो जायगा । कारण 'इदं द्रव्यं कर्मणः' यहाँ आश्रय समवायीरूप है । 'शब्दो नित्यः अकृतकत्वात्' तथा 'पृथ्वी इतरभिन्ना गुणसमवायात्' यहाँ आश्रय के ही अनेकरूप होने से एकरूप आश्रय न रहा—सब आधारों का उपसंग्राहक एकरूप नहीं रहा ।

समर्थन—'आश्रय शब्द के बहुत-से अर्थ हैं । आश्रयासिद्धि भी पृथक्-पृथक् अनेक ही हैं । असिद्धिभेदों की गणनापरक ग्रन्थ का भी रूपान्तर से व्याख्यान कर कर लेना चाहिए । अर्थात् आधार की निरुक्ति में उक्त बाध होने से लक्षणा द्वारा 'स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि से अन्य असिद्धि आश्रयासिद्धि है' यही कहना चाहिए । *खण्डन*—तब भी 'इह कुण्डे बदरम्' यहाँ आधार शब्द का क्या अर्थ है, यह कहना होगा । किञ्च—जहाँ कुण्ड के साथ ही बदर गिरते हैं, वहाँ कुण्ड बदर का अधिकरण न कहलायेगा ।

संयोगित्व भी आधार नहीं है, कारण कुण्ड का संयोग बदर में भी है । अतः बदर भी कुण्ड का आधार हो जायगा ।

१. अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति या ज्ञप्ति (ज्ञान) के लिए जिसके द्वारा जो अपेक्षित होता है, वह आधार है, इस प्रकार नानार्थक ही 'आधार' शब्द मानेंगे ।

संयोगित्वे सत्यधःस्थितत्वं तत्राधिकरणार्थ इति चेन्न। तस्मिन् सत्यप्यन्यत्र चरणतलमिलितधूलीपटलादौ अधिकरणप्रतीत्यनुपपत्त्या, प्रत्युत चरणतले धूलीत्येव प्रतीत्या आधारत्वप्रतीतौ व्यभिचारित्वेन प्रकृतेऽपि तथास्वीकारानुपपत्तेः।

न सार्वत्रिकोऽयमाधारार्थः, किन्तु क्वाचित्को नानारूपाधारत्ववादिपक्ष इति चेन्न। भवत्वन्यत्र अन्यस्याऽऽधारार्थत्वम्; तस्य त्वाधारार्थत्वं नोपपद्यते, अनाधारप्रतीतिविषयेऽपि सत्त्वादित्युक्तेः।

आधेयापेक्षया महत्परिमाणत्वे सतीति चेन्न। करतलस्थिततूलराश्यादौ तद्-सम्भवात्, अन्यस्य च तत्राऽऽधारार्थस्य वक्तुमशक्यत्वात्।

अधःशब्दार्थस्य च वक्तुमशक्यत्वात्।

पतनाभिमुखदिगवस्थितत्वमिति चेन्न। पतनार्थस्य गमनाधिकस्याधःशब्दार्थ-

समर्थन—'संयोगी होकर जो अधःस्थित हो, वह आधार है' ऐसा कहेंगे। *खण्डन*—ऐसा लक्षण करने पर 'कुण्डे बदरम्' यहाँ निर्वाह होने पर भी चरणतल में मिलित धूलीपटल में अव्याप्ति हो जायगी। 'धूलीपटले चरणतलम्' ऐसा व्यवहार नहीं होता, इससे विपरीत 'चरणतले धूलिः' यही व्यवहार होता है। अतः यह लक्षण युक्त नहीं है।

खण्डन—आधार को नानारूप माननेवालों के पक्ष में यह आधार का लक्षण सार्वत्रिक नहीं, किन्तु कादाचित्क ही है। प्रकृत में यही आधार पदार्थ हो। *खंडन*—भले ही अन्यत्र आधार का अन्य अर्थ हो, किन्तु वह आधार पद का शक्यतावच्छेदक नहीं हो सकता। कारण वह अनाधारप्रतीति-विषय धूलीपटल आदि में होने से अतिप्रसक्त है, यह हम कह ही चुके हैं।

समर्थन—'आधेय की अपेक्षा जो महत्परिणाम होकर अधःस्थित संयोगी हो, वह आधार है' ऐसा कहेंगे। चरणतल-मिलित धूलि में महत्परिणाम न होने से अति-व्याप्ति नहीं है। *खण्डन*—करतलस्थित तूल-राशि में अव्याप्ति हो जायगी; कारण तूल-राशि की अपेक्षा करतल में महत्परिमाण नहीं है। फिर, तूल-राशि का करतल में अन्य प्रकार का आधारत्व भी हो नहीं सकता।

किञ्च—'अधःस्थितत्व'घटक अधःशब्दार्थ का भी आप निर्वचन नहीं कर सकते।

समर्थन—'पतन की अभिमुख दिशा में जो अवस्थित हो, वही अधःस्थित है।'

व्यतिरेकेण निर्वक्तुमशक्यत्वात् । अत एवाधःशब्दार्थस्य दुर्वचत्वमधिगम्य अद्वैतवादिना गुरुणा शिष्याय खण्डनमुपाचक्षाणेन भगवता पराशरेणाभिहितम्— 'अधःशब्दनिगद्यं किं किञ्चोर्ध्वमभिधीयते ।'

पृथिव्यभिमुखी दिगधःशब्दार्थ इति चेन्न । ऊर्ध्वशब्दार्थस्यापि पृथिव्यभिमुखत्वसम्भवात् ।

यदपेक्षया पृथिव्यभिमुखी या दिक् तदपेक्षया साऽध इति चेन्न । यदपेक्षयेति किं यमवधीकृत्येति विवक्षितम्, उत यदीयाभिमुख्यव्यवस्थितेति ? आद्ये पृथिव्यूर्ध्वस्थितं पदार्थमवधीकृत्य योर्ध्वा दिगिति भवद्भिर्व्यवह्रियते, साऽपि पृथिव्यभिमुखी भवतीति साऽप्यधः स्यात् । अत एव न द्वितीयोऽपि ।

खण्डन—गमन से अधिक पतन-पदार्थ का अधःशब्द के निर्वचन के बिना निर्वचन ही नहीं हो सकता । अर्थात् अधःसंयोगानुकूल व्यापार ही पतन-पदार्थ होने से जबतक अधःशब्द के अर्थ का निर्वचन न हो, तबतक पतनार्थ का निर्वचन नहीं हो सकता । फलतः अन्योन्याश्रय हो जायगा । अधःशब्दार्थ को दुर्वच जानकर ही अद्वैतवादी गुरु ऋभु ने शिष्य निदाघ को जो खण्डन का उपदेश किया था, उसीका अनुवाद करते हुए पराशर मुनि ने कहा है कि 'अधःशब्द का क्या अर्थ है और ऊर्ध्व शब्द का क्या अर्थ है ? कुछ नहीं, अर्थात् अधः-ऊर्ध्वशब्दार्थ अनिर्वचनीय हैं ।'

समर्थन—'उपरिस्थित पदार्थ की अपेक्षा पृथिवी की अभिमुख दिशा अधःशब्द का अर्थ है ।' *खण्डन*—'ऊर्ध्व' शब्द का अर्थ भी पृथिवी की अभिमुख दिशा ही है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी । अर्थात् एक-एक ऊर्ध्वदेश से दूसरा ऊर्ध्वदेश पर होता ही है । एवञ्च ऊर्ध्वदेश भी ऊर्ध्वदेशान्तर की अपेक्षा पृथिवी के अभिमुख है ही, अतः वहाँ अतिव्याप्ति है ।

समर्थन—'जिन मार्तण्ड-मण्डलादि की अपेक्षा पृथिवी की अभिमुख जो दिशा हो, उसकी अपेक्षा वह दिशा अधःशब्द का अर्थ है ।' एवञ्च अतिव्याप्ति नहीं है, पूर्व पूर्व दिशा को उत्तरोत्तर की अपेक्षा अधोरूप हम मानते ही हैं । *खंडन*—यहाँ 'अपेक्षा' शब्द का क्या अर्थ है, अवधिमात्र अर्थ है या अभिमुख ? प्रथम पक्ष में पृथिवी के ऊपर स्थित जो घटादि पदार्थ हैं, तदवधिक अभिमुखत्व ऊर्ध्वस्थित मार्तण्ड-मण्डल को भी है । अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी । द्वितीय पक्ष में भी मार्तण्ड-मण्डल से ऊर्ध्वदेश भी अधः कहा जायगा । कारण उसमें पृथ्वी का जैसा आभिमुख्य है, वैसे ही मार्तण्ड-मण्डल का भी आभिमुख्य है ।

यस्यां दिशि क्रियया पृथ्वी सन्निहिता भवति, सा दिगध इति चेन्न । कूपादौ मध्यगतस्य तिर्यग्दोलायमानस्य क्रिया पतनं स्यात्, तद्गत्याक्रान्ता च तिर्यग्-दिगधः स्यात् ।

पृथिवीमवधीकृत्य यं चान्यं पदार्थमवधीकृत्य यो मध्य इति देशो व्यवह्रियते, स पृथिव्यतिरिक्ततदवध्यपेक्षयाऽध इति चेन्न। पृथिव्यामेव तदव्यवहारापत्तेः।

पृथिवीं पदार्थान्तरञ्चापेक्ष्य मध्यत्वस्य विवक्षितस्याधःशब्दार्थप्रदर्शनमन्तरेण निर्वक्तुमशक्यत्वात् । पृथिव्यपेक्षयोर्ध्वं परापेक्षया चाधः, तत्र तयोर्मध्यमित्येवं निरुच्यते मध्यत्वम्; अन्यथा तिर्यगपि प्रसङ्गात् । तद्यथा—पृथिव्यपेक्षया पूर्वमपरापेक्षया च पश्चिमं तयोर्मध्यमुच्यते, प्रतीपदिगवस्थितयोः परस्परापेक्षया प्रतीपदिक्सङ्करे मध्यव्यवहारात् ।

समर्थन—'जिस दिशा में क्रिया से पृथ्वी सन्निहित हो, वह दिशा अधःशब्दार्थ है' ऐसा कहेंगे । *खंडन*—कूपादि के मध्यगत टेढ़े दोलायमान जो घण्टादि हैं, उनकी क्रिया भी पतन हो जायगी और उस क्रिया से सन्निहित तिर्यग् अधः हो जायगा ।

समर्थन—'पृथ्वी को अवधि कर तथा अन्य पदार्थ को अवधि कर जो मध्य प्रदेश कहा जाता है, वह देश पृथ्वी से इतर अवधि की अपेक्षा अधःशब्द का अर्थ है।' *खण्डन*—पृथ्वी में मध्य-व्यवहार नहीं होगा, कारण पृथ्वी और इतर अवधि की अपेक्षा पृथ्वी मध्यदेश नहीं है । अतः पृथ्वी उस अवधि की अपेक्षा अधः नहीं कहलायेगी ।

किञ्च—पृथ्वी और पदार्थान्तर की अपेक्षा विवक्षित मध्यत्व का लक्षण अधःशब्द के निर्वचन के बिना हो नहीं सकता । 'पृथ्वी की अपेक्षा ऊर्ध्व और अन्य अवधि से अधः दोनों की अपेक्षा मध्य है' यही मध्यत्व का लक्षण कहना होगा । एवञ्च मध्य से अधः का और अधः से मध्य का लक्षण होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा । यदि अधः-शब्द से घटित विवक्षित मध्य का लक्षण न करें, तो तिर्यग् देश भी मध्य कहा जाने लगेगा । देखिये—ऊर्ध्व पृथ्वी देश की अपेक्षा पूर्व और इतर अवधि की अपेक्षा पश्चिम उन दोनों की अपेक्षा मध्य है, कारण विरुद्ध दो दिशाओं में स्थित दो पदार्थों के परस्पर की अपेक्षा विरुद्ध दिशाओं का सङ्कर (पूर्व-पश्चिमरूप) ही मध्य है । यदि इसीको विवक्षित मध्य कहें, तो इतर अवधि की अपेक्षा तिर्यग्-देशरूप जो मध्य-देश है, वह भी अधः कहा जाने लगेगा । एवञ्च अधस्त्व का निरूपण न हो सकने से 'अधःस्थितत्वे सति संयोगित्व'रूप आधारत्व का लक्षण नहीं बन सकता ।

अथान्यः कश्चिदाधारार्थोऽस्तु प्रतीतिसिद्धत्वात्, प्रतीतेश्चैवमनन्योपपाद्यत्वात्। मैवम्; तदनित्यं वा स्यात् नित्यं वा? नाद्यः; तदभावे आधारप्रतीत्यभाव-प्रसङ्गात्, गोत्वादिनित्यत्वन्यायसाम्येऽपि अस्यानित्यत्वे तेषामप्यनित्यत्वापाताच्च। नापि द्वितीयः; तादृशमप्यनुगतमननुगतं वा स्यात्? द्वितीये अनुगताधारप्रतीत्य-सम्भवः, सङ्केतग्रहाशक्यत्वञ्च। प्रथमे सामान्यवदाश्रयापरित्यागि वा स्यात् तत्त्यागि वा? आद्ये यदेव तदाधारतया प्रतीतं तत्तदाधेयं न स्यात्। द्वितीयेऽपि च यदि नियामकमन्तरेण तत्स्वाश्रयं भजति त्यजति च, तदा नियमानुपपत्त्या सर्वदा तद्भजनत्यजनोचितप्रत्ययव्यवहारप्रसङ्गः।

अथ तस्याऽऽश्रयभजनत्यजनयोर्नियामकोऽस्ति; तर्हि स वक्तव्यः। सोऽपि

समर्थन—सर्वानुभव सिद्ध 'इह' इत्याकारक प्रतीति आधार की कल्पना के बिना अनुपपन्न होगी। अतः उक्त प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से ही आधार की कल्पना करेंगे। वह आधार किम्-रूप है, इसके निर्णय से हमें कुछ प्रयोजन नहीं। *खंडन*—उस आधारत्व को अनित्य मानेंगे या नित्य? प्रथम कल्प युक्त नहीं; कारण यदि अनित्य मानें, तो कदाचित् उसका अभाव भी अवश्य मानना पड़ेगा। एवञ्च आधारत्व के अभाव-काल में आधार की प्रतीति नहीं होगी। किन्तु आधार की प्रतीति सर्वदा होती है। किञ्च—गोत्वादि जाति के नित्यत्व की साधक युक्तियों (अनुगतप्रतीतिविषयत्व, अनौपाधिकत्व या सर्वदा प्रतीयमानत्वरूप) की तरह यहाँ भी तुल्य युक्ति होने पर भी यदि आधारत्व को अनित्य मानें, तो गोत्वादि जातियाँ भी अनित्य हो जायँगी।

द्वितीय कल्प में भी आधारत्व अनुगत है या अननुगत है? यदि अननुगत है, तो आधारमात्र में अनुगत एक धर्म न होने से अनुगत आधार की प्रतीति नहीं होगी। सिवा संकेत (शब्दार्थ-सम्बन्ध) का ज्ञान भी नहीं होगा। यदि अनुगत मानें, तो वह (आधारत्व) सामान्य की तरह आश्रय का अपरित्यागी है या परित्यागी? आद्य पक्ष में जो जिस काल में आधारत्वरूप से प्रतीत होता है, वही उसी काल में आधेयत्वरूप से प्रतीत नहीं होगा। द्वितीय पक्ष में यदि नियामक के बिना ही वह आधारत्व आधार को त्यागता और ग्रहण भी करता है, तो सर्वदा प्राप्ति-त्याग के उचित प्रतीति या व्यवहार होना चाहिए। अर्थात् सर्वदा 'आधारः, न आधारः' दोनों व्यवहार या प्रतीतियाँ होने लगेंगी।

समर्थन—उस आधारत्व के आश्रय के प्राप्ति-त्याग में नियामक है। *खण्डन*—तो उन नियामक को कहिये। यदि कहें कि आधारत्व की प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से

कल्पयिष्यते, अन्यथा आधारप्रतीत्यनुपपत्तिरिति चेन्न। तत्परिकल्पने यदेव भजने नियामकं स एवाऽऽधारार्थोऽस्तु, कृतं पूर्वपरिकल्पितेनेति।

अस्त्वेवमेवेति चेन्न। तस्यापि स्वाश्रयभजनत्यजननियामकस्यावश्य-वाच्यत्वे तस्यापि चैवं वैयर्थ्यमित्यधिकापरिकल्पने नियमानुपपत्तिः। अधिक-परिकल्पने च पूर्वपूर्ववैयर्थ्यप्रसङ्ग इति दुरुत्तरं व्यसनमापद्येत।

परस्परेण परस्परस्य नियामकत्वमिति चेत्; अन्योन्याश्रयिणावर्थावपि परस्पराकर्षकभावव्यवस्थया सुस्थीकुरु, ततो दास्यामस्तवोत्तरम्।

जात्यादयोऽपि तर्ह्येवमनुपपन्ना इति चेत्। न उच्चैर्वक्तव्यं यदि कोऽपि शृणोति, तदा महदनिष्टमस्माकं प्रकाशीकृतं स्यात्।

उस नियामक की कल्पना करेंगे, तो जो प्राप्ति-त्याग में नियामक है, वही आधारत्व रहे। पूर्वकल्पित आधारत्व व्यर्थ है।

यदि कहें कि ऐसा ही रहे, तो उसके भी आश्रय के प्राप्ति-त्याग में नियामक अवश्य वक्तव्य होने पर पूर्वोक्त प्रकार से पूर्व नियामक व्यर्थ है। इस प्रकार अधिका-धिक नियामक की कल्पना न करें, तो नियम नहीं होगा। यदि करें; तो पूर्व-पूर्व नियामक व्यर्थ हो जायगा। इस प्रकार अनिवार्य दुःख-परम्परा प्राप्त हो जायगी।

समर्थन—पूर्व नियामक से उत्तर का और उत्तर नियामक से पूर्व का नियमन होगा। अतः न तो अनियमन है और न उत्तरोत्तर से पूर्व-पूर्व का वैयर्थ्य। *खंडन*—जब उत्तर स्वयं पूर्व से नियमित हो ले, तब पूर्व का नियम करेगा और पूर्व भी उत्तर से स्वयम् नियमित हो ले, तो उत्तर का नियमन करेगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जायगा। पहले आप इस अन्योन्याश्रय का निवारणकर आधारत्व को सुस्थिर करें, फिर हम आपको उत्तर देंगे।

समर्थन—तब तो जाति आदि के भी आश्रयों के प्राप्ति-त्याग में किसी नियामक की कल्पना करनी होगी, फलतः उक्त प्रकार से जाति आदि भी व्यर्थ हो जायँगे। यदि नियामक की कल्पना न करें, तो उस व्यक्ति से अन्यत्र भी उस जाति का व्यवहार होने लगेगा। *खंडन*—जोर से (उच्च स्वर से) न कहिये। यदि कोई अन्य मतवाला यह सुन लेगा, तो हम वैदिकों का महान् उपहास होगा। अर्थात् पदार्थमात्र के अनिर्वचनीयत्व-वादी हमारे मत में जाति का खण्डन भी इष्ट ही है। अतः इसी युक्ति से जाति का भी खण्डन समझ लें।

किञ्च—यत्तदाधारत्वं तत् साधारमनाधारं वा? अन्त्ये क्व स्वविशिष्ट-प्रत्ययं कुर्यात्, विशेषाभावात्। आद्ये तदाधारत्वं वाच्यम्।

स्वरूपमेव तादृशं तस्य, येन स्वयं सत्ता स्वात्मनि सत्ताप्रत्ययकारिणी सत्तान्तरमन्तरेण यथा तथेदमपि विनैव आधारान्तरमाधारप्रत्ययकारीति चेन्न। भ्रान्तित्वप्रसङ्गात्। यथा विना रजतत्वं तत्प्रत्ययो भ्रान्तिस्तथैव स्यात्। उपपाद्य-श्चायमर्थो भेदखण्डनप्रस्ताव इत्युपरम्यते।

विनाऽप्याधाराधेयभावं स्वभावसम्बन्धेन नियामकत्वं भविष्यति, यथा विषयविषयिभावेनार्थज्ञानयोरिति चेन्न। स्वभावसम्बन्धस्य निरस्तत्वात्।

विषय-विषयिभाव-लक्षणखण्डनम्

यमुदाहरसि च विषयविषयिभावं सोऽपि वक्तुं न शक्यते। तथाहि—कः पुनर्ज्ञानादेर्घटादिना विषयविषयिभावः?

किञ्च—जो वह आधारत्व है, वह साधार है अथवा आधाररहित? यदि उसे आधाररहित मान, तो आधारत्व की प्रतीति कहाँ होगी; कारण आधारत्व विशिष्टरूप-विशेष नहीं है। यदि आधारत्व का भी आधार मानें, तो आधारत्वरूप जो आधेय है, उसके आधारत्व का निर्वचन करना चाहिए। अर्थात् आधारत्व का आधारत्व, उसका आधारत्व, इस तरह अनवस्था होने से आधारत्व को साधार भी नहीं मान सकते।

समर्थन—आधारत्व का स्वरूप ही ऐसा है कि जैसे सत्ता अन्य सत्ता के बिना ही स्व में सत्ता-प्रतीति का कारण है, वैसे ही आधारत्व भी अन्य आधारत्व के बिना ही स्व में आधारत्व-व्यवहार का कारण होगा। *खण्डन*—तब तो आधार-प्रतीति भ्रान्ति हो जायगी। अर्थात् जैसे बिना रजतत्व के रजत का ज्ञान भ्रम है, वैसे ही आधारत्व के बिना आधार का ज्ञान भ्रम होगा। इसका उपपादन हम भेद-खण्डन के प्रसंग में करेंगे।

समर्थन—आधारत्व के साथ आधाराधेयभाव न होने पर भी स्वरूप पर-सम्बन्ध से वह नियामक होगा, जैसे कि अर्थ ज्ञान का विषय विषयिभाव से नियमन करता है। *खण्डन*—स्वरूपसम्बन्ध का खण्डन हो ही चुका है।

विषय-विषयिभाव-लक्षण का खण्डन

फिर, जिस विषय-विषयिभाव का कथन करते हैं, उसका भी उपपादन आप नहीं

प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेष इति चेन्न । इच्छादिविषया-व्यापनात् । विषयिण इति चेन्न । तत्त्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात् ।

किञ्च स्वभावः स्वधर्मो वा स्वात्मा वा तस्य विवक्षितः ? आद्ये ज्ञानत्वादिकं वा साधारणमसौ, तत्तद्घटज्ञाननियतो वा कश्चित् ? आद्ये साधारण्यान्न विशेषतस्त-दीयतामात्ररूपत्वसम्भवः । द्वितीये तु प्रतिविषयं व्यावृत्तज्ञानधर्मस्वीकारे वचन-भङ्गिभेदेन साकारवादस्वीकारः ।

किञ्च[1]—नाऽसौ धर्म उपधेयान्तराधीनः, विषयभूतघटाद्यतिरिक्तोपाधिप्रतीत्य-पेक्षाप्रसङ्गात् ।

कर सकते । कहिये, ज्ञानादि का घटादि के साथ विषय-विषयिभाव क्या वस्तु है ? अर्थात् लक्षण न होने से अनिर्वचनीय है ।

निर्वचन—'विद्यमान प्रकाश (ज्ञान) का केवल तदीयतारूप (घटादिमात्र-सम्बन्धितारूप) स्वभाव-विशेष विषय-विषयिभाव है' ऐसा कहेंगे । खण्डन—इच्छा, कृति तो प्रकाशरूप नहीं हैं, अतः उनके साथ विषय के सम्बन्ध में अव्याप्ति हो जायगी । 'प्रकाश' के स्थान पर 'विषयी' का निवेश भी नहीं कर सकते; कारण विषय-विषयि-भाव का ही यह लक्षण होने से आत्माश्रय हो जायगा ।

किञ्च—'स्व' शब्द आत्मा और आत्मीय का वाचक होने से यहाँ 'स्वभाव'पद से उसका धर्म विवक्षित है या आत्मा ? प्रथम पक्ष में वह ज्ञानत्व आदि साधारण धर्म है या घटादि-ज्ञानादिमें ही वृत्ति कोई धर्मविशेष (घट-ज्ञानत्व, पटज्ञानत्व आदि) है ? प्रथम पक्ष में ज्ञानत्वरूप विषयविषयिभाव सर्वसाधारण होने से 'यह घटविषयक ज्ञान है, यह पट-विषयक ज्ञान है' ऐसा विशेषरूप से नियम नहीं होगा । द्वितीय पक्ष अर्थात् विषय-विषय की प्रतीति से व्यावृत्त भिन्न-भिन्न ज्ञानों में वृत्ति ज्ञानधर्मरूप मानें, तो वचन-रचना के भेद से साकारवाद का स्वीकार हो जायगा । अर्थात् घटादि बाह्य पदार्थ भी ज्ञान के धर्म में प्रविष्ट होने से 'ज्ञेयाकारं ज्ञानम्' इस योगाचार-मत का अंगीकार हो जायगा । फलतः बाह्य पदार्थों का अपलाप हो जायगा ।

किञ्च—वह धर्म जातिरूप है या उपाधिरूप ? उपाधिरूप में भी उपाधि का निमित्त अन्य है या घटादि ही ? यदि अन्य निमित्त मानें, तो 'अयं घटः' इस ज्ञान को अपने विषयभूत घटादि से इतर की अपेक्षा हो जायगी, किन्तु वह होती नहीं है ।

१. यदि कहें कि ज्ञानगत असाधारण धर्म को ही बाह्यार्थ का निमित्त मानेंगे । एवञ्च विज्ञानवादमें प्रवेश नहीं होगा, तो दूसरा दोष देते हैं—'किञ्च' से ।

न च घटादिरेव तथा; असम्बन्धात् । तथापि तथात्वे चातिप्रसङ्गात् ।

नापि जातिरूपः; क्वचिद्घटमात्रपटमात्रज्ञानगततया पृथग्व्यवस्थितौ सत्यां घटपटविषयैकज्ञाने सहावस्थित्या जातिसङ्करप्रसङ्गात् ।

प्रतिविषयं ज्ञानभेदनियमे विशिष्टज्ञानानुपपत्तेः, एवम्भूतविचित्रजात्यभ्युपगमे प्रत्येकोचितव्यवहारस्या-प्यभावप्रसङ्गात् ।

अथ जातिसङ्करोऽपीष्यते; तथापि स एव विशेषो घटज्ञानत्वादिरस्त्विति विषयासिद्धिः ।

अथ विषयेणापि सम्बन्धप्रतिभासनात् सोऽपीष्यते । न; तस्यैव सम्बन्धस्य विचार्यमाणत्वात् ।

'घटज्ञानत्वादिरूप उपाधि में घटादि निमित्त हैं', ऐसा नहीं कह सकते, कारण घटादि से कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि सम्बन्ध के बिना भी घटादि को निमित्त मानें, तो पटादि-ज्ञानत्व में भी घट निमित्त हो जायगा ।

घटादिज्ञानत्वादि जातिरूप भी नहीं हैं । कारण घटविषयक ज्ञान में घटज्ञानत्व और पटविषयक ज्ञान में पटज्ञानत्व और उभयविषयक समूहालम्बन ज्ञान में घटज्ञानत्व, पटज्ञानत्व दोनों के होने से साङ्कर्य हो जायगा ।

समर्थन—प्रतिविषय ज्ञान-व्यक्ति भिन्न-भिन्न होने से समूहालम्बन ज्ञान होता ही नहीं, तो फिर संकर कहाँ होगा ? *खण्डन*—यह भी युक्त नहीं, कारण ऐसा मानने पर विशिष्ट ज्ञान भी नहीं होगा । यदि कहें कि जैसे रूपत्वव्याप्य चित्रत्वजाति है, वैसे ही घटपट-समूहालम्बन-ज्ञान में घटपटज्ञानत्व से विलक्षण एक जाति मानेंगे । अतः समूहालम्बन में दोनों का समावेश न होने से सङ्कर नहीं है, तो वह भी ठीक नहीं । कारण कोई भी ज्ञान केवल एकविषयक नहीं होता । निर्विकल्पक भी अनेकविषयक होता है । एवञ्च घटज्ञानत्व, पटज्ञानत्वरूप एक-एक विषयक व्यवहार का लोप हो जायगा ।

समर्थन—गुण की जाति में सङ्कर-दोष नहीं होता, अतः घटज्ञानत्व पटज्ञानत्व, दोनों जातियाँ समूहलम्बन ज्ञान में रहती ही हैं । *खंडन*—यदि विषय-भेद से ज्ञान में जातिभेद मान लें, तो उन्हीं जातियों से प्रतीतियों में वैलक्षण्य सिद्ध ही है । फिर घटादि विषयों की असिद्धि हो जायगी ।

समर्थन—घट-ज्ञानत्वादि को विषय का ही तो सम्बन्ध मानते हैं, अतः सम्बन्ध की अन्यथानुपपत्ति से विषय की सिद्धि होगी ही । *खण्डन*—विषय तथा ज्ञान के उसी

स एवासाविति चेन्न। तदैक्यात् ज्ञानार्थसाधारणविषयप्रतीत्या- पत्तेः संयोगप्रतिपत्तिवत्। विषयित्वं तत्र, अर्थे तु विषयत्वमन्यदिति चेन्न। सैव हि ज्ञातता स्यात्, सा च निराकरिष्यते।

द्वितीये च स्वात्मा घटपटव्यक्तीनामिव घटपटज्ञानव्यक्तीनां व्यावृत्त इति तत्तद्विषयविषयितागोचरानुगतबुद्धिव्यवहारभङ्गप्रसङ्गः।

किञ्च—तदीयता ज्ञानस्य स्वभाव इति वचनं विचारमर्हति। तदिति तावद्विषय-परामर्शः, सम्बन्धिता छप्रत्ययस्यार्थः। तदेतदन्योन्यविशिष्टमुभयं ज्ञानस्य स्वभाव इति ब्रुवाणेन विषयो विज्ञानस्य स्वभाव इत्युक्तं भवतीति साधु विज्ञानवादिनिरा-करणप्रकरणोपसंहरणमकारि।

सम्बन्ध का विचार कर रहे हैं कि वह सम्बन्ध किंरूप है ? अर्थात् उस सम्बन्ध को यदि घटज्ञानत्वादिरूप मानें, तो उसीसे प्रतीति का वैलक्षण्य की सिद्ध हो जाने से विषय की असिद्धि हो जायगी। अतः घटज्ञानत्वादिरूप वह सम्बन्ध नहीं है।

समर्थन—घट तथा ज्ञान का विषयविषयिभाव ही सम्बन्ध रहे, तो हानि क्या है ? *खण्डन*—विषय-विषयिभावरूप सम्बन्ध एक है, अतः संयोग-प्रतिपत्ति के तुल्य ज्ञान और विषय दोनों परस्पर विषयी और विषय हो जायँगे।

समर्थन—अनुभव के अनुसार ज्ञान में विषयित्व और अर्थ में विषयत्व अन्य ही है। *खंडन*—अर्थगत जो अनुगत विषयत्व है, वही मीमांसकों की 'ज्ञातता' है। उसका आगे ही निराकरण करेंगे।

द्वितीय पक्ष मानें, अर्थात् 'स्वमेव भावः स्वभावः' इस व्युत्पत्ति से 'स्वभाव' पद का स्वात्मा अर्थ कहें, तो घट-पट-व्यक्तियों के तुल्य घटज्ञान, पटज्ञान व्यक्तियों के भी होने से भिन्न-भिन्न संपूर्ण घटज्ञान में एकाकार अनुगत प्रतीति नहीं होगी।

किञ्च—'तदीयता ज्ञान का स्वभाव है' यह कथन भी विचारणीय है। यहाँ तद्-शब्द से विषय का परामर्श है और सम्बन्धिता (सम्बन्ध) छप्रत्यय का अर्थ है। 'ये दोनों परस्पर मिलकर अर्थात् विषय-सम्बन्ध ज्ञान के स्वभाव हैं' यह जो कहते हैं, उससे 'विषय विज्ञान का स्वभाव है' यह भी उक्त हो जाता है। एवञ्च इस तरह विज्ञानवाद का समर्थन हो जाने से ['आत्म-तत्त्व-विवेक' में किये गये] विज्ञान-वाद के खण्डन-प्रकरण का आपने खूब ही उपसंहार किया !

सम्बन्धमात्रं ज्ञानस्य स्वभावः, न तु विषय इत्याशय इति चेन्न। विशेषानुपादाने सम्बन्धमात्रमिदं सर्वस्यैव स्यात्।

यतो न तावन्न कस्यचित्, सम्बन्धस्वरूपतात्यागप्रसङ्गात्। नापि नियतस्य; तादात्म्यापत्तेरुक्तत्वात्, नियामकासम्भवाच्च।

कारणं नियामकमिति चेत्, तेन नियामकेन किं भवति? तदीयत्वं तस्य सम्बन्धस्येति चेत्; तदेव तदीयत्वं ज्ञानस्वभावभूतसम्बन्धस्वरूपप्रविष्टमुत बहिर्भूतं धर्मान्तरम्?

यदि प्रथमः; तच्छब्दार्थोऽपि तर्हि स्वरूपप्रविष्ट इति विषयज्ञानयोः स एवाभेदप्रसङ्गः। द्वितीये च तस्य धर्मान्तरस्य विषयेणाभेदः, तच्छब्दार्थस्य विषयस्य विशेषणस्य तदीयशब्दार्थे विशिष्टरूपे प्रविष्टस्य स्वीकृतधर्मान्तरस्वभावतया निरुक्तत्वात्।

समर्थन—'तदीय' यहाँ छप्रत्यय से प्रतीयमान सम्बन्धमात्र ही ज्ञान का स्वभाव है, विषय नहीं। एवञ्च विज्ञानवाद का प्रसंग नहीं आयेगा। *खंडन*—विशेष विषय का उपादान न करें तो सम्बन्धमात्र सभी ज्ञानों में सभी वस्तुओं का रहेगा, कारण 'सम्बन्ध किसी का नहीं है' ऐसा नहीं है। एवञ्च सभी ज्ञानों का अभेद हो जायगा।

यह भी नहीं कह सकते कि सम्बन्ध किसी की भी अपेक्षा न कर स्वतन्त्र ही रहेगा; कारण यदि सम्बन्ध को सम्बन्धी से अनियत मानें, तो वह अपने स्वरूप से ही उच्छिन्न हो जायगा, अर्थात् सम्बन्ध ही नहीं कहलायेगा।

समर्थन—घटादि से नियत सम्बन्ध ही ज्ञान का स्वभाव है। *खण्डन*—तब तो ज्ञान के स्वरूप में घट का भी प्रवेश हो जाने से घट और ज्ञान, दोनों का अभेद हो जायगा। किञ्च—'घट का सम्बन्ध घटज्ञान का स्वभाव है' इसमें कोई नियामक भी नहीं है।

समर्थन—घट और चक्षुस्सम्बन्धजन्यत्व को ही नियामक मानेंगे। *खण्डन*—घट, और चक्षुस्सम्बन्धजन्यत्वरूप नियामक क्या करता है? यदि कहें कि वह ज्ञान के स्वभावभूत सम्बन्ध में घटीयत्व को उत्पन्न करता है, तो यह विकल्प होता है कि वह घटीयत्व ज्ञान के स्वभावभूत सम्बन्ध के स्वरूप में अन्तर्भूत है या उससे बहिर्भूत धर्मान्तर है?

यदि प्रथम कल्प मानें, तो तद्शब्दार्थ का भी स्वरूप में प्रवेश होने से वही विषय और ज्ञान के अभेद का प्रसङ्ग हो जायगा। यदि द्वितीय कल्प मानें, तो तदीयस्वरूप उस धर्मान्तर का विषय के साथ अभेद हो जायगा। कारण तदीयशब्द का अर्थ विशिष्ट में प्रविष्ट तथा विशेषण तत्-शब्द के अर्थ विषय का स्वीकृत तदीयस्वरूप धर्मान्तर के स्वरूप में अन्तर्भाव है।

अस्तु असौ धर्मो विषयाभिन्न इति चेत्; तथापि किमसौ स्वीकृतेन स्वभाव-सम्बन्धेन सम्बद्धो न वा ? न चेत्, तद्विज्ञानं न कस्यचित्सम्बन्धि स्यात्। सम्बद्धश्चेत्, किं सम्बन्धान्तरेण आहो स्वभावसम्बन्धेनैवासौ ज्ञानात्मकसम्बन्ध-सम्बन्धीयः ?

आद्ये तत्राप्येवं प्रसङ्गः, यस्या भयेन स्वभावसम्बन्धः स्वीकृतः, सा तदवस्थैवानवस्था। द्वितीयश्चेत्, ज्ञानात्मकसम्बन्धसम्बन्धीय इत्यत्र विशिष्टस्वरूपे ज्ञान-रूपमपि विशेषणं प्रविष्टमिति पूर्वोक्तन्यायेन अधुनोक्तन्यायेन च ज्ञानस्यैकस्यैव द्वयमपि स्वात्मेति वाग्भङ्गिभेदमात्रेण ज्ञानगोचरयोरभेदस्वीकार इति।

एतेनान्यत्रापि स्वभावसम्बन्धः प्रत्याख्यातव्यः।

ज्ञानीयफलाधारत्वं विषयत्वम्, तद्धत्त्वं च विषयित्वमित्यपि दुष्टम्। तथाहि—ज्ञानीयं फलं ज्ञातता वा व्यवहारो वा स्यात् ?

आद्ये अतीतानागतधीभ्रमाद्यर्थाव्याप्तिः। न च तत्रैव फलजनने किं

समर्थन—वह तदीयत्व विषय से अभिन्न ही रहे, तो हानि ही क्या है ? *खण्डन*—वह तदीयत्व ज्ञान के स्वभाव-सम्बन्ध से संबद्ध है या नहीं ? संबद्ध नहीं है, तो विज्ञान किसीका सम्बन्धी न कहलायेगा। यदि सम्बद्ध है, तो क्या अन्य सम्बन्ध से या स्वरूप सम्बन्ध से ?

यदि प्रथम कल्प मानें, तो वह सम्बन्ध भी अन्य सम्बन्ध से ही विज्ञान के स्वभावभूत सम्बन्ध का सम्बन्धी होगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर सम्बन्ध का स्वीकार होने से वही अनवस्था हो जायगी, जिसके भय से आप स्वरूप सम्बन्ध का स्वीकार करते हैं। यदि स्वभाव सम्बन्ध से सम्बन्धी है, तो तदीयत्व का ज्ञानात्मक स्वभाव सम्बन्ध के स्वरूपरूप सम्बन्धी में ज्ञान-विशेषण भी प्रविष्ट है, इस पूर्वोक्त रीति से तथा सम्प्रति उक्त रीति से ज्ञान के ही घट और घटीयत्व दोनों आत्मा हुए। अतः वचन-रचना के भेद से ज्ञान और विषय का अभेद ही सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार अन्यत्र याने समवाय, अभाव आदि स्थलों में भी स्वरूप-सम्बन्ध का खण्डन जानना चाहिए।

समर्थन—'ज्ञान का जो फल, उसका आधारत्व विषयत्व है और उस फल का जनकत्व विषयित्व है', ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—यह भी लक्षण दोषयुक्त है, कारण ज्ञानजन्य फल ज्ञातता है या व्यवहार ?

प्रथम पक्ष में अतीत-अनागतविषयक बुद्धिस्थल में तथा भ्रमविषय में अव्याप्ति

नियामकमिति प्रयोजकमनुगतं शक्यनिर्वचनम्, तथात्वे वा तदेव विषयत्वमस्तु ।

व्यवहारश्च यदि कराकर्षणादिः, स न सार्वत्रिकः नान्तरीयकश्चान्यत्रापि इत्यतिव्यापकम् । यदि इच्छादिः, तदाधारत्वमात्मन इति घटाद्यव्याप्तिः । तद्विषयत्वं च तद्विषयत्वमेवापेक्षते ।

यश्चोपेक्षां नाम व्यवहारं नानुमनुते, कथं नोपेक्षाप्रेक्षामुपेक्षते । हानादिव्यवहारज्ञानानामेव च कथं न निर्विषयत्वं प्रसज्यते । अथ सर्वत्र हानादिव्यवहारोपगमः, तदा व्यवहारज्ञानयोरनुपरम एव स्यात् ।

हो जायगी । कारण उक्त स्थल में उत्पन्न विषय के वर्तमान न होने से बिना आधार के ज्ञातता कहाँ उत्पन्न होगी । किञ्च—घट-ज्ञानसे घट में ही ज्ञातता होती है, पट में नहीं, इसमें अनुगत प्रयोजक का निर्वचन संभव नहीं है । यदि कोई अनुगत प्रयोजक हो भी, तो उसीको विषयत्व मान लीजिये, उससे पृथक् ज्ञातता मानना व्यर्थ है ।

द्वितीय पक्ष में व्यवहार को हस्त आदि से आनयनादि रूप मानें, तो वह सर्वत्र गुणादि या व्यापक आत्मादि में नहीं है, उसमें विषयत्व के लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । किञ्च—मणि-आनयनरूप व्यवहार उसकी प्रभा में भी है और केवल मणिविषयक ज्ञान की विषय प्रभा है नहीं, अतः प्रभा में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । व्यवहार से यदि इच्छा का ग्रहण करें, तो उसका आधार आत्मा है, घटादि नहीं । अतः घटादि में अव्याप्ति हो जायगी । यदि ज्ञानजन्य जो इच्छा, तद्विषयत्व को व्यवहार कहें, तो विषयत्व-लक्षण विषयत्व से घटित होने से आत्माश्रय हो जायगा । किञ्च—इच्छाविषयत्व भी ज्ञान-विषयत्व की अपेक्षा करता है । अतः जबतक ज्ञानविषयत्व का ज्ञान न हो, तबतक इच्छा-विषयत्व का ज्ञान भी असंभव है ।

किञ्च—जो उपेक्षा (औदासीन्य) को व्यवहार नहीं मानते, उनके मत में 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' इस ज्ञान के विषय तृणस्पर्श में लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । यदि हान-उपादानरूप ज्ञान-फल के आधारत्व को ही विषयत्व कहें, तो हान-उपादान के ज्ञान का हान-उपादन विषय नहीं हो सकेगा । कारण जैसे घटादिज्ञान से ज्ञान-उपादान विषय नहीं हो सकेगा । कारण जैसे घटादिज्ञान से हान उपादान होता है, वैसे ही हान-उपादानज्ञान से हान-उपादान नहीं होता । यदि हानादि-ज्ञान से हानादिव्यवहार मान लें, तो उस हानादि-व्यवहार से भी हानादि-व्यवहार मानने में अनवस्था हो जायगी । किञ्च—हानादि-ज्ञान से हानादि-व्यवहार का असम्भव भी है ।

एतेन तत्सम्बन्धत्वं यदुच्यते यत्प्रतिबद्धव्यवहारानुकूलस्वभावं यद्विज्ञानं तत्तस्य विषयः, तद्वत्त्वं विषयित्वमिति । तदपि प्रागुक्तयुक्तिं नातिवर्तते ।

'अथोच्यते य एवार्थो यस्यां संविदि भासते ।
तद्वेद्यः स पृथक् नेति वेद्यावेद्यस्य लक्षणम् ॥'[1]—इति ।

तदपि न विद्मः ; यस्यां संविदीति किं संविदधिकरणम् , अथ तद्विषयः, अथ सम्बन्धिमात्रम् ?

नाद्यः ; घटादेस्तदधिकरणत्वानुपगमेन अव्यापनात्, यथा तथा निर्वचने ज्ञानत्वाद्यतिव्याप्तेश्च ।

द्वितीयश्च अद्याप्यनिरूपितः कथं निरूपकः स्यात्, वैपरीत्यापाताच्च । तृतीयश्चातिव्यापकः ; कारणादेरपि तत्सम्बन्धित्वात् ज्ञानान्तरेणावभासमानत्वात् ।

समर्थन—'जो ज्ञान जिस वस्तु से प्रतिबद्ध (सम्बद्ध) हो तथा व्यवहार के अनुकूल स्वभाववाला हो, वह वस्तु उस ज्ञान की विषय है और उस व्यवहार का जनकत्व ही ज्ञान में विषयित्व है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खंडन*—व्यवहार से आनयनादि का ग्रहण करने पर पूर्वोक्त दोष हो जायगा ।

समर्थन—'जो (अर्थ) जिस ज्ञान में भासता हो, वह उस ज्ञान का विषय है, जो पृथक् याने उस ज्ञान में अनवभासमान हो, वह उस ज्ञान का विषय नहीं है, यह विषय-अविषय का लक्षण है' ।

खण्डन—'यस्यां संविदि' यहाँ क्या सप्तमी का अर्थ अधिकरण है, विषय है या सम्बन्धित्वमात्र ?

प्रथम पक्ष में संविद् घट का अधिकरण नहीं है, अतः घट में विषय लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी । किसी प्रकार निर्वचन करें [अर्थात् 'शुक्लो घटः' की तरह 'घटोऽविदितः' इस प्रकार सामानाधिकरण्येन प्रतीति होने से घटादि में ज्ञाननिष्ठत्व का औपचारिक प्रयोग हो सकता है, याने स्वाधीन-व्याकृतिमत्त्व-सम्बन्धेन उसे ज्ञाननिष्ठ मानें], तो भी ज्ञानत्व-गुणत्व में अतिव्याप्ति हो जायगी । कारण ज्ञानत्व और गुणत्व का अधिकरण घटज्ञान ही है ।

अद्यावधि विषयत्व की निरुक्ति न होने (आत्माश्रय होने) से 'विषयत्व सप्तम्यर्थ है' यह द्वितीय पक्ष भी अयुक्त ही है । किञ्च—विषय-विषयिभाव के अव्यवस्थित होने

१. यह शालिकनाथ का विषय-लक्षण है । प्राभाकर-कारिका' में यह सिद्धान्तरूप में बताया गया है, जिसे यहाँ पूर्वपक्ष रूप में उद्धृत किया गया है । इसके अनुसार 'भासमानत्वम्' विषय का और 'अभासमानत्वम्' अविषय का लक्षण सिद्ध होता है ।

तयैव संविदा भासमानत्वमिति चेन्न । भासमानत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, तन्निरूप्यत्वात्तद्गत्त्वस्य ।

यस्यां संविदि प्रकाशमानायां यः प्रकाशत एवेति चेन्न । प्रकाशमानताया एव निरूप्यमाणत्वात् ।

सामान्यतो विषयत्वे सिद्धे विशेषतो विषयत्वाभिधानमिति चेन्न । सर्वथा विशेषानुपपत्तिद्वारा सामान्यानुपपत्तौ तद्विषयप्रमात्वस्यापि सन्दिग्धत्वात् ।

ज्ञानाकारार्पणक्षमो हेतुरेव विषय इति चेन्न । आकार एव केनार्पित इति

से संविद् ही विषय और घटादि ही विषयी क्यों न कहे जायँ ? तृतीय पक्ष में संविद् के कारण चक्षु आदि भी संविद् के सम्बन्धी हैं तथा वे अन्य ज्ञान से प्रकाशित भी होते हैं; अतः उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'जो जिस संविद् के सम्बन्धी हों तथा उसी संविद् से भासमान हों, वे उस संविद् के विषय हैं' ऐसा कहेंगे । ज्ञान के कारण चक्षुरादि ज्ञानसंबंधी और भासमान होने पर भी उसी ज्ञान से भासमान नहीं होते, अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—भासमानत्व विषयत्व का लक्षण है ही । यदि उसमें भी भासमानत्व का प्रवेश करें, तो आत्माश्रय हो जायगा ।

समर्थन—'जिस[1] संविद् के प्रकाशित होने पर जो वस्तु प्रकाशित हो, वह उस संविद् की विषय है', ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—प्रकाशविषयता ही प्रकाशमानता है । एवञ्च विषयत्व का अद्यापि निरूपण न होने से प्रकाशमानता ही असिद्ध है, अर्थात् आत्माश्रय है ।

समर्थन—सामान्यरूप से विषयत्व तो सिद्ध ही है । यह लक्षण विशेषरूप से विषयत्व के ज्ञान के लिए है, अतः आत्माश्रय नहीं होगा । *खंडन*—सामान्य निर्विशेष नहीं होता । एवञ्च एक भी विशेष का ज्ञान न होने से सामान्य के सत्त्व में संदेह होगा, जिससे सामान्यविषयक ज्ञान का प्रमात्व भी सन्दिग्ध ही है ।

समर्थन—'ज्ञान[2] में घटाद्याकारों का जो अर्पण है, उसका हेतु विषय है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—ज्ञान में आकार किसके द्वारा अर्पित होता है, इसका ज्ञान ही अशक्य

१. 'विषयनिरूप्यं हि ज्ञानम्, अतो ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयः' इस नियम के अनुसार कहा गया है ।

२. यह बाह्यार्थवादी बौद्ध का लक्षण है ।

विनिगन्तुमशक्यत्वात् । न ह्याकारस्ततो ज्ञानस्वरूपादन्यः, तत्र च तथोत्पन्नानि कारणानि प्रत्येकमेव समर्थानीति कथं तेषु विशेषं विनिगमयिष्यसि ।

यद्यपि सकलसमर्थहेत्वनुविधानमस्ति, तथापि स्फुटं तावद्घटस्यानुविधानमिति तदेव तदाकारप्रयोजकमिष्यत इति चेन्न । समस्तकारणान्तरानुविधानवद्घटानुविधानस्य प्रामाणिकत्वाविशेषेण किं स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्यां स्यात् । स्फुटानुविधानमादायैव विषयनिरुक्तिं कुर्म इति चेन्न । सर्वहेत्वनुविधानस्य न्यायतः स्फुटत्वात् ।

दृश्यमानमनुविधानं यस्येति चेन्न । दत्तोत्तरत्वात् । दृश्यमानतैव च विषयताऽनिर्वचनान्न शक्योपदर्शना ।

ज्ञानकर्मत्वमित्यपि न; ज्ञानेन कर्मणः सम्बन्धस्य निर्वक्तव्यत्वात् । तन्निरुक्तिभङ्गश्च ईश्वराभिसन्धौ ज्ञाततावादे द्रष्टव्यः ।

है, अर्थात् उसमें कोई विनिगमक नहीं है ; कारण आकार विज्ञान से भिन्न नहीं है, किन्तु विज्ञानरूप ही है । अतः मिलित कारण ही ज्ञान के आकार के हेतु हैं । फिर उन हेतुओं में अमुक आकार का हेतु है, इस विशेष का निश्चय कैसे करेंगे ?

समर्थन—यद्यपि ज्ञान के आकार में सभी हेतुओं का अन्वय है, तथापि घट का अन्वय स्फुट है । अतः घट ही आकार का प्रयोजक है । एवञ्च 'स्फुटानुविधानत्वे सति आकारसमर्पको हेतुः' ऐसा लक्षण कर ही सकते हैं । *खण्डन*—यदि सम्पूर्ण कारणों का आकार में अन्वय प्रमाण से सिद्ध है, तो 'अमुक कारण का अन्वय स्फुट है और अमुक का नहीं है' इस कथन से क्या लाभ है ? यदि कहें कि 'स्फुट अभिधान' इस कथन का यही प्रयोजन है कि स्फुट लक्षण होता है, तो सभी कारणों का अन्वय एक-सा है; अतः युक्ति से सभीका अन्वय स्फुट ही है ।

समर्थन—'जिसका अन्वय ज्ञान के आकार में प्रत्यक्ष है, वह विषय है' ऐसा कहेंगे । *खण्डन*—जब सभी कारण हैं, तो सबका अन्वय प्रत्यक्ष ही है । किञ्च—प्रत्यक्षता भी विषयता ही है, अतः आत्माश्रय हो जायगा ।

समर्थन—'ज्ञान का कर्म विषय है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खंडन*—ज्ञान के साथ कर्म का क्या सम्बन्ध है, यह कहना होगा । किन्तु उसका निर्वचन नहीं कर सकते, यह बात 'ईश्वराभिसन्धि' नामक ग्रन्थ के ज्ञाततावाद में स्पष्ट है, वहीं देख लेना चाहिए । [अर्थात् ज्ञान और कर्म का सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता,

विना सम्बन्धान्तरं यद्विशेषणं ज्ञानं स विषयः। तेन विना सम्बन्धान्तरं ज्ञानविशेष्यं विषयः। विशेष्यं चेदं यद्विशिष्टनामकं तत्त्वान्तरं यद्गतं धर्मं गृह्णातीति। अत्रोच्यते; यद्गतं धर्मं गृह्णातीत्येतावन्मात्रमेव विवक्षितं गृह्णातीत्येवेति वा ?

आद्ये दण्डस्यापि विशेष्यत्वापातः, तद्गतस्यापि सत्त्वादेर्धर्मस्य ग्रहणात्। नापरः; भवति हि व्यभिचारिणो धूमस्याविच्छिन्नमूलकत्वादि विशेषणं तद्विशिष्टं च तत्त्वान्तरम्। न च विशेष्यस्य धर्मं व्यभिचारितां गृह्णाति।

अथोर्ध्वाविरतगतिविशिष्टस्याविच्छिन्नमूलता विशेषणम्। न च तथाभूतस्य व्यभिचारिता धर्म इत्युच्यते। मैवम्; प्रथमविशिष्टः किं व्यभिचारी न वा ?

क्योंकि ज्ञान द्रव्य नहीं है। समवाय भी नहीं, ज्ञान आत्मा का गुण होने से वह समवायेन घट में नहीं रह सकता। परस्पर विरुद्ध होने से दोनों के तादात्म्य सम्बन्धकी बात तो दूर ही रही। फलतः दोनों का सम्बन्ध क्रिया-कर्मभाव ही कहना होगा। किन्तु वह भी नहीं हो सकता। परसमवेत-क्रियाफलशालित्वरूप कर्मत्व का स्वप्रकाशवाद में खण्डन किया गया है। फिर, फलत्व भी क्या है ? ज्ञातता या व्यवहार तो नहीं कह सकते, क्योंकि अभी-अभी उनका खण्डन कर ही चुके हैं। यदि विषयत्व कर्मत्व कहें, तो आत्माश्रय हो जायगा, इत्यादि दूषण इस लक्षण में जानने चाहिए।]

समर्थन—'अन्य सम्बन्ध के बिना ज्ञान जिसका विशेषण हो। वह विषय है।' फलित यह हुआ कि अन्य सम्बन्ध के बिना ज्ञान का जो विशेष्य हो, वह विषय है। विशिष्ट नामक पदार्थान्तर जिसके धर्म का ग्रहण करे, वह विशेष्य है। 'ज्ञातो घटः' यहाँ ज्ञान बिना किसी अन्य सम्बन्ध के घट में विशेषण है, अतः घट विशेष्य है। *खण्डन*—जिसके धर्म का ग्रहण करे इसका क्या अर्थ है—जिसके यत्किंचित् धर्म का ग्रहण करे, यह अर्थ है ? या जिसके सम्पूर्ण धर्मों का ग्रहण करे यह अर्थ है ?

प्रथम पक्ष मानें तो 'दण्डी पुरुषः' यहाँ दण्ड भी विशेष्य हो जायगा; कारण विशिष्ट दण्ड में स्थित सत्त्वादि धर्म का ग्रहण करता ही है। द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, कारण वह्नि के व्यभिचारी धूम से अविच्छिन्नमूलत्वविशिष्ट धूम अन्य है और वह धूम के धर्म व्यभिचारित्व का ग्रहण नहीं करता। अतः धूम में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—अविच्छिन्नमूलत्व ऊर्ध्वाविरतगतिविशिष्ट धूम का ही विशेषण है एवञ्च उक्त विशेषणविशिष्ट धूम का व्यभिचारित्व धर्म नहीं है, अतः धूम में अव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—ऊर्ध्वाविरतगतिविशिष्टरूप विशेषणसे विशिष्ट धूम व्यभिचारी है या नहीं ?

आद्ये स एव दोषः; द्वितीये विशेषणान्तरान्तर्भाववैयर्थ्यम्, प्रथमविशिष्ट एव च तद्दोषावसरः ।

अथ यद्धर्मविशिष्टस्य तद्विशेषणं तद्धर्मं गृह्णाति, न सर्वम् । न च व्यभिचारिताविशिष्टस्य तानि विशेषणानीति चेन्न । तत्किं धूममात्रं न व्यभिचारि ? ततश्च व्यभिचारिताविशिष्टस्यैव तस्य तानि तथा । भवतु व्यभिचारिता तद्विशेषणम्, परं सा न विशेष्यकोटिरिति चेन्न । अद्यापि विशेष्याज्ञानात् ।

किञ्च—तद्विशेषणमिति तत्सम्बन्धिमात्रं वा विशेषणतया वा सम्बन्धि ? आद्येऽतिप्रसङ्गः । द्वितीये तु तथैवान्योन्याश्रयादि ।

आद्य पक्ष में ऊर्ध्वाविरतगतिविशिष्ट धूम के व्यभिचारित्व रूप धर्म को अविच्छिन्नमूलत्व-विशिष्ट ग्रहण नहीं करता । अतः अव्याप्ति तदवस्थ ही है । द्वितीय पक्ष में विशेषण व्यर्थ है । यदि उक्त विशेषण नहीं दें, तो ऊर्ध्वाविरतगतिविशिष्ट धूम व्यभिचारितारूप धर्म का ग्रहण नहीं करता, अतः धूम में अव्याप्ति पूर्ववत् स्थित है ।

समर्थन—'जिस धर्म से विशिष्ट विशेष्य का विशेषण हो, तद्धर्मरूप जिसके धर्म का विशिष्ट ग्रहण करे, सब धर्मों का नहीं, वह विशेष्य है' । व्यभिचारिताविशिष्ट धूम का अविच्छिन्नमूलत्व विशेषण नहीं है, अतः वहाँ अव्याप्ति नहीं है । *खंडन*—तब क्या धूममात्र व्यभिचारी नहीं है ? यदि है, तो व्यभिचारिताविशिष्ट ही अविच्छिन्न-मूलत्व धूम में विशेषण है, अतः पूर्ववत् अव्याप्ति है ।

समर्थन—'जो धर्म विशेष्यता का अवच्छेदक हो, तद्धर्मरूप जिसके तद्धर्म का विशिष्ट नामक तत्त्वान्तर ग्रहण करे, वह विशेष्य है ।' *खंडन*—विशेष्य का ही यह लक्षण है, अतः अभीतक उसका ज्ञान न होने से आत्माश्रय हो जायगा ।

किंच—'तद्विशेषण' शब्द का क्या अर्थ है, 'जिसका सम्बन्धी हो' यह अर्थ है या 'जिसका विशेषणतारूप से सम्बन्धी हो' यह अर्थ है ? प्रथम पक्ष में उपलक्षण (उपरञ्जक) के भी सम्बन्धी होने से वह भी विशेषण हो जायगा । द्वितीय पक्ष में विषयत्व की निरुक्ति में विशेषणत्व का और विशेषणत्व की निरुक्ति में विषयत्व का प्रवेश होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा । कारण ज्ञान की प्रकारतारूप विषयता ही विशेषणता है ।

किञ्च विशेष्यत्वलक्षणो यस्तद्गतो धर्मस्तं गृह्णाति न वा ? आद्येऽतिव्याप्तिः, द्वितीये गृह्णात्येवेति नियमोऽसिद्धः ।

किञ्च—'मत्समवायो ज्ञानस्ये'त्यत्र भवति मत्समवायस्य ज्ञानं विशेषणं सम्बन्धान्तरमन्तरेणैव, न च विषयः ।

न च गुणगुण्यादिविशेष्यभावे यः सम्बन्धान्तरमन्तरेणेत्युक्त्या व्यवच्छेद्यतां नीतः, स एवायं समवाय इति कथं न व्यवच्छेद्यतां प्रतिपत्स्यते ? यतोऽत्र तस्यैव विशेषणविशेष्यभावत्वादन्तरत्वासिद्धिरिति ।

तस्मात् सम्बन्धमन्तरेण ज्ञानं विशेषणं यस्येत्युक्तम्, तत्र ज्ञानं सम्बन्धमनपेक्ष्य स्वभावत एव यथाऽर्थस्य विशेषणं तथा समवायस्यापीति न कश्चिद्विशेष इति साधूक्तं 'मत्समवायो ज्ञानस्ये'त्यत्र ज्ञानविषयता समवायस्य स्यादिति । ज्ञानाभावे च प्रसङ्गात् ।

किंच—विशिष्ट विशेष्य धूमगत विशेष्यत्वरूप धर्म का ग्रहण करता है या नहीं ? यदि ग्रहण करता है, तो अविशेष्य में भी विशिष्ट में विशेष्यत्व हो जायगा । यदि ग्रहण नहीं करता, तो सब धर्मों का ग्रहण न होने से धूम में भी असम्भव हो जायगा ।

किंच—'मत्समवायो ज्ञानस्य' यहाँ समवाय में ज्ञान अन्य सम्बन्ध के बिना ही विशेषण होता है, पर वह (समवाय) ज्ञान का विषय नहीं है ।

समर्थन—समवायसम्बन्ध से ज्ञान आत्मा का विशेषण है, अतः ज्ञान को विषयत्व न हो, इसलिए सम्बन्धान्तर पद समवाय के व्यवच्छेद के लिए है । फिर उससे 'मत्समवायो ज्ञानस्य' यहाँ भी समवाय का व्यवच्छेद क्यों न हो ? *खण्डन*—सम्बन्धान्तर पद का अर्थ अन्य सम्बन्ध है । यहाँ अन्य से विशेष्यविशेषणभाव से अन्य का ग्रहण करते हैं और समवाय विशेष्य से अन्य नहीं है । अतः अन्य शब्द से समवाय का व्यवच्छेद नहीं होगा ।

तस्मात् 'ज्ञान अन्य सम्बन्ध के बिना जिसका विशेषण हो, वह विषय है' इस लक्षण का जैसे ज्ञान सम्बन्ध के बिना ही स्वरूप सम्बन्ध से अर्थ का विशेषण है, वैसे ही 'मत्समवायो ज्ञानस्य' यहाँ समवाय का भी विशेषण होगा । दोनों स्थलों में कोई विशेष नहीं है । अतः उक्त स्थल में समवाय के विषय होने से अतिव्याप्ति हो जायगी, यह ठीक ही कहा है । इतना ही नहीं, इस लक्षण की अतिव्याप्ति भी है । अर्थात् 'ज्ञानाभावोऽस्ति' यहाँ अभाव में ज्ञान स्वरूप से ही विशेषण होता है, अतः अभाव भी विषय हो जायगा ।

न च तत्र स एव समवायः सम्बन्धः ; अत्रापि विशेषणविशेष्यभावस्यैव सम्बन्धत्वात् । नासौ सम्बन्धिनोऽन्यः, तादृशश्च व्यवच्छेद्य इति चेन्न । समवायेऽपि तुल्यत्वात् ।

संयोगसमवायौ व्यवच्छिद्येते इति चेन्न । ज्ञानाभावे तथापि प्रसङ्गात् ।

न तत्र ज्ञानं विशेषणम् , किन्तु उपलक्षणमिति चेन्न । अतीतानागतयोरविषयत्वापत्तेः ।

समर्थन—'मत्समवायो ज्ञानस्य' यहाँ स्वरूप सम्बन्ध से ही समवाय में ज्ञान विशेषण है और वह स्वरूप समवायरूप ही है । एवञ्च सम्बन्धान्तर (समवाय) से ही विशेषण है, उसके बिना नहीं; अतः अतिव्याप्ति नहीं है । *खण्डन*—यदि ऐसा मानें, तो सर्वत्र असम्भव हो जायगा; कारण 'ज्ञातो घटः' इत्यादि स्थल में भी विशेषण-विशेष्यभावरूप सम्बन्धान्तर से ही ज्ञान घट में विशेषण होता है ।

समर्थन—सम्बन्धान्तर पद से सम्बन्धी से अन्य सम्बन्ध का ग्रहण होता है । विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धी से अन्य नहीं है, अतः सर्वत्र असम्भव नहीं होगा । *खण्डन*—'मत्समवायो ज्ञानस्य' यहाँ भी समवाय सम्बन्धी ही है और वही उक्त स्थल में स्वरूप है । अतः सम्बन्धान्तर के बिना ही ज्ञान के समवाय में विशेषण होने से अतिव्याप्ति युक्त ही है ।

समर्थन—सम्बन्धान्तर पद से संयोग और समवाय का व्यवच्छेद विवक्षित है । 'मत्समवायो ज्ञानस्य' यहाँ स्वरूप समवायरूप है, अतः उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं है । *खण्डन*—ऐसा मानने पर भी 'ज्ञानाभावः' यहाँ भी ज्ञान का विषय अभाव हो जायगा, कारण यहाँ सम्बन्धान्तर (समवाय) के बिना ही ज्ञान अभाव का विशेषण होता है ।

समर्थन—ज्ञान अभाव में विशेषण नहीं, किन्तु उपलक्षण है । अतः विशेषण-घटित उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—अतीतविषयक, ('अभूद्वृष्टिः') और अनागतविषयक ('भविष्यति वृष्टिः') ज्ञानस्थल में वृष्टि ज्ञान की विषय न कहलायेगी, कारण वर्तमान वस्तुओं में ही विशेषण-विशेष्यभाव होता है । अतीत विषय वर्तमान ज्ञान का विशेष्य नहीं हो सकता ।

भावे चिन्तेयमिति चेन्न। अभावस्याविषयत्वापातात्। ज्ञानादन्यत् ज्ञानीयश्च यत्कारणादि तत्रापि प्रसङ्गादिति किं विस्तरेण।

न च ज्ञानाकारतायां गोचरस्य नास्त्येव ज्ञानगोचरयोर्भेदः; प्रतीतिविरोधात्। भेदमनिच्छता च स प्रतिषेद्धुमप्यनर्ह इति।

भेदलक्षण-खण्डनम्

[1]वक्तव्यस्तर्हि कोऽसौ भेदो नाम? स हि स्वरूपं वा स्यात्, इतरेतराभावो

यदि 'बिना सम्बन्धान्तर के ज्ञान का भावरूप जो विशेष्य है, वह विषय है' ऐसा लक्षण करें, तो 'घटो नास्ति' इस ज्ञान का अभाव विषय नहीं कहलायेगा। किंच—ज्ञान से भिन्न जो ज्ञान के सम्बन्धी कारणादि हैं, उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण 'ज्ञानस्य कारणम्' इत्यादि स्थल में भी सम्बन्धान्तर के बिना ही कारणादि ज्ञान के विशेष्य होते हैं। विज्ञों के लिए विषयविषयिभाव का खण्डन इतना ही बहुत है, विस्तार व्यर्थ है।

समर्थन—विषय ज्ञान का स्वरूप ही है, अतः ज्ञान और विषय में परस्पर भेद नहीं है। एवञ्च ज्ञानाभिन्नत्व ही ज्ञान-विषयत्व है। *खण्डन*—ज्ञान और विषय में अभेद अनुभव से विरुद्ध है, भेद ही अनुभव से सिद्ध है। किंच—यदि भेद न हो, तो 'ज्ञानगोचरयोर्नास्ति भेदः' इस प्रकार भेद का खण्डन भी नहीं हो सकेगा, कारण जो एकदेश या एक काल में रहता है, उसीका निषेध अन्य देश या अन्य काल में होता है। सर्वथा असत् शशशृङ्ग का निषेध नहीं होता।

भेद-लक्षण का खण्डन

किंच—भेद क्या वस्तु है, यह भी कहिये! क्या स्वरूप ही भेद है या अन्योन्याभाव या वैधर्म्य? इनमें यदि प्रथम पक्ष मानें, तो अभेद भ्रम ही नहीं होगा। कारण

१. ऊपर 'भेदमनिच्छता' इत्यादि ग्रन्थ से नैयायिक मत का अनुसरणकर बौद्ध का खण्डन किया गया है कि यदि भेद प्रमित ही नहीं, तो उसका खण्डन कैसा? इसपर बौद्ध कहेगा कि किसीकी प्रतिषेध्यता में प्रमितत्व (सत्यत्व) ही प्रयोजक नहीं, प्रतीतत्व मात्र से भी प्रतिषेध हो सकता है। यदि प्रतीतत्व मानें, तो फिर कहिये, वह भेद ही क्या है? अतः खण्डनकार का यह भेद-खण्डन का पूर्वपक्ष सौगत मत के माध्यम से ही समझना चाहिए। इसी तरह यद्यपि प्रत्यक्ष-बाधोद्धार प्रकरण में एकबार भेद का निरास हो ही चुका है फिर भी 'आत्मतत्त्व-विवेक' में विशेष रूप से भेद का जो मण्डन किया गया है, उसका खण्डन करने के लिए यह ग्रन्थ है, यह भाव है।

वा, धर्मान्तरं वा ? नाद्यः; भिन्नेऽभिन्नभ्रमानुपपत्तिप्रसङ्गात्। भ्रान्त्याऽपि धर्मिस्वरूपावगाहनात्। अन्यथा कस्याभेदं सा भ्रान्तिरुल्लिखेत्।

ननु निःसम्बन्धित्वेन व्यवस्थितेषु तरुदारुप्रभृतिषु नानाधारोऽवयव्यन्य एवाऽऽरोप्यते, येषु त्वारोप्यते ते भेदेनैव भान्ति। किन्तु अनारब्धावयविषु तेष्वारब्धावयवितया विभ्रम्यते। मैवम्; तेषामनुदाहरणीयत्वात्। अतस्मिन् 'स एवायमि'ति प्रत्यभिज्ञाभासार्थानां दृष्टान्तत्वेनेष्टत्वात्।

तत्रापि धर्मान्तरारोपाभ्युपगमे तादात्म्याभावस्य संसर्गाभावप्रवेशापत्तेः। न चैवमप्येष्टव्यमेव, तथापि स्वरूपभेदग्रहे तत्राभेदस्य धर्मस्याप्यशक्यारोपत्वात्।

स्वरूप ही भेद होने से भेदग्रह उस अभेदभ्रम का विरोधी है; भ्रम भी धर्मी के स्वरूप को विषय करता ही है। यदि भ्रम धर्मी के स्वरूप को विषय न करे, तो किसमें अभेद को विषय करेगा ?

समर्थन—परस्पर-सम्बन्ध-रहित (उदासीन रूप से) विद्यमान दूरस्थ अनेक तरु-दारु प्रभृति में एक अवयववाले का अभेद-भ्रम नहीं होता, किन्तु नाना अवयववाले अन्य अवयवी का ही आरोप होता है। जहाँ वह आरोपित होता है, वे भेदरूप में ही भासते हैं। किन्तु अनारब्ध अवयवियों में आरब्धावयवित्व का आरोप होता है। एवञ्च वह भेदग्रह का विरोधी नहीं है। *खंडन*—जहाँ दूरत्व दोष से अनेक वृक्षों में एकवृक्षत्व का भ्रम होता है, उस स्थल में हमने दोष नहीं दिया है। किन्तु जहाँ भिन्न में 'स एवायम्' ऐसा प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम होता है, उस उदाहरण में दोष दिया है।

समर्थन—प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम में भी तादात्म्यरूप धर्म का ही भ्रम होता है, धर्मी के अभेद का नहीं। *खण्डन*—यदि ऐसा मानें, तो अन्योन्याभाव का संसर्गाभाव में अन्तर्भाव हो जायगा। कारण 'नायं चैत्रः' इस विशेष-दर्शन को यदि भेदविषयक मानें, तो इससे धर्मारोप की निवृत्ति नहीं होगी। अतः धर्मारोपवादी उक्त विशेष-दर्शन को निश्चय ही संसर्गाभावविषयक मानेंगे। किन्तु आप अन्योन्याभाव का अस्वीकार नहीं कर सकते, कारण उसीके निरूपण में प्रवृत्त हैं।

किञ्च—स्वरूप-भेद का ग्रह होने पर तादात्म्यरूप धर्म का भी आरोप नहीं हो सकता। कारण तादात्म्य भी अभेदरूप ही है और भेदग्रह होने पर अभेद-भ्रम नहीं हो सकता।

नापि द्वितीयः ; प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् ।

प्रतियोगिरूपत्वेन अप्रतीतावधिकरणप्रतीतिः, अधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्च तद्ग्रहणकारणम् । अतः क्वेतरेतराश्रय इति चेत् । मैवम् ; एवं हि सति 'कुम्भः पटो न भवती'त्यत्र यथैव तस्याभावस्य प्रतियोगितया पटो निषिद्ध्यते तथा कुम्भोऽपीति सोऽपि कुम्भात्मतया निषिद्धः प्रसज्येत ।

वस्तुतोऽन्योन्याभावस्य कुम्भप्रतियोगित्वेऽपि कुम्भस्यापटत्वनिरूपणकाले कुम्भस्य प्रतियोगिता नापेक्ष्यते, किन्त्वाश्रयतैवेति कुम्भाप्रतिक्षेपः । पटस्य तु प्रतियोगितैवापेक्ष्यते, न त्वाश्रयतेति कुम्भवत् पटस्यापि न सङ्ग्रहापत्तिः ।

यद्यप्यन्योन्याभावस्य उभयप्रतियोगिता ; तथाप्यन्या कुम्भाश्रयता, अन्या च पटाश्रयता, अन्या कुम्भप्रतियोगिता, अन्या च पटप्रतियोगिता । तेनान्यो-

इतरेतराभाव या अन्योन्याभाव भेद है, यह द्वितीय पक्ष मानें तो अन्योन्याश्रय हो जायगा । कारण प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी का ज्ञान अन्योन्याभाव के ज्ञान में कारण है और अभावरूपत्व ही प्रतियोगित्व है । अतः जबतक अभाव-ज्ञान न हो, तबतक अभावाभावस्वरूप प्रतियोगित्व का ज्ञान नहीं होगा ।

समर्थन—प्रतियोगित्वरूप से अप्रतीति के काल में अधिकरण की प्रतीति तथा अधिकरणत्वरूप से अस्मृति के काल में प्रतियोगी की स्मृति अन्योन्याभाव के ग्रह में कारण है, अतः अन्योन्याश्रय नहीं है । *खण्डन*—ऐसा मानने पर 'कुम्भः पटो न भवति' यहाँ जैसे उस अभाव के प्रतियोगित्वरूप से पट निषिद्ध होता है, वैसे ही कुम्भ भी निषिद्ध होता है । अतः उस काल में कुम्भत्वरूप से कुम्भ का निषेध हो जायगा ।

वस्तुतः अन्योन्याभाव कुम्भप्रतियोगिक होने पर भी कुम्भ में पट के निषेध-काल में कुम्भ की प्रतियोगिता अपेक्षित नहीं, किन्तु आश्रयता ही अपेक्षित है । अतः उस काल में कुम्भ का निषेध नहीं होता । इसी तरह पट की प्रतियोगिता ही अपेक्षित है, आश्रयता नहीं । अतः कुम्भ के तुल्य पट का अधिकरणरूप से संग्रह नहीं होता ।

समर्थन—यद्यपि अन्योन्याभाव के दोनों प्रतियोगी और दोनों अधिकरण हैं, तथापि कुम्भनिष्ठ आश्रयता अन्य है और पटनिष्ठ आश्रयता अन्य । वैसे ही कुम्भनिष्ठ प्रति-योगिता अन्य है और पटनिष्ठ प्रतियोगिता अन्य । अतः अन्योन्याभाव के उभय-प्रतियोगिक और उभयाश्रित होने पर भी सर्वत्र दोनों का निषेध या संग्रह नहीं होता ।

न्याभावस्योभयप्रतियोगिकत्वे चोभयाश्रितत्वे च नोभयोरपि सङ्ग्रहप्रतिक्षेप-विरोधापत्तिः ।

नापि च प्रतियोगित्वस्यानुयोगिनो भेदोपजीवनेऽन्योन्याश्रयः, अनुपजीवने च स्वस्मादपि भेदग्रहापत्तिः प्रसज्येत । यतः स्मर्यमाणस्य प्रतियोगिता, अनुभूय-मानस्य चाऽऽश्रयतेत्येतावन्मात्र एवोक्ते स्वस्मादपि भेदग्रहानापत्तिः ।

न चैवं 'स एवायमि'त्यत्रापि भेदग्रहप्रसङ्गः; वास्तवतत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात् ।

मैवम्; तथाहि—किमधिकरणप्रतीतिरधिकरणतया प्रतीतिः, उत वस्तुगत्या अधिकरणस्य स्वरूपेण विवक्षिता ? आद्ये किमीयाऽधिकरणतया घटादेः प्रतीति-स्तस्य कारणं स्यात् । न तावदन्योन्याभावाधिकरणतया; दण्डाद्यप्रतीतौ दण्डा-धिकरणताया इव तदप्रतीतौ तदधिकरणतायाः प्रत्येतुं पूर्वमशक्यत्वात्, विशिष्ट-

किन्तु जिस काल में जिसमें प्रतियोगित्व की विविक्षा होती है, उसका निषेध और अन्य का संग्रह होता है ।

यदि अनुयोगिनिष्ठ भेद प्रतियोगित्वज्ञान की अपेक्षा करता है, तो प्रतियोगित्व के अभावाभावरूप होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा। 'यदि अपेक्षा नहीं करता, तो स्व से स्व में भेदग्रह हो जायगा' यह शङ्का भी युक्त नहीं है । कारण स्मृति का विषय प्रतियोगी होता है और अनुभव का विषय अधिकरण, इतना ही कहने पर स्व में स्व के भेदग्रह की आपत्ति नहीं होगी ।

समर्थन—'स एवायम्' यहाँ इदमंश गृह्यमाणधर्मिक और तदंश स्मर्यमाणप्रतियोगिक होने से 'भेदग्रह क्यों न हो' यह शङ्का भी युक्त नहीं । कारण प्रतियोगी के स्मृत होने पर भी वास्तव भेद न होने से भेदप्रतीति नहीं होती । अर्थात् भेदसत्तासहित प्रतियोगि-स्मरणादि ही भेदग्रह के कारण हैं । यहाँ वैसा न होने से भेदप्रतीति नहीं होती ।

खण्डन—अधिकरण-प्रतीति से क्या अधिकरणत्वरूप से अधिकरण की प्रतीति विवक्षित है या वस्तुतः जो अधिकरण है, उसकी स्वरूपतः प्रतीति विवक्षित है ? प्रथम पक्ष मानें, तो कहिये किसकी अधिकरणता से पटादि की प्रतीति भेद-प्रत्यय का कारण है ? अन्योन्याभाव की अधिकरणतारूप से अधिकरणता-प्रतीति तो कारण हो नहीं सकती; क्योंकि दण्ड के अप्रतीतिकाल में दण्डाधिकरणता की तरह अभाव के अप्रतीति-

प्रतीत्या विशेषणस्यावश्योल्लेख्यत्वात्, विशिष्टस्य च विशेषणघटितमूर्तित्वात्। नापि यस्य कस्यचिदधिकरणतया प्रतीतिस्तत्कारणम्, यत्र भिन्नेऽभेद-भ्रमस्तत्र धर्मिणः सत्त्वाद्याधारतया प्रतीतावपि तदनुत्पत्तेः।

न तन्मात्रात्तदुत्पत्तिः; अपितु प्रतियोगिस्मृतिसहितात्। सा च तदा नास्तीति तदनुत्पत्तिरिति चेन्न। प्रतियोगिस्मृतिरपि किं प्रतियोगितया स्मृतिः, उत वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेणेति विकल्प्यत्वात्।

आद्ये किमन्योन्याभावप्रतियोगितया, यस्य कस्यचित् प्रतियोगितया वा? नाद्यः; अन्योन्याभावाप्रतीतौ तदनुपपत्तेः पूर्ववत्। नापि द्वितीयः; तस्य वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमविषयीकृतस्य स्वदेशेतरदेशादावसत्त्वेन प्रतीयमानत्वे स्वाभावप्रतियोगितया प्रतीतावन्योन्याभावप्रतीत्यनुपपत्तेः।

प्रतियोग्यनुभूतिः सा, न स्मृतिरिति चेन्न। स्मृतित्वस्याप्रयोजकत्वात्।

काल में भी अन्योन्याभाव की अधिकरणता की प्रतीति संभव है। विशिष्ट विशेषणघटित होने से उसकी प्रतीति में विशेषण का उल्लेख आवश्यक है। जिस किसीकी अधिकरण-तारूप से अधिकरण-प्रतीति भेदग्रह का कारण नहीं है, क्योंकि जहाँ भिन्न में अभेद-भ्रम होता है, वहाँ भी धर्मी की सत्त्व के आधारत्वरूप से प्रतीति होती है। अतः भेद-प्रत्यय हो जायगा।

समर्थन—केवल अधिकरणत्वरूप से अधिकरण की प्रतीतिमात्र कारण नहीं है, किन्तु प्रतियोगी की स्मृति से युक्त तादृश प्रतीति ही कारण है। भ्रमस्थल में प्रतियोगी की स्मृति न होने से भेदग्रह नहीं होता। *खण्डन*—प्रतियोगी की स्मृति भी जो कारण है, क्या वह प्रतियोगित्वरूप से विवक्षित है या वस्तुतः जो प्रतियोगी हो, उसकी स्वरूप से स्मृति कारण है? प्रतियोगित्वरूप से कहें, तो क्या अन्योन्याभाव के प्रति-योगित्वरूप से प्रतीति कारण है या जिस किसीके प्रतियोगित्वरूप से?

आद्य पक्ष में अन्योन्याभाव की अप्रतीति-काल में अन्योन्याभाव की प्रतियोगितारूप से प्रतीति पूर्वोक्त प्रकार से हो नहीं सकती, फिर वह कारण कैसे हो सकती है? द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; कारण जिस काल में अन्य देश- (आपण) निष्ठ अभाव का प्रतियोगित्व-ग्रह है, उस काल में वस्तुतः भिन्न में जो अभेद-भ्रम होता है, वहाँ भेद-ग्रह हो जायगा।

समर्थन—प्रतियोगी की स्मृति भेद-ग्रह का कारण है। यहाँ तो प्रतियोगी की अनु-

अन्यथा अनुभूयमानयोरन्योन्याभावाप्रतीतिप्रसङ्गात् । अत्रान्तराले स्मृतिकल्पनया 'नान्योन्यात्मानाविमौ' इत्यनुभवबाधितया प्रयोजकत्वेऽपि वा स्मृतित्वस्य 'योऽसौ तत्र नासीत् सोऽयमि'ति स्मर्यमाणाभावप्रतियोगिकत्वेऽपि वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमेणोल्लिख्यमानस्यान्योन्याभावप्रतीत्यनुदयात् ।

दोषाभावोऽपि हेतुः, स भ्रमोदाहरणे नास्तीति चेन्न । पूर्वदृष्टे स्मृतिमतो वस्तुगत्याऽन्यस्यैवानन्तरदृष्टस्य पूर्वदृष्टात् भिन्नमभिन्नं वेति अनिरूपितस्यापि सम्भवेन तत्रेतरेतराभावबुद्ध्यापत्तेः । बुद्ध्यत एवेति चेन्न । पश्चात्तत्संशयदर्शनात् ।

विशेषधीरपि तत्र हेतुरिति चेन्न । विशेषत्वस्यान्योन्याभावनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात् ।

भूति है, स्मृति नहीं, अतः भेद-ग्रह नहीं होगा। *खण्डन*—'इमौ न अन्योन्यात्मानौ' इस स्थल में जहाँ प्रतियोगी का अनुभव है, स्मृति नहीं, वहाँ भी भेद-ग्रह होता है, पर उसमें प्रतियोगी का स्मृतित्व प्रयोजक ही नहीं है। किंच 'इमौ न अन्योन्यात्मानौ' यहां अनुभव से बाधित होने से भेद-ग्रह में प्रतियोगि-स्मृति के प्रयोजकत्व की कल्पना व्यर्थ है। किंच—'योऽसौ तत्र नासीत् सोऽयम्' इस स्थल में जहाँ स्मृतिविषय अभाव प्रतियोगी है, वहां वस्तुतः भिन्न में अभिन्न का भ्रम होता है। यदि प्रतियोगि-स्मृति को प्रयोजक मानें, तो उक्त स्थल में भेद-ग्रह हो जायगा।

समर्थन—भेदज्ञान में दोषाभाव भी हेतु है और वह अभेद-भ्रमस्थल में है नहीं, अतः वहां भेद-ग्रह नहीं होता। *खण्डन*—जहाँ पूर्वदृष्ट की स्मृति हो और अनन्तर उससे वस्तुतः भिन्न का ही प्रत्यक्ष हुआ हो, किन्तु 'वह पूर्वदृष्ट से भिन्न है या अभिन्न है' ऐसा निश्चय न हो, वहाँ दोषाभाव भी होने से भेद-ग्रह हो जायगा। 'वहाँ भेद-ग्रह होता ही है' यह नहीं कह सकते, कारण पीछे संदेह देखा जाता है। यदि भेद का ग्रह होता तो संदेह कैसे होता?

समर्थन—भेद-ग्रह में विशेष का दर्शन भी कारण है। अभेद-भ्रमस्थल में विशेष का दर्शन है नहीं, अतः भेद-ग्रह नहीं होता। *खण्डन*—जबतक भेद का ज्ञान न हो तबतक विशेष का ज्ञान हो नहीं सकता, कारण व्यावृत्ति (इतर से भेद)-ज्ञान के जनक धर्म को ही 'विशेष' कहते हैं। एवञ्च अन्योन्याभाव के निरूपण के बिना विशेष का निरूपण हो नहीं सकता।

एतेन वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेण स्मृतिः सहकारिणीत्येतदपि व्युदस्तम् । वस्तुगत्याऽधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिः सहकारिणीत्यपि, भिन्नस्याभिन्नतया वृक्षादेः प्रतीयमानस्यान्योन्याभाववत्तया ग्रहणप्रसङ्गात् ।

नापि तृतीयः; अभावस्य निर्धर्मकतापक्षे तस्य विश्वाभिन्नत्वप्रसक्तौ विश्वस्याप्यभावरूपत्वेन निर्धर्मकतया धर्मलक्षणान्योन्याभावविरहिण ऐकरूप्यापत्तेः, अभावे धर्माभावात् ।

स्वरूपमेव भेद इति चेत्; योऽसौ भेदस्तस्य स्वात्मा स किं कस्मादपि भेदः, उत निष्प्रतियोगिक एव? न तावन्निष्प्रतियोगिक एव; प्रमाणाभावेनासत्त्वप्रसङ्गात् । योऽसौ भेदव्यवहारोऽस्ति स कस्मादपि, न तु नीलव्यवहारवत् निष्प्रतियोगिकः । स च निष्प्रतियोगिको नोपपद्यते । निष्प्रतियोगिकोऽपि वा

समर्थन—वस्तुरूप से जो प्रतियोगी हो, उसका स्वरूप से स्मरण भेदज्ञान का कारण है तथा वस्तुतः जो अधिकरण हो, उसका स्वरूप से ज्ञान भेद-ग्रह का सहकारी है। अतः अन्योन्याश्रय नहीं है। *खण्डन* - भिन्न-भिन्न वृक्षों में जहाँ अभेद-भ्रम होता है, वहाँ भी भेद-ग्रह हो जायगा; पर होता नहीं। अतः प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी के ज्ञान को कारण मानना चाहिए। प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी के ज्ञान को कारण मानें तो अन्योन्याश्रय हो जायगा।

'भेद वैधर्म्य है' यह तृतीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण जो पण्डित अभाव में धर्म को नहीं मानते, उनके मत में अभाव (संसर्गाभाव अथवा भेद) विश्व से भिन्न नहीं होगा, किन्तु अभिन्न हो जायगा। फिर विश्व भी अभावरूप होने से धर्मरहित होने के कारण धर्मरूप भेद से रहित है, अतः एकरूप हो जायगा।

समर्थन—'वैधर्म्यं भेदः' यह भावस्थल के लिए ही है। अभाव-स्थल में तो स्वरूप को ही भेद कहेंगे, तो उपर्युक्त दोष न होगा। *खंडन*—जो अभाव का स्वरूप ही भेद है, तो वह किसी प्रतियोगी से निरूपित है या निष्प्रतियोगिक याने प्रतियोगी के निरूपण से रहित? प्रतियोगी के निरूपण से रहित भेद हो नहीं सकता। यदि भेद को निष्प्रतियोगिक मानें; तो प्रमाण न होने से उसकी सिद्धि ही नहीं होगी, कारण जो भेद-व्यवहार होता है वह किसी प्रतियोगी से (प्रतियोगी की अपेक्षा) ही होता है। वह नीलपीतादि व्यवहार की तरह प्रतियोगी से रहित नहीं होता। अतः बिना प्रतियोगी के भेद की उपपत्ति नहीं हो सकती।

यद्ययं सप्रतियोगिकव्यवहारं करोति, प्रतियोगिनियमो न स्यादिति स्वस्मादपि भेदव्यवहारं कुर्यात् ।

स्वस्माद्भेदः कथं सम्भवतीति चेत्; तत्किं भिन्नाद्भेदः, नन्वेवमनवस्था स्यात् ।

नापि प्रथमः; वक्तव्यं हि यस्मादसौ भेदः, न तावत् सर्वस्मात्, स्वात्मनोऽपि भेदप्रसङ्गात् । नापि घटादेः; घटादिना सह तस्यावध्यवधिमद्भावो योऽसौ स ह्यर्थान्तरं वा स्यात् स्वरूपमेव वा ?

आद्ये तस्यापि भेदावधित्वेन तत्राप्येवमनुयोगे यद्येतदेवोत्तरम्, अनवस्था स्यात् । अथ तत्र स्वरूपमेव; तर्हि 'प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किन्निबन्धनः' इति प्रथमत एव स्वरूपं वाच्यम् । तदपि न; तथाहि—यदि घटाभिः सार्धमवध्यवधि-

यदि निष्प्रतियोगिक भेद से भी प्रतियोगी का व्यवहार करें, तो प्रतियोगी का नियम ही नहीं रहेगा । एवञ्च स्व से स्व में भेद की प्रतीति होने लगेगी ।

समर्थन—स्व में स्व के भेद का सम्भव कैसे होगा ? अर्थात् धर्मित्व और प्रतियोगित्व भेदैकार्थसमवायी होने से एकत्र रह नहीं सकते, क्योंकि एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरुद्ध हैं । अतः स्व में स्व का भेद नहीं रह सकता । *खण्डन*—तो क्या भिन्न में भेद होता है ? यदि भिन्न में भेद मानें, तो अनवस्था हो जायगी । देखिये—जिस भेद से भिन्न है, वह भेद भी अन्य भेद से भिन्न में ही रहेगा । इस तरह एक भेद से भिन्न में अन्य भेद के रहने से अनवस्था हो जायगी ।

'वह भेद किसी प्रतियोगी की अपेक्षा से है' यह प्रथम पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कहना होगा कि किसकी अपेक्षा वह भेद है ? सबकी अपेक्षा तो वह भेद है नहीं, कारण यदि सबकी अपेक्षा भेद मानें, तो सर्व में स्व का भी अन्तर्भाव होने से स्व से भी स्व का भेद हो जायगा । घटादि की अपेक्षा सभी भेद अभाव नहीं हैं, कारण घटादि के साथ जो अभाव का अवधि-अवधिमद्भाव सम्बन्ध है, वह अन्य पदार्थ है या स्वरूप है ?

यदि उसे अन्य पदार्थ मानें, तो वह भी अभावनिष्ठ भेद की अवधि है, अतः उसके साथ अवध्यवधिमद्भाव को भी अर्थान्तर कहेंगे, तो इस प्रकार उत्तरोत्तर अवध्यवधिमद्भाव के स्वीकार से अनवस्था हो जायगी । यदि वहाँ स्वरूप को ही सम्बन्ध मानें, तो प्रथम सम्बन्ध को स्वरूप मानने में क्या द्वेष है, जो उसे अर्थान्तर मानते हैं, अतः प्रथम सम्बन्ध को ही स्वरूप मान लेना चाहिए । किन्तु ऐसा मान नहीं सकते ।

मद्भावसम्बन्धोऽस्य स्वरूपं प्रतियोगिना सार्धं तदभावस्वरूपस्यास्य निषेध्य-निषेधभावलक्षणः सम्बन्धः स्वरूपं न स्यात्, स्वरूपस्यैकत्वात्। अनयोश्च सम्बन्धयोर्भिन्नत्वात्।

न हि यदेव प्रतियोगिनः सकाशाद्भिन्नत्वं तदेव तन्निषेधत्वमिति सम्भवति, ततो व्यतिरिक्तत्वस्यानिषेध्यसाधारणत्वात्, निषेध्यनिषेधभावस्य नियतवस्त्वपेक्षत्वादिति। एवं कार्यकारणभावादौ स्वभावसम्बन्धान्तरेऽपि वाच्यम्। ऊहनीयश्चाऽन्यत्रापि स्वरूपभेदे दोष एषः।

किञ्च धर्मान्तरं भेद इति ब्रुवतः कोऽभिसन्धिः—किं घटत्वादय एव भेदः, उत भेदो नामान्य एवैकः कश्चिद्धर्मः? आद्ये घटत्वादीनां सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गः, भेदस्य सप्रतियोगिकत्वात्। न च घटत्वादयस्तथा, पटाद्यनपेक्षतयैव प्रतीतेः।

यदा पटाद्यपेक्षया प्रतीयन्ते तदा भेदव्यवहारं कुर्वन्तीति चेन्न। प्रतीतौ कस्य पटाद्यपेक्षेति वाच्यम्—किं घटत्वादेरुत धर्मस्य कस्यचित्? आद्ये पटा-

देखिये—यदि घटादि के साथ अभाव के अवधि-अवधिमद्भावरूप संबन्ध को स्वरूप मानें, तो प्रतियोगी के साथ अभाव का निषेध्यनिषेधकभावरूप संबन्ध स्वरूप न कहलायेगा, कारण स्वरूप एक है और ये दोनों सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् अभाव एकरूप होने से वह इन भिन्न-भिन्न सम्बन्धस्वरूप (द्विरूप) नहीं हो सकता।

जो प्रतियोगी से भिन्न है, वही प्रतियोगी का निषेधक है—ऐसा भी सम्भव नहीं, कारण उस घटादि से भिन्नत्व अनिषेध्य पटादि-साधारण भी है और घटादि से निषेध्य-निषेधकभाव नियत वस्तु है। इसी प्रकार मृद्घट के कार्य-कारणभाव को स्वरूप माने तो मृद्घट का विशेष्यविशेषणभावरूप सम्बन्ध स्वरूप न कहलायेगा। कारण स्वरूप एक है और एक कार्यकारणभाव से अन्यत्र भी विशेष्यविशेषणभाव होने से दोनों सम्बन्ध भिन्न हैं। अन्यत्र भी स्वरूपभेद में इस दोष की ऊहा (अनुवृत्ति) करनी चाहिए।

किञ्च—'धर्मान्तर भेद है' यह कहनेवाले का क्या अभिप्राय है, क्या घटत्वादि ही भेद हैं या अन्य ही कोई एक धर्म भेद है? प्रथम पक्ष कहें, तो भेद सप्रतियोगिक होने से घटत्वादि भी सप्रतियोगिक हो जायँगे। किन्तु घटत्वादिक सप्रतियोगिक नहीं हैं, कारण पटादि की अनपेक्षा से उनकी प्रतीति होती है।

समर्थन—जिस काल में घटत्वादि की पटादि की अपेक्षा प्रतीति होती है, उस काल में वे घटत्वादि भेद-व्यवहार कराते हैं। और जिस काल में पटादि की अपेक्षा के

पेक्षामन्तरेण घटत्वप्रतीत्यनुपपत्तिप्रसङ्गः । नहि यदन्तरेण यदुत्पद्यते तत्तत्कारणकं नाम ?

वह्नाविवावान्तरजातिभेदे कारणभेदस्य चरितार्थयितुमशक्यत्वात् । साक्षात्कारित्वादिना सह परापरभावानुपपत्तेः ।

जात्योः परापरत्वसङ्करमिच्छतामपि मते पञ्चम्याऽवधिभावः प्रतिपाद्यमानः केन सममन्वियात् । घटत्वस्यावधिघटितत्वे तथैव परं प्रतीत्यापत्तेः ।

बिना घटत्वादि की प्रतीति होती है, उस काल में घटत्वादि-व्यवहार होता है । *खण्डन*—प्रतीति में किसे पटादि की अपेक्षा है, यह कहना होगा, क्या घटत्वादि को या घटत्वादिनिष्ठ किसी धर्म को ? आद्यपक्ष में पटादि की अपेक्षा के बिना घटत्वादि की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होगी, पर वह होती है । फिर पटादि की अपेक्षा के बिना भी यदि घटत्वादि की प्रतीति को आप मानें, तो घटत्वादि में पटादि की अपेक्षा कारण ही नहीं रही, क्योंकि जिसकी अपेक्षा के बिना जो उत्पन्न होता है, उसमें वह कारण नहीं होता ।

समर्थन—वह घटत्वज्ञान विलक्षण है, जिसमें पटादि की अपेक्षा है । अतः जैसे वह्नि में विलक्षण जाति मानकर तृण, अरणि और मणि की कारणता व्यभिचरित नहीं होती, वैसे ही घटत्वज्ञान में भी दो जातियाँ मानने पर पटादि की अपेक्षा का व्यभिचार नहीं होगा । *खण्डन*—वह्नि में तृणादि-कारणता प्रत्यक्ष है, अतः वहाँ विलक्षण जाति को मानकर व्यभिचार का निवारण उचित ही है । किन्तु यहाँ घटत्वज्ञान में पटादिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष नहीं है, अतः उससे ज्ञानगत विलक्षण जाति की कल्पना युक्त नहीं है । किञ्च—प्रत्यक्षत्व जाति पटादि-ज्ञान में भी है और वहाँ घटत्व-ज्ञानत्व नहीं है, घटत्व-ज्ञानत्व अनुमित्यात्मक घटत्व-ज्ञान में भी है, वहाँ प्रत्यक्षत्व नहीं है और दोनों प्रत्यक्षात्मक घटत्व-ज्ञान में है, अतः सङ्कर दोष होने से घटत्व-ज्ञानत्व जाति नहीं हो सकती ।

किञ्च—सङ्कर होने पर भी घटत्व-ज्ञानत्व को जाति मान लें, तो भी 'पटात्' इस पंचमी से उक्त अवधित्व का कहाँ अन्वय होगा ? घटत्व तो अवधि में साकांक्ष है नहीं । यदि उसे अवधि में साकांक्ष मानें, तो सर्वदा अवधि की अपेक्षा से घटित ही घटत्वादि की प्रतीति होने लगेगी ।

तद्धर्मस्य तथात्वमिति चेन्न। तथाहि—न द्वितीयः, स एव सापेक्षप्रतिपत्तिर्भेदो न तु घटत्वादिः; घटत्वादेश्च स भेदः स्यात् , तद्धर्मकत्वात्। घटादेस्तु भेदपर्यनुयोगे तदभिधानमसङ्गतम्।

कथञ्च भिन्नैरनुगतव्यवहारः स्यात्। तथापि तथा सति वा किन्न तैरेव तदादिव्यवहारोऽपि स्यात्।

नापि द्वितीयः; अनभ्युपगमात्। सप्तपदार्थानामनन्तर्भावप्रसङ्गात् , स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेश्च।

समर्थन—घटत्वादि का धर्म भेद है, और वही अवधि में सापेक्ष है। खंडन—यही द्वितीय कल्प है, पर वह भी युक्त नहीं। कारण वही, जिसकी सापेक्ष प्रतिपत्ति (प्रतीति) है, भेद मानिये, घटत्वादि को भेद क्यों मानते हैं? वह भेद घटत्वादि का धर्म होने से घटत्वादि का हुआ। अतः घटनिष्ठ भेद के प्रश्न पर उसका कथन असङ्गत है।

किञ्च—यदि घटत्व-पटत्वादि प्रत्येकवृत्ति धर्म का भेद कहें, तो उस धर्म के एक-एक-निष्ठ होने से अनुगत भेदबुद्धि या भेद-व्यवहार कैसे होगा? यदि च सर्वत्र अनुगत भेद न होने पर भी अनुगत भेदव्यवहार मान लें, तो वैसे ही अनुगत गोत्वादि के बिना भी अनुगत गवादि-व्यवहार हो जायगा। फिर गोत्वादि जातियों की कल्पना भी व्यर्थ हो जायगी।

'भेद अन्य कोई धर्म है' यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है, कारण वैसा धर्म अन्योन्याभाव ही हो सकता है। किन्तु अन्योन्याभाव खण्डित होने से उसका स्वीकार संभव ही नहीं है। अन्योन्याभाव से भिन्न ऐसा कोई धर्म भी नहीं है, जो सप्त पदार्थों में रहे और भेद-व्यवहार के योग्य हो। यदि ऐसे किसी विलक्षण धर्म को मान लें, तो उसका सप्तपदार्थों में अन्तर्भाव न होने से 'सात ही पदार्थ हैं' यह वैशेषिकों का विभाग असङ्गत हो जायगा।

किंच—वह विलक्षणधर्मरूप भेद स्व (भेद) में रहता है या नहीं? यदि नहीं रहता, तो भेदरहित भेद सर्वात्मक होनेके कारण उसका सप्त पदार्थों में ही अन्तर्भाव हो जाने से भेद को अतिरिक्त मानना व्यर्थ है। यदि रहता है, तो वही भेद रहता है या अन्य? यदि वही रहता है, तो आत्माश्रय हो जायगा। यदि अन्य भेद रहता है, तो उस भेद में अन्य भेद, फिर उसमें भी अन्य भेद, इस तरह अनवस्था हो जायगी।

ईदृशाश्च उपाध्यालीढवैचित्र्याणां जात्या समर्थने सर्वोपाध्युपधानानां जात्यैव समर्थनं स्यात् ।

ननु घटत्वादय एव भेदाः, घटत्वादिज्ञानाविशेषेऽपि च प्रतियोगिज्ञान-सहकारिवशाद्विचित्रव्यवहारोपपत्तिरिति चेन्न । व्यवहारसत्यत्वार्थं वास्तवानुगत-विशेषस्यावश्यं स्वीकर्तव्यत्वे तथैव पर्यनुयोगानुवृत्तेः ।

अनन्तभेदपरम्पराभ्युपगमे च तत्क्रमज्ञेयतायां प्रतीत्यपर्यवसानात् । तद्युग-पज्ज्ञेयतायामत्यन्तसदृशतया कस्यचिदन्यभेदस्यान्यदीयतयाऽपि ग्रहणसम्भवा-दिना सर्वत्र प्रामाण्यानाश्वासप्रसङ्गात् ।

सर्वप्रतीतिनियमानङ्गीकारे चाप्रतीतसत्त्वे प्रमाणाभावात् ।

समर्थन—सप्तपदार्थों में वृत्ति भेद को जाति ही क्यों न मानें ? *खण्डन*—प्रति-योगित्व, अधिकरणत्व आदिरूप उपाधियों से जिसमें वैचित्र्य है, ऐसे भेद को भी यदि जाति मानें, तो प्रमेयत्वादि को भी जाति ही मान लीजिये । फिर उपाधिमात्र का उच्छेद ही हो जायगा ।

समर्थन—घटत्व आदि ही भेद हैं । घटत्व आदि के ज्ञान में विशेष न होने पर भी प्रतियोगिज्ञानरूप सहकारी की अपेक्षा से विचित्र व्यवहार की उपपत्ति होती है । *खण्डन*—'घटः' इत्याकारक तथा 'पटाद् भिन्नः घटः' इत्याकारक दो प्रकार के व्यवहार होते हैं । उन व्यवहारों की सत्यता के लिए वास्तविक अर्थगत विशेष अवश्य मानना होगा । यदि उसे न मानें, तो दोनों में से एक व्यवहार असत्य हो जायगा । यदि अर्थगत विशेष को मान लें, तो वही भेद हो जायगा, घटत्वादि को भेद मानना व्यर्थ है ।

यदि भेद को अनन्त मानें, तो वह भेद-परम्परा क्रमशः ज्ञेय है या एककाल में ? यदि क्रमशः ज्ञेय मानें, तो भेद अनन्त होने से भेद-प्रतीति की समाप्ति ही नहीं होगी । यदि एक ही काल में सभी भेदों का ज्ञान मानें, तो सभी भेदों के सदृश होने से 'किससे कौन भिन्न है, यह इससे भिन्न है या नहीं ?' इस तरह सर्वत्र सन्देह-विपर्यय होने लगेंगे । फलतः प्रामाण्य में अविश्वास हो जायगा ।

समर्थन—तीन या चार भेदों का ग्रहण होता है । भेद-परम्परा का ग्रहण नहीं होता । *खण्डन*—ऐसा मानने पर जिस भेद का ग्रहण न हुआ, उसका स्वाश्रय से अभेद होने पर मूलपर्यन्त अभेद हो जाने से भेद का अत्यन्त अभाव हो जायगा ।

जिज्ञासायां तस्य तस्यापि ज्ञेयत्वे तद्बुद्धीनां भेदबुद्धित्वात् तदर्थेष्वनुगतत्वस्याप्यनुपपत्त्या तेष्वेकजात्याद्यभ्युपगमे तद्भेदेऽपि तदङ्गीकारे परस्पराश्रयाश्रयिभावप्रसङ्गात् । एवं सत्तादीनामानन्त्यस्वीकारे द्रष्टव्यम् ।

किञ्च घटत्वादेर्भेदत्वेऽवधिभूतपटत्वादिसापेक्षप्रतिपत्तिकतायां घटत्ववत् पटत्वस्यापि भेदरूपस्य भेदावधिप्रतिपत्तिसापेक्षतयाऽवधेश्च घटत्वादित्वेन घटत्वादिप्रतीत्यपेक्षायामन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्गः ।

भेदस्वरूपत्वे घटत्वादेरवध्यपेक्षा, न तु स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ । स्वरूपमात्रेण चावधित्वम् तत्कृत एवमिति चेन्न । भेदरूपता यदि तस्य स्वात्मैव तदा

समर्थन—उस काल में किन्हीं भेदों का ज्ञान न होने पर भी जिज्ञासा होने पर क्रमशः भेदों का ज्ञान होता ही है । भाव यह है कि जो कभी भी उपलब्ध नहीं होता, वह असत् होता है । अनन्त भेद नियमतः उपलब्ध नहीं होते, ऐसी बात नहीं । किन्तु जब यद्विषयक जिज्ञासा हो, तब वह भेद प्रतीत होता है, ऐसा नियम मानेंगे । एवञ्च भेद का भान हो जाने से मूलपर्यन्त अभेद नहीं होगा । *खण्डन*—उन सब भेदबुद्धियों के भेदबुद्धि होने से उनके विषय भेदों में अनुगत एक धर्म न मानने पर एकाकार बुद्धि न होगी । अतः एक धर्म या जाति अवश्य माननी होगी । फिर उस जाति में भी भेद मानेंगे और उस भेद में उस जाति को मानेंगे—इस तरह परस्पर भेद और जाति में आधाराधेयभाव हो जायगा । इसी प्रकार सत्ता में सत्ता मानने में अनवस्था तथा उन सत्ताओं के क्रमशः ज्ञेयत्व में प्रतीति का अपर्यवसान और युगपद् ज्ञेयत्व में सत्ताज्ञान में प्रामाण्य का अविश्वास आदि दोषों को जानना चाहिए ।

किंच—यदि घटत्वादि को भेदरूप मानें, तो पटत्वादि का ज्ञान घटत्वादिरूप जो अवधि उसकी अपेक्षा से होगा । एवञ्च घटत्व के तुल्य पटत्व भी भेदरूप होने से उसका ज्ञान भी पटत्वरूप अवधि के ज्ञान की अपेक्षा से होगा । अतः भेदरूप होने से पटत्वादि अवधि को घटत्वत्वादिरूप से घटत्वादि की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

समर्थन—घटत्वादि को जिस काल में भेदरूप मानते हैं, उस काल में अवधि की प्रतीति की अपेक्षा होती है । स्वरूपतः घटत्वादि अवधि में सापेक्ष नहीं हैं और स्वरूप से ही अवधि है, अतः अन्योन्याश्रय नहीं है । *खण्डन*—घटत्व का स्वरूप ही भेद है, तो यह कथन कि 'स्वरूपमात्र की प्रतिपत्ति के काल में अवधि की अपेक्षा नहीं

स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ नावध्यपेक्षेति शून्यं वचनम् । अथ धर्मान्तरं तदा स एव भेदोऽस्तु, कृतं तद्वत्तया घटत्वादेर्भेदरूपतेति प्रक्रियाकल्पनया । अस्तु स एव धर्मान्तरं भेद इति चेन्न । दूष्यत्वात् ।

अथापि स्वरूपादित्रयमिदं भेद इति कथं सङ्गच्छते, तद्व्यवहारस्यैकाकारस्य नानानिमित्तत्वे गोत्वाद्यनुगताकारप्रतीतेरपि कथमेकनिमित्तत्वसिद्धौ प्रामाण्यं व्यभिचारात् । सामान्यविशेषैरेव परसामान्यबुद्धिव्यवहारोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः ।

किञ्च भेदे भेदान्तरमस्ति न वा ? आद्येऽनवस्था । द्वितीये तदभाव एव स्यात्, धर्मिण्येव तत्प्रवेशात् ।

भेदस्वभावत्वात् स्वात्मन्यपि स्वयमेव तद्व्यवहारमयं करोति, सत्तेव सद्-व्यवहारमिति चेन्न । यदि स्वस्मादभिन्नः स्वस्य भेद इति स्वस्मादित्यवधेयावधि-

होती' युक्ति से शून्य है । यदि 'घटत्वादिनिष्ठ अन्य धर्म ही भेद है. घटत्वादि रूप भेद नहीं है' ऐसा कहें, तो उसी धर्म को भेद मानिये । उस धर्म के होने से घटत्वादि भेदरूप हैं' इस प्रक्रिया की कल्पना व्यर्थ है । वही धर्म भेद है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष होने से वह दूषित है ।

जबतक तीनों में अनुगतभेदत्वरूप अनुगत धर्म न मानें, तबतक स्वरूप, वैधर्म्य और अन्योन्याभाव यथास्थान तीनों भेद हैं—यह कथन नहीं जँचता । यदि इन तीनों में अनुगत एकरूप न होने पर भी एकाकार व्यवहार मान लें, तो अनुगत गोत्वादि न होने पर भी 'गौः' इत्याकारक गोमात्र में एकाकार व्यवहार हो जाने से गोत्वादि जातियों का स्वीकार भी व्यर्थ है । इसी प्रकार गोत्व, अश्वत्व आदि अपर जातियों से 'द्रव्यम्' इत्याकारक अनुगत प्रतीति का निर्वाह हो जाने से द्रव्यत्वरूप परजाति का तथा द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वरूप अपर सामान्य से 'सन्' इत्याकारक अनुगत प्रतीति हो जाने से भेद का सत्तारूप पर सामान्य का स्वीकार व्यर्थ हो जायगा ।

किंच—भेद में अन्य भेद रहता है या नहीं ? यदि रहता है, तो अनवस्था हो जायगी । यदि नहीं रहता तो उसका धर्म के साथ भेद न होने से धर्मी में प्रवेश होने से भेद का अभाव हो जायगा ।

समर्थन—भेद में भेद न होने पर भी स्वभाव से ही भेद अपने में भेद-व्यवहार कर लेता है । जैसे सत्ता में सत्ता के न होने पर 'सत्ता अस्ति' ऐसा व्यवहार होता है । *खंडन*—यदि ऐसा मानें, तो 'स्वस्मात् अभिन्नः स्वस्य भेदः' इस प्रतीति

भावस्वरूपः स्वयम्, भेदोऽन्यस्माच्च स्वस्य, तदाऽस्य भेदस्य स्वात्मप्रतियोगिकत्वेन स्वाश्रयत्वेन चाङ्गीकारे स्वस्मादपि स्वयं भिन्नः किं नाङ्गीक्रियते, विरोधाभावात्।

स्वीक्रियेताप्येवं यदि तथा प्रतीतिर्व्यवहारो वा स्यादिति चेन्न। अस्त्यपि शब्दाभासादेस्तथा प्रतीतिराभासशब्दव्यवहारश्च।

सत्यौ प्रतीतिव्यवहारौ स्वीकारकारणम्। न च तौ स्वात्मन एव स्वस्माद् भेदविषयौ स्त इति चेन्न। स्वात्मा स्वस्यैवाधिकरणमवधिश्चेत्यपि तर्हि न सत्या प्रतीतिः सम्भवति, न वा व्यवहारः। तत्कथमित्थमङ्गीकुरुषे?

ननु न वयं स्वात्मा स्वाधिकरणं स्वावधिर्वेत्यभ्युपगच्छामः; किन्तु धर्मान्तरे तत्प्रतियोगिके तदाधारे वा स्वीकृते यौ बुद्धिव्यवहारावुपपद्येते तावनवस्थाभयाद्धर्मान्तरमन्तरेणैव स्वभावाद्भेदः करोतीति ब्रूम इति चेत्। तर्ह्यन्यत्र यादृशी

के अनुरोध से वही भेद स्व का प्रतियोगी और स्व का आश्रय (अवधि) भी हुआ। यदि घटादि से स्व का भेद स्वस्वरूप मान लिया जाय, तो भेद के स्वप्रतियोगिक और स्वाश्रय मानने से 'स्वस्मादपि स्वयं भिन्नः' ऐसी प्रतीति होने लगेगी, कारण इसमें कोई विरोध नहीं रहा।

समर्थन—ऐसा स्वीकार करते, यदि स्व से स्व में भेदावगाही व्यवहार या बुद्धि होती। किन्तु वैसा व्यवहार या बुद्धि नहीं होती। अतः स्व से स्व में भेद नहीं मानते। *खंडन*—शब्दाभासरूप व्यवहार तथा शब्दाभास से स्व से स्व में भेदबुद्धि भी होती ही है।

समर्थन—सत्य व्यवहार तथा सत्य बुद्धि उक्त स्वीकार के कारण मानेंगे। स्व से स्व में भेदावगाही सत्यबुद्धि या सत्य व्यवहार नहीं होता। अतः स्व से स्व में भेद सत्य सिद्ध नहीं होता। *खण्डन*—तब तो भेद स्वयं स्व का अधिकरण है और स्व का प्रतियोगी है ऐसी सत्य प्रतीति या सत्य व्यवहार नहीं होता। फिर आप भेद को स्व (भेद) का अधिकरण तथा प्रतियोगी कैसे मानते हैं?

समर्थन—'भेद स्व (भेद) का अधिकरण और प्रतियोगी है' ऐसा हम नहीं मानते। किन्तु यदि भेद में अन्य भेद को मान लें, तो उसमें जैसे भेदप्रतियोगिकत्व तथा भेदाश्रयत्व का व्यवहार या बुद्धि होती है, वैसे ही अनवस्था के भय से स्व में अन्य भेद को न मानकर भेद स्वभाव से ही भेद-व्यवहार करता है, ऐसा हम कहते हैं।

प्रतीतिर्धर्मान्तरविषया तादृश्येवात्र विना धर्मान्तरमुत्पद्यत इति भ्रान्ता स्यात्। यस्य च स्वभावस्य बलेनेदृशी सा जायते स दोषः स्यात्। यथा सत्यरजते रजतप्रतीतो रजतत्वादुत्पन्नाऽन्यत्र विना रजतत्वं जायमाना भ्रान्ता सा भवति, यस्य च सामर्थ्यात् सा तादृशी जायते स दोष इत्युच्यते।

तत्र रजतत्वं नास्ति, अत्र धर्मिरूपोऽपि भेद एव सन्नवलम्बनमिति चेत्। मैवम्; भिन्नप्रतीतिर्विशिष्टविषया भेदतदाश्रयरूपोभयवस्तुविषया अन्यत्र यादृशी सत्याऽङ्गीकृता ततो मात्रयाऽप्यन्यूनार्थाया इह जायमानाया यदि द्वयं विषयं नाङ्गीकुरुषे, तदा शक्रेणापि भ्रान्तत्वं दुर्वारम्। अथाङ्गीकुरुषे, तदाऽनवस्थाप्रसङ्गः। अथ तदुभयविषयव्यतिरेकेणैव साऽत्र सत्याऽन्यत्र, तर्हि इतोऽन्यादृशविषया मिथ्या स्यादित्यलं पल्लवेन।

यत्तु सत्तेवेत्युक्तम्; तत् कटकगवोदाहरणमनुहरति, यतः सत्ताऽप्यमुना दूषणेनास्माभिः खण्डनीया।

खंडन—तब तो भेदविषयक बुद्धि जैसे यहाँ होती है, वैसे ही भेद के बिना अन्य स्थल में भी हो जायगी। अतः वह बुद्धि भ्रम और जिस स्वभाव के बल से वैसी होती है, वह स्वभाव दोष कहलायेगा। जैसे सत्यरजत स्थल में रजतत्व के होने से रजतत्व-बुद्धि होती है, वैसे ही यदि अन्यत्र रजतत्व के बिना रजतत्व-बुद्धि भ्रम कहलाती है और जिसके बल से वह होती है, वह दोष कहलाता है।

समर्थन—वहाँ रजत नहीं है और यहाँ तो धर्मीरूप भेद विद्यमान ही अवलम्ब है, अतः दोनों स्थलों में महान् अन्तर है। *खण्डन*—भेद और भेदाश्रय को विषय करनेवाली विशिष्टविषयक भिन्न बुद्धि अन्यत्र जैसे सत्य होती है, उससे किञ्चित् अन्यून विषयवाली यहाँ जायमान बुद्धि का विषय दोनों को न मानें, तो इन्द्र भी उस बुद्धि के भ्रान्तत्व का निवारण नहीं कर सकता। यदि दोनों को विषय मान लें, तो अनवस्था हो जायगी। यहाँ उभय के विषय न होने पर भी यदि उक्त बुद्धि को सत्य मानें, तो अन्यत्र जहां उभय विषय हैं, वहाँ वह बुद्धि मिथ्या हो जायगी। बस, इतना ही खण्डन पर्याप्त है, विस्तार व्यर्थ है।

फिर, आप जिस सत्ता का दृष्टान्त देते हैं, वह दृष्टान्त भी इसी युक्ति से खण्डित होने से शिविर की गौके सादृश्य का अनुकरण करता है। अर्थात् जैसे शिविर में बन्धन से रहित उन्मत्त वृषभ जहाँ-जहाँ दौड़ता हुआ जाता है, वहीं पीटा जाता है, वैसे ही यहाँ भी सत्ता को खण्डित ही जानिये।

यत्पुनरभिधीयते किमेतैर्भेदखण्डनवादिभिरभिहितं भवति—किं भेदज्ञानमेव नास्ति, सदपि नित्यम्, अनित्यमपि वा निर्हेतुकम्, सहेतुकमपि वा निर्विषयम्, सविषयमपि वा बाध्यमानविषयम् ? तत्र प्रथमः सर्वतो विरोधादनुत्तरः। द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीयः। तृतीयोऽपि विरोधाद्धेयः। चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः।

पञ्चमश्चिन्त्यते। किमेतेष्वन्यतमो विषयः तदन्यो वा ? द्वितीये किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्यते। एवं हि चौरापराधेन व्यक्तमयं माण्डव्यनिग्रहः। अथान्यतमात्मा, तत्रापि यदि धर्मान्तरमेवेति तत्त्वं तदाऽनवस्थाभिया तदधिकः प्रवाहस्त्यज्यताम्। तस्य कुतस्त्यागः, न ह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं

समर्थन—उदयनाचार्य कहते हैं कि भेद का खण्डन करनेवाले का क्या अभिप्राय है ? क्या भेद का ज्ञान ही नहीं होता या भेद का ज्ञान तो होता है, पर वह नित्य है, अथवा अनित्य होता हुआ भी हेतु से रहित है, किंवा सहेतुक होकर भी विषय से रहित है, या सविषय होता हुआ भी बाधित-विषयक है ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण यदि भेद-ज्ञान नहीं है, तो आपका भेद-खण्डन तथा 'भेदो नास्ति' इत्यादि सभी प्रयोग असङ्गत हो जायँगे। द्वितीय भी सुषुप्ति-अवस्था के अनुरोध से त्याज्य है। अर्थात् जिस अवस्था में ज्ञान न हो, वह अवस्था सुषुप्ति है। सुषुप्ति अनुभवसिद्ध है, अतः उसके अनुरोध से ज्ञान अनित्य है। 'अनित्य निश्चय ही हेतुजन्य होता है' इस अनुभव से विरोध होने के कारण तृतीय पक्ष भी हेय है। भेदरूप विषय का उल्लेख अनुभव सिद्ध है, अतः चतुर्थ पक्ष भी त्याज्य है।

'भेदज्ञान सविषय होता है, परन्तु बाधित-विषय है' यह पञ्चम पक्ष अवश्य विचारणीय है। क्या भेदज्ञान का विषय स्वरूप, अन्योन्याभाव या वैधर्म्य इन तीनों में से कोई एक है या इनसे अन्य ? यदि इनसे अन्य विषय है, तो इन स्वरूपादि के खण्डन की युक्तियों से उसका खण्डन क्या हुआ ? ऐसा करने पर स्पष्ट ही यह चोर के अपराध में माण्डव्य को ही दण्ड हुआ[1]। यदि स्वरूपादि में से एक को विषय मानें, तो उसमें धर्मान्तर (वैधर्म्य) को मानें तो अनवस्था-भय से उस प्रथम वैधर्म्य से अधिक वैधर्म्य-परम्परा का त्याग कीजिये, उस प्रथम वैधर्म्य का त्याग कैसे होगा; कारण

१. पुराणों में यह कथा प्रसिद्ध है कि माण्डव्य मुनि चोर न होते हुए भी उन्हें चोर मानकर शूली पर चढ़ा दिया गया।

निवर्तयति, किन्तु प्रवाहं परिहारयति गन्धे गन्धान्तरवत्। अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमालम्बते तदाऽपि काऽऽत्माश्रयः, तेन हि भेदज्ञानमेव न स्यात्। अस्ति च तत्, ततो हेत्वन्तरमाक्षिपेत्, न तु स्वात्मनि स्वयमहेतुत्वे स्वयमेव निवर्तेत।

अविद्यावशादिति चेत्; किञ्चातः? न ह्यविद्यत्येव आत्माश्रयनिवृत्तिः; तथा सति घटादयोऽपि कुलालादिनिरपेक्षाः स्वयमेव भवेयुः।

अथाऽऽत्माश्रयादिदोषोपहततया तन्न तस्यैव कारणम्। अतो यतः कुतश्चित्तस्य जन्म, तच्च दुर्निरूपमतोऽविद्येत्युच्यत इति विचारार्थः; नाम्नि तर्हि विवादः।

न च तदपि दुर्निरूपम्, प्रतियोगित्वेन अप्रतीतावधिकरणस्वभावत्वेन अधिकरणप्रतीतिः, अधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्च इतरेतराभावग्रहणकारणमिति निरूपणात्।

अनवस्था अनुभव के विषय अर्थ की निवृत्ति नहीं कराती, किन्तु प्रवाह रुकवाती है, जैसे कि गन्ध में अन्य गन्ध का। फिर यदि भेदज्ञान अन्योन्याभावरूप भेद का अवलम्बन करे, तब भी आत्माश्रय कहाँ है? यदि आत्माश्रय हो, तो भेदज्ञान ही नहीं होगा। किन्तु भेदज्ञान होता है, अतः वह स्व से अन्य हेतु की कल्पना करेगा, कारण स्व में स्वयं हेतु न होने से स्वयं निवृत्त नहीं होता।

यदि कहें कि अविद्या से भेद-ज्ञान होता है, तो वह भी ठीक नहीं। कारण अविद्या से क्या होता है? अविद्या से ही आत्माश्रय की निवृत्ति तो होगी नहीं। कारण यदि अविद्या से आत्माश्रय की निवृत्ति होती हो, तो घटादि भी कुलालादि की अपेक्षा के बिना स्वतः अविद्या से ही उत्पन्न होने लगेंगे। फिर कुलालादि को घटादि का कारण क्यों माना जाय?

यदि कहें कि 'आत्माश्रय दोष होने से घट स्वयं अपना ही कारण नहीं होता, किन्तु अन्य किसीसे जन्य होता है। उस कारण का निरूपण अशक्य है, अतः उसे अविद्या कहते हैं—यही हमारे कथन का आशय है' तब तो केवल दोनों के नामों में ही विवाद रहा। भेद-प्रतीति के कारण को आप 'अविद्या' कहते हैं, तो हम नामान्तर से कहते हैं।

फिर, उसके कारण का निरूपण भी अशक्य नहीं है, कारण प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी के अप्रतीति-काल में अधिकरणत्वरूप से अधिकरण का ज्ञान तथा अधिकरण-

अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वम्; तथापि सहप्रयोग एवानुपपन्नः परिहीयताम्, भेदेन तु किमपराद्धम्? सोऽपि दृश्यत इति चेत्। सत्यम्; नैमित्तिकस्तु स्यात्, न स्वरूपतः। न हि 'घटमानय, पटमवलोकय' इत्यादौ भेदपदमपि प्रेक्षावानुपादत्ते। व्याख्यायान्तु मूढप्रबोधनार्थं 'घटः कुम्भः' इतिवत् सहप्रयोगेऽपि न दोषः।

तथापि कः परमार्थः? यथायथं त्रयमपि। घटस्य हि घटाद्यात्मना प्रतीतिः, अपटाद्यात्मना च प्रतीतिः, ततो वैशिष्ट्यप्रतीतिश्चेत्यनुभवसिद्धम्। तत्राभावस्य प्रथममात्रम्, अभावान्तरधर्मान्तराभावात्। सामान्यादिषु त्रिषु द्वयम्, धर्मान्तराभावात्। द्रव्यादित्रिषु त्रयम्, त्रयस्यापि सम्भवात्। भवति हि 'पटोऽयं न घटः, तन्तुमयश्चे'ति, 'गन्धोऽयं न रूपं सुरभिश्चे'ति, 'गतिरियं नोत्क्षेपणं तिर्यक् चे'ति।

स्वरूप से अधिकरण के अज्ञानकाल में प्रतियोगी की स्मृति अन्योन्याभाव के ग्रहण की कारण है, इस तरह निरूपण हो ही सकता है।

फिर, स्वरूपरूप भेद को ही भेद-ज्ञान का विषय मान लीजिये। इससे 'घटो भिन्नः' यह सहप्रयोग अनुपपन्न होता हो, तो उसे ही त्यागिये; भेद का क्या अपराध है कि उसका त्याग हो? यदि कहें कि 'घटो भिन्नः' ऐसा सहप्रयोग भी देखा जाता है, अतः उसका त्याग नहीं हो सकता; तो ठीक है। सहप्रयोग दीखता है, किन्तु स्वभाव से नहीं, किसी निमित्त से। कारण 'घटमानय, पटमवलोकय' इत्यादि प्रयोगस्थलों में कोई भी बुद्धिमान् 'भिन्नं घटमानय' ऐसा प्रायः नहीं कहता। कहीं-कहीं व्याख्यान-काल में मूढ़ों को समझाने के लिए 'घटः कुम्भः' की तरह 'घटः भिन्नः' ऐसा जो सहप्रयोग होता है, वह दोषाधायक नहीं है।

प्रश्न—तब भी इन स्वरूपादि त्रय में मुख्यार्थ कौन है? उत्तर—यथास्थान तीनों ही ठीक हैं। घट की घट, मृत्कार्य आदि रूप से प्रतीति होती है, अपटादिरूप से प्रतीति होती है तथा उस पट से वैधर्म्यरूप धर्म से भी प्रतीति होती है, यह अनुभव-सिद्ध है। उन तीनों में से प्रथम (स्वरूपभेद) अभावमात्र में रहता है, कारण अभाव में अन्य अभाव या गुण, जाति आदि अन्य धर्म नहीं रहते। सामान्य, विशेष और समवाय इन तीनों में स्वरूपभेद और इतरेतराभाव दोनों रहते हैं। कारण इनमें अन्य धर्म नहीं रहते। द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में तीनों अभाव रहते हैं, कारण तीनों का सम्भव है। 'यह

लक्षणन्तु स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः। इतरेतराभावस्य त्वबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः। वैधर्म्यस्य तु विरोधः, स चैकधर्मसमावेश इत्येषा दिगिति।

अत्रोच्यते। तथाहि यत्तावत् पृष्टं किमेतेष्वन्यतमात्माऽस्य विषयः तदन्यो वेति तन्निर्वचनवादिनि शोभते, नास्मासु। प्रतिभासमानोऽयं भेदः स्वरूपादि-पक्षान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां वा सदसत्त्वाभ्यां वा अन्येनापि धर्मेण येन केनचिन्नि-रूप्यमानोऽन्वयेन च व्यतिरेकेण वा बाध्यतामिति तेन सर्वेणानिर्वचनीय इति ब्रूमः। एतच्च न केवलं भेदस्यापि, तर्हि जगत एव। अनिर्वचनीयवादश्चायं यथा तथोदितं प्राक्।

यदप्युक्तम् अथान्यतमेत्यादि गन्धे गन्धान्तरवदित्यन्तम्। तदपि न साधुः यया युक्त्यैकस्वीकारस्तयैव प्रवाहस्वीकारस्य दुर्वारत्वात्। तत्र यदि प्रवाह-

पट है, घट नहीं है, तन्तुमय है', 'यह गन्ध है, रूप नहीं, सुरभि है'—'यह गति है, उत्क्षेपण नहीं है, तिर्यक् है' ऐसी प्रतीतियाँ होती हैं।

'तादात्म्य के प्रतियोगित्वरूप से अप्रतीति-काल में जो प्रतीति हो, उसका विषय' स्वरूपभेद का लक्षण है। 'समानाधिकरण और अबाधित निषेधप्रत्यय' इतरेतराभाव का लक्षण है। विरोध ही वैधर्म्य का लक्षण है। यह विरोध एकधर्मी में असमावेश है। भेद-समर्थन की यह दिक् (संकेतमात्र) है।

खण्डन—अब समाधान करते हैं। श्रवण कीजिये, जो आपने यह प्रश्न किया है कि 'भेद-प्रतीति का विषय भेद स्वरूपादि रूप है या अन्यरूप ? यह निर्वचन-वादी के लिए ही फबता है, हम अनिर्वचनवादी के लिए नहीं। "प्रति-भासमान भी यह भेद स्वरूपादि तीनों पक्षों में अन्तर्भाव-अनन्तर्भाव से, सत्त्व-असत्त्व से या अन्य किसी धर्म से निरूपित होने पर अन्वय या व्यतिरेक से बाधित होता है, अतः उन सभी रूपों से वह अनिर्वचनीय है"—यही हम कहते हैं। हमारे मत से यह अनिर्वचनीयत्व केवल भेद का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण जगत् का ही है। यह अनिर्वचनीयतावाद जिस प्रकार सिद्ध होता है, वह पीछे कह ही आये हैं।

जो आपने 'अथ अन्यतमेत्यादि' से 'गन्धे गन्धान्तरवत्' तक कहा है, वह ठीक नहीं है। कारण जिस भेदप्रतीति की अन्यथानुपपत्तिरूप युक्ति से एक का स्वीकार आप करते हैं, उसी युक्ति से प्रवाह का भी स्वीकार करना होगा। यदि भेद-प्रतीति

स्वीकारे तस्या असाधकत्वं स्वीक्रियते, एकस्वीकारेऽपि स्यात्, अविशिष्ट-लक्षणत्वात् ।

अत एव प्रतिभासमानत्वादेकस्वीकार इत्यप्ययुक्तम् । एकप्रतिभासिकाया युक्तेः सर्वसाधारण्यात् । न हि प्रत्यक्षादेव जायमानः प्रतिभासः प्रमाणं नानुमानादेरित्यत्र युक्तिरभ्युपगमो वा ?

न चानवस्थाप्रसञ्जिका युक्तिरनुमानादेरन्या नाम ।

तर्कस्यापि व्याप्तिमूलत्वम्, सर्वश्चानुमानच्छायामापद्य दूषणमपि प्रवर्तत इति भवतैव व्युत्पादनात् । अतोऽनवस्थाप्रसञ्जिकाया युक्तेर्दोषो वा वक्तव्यः, त्यक्तव्यो वा स्वपक्षः ।

प्रवाहस्वीकारवदेकस्वीकारे नानवस्थेति चेत्; तत्किमनवस्थाभावविशिष्टा यास्तस्या युक्तेः साधकत्वं मन्यसे ? एवं तर्हि द्वितीयमात्रस्वीकारे नानवस्थेति

की अन्यथानुपपत्तिरूप युक्ति भेदप्रवाह की असाधक (आभास) हो, तो वह एक की भी साधक नहीं होगी । कारण भेद-प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति जैसे एक में है, वैसे ही प्रवाह में भी है; दोनों स्थलों की युक्ति में कोई भेद नहीं है ।

समर्थन—प्राथमिक भेद में युक्ति नहीं, प्रत्युत 'घटः पटो न' यह प्रत्यक्ष-प्रमाण है । प्रवाह में ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, अतः उसका स्वीकार नहीं किया जा सकता । *खण्डन*—उस प्रत्यक्ष को आभास माननेवाले को आपको युक्ति अवश्य देनी होगी । वह युक्ति सर्वसाधारण है, अर्थात् प्रवाह की भी साधक है । *समर्थन*—द्विती-यादि भेदगोचर प्रत्यक्ष में आभासता का सन्देह भी नहीं होगा । *खण्डन*—केवल प्रत्यक्ष से जायमान प्रतिभास ही प्रमाण है, अनुमानादि से जायमान प्रतिभास प्रमाण नहीं; इसमें आप कोई युक्ति या वचन प्रमाण नहीं दे सकते ।

समर्थन—भेद-प्रवाह में भी कोई युक्ति नहीं है । यदि कोई अनवस्था की प्रसंजिका युक्ति भी हो तो वह अनुमान है, इसमें प्रमाण नहीं है । *खंडन*—यदि भेद में अन्य भेद न हो, तो वह प्राप्त भेद भी स्वाश्रय से अभिन्न होकर नष्ट हो जायगा, यह अभेद-प्रवाह के स्वीकार की साधक युक्ति भी अनुमानरूप ही है ।

समर्थन—यह युक्ति तर्करूप है, अनुमानरूप नहीं । *खंडन*—तर्क का मूल भी व्याप्ति ही है, अतः तर्क भी प्रमा का जनक है तथा उसका पर्यवसान विपर्यय में ही होता है और वह विपर्यय-पर्यवसान अनुमानरूप ही है । अनवस्था आदि सभी दूषण

द्वितीयस्वीकारप्रसङ्गः। ओमिति चेत्; परार्धपर्यन्तं प्रवाहस्वीकारं को वारयिता?

नैतावन्मात्रेण तुष्यति भवान्, परार्धादप्यधिकमेकादिकं किं नाभ्युपगम्यत इत्यपि भवता वक्तव्यमेव। तथाच सैवानवस्थेति चेत्; सत्यं तस्यास्तु भयात् कीदृशमभ्युपगम्यतामिति निपुणं मन्त्रयामहे।

द्व्यादिकं परित्यज्यतामिति चेत्; एकस्मिन्नाम कीदृशोऽनुग्रहः, येनानवस्थाप्रवाहनिवेशाविशेषेऽपि द्व्यादिकमुपेक्षितम्, एकं तु रक्षितम्? द्वितीयमादायानवस्थेति चेत्; द्वितीयेऽपि यदि भवतोऽनुग्रहः स्यात्, 'तृतीयमादायानवस्थे'-

अनुमान की छाया से युक्त होकर ही प्रवृत्त होते हैं, यह आपने ही कहा है। अतः अनवस्था-प्रसञ्जक युक्ति में दोष कहिये या प्रवाह के तुल्य एक का भी स्वीकार न करिये।

समर्थन—प्रवाह के स्वीकार के तुल्य एक के स्वीकार में अनवस्था नहीं है, अतः एक का स्वीकार करते हैं। *खण्डन*—तो क्या अनवस्था के अभाव से विशिष्ट भेद-प्रतीति की अन्यथानुपपत्तिरूप युक्ति भेद की साधक है, ऐसा मानते हैं, तब तो केवल द्वितीय के स्वीकार में भी अनवस्था नहीं है। अतः द्वितीय का स्वीकार भी करना चाहिए। यदि आप द्वितीय का भी स्वीकार कर लें, तो इसी तरह तृतीय-चतुर्थ के स्वीकार में भी अनवस्था के न होने से तृतीय-चतुर्थ का भी स्वीकार करेंगे। फिर इसी प्रकार परार्धपर्यन्त के स्वीकार का वारण कौन कर सकेगा?

किञ्च—यदि परार्धपर्यन्त से ही आपको संतोष न हुआ, तो परार्ध से अधिक का भी आप स्वीकार क्यों नहीं करेंगे, यह भी आपको कहना चाहिए। यदि कहें कि ऐसा मानने में वही अनवस्था होगी, अतः ऐसा नहीं मानते, तो सत्य है। किन्तु उस अनवस्था के भय से कैसा मानना चाहिए, इसी बात को हम दोनों भलीभाँति विचारें।

समर्थन—अनवस्था के भय से द्वितीय आदि को ही छोड़ दीजिये। *खंडन*—एक के प्रति ही आपका यह कैसा अनुराग है, जिससे अनवस्था के प्रवाह-निवेश में विशेष न होने पर भी द्वितीय आदि की उपेक्षा और एक की रक्षा करते हैं?

समर्थन—प्रथममात्र के स्वीकार में अनवस्था नहीं है और द्वितीय आदि के स्वीकार में अनवस्था है। *खण्डन*—इसी तरह यदि द्वितीय पर भी आपका अनुग्रह हो, तो 'तृतीय के स्वीकार में अनवस्था है' ऐसा कहकर आप द्वितीय की भी रक्षा

त्यभिधाय सोऽपि रक्षितः स्यात् । तावेतौ भवतो रागद्वेषौ निःश्रेयसाय यतमानस्य मानसमास्कन्दमानौ न कल्याणोदर्कौ तर्कयामि ।

गन्धे गन्धान्तरप्रसञ्जिका न च युक्तिरस्ति । तदास्तित्वे वा का नो हानिः, तस्या अप्यस्माभिः खण्डनीयत्वात् ।

यदपि 'अथेतरे'त्यादि 'निरूपणादि'त्यन्तम् । तदप्ययुक्तम्; तथाहि—इतरेतराभावज्ञानं भेदव्यवहारहेतुं मन्यते यस्तस्य पक्षो नोपपन्न आत्माश्रयप्रसङ्गादित्येवं ब्रुवाणस्य न किञ्चिद् बाधकमुक्तं स्यात् । प्रतियोगिरूपत्वेनेत्यादि समाधानं च प्रागेव दूषितम् ।

अथ 'स्वरूपमेवे'त्यादि 'न दोषः' इत्यन्तं यदुक्तम्; तदप्यस्मदनुक्तदोषदूषणमित्युपेक्षितम् ।

करेंगे । मोक्ष के लिए यत्नशील आपके लिए ये पूर्वोक्त राग-द्वेष कल्याणकारी नहीं हैं, ऐसा हमारा अनुमान है ।

फिर, आपने जो यह दृष्टान्त दिया कि 'अनवस्था से जैसे गन्ध में अन्य गन्ध नहीं होता' इत्यादि, सो भी युक्त नहीं है । कारण गन्ध में अन्य गन्ध की साधक कोई युक्ति नहीं है । यदि युक्ति हो, तो उसे मानने में हानि ही क्या है ? इस प्रकार अनवस्था के भय से गन्ध में गन्ध के तुल्य प्रथम गन्ध भी सिद्ध नहीं होगा—यह दोष अनिर्वचनवादी को आप दे नहीं सकते । कारण इसी अनवस्थारूप युक्ति से प्रथम गन्ध का भी हम खण्डन करते ही हैं ।

आपने 'इतरेतराभाव' आदि से 'निरूपणात्' तक जो कुछ कहा, वह भी अयुक्त है । देखिये—'इतरेतराभाव भेद-व्यवहार का हेतु है' ऐसा कहनेवाले का पक्ष आत्माश्रय होने से अयुक्त है, इस कथन पर आपने कोई बाधक युक्ति तो दी नहीं । 'प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी के अस्मृतिकाल में अधिकरणत्वरूप से अधिकरण की प्रतीति तथा अधिकरणत्वरूप से अधिकरण की अप्रतीति-काल में प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी की स्मृति, भेदज्ञान में कारण है, अतः आत्माश्रय नहीं है,' इस युक्ति का खण्डन तो हम पहले ही कर आये हैं । अर्थात् निषेध्य-निषेध का सांकर्य हो जायगा, यह सब कह ही आये हैं ।

'अथ स्वरूप एव' इत्यादि से 'न दोषः' यहाँ तक जो कहा है, वह भी हमारे द्वारा अनुक्त दोष का दूषण (खण्डन) है । अतः हम उसकी उपेक्षा करते हैं ।

यदपि 'तथाऽपि क' इत्यादि 'तिर्यक् चे'त्यन्तम्; तदपि गर्तवर्तिगोधामांस-विभजनन्यायमनुहरति। पक्षत्रयस्याऽप्युक्तयुक्त्या आच्छादितस्य दर्शयितुमशक्यत्वेन तद्विभागव्यवस्थितेरनवसरनिरस्तत्वात्।

यच्च स्वरूपभेदस्य लक्षणमुक्तम्—ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिरिति। तदप्यवद्यम्; यदेकमेव वस्तु भ्रान्त्या भिन्नमिति प्रतीयते, तत्र ताद्रूप्येणैकस्यैकरूपतया प्रतीतिर्नास्ति। अस्ति च प्रतीतिः, न च स्वरूपभेद इत्यतिव्याप्तिः।

ताद्रूप्येणेत्यस्य धर्मान्तररूपभेदासङ्कीर्णोदाहरणार्थत्वात् प्रतीतिरभ्रान्ता विवक्षितेति चेत्; स्वरूपप्रतीतेस्तत्राप्यभ्रान्तत्वात्।

यच्च स्वरूपमात्रेण प्रतीयते वस्तु, न तत्ताद्रूप्येण, न च नानात्मतया, वस्तुगत्या चैकमेव तत्, तत्रापि स्वरूपलक्षणो भेदः स्यात्।

नास्त्येवेदृशमुदाहरणम्, ताद्रूप्याताद्रूप्याभ्यामेकस्यावश्यं प्रतीतेरिति चेन्न।

'तथापि कः परमार्थः' इत्यादि से 'तिर्यक् च' यहाँ तक जो ग्रन्थ है, वह भी बिल में स्थित गोधा (गिरगिट) का मांस व्याधों द्वारा बाँटने की तरह है। अर्थात् अप्राप्त विषय होने से उसकी तरह भेद का वह विभागीकरण उपहासस्पद है। उक्त युक्तियों से तीनों प्रकार के भेद खण्डित हैं। एवञ्च उन भेदों को आप दिखा नहीं सकते। इसलिए उनके विभाग का खण्डन अवसरप्राप्त नहीं (अप्रासंगिक) है।

फिर, स्वरूप-भेद का आपने जो यह लक्षण किया कि 'ताद्रूप्य से अप्रतीति-काल में प्रतीति स्वरूप-भेद है', वह भी सदोष है। देखिये—जो चन्द्र आदि एक वस्तुरूप है, पर भ्रान्ति से दो (भिन्न) प्रतीत होता है, वहाँ ताद्रूप्य (एकरूप) से एक की एकरूपेण प्रतीति नहीं है, अतः वह स्वरूप-भेद नहीं है। एवञ्च वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'ताद्रूप्य' शब्द 'वैधर्म्य' और 'अन्योन्याभाव' इन दो भेदों से असंकीर्ण उदाहरण के प्रदर्शनार्थ है और लक्षणघटक प्रतीति यथार्थ ही विवक्षित है। अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खंडन*—वहाँ भी स्वरूप की प्रतीति यथार्थ ही है।

किञ्च—जो वस्तु स्वरूपमात्र से प्रतीत हो, एकत्वरूप से या नानारूप से प्रतीत न हो, पर वस्तुतः एकरूप ही वह हो, वहाँ भी स्वरूप-भेद हो जायगा।

यदि कहें कि ऐसा उदाहरण नहीं है, कारण ताद्रूप्य या अताद्रूप्य दोनों में से एकरूप से अवश्य प्रतीति होती है, तो 'ऐसी प्रतीति नहीं होती' इस कलह का अवकाश ही नहीं है। कारण 'जो तुमने देखा है, वह एक है या अनेक ?' ऐसा प्रश्न

प्रतीतिकलहानवकाशात् । भवति हि यस्त्वया तत्र दृष्टम्, तत् किमेकमनेकं वेत्यनुयुक्तो नायं विशेषो मया शङ्कितो जिज्ञासितो वा । स्वरूपमात्रन्तु प्रतीत्याहमुदासीनोऽभूवमित्यभिधत्त इति ।

ननु तदपि स्वरूपं भेद एव कस्मादपि, तत् कथमुक्तदोषावतार इति । मैवम्; एवं हि तादृूप्येणाप्रतीताविति व्यर्थं स्यात् । प्रतीतिमात्रं लक्षणं वक्तव्यम् । यत्प्रमेयं तत् कस्मादप्यवश्यं भिन्नमिति एकस्यैव स्वस्माद्भेदप्रसङ्गनिराकरणार्थमपि तादृूप्येणाप्रतीतावित्युक्तम्, तच्च खण्डितमिति ।

तादृूप्यमन्यरूपत्वं विवक्षितमिति चेन्न । तदा हि तदाऽनुपस्थापितपरामर्श-

होने पर 'इस विशेष विषय में मुझे न तो शङ्का हुई, न जिज्ञासा, केवल स्वरूप को देखकर ही मैं उदासीन हो गया था' ऐसा उत्तर कहा जाता है ।

समर्थन—वह भी स्वरूप किसीसे भिन्न ही है, अतः लक्ष्य होने से लक्षण का जाना भूषण ही है । *खण्डन*—यदि ऐसा है, तो प्रतीतिमात्र को ही लक्षण कहिये । तादृूप्य से अप्रतीति विशेषण व्यर्थ है, कारण जो प्रमेय है, वह अवश्य किसीसे भिन्न है, अतः प्रमेयमात्र लक्ष्य ही है । स्व से स्व में भेद-व्यवहार न हो, इसीलिए तादृूप्य से अप्रतीति यह विशेषण है, पर वह उक्त दोष से खण्डित ही है ।

समर्थन—लक्षण-घटक तादृूप्य के एकदेश तद्शब्द से स्वरूप-भेद से अन्य का परामर्श होने से 'स्वरूप-भेद से अन्यत्वरूप से अप्रतीति-काल में जो प्रतीति, वह स्वरूपरूप भेद है,' ऐसा कहेंगे । *खण्डन*—इस लक्षण के घटक 'अन्य' शब्द से यदि स्वरूपभेद का ग्रहण करें, तो स्वरूप-भेद के लक्षण में स्वरूप-भेद का प्रवेश होने से आत्माश्रय हो जायगा । जैसे अन्य शब्द से अनुपस्थापित अन्यत्व का तादृूप्यघटक तद्शब्द के परामर्श से आत्माश्रय होता है । लक्षणघटक अन्य स्वरूप-भेद है और लक्ष्य अन्य है, यह भी नहीं कह सकते, कारण स्वरूप-भेदमात्र लक्ष्य है । यदि लक्षण-घटक 'अन्य'-शब्द अन्योन्याभावपरक मानें, तो अन्योन्याभाव से स्वरूप-भेद का और स्वरूपभेद के प्रतियोगीरूप होने से स्वरूपभेद से अन्योन्याभाव का ज्ञान होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

यदि लक्षण में वैधर्म्यरूप भेद का प्रवेश करें, तो तदन्योन्याभावसमानाधिकरण धर्म ही तद्वैधर्म्य है, अतः अन्योन्याभाव से वैधर्म्य का और वैधर्म्य

त् अन्यत्वस्य स्वरूपभेदत्वे आत्माश्रयः, सर्वस्वरूपाणां लक्ष्यत्वात् । अन्यो-न्याभावत्वे चान्योन्याश्रयः, वैधर्म्ये च चक्रकम् ।

यदपि—इतरेतराभावस्य लक्षणमबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः । एतदप्यशोभनम्; समानाधिकरण इत्यादि भाषायाः कथं कथमपि तात्पर्य-गवेषणेऽपि समानाधिकरणो यो निषेधस्तत्प्रत्ययविषयोऽन्योन्याभाव इति पर्यवसाने समानाधिकरण इति किं तुल्याश्रयः, उतैकाश्रयः, उत तादात्म्यप्रति-योगिकः, उत अधिकरणभूतपदार्थवाचिशब्दविशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितपदा-भिधेयः, उत अन्यदेव ?

तत्र न प्रथमः; तुहिनमयूखे प्रियामुखे च न दूषणकणस्यापि सम्भव इति प्रत्ययस्यापि दर्शनात् । तत्र मुखचन्द्रयोरन्योन्याभावोऽस्तीति चेन्न । तस्य सत्त्वेऽप्युक्तप्रत्ययस्य तदविषयत्वात् ।

माऽस्तु तद्विषयो लक्षणं त्वस्यैतत्, तच्च तदविषयत्वेऽप्यदुष्टमिति चेत्; कीदृशं

से स्वरूप-भेद का और स्वरूप-भेद से अन्योन्याभाव का निरूपण होने से चक्रक हो जायगा ।

'इतरेतराभाव' का जो 'अबाधित और समानाधिकरण निषेधप्रत्यय' यह लक्षण है, वह भी अशोभन है । 'समानाधिकरण' इत्यादि शब्दों के अभिप्राय का किसी प्रकार अन्वेषण करने पर 'समानाधिकरण जो निषेध, उसकी प्रतीति का विषय अन्योन्याभाव है' ऐसा लक्षणार्थ निश्चित होता है । वहाँ 'समानाधिकरण' शब्द का अर्थ क्या तुल्याश्रय है, एकाश्रय है, तादात्म्य-प्रतियोगिकत्व है, अधिकरणभूत जो पदार्थ तद्वाचक शब्द के विशेष्य-विशेषणभाव से स्थित पद से अभिधेयत्व है या अन्य ही कुछ अर्थ है ?

इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण 'चन्द्रे स्त्रीमुखे च दोषकणोऽपि नास्ति' इस प्रतीति के विषय अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी । 'वहाँ मुख और चन्द्र में परस्पर भेद ही है, अतः वह लक्ष्य ही है' ऐसा नहीं कह सकते, कारण मुख और चन्द्र का भेद होने पर भी वह 'चन्द्रे मुखे च दोषकणोऽपि नास्ति' इस प्रतीति का विषय नहीं है ।

समर्थन—'चन्द्रे मुखे च दोषकणोऽपि नास्ति' इस प्रतीति का विषय भेद न हो, तो हानि क्या है, कारण यह अन्योन्याभाव का लक्षण है । वह लक्षण 'मुखं न चन्द्रः' इस प्रतीति को ग्रहण कर उक्त भेद में समन्वित होने से दुष्ट नहीं है । *खण्डन*—कैसा वह लक्षण है ? 'समानाधिकरण जो निषेध, तत् प्रतीतिविषय अन्योन्याभाव है'

तर्हीदं लक्षणम् ? न तावत्समानाधिकरणो यो निषेधस्तत्प्रत्ययो यस्तस्य यो विषयः, सोऽन्योन्याभाव इति । नापि स एवान्योन्याभाव इति ।

नापि यत्र समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययस्तत्र योऽस्ति सोऽन्योन्याभाव इत्यस्तु, तद्धर्मस्य सर्वस्यान्योन्याभावत्वापातात्, समानाधिकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च।

एतेनैकमुदाहरणमादाय द्वितीयोऽपि निरस्तः ।

नापि तृतीयः ; तादात्म्यप्रतिसन्धानव्यतिरेकेण तत्प्रतियोगिकत्वस्य प्रत्येतुमशक्यतया तन्निर्वचनप्रसङ्गात् । तच्चाशक्यम् । तथाहि—तदेकत्वं वा भेदाभावो वा ? स्वरूपं त्वसम्भावितम् , तस्य भेदत्वोपगमात्, तस्मिन् दृष्टेऽपि तन्न वेति तादात्म्यसंशयानवकाशापत्तेः ।

आद्येऽपि संख्याविशेषो वा धर्मान्तरं वा ? नाद्यः ; गुणादौ तदभावप्रसङ्गात् ।

यह लक्षण तो 'चन्द्रे मुखे च दोषकणोऽपि नास्ति' इस प्रतीति के विषय अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्त होने से असङ्गत है । 'उक्त प्रतीति ही अन्योन्याभाव है', यह लक्षण भी उक्त प्रतीति के अविषय अन्योन्याभाव में अव्याप्त होने से असङ्गत है ।

'समानाधिकरण निषेध-प्रत्यय जिसमें हो, उसका धर्म अन्योन्याभाव है', यह लक्षण भी युक्त नहीं । कारण पटादिनिष्ठ धर्ममात्र अन्योन्याभाव हो जायगा । किञ्च—पटनिष्ठ अत्यन्ताभाव में समन्वय होने से उसकी व्यावृत्ति के लिए दिया गया 'समानाधिकरण' पद व्यर्थ हो जायगा ।

'समानाधिकरण' पद का अर्थ एकाश्रय है, यह द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं। कारण 'चन्द्रे मुखे च दोषकणोऽपि नास्ति' यहाँ अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

'तादात्म्य है प्रतियोगी जिसका, वह अन्योन्याभाव है' यह तृतीय कल्प भी युक्त नहीं है, कारण जबतक तादात्म्य का ज्ञान न हो, तबतक तत्प्रतियोगिक अभाव का ज्ञान अशक्य है । अतः प्रथम तादात्म्य का निर्वचन करना होगा, किन्तु वह असंभव है । देखिये—क्या तादात्म्य एकत्व है या भेदाभाव है ? स्वरूपरूप तो तादात्म्य हो नहीं सकता, कारण स्वरूप भेद है और तादात्म्य भेद का अभावरूप है । किंच यदि तादात्म्य को स्वरूपरूप मानें, तो स्वरूप के प्रत्यक्ष होने पर 'तत् न वा' ऐसा तादात्म्य-भ्रम नहीं होना चाहिए ।

फिर, तादात्म्य एकत्वरूप है, इस प्रथम कल्प में भी वह एकत्व संख्यारूप है या अन्य धर्मरूप है ? संख्यारूप नहीं हो सकता, कारण 'गुणे गुणानङ्गीकारः' इस

प्रथमे क्षणे कार्यद्रव्यस्यैकस्यापि स्वातादात्म्यप्रसङ्गात्। वैशेषिकमते व्युत्थाने वैकत्वे तदभावप्रसङ्गात्। उपाधिभिन्नावलम्बि च तादात्म्यं कथं स्वरूपमात्रावलम्बेनैकत्वीकर्तुं शक्यम्, विचित्रप्रतिपत्तिकत्वात्। नापि द्वितीयः; तस्यापि धर्मान्तरापेक्षयाऽनवस्थापातात्, अनपेक्षायां स्वातादात्म्यप्रसङ्गात्।

नापि द्वितीयः; स हि भेदस्याभावो भवन्नप्यन्योन्याभावस्यैव स्यात्, अन्योन्याभावस्य च तत्प्रतिक्षेपात्मकत्वात् तेनाप्यन्योन्याभावप्रतिक्षेपात्मना भवितव्यम्; परस्परप्रतिक्षेपात्मत्वान्निषेध्यनिषेधयोः। तथाच सति अन्योन्याभावप्रतीतिमन्तरेण तन्निरूपणमशक्यं निषेध्यप्रतीतिसापेक्षत्वान्निषेधबुद्धेरित्यन्योन्याश्रयः।

नापि तुरीयः; 'निर्घटं भूतलमि'त्यत्रापि प्रसङ्गात्।

सिद्धान्त के अनुसार गुण में संख्या के तादात्म्य का अभाव हो जायगा। प्रथम क्षण में एक कार्यद्रव्य में भी स्व का अतादात्म्य हो जायगा। यदि 'गुणे गुणानङ्गीकारः' इस वैशेषिक सिद्धान्त को न भी मानें, तो भी अनवस्था के भय से एकत्व में एकत्व न होने से एकत्व में तादात्म्य का अभाव हो जायगा। किंच—भिन्न-भिन्न धर्मों में स्थित नानारूप तादात्म्य का, एकत्व में एक अनुगमकरूप न होने से, स्वरूपमात्र के प्रतिपादक एकत्व-शब्द से कथन कैसे होगा? कारण अनुगमक एकरूप न होने से एकत्व की प्रतिपत्ति विभिन्नविषयक है। एकत्व धर्मरूप है, यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है, कारण धर्म में धर्म मानें, तो अनवस्था हो जायगी। यदि धर्म में धर्म न मानें, तो उस धर्म का अतादात्म्य हो जायगा।

भेद का अभाव तादात्म्य है, यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है। कारण तादात्म्य भेद का अभाव होनेपर भी स्वरूपरूप या वैधर्म्यरूप भेद का अभाव नहीं है, किन्तु अन्योन्याभावरूप भेद का ही अभाव है। कारण अन्योन्याभाव तादात्म्य का निषेधरूप है, इसलिए तादात्म्य भी अन्योन्याभाव का निषेधरूप है; क्योंकि निषेध्य-निषेध दोनों परस्पर प्रतिक्षेपरूप होते हैं। तब तो अन्योन्याभाव की प्रतीति के बिना तादात्म्य का ज्ञान अशक्य है, कारण निषेधबुद्धि निषेध्यबुद्धि की अपेक्षा करके ही होती है, अतः अन्योन्याश्रय हो जायगा।

'अधिकरणरूप अर्थ के वाचक पद के साथ विशेष्य-विशेषणभाव से व्यवस्थित पद से अभिधेय अन्योन्याभाव है' यह चतुर्थ कल्प भी 'निर्घटं भूतलम्' इस प्रतीति से सिद्ध अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्त होने से असङ्गत है।

नापि पञ्चमः ; समानाधिकरण इति प्रतियोगिसमानाधिकरणो विवक्षितः, तादृशश्च निषेधोऽन्योन्याभावः, तत्प्रत्ययश्च तल्लक्षणमित्यस्याप्ययुक्तत्वात्। भावसमानाधिकरणस्यान्योन्याभावस्य 'कुम्भः पटत्वं न भवती'त्यादेरव्यापनात्।

तज्जातीयतथात्वं च यं विशेषमन्योन्याभावगतमादाय स्यात्तदेव लक्षणीभवनसमर्थमुपजीव्यमानमस्य लक्षणस्योपन्यासं प्रत्यादिशति। न च तदपि सम्भवति, अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदखण्डनप्रस्तावे निरस्तत्वात्। प्रकारान्तरस्य चासम्भवात्।

न च पटत्वं न भवतीत्ययमेवाभावो घटः पटत्वं न भवतीत्येक एव। एवं प्रतियोग्यैक्येन मयाऽत्र तथाऽभ्युपगमादिति क्वचित् प्रतियोगिसमानदेशत्वादपि लक्षणसिद्धिरिति वाच्यम्। तथापि प्रतियोग्यैक्येन तदत्यन्ताभावस्यैक्यापत्तेः, तादात्म्यवत्संयोगस्यापि द्विष्ठत्वाविशेषादतिव्याप्तेः।

पञ्चम कल्प भी असङ्गत है। देखिये—यदि 'समानाधिकरण' से प्रतियोगी से समानाधिकरण विवक्षित हो, तो 'प्रतियोगी से समानाधिकरण जो निषेध, तत्प्रतीति' लक्षण हुआ। पर यह असङ्गत है, कारण प्रतियोगी के असमानाधिकरण 'कुम्भः पटत्वं न भवति' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'प्रतियोगी का समानाधिकरण जो निषेध, तत्प्रतीति-विषयवृत्ति जातीयत्व अन्योन्याभाव है,' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—अन्योन्याभाव में स्थित जिस धर्म का ग्रहण कर उक्त लक्षण करेंगे, उपजीव्य होने से उसी धर्म को लक्षण मानिये। वह लक्षण ही उक्त लक्षण का प्रत्याख्यान कर देगा। फिर, अन्योन्याभाव-संसर्गाभाव के भेद-खण्डन के प्रस्ताव में खण्डित होने से अन्योन्याभावनिष्ठ वैसे किसी धर्म का सम्भव भी नहीं है। इनके अतिरिक्त प्रकारान्तर हो ही नहीं सकता।

समर्थन—'पटः पटत्वं न', 'घटः पटत्वं न' इन दो प्रतीतियों के विषय, भेदप्रतियोगियों के एक होने से, एक ही हैं और वह भेद कहीं (पट में) प्रतियोगी से समानाधिकरण है। अतः समन्वय होने से यह लक्षण युक्त ही है। *खण्डन*—यदि प्रतियोगी के एक होने से अभाव एक हो, तो अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव भी एक हो जायँगे। यदि कहें कि 'अन्योन्याभाव का प्रतियोगी तादात्म्य है और वह (तादात्म्य) दो में है, अतः दोनों अभाव एक नहीं हैं, तो संसर्ग भी संसर्गाभाव का प्रतियोगी है और वह भी दो में रहता है, अतः दोनों तुल्य ही हैं।

कालभेदेन च प्रागभावादेरपि प्रतियोगिसमानाधिकरणतयाऽतिव्याप्तेः, कालैक्येन च विशेषणे च तदन्योन्यव्यतिरेकाव्याप्तेरिति।

यदपि धर्मान्तरस्य लक्षणमवादि वैधर्म्यस्य विरोधः, स चैकधर्म्यसमावेश इति। तदप्युद्भ्रान्तमनसो भाषितम्; तथाहि— प्रमाणप्रमेययोर्भेदोऽस्ति न वा? न चेत्तदभिधानस्य पर्यायत्वप्रसङ्गः, किंप्रमाणिका बुद्धिरित्युक्ते बुद्धिविषयेणोत्तरप्रसङ्गश्च।

नापि प्रथमः; स हि न तावत्स्वरूपलक्षणः, तुलादिद्रव्यस्य एकस्याप्युभयभावदर्शनात्। अत एव नान्योन्याभावोऽपि। धर्मान्तरं तु तयोर्भेदः परिशिष्यते, यतोऽन्येन रूपेण तत्प्रमाणमन्येन च तदेव प्रमेयमित्युच्यते। तथाच सत्येकधर्म्यसमावेशो लक्षणमव्यापकम्। सोऽयं 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवदि'ति पारमर्षमपि परामर्शं व्यस्मार्षीदित्यास्तां विस्तरः।

किञ्च—काल-भेद से प्रागभाव और ध्वंसाभाव भी प्रतियोगी के समानाधिकरण हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि 'एक काल में जो प्रतियोगी के साथ समानाधिकरण हो' ऐसा निवेश करें, तो 'कालो न' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव में अव्याप्ति हो जायगी। कारण काल में काल न होने से कालान्योन्याभाव कालरूप प्रतियोगी से समानाधिकरण नहीं है।

आपने यह जो कहा कि "'धर्मान्तर' का लक्षण 'वैधर्म्य का विरोध' है और वह विरोध एकधर्मी में असमावेशरूप है" यह भी भ्रान्त पुरुष का भाषण है। देखिये—प्रमाण, प्रमेय में परस्पर भेद है या नहीं? यदि नहीं है, तो दोनों पर्याय हो जायँगे। किञ्च—'बुद्धि में क्या प्रमाण है?' यह पूछने पर चक्षुरादि को न कहकर प्रमेय का ही अभिधान होने लगेगा।

प्रमाण, प्रमेय में भेद है, यह प्रथम पक्ष भी अयुक्त है; कारण तुलादि एक ही द्रव्य प्रमाण और प्रमेय उभयरूप है। अतः उन दोनों में स्वरूप-भेद नहीं हो सकता। प्रमाण और प्रमेय दोनों के एकरूप होने से अन्योन्याभावरूप भेद भी नहीं हो सकता, किन्तु वैधर्म्यरूप में भेद हो सकता है। कारण प्रमितिकरणस्वरूप धर्म से वह (तुलादि) प्रमाण है और प्रमितिविषयत्वरूप धर्म से प्रमेय है। यदि ऐसा है, तो उस वैधर्म्यभेद के उदाहरण-स्थल में एकधर्मी में दोनों का समावेश होने से लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। इस तरह आपने 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' इस परम ऋषि गौतम के परामर्श को भी भुला दिया! अतः इस सम्बन्धमें अधिक विस्तार बस हो।

ननु भेदप्रतिपत्तेस्तावत् प्रत्यक्षफलस्यार्थेन्द्रियसन्निकर्षः कारणमसाधारणं वक्तव्यम् । तत्र य एवेन्द्रियसन्निकर्षस्य भेदप्रतिपत्तिहेतोर्द्वितीयः सम्बन्धी, स एव भेदोऽस्तु । न ; उक्तबाधकैर्बाधितायाः प्रतीतेरर्थसन्निकर्षकारणत्वाभावादिति ।

कारणत्व-लक्षण-खण्डनम्

किं पुनस्तत्कारणत्वम् ?

पूर्वभावित्वमिति चेन्न । चिरापध्वस्तानामपि कारणत्वप्रसङ्गात् । अव्यवहित-पूर्वभावित्वमिति चेन्न । व्यापारस्यैव कारणत्वप्रसङ्गात् ।

व्यापारेण न व्यवधानमिति चेन्न । कारणकारणस्यापि कारणत्वप्रसङ्गात् । कारणस्यातद्व्यापारत्वात् नैवमिति चेन्न । विना विशेषोक्तिं तस्य दुर्विवेकत्वात् ।

समर्थन—प्रत्यक्ष है फल जिसका, ऐसी जो भेद-प्रतिपत्ति, उसका अर्थ और इन्द्रिय-सन्निकर्ष कारण कहना ही होगा । 'भेद-प्रतिपत्तिजनक उसी सन्निकर्ष का इन्द्रिय से भिन्न जो सम्बन्धी है, वह भेद है', ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—पूर्वोक्त युक्तियों से बाधित उक्त प्रतीति को अर्थ-इन्द्रिय-संन्निकर्ष से जन्य मानने में कुछ प्रमाण नहीं है ।

कारणत्व-लक्षण का खण्डन

फिर वह कारणत्व भी क्या वस्तु है, अर्थात् लक्षण न होने से वह अनिर्वचनीय है ।

समर्थन—कार्य से पूर्ववर्ती कारण है । *खंडन*—जो पूर्वभावी होता हुआ भी चिर-नष्ट है, अतएव कार्य से सम्बन्धरहित है, उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'कार्य से अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण है' ऐसा कहेंगे । *खण्डन*—स्वर्ग से अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से अदृष्ट ही स्वर्ग का कारण होगा । अर्थात् यागरूप क्रिया, व्यवधान होने से, कारण न हो सकेगी ।

समर्थन—अपूर्व यागरूप क्रिया का व्यापार है और व्यापार से व्यापारी का व्यवधान नहीं होता, अतः याग में अव्याप्ति नहीं होगी । *खंडन*—घट के कारण (कुलाल) का कारण (कुलाल का पिता) भी घट का कारण हो जायगा । *समर्थन*—घटरूप कार्य में कुलाल अपने पिता का व्यापार नहीं है । *खंडन*—जबतक व्यापार का लक्षण न हो, तबतक अपूर्व याग का व्यापार है और कुलाल अपने पिता का व्यापार नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं ?

यद्विना यद्यन्न जनयति, तत् तस्यावान्तरव्यापार इति चेन्न। सहकारिणामपि तथात्वप्रसङ्गात् । तज्जन्यमिति चेन्न। तथापि कारणत्वाव्यवस्थितौ विशेषोक्तेरतिप्रसक्तेः । कथमपि विशेषोक्तौ गगनादेः सर्वत्र कार्ये हेतुत्वप्रसङ्गात् ।

अनन्यथासिद्धपूर्वभावित्वमिति चेन्न । वक्तव्यं हि कस्मादन्येन प्रकारेण विना, का च सिद्धिरिति ? यदि हि कार्यादन्येन प्रकारेण न निष्पत्तिः, तदाऽसिद्धिः, नहि कार्येण कारणस्योत्पादनम् । नापि कार्यादन्येन प्रकारेण न ज्ञप्तिः, प्रत्यक्षादेरपि कारणत्वज्ञप्तेः, न खलु सर्वा कार्यलिङ्गजा कारणस्य ज्ञप्तिः ।

नापि कारणत्वात् व्यतिरिक्तेन प्रकारेण न निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, ज्ञप्तावात्माश्रयात् । प्रकारान्तरवत्तयाऽपि च तदुपगमात् ।

समर्थन—'जो जिसके बिना जिसे उत्पन्न न कर सके, उस कार्य में वह उसका व्यापार है।' कुलाल के बिना भी उसका पिता घट का उत्पादन कर सकता है, अतः कुलाल व्यापार नहीं है । *खण्डन*—व्यापार का ऐसा लक्षण करने पर चक्ररूप सहकारी कारण भी दण्ड का व्यापार हो जायगा । कारण चक्र के बिना भी दण्ड घट का उत्पादन नहीं कर सकता । *समर्थन*—जो जिस स्वजन्यके बिना जिसे उत्पन्न न कर सके, उस कार्य में वह उसका व्यापार है । चक्र दण्डजन्य नहीं है, अतः वह व्यापार नहीं होगा । *खण्डन*—जबतक कारणत्व का लक्षण न हो, तबतक जन्यत्वघटित व्यापार का लक्षण ही हो नहीं सकता । किसी प्रकार व्यापार का लक्षण करें भी, तो कार्यमात्र के अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से गगन भी कारण हो जायगा ।

समर्थन—'अनन्यथासिद्ध पूर्वभावी कारण है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खंडन*—कहिये कि किससे अन्य प्रकार के बिना और सिद्धि क्या वस्तु है, अर्थात् सिद्धि शब्द का क्या अर्थ है ? 'कार्य से अन्य प्रकार से निष्पत्ति का अभाव' यह अर्थ हो, तो वह ठीक नहीं । कारण कार्य से कारण की उत्पत्ति नहीं होती । 'कार्य से अन्य प्रकार से ज्ञान का अभाव' यह अर्थ भी नहीं हो सकता; कारण प्रत्यक्ष से भी कारणत्व का ज्ञान होने से सभी कारणों का कार्यों से ज्ञान होता हो, ऐसा नियम नहीं है ।

'कारणत्व से अन्य प्रकार से निष्पत्ति का अभाव या ज्ञान का अभाव' भी अर्थ नहीं हो सकता । कारण स्व में स्व की उत्पत्ति या ज्ञान न होने से आत्माश्रय हो जायगा । किञ्च—दण्डत्वरूप से भी दण्ड का ज्ञान हो सकने से 'कारणत्व से ही कारण का ज्ञान हो' यह कोई नियम नहीं है ।

नन्वेवं भेदप्रतिपत्तेस्तावत् प्रत्यक्षफलस्यार्थेन्द्रियसन्निकर्षः कारणमसाधारणं वक्तव्यम्। तत्र य एवेन्द्रियसन्निकर्षस्य भेदप्रतिपत्तिहेतोर्द्वितीयः सम्बन्धी, स एव भेदोऽस्तु। न; उक्तबाधकैर्बाधितायाः प्रतीतेरर्थसन्निकर्षकारणत्वाभावादिति।

कारणत्व-लक्षण-खण्डनम्

किं पुनस्तत्कारणत्वम् ?

पूर्वभावित्वमिति चेन्न। चिरापध्वस्तानामपि कारणत्वप्रसङ्गात्। अव्यवहित-पूर्वभावित्वमिति चेन्न। व्यापारस्यैव कारणत्वप्रसङ्गात्।

व्यापारेण न व्यवधानमिति चेन्न। कारणकारणस्यापि कारणत्वप्रसङ्गात्। कारणस्यातद्व्यापारत्वात् नैवमिति चेन्न। विना विशेषोक्ति तस्य दुर्विवेकत्वात्।

समर्थन—प्रत्यक्ष है फल जिसका, ऐसी जो भेद-प्रतिपत्ति, उसका अर्थ और इन्द्रिय-सन्निकर्ष कारण कहना ही होगा। 'भेद-प्रतिपत्तिजनक उसी सन्निकर्ष का इन्द्रिय से भिन्न जो सम्बन्धी है, वह भेद है', ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—पूर्वोक्त युक्तियों से बाधित उक्त प्रतीति को अर्थ-इन्द्रिय-संन्निकर्ष से जन्य मानने में कुछ प्रमाण नहीं है।

कारणत्व-लक्षण का खण्डन

फिर वह कारणत्व भी क्या वस्तु है, अर्थात् लक्षण न होने से वह अनिर्वचनीय है।

समर्थन—कार्य से पूर्ववर्ती कारण है। *खंडन*—जो पूर्वभावी होता हुआ भी चिर-नष्ट है, अतएव कार्य से सम्बन्धरहित है, उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'कार्य से अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण है' ऐसा कहेंगे। *खण्डन*—स्वर्ग से अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से अदृष्ट ही स्वर्ग का कारण होगा। अर्थात् यागरूप क्रिया, व्यवधान होने से, कारण न हो सकेगी।

समर्थन—अपूर्व यागरूप क्रिया का व्यापार है और व्यापार से व्यापारी का व्यवधान नहीं होता, अतः याग में अव्याप्ति नहीं होगी। *खंडन*—घट के कारण (कुलाल) का कारण (कुलाल का पिता) भी घट का कारण हो जायगा। *समर्थन*—घटरूप कार्य में कुलाल अपने पिता का व्यापार नहीं है। *खंडन*—जबतक व्यापार का लक्षण न हो, तबतक अपूर्व याग का व्यापार है और कुलाल अपने पिता का व्यापार नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं ?

यद्विना यद्यन्न जनयति, तत् तस्यावान्तरव्यापार इति चेन्न। सहकारिणामपि तथात्वप्रसङ्गात्। तज्जन्यमिति चेन्न। तथापि कारणत्वाव्यवस्थितौ विशेषोक्तेरतिप्रसक्तेः। कथमपि विशेषोक्तौ गगनादेः सर्वत्र कार्ये हेतुत्वप्रसङ्गात्।

अनन्यथासिद्धपूर्वभावित्वमिति चेन्न। वक्तव्यं हि कस्मादन्येन प्रकारेण विना, का च सिद्धिरिति? यदि हि कार्यादन्येन प्रकारेण न निष्पत्तिः, तदाऽसिद्धिः, नहि कार्येण कारणस्योत्पादनम्। नापि कार्यादन्येन प्रकारेण न ज्ञप्तिः, प्रत्यक्षादेरपि कारणत्वज्ञप्तेः, न खलु सर्वा कार्यलिङ्गजा कारणस्य ज्ञप्तिः।

नापि कारणत्वात् व्यतिरिक्तेन प्रकारेण न निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, ज्ञप्तावात्माश्रयात्। प्रकारान्तरवत्तयाऽपि च तदुपगमात्।

समर्थन—'जो जिसके बिना जिसे उत्पन्न न कर सके, उस कार्य में वह उसका व्यापार है।' कुलाल के बिना भी उसका पिता घट का उत्पादन कर सकता है, अतः कुलाल व्यापार नहीं है। *खण्डन*—व्यापार का ऐसा लक्षण करने पर चक्ररूप सहकारी कारण भी दण्ड का व्यापार हो जायगा। कारण चक्र के बिना भी दण्ड घट का उत्पादन नहीं कर सकता। *समर्थन*—जो जिस स्वजन्यके बिना जिसे उत्पन्न न कर सके, उस कार्य में वह उसका व्यापार है। चक्र दण्डजन्य नहीं है, अतः वह व्यापार नहीं होगा। *खण्डन*—जबतक कारणत्व का लक्षण न हो, तबतक जन्यत्वघटित व्यापार का लक्षण ही हो नहीं सकता। किसी प्रकार व्यापार का लक्षण करें भी, तो कार्यमात्र के अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से गगन भी कारण हो जायगा।

समर्थन—'अनन्यथासिद्ध पूर्वभावी कारण है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—कहिये कि किससे अन्य प्रकार के बिना और सिद्धि क्या वस्तु है, अर्थात् सिद्धि शब्द का क्या अर्थ है? 'कार्य से अन्य प्रकार से निष्पत्ति का अभाव' यह अर्थ हो, तो वह ठीक नहीं। कारण कार्य से कारण की उत्पत्ति नहीं होती। 'कार्य से अन्य प्रकार से ज्ञान का अभाव' यह अर्थ भी नहीं हो सकता; कारण प्रत्यक्ष से भी कारणत्व का ज्ञान होने से सभी कारणों का कार्यों से ज्ञान होता हो, ऐसा नियम नहीं है।

'कारणत्व से अन्य प्रकार से निष्पत्ति का अभाव या ज्ञान का अभाव' भी अर्थ नहीं हो सकता। कारण स्व में स्व की उत्पत्ति या ज्ञान न होने से आत्माश्रय हो जायगा। किञ्च—दण्डत्वरूप से भी दण्ड का ज्ञान हो सकने से 'कारणत्व से ही कारण का ज्ञान हो' यह कोई नियम नहीं है।

व्यतिरिक्तत्वमकारणत्वमिष्टमिति चेन्न । उक्तदोषानिवृत्तेः, कारणत्वात् पूर्वं चोत्पत्तिज्ञप्त्योरक्षणिकवादिभिरभ्युपगमात् ।

अव्यवहितपूर्वतया कदाचित्तदपि कारणम् । एवं तत्पूर्वतरमपि, कस्याश्चित् व्यक्तेरनेवम्भावेऽपि तज्जातीयतया तथाभावित्वविवक्षिततया व्यक्तिव्यभिचाराप्रयोजकत्वादिति चेन्न । कार्यान्तरेऽपि गगनादेरतथाभावस्य विनिगन्तुमशक्यत्वात् । कालदेशव्यापकतयाऽन्यथासिद्धिस्थिति तदिति चेन्न । तथा सति शब्दादौ गगनादेरकारणत्वप्रसङ्गात् ।

एतेन—अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वमपि व्युदस्तम् । गगनादेर्व्यतिरेकाभावात्, अकारणत्वप्रसङ्गश्चाधिकः ।

व्यापारवत्त्वं कारणत्वमिति चेन्न । तद्धि व्यापारसमवायित्वं वा व्यापार-

समर्थन—'अन्यथा' शब्द का अर्थ व्यतिरिक्तत्व है और वह अकारणत्व है। एवञ्च 'अकारणत्वरूप से जिसका ज्ञान न हो और जो पूर्ववर्ती हो, वह कारण है' यह समुदायार्थ हुआ। *खण्डन*—कारणत्व के ज्ञान के बिना अकारणत्व का ज्ञान न होने से आत्माश्रय हो जायगा। किञ्च—स्थिरवादी के मत में कारणत्व से पूर्व भी दण्डादि का दण्डत्वादिरूप से ज्ञान होने से दण्डादि में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—कदाचित् अव्यवहित-पूर्वक्षणवृत्तित्व होने से उससे पूर्वतर काल में भी वह कारण ही है। अर्थात् 'कार्याव्यवहितपूर्वक्षणासम्बन्धानधिकरणत्व' ही कारणत्व है। वह कारणत्व उस काल में भी विद्यमान है। उत्पन्न-विनष्ट तन्तु में कदाचित् भी पूर्वक्षणवृत्तित्व न होने पर पूर्वक्षणवृत्ति-तन्तुजातीयत्व होने से ही कारणत्व होता है। जातीयत्वनिवेश की विवक्षा से ही एक-एक व्यक्ति में व्यभिचार नहीं होता। *खंडन*—तब तो शब्द से अतिरिक्त घटादि में भी गगना कारण हो जायगा। यदि कहें कि देश तथा काल से व्यापक होने से गगन अन्यथासिद्ध है, तो शब्द में भी गगन कारण नहीं होगा।

अन्यथासिद्धि का निर्दुष्ट लक्षण न होने से ही 'अनन्यथासिद्ध अन्वय तथा व्यतिरेक के कार्य में जिसका अनुविधान हो, वह कारण है' यह लक्षण भी खण्डित है। किञ्च—गगन का व्यतिरेक न होने से वह शब्द का अकारण हो जायगा।

समर्थन—'जिसमें व्यापार हो वह कारण है' ऐसा लक्षण करेंगे। कार्यान्तर में गगनादि व्यापार न होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं है। *खंडन*—व्यापारवत्त्व क्या

जनकत्वं वा ? नाद्यः ; यागादेरकारणत्वप्रसङ्गात् । नोत्तरः ; तस्यैव निरूप्य-माणत्वात् ।

नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारकत्वमिति चेन्न । निवारकपदान्वयस्य प्रत्ययस्य कारणत्वनिर्वचनं विनाऽनिरूप्यमाणार्थत्वात् । अन्यतरार्थस्यैकस्य च निरुक्त्यशक्तेः ।

यदनभ्युपगमे यस्य तत्पूर्वसत्त्वप्रसङ्गः, तत्तस्य कारणम्, तद्भावश्च कारणत्वमिति चेन्न । भावस्य विनाशित्वानभ्युपगमे तथा प्रसङ्गेनातिव्यापकत्वात् ।

तत्पूर्वस्थितत्वेन च विशेषणे सहभावनियतस्याभावेऽपि प्रसङ्गः । तथात्वो-

क्या है ? क्या व्यापार का समवाय जिसमें हो, वह विवक्षित है या व्यापार का जनक जो हो वह ? प्रथम पक्ष में याग में अपूर्वरूप व्यापार का समवाय न होने से वह कारण न होगा । द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि तब तो कारणत्व के लक्षण में जनकत्व (कारणत्व) का प्रवेश हो गया और वह अद्यापि निरूप्य ही है ।

समर्थन—'कार्य का जो नित्य सत्त्व या नित्य असत्त्व, दोनों में एक की प्रसक्ति का निवारक (निवृत्तिजनक) कारण है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खंडन*—यह लक्षण भी कारण-लक्षण में कारण का प्रवेश होने से अयुक्त है । क्योंकि 'निवारक' पद में ल्युट् प्रत्यय का अर्थ कर्ता (कारणविशेष) है, जो कारणत्व के निर्वचन के बिना अनिरूप्य है । किञ्च—'अन्यतर' शब्द का अर्थ यदि अनिर्धारित प्रत्येक, यह करें तो वह भी असंगत है । कारण अनिर्धारित से 'निर्धारण का अभाव' विवक्षित हो, तो अभाव के खण्डित होने से वह सम्भव नहीं । यदि 'दोनों से जो अन्य, उससे अन्यत्व' यह अर्थ करें तो भेद खण्डित होने से वह भी नहीं कह सकते ।

समर्थन—जिसके (कारण के) अस्वीकार करने पर स्व (कार्य) से पूर्वकाल में जिसकी (कार्य की) सत्ता की आपत्ति हो, वह उसका कारण है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—यदि ऐसा कहें, तो 'भाव विनाशयुक्त न होता, तो स्व से पूर्वकाल में होता' ऐसी आपत्ति संभव होने से विनाश भी कारण हो जायगा ।

समर्थन—'जिस पूर्ववर्ती के अनभ्युपगम में कार्य के पूर्वकाल में सत्त्व की आपत्ति हो, वह कारण है' ऐसा कहेंगे । अर्थात् 'कार्यपूर्वसत्त्वे सति कार्यपूर्वसत्त्वापादकानभ्युपगमविषयत्वं कारणत्वम्' यह कहेंगे । एवञ्च विनाश पूर्वभावी नहीं है, अतः वह कारण नहीं हो सकेगा । *खंडन*—सहभाव से नियत रूपादि का प्रागभाव भी रस का

पगमे सामग्र्यामपि प्रसङ्गः। तस्या अपि च तथात्वोपगमे कार्यद्वयैक्यप्रसङ्गः। असाधारण्यश्च विशेषापेक्षित्वे, अतिव्याप्तिरविशेषे, भाविपूर्वार्थविकल्पावकाशश्च।

नियतप्राग्भावित्वमिति चेन्न। अवश्यम्भावस्य नियमार्थत्वे गगनादेः सर्वकार्यहेतुत्वप्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात्। अवयवरूपादेश्च अवयवितद्रसादिषु कारणत्वप्रसङ्गात्।

अनौपाधिकत्वं नियमार्थ इति चेत्। एवं ह्यनौपाधिकपूर्वभावो हेतुत्वमित्युक्तं भवति। तथाच पिपीलिकोत्थानादेर्वृष्ट्यादौ जनकत्वप्रसङ्गः, सहभाविसामग्र्या वा।

कारण हो जायगा, क्योंकि 'यदि रूपप्रागभावो न स्यात्तर्हि स रसपूर्ववर्ती स्यात्' ऐसा आपादन किया जा सकता है। यदि रूप-प्रागभाव को रस का कारण मान लें, तो रूप की सामग्री भी रस-सामग्री हो जायगी। यदि रूप की सामग्री को रस-सामग्री भी मान लें, क्योंकि पाकज-स्थल में वह कारण होती ही है, तो दोनों कार्यों का ऐक्य हो जायगा। किञ्च—लक्षणघटक यत्-शब्द से यदि दण्डादि विशेष व्यक्ति का ग्रहण करें, तो लक्षण का अननुगम हो जायगा। अर्थात् वह लक्ष्यमात्र का संग्राहक न होगा। एवञ्च जिस कारण व्यक्ति का यत्-शब्द से उपादान करेंगे, उससे अन्यत्र अव्याप्ति हो जायगी। यत्-शब्द से कारणमात्र में वृत्ति एक उपसंग्राहक रूप न होने से कारणमात्र का उपादान नहीं हो सकता। यदि कथञ्चित् यत्-शब्द से सबका उपादान करें (किसी प्रकार अनुगम कर लें), तो कारणत्वरूप से अभिमत व्यक्तिमात्र के अनभ्युपगम में कार्यमात्र के पूर्वसत्त्व का भी आपादन संभव होने से कार्यमात्र में वस्तुमात्र कारण हो जायगा। अर्थात् घट में तन्तु भी कारण होने लगेगा। तथाच लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। वक्ष्यमाण पूर्वशब्दार्थ में विकल्प का भी अवकाश है, अर्थात् वक्ष्यमाण विकल्पों के कारण लक्षणघटक पूर्वशब्द के अर्थ का निर्वचन न हो सकने से भी यह लक्षण संभव नहीं है।

समर्थन—'जो नियम से पूर्वभावी हो वह कारण है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—'नियम' शब्द का अवश्यम्भाव अर्थ करें, तो गगन आदि नित्य पदार्थ सभी कार्यों के कारण हो जायँगे। साथ ही अवयव का रूप अवयवी के रस का भी कारण हो जायगा।

समर्थन—नियम शब्द का उपाधिरहितत्व अर्थ करेंगे। अर्थात् कार्य के साथ अविनाभावेन पूर्ववृत्तित्व कारणत्व है। एवञ्च पूर्वोक्त अतिव्याप्ति न होगी। *खंडन*—यदि ऐसा कहें तो पिपीलिकोत्थान भी वृष्टि का कारण हो जायगा। इसी तरह रूप की सामग्री रस का कारण हो जायगी।

न तत्र प्राचि पूर्वभावो नियतः, किन्तु वृष्टेः परं भाव इति चेन्न। प्राग्रूपाणामेव नियतत्वात्। तानि कारणमेवेति चेन्न। निदानप्राग्रूपसाङ्कर्य-प्रसङ्गात्।

पूर्वार्थश्च वक्तव्यः।

पूर्वकालसम्बन्धित्वं पूर्वत्वमिति चेन्न। कालस्याकारणत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि किं पूर्वत्वमिति विवेचनीयत्वात्।

अतीतोपाध्यवच्छिन्नत्वं तस्य पूर्वत्वमिति चेन्न। अतीत इति नष्ठान्तस्य पूर्वकालवाचिनो विवेचनीयत्वात्। परत्वापरत्वयोर्गुणयोर्मध्ये यत्परत्वं तत्पूर्वत्व-

समर्थन—पिपीलिकाण्ड-संचार में वृष्टि का पूर्वभाव नियत नहीं है, कारण उसके बिना भी वृष्टि देखी गयी है। अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। वृष्टि में पिपीलिका के अण्डों के संचार का परभाव नियत है, यह अलग बात है, कारण उसका प्रकृत लक्षण में कुछ उपयोग नहीं है। *खण्डन*—रोग-प्राग्रूप में भी निरुपाधिक रोग का पूर्वभावित्व है, अतः वह भी कारण होने लगेगा। प्राग्रूप कारण ही है, ऐसी इष्टापत्ति नहीं कह सकते, कारण निदान और प्राग्रूप का साङ्कर्य हो जायगा, वैद्यक शास्त्र में इनको भिन्न-भिन्न कहा गया है[1]।

किञ्च—लक्षणघटक 'पूर्व' शब्द का अर्थ भी कहना होगा।

समर्थन—पूर्वकाल में सम्बन्धी को पूर्व कहते हैं। *खंडन*—काल में पूर्वकाल का सम्बन्ध न होने से काल कारण न कहलायेगा। किञ्च—काल में पूर्वत्व क्या वस्तु है, इसका भी विचार करना चाहिए।

समर्थन—अतीत जो उपाधि उससे अवच्छिन्नत्व (युक्तत्व) ही कालमें पूर्वत्व है। *खण्डन*—'अतीत' इस पद में 'निष्ठा' का अर्थ भी पूर्वकाल ही है, अतः आत्माश्रय हो जायगा। कारण काल में पूर्वत्व का विवेक काल से ही होगा।

समर्थन—'नियतपूर्ववृत्तित्व कारणत्व है' इस लक्षण में पूर्वशब्द परत्व गुणपरक है।

१. 'माधव-निदान' में कहा गया है कि निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति ये व्यस्त और समस्त रूपों से व्याधि के बोधक हैं। यथा—

'निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्॥'

जिस व्याधि का जो रूप है, वही अणुरूप होने से जब अधिक व्यक्त नहीं होता, वह पूर्वरूप है।

मुच्यत इति चेन्न । कालादौ गुणादौ च तदनङ्गीकारात् तेषामकारणत्वप्रसङ्गात् । तस्मिन्नेव च तदभावात्, साक्षात्कारिज्ञानादावपि तस्याकारणत्वप्रसङ्गात् ।

सामग्र्येकदेशत्वं कारणत्वमिति चेन्न । एकदेशत्वस्यानिर्वचनीयत्वात् । अवयवत्व-प्रदेशत्वादीनां सामग्र्यामसम्भवात् । सकलकारणकलापसमवधानस्यैव च मेलकार्थत्वात् तेनैव तन्निर्वचनीयत्वात् ।

यदनन्तरं कार्यं भवत्येव, सा सामग्रीति चेन्न । विभागानन्तरं संयोगनाशस्य अवश्योत्पत्तेर्विभागस्यापि सामग्रीत्वप्रसङ्गात् । एवं कर्मणो विभागेऽन्त्य-तन्तुसंयोगस्य पटे इत्यादि ।

कार्यकारणभावो नाम सम्बन्धः कोऽपीति चेत् । न ; तदाऽविशेषेण कार्य-कारणसाङ्कर्यापत्तेः । कार्यकारणविशेषितत्वाद्भेदे तयोः पृथक् निर्वाच्यत्वापत्तेः ।

खण्डन—कालादि और गुणादि में परत्व के न होने से वे अकारण हो जायँगे। यदि कालादि और गुणादि में परत्व को मान भी लें, तो अनवस्था के भय से परत्व में परत्व को तो मानेंगे नहीं, अतः उसमें अव्याप्ति हो जायगी। फिर परत्वविषयक साक्षात्कार का भी परत्व कारण होता है ।

समर्थन—'सामग्री का एकदेश कारण है' ऐसा लक्षण करेंगे । *खण्डन*—'एक-देश' शब्द के अर्थ का निर्वचन न होने से यह लक्षण युक्त नहीं है । कारण एकदेश शब्द के अवयव, प्रदेश आदि अर्थ अन्यत्र (घटादि स्थलों में) होते हैं, किन्तु उन अर्थों का सामग्री में सम्भव नहीं है; क्योंकि सामग्री निरवयव होती है । किञ्च—सम्पूर्ण कारणों का समुदाय ही सामग्री है, अतः सामग्री-घटित कारण को लक्षण कहने पर अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

समर्थन—'जिसके अनन्तर कार्य होता ही हो, वह सामग्री है ।' *खंडन*—विभाग के अनन्तर संयोग-नाश अवश्य होता है, अतः विभाग भी संयोगनाश की सामग्री हो जायगा । इसी प्रकार कर्म भी विभाग का और अन्त्य तन्तुसंयोग भी पट का सामग्री हो जायगा ।

समर्थन—संयोग-समवाय से भिन्न सम्बन्धविशेष को कार्यकारणभाव कहते हैं और तादृश सम्बन्धाधिकरणत्व ही कारणत्व है । *खण्डन*—यदि कार्यकारणभाव को सम्बन्धरूप मानेंगे, तो सम्बन्ध द्विष्ठ होता है ; अतः कार्य ही कारण हो जायगा । यदि कार्य-सम्बन्धित्व को कारणत्व और कारणसम्बन्धित्व को कार्यत्व कहें, तो दोनों का पृथक्-पृथक् निर्वचन करना होगा ।

कारणत्वं धर्मः कोऽपीति चेन्न । तत्सद्भावे प्रमाणस्य वाच्यत्वात् ।

क्वचित्प्रत्यक्षः सः, क्वचित् दृष्टानुमेय इति चेन्न । किं हि प्रति कारणतां प्रत्यक्षमुल्लिखेत् ? न तावदनिर्लुठितकार्यम् ; अप्रतीतेः, अन्वयव्यतिरेकादेर्व्यञ्जकस्य च विशेषं प्रत्येव सम्भवात् ।

नापि सामान्यतो घटादि प्रति; एवं विशेषतो घटाद्यनुत्पत्त्यापत्तेः । तावन्मात्रात् विशेषोत्पत्तेर्विशेषेषु विनिगमना न स्यात् ।

प्रतिविशेषं चोत्पत्तेः प्राग्वर्तमानत्वादसन्निकर्षाद्व्यक्तविषयतानुपपत्तेः ।

समर्थन—कारणत्व कारणवृत्ति कोई (विशेषरूप से अनिर्वचनीय) धर्म है । अर्थात् कार्यतावच्छेदक और कारणतावच्छेदक से भिन्न पदार्थान्तर है । वह कारणत्वत्व-रूप अखण्डोपाधि से अनुगत कारणपद का शक्यतावच्छेदक है । *खण्डन*—उस कारणत्व के सद्भाव में प्रमाण कहना होगा, पर कोई प्रमाण नहीं है ।

समर्थन—दण्डादि प्रत्यक्षपदार्थनिष्ठ कारणत्व तो प्रत्यक्ष ही है और परमाणु आदि निष्ठ कारणत्व अनुमेय है । *खंडन*—कारणत्व को विषय करनेवाला प्रत्यक्ष केवल (निष्प्रतियोगिक) कारणत्व को विषय करता है अथवा कार्यत्व से युक्त (सप्रतियोगिक) कारणत्व को ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है; क्योंकि केवल (कार्यत्व से अयुक्त) कारणत्व की प्रतीति नहीं होती । किञ्च—प्रत्यक्ष का सहकारी अन्वय-व्यतिरेक भी कार्य-विशेष से युक्त कारणत्व में ही रहता है, केवल कारणत्व में नहीं ।

द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त प्रतीति सामान्यतः कार्यत्वनिरूपित कारणत्व का उल्लेख नहीं करती । अन्यथा प्रमाण न होने से घटादि विशेष कार्य की कारणता ही सिद्ध नहीं होगी । फिर कारण न होने से घटादि विशेष व्यक्ति उत्पन्न भी होंगे । यदि सामान्यतः कार्यत्व से निरूपित कारण से विशेष की उत्पत्ति मानें, तो वह उत्पत्स्यमान घटादि इसी दण्ड से जन्य है, ऐसा निश्चय नहीं होगा । अतः विशेष घट के जननार्थ कारण-विशेष में प्रवृत्ति नहीं होगी ।

यदि कहें कि कार्य-विशेष से निरूपित कारणता का उल्लेख प्रत्यक्ष करता है, तो यह विकल्प होता है कि उत्पत्ति से पूर्वकाल में उक्त कारणता का ज्ञान होता है या उत्पत्ति से उत्तरकाल में ? यदि कहें कि उत्पत्ति से पूर्वकाल में, तो उस काल में कार्य है नहीं, अतः कार्यत्वनिरूपित कारणत्वरूप विशिष्ट न होने से—विषय-सन्निकर्ष

कार्यसत्त्वकालश्च सामग्र्यभावात् न तज्जननकाल इति तदानीं तज्जननविशिष्टता कथमध्यक्षा स्यात् , प्राक्तदग्रहणेन संस्कारसाचिव्यस्याप्यसम्भवात् ।

एवं क्वचिदपि हेतुत्वे साक्षात्कारासम्भवेन किंमूलव्याप्तिग्रहात्तत्रानुमाऽपि स्यात् । प्रतिबन्दी चानिर्वचनवादिनि न स्थाने ।

कादाचित्कत्वानुपपत्त्या तद्ग्रह इति चेन्न । वैयधिकरण्यात् । कथमपि सामानाधिकरण्ये तदुपपादकस्योपपाद्यवदनुपपत्तौ अविशेषादविश्रान्तिः, नानादित्वेनाऽपि शक्योपपादना ।

ही न होने से—प्रत्यक्ष नहीं होगा । उत्पत्ति से उत्तरकाल में पूर्वकाल के न होने से पूर्वकालवृत्तित्वरूप कारणत्व ही नहीं है, तो किसका प्रत्यक्ष होगा ? पूर्वकाल में कारणता का ज्ञान न होने से इस काल में कारणताविषयक संस्कार भी नहीं है । अतः प्रत्यभिज्ञा में तत्ता के तुल्य, संस्कार के बल से प्रत्यक्ष में कार्यताविशिष्ट कारणता भासती है, यह भी नहीं कह सकते ।

'इस तरह जब कभी भी कारणता का प्रत्यक्ष नहीं होता, तो किस प्रमाण के बल पर व्याप्तिग्रह होगा और जब व्याप्तिग्रह नहीं होगा, तो कारणता की अनुमिति भी कैसे होगी ? फिर यदि कारणताग्रह नहीं होता, तो दूसरे के ज्ञानार्थ वाग्व्यवहार में तथा तृषा-निवृत्ति के लिए जलपान में प्रवृत्ति भी कैसे होगी ?' यह प्रतिबन्दी भी ठीक नहीं । कारण अनिर्वचनीयतावादियों के मत में स्वप्नवत् प्रवृत्ति हो ही सकती है । एवञ्च यह प्रतिबन्दी भी खण्डित ही है ।

समर्थन— भले ही अनुमान से कारणत्व का ग्रह न हो; घट, पट आदि कार्य अनित्य हैं, उनकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण से ही उसका ग्रह हो सकता है । *खण्डन*—यह भी संभव नहीं, क्योंकि कारणत्व कारण में है और अनित्यत्व कार्य में है, अर्थात् दोनों व्यधिकरण हैं । यदि कहें कि कार्य के कादाचित्कत्व से कार्य में ही सकारणत्व की कल्पना होती है । एवञ्च किसी प्रकार दोनों समानाधिकरण हो जायँ, तो भी उस कारण में भी कादाचित्कत्व से सकारणत्व की कल्पना, कारण के कारणमें भी वैसी कल्पना—इस प्रकार अनवस्था हो जायगी । अनादि होने से बीजाङ्कुर के तुल्य अनवस्था दोष नहीं है, यह भी नहीं कह सकते । कारण जब कहीं कारणत्व प्रमाणसिद्ध (इष्ट) होता, तब अनादित्व से अनवस्था का परिहार हो सकता । जहाँ कारणत्व प्रथमतः सिद्ध ही नहीं, विप्रतिपन्न है, वहाँ बीजाङ्कुर के तुल्य अनादित्व से अनवस्था का परिहार भी कैसे होगा ?

वैयधिकरण्येऽप्युपपाद्यासम्बन्धश्चेदनियमः, सम्बन्धश्चेदविश्रान्तिरिति ।

एतेन शक्तिः कारणत्वमित्यपि निरस्तम् ।

किञ्च—प्रत्यक्षप्रमितौ विषयस्यापि सन्निकर्षव्यापारकस्य कारणतया स्ववृत्त्यापत्तेः। अन्यथाऽक्षस्यापि तत्र कारणत्वं न स्यात्, अनुविधानाविशेषात्।

विषयाविशेषितात्सन्निकर्षस्य तथात्वेऽत्यापत्तेः, क्वचित् कारणत्वाकारणत्व-विवादस्य चानुच्छेद्यत्वापत्तेः ।

किञ्च—उपपाद्य और उपपादक का परस्पर सम्बन्ध है या नहीं ? यदि नहीं, तो 'इस उपपादक से इस उपपाद्य की कल्पना होती है' यह नियम नहीं होगा । यदि सम्बन्ध है, तो उस सम्बन्ध का भी अन्य सम्बन्ध एवं उत्तरोत्तर सम्बन्ध की कल्पना में अनवस्था हो जायगी ।

'कारण में वृत्ति शक्तिविशेष कारणत्व है' यह मीमांसक का मत भी ठीक नहीं है; कारण पूर्वोक्त रीति से उसका प्रत्यक्ष आदि न होने से उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है । अर्थात् शक्ति अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं है, अर्थापत्ति से ही उसकी सिद्धि करनी होगी और पूर्वोक्त दोषों से अर्थापत्ति भी उसमें प्रमाण नहीं हो सकती, यह भाव है ।

किञ्च—प्रत्यक्ष-प्रमा में विषय भी कारण होने से कारणत्व-प्रत्यक्ष में कारणत्व भी विषयरूप से कारण हुआ । एवञ्च कारणत्व में वही कारणत्व मानें, तो स्व में स्ववृत्तित्व होने से आत्माश्रय हो जायगा । यदि अन्य कारणत्व मानें, तो वह अननुगत हो जायगा, परस्पर अव्याप्ति और अनवस्था भी होगी । यदि विषय के साथ प्रत्यक्ष का अन्वय-व्यतिरेक होते हुए भी उसे प्रत्यक्ष में कारण न मान केवल सन्निकर्ष के प्रति ही कारण मानें, तो इन्द्रियाँ भी प्रत्यक्ष में कारण न होंगी; क्योंकि विषय और इन्द्रिय दोनों का अन्वय-व्यतिरेक प्रत्यक्ष में तुल्य है ।

यदि विषय से अविशेषित सन्निकर्ष को कारण मानें, तो अन्य विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर अन्य विषय का प्रत्यक्ष हो जायगा । किञ्च—यदि कारणत्व प्रत्यक्ष है, तो अभाव-प्रत्यक्ष में इन्द्रियसन्निकर्ष की कारणता के विषय में नैयायिक और मीमांसक का जो विवाद होता है, वह न होना चाहिए; क्योंकि प्रत्यक्ष में विवाद ही नहीं होता । यदि प्रत्यक्ष में भी विवाद हो, तो उसका कदापि उच्छेद ही न होना चाहिए ।

एकेन तस्य दृष्टेरपरेण चादृष्टेः । तल्लक्षणस्य नियतपूर्वभावित्वादेः कथनेन कथितदोषापत्तेः ।

विना च तच्चिह्नाद् भ्रमसन्देहौ तत्र किं दर्शनादुच्छेद्यौ, अक्षेण हेतुत्व-धर्मिणि दृष्टेऽपि तददृष्ट्या यदवगमोऽक्षसहकारी वाच्यः, तदर्थेन सिद्धेन हेतु-धियोऽर्थवत्त्वे सम्भवति तदन्यार्थकल्पनागौरवं कुतो बलात् सिद्ध्येत् ।

तस्यान्वयानुविधानादेरनुमेयहेतुत्वे व्योमादावनुपपत्तेस्तदन्यत्वसिद्धिरिति

समर्थन—नैयायिक के मत में अभाव-प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष की कारणता प्रत्यक्ष है, पर मीमांसक को स्वमत में आग्रहरूप दोष प्रतिबन्धक होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, इसीलिए विवाद होता है। फिर जब नियतपूर्ववर्तित्वरूप हेतु से नैयायिक मीमांसकों के कारणत्व का अनुमान कराता है, तो विवाद का उच्छेद हो जाता है, अतः विवाद अनुच्छेद्य नहीं है। खण्डन—पूर्ववर्तित्व आदि लक्षण पूर्वोक्त दोषों से खण्डित हैं, अतः इनसे कारणता का अनुमान संभव न होने से उक्त विवाद का उच्छेद ही न होना चाहिए।

किञ्च—कभी-कभी 'इदं कारणं न वा' ऐसा संदेह या अकारण में 'इदं कारणम्' ऐसा भ्रम हो जाता है। यदि कारण का लक्षण न हो, तो किसके दर्शन से उक्त संदेह या भ्रम की निवृत्ति होगी ? इसी तरह कभी-कभी कारण का प्रत्यक्ष होने पर भी कारणता का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः कारणता के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का कोई सहकारी अवश्य मानना होगा। एवञ्च यदि उसी सहकारी से कारणत्वविशिष्ट बुद्धि का निर्वाह हो जाता है, तो उससे अन्य कारणता की कल्पना का गौरव क्यों स्वीकार करें ?

समर्थन—दण्डादि में कारणता अन्वय-व्यतिरेक के अनुविधानरूप हेतु से अनुमेय है और गगन आदि में व्यतिरेक न होने से धर्मिग्राहक प्रमाण [अनुमानादि] से ही ग्राह्य है। अतः एक अनुगत सहकारी न होने से अतिरिक्त कारणता मानते हैं। *खंडन*—'दण्डः घटकारणम्' इस प्रत्यक्ष का विषय 'लक्षण से भिन्न कारणत्व धर्म है' यह सिद्ध होने पर उसे दृष्टान्त मानकर गगन आदि में अतिरिक्त कारणता का अनुमान हो और गगनादि में अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधानरूप कारणता का बाध होने पर अतिरिक्त कारणता का अनुमान होने पर अनेकरूप कारणत्व न मानना पड़े,

चेन्न। अन्योन्याश्रयापत्तेः। प्रत्यक्षस्यान्यस्मिन्विषये सिद्धेऽन्यत्र दृष्टान्तेन तदनुमाम्, तत्सिद्धौ च प्रत्यक्षस्यान्यविषयतासिद्धिः।

तस्य चानागन्तुकत्वे प्रागपि तत्सत्त्वादस्तीतिमतिवत् करोतीति प्रमापातः। आगन्तुकत्वे च तदुत्पत्तेः प्राक् कारणत्वं क्वापि न स्यात्। तथाप्यजातत्वे घटाद्यपि किं न तथा स्यात्।

व्यावृत्तेषु तेष्वनुगतौ च सर्वं प्रति सर्वकारणत्वापातात्।

प्रतिकार्यव्यक्ति तत् पृथगिति चेन्न। साधारणस्यापि तद्गतस्य स्वरूपस्य घटादिकारणात्मतयाऽनुवृत्तौ घटकारणत्वस्यापि तन्तुकारणत्वापत्तेः।

कारणत्वमात्रेण तदनुगतं रूपं न घटकारणत्वादिनेति चेन्न। घटादि-

इसलिए 'दण्डः घटकारणम्' इस प्रत्यक्ष का विषय अतिरिक्त कारणत्व है—यह सिद्ध हो, इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जायगा।

किञ्च—कारणत्व नित्य है या अनित्य? प्रथम पक्ष में घट की उत्पत्ति से पूर्वकाल में भी कारणत्व रहने से पूर्वकाल में 'दण्डोऽस्ति' इस व्यवहार के तुल्य 'दण्डः करोति' यह व्यवहार भी हो जायगा। द्वितीय पक्ष में कारणत्व की उत्पत्ति से प्राक् कारणत्व-व्यवहार कहीं भी न होना चाहिए। एवञ्च कारणत्व का कोई उत्पादक न होने से उसकी उत्पत्ति ही नहीं होगी। यदि अनित्य होते हुए भी कारणत्व को अजात मानें, तो घट-आदि को भी अजात क्यों न मानें?

किञ्च—यदि स्वरूप से भिन्नरूप दण्ड, वेमा आदि कारणों में अनुगत एक कारणत्व मानें, तो सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए। कारण दण्ड में जो कारणता है, वह सब कार्यों के प्रति एक-सी है। जैसे गौ सबके प्रति 'गौ' है, किसीके प्रति 'अगौ' नहीं है।

समर्थन—तत्तत् कार्य के भिन्न-भिन्न जो कारण, उनमें कारणत्व भिन्न-भिन्न है। अतः सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती। *खण्डन*—यदि 'इदं कारणम्, इदं कारणम्' इस अनुगत प्रतीति से सिद्ध कारणत्व घटादि कारणत्वरूप ही है, तब घट का कारण तन्तु का कारण क्यों न हो?

समर्थन—कारण में कारणत्वरूप सामान्य धर्म रहता है और घटादि में तत्तत् कार्यत्व से निरूपित तत्-तत् कारणमात्रवृत्ति तत्तत्-कारणत्वरूप विशेष धर्म रहता है। इस प्रकार उसमें दो धर्म रहते हैं। अतः दण्ड में सामान्य कारणत्व रहने पर भी

विशेषानुपहितकारणत्वमात्रस्य किंप्रतीत्यनिर्देश्यस्य सद्भावे प्रमाणाभावात्। अन्यथा यदि किञ्चित्प्रति कारणे सामान्यतः कारणत्वं नाम धर्मः स्यात्, तदा तस्या एव व्यक्तेः किञ्चित्प्रत्यकारणत्वादकारणत्वमपि रूपं तत्र स्यादिति अनपेक्षितविशेषकारणत्वाध्यासाद् भेदेनैकमात्रमेवोच्छिद्येत ।

किञ्च—कार्यव्यक्तेः कारणमस्ति न वा ? न चेन्नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गः। अस्ति चेत् किं तत् कारणम् ? व्यक्तिविशेष इति चेन्न। पूर्वभावस्य रासभादिसाधारणत्वात् तां कार्यव्यक्तिं प्रति तस्याः किं तत्कारणत्वम् ।

स्वरूपमेवेति चेन्न । तस्य व्यावृत्तत्वात् । तस्यास्तत्कारणात्मत्वे चातदात्मनां तत्कारणत्वविरोधात्, तत्कारणत्वस्य च समवाय्यसमवायिनिमित्तभूतानेकव्यक्ति-

पटादिनिरूपित विशेष कारणत्व न होने से दण्ड से पट की उत्पत्ति नहीं होती। *खण्डन*—कार्यविशेष के कारणविशेष में ही अन्वय-व्यतिरेक हैं, अतः अन्वय-व्यतिरेक से घटादि-कारणत्वविशेष ही सिद्ध होते हैं। उससे अतिरिक्त कारणत्व-सामान्य में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् 'घटकारणम्, पटकारणम्' ऐसी ही प्रतीति होती है, 'कारणम्, कारणम्' ऐसी कार्यविशेष से अनालिङ्गित प्रतीति नहीं होती; अतः उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। अन्यथा यदि कारण में कारणत्वरूप सामान्य धर्म मानें, तो वही कारण व्यक्ति किसीका अकारण भी होने से वहाँ अकारणत्वरूप सामान्य धर्म भी मानना पड़ेगा। इस तरह यदि अकारणत्वरूप सामान्य को भी मानें, तो विशेष की अपेक्षा से रहित उक्त कारणत्व और अकारणत्व परस्पर विरुद्ध हैं। एवञ्च परस्पर विरुद्ध दो धर्मों का अध्यास भेद का जनक होने से कहीं भी एक कारण सिद्ध न होगा।

किंच—कार्यव्यक्ति का कारण है या नहीं ? यदि नहीं, तो कार्य का सर्वदा सत्त्व या सर्वदा असत्त्व होना चाहिए। यदि है, तो वह कारण क्या है ? व्यक्तिविशेष कारण है, यह तो कह नहीं सकते ; क्योंकि पूर्ववर्तित्वरूप कारणत्व अकारण रासभ में भी है। फिर उस कार्यव्यक्ति का उसमें कारणत्व क्या है, जो कारणमात्र में ही रहता है और रासभादि में अतिव्याप्त नहीं होता।

समर्थन—कारण का स्वरूप ही कारणत्व है। रासभ के कारण न होने से उसका स्वरूप कारणत्व नहीं है। *खण्डन*—स्वरूप प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न होता है। अतः यदि दण्ड के स्वरूप को कारणत्व मानें, तो चक्र का स्वरूप कारण न होगा। एक कार्य का एक ही कारण होता है, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि एक कार्य के समवायी,

साधारणत्वात् । अनेकस्य चैकानुगतव्यवहारबुद्धिनिदानत्वे गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात् ।

नियतपूर्वभावित्वमिति चेन्न । व्याप्त्यर्थस्य नियमस्यैकस्य सर्वत्र व्यक्तावसम्भवात्, पूर्वमात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वात् । तज्जातीयं प्रति नियततज्जातीयत्वमिति चेन्न । तस्य तज्जातीयव्यक्त्यन्तरसाधारण्यात् ।

नियततज्जातीयत्वे सति तत्पूर्वत्वमिति चेन्न । तत्समानकालोत्पत्तिककार्यव्यक्तिशतजनकव्यक्तिशतसाधारण्यात् । तथाऽभ्युपगमे चैकसमवाय्यादिनाशे सर्वतत्कार्यनाशप्रसङ्गः ।

असमवायी और निमित्त भेद से अनेक कारण होते हैं । किञ्च—यदि कारण के स्वरूप को ही कारणत्व मानें, तो स्वरूप के प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त होने से कारणमात्र में एक अनुगत धर्म न होनें से अनुगत प्रतीति या व्यवहार नहीं होगा । यदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में अनुगत, एक कारणत्व न होने पर भी अनुगत प्रतीति या व्यवहार मान लें, तो कारण के तुल्य भिन्न-भिन्न गोव्यक्तियों में अनुगत गोत्व-जाति के बिना भी अनुगत-बुद्धि या व्यवहार हो जाने से गोत्वादि जातियों का ही उच्छेद हो जायगा ।

समर्थन—'नियम से पूर्वभावी कारण है' यही लक्षण करेंगे । वह सबमें अनुगत है और रासभादि में अतिव्याप्त भी नहीं है । *खण्डन*—'नियम' शब्द का अर्थ व्याप्ति है और वह व्याप्ति सभी कारण व्यक्तियों में एक नहीं हो सकती । अर्थात् घट-सामान्य की दण्डसामान्य में ही व्याप्ति होती है । यदि नियम का निवेश न कर पूर्वभावित्वमात्र लक्षण करें, तो रासभ में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'तज्जातीय के प्रति नियम से पूर्ववर्तिजातीयत्व कारणत्व है ।' घटत्वावच्छिन्न कार्य के प्रति दण्डादि की नियतपूर्ववर्तिता सुग्राह्य ही है । *खण्डन*—एक घटव्यक्ति का जो कारण, वह तज्जातीय अन्य घट व्यक्ति का भी कारण हो जायगा ।

समर्थन—'नियत तज्जातीयत्व से विशिष्ट तत्पूर्वत्व कारणत्व है' ऐसा कहेंगे । *खण्डन*—जिस काल में एक घटकार्य उत्पन्न होता है, उसी काल में अनेक घटकार्य देश-भेद से उत्पन्न होते हैं । अतः एक घट से नियत पूर्ववर्त्तिजातीयत्व और तद्घट-पूर्वत्व अन्य घट के कारण में भी होने से पूर्ववत् अतिव्याप्ति हो जायगी । यदि एक घट के कारण को घटमात्र का कारण मान लें, तो एक घट के समवायी या असमवायी कारण का नाश हो जाने पर घटमात्र का नाश हो जायगा । कारण नैयायिक समवायी या असमवायी कारण के नाश से कार्य का नाश मानते हैं ।

तत्कालतज्जातीयसर्वसामग्रीतः सर्वतत्कालतज्जातीयोत्पत्तौ सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुतया प्रत्येकमिलितसामग्रीत्वविकल्पेन कार्यव्यक्त्यभेदप्रतिव्यक्तिस्वरूपभेदयोरन्यतरप्रसङ्गश्च ।

समवायित्वं[1] प्रत्यपि साधर्म्यानुविधायिनि नियमेऽव्याप्तेः । व्यावृत्तत्वे चानियमात् ।

नियततज्जातीयत्वे सति तत्सादेश्यमिति चेन्न । समवायिदेशापेक्षया कार्य-

किञ्च—यदि समानकालिक और समानजातीय सब सामग्रियों से समानकालिक सजातीय सब कार्यों की उत्पत्ति मानें, तो सामग्री-भेद ही कार्यभेद का हेतु होने से अब सामग्रीभेद नहीं रहा । अतः यदि सामग्री-समुदाय को सब कार्यों का जनक मानें, तो सब कार्यों का ऐक्य हो जायगा । यदि एक-एक सामग्री को सब कार्यों का जनक मानें, तो एक-एक कार्य भिन्नरूप हो जायगा ।

समवायिकारण-स्थल में भी यदि तन्तुत्वरूप से तन्तु को पट का समवायी कारण मानें, तो सब पटों में सब तन्तु समवायी कारण हो जायँगे । एवञ्च किञ्चित् तन्तु का नाश होने पर सभी पटों का नाश होने लगेगा । यदि तत्पट में तत्तन्तु को कारण मानें, तो कारणत्व का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि कारणत्व के शरीर में नियम (व्याप्ति) का प्रवेश है और सामान्य का ही सामान्य में नियम-ग्रह होता है । अतः तत्-तन्तु में व्याप्तिज्ञान न होने से कारणत्व का ज्ञान ही नहीं होगा ।

समर्थन—'तत्-पट के समान देश में विद्यमान तन्तु तत्-पट में समवायी कारण है' ऐसा कहेंगे । एवञ्च तन्तुमात्र पट में कारण नहीं होगा । *खण्डन*—तन्तु संयोग सम्बन्ध से भूतल में है और पट समवाय से तन्तु में । अतः दोनों एकदेश में न होने से सादेश्य न होने के कारण असम्भव हो जायगा ।

यदि कहें कि हम समवाय सम्बन्ध से अवयव-अवयवी का सादेश्य नहीं कहते, प्रत्युत संयोग सम्बन्ध से कहते हैं । एवञ्च संयोग से पट भी भूतल में है, तो तन्तु-पटस्थल में तो सादेश्य हो जायगा, तो यह भी ठीक नहीं । कारण रूप, रस आदि गुण संयोग से नहीं रहते, अतः गुणरूप कार्य के समवायी कारण-स्थल में अव्याप्ति हो जायगी । यदि कहें कि स्वाश्रय-संयोग सम्बन्ध से वह समवायी कारण के अधिकरण में है,

१. अबतक सामान्यतः कारणत्वका खण्डन किया जा चुका । अब वैशेषिकाभिमत कारण-विशेष समवायिकारण का खण्डन करते हैं—'समवायित्वम्' इत्यादिसे ।

कारणयोः सादेश्यनियमानभ्युपगमात् संयोगिदेशापेक्षया गुणादावसम्भवात्। यथाकथञ्चित्सादेश्यमात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वात्।

अदृष्टादेर्भिन्नदेशस्यापि कारणत्वोपगमे सर्वं प्रति सर्वकार्यसामग्र्याः कारणत्वापातात्, पूर्वभावनियमादेस्तुल्यत्वात्।

अनुगते च रूपेऽन्वयव्यतिरेकसम्भवात् व्यक्तिगतसामान्ययोरेव कार्यकारणत्वापत्तेः। तद्गतसामान्ययोरेवान्वयव्यतिरेकादिनियमः, व्यक्त्योश्च कार्यकारणतेति लक्ष्यलक्षणभाववैयधिकरण्यात्।

सामान्याकारप्रविष्टां व्यक्तिमादायान्वयव्यतिरेके विशेषस्याकारणत्वं स्यात्, सामान्याकारेण च पूर्वसतः कार्यत्वम्।

अतः अव्याप्ति नहीं, तो यथाकथंचित् (स्वसजातीय-संयोग सम्बन्ध से) तन्तुमात्र पटमात्र के अधिकरण में होने से तन्तुमात्र में समवायी कारणत्व की आपत्ति हो जायगी।

किञ्च—अदृष्ट (धर्माधर्म) घटादि कार्यदेश से अन्यत्र (आत्मा में) रहकर भी कारण होता है। अतः कार्य-समानदेश ही कारण हो, यह नियम नहीं है। एवञ्च समानकाल में उत्पन्न कार्यमात्र में समानजातीय कारणमात्र की कारणता की आपत्ति हो जायगी, क्योंकि नियतपूर्ववर्तिता-जातीयता उभयत्र तुल्य है।

किञ्च—दण्ड व्यक्ति और घट व्यक्ति में कार्यकारणभाव ही न होगा। कारण पूर्ववर्तिता-नियम सामान्यद्वय में ही विश्रान्त है। यदि कहें कि 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस न्याय से सामान्यावच्छेदेन भी व्यक्ति में ही कारणता पर्यवसित होती है, तो वह भी ठीक नहीं। कारण फिर भी सामान्यों का नियत पौर्वापर्यरूप कार्य-कारणभाव का लक्षण सामान्यों में ही रहेगा, दण्ड, घट आदि लक्ष्य में नहीं। एवञ्च लक्ष्य-लक्षण-भाव का वैयधिकरण्य हो जायगा।

यदि कहें कि निर्विशेष सामान्य न होने से सामान्यनिष्ठ कार्यत्व-कारणत्व विशेष में भी रहता है, अतः लक्ष्य-लक्षणभाव में भी वैयधिकरण्य नहीं है, तो सामान्यविशिष्ट विशेष में कार्यत्व-कारणत्व और शुद्ध विशेष में लक्ष्यत्व होने से वैयधिकरण्य तदवस्थ ही है। 'सामान्य लक्ष्य भी है, अतः लक्ष्यलक्षणभाव का वैयधिकरण्य नहीं है' यह भी नहीं कह सकते। कारण सामान्य नित्य होने से कार्य नहीं हो सकता। किंच सामान्य को कार्य मानें, तो उसके पहले से ही सिद्ध होने के कारण सत्कार्यवाद की आपत्ति आ जायगी, जो असत्कार्यवादी नैयायिकों के लिए अपसिद्धान्त हो जायगा।

द्रव्यसामग्र्या वृक्षसामग्र्या शिंशपासामग्र्या च पृथग्व्यक्तिजननापत्तेः, पृथगेव तासां सामग्रीत्वात् । सर्वासाञ्च व्यक्तिं प्रत्येव जनकत्वात्, द्रव्यत्वादीनामजन्यत्वात् ।

शिंशपासामग्र्या वृक्षसामग्रीसहिताया एव सामग्रीभावान्न पृथक् शिंशपाव्यक्तिरिति चेन्न । वृक्षसामग्र्याः शिंशपासामग्रीमतीत्यापि शालतमालादेर्वृक्षस्य जननात् पृथक्तया वृक्षव्यक्तिजननापत्तेः ।

साऽपि शिंशपासामग्री तन्मिलितैव जनिकेति न व्यक्तिभेद इति चेन्न । शिंशपार्थातिरिक्तवृक्षार्थाभावापत्तेः ।

वृक्षशिंशपासामग्र्योरेकीभूतयोर्जननाविशेषाद् वृक्षसामग्री च वृक्षजनन एव कथं क्वचिच्छिंशपासामग्री क्वचित्तमालसामग्रीमपेक्षत इति स्यात् ।

किञ्च—'द्रव्यं वृक्षः शिंशपा च' यह सामाधिकरण्य प्रतीति अनुपपन्न हो जायगी; क्योंकि वृक्ष की सामग्री, द्रव्य की सामग्री और शिंशपा की सामग्री से भिन्न-भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं होते । किन्तु वे होने चाहिए, कारण इनमें प्रत्येक में सामग्रीत्व रहता है । फिर द्रव्यत्वादि सामान्य अजन्य होने से ये तीनों सामग्रियाँ व्यक्ति की ही जनिका हैं ।

समर्थन—वृक्ष-सामग्री से युक्त ही शिंशपा-सामग्री में सामग्रीत्व है । अतः वृक्ष से पृथक् शिंशपा-व्यक्ति की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु वृक्षरूप शिंशपा की ही उत्पत्ति होती है । *खंडन*—ऐसा मानने पर वृक्ष से पृथक् शिंशपा की उत्पत्ति न हो, किन्तु वृक्ष-सामग्री तो शिंशपा-सामग्री की अपेक्षा करती ही नहीं । यदि वृक्ष-सामग्री भी शिंशपा-सामग्री की अपेक्षा करे, तो वृक्ष-सामग्री से ताल-तमाल की उत्पत्ति भी न होनी चाहिए । अतः शिंशपा-स्थल में शिंशपा से पृथक् वृक्ष की उत्पत्ति क्यों न हो ?

समर्थन—वृक्ष-सामग्री भी शिंशपा-स्थल में शिंशपा-सामग्री से युक्त ही कार्य का जनन करती है । अतः शिंशपा से पृथक् वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती । *खंडन*—यदि ऐसा मानें, तो शिंशपास्थल में शिंशपा से भिन्न 'वृक्ष' शब्द के अर्थ का अभाव हो जायगा । कारण सामग्री-भेद से कार्यभेद होता है । शिंशपास्थल में वृक्ष-सामग्री, शिंशपा-सामग्री दोनों एक होकर कार्यजनक हैं । फिर कार्यभेद कैसे होगा ?

किंच—वृक्ष-सामग्री से वृक्ष की ही उत्पत्ति होती है, अन्य की नहीं । फिर वृक्ष की उत्पत्ति में ही उक्त सामग्री शिंशपा-सामग्री की और कहीं तालादि-सामग्री की अपेक्षा

एकस्य वृक्षलक्षणस्य कार्यस्य सामग्रीभेदे स्वरूपभेदापातात्। अननुगताश्च वृक्षसामग्रीत्वे पृथग्वृक्षव्यक्तेः पृथक्शिंशपाव्यक्तेरुत्पत्त्यापत्तेरित्यादि स्वयमूहनीयम्।

वर्तमानत्वादि-लक्षण-खण्डनम्

नियमे च प्राक्कालीनतयाऽभिधीयमाने प्रागित्यस्य व्यवच्छेद्यौ वर्तमान-भविष्यत्कालौ प्राक्कालश्च व्यवच्छेदको विवेचनीयः। न च तद्विवेचनं शक्यम्।

वर्तमानादिबुद्धय एव स्वविषयवैचित्र्ये प्रमाणमिति चेन्न। तथाहि—वर्त-

करती है, यह कैसे हो सकता है? अन्यथा (यदि अपेक्षा करे तो) जैसे दण्डमात्र चक्र की अपेक्षा करने से सामग्री नहीं है, वैसे ही उक्त सामग्री भी अपेक्षा करनेमात्र से सामग्री न कहलायेगी।

फिर, यदि एक ही शिंशपारूप वृक्ष की उत्पत्ति में वृक्ष-सामग्री, शिंशपा-सामग्री दोनों परस्पर निरपेक्ष समर्थ हों, तो एक ही कार्य का स्वरूप-भेद हो जाना चाहिए। कारण जब वृक्ष-सामग्री से पृथक् शिंशपा-सामग्री है, तब वृक्ष से पृथक् शिंशपा की उत्पत्ति की आपत्ति क्यों न हो? इस प्रकार के खण्डन की स्वयं भी ऊहा कर लेनी चाहिए।

वर्तमानत्वादि के लक्षणों का खण्डन

किञ्च—'प्राक्कालवृत्तित्वरूप सम्बन्ध से जो कार्य का व्यापक हो, वह कारण है' इस लक्षण में प्रविष्ट व्यवच्छेदक (इतरनिषेधक) प्राक्काल तथा व्यवच्छेद्य (निषेध्य) वर्तमान और भविष्यत् काल के लक्षणों का भी विचार करना चाहिए। किन्तु इनके लक्षणों का निश्चय नहीं हो सकता। अतः कारणत्व अनिर्वचनीय है।

समर्थन—वर्तमान काल, अतीत काल और भविष्यत् काल की बुद्धियाँ ही अपने-अपने विषय वर्तमान आदि कालों के भेद में प्रमाण हैं। *खंडन*—यह युक्त नहीं, कारण जबतक इस बात का निश्चय न हो कि इन बुद्धियों के विषय क्या हैं, तब-तक इन बुद्धियों के प्रामाण्य का ग्रह ही नहीं होगा। अर्थात् विषय के यथार्थत्व के अधीन ही ज्ञान का प्रामाण्य है। अतः विषय के स्वरूप के ज्ञान के बिना ज्ञान में

मानादिबुद्धेरेव को विषयः ? कालविशेष इति चेन्न । कालस्य विशेषः स्वाभाविक औपाधिको वा ?

नाद्यः ; कालस्य भवद्भिरेकत्वाभ्युपगमात् , य एव कालो वर्तमानः प्रतीयते, स एव पूर्वं भावीति पश्चात् भूत इति च न प्रतीयेत । त्रिविधस्वभाव एवासाविति चेन्न । भेदप्रसङ्गात् , व्यवस्थानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च । यदैव वर्तत इति प्रत्ययस्तदैव वृत्तो वर्तिष्यत इति प्रत्ययप्रसङ्गात् ।

द्वितीयश्चेदुपाधिरभिधीयताम् । सूर्यादिक्रियासम्बन्धभेदः स इति चेन्न । भूतभविष्यतोरपि क्रियासम्बन्धप्रत्ययस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् । य एव दिवसः सूर्यगतिविशेषावच्छिन्नो वर्तत इति प्रतीतः, स एव हि तदवच्छिन्नो वृत्त इत्यवगम्यते वर्त्स्यन्निति च । न हि निर्विशेषस्य कालस्य तदतीतत्वं प्रतीयतेऽनागतत्वं वा, किन्तु उपाधिविशेषेणैवावच्छिन्नस्य । येनैवासौ पूर्वं दिनान्तरात्

प्रामाण्य का ज्ञान दुर्लभ होने से अन्योन्याश्रय है । यदि कहें कि कालविशेष वर्तमान है, तो काल का वह विशेष स्वाभाविक है या औपाधिक ?

इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण काल को आप एक मानते हैं । अतः जो काल वर्तमानत्वरूप से प्रतीत होता है, वही पहले भविष्यत्त्वरूप से और पीछे भूतत्वरूप से प्रतीत नहीं होगा । एक ही काल का त्रिविध स्वभाव है, यह कथन भी युक्त नहीं । कारण स्वभाव के भेद से काल का भी भेद हो जायगा । यदि विरुद्ध धर्मत्रय को एक काल का स्वभाव मान लें, तब भी जिस काल में 'वर्तते' यह प्रतीति होती है, उसी काल में 'वृत्तः, वर्तिष्यते' ऐसी प्रतीति हो जायगी । कारण तीनों स्वभाव काल में रहते हैं, अतः सदा तीनों व्यवहार होने चाहिए ।

काल का विशेष औपाधिक है, यह द्वितीय पक्ष मानें, तो उपाधि क्या है, यह कहिये । यदि कहें कि सूर्यादि-क्रिया का सम्बन्ध उपाधि है, तो भूत-भविष्यत् में भी सूर्य-क्रिया के सम्बन्ध की प्रतीति अवश्य मानेंगे । कारण जिस सूर्य के गतिविशेष से युक्त जो दिवस 'वर्तते' इस प्रतीति का विषय है, वही उसी सूर्यक्रिया से युक्त 'वृत्तः, वर्तिष्यते' इस प्रतीति का भी विषय होता है । विशेष उपाधि से रहित काल में अतीतत्व, अनागतत्व की प्रतीति नहीं होती, किन्तु उपाधिविशेष (सूर्यक्रिया) से अवच्छिन्न में ही अतीतत्वादि की प्रतीति होती है । जिस उपाधि से अवच्छिन्न वह

व्यवच्छिन्नो वर्तत इति प्रतीतः, तेनैवोपाधिना तत एव व्यवच्छिन्नो वृत्त इति वर्तिष्यत इति च कदाचित् ज्ञायते ।

ननु सत्यमेतत्, परं यदा तदुपाधिसम्बन्धस्तस्य स्वरूपेणावतिष्ठमानस्तदा वर्तमानप्रत्ययः, यदा स एव विनष्टो भवति तदा भूतप्रत्ययः, यदाऽनागतस्तदा भविष्यत्प्रत्यय इति ।

नैतदस्ति; यद्यत्र लटो विवक्षितोऽर्थस्तदा तज्ज्ञानस्यैव तज्ज्ञानोपायत्वमिति आत्माश्रयानवस्थयोरन्यतरप्रसङ्गः । विनष्टादिशब्दाश्च अतीतादिपर्यायास्तेषां सर्वेषामेवार्थे निरूप्यमाणे तन्मध्यपतितमेकं शब्दं प्रयुज्य तन्निरुक्तिं कुर्वाणः श्लाघनीयप्रज्ञो मातापितृमानसि ।

क्रियावच्छिन्नः कालो वर्तमानः, तत्प्रागभावावच्छिन्नो भूतः, तत्प्रध्वंसाव-

दिवस पूर्वकाल में अन्य दिवसों से व्यवच्छिन्न होकर 'वर्तते' इस प्रतीति का विषय था, उसी उपाधि से उसी अन्य दिवस से व्यावृत्त वह दिवस किसी काल में 'वृत्तः, वर्तिष्यते' इन प्रतीतियों का भी विषय होता है ।

समर्थन—आपका यह कथन सत्य है, किन्तु जिस काल में उपाधि का उक्त सम्बन्ध स्वरूपतः वर्तमान है, उस काल में 'वर्तते' ऐसी प्रतीति होती है; जिस काल में वह उपाधि नष्ट हो जाती है, उस काल में 'भूतः' इत्याकारक प्रतीति होती है और जब वह उपाधि अनागत रहती है, तब 'भविष्यति' ऐसी प्रतीति होती है ।

खंडन—यह कथन भी अयुक्त ही है, कारण लक्षणघटक 'वर्तमान' शब्द का अर्थ वर्तमान काल ही है । अतः वर्तमान काल के लक्षण में वर्तमान काल घटक हुआ । वह लक्षणघटक वर्तमान यदि लक्ष्यभूत वर्तमानरूप ही है, तो आत्माश्रय और यदि अन्य है, तो उसके लक्षण में अन्य वर्तमान घटक है, इस तरह अनवस्था हो जायगी ।

किञ्च—विनष्ट, अतीत आदि शब्दों का एक ही अर्थ है । अतः उन्हीं सब शब्दों के अर्थों के निरूपण के समय यदि आप विनष्टघटित अतीत का लक्षण करते हों, तो आपकी बुद्धि प्रशंसनीय है और आप माता-पिता आदि गुरुजनों से युक्त हैं । अर्थात् यदि लक्ष्य और लक्षणघटक 'अतीत', 'विनष्ट' शब्दों का अर्थ एक ही है, तो आत्माश्रय और यदि लक्षणघटक अतीत शब्द का अर्थ लक्ष्य से अन्य है, तो इस प्रकार उत्तरोत्तर निवेश से अनवस्था हो जायगी ।

समर्थन—पाकादि क्रिया से अवच्छिन्न काल वर्तमान है और क्रिया के प्रागभाव

च्छिन्नो भविष्यन्निति चेन्न। अतीतानागतप्रतीतिकालोऽपि क्रियावच्छिन्नः प्रतीयत इति वर्तमानप्रत्ययप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात्, क्रियानवच्छिन्नस्य तत्प्रागभावप्रध्वंसाभावावच्छेदानुपपत्तेः।

प्रागभावश्च प्रागर्थानिरुक्तौ कथं न दुरधिगमः। प्रध्वंसस्यापि प्रागभावात्कथं विशेषो वक्तव्यः ?

अभावो विनाशी प्रागभावः, उत्पत्तिमान् प्रध्वंस इत्यनयोर्विशेष इति चेन्न। को हि प्रागभावस्य विनाशो येन विनाशीत्युच्यते ? यदि प्रतियोगिभूतो घटादिः, प्रध्वंसस्यापि प्रागभाववत्प्रतियोगीति सोऽपि विनाशी प्राप्तः।

उत्पत्तिमांश्च प्रध्वंस इत्युत्पत्तिपदार्थो विवेचनीयः। यद्यसौ असतः सत्त्वम्,

से अवच्छिन्न काल भूत है और क्रिया के ध्वंसाभाव से अवच्छिन्न काल भविष्यत् है। *खंडन*—अतीत-अनागत की प्रतीतियों के काल में भी क्रिया से अवच्छिन्न ही काल प्रतीत होता है, अतः अतीत आदि की प्रतीति के काल में वर्तमान-प्रत्यय हो जायगा। कारण जो क्रिया से अनवच्छिन्न है, वह क्रिया के प्रागभाव या ध्वंसाभाव से अवच्छिन्न हो नहीं सकता। अर्थात् प्रतियोगी से अविशिष्ट नहीं, किन्तु प्रतियोगी से विशिष्ट ही प्रागभाव या ध्वंस की प्रतीति होती है। अतः ध्वंसादि से अवच्छिन्न काल ध्वंस के विशेषण क्रिया से अवश्य ही अवच्छिन्न रहेगा। कारण विशेषण के अवच्छिन्नत्व के बिना विशिष्ट से अवच्छिन्नत्व कहीं भी नहीं हो सकता।

किञ्च—जबतक प्राक्शब्द के अर्थ का निर्वचन न हो, तबतक प्रागभाव शब्द का अर्थ भी दुर्ज्ञेय क्यों नहीं है और ध्वंसाभाव का प्रागभाव से भेद भी किस प्रकार होगा ?

समर्थन—'विनाशी अभाव प्रागभाव है और उत्पत्ति से युक्त अभाव ध्वंसाभाव है' यही दोनों अभावों में भेद है। *खण्डन*—प्रागभाव का विनाश क्या वस्तु है जिससे वह 'विनाशी' कहा जाता है। यदि प्रतियोगीरूप घटादि को प्रागभाव का विनाश मानें, तो वही ध्वंस का भी विनाश है, अतः ध्वंस भी विनाशी हुआ।

किञ्च—'उत्पत्तियुक्त अभाव ध्वंस है' यहाँ उत्पत्ति का भी विचार करना चाहिए कि वस्तुतः उत्पत्ति का क्या अर्थ है ? यदि कहें कि असत् का सत्त्व उत्पत्ति है और सत्त्व

तच्च सामान्यं तदाऽभावेऽसम्भव एव। अथ स्वरूपसत्त्वं तदा प्रागभावेऽपि प्रसङ्गः, तस्यापि कदाचिदसत्त्वात्।

पूर्वमसतः पश्चात्सत्त्वं विवक्षितमिति चेन्न। पूर्वेदानींपश्चादर्थस्यैवानिरूपणात्।

एतेन कारणावच्छिन्नं सत्त्वमुत्पत्तिरित्यपि निरस्तम्। पूर्वापरनिर्वचनमन्तरेण कारणार्थानिर्वचनात्।

अस्तु तावदतीतानागतयोर्यथातथा निरुक्तिः। यत्क्रियावच्छिन्नो यः कालः स तत्क्रियापेक्षया वर्तमानो न त्वन्यापेक्षयेति चेत्; तदपेक्षयेति कोऽर्थः—किं तदुपधानेन, उत तदवधिकतया, उत तत्प्रतियोगिकतया, उत तेन प्रकारेणेत्येव ?

नाद्यः; उपाध्यवच्छिन्नस्य अतीतानागतप्रतिपत्तिविषयत्वमपि तस्येत्यसकृदुक्तत्वात्।

सत्ता जाति है, तो ध्वंसाभाव में सत्ता जाति न होने से असम्भव हो जायगा। यदि स्वरूप-सत्त्व है, तो प्रागभाव का भी कदाचित् कार्य की उत्पत्ति से पूर्व स्वरूपतः सत्त्व है ही। अतः प्रागभाव में ध्वंस के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'पूर्वकाल में असत् का उत्तरकाल में जो स्वरूपसत्त्व है, वह उत्पत्ति है।' *खंडन*—पूर्व, इदानीम्, और पश्चात् शब्दों के अर्थों का अद्यावधि निरूपण नहीं हुआ है। अर्थात् पूर्व (अतीत) के लक्षण में ध्वंसाभाव का, ध्वंसाभाव के लक्षण में उत्पत्ति का और उत्पत्ति के लक्षण में पूर्व का निवेश होने से चक्रक हो जायगा।

समर्थन—कारण से अवच्छिन्न (कारण में समवेत) जिसका सत्त्व हो, वह उत्पत्ति है। प्रागभाव का सत्त्व कारण में समवेत नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—कारण के लक्षण में 'पूर्व' का निवेश होने से पूर्वत्व का निर्वचन न होने तक कारणत्व की निरुक्ति नहीं हो सकती। अतः उक्त युक्ति से चक्रक हो जायगा।

समर्थन—अतीत और अनागत कालों के चाहे जो लक्षण करें, सम्प्रति वर्तमान काल का यह लक्षण करते हैं कि 'जिस पाकादि क्रिया से अवच्छिन्न जो काल हो, वह उस क्रिया की अपेक्षा वर्तमान है, अन्य क्रिया की अपेक्षा नहीं। *खण्डन*—इस लक्षण में 'अपेक्षा' शब्द का क्या अर्थ है, क्रिया की उपाधि रूप से, अवधि रूप से, प्रतियोगी रूप से या प्रकार मात्र से अपेक्षा है ?

इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं, कारण उक्त रीति से अतीत-अनागत व्यवहार-काल

नापि द्वितीयः; 'अस्मादयं दीर्घः' इतिवत् 'अस्मादयं वर्तते' इत्यवध्यपेक्षामन्तरेण प्रतीयमानत्वात् सर्वदैव च त्रिविधावध्यपेक्षया 'आसीदस्ति भविष्यती'ति प्रत्ययाव्यवस्थाप्रसङ्गात्। अत एव न तृतीयः।

नापि चतुर्थः; अतीतानागतप्रतीतिकाले क्रियावच्छेदप्रकारेण वर्तमानप्रत्ययविषयत्वप्रसङ्गात्।

नासौ क्रियावच्छेदलक्षणः प्रकारोऽतीतानागतकाले वर्तत इति चेन्न। वर्तमानताया अद्याप्यनिरूपणेन वर्तत इत्युक्त्वा विशेषस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्।

तत्क्रियाकाले तत्क्रियावच्छिन्नः कालो वर्तमान इति चेन्न। कालस्य काला-

भी तत्क्रिया से अवच्छिन्न काल है। अतः उस क्रियारूप उपाधि की अपेक्षा उस काल में वर्तमानत्व हो जायगा, यह दोष हम बार-बार कह आये हैं।

द्वितीय और तृतीय कल्प भी युक्त नहीं हैं। कारण जैसे 'अस्मात् अयं दीर्घः' इत्यादि व्यवहार में नियमतः अवधि की अपेक्षा होती है या जैसे 'घटात् भिन्नः पटः' इत्यादि व्यवहार में भेद प्रतियोगी की अपेक्षा करता है, वैसे ही 'वर्तते' इस व्यवहार में नियमतः 'अस्मात्' ऐसी अवधि या प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् 'घटो वर्तते' ऐसा व्यवहार होता है, 'घटाद् वर्तते' ऐसा व्यवहार नहीं होता। यदि अवधि को प्रतियोगी की नियमतः अपेक्षा हो, तो 'घटाद् वर्तते' ऐसा व्यवहार भी होने लगेगा।

'उसे क्रिया की अपेक्षा से' अर्थात् उस क्रियारूप प्रकार से, यह चतुर्थ कल्प भी अयुक्त है। कारण अतीत-अनागत व्यवहार में भी ध्वंसादि के विशेषणत्वरूप से उस क्रिया का अवच्छेद काल में है। अतः उस क्रिया-प्रकार से अतीतादि व्यवहारकाल में भी वर्तमानत्व-व्यवहार हो जायगा।

समर्थन—वह क्रियारूप प्रकार अतीतादि व्यवहारकाल में वर्तमान नहीं है। लक्षण में 'वर्तमान जो क्रियारूप प्रकार, उस प्रकार से वह काल वर्तमान है' ऐसा निवेश होने से उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—अभी तक वर्तमान का लक्षण न होने से वर्तमान के निवेशविशेष को आप नहीं दिखा सकते। अर्थात् वर्तमान के लक्षण में वर्तमान का प्रवेश होने से आत्माश्रय हो जायगा।

समर्थन—'उस पाकादि क्रिया-काल में उस क्रिया से अवच्छिन्न काल, उस क्रिया प्रकार से वर्तमान है।' *खण्डन*—काल काल का आश्रय नहीं हो सकता, कारण

श्रयतया निरूपणसम्भवात्कालान्तरस्यानभ्युपगमात्, तस्यैव कालस्य तदाश्रयवत्त्वे व्यक्तमात्माश्रयत्वापत्तेः ।

स्यादेतत्—ग्राहकविज्ञानविषयो ग्राहकविज्ञानाश्रयश्च कालो वर्तमानः, वर्तमानोपाधिप्रागभावावच्छिन्नश्च पूर्वः, तत्प्रध्वंसाभावावच्छिन्नश्चानागतः। प्रागभावप्रध्वंसयोश्च स्वाभाविकमेव भेदमादाय व्यवस्था। प्राग्व्यवस्थाहेतुरभावः प्रागभाव इति स्वभावभूतस्यैव विशेषस्य कार्यमादाय लक्षणम्, अनागतव्यवस्थानिदानमभावः प्रध्वंस इति च प्रध्वंसस्येति ।

मैवम्; ज्ञानास्वप्रकाशतापक्षे स्वोपहितस्य स्वयं ग्रहणानुपपत्तेः कथं वर्तमानताग्रहः? ज्ञानान्तरेण च तथाग्रहे वर्तमानतावभासाङ्गीकारे 'तदाऽसौ दृष्टो मये'ति प्रत्ययस्य 'तदाऽसौ मया दृश्यते' इत्याकारतापत्तिः।

वह एक है। दो काल तो आपके मत में भी हैं नहीं। फिर उसी काल को उसी काल का अधिकरण मानें, तो आत्माश्रय हो जायगा। अतः यह भी लक्षण अयुक्त है।

समर्थन—'ग्राहक-ज्ञान का विषय होकर ग्राहक-ज्ञान का आश्रय जो काल, वह वर्तमान है' यह वर्तमान का लक्षण हो सकता है। इसी तरह 'वर्तमान जो उपाधि (सूर्यादि-क्रिया), उसके प्रागभाव से अवच्छिन्न काल' अतीत है तथा 'वर्तमान उपाधि के ध्वंसाभाव से अवच्छिन्न काल' भविष्यत् है, ऐसे लक्षण कर सकते हैं। प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव का जो स्वाभाविक भेद (स्वरूपरूप विशेष) है, उसको लेकर ही परस्पर भेद-व्यवस्था हो जायगी। प्रागभाव के स्वभावभूत विशेष के प्राग्व्यवस्थारूप कार्य का ग्रहण कर 'प्राग्व्यवस्था (उपाधि की पूर्व अवस्था) का हेतु जो अभाव, वह प्रागभाव है', यह लक्षण हो सकता है और अनागत व्यवस्था (उपाधि की उत्तर अवस्था) का कारण' ध्वंसाभाव है।

खंडन—जो ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते, उनके मत में ज्ञानघटित उक्त लक्षण से उपहित वर्तमान काल का ग्रहण कैसे होगा? यदि कहें कि अन्य ज्ञान से लक्षणघटक ज्ञान का ग्रहण होने से लक्षणयुक्त वर्तमान काल का भी अन्य ज्ञान से ही ग्रहण होगा, तो 'तदाऽसौ दृष्टो मया' इत्याकारक ज्ञान में 'तदाऽसौ दृश्यते' इस प्रकार वर्तमानाकारतापत्ति हो जायगी। कारण 'स्वग्राहक ज्ञान का विषय तथा स्वग्राहक ज्ञान का आश्रय जो काल, तद्विषय पर देवदत्तरूप' उक्त वाक्यार्थ का उक्त अतीत ज्ञानस्थल में बाध नहीं है, किन्तु सम्भव ही है।

अत एव स्वप्रकाशपक्षेऽप्यनिस्तारः । यावानर्थः स्वप्रकाशे वर्तमानतयोक्त-स्तावत एव परेण ग्रहणे व्यभिचारात्, स्वप्रकाशतायाश्चाधिक्येऽपि विषये विशेषाभावात् ।

स्वरूपमेव विशेष इति चेन्न । तस्यानुगमाननुगमाभ्यामनुपपत्तेः । प्राक्प्रध्वंसा-भावयोश्च स्वरूपतोऽविशेषेऽपि कतरो भूतव्यवहारस्य कतरश्च अनागतव्यवहार-स्योपाधिरित्यनुयुक्ते कार्यभेदजनकतया च तन्निरुक्तावुत्तरे पूर्वप्रत्युक्तां पूर्वता-परतानिरुक्तिं विना जन्यजनकत्वाज्ञानमिति ।

उपाधिभेदाच्च कालभेदे योऽप्येकतयाऽभिमतः कालः, सोऽपि चन्द्रसूर्यक्रिया-द्यसङ्ख्योपाधिभेदसम्भवेन नाना स्यात् । तत्रायमेवोपाधिर्नायमिति चाविनि-

'ज्ञान स्वप्रकाश है' इस मत में भी 'तदाऽसौ दृश्यते' यह आकार होने लगेगा । इसी दोष से वर्तमान का उक्त लक्षण अयुक्त है । कारण जो अर्थ स्वप्रकाश-मत में वर्तमानत्वरूप से उक्त है, उसी अर्थ का 'तदाऽसौ दृष्टः' इस स्थल में अन्य ज्ञान से भी ग्रहण है । 'जो काल स्वप्रकाश ज्ञान का आश्रय हो, वह वर्तमान है' इस प्रकार यदि लक्षण में स्वप्रकाश यह अधिक विशेषण दें, तब भी लक्ष्यभूत वर्तमानरूप विषयों में किसी विशेषण का लाभ नहीं होता ।

समर्थन—'स्वप्रकाश ज्ञान का ही विषय हो, अन्य का नहीं' इस प्रकार निवेश करने से लक्ष्य में भी विशेष हो जायगा । *खंडन*—ऐसा लक्षण करने पर लक्षणघटक 'स्व' शब्द से यदि चैत्रज्ञान का ग्रहण करें, तो मैत्रज्ञान में और मैत्रज्ञान का ग्रहण करें, तो चैत्रज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी । यदि लक्ष्यभेद से लक्षण का भेद मान लें, तो अननुगम दोष हो जायगा । किञ्च—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव दोनों ही अभाव हैं, अतः इनके स्वरूप में तो कोई विशेष है नहीं । फिर 'कौन-सा अभाव भूत-व्यवहार का और कौन-सा अनागत व्यवहार का हेतु है' यह प्रश्न होने पर कार्यभेद (प्रागवस्था, अनागत-अवस्था) के जनकत्व से दोनों अभावों में भेद बतलाकर उक्त प्रकार से उत्तर हो नहीं सकता । कारण जबतक अतीतत्व का लक्षण न हो, तबतक कारण का लक्षण न होने से अन्योन्याश्रय हो जायगा ।

किञ्च—उपाधि-भेद से वर्तमान आदि कालों के भेद की कल्पना करें, तो जो एक ही वर्तमान काल है, वह भी सूर्य, चन्द्र आदि की क्रियारूप उपाधियों के भिन्न-भिन्न होने से अनेकरूप हो जायगा । सूर्य की क्रिया ही उपाधि है, चन्द्र की क्रिया नहीं,

गम्यत्वात्। प्रतिक्षणस्वभावभेदवादिपक्षे च नानाक्षणेषु वर्तमानत्वादिव्यवहारार्थमुपाध्यनुसरणावश्यम्भावेन उक्तोपाधिदोषग्रासस्यैवाऽऽपातादिति।

संशय-लक्षण-खण्डनम्

ननु तथापि तावद्विषयभेदेनावश्यं भवितव्यम्, प्रतीतिभेदस्य दुरपह्नवत्वात्। अतः सामान्यतः सिद्धौ विशेषतो विवेचनाशक्तौ भेदे संशय एवास्तामिति चेन्न। संशयस्यापि निर्वक्तुमशक्यत्वात्। तथाहि— संशयस्य निश्चयात्किमुपाधिकृतो विशेषः, उत जातिकृतः ?

आद्ये किं विषयविशेषेणोपाधिना, उत कारणविशेषेण, उतान्येनैव केनचित्सम्बन्धिना कृतः ? न प्रथमः; तस्यानिर्वचनात्।

उभयकोटिविषयः संशय इति चेन्न। कोटिद्वयसमुच्चयनिश्चयस्यापि संशयत्व-

इसमें कुछ प्रमाण नहीं। इसी तरह जो बौद्ध प्रतिक्षण काल का स्वाभाविक भेद मानते हैं, उनके मत में भी अनेकक्षणसमूह में उपाधि-भेद के बिना वर्तमानादि-व्यवहार हो नहीं सकता। अतः सूर्यादिक्रियारूप उपाधि अवश्य माननी पड़ेगी और उसे मानने में पूर्वोक्त दोष स्पष्ट हैं।

संशय-लक्षण का खण्डन

समर्थन—वर्तमानादि प्रतीतियों ('वर्तते, वर्त्स्यति, अवर्तिष्ट' आदि प्रतीतियों) का भेद अनुभवसिद्ध होने से उनके विषय-भेदों का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रतीति निर्विषय तो हो नहीं सकती, अतः विषय का रहना निर्विवाद है। एवञ्च उस विषय का कालविशेष का लक्षण करना संभव न होने के कारण 'अयमसौ' इस प्रकार का विशेष-दर्शन असंभव होने से विशेषाग्रहणसहित सामान्यग्रहण काल-विषयक संशय उत्पन्न करता है। तथाच संशयीय एककोटि-प्रविष्टतया काल की सिद्धि हो ही जायगी। *खण्डन*—संदेह का लक्षण भी आप नहीं कर सकते। देखिये, संदेह में निश्चय से भेद क्या उपाधिकृत है या जातिकृत ?

प्रथम पक्ष में विषयविशेष उपाधि है, कारणविशेष या अन्य ही कोई सम्बन्धी उपाधि है, जिससे संदेह में भेद है ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं; कारण विषयकृत निश्चय से संशय में भेद है, इसमें कोई प्रमाण नहीं।

समर्थन—'एकधर्मी में उभयकोटियों का अवगाही ज्ञान संदेह है।' *खंडन*—एक

प्रसङ्गात्। प्रतीतिरेव नैवमिति चेन्न। भेदाभेदप्रतीतीनां शाब्दस्वाप्नादि-प्रतीतीनां च तादृशां सम्भवात्। समुच्चयप्रकाशे कोट्योरविरोधः प्रकाशते, संशये तु विरोध इति चेन्न। 'पीतः शङ्खः' इत्यादिषु पीतत्वशङ्खत्वादेर्भिन्नाश्रयतानियमं विरोधं जानतोऽपि प्रत्ययात्।

तथापि तस्यां बुद्धौ न भासते विरोध इति चेन्न। कथमेवमिति प्रकाशेऽपि तत्प्रकाशात्। तयोरेकाश्रययोर्विरोधप्रतीतेरवश्योपेयत्वात्। मिथ्याधियस्ता इति चेन्न। संशयस्यापि भवद्भिरतत्त्वबुद्धितयाऽङ्गीकारात्। तत्त्वातत्त्वबुद्ध्योश्च तद्विषयत्वेन विशेषाभावात्। नहि मिथ्यारजतबुद्धौ रजतबुद्धिरेव न भवति।

अव्यवस्थितकोटिद्वयविषयः संशय इति चेत्; केयमव्यवस्थितता?

धर्मी में उभयकोटियों के अवगाही निश्चय में संशय-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। 'एकधर्मी में विरुद्ध कोटिद्वय का अवगाही निश्चय होता ही नहीं' ऐसा नहीं कह सकते, कारण भेदाभेदवादी के मत में 'भिन्न और अभिन्न यह घट है' यह प्रतीति तथा शब्द से स्वप्न में भी ऐसी प्रतीति होती है। 'निश्चय में दोनों कोटियों का विरुद्धत्व नहीं भासता और संशय में वह भासता है—यही दोनों में भेद है' ऐसा भी नहीं कह सकते। कारण पीतत्व और शङ्खत्व के भिन्नाश्रयत्वरूप विरोध को जो जानता है, उसे भी पित्तरोग-काल में 'पीत शङ्खः' ऐसी प्रतीति होती ही है।

समर्थन—यद्यपि पीतत्व और शंखत्व विरुद्ध हैं, तथापि उक्त निश्चय में विरोध नहीं भासता। *खंडन*—'पीतः शंखः कथम्' ऐसी विरोधविषयक प्रतीति भी होती है, कारण पीतत्व और शंखत्व की एकाधिकरण में प्रतीति निश्चय ही विरोधविषयक माननी होगी।

समर्थन—'पीतः शंखः' यह प्रतीति भ्रम है, अतः अतिव्याप्ति नहीं। कारण संशय के लक्षण में 'यथार्थत्वे सति' यह भी निवेश है। *खण्डन*—यदि संशय के लक्षण में 'यथार्थत्वे सति' निवेश करें, तो संशय के अयथार्थ होने से असम्भव हो जायगा। किञ्च—तत्त्वबुद्धि और अतत्त्वबुद्धि दोनों के विरुद्धकोटिद्वयावगाही होने से संशयत्व में कोई विशेष नहीं है, कारण मिथ्या रजत-बुद्धि भी रजतबुद्धि ही है। अर्थात् जहाँ शुक्ति में 'रङ्गं रजतं वा' ऐसा संशय होता है, वहाँ अव्याप्ति के भय से संशय के लक्षण में 'यथार्थत्वे सति' यह निवेश नहीं कर सकते।

समर्थन—'अव्यवस्थित जो कोटिद्वय, वह जिसका विषय हो, वह संशय है', ऐसा लक्षण करेंगे। *खंडन*—'अव्यवस्थितता' क्या वस्तु है? यदि आप कहें, अव्यवस्थितता

पाक्षिकतेति चेत्; न पर्यायं पृच्छामः, अपितु किं कोटिद्वयस्वरूपमेव उत कोटिद्वयस्य धर्मः कश्चित्?

आद्ये कोटिद्वयनिश्चयेन सहाविशेषस्तदवस्थः। द्वितीये यद्यसौ केनचित्प्रमाणेन सिद्धस्तदा तस्यैव कोटिद्वयाश्रिततद्धर्मविषयस्य संशयत्वप्रसङ्गेन प्रमाणत्वव्याघातः। अथ कस्यचित्प्रमाणस्य नासौ विषयः; नास्ति तर्हि विषयकृतो विशेषः।

एतेन—अन्योऽपि यः कश्चिद्विषयविशेषः स्थाणुतदभाव-पुरुषतदभावादिरूपोऽभिधीयते, सोऽपि निरस्तो वेदितव्यः। अत्यन्तासत एव च तस्य प्रतिभासे जितं जिनैरसत्ख्यातिवादिभिः। क्वचित्सतश्चेत्तत्रैव प्रसङ्गः।

नापि द्वितीयः; कारणविशेषो हि विशिष्य सामग्री स्यात्तदेकदेशो वा?

पाक्षिकता है, तो यह पर्याय-कथन हुआ। हम तो पर्याय नहीं पूछते, किन्तु पाक्षिकता कोटिद्वय का स्वरूप है या कोटिद्वय का धर्म? यह पूछते हैं।

प्रथम पक्ष में 'पीतः शङ्खः' इस कोटिद्वय के निश्चय में अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है। द्वितीय पक्ष में यदि वह पाक्षिकता किसी प्रमाण से सिद्ध है, तो वह प्रमाण कोटिद्वय में आश्रित पाक्षिकता-विषयक होने से संशय हुआ। फिर वह प्रमाण कैसे हो सकता है? यदि पाक्षिकता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, तो विषयकृत संशय में कुछ विशेषता सिद्ध नहीं हुई।

'स्थाणुत्व, पुरुषत्व आदि जो संदेह के विषय हैं, तद्-रूप या तन्निष्ठ कोई अतिशय अनुभवसिद्ध है और तद्विषयक ज्ञान संशय है' यह कथन भी उक्त युक्ति से खण्डित है। अर्थात् यदि वह अतिशय प्रमाणसिद्ध है, तो प्रमाणत्व का व्याघात है। यदि प्रमाण से असिद्ध है, तो प्रमाण के अभाव से अतिशय ही असिद्ध है। यदि कहें कि संशय में अत्यन्त असत् ही अतिशयरूप भासता है, तो असत् का स्वीकार होने से आपके लिए अपसिद्धान्त हुआ और शून्यवादी बौद्ध विजयी हुए। यदि कहें कि वह क्वचित् सत् है, तो जिस प्रमाण से वह सिद्ध हुआ, उसी प्रमाण में उस संशय-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

''संशय में कारणकृत विशेष है' यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है; क्योंकि वह कारणविशेष सामग्री है या सामग्री का एकदेश?

नाद्यः ; तस्या अप्रत्यक्षत्वेन तदुपहितस्य प्रत्यक्षतोऽवगमानुपपत्तेः ।

न च तस्या अनुमेयत्वम् ; लिङ्गासम्भवात् । कार्यविशेष एव लिङ्गमिति चेन्न । कार्यगतस्यैव विशेषस्य चिन्त्यमानस्याद्याप्यप्राप्तेः जातिभेदस्य दूषणीयत्वात् ।

नापि द्वितीयः ; दृश्यस्य तदेकदेशस्य साधारणधर्मदर्शनादेर्विशेषद्वयस्मरणादेश्च साधारणधर्मविशेषद्वयज्ञानप्रत्यक्षादावपि हेतुत्वेन साधारण्यात् ।

अदृश्ये च तस्मिँल्लिङ्गाभावात् । तेन कार्ये विशेषजात्याधानस्य निरस्यत्वात् । तस्या अविषयत्वेन अनुव्यवसायसाक्षिककार्यगतविशेषीभवनासामर्थ्यात् ।

नापि तृतीयः ; तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ।

यदि सामग्री कहें, तो सामग्री का प्रत्यक्ष न होने से उक्त लक्षणयुक्त संशय का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा । लिङ्ग के न होने से वह सामग्री अनुमेय भी नहीं है।

समर्थन—कार्य-विशेष (संशय) ही लिङ्ग है । *खंडन*—संशयगत विशेष का ही तो विचार हो रहा है और अबतक कुछ भी निश्चित नहीं हुआ है । 'संशयत्व जाति है' इस पक्ष का तो आगे खण्डन करेंगे ।

'सामग्री के एकदेश से संशय में विशेष है' यह द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है; क्योंकि संशय का दृश्य कारण साधारणधर्म का दर्शन या विशेषद्वय का स्मरण है । वे दोनों स्वप्रत्यक्ष (अपने अनुव्यवसाय) के भी कारण हैं । अतः यदि वे संशयत्व-व्यवहार के कारण हों, तो उनके अनुव्यवसाय में भी संशयत्व-व्यवहार होने लगेगा ।

यदि अदृश्य सामग्री के एकदेश को विशेष मानें, तो उसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि संशयत्व जाति को लिङ्ग कहें तो उसका (संशयत्व जाति का) आगे निरास करनेवाले ही हैं । यदि कहें कि 'संदेह्मि' इत्याकारक प्रत्यक्ष ? अनुभवसिद्ध संशयत्व जाति का आगे आप के द्वारा निरास करने पर भी संशय में कोई अन्य अतीन्द्रिय कारणवृत्ति उपाधि मान लेंगे, तो वह भी ठीक नहीं । कारण वह उपाधि प्रत्यक्ष की अविषय होनेसे अनुव्यवसायसाक्षिक 'मम संशयो जातः' इत्याकारक जो संशयज्ञानात्मक कार्य है, उसका विशेष होने की सामर्थ्य ही उसमें नहीं है । अथवा प्रत्यक्षात्मक अनुव्यवसाय उक्त अतीन्द्रिय कारणाधेया उपाधि में प्रमाण न होने से अन्य कोई प्रमाण कहना होगा। वह अशक्य होने से ऐसी उपाधि मान नहीं सकते ।

'विषय या कारण से अन्य किसी संबन्धिकृत संशय में विशेष है' यह तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है; कारण उसे दिखा नहीं सकते ।

न च द्वितीयः ; धर्मिस्वरूपादेरपि तद्विषयतया संशयितत्वप्रसङ्गात् । न चैवं 'न ह्ययं स्थाणुर्वा पुरुषो वे'ति संशये सति इदमा परामृष्यमाणस्य ऊर्ध्वत्वशालिनो धर्मिणः स्वरूपसत्त्वेऽपि स्वरूपमेव भवति न वेति तद्द्रष्टुरभिमानो व्यवहारो वा, किं नाम ? तत्र स्वरूपसत्त्वमात्रांशावलम्बिनस्तस्य ज्ञानस्य निश्चयत्वमेव । ततः किमिति चेत्, एकस्यैव ज्ञानस्य निश्चयत्वसंशयत्वजातिसङ्करः ।

स प्रामाण्याप्रामाण्यवद् भविष्यतीति चेन्न । अत एव हि तयोरपि जातित्वानङ्गीकारः । किं नाम ? तथाभूतातथाभूतार्थतालक्षणोपाधिद्वयरूपतास्वीकार एव तयोः । यदा च संशयत्वनिश्चयत्वलक्षणजातिद्वयसम्भिन्नं तद्विज्ञानमास्थीयते तदा कञ्चिद्विषयमपेक्ष्य संशयत्वं कञ्चिदपेक्ष्य निश्चयत्वमित्यापेक्षिकी जातिव्यवस्थितिरित्यपूर्वः पन्थाः । ईदृशस्य पथः पान्थेनापि भवता किं नियामकमभिधेयम्, येन धर्मिणि तस्य निश्चयत्वं व्यवतिष्ठते, विशेषद्वये च संशयत्वम् ।

'संशय में संशयत्व जाति अनुभवसिद्ध है, उसीसे संशय में निश्चय से भेद है' यह द्वितीय कल्प भी अयुक्त है । कारण संशयत्व जाति को भेदक मानें, तो धर्मी भी उसका विषय होने से उस अंश में भी वह ज्ञान संशय हो जायगा । किन्तु धर्मी-अंश में वह ज्ञान संशय नहीं है, कारण 'स्थाणु है या पुरुष' इस संशय-काल में 'इदम्' शब्द से परामृष्ट ऊर्ध्वत्वशाली धर्मी के स्वरूपसत्त्व में 'स्वरूप है या नहीं' ऐसा अभिमान या व्यवहार किसीको नहीं होता, किन्तु स्वरूप-अंश में वह ज्ञान निश्चय ही है । यदि कहें, धर्मी-अंश में उक्त ज्ञान का निश्चय होने से क्या हुआ ? तो यह हुआ कि एक ज्ञान में निश्चयत्व और संशयत्व दोनों जातियों का सङ्कर हो जाने से संशयत्व जाति ही सिद्ध नहीं हुई ।

यदि कहें कि गुण-जाति में संकर-दोष नहीं होता, अतः प्रमात्व-अप्रमात्व के तुल्य निश्चयत्व और संशयत्व दोनों का एक ही ज्ञान में संकर होने पर भी क्या हानि है, तो वह भी ठीक नहीं । सङ्कर-दोष होने से ही प्रमात्व-अप्रमात्व को भी हम जाति नहीं मानते । किन्तु 'तथाभूतार्थत्व' तो प्रमात्व है और 'अतथाभूतार्थत्व' अप्रमात्व है, ऐसा मानते हैं । यदि एक ही ज्ञान में किसी विषय की अपेक्षा संशयत्व जाति और किसी विषय की अपेक्षा निश्चयत्व जाति मानें, तो आपने यह आपेक्षिकी (आंशिकी) जाति-व्यवस्थारूप अपूर्व मार्ग का स्वीकार किया । इस अपूर्व पथ के पथिक होकर भी आप किसे नियामक कहेंगे, जिससे धर्मी-अंश में उस ज्ञान के निश्चयत्व और विशेषद्वय-अंश में संशयत्व व्यवस्थित हो ।

विशेषदर्शनादर्शने इति चेत् ; तर्हि भवति स्थाणोः स्थाणुत्वं पुरुषत्वं पुरुषस्य विशेषः प्रतीयते चासाविति विशेषदर्शनात्तत्रापि निश्चयप्रसङ्गः ।

संशयात्पूर्वं नास्ति विशेषदर्शनमिति युक्तस्तत्रापि संशय इति चेन्न। धर्मिधियः पूर्वं तर्हि कथं तद्गतविशेषदर्शनं स्यात् । संशयकाले चास्ति विशेषदर्शनमित्यनन्तरं तर्हि संशयाननुवृत्तिप्रसङ्गोऽपि युक्त एव ।

तदीयविषयाद्विशेषाद् व्यतिरिक्तस्य विशेषस्य दर्शनं विवक्षितमिति चेन्न । 'स्थाणुर्वा पुरुषो वे'ति संशयानन्तरं 'दारुमयो मांसमयो वाऽयमि'ति संशयो नोपपद्येत, तदुभयमयत्वातिरिक्तयोः स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्विशेषयोः पूर्वज्ञानेनोल्लिखितत्वात् ।

अन्यतरविशेषदर्शनं संशयप्रतिरोधकम्, संशयेन तु उभयोरुपदर्शनम्, अतो नोक्तदोषप्रसङ्ग इति चेत् ; तर्हि स्थाणुः पुरुषश्चेति कुतोऽपि विभ्रमे जाते 'दारुमयो

समर्थन—विशेष का दर्शन और अदर्शन ही क्रमशः निश्चयत्व और संशयत्व के प्रयोजक मानेंगे । *खंडन*—तब तो स्थाणु में स्थाणुत्वरूप विशेष है और पुरुष में पुरुषत्वरूप विशेष है ही और उनकी प्रतीति भी होती है। अतः विशेष-दर्शन होने से विशेषद्वय-अंश में भी निश्चयत्व हो जायगा ।

समर्थन—संशय से पूर्वकाल में विशेषदर्शन नहीं है, अतः उस अंश में संशयत्व युक्त ही है । *खण्डन*—तब तो उक्त ज्ञान के धर्मी-अंश में भी निश्चयत्व न होना चाहिए । कारण उस ज्ञान से पूर्वकाल में विशेष दर्शन नहीं है । किञ्च—संशयरूप विशेषदर्शन होने से संशय से उत्तरकाल में संशय-धारा की अनुवृत्ति भी नहीं होनी चाहिए ।

समर्थन— संशय के विषय जो कोटिद्वयरूप विशेष, उनसे अन्य विशेष का दर्शन संशय का प्रतिबन्धक है, ऐसा कहेंगे । एवञ्च संशय-धारा की अनुवृत्ति में कोई प्रतिबन्धक नहीं है । *खण्डन*—तब तो 'स्थाणु है या पुरुष' इस संशय के अनन्तर 'दारुमय है या मांसमय' यह संशय नहीं होगा ; कारण दारुमयत्व और मांसमयत्वरूप जो उस संशय के विषय हैं, उनसे अन्य स्थाणुत्व-पुरुषत्वरूप विशेष का दर्शन पूर्वकाल में हो चुका है ।

समर्थन—एक विशेष का दर्शन संशय का प्रतिबन्धक है । संशय में तो दोनों विशेषों का दर्शन है, अतः संशय के बाद उक्त संशय का प्रतिरोध नहीं होता ।

वा मांसमयो वा' इति संशयप्रतिरोधो न स्यात्, पूर्वज्ञानेन विशेषद्वयोपदर्शनस्य कृतत्वात् ।

विशेषदर्शनं हि विशेषनिश्चयो विवक्षितो न तु विशेषज्ञानमात्रम्, येन संशयोपनीतादपि विशेषात्संशयप्रतिरोधः प्रसज्येतेति चेत् । मैवम्; संशयेन यावुपदर्शितौ विशेषौ तत्र न संशयस्य निश्चयत्वमिति व्यवस्थायां सिद्धायामुपदर्शितनियामकसिद्धिर्भवति । सिद्धे चास्मिन्नियामके संशयस्य विशेषद्वयं प्रति निश्चयत्वं नास्तीति सिद्ध्येदित्यन्योन्याश्रयापत्तेः को वारयिता ?

स्यादेतत्—संशयज्ञानस्य धर्मिविषयत्वेऽभ्युपगम्यमाने अर्धवैशसमापद्येत । तच्च तदनभ्युपगम एव निवर्तते । तेन धर्मिज्ञानं निश्चयात्मकमन्यदेव, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वे'ति चान्यदेव संशयज्ञानमित्यभ्युपैष्याम इति चेत् ।

मैवम्; एकधर्मिसम्बन्धोपनयनव्यतिरेकेण स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्विरोध एव नास्तीति 'स्थाणुर्वा पुरुषो वे'त्येतदेव न स्यात् । न हि यस्य कस्यचित्स्थाणुत्वेन

खंडन—तब तो किसी कारण 'स्थाणुः पुरुषश्च' ऐसा भ्रम होने पर 'दारुमयो वा मांसमयो वा' इस संशय का प्रतिरोध नहीं होगा; कारण पूर्वज्ञान का विषय एक नहीं, दो हैं ।

समर्थन—'विशेष-दर्शन' शब्द से विशेष-निश्चय विवक्षित है, ज्ञानमात्र नहीं । अतः संशयोपनीत विशेष-विषय से संशय का प्रतिरोध नहीं होता । *खंडन*—'संशय के विशेषद्वय अंश में निश्चयत्व नहीं है' इस व्यवस्था के सिद्ध होने पर 'विशेष-निश्चय संशय का प्रतिबन्धक है' यह नियम सिद्ध होगा और इस नियम के सिद्ध होने पर उक्त "स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह ज्ञान विशेषद्वय-अंश में संशय है", यह सिद्ध हो सकेगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जायगा । इस अन्योन्याश्रय का वारण कौन करेगा ?

समर्थन—यदि संशय को धर्मी-अंश में निश्चयात्मक मानें, तो एक ही ज्ञान में अंशभेद से संशयत्व और निश्चयत्व दोनों के होने से संकर हो जायगा । वह संशय में निश्चयत्व अस्वीकार करने पर ही निवृत्त हो सकता है । अतः धर्मी का निश्चयरूप ज्ञान अन्य ही है और 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक धर्म-अंश में संशय-ज्ञान अन्य ही है, ऐसा मानेंगे ।

खंडन—जबतक एक धर्मी में सम्बन्ध की प्रतीति न हो, तबतक स्थाणुत्व और पुरुषत्व का विरोध ही नहीं है । फलतः 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह उसका आकार ही नहीं होगा; कारण जिस किसीके स्थाणुत्व से जिस किसीका पुरुषत्व विरुद्ध

यस्य कस्यचित्पुरुषत्वं विरुद्ध्यते। एकधर्मिसम्बन्धमनन्तर्भाव्य विरोधे जगति तयोरन्योन्यस्य व्यतिघ्नतोरसत्त्वमेव प्रसज्येत। तस्य धर्मिणो वा पुरुषत्व-निश्चयाद्यथा संशयो निवर्तते नोत्पद्यते वा, तथा स्वात्मनः पुरुषत्वनिर्णयात्संशयो निवर्तेत नोत्पद्येत वा। विशेषाभावाद्यथाऽयं द्रष्टुर्न स्वशरीरविषयः संशयः, तथैव पुरोवर्तिविषयोऽपि नासौ।

कथं चेदमर्थेन सामानाधिकरण्याभिमानः—'योऽयमूर्ध्वताधर्मा स किं स्थाणुरुत पुरुषः' इति। कस्माद्वा प्रत्यभिज्ञानादयोऽप्येकं ज्ञानमङ्गीकृता इत्युच्छिन्ना विशिष्टविज्ञानसङ्कथा। सञ्जातश्च 'गौरश्वः पुरुषः' इतिवद्विशकलितो विज्ञानसंसार इत्यास्तां विस्तराभिनिवेशः।

नन्वस्ति तावदयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परस्परविरुद्धार्थावगाही प्रत्ययः, स स्वविषयं तथाभूतमुपस्थापयिष्यति। न; उक्तबाधकैः सर्वप्रकारखण्डने परिशेषासम्भवात्।

नहीं है। यदि एक धर्मी के सम्बन्ध के बिना भी विरोध हो, तो अन्योन्य के नाशक उन दोनों का जगत् में असत्त्व ही हो जायगा। अथवा उस धर्मी में पुरुषत्व-निश्चय से जैसे संशय की निवृत्ति या अनुपपत्ति होती है, वैसे ही अपनी आत्मा में पुरुषत्व-निश्चय से भी संशय की निवृत्ति या अनुत्पत्ति हो जायगी। कारण जैसे विशेष न होने से यह संशय द्रष्टा के शरीर-विषयक नहीं है, वैसे ही पुरोवर्ती-विषयक भी नहीं है।

किञ्च—यदि संशय धर्मी-विषयक नहीं है, तो 'जो यह ऊर्ध्व है, वह स्थाणु है या पुरुष' इस तरह इदमर्थ के साथ सामानाधिकरण्य का अभिमान कैसे होता है? प्रत्यभिज्ञा आदि को भी एक ज्ञान कैसे मानते हैं। वहाँ 'सः' इस अंश को भिन्न ज्ञान कह ही सकते हैं। इस प्रकार दो ज्ञानों को भी एक मानें, तो विशिष्ट ज्ञान का नाम ही उच्छिन्न हो जायगा। गौ, अश्व, पुरुष जैसे भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही विज्ञान-संसार भी विशकलित हो जायगा। बस, इतना ही संशय का खण्डन पर्याप्त है, अतः विस्तार का आग्रह न रखें।

समर्थन—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक परस्पर विरुद्ध अर्थों का अवगाहन करनेवाला ज्ञान होता है, वही ज्ञान परस्पर विरुद्ध स्वविषय (संशय) में प्रमाण होगा। *खण्डन*—पूर्वोक्त प्रकार से संशय में विषय, कारण या जातिकृत विशेषत्व खण्डित हो जाने से संशय और उसका विषय अनिर्वचनीय ही है।

भावाभाव-विरोध-खण्डनम्

यच्च स्वरूपमादाय विरुद्धार्थत्वमभिधीयते, तदपि निर्वक्तुं न शक्यते। तथाहि—भावतदभावयोः को विरोधः ?

सहानवस्थानमिति चेन्न। देशभेदेन सहाप्यवस्थानात्।

देशाभेदेनेति चेन्न। संयोगाद्यव्यापकत्वं यद्यभ्युपैषि तथाप्यनुपपत्तिः, प्रकारभेदेन तथाभावस्याभ्युपगमात्।

तस्य पक्षे एकेन प्रकारेणैकस्मिन् सहानवस्थानं विरोधः, संयोगाद्यव्यापकत्वानभ्युपगन्तृपक्षे च देशाभेदेन सहानवस्थानं स इति चेन्न। तद्धि तदुभयावस्थानसाहित्यनिषेधो वा तदुभयावस्थाननिषेधसाहित्यं वा स्यात्। आद्येऽप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वम्, तदुभयावस्थानसाहित्यस्य क्वचिदप्यप्रमितेः। शशविषाण-

भावाभाव-विरोध का खण्डन

किञ्च—भाव और अभाव के जिन परस्पर विरोधी स्वरूपों को ग्रहण कर आपने संशय में जो विरुद्धार्थत्व (विरुद्धधर्म-विषयत्व) का अभिधान किया है, उसका (भावाभाव के विरोध का) भी निर्वचन अशक्य है। आखिर बताइये, भाव और अभाव का विरोध क्या है ?

निर्वचन—सह-अनवस्थान विरोध है। *खण्डन*—यह ठीक नहीं, कारण देश-भेद से भाव का तदभाव के साथ [एक काल में] अवस्थान होता ही है।

समर्थन—एकदेश में सह-अनवस्थान विरोध है। *खण्डन*—यह भी युक्त नहीं; कारण जो आचार्य संयोग और तदभाव को अव्याप्यवृत्ति मानते हैं, उनके मत में मूल-शाखादि प्रकार-भेद से संयोग और तदभाव का वृक्षादिरूप एकदेश में भी अवस्थान होता ही है।

समर्थन—जो संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति मानते हैं, उनके मत में एक प्रकार से एकदेश में सह-अनवस्थान विरोध है। जो संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति नहीं मानते, उनके मत में एकदेश में सह-अनवस्थान विरोध है। *खण्डन*—'सह-अनवस्थान' शब्द का क्या अर्थ है—क्या उभय के अवस्थान के साहित्य का निषेध अर्थ है या उभय के अवस्थान के निषेध का साहित्य है ? प्रथम कल्प में उभयावस्थान साहित्य रूप प्रतियोगी की अप्रसिद्धि से सह-अनवस्थान भी अप्रसिद्ध है। 'गवि शशविषाणं

निषेधादेश्च शशके विषाणनिषेधादिरूपत्वाङ्गीकारेण प्रसिद्धप्रतियोगिकत्वाभ्युपगमात् ।

यदाह एकः—'[1]वस्तुनः प्रतियोगिते'ति ।

अन्यश्च—

'[2]लब्धरूपं क्वचित्किञ्चित्तादृगेव निषिद्ध्यते ।'—इति ।

द्वितीये तु तदुभयावस्थानसाहित्यस्वीकार एव स्यात्, तदुभयनिषेधयोस्तदुभयतयैवाङ्गीकारात् ।

परस्परप्रतिक्षेपकत्वं विरोध इति चेन्न । तद्धि परस्परप्रतिक्षेपं प्रति कारणत्वं

नास्ति' यहाँ शश के शिरोरूप प्रमित धर्मी में गौ में प्रमित विषाण का आरोप कर उसका निषेध होने से वह अभाव प्रसिद्धप्रतियोगिक ही है ।

एक आचार्य, उदयनाचार्य 'कुसुमाञ्जलि' में कहते हैं कि अभावाभाव का प्रतियोगित्व वस्तुनिष्ठ ही हो सकता है । उनके मत में 'गवि शशशृंगं नास्ति' यह प्रसिद्धि होती ही नहीं । किन्तु दूसरे आचार्य, मण्डन मिश्र 'ब्रह्मसिद्धि' के तर्ककाण्ड (कारिका २) में कहते हैं कि जो कहीं लब्धरूप होता है, उसीका अन्यत्र निषेध होता है । एवञ्च पूर्वोक्त प्रकार से 'शशशृंगं नास्ति' की गति लग सकती है ।

द्वितीय पक्ष में उभय के अवस्थान का साहित्य ही स्वीकार करना होगा । वह हो नहीं सकता, कारण भाव का निषेध अभावरूप और अभाव का निषेध भावरूप ही होता है ।

समर्थन—परस्पर प्रतिक्षेपकत्व ही विरोध है । *खण्डन*—'परस्पर प्रतिक्षेपकत्व' शब्द का परस्पर प्रतिक्षेप (निषेध) का कारण, यह अर्थ है या परस्पर के प्रतिक्षेप का तादात्म्य अर्थ है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है; कारण घट का कार्य घटाभाव है और घटाभाव का कार्य घट है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है । द्वितीय पक्ष भी अयुक्त ही है, कारण उभय (भावाभाव) में अनुगत प्रतिक्षेप का निर्वचन नहीं हो सकता ।

१. पूरा वचन इस प्रकार है—'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ।'

२. पूरी कारिका इस प्रकार है—'लब्धरूपं क्वचित्किञ्चित्तादृगेव निषिध्यते । विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य संभवः ॥'

वा तादात्म्यं वा ? न प्रथमः ; प्रमाणाभावेन तथाविधतत्कार्यानङ्गीकारात् । न द्वितीयः ; प्रतिक्षेपशब्दार्थस्य उभयानुगतस्यानिर्वचनात् ।

यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रापरस्यासत्त्वं नियमेन यत्स विरोधस्तयोरिति चेन्न । सत्त्वासत्त्वयोरेकापराश्रयत्वे वैयधिकरण्यात् ।

सम्बन्धस्य तद्व्यतिरिक्तत्वे एकसत्त्वस्यैव चापरासत्त्वात्मकतया स्वीकारेण यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रैकस्य सत्त्वमिति वचनार्थप्रसङ्गेन पौनरुक्त्याद्यापातात् ।

यत्र घटाभाव इत्यत्र खल्वयमर्थो यन्नाम ? यस्याऽऽधेयतया सम्बन्धी घटाभावः। तत्र घटो नास्तीत्यस्याप्ययमर्थः—तस्याऽऽधेयतया सम्बन्धी घटाभाव इति । यत्र घट इत्यस्य कोऽर्थः ? यस्याऽऽधेयतया सम्बन्धी घटः । तत्र घटाभावो नास्तीति कोऽर्थः ? तस्याऽऽधेयतया सम्बन्धी घटाभावसम्बन्धनिषेधः । घटाभावसम्बन्धस्य घटाभावात्मकतया घटाभावनिषेधस्यापि घटात्मकतेति ।

अर्थात् भाव के प्रतिक्षेप का तादात्म्य अभावरूप है और अभाव के प्रतिक्षेप का तादात्म्य भावरूप है । अतः उभयानुगत (एकरूप) प्रतिक्षेप का निर्वचन नहीं हो सकता ।

समर्थन—'जहां एक (भाव या अभाव) का सत्त्व हो, वहाँ अपर (अभाव-या भाव) का नियम से जो असत्त्व है, वही भावाभाव का विरोध है।' *खण्डन*—सत्त्व तो एक में रहेगा और असत्त्व दूसरे में । अतः सत्त्व और असत्त्व का सामानाधिकरण्य न होने से असम्भव हो जायगा ।

यदि सत्त्व-शब्द का 'सम्बन्ध' तथा असत्त्व-शब्द का 'तद्भाव' अर्थ करें और इस तरह उन एकापर प्रतियोगियों का सामानाधिकरण्य संभव मानें, तो वह भी ठीक नहीं । कारण इस तरह एक के सत्त्व को अपर के असत्त्वरूप (घट के सत्त्व को घटाभाव के असत्त्वरूप) मान लिया गया । एवञ्च घटाभाव के असत्त्व का घटसत्त्व में ही पर्यवसान होने से उसका यही अर्थ हुआ कि 'जहाँ एक का सत्त्व है, वहाँ एक का सत्त्व है ।' तथाच यह पौनरुक्त्य हो जायगा । फलतः प्रतियोगी के अभिधान में अपर का अनभिधान होने से अव्याप्ति हो जायगी ।

देखिये, 'जहाँ घटाभाव है' इसका अर्थ यह है कि जिसका आधेयरूप से सम्बन्धी घटाभाव है । 'वहाँ घट नहीं है' इस वाक्य का भी यही अर्थ है कि उसका आधेयरूप से सम्बन्धी घटाभाव है । 'जहां घट है' इसका क्या अर्थ है ? जिसका आधेयरूप से सम्बन्धी घट है । 'वहाँ घटाभाव नहीं है' इसका क्या अर्थ है ? उसका आधेयरूप से सम्बन्धी घटाभावसम्बन्ध का निषेध है । घटाभाव का

तस्मात्तस्य आधेयतया सम्बन्धी घट इत्येवार्थः । अतो घटतदभावयोर्भेदं मनसि कृत्यापि न विप्रतिपत्तव्यमिति ।

यत्रैकस्यावस्थानं तत्रैकस्यैवेति नियमाभिप्रायेण न पौनरुक्त्यादिरिति चेन्न ! नियमस्य यत्किञ्चिदन्यव्यवच्छेदकत्वेऽसिद्धत्वापातात् । विरोधिव्यवच्छेदकत्वस्य च विरोधानिर्वचनेऽनिर्वचनात् ।

अभावपक्षे भावव्यवच्छेदो भावपक्षे चाभावव्यवच्छेदो नियमार्थ इति चेन्न । एकरूपानभिधाने अनुगतविरोधानिर्वचनात् ।

किञ्च—भावाभावव्यवच्छेदयोरभावभावविधानातिरिक्तयोरनभ्युपगमे पुनरपि च यत्र भावस्तत्र भावो यत्राभावस्तत्राभाव इत्युद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिरभेदादिति पौनरुक्त्याधिकफलाभाव एव ।

सम्बन्ध घटाभावरूप है और घटाभाव का निषेध घटरूप है । एवञ्च 'उसका आधेयरूप से सम्बन्धी घट है', यही अर्थ हुआ । फलतः घट और उसके अभाव का भेद हृदय में रहते हुए भी [पुनरुक्ति आदि दोष होने से] उन दोनों के विरोध का लक्षण न होने के कारण उक्त पौनरुक्त्यादि में विप्रति पत्ति न कर विरोध का असत्त्व ही मान लेना चाहिए ।

समर्थन—जहाँ एक का सत्त्व हो, वहाँ एक का ही सत्त्व हो, ऐसा उसका नियमरूप अभिप्राय मानें, तो पुनरुक्ति नहीं होगी । *खंडन*—नियम से यदि यत्किंचित् अन्य धर्म का व्यवच्छेद करें, तो कहीं भी विरोध की सिद्धि नहीं होगी । कारण भूतलादि सर्वत्र ही प्रतियोगी या अभाव से अतिरिक्त भूतलत्वादि धर्म विद्यमान हैं । नियम से विरोधी धर्म का व्यवच्छेद तो मान नहीं सकते, कारण अद्यावधि विरोध का निर्वचन ही नहीं हुआ है । एवञ्च आत्माश्रय हो जायगा ।

समर्थन—जहाँ एक शब्द से भाव का अभिधान हो, वहाँ अभाव व्यवच्छेद्य है और जहाँ एक शब्द से अभाव का अभिधान हो, वहाँ भाव व्यवच्छेद है, ऐसा नियमार्थ कहेंगे । एवञ्च आत्माश्रय भी नहीं होगा । *खण्डन*—भाव और अभाव उभयस्थलसाधारण एक लक्षण न होने से लक्षण का अनुगम नहीं होगा ।

किञ्च—'जहाँ एक भाव का सत्त्व हो, वहां एक भाव का ही सत्त्व हो, अभाव का सत्त्व न हो' यहां 'व्यवच्छेद्य अभाव का सत्त्व न हो' इसका 'भाव का सत्त्व हो' इसी अर्थ में पर्यवसान होने से उद्देश्य-विधेयभाव की अनुपपत्ति तथा पुनरुक्ति दोष बना ही हुआ है ।

स्यादेतत्—भावाभावयोः स्वरूपमेव विरोधः। न चैवं सत्यविरुद्धतापत्तिः, यथा सत्ता भावरूपैव सती स्वात्मनि सदिति भवितृव्यवहारं करोति, तथा भावाभावौ विरोधात्मानावेव स्वात्मनि विरुद्धरूपं भवितृव्यवहारं कुर्वाते। कस्यैतौ विरोध इति चानुयोगे स्वाश्रयस्येत्युत्तरम्। किं तत्र विरोधफलमिति प्रश्ने भेदव्यवस्थानमित्यभिधेयम्। यदाह—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चे'ति।

तदेतदनुपपन्नम्; एतयोर्विरोधत्वं प्रत्येकं वा स्यान्मिलितयोर्वा? नाद्यः; प्रत्येकमेवाऽऽश्रयैकत्वभङ्गप्रसङ्गात्।

नैकत्वाभावो भेदोऽभिमतः, किन्तु अन्योन्याश्रयापेक्षभेदरूपधर्मवत्त्वमिति चेन्न। तस्याभावात्।

कालभेदेनैकस्य भावाभावाश्रयत्वाभ्युपगमात्तदभेद इति चेन्न। तदभेदस्य स्वाभाविकस्य विवक्षितत्वे विशेषणवैयर्थ्यात्।

समर्थन—भाव-अभाव का स्वरूप ही विरोध है। यदि कहें कि भाव-अभाव का स्वरूप विरोध है, तो भाव-अभाव में विरोध नहीं रहा; फिर उनमें अविरुद्धत्व व्यवहार क्यों न हो ?, तो वह ठीक नहीं। कारण जैसे सत्ता में अन्य सत्ता के न होने पर भी अपने में वह स्वयं ही 'सत्' व्यवहार कराती है, वैसे ही भाव और अभाव दोनों अपने में [अन्य विरोध न होने पर भी] विरोध-व्यवहार कराते हैं। 'यह विरोध किनका है ?' इस प्रश्न पर 'अपने आश्रय का है' यह उत्तर है और 'विरोध का फल क्या है ?' इस प्रश्न पर 'भेद की व्यवस्था' यह उत्तर है। आचार्य ने भी यही कहा है कि 'जो विरुद्ध धर्म का अवस्थान या कारण का भेद है, वही भेद है या भेद का हेतु है।'

खंडन—यह मत भी युक्त नहीं; कारण भाव और अभाव प्रत्येक का विरोधत्व (वैधर्म्यत्व और स्वाश्रय-भेदकत्व) है या मिलित का ? इनमें प्रथम पक्ष अयुक्त है; कारण प्रत्येक में आश्रय की एकता का भंग हो जायगा। अर्थात् भावत्व और अभावत्व का अन्यानपेक्ष विरोध मानने पर प्रत्येक तदधिकरण में विरुद्ध धर्म का अध्यास होने से स्वयं से भी उसका भेद होने लगेगा।

समर्थन—एकत्व का अभाव भेद नहीं है, किन्तु अन्योन्य (भाव और अभाव) का आश्रय है प्रतियोगी जिसका, ऐसा भेदरूप जो धर्म, तद्वत्त्व ही वह है। एवञ्च प्रत्येक के आश्रय का भेद नहीं है। *खंडन*—काल के भेद से एक ही घट में रक्तरूप और उसका अभाव रहता है और आश्रयभेद भी नहीं है। अतः अन्योन्य का जो आश्रय, तत्प्रतियोगिक भेद विरोध का फल नहीं है।

एकोपाध्यवच्छिन्नस्य विवक्षितत्वे कालभेदाभिमतेऽपि सम्भवात् । भिन्नोपाध्यनवच्छिन्नत्वस्य विवक्षितत्वेऽसम्भवात् ।

असहावस्थितभिन्नोपाध्यनवच्छिन्नत्वस्य वाञ्छितत्वे सहत्वस्यैककालरूपत्वेन तत्रापि कालाभेदविकल्पानुवृत्त्यापत्तेः ।

मिलितत्वं चानयोरेकदेशत्वं वाऽभिमतम्, एककालत्वं वा, एकप्रकारेण

समर्थन—एक काल में अन्योन्य (भाव-अभाव) का जो आश्रय, तत्प्रतियोगिक भेद विरोध का फल है। घट-रक्तता-स्थल में कालभेद से भाव-अभाव दोनों के रहने पर भी आश्रय का भेद नहीं होता। *खण्डन*—काल का अभेद (एकत्व) स्वाभाविक है या औपाधिक ? यदि स्वाभाविक है तो विशेषण व्यर्थ है, कारण काल का भेद तो स्वाभाविक है नहीं। फिर किसकी व्यावृत्ति के लिए लक्षण में अभेद का निवेश है।

यदि काल का अभेद औपाधिक है, तो यह अर्थ हुआ कि एक उपाधि से अवच्छिन्न काल में रक्त और उसका अभाव नहीं रहता, अतः आश्रय-भेद नहीं है। किन्तु यह भी युक्त नहीं है; कारण एक ही दिनरूप उपाधि से अवच्छिन्न काल में मुहूर्त, प्रहर आदि उपाधियों के भेद से घट में रक्तरूप और उसका अभाव होने से घटरूप आश्रय का भेद हो जायगा।

समर्थन—भिन्न उपाधि से अनवच्छिन्न काल में विद्यमान भाव और तदभाव का अन्योन्य आश्रयप्रतियोगिक भेद विरोध का फल है। उक्त स्थल में मुहूर्त और प्रहररूप उपाधि-भेद होने से दोष नहीं है। *खण्डन*—सूर्य-चन्द्र-परिस्पंद, कालयंत्र (घड़ी)-परिस्पन्द आदि से एक ही काल अवच्छिन्न होने के कारण भिन्न उपाधियों से अनवच्छिन्नत्व अप्रसिद्ध होने से असम्भव हो जायगा।

समर्थन—असह-अवस्थित जो भिन्न उपाधि, उससे अनवच्छिन्न काल में भाव और तदभाव का अन्योन्याश्रयप्रतियोगिक भेद विरोध का फल है। चन्द्र-सूर्य-परिस्पन्द आदि सह-अवस्थित हैं, अतः असम्भव नहीं है। *खण्डन*—इस लक्षण में सहशब्द का अर्थ एक काल ही है। उसमें भी काल का एकत्व स्वाभाविक है या औपाधिक ? ऐसा विकल्प करने पर पूर्वोक्त दोष हो जायँगे।

'भाव और अभाव दोनों का मिलितत्व विरोध है' यह कल्प भी युक्त नहीं है।

वृत्तिर्वा, वृत्तिप्रकारान्यैकोपाध्यवच्छेदो वा ?

नाद्यः ; भावात्यन्ताभावयोस्तदभावात्। न द्वितीयः ; भावस्य प्रध्वंसप्रागभावाभ्यां तदनुपपत्तेः। न तृतीयः ; संयोगाद्यव्याप्यवृत्तितावादिपक्षे गगनादौ संयोगभावाभावयोस्तदभावात्। अव्याप्यवृत्तिधर्मानभ्युपगन्तृपक्षे भावाभावयोर्वृत्तौ प्रकारान्तराभावे प्रमाणाभावात्।

नापि चतुर्थः ; स हि यदि निर्देष्टुं शक्यते, तदाऽपि भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोर्वैकदाऽनभ्युपगमेन तद्विशेषितयोरपि एकदाऽवश्यमनभ्युपगन्तव्यतया कदा विरोधस्य तदाश्रयतेति वक्तुमशक्यत्वात्।

किञ्च—भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोर्वा यदि तथाभावोऽभ्युपगम्यते, तदाऽऽश्रयभेदप्रसङ्गः। अथ नाऽभ्युपगम्यते, तदा भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोश्चाविरोधापत्तिः।

कारण भाव और अभाव का मिलितत्व एकदेश में वृत्तित्व है, एक प्रकार से वृत्तित्व है या इनसे भिन्न उपाधि विशेष से अवच्छिन्नत्व है ?

प्रथम कल्प मानें, तो भाव और अत्यन्ताभाव का मिलितत्व नहीं होगा। द्वितीय कल्प मानें, तो भाव और तत्प्रागभाव-तत्प्रध्वंस का मिलितत्व नहीं होगा। तृतीय कल्प कहें, तो भी संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति माननेवालों के मत में भी आकाश आदि में संयोग और तदभाव अवच्छेद (देश)-भेद से ही रहते हैं। अतः उनके मत में भी एकप्रकारेण भाव और तदभाव का मिलितत्व अप्रसिद्ध है। जो संयोगादि को व्याप्यवृत्ति मानते हैं, उनके मत में भाव और तदभाव के वृत्तित्व में प्रकारान्तर (अवच्छेदक-भेद) मानने में कोई प्रमाण न होने से प्रकार में 'एक' विशेषण व्यर्थ है।

इनसे अतिरिक्त किसी चतुर्थ कल्प का कथन तो हो ही नहीं सकता। यदि किसी प्रकार हो भी, तो वह युक्त नहीं है। कारण भाव और तत्प्रागभाव तथा भाव और तत्प्रध्वंसाभाव कभी एक काल में नहीं रहते। फिर प्रकार से भिन्न उपाधियों से युक्त भाव और तत्प्रागभाव एक काल में कैसे रहेंगे ? और यदि एक काल में नहीं रहते, तो वे विरोध के आश्रय या स्वरूप भी कैसे और कब होंगे ?

किञ्च—यदि भाव, तत्प्रागभाव और भाव, तत्प्रध्वंस का विरोध मानें, तो रक्तरूप और तत्प्रागभाव के अधिकरण घट का भी भेद हो जायगा। भाव और तदत्यन्ताभाव ही परस्पर निषेधरूप हैं। यदि भाव और तद्ध्वंसाभाव तथा भाव और तत्प्रागभाव का परस्पर विरोध न मानें, तो दोनों का अविरोध होने से एक काल और एक अधिकरण में दोनों की प्रतीति हो जायगी।

अभावान्तरेऽपि सावकाशत्वात् न परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वम्। परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं हि भावात्यन्ताभावयोरेव।

तत्तदसत्त्वमात्रयोर्विरोधो न तु तत्तदसत्त्वविशेषयोरिति चेन्न। विशेषस्य तथाप्यविरोधात् कदाऽपि सहावस्थितियोग्यतापत्तेः। नियमेन तथात्वे च विरोधव्याघातात्।

मात्रशब्देन च यदि विशेषशून्यत्वमसत्त्वस्योच्यते तदा तदनभ्युपगम एव, प्रमाणाभावात्। नहि निर्विशेषासत्त्वमात्रसद्भावे प्रमाणमभिधातुं शक्यते।

अथ मात्रशब्दोपादानं सत्यपि विशेषेऽसत्त्वस्य साधारणरूपपुरस्कारेण विरोधव्यवस्थितिप्रदर्शनार्थं तदा भावप्रध्वंसयोस्तादृगेव दोषापत्तिः। प्रध्वंसादौ विशेषे सामान्यरूपस्यावश्याभ्युपगम्यत्वात् तदादायैव विशेषे विरोधपर्यवसानात्।

किञ्च—घट और तत्प्रागभाव तथा घट और तत्प्रध्वंसाभाव परस्पर निषेधरूप भी नहीं हैं; कारण घट ध्वंसाभाव का निषेधरूप भी है तथा घटप्रागभाव भी घटध्वंस का निषेधरूप है।

समर्थन—केवल भाव और सामान्यतः अभाव का विरोध है, भाव और विशेषरूप से अभाव का विरोध नहीं है। *खण्डन*—ऐसा मानने पर विशेष प्रागभावादि के साथ अविरोध होने से कदाचित् सह-अवस्थिति हो जायगी। यदि कहें, 'घट तत्प्रागभाव तथा घट तत्प्रध्वंस का स्वभाव है कि वे नियम से साथ नहीं रहते, तो 'इनमें विरोध नहीं है' इस कथन से व्याघात हो जायगा।

किञ्च—यदि मात्रशब्दार्थ के बल पर सामान्य में विशेषशून्यत्व का प्रतिपादन करें, तो प्रमाण न होने से सामान्य असत्त्व का अभाव हो जायगा। कारण निर्विशेष सामान्य को असत्त्व में प्रमाण कह ही नहीं सकते।

यदि मात्रशब्द का उपादान, विशेष के होने पर भी असत्त्व का सामान्यधर्म के पुरस्कार से विरोध-प्रदर्शन करने के लिए है, तो भाव और प्रध्वंस का भी सामान्यरूपेण विरोध होने से अधिकरण का भेद हो जायगा। कारण प्रध्वंस आदि विशेषों में सामान्यरूप [illegible]य होने के कारण उसी सामान्यरूप का ग्रहण कर विशेष (प्रध्वंसादि) में विरोध का पर्यवसान हो जायगा।

तर्क-सामान्य-लक्षण-खण्डनम्

भावाभावयोर्विरोधानभ्युपगमे तत्राप्यनिष्टापत्तिरिति चेत्; केयमापत्तिः ? तर्कभेद इति चेत् ; अथ कस्तर्कः ?

अभ्युपगतव्याप्यं प्रति व्यापकप्रसञ्जनं सः। तत्प्रसञ्जनं च स्वीकारार्हता-बोधनमिति चेन्न । अव्याप्तेः । अस्ति ह्यप्रसङ्गोऽपि सम्भावना नाम तर्कः । तद्यथा – 'यदि जलं सहकारिभिः सम्पत्स्यते तदा मे तृषं शमयिष्यती'ति; इष्टापादनेऽपि गतत्वाच्च ।

अनभ्युपगतव्यापकमित्यपीति चेन्न । तथाभूतमपि प्रत्यव्याप्याद्व्यापकप्रसञ्जने गतत्वात् । व्याप्येनेत्यपि कार्यमिति चेन्न । विकल्पासहत्वात्—किं

तर्क-सामान्य-लक्षण का खण्डन

यदि कहें कि "इस तरह भाव और अभाव का विरोध ही न मानें, तो आप पर भी अनिष्ट की आपत्ति हो जायगी । अर्थात् अद्वैत से द्वैत का प्रतिक्षेप नहीं होगा; क्योंकि इनमें विरोध ही न रहा" तो कहिये, आपत्ति ही क्या वस्तु है ? यदि तर्कभेद (तर्कविशेष) है, तो वह तर्क ही क्या वस्तु है ?

निर्वचन—'जो व्याप्य का स्वीकार किये हों, उनके प्रति व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है ।' व्यापक की स्वीकारार्हता का बोधन ही व्यापक का प्रसञ्जन है । *खंडन*—इस लक्षण की 'यदि जल सहकारी से सम्पन्न (पीत) हो, तो मेरी पिपासा की निवृत्ति करेगा' इस सम्भावनारूप तर्क में अव्याप्ति हो जायगी । यदि कहें कि प्रसङ्गरूप तर्क का ही यह लक्षण है, सम्भावनात्मक तर्क का नहीं, अतः सम्भावना के लक्ष्य ही न होने से उसमें लक्षण का न जाना अव्याप्ति नहीं है, तो जहाँ व्यापक वह्नि इष्ट (प्रथम से सिद्ध) है, वहां 'यदि धूम है, तो वह्नि अवश्य है' आदि इष्टापादनरूप तर्काभास-स्थल में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'जो व्याप्य का स्वीकार करे और व्यापक का स्वीकार न करता हो, ऐसें पुरुष के प्रति व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है ।' *खण्डन*—उस पुरुष के प्रति भी 'यदि इन्धन है, तो वह्नि अवश्य है' इस स्थल में, जहां अव्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जन है, अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—लक्षण में 'व्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है' यह भी निवेश

परमार्थतो व्याप्यव्यापकभावव्यवस्थितयोः स्वरूपेणेष्टानिष्टत्वम्, उत व्याप्य-व्यापकयोर्भावेन तत् ?

नाद्यः; तथात्वाज्ञातेन वैपरीत्येनेष्टेनापि प्रसञ्जने प्रसङ्गात्। अन्यथा परैस्तथात्वेनानङ्गीकृतेन स्वयमपि परान्प्रति तथात्वेन व्युत्पादयितुमशक्तेन परमार्थतस्तथाभूतेन प्रसञ्जने जयप्रसङ्गात्।

न द्वितीयः; स्वयमपि तथेष्टानिष्टतायां सत्यां कृते तादृशि प्रसङ्गे 'यत्रोभयोरि'त्यादिना दोषेण सत्प्रसङ्गतया अनिष्टेऽपि गततयाऽतिव्यापकत्वात्।

कर देंगे, तो उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होगी। खंडन—यह लक्षण भी विकल्प सहने में असमर्थ होने से अयुक्त है। देखिये—क्या जिनमें वस्तुसत् व्याप्यव्यापकभाव हो, उनका स्वरूपतः अभ्युपगम-अनभ्युपगम लक्षण का घटक है अथवा व्याप्यत्व से और व्यापकत्वरूप से अभ्युपगम-अनभ्युपगम लक्षण में प्रविष्ट है ?

प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण जहाँ धूम और वह्नि का वस्तुतः विद्यमान भी व्याप्य-व्यापकभाव ज्ञात न हो, वहाँ भी धूम से वह्नि का प्रसञ्जन तर्क हो जायगा। अर्थात् वहाँ अन्यतर के प्रति व्याप्ति सिद्ध न होने से शिथिल-मूल होने के कारण वास्तव में वह तर्काभास ही है, तर्क नहीं। अतः उक्त स्थल में अतिव्याप्ति हो जायगी। किञ्च—जहां धूम में ही व्यापकत्व तथा वह्नि में व्याप्यत्व का भ्रम है, वहां भी वस्तुतः धूम व्याप्य होने से धूम के अभ्युगम से वह्नि का प्रसञ्जन तर्क हो जायगा। यदि आपाद्यनिरूपित व्याप्ति आपादक में न मानकर वस्तुभूत ही व्याप्यत्व-व्यापकत्व को प्रसङ्ग का मूल मानें, तो जहां वादी व्याप्यव्यापकभाव नहीं मानता और उसके सामने स्वयं (प्रतिवादी) भी व्याप्यव्यापकभाव का प्रतिपादन नहीं कर सकता, पर वस्तुतः व्याप्यव्यापकभाव है, वहां भी व्याप्य से व्यापक के प्रसङ्ग द्वारा प्रतिवादी की विजय हो जानी चाहिए। किन्तु होती है पराजय ही।

द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है; कारण जहाँ वादी के तुल्य प्रतिवादी स्वयं भी व्याप्य का अभ्युपगम और व्यापक का अनभ्युपगम करता हो, वहां 'यदि सत्ता सद्-व्यवहारविषय हो, तो सत्तावती हो जायगी' इस प्रसङ्ग में अतिव्याप्ति हो जायगी। स्वमत में भी सत्ता में सत्ता का अस्तित्व अनिष्ट होने से यह तर्काभास है, तर्क नहीं है। कारण 'यत्रोभयोः समो दोषः' इस न्याय के अनुसार जो दोष दोनों मतों में है, उसका एक मत में आपादन नहीं कर सकते।

स्वयं व्याप्यतयाऽनिष्टेनेत्यपि विशेषणीयमिति चेन्न । स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन स्वमात्रेष्टव्यापके विषये प्रसङ्गस्याव्यापनात् ।

अथ स्वयमनिष्टव्यापके स्वयं व्याप्यतयेष्टेन यन्न भवति, तत्रानभ्युपगतव्यापकं परं प्रति पराभ्युपगतेन व्याप्येन व्यापकप्रसञ्जनं तर्कः । एवं सति हि स्वानिष्टव्यापके स्वयमिष्टव्याप्येन यत्र प्रसङ्गस्तत्र गमनादतिव्याप्तिर्या, या च स्वमात्रेष्टव्यापके स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन प्रसङ्गस्याव्याप्तिस्ते निरस्ते भवत इति चेन्न । 'यद्यत्र सत्तयाऽपि घटोऽभविष्यत्तदाऽद्रक्ष्यदि'त्याद्यव्यापनात् । तत्र स्वयम-

समर्थन—'जो पुरुष व्याप्य का स्वीकार करता हो और वही व्यापक का अस्वीकार करता हो, उसके प्रति स्व द्वारा अस्वीकृत व्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है ।' यदि सत्ता सद्व्यवहार-विषय हो, तो सत्तावती हो जायगी' इस स्थल में सत्ता में सद्व्यवहार-विषयत्वरूप व्याप्य स्व द्वारा इष्ट ही है, अनिष्ट नहीं। अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं है । *खंडन*—जहाँ नैयायिक स्व द्वारा व्याप्यत्वरूप से इष्ट प्रमेयत्व से स्वमात्र द्वारा [ईश्वरादि प्रत्यक्षविषय होने से] इष्ट प्रत्यक्षरूप व्यापक का मीमांसक के प्रति 'यदि अदृष्ट प्रमेय हो, तो प्रत्यक्ष हो जायगा' इस प्रकार प्रसञ्जन करता हो, वहां अव्याप्ति हो जायगी । कारण उक्त स्थल में व्याप्य स्व द्वारा अनिष्ट नहीं है, अतः उक्त लक्षण का समन्वय नहीं होता ।

समर्थन—'स्व से अनिष्ट व्यापक का स्व से इष्ट व्याप्य द्वारा जो प्रसञ्जन है, उससे भिन्न (अर्थात् अनभ्युपगत है व्यापक जिस पुरुष से, उसके प्रति पर द्वारा अभ्युपगत व्याप्य से व्यापक का) प्रसञ्जन तर्क है । ऐसा लक्षण करने पर 'यदि सत्ता सद्व्यवहार-विषय हो, तो सत्तावती हो जायगी' इस असत्-प्रसङ्ग में स्व से भी अनिष्ट व्यापक का स्व से इष्ट व्याप्य द्वारा प्रसङ्ग होने से तद्भिन्नत्व न होने के कारण अतिव्याप्ति नहीं होगी । 'स्व द्वारा अस्वीकृत व्याप्य से' यह निवेश न होने के कारण 'यदि अदृष्ट प्रमेय हो तो प्रत्यक्ष हो जायगा' इस सत्प्रसङ्ग में अव्याप्ति भी नहीं होगी । कारण नैयायिक (स्व) द्वारा अदृष्ट में प्रत्यक्षत्व (व्यापक) इष्ट होने से भिन्नान्त लक्षण भी समन्वित हो जायगा । *खण्डन*—'यदि यहां घट विद्यमान होता तो दीखता' इस प्रसङ्ग में अव्याप्ति हो जायगी, कारण यहां स्व से इष्ट

निष्टदर्शनरूपव्यापके स्वयं व्याप्यतयेष्टेनैव हि दर्शनयोग्येन घटसत्त्वेनासौ प्रसङ्गः।

अथ तत्र सत्तयाऽपि स्वयमिष्टेनेति निषेध्यकोटौ प्रविश्य निषेधोऽभिधीयते—एवं यत्र भवतीति। तदपि न ; एवम्भूते एव विपर्ययापर्यवसायिनि गततयाऽतिव्यापकत्वात्।

विपर्ययपर्यवसायिनेत्यपि प्रक्षेप्यमिति चेन्न। केवलपरपक्षदूषणाय परमात्राभ्युपगम्यमानव्याप्यत्वेन एवंक्षमस्य परं प्रति व्यापकप्रसञ्जनस्याव्यापनात्। तत्र स्वयं व्याप्त्यनभ्युपगमेन विपर्ययपर्यवसायित्वासम्भवात्।

स प्रसङ्ग एव न भवति, विरोधमात्रं तदिति चेन्न। अनिष्टं व्याप्याभ्युपगमबलेन परं प्रत्यापाद्यत इत्येवम्भूतस्यार्थस्य उभयत्रापि तुल्यत्वात्। तुल्यत्वेऽपि

सत्त्वरूप व्याप्य द्वारा ही स्व से अनिष्ट दर्शनरूप व्यापक का प्रसञ्जन होने से भिन्नान्त लक्षणभाग समन्वित नहीं होता।

समर्थन—'स्व से अनिष्ट व्यापक का स्व द्वारा सत्त्वरूप से तथा व्याप्यत्वरूप से जो इष्ट हो, उससे जो प्रसञ्जन, उससे भिन्नत्व' ऐसा लक्षण में निवेश करने पर उक्त स्थल में अव्याप्ति नहीं होगी। कारण उक्त स्थल में स्व द्वारा सत्त्वरूप से घट इष्ट न होने से 'भिन्नान्त' का समन्वय नहीं होता। *खण्डन*—ऐसा निवेश करने पर 'यदि ब्रह्म वेदैकगम्य हो, तो अग्निहोत्र के तुल्य अस्वप्रकाश हो जायगा' इस विपर्यय-अपर्यवसानी असत्प्रसङ्ग में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—उक्त लक्षण के विशेष्य दल में 'विपर्यय-पर्यवसायी' यह विशेषण देने पर उक्त अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—उक्त विशेषण देने पर केवल परपक्ष के दूषण के लिए परमात्र द्वारा अभ्युपगम्यमान व्याप्य से परपक्ष के दूषण में क्षम व्यापक का पर के प्रति जो प्रसञ्जन होगा, उसमें अव्याप्ति हो जायगी। अर्थात् 'यदि ब्रह्म को जगत् का उपादान मानें, तो मिट्टी के तुल्य वह भी विकारी हो जायगा' इस सत्प्रसङ्ग में अव्याप्ति हो जायगी। कारण नैयायिक के मत में निर्विकार आकाश शब्द का उपादान होने से यहां विपर्यय में पर्यवसान नहीं है।

समर्थन—'यदि ब्रह्म को उपादान मानें, तो वह विकारी हो जायगा' ऐसा प्रसञ्जन तर्क ही नहीं है, कारण जिस प्रसंग (तर्क) का विपर्यय में पर्यवसान न हो, उसे हम प्रसंग ही नहीं मानते। उक्त स्थल में 'उपादानत्वरूप व्याप्य ब्रह्म में है, तो व्यापक विकारित्व के न होने में विरोध होगा' इस तरह हम केवल विरोध का

लक्षणकरणासामर्थ्याद्यदि विपर्ययपर्यवसायिन्येव प्रसङ्गत्वं त्वया परिभाष्येत, तर्हि मया परबाधमात्र एव प्रसङ्गतायाः, विपर्ययपर्यवसायिनि तु तत्र विरोधतायाः परिभाषितुं शक्यत्वात्। अन्यथा विरोधत्वमेवोभयोरपि स्यात्।

प्रत्यवस्थानवैचित्री चेत्तत्र विरोधाद्विशेषः, साऽत्रापि तुल्यैव।

अत एव सम्भावनाऽपि तर्कादन्यैवेति निरस्तम्; आरोपादपि व्याप्यता-निमित्तव्यापकाभ्युपगमाविशेषात्।

अत एव परप्रमितेनेति विशिष्य परानिष्टापादनमात्ररूपविपर्ययापर्यव-

उद्भावन ही करते हैं। एवञ्च वहाँ अव्याप्ति ही कहाँ है? खंडन—'व्याप्य के अभ्युपगम के बल पर पर के प्रति अनिष्ट (व्यापक) का आपादनरूप अर्थ तो दोनों स्थलों में तुल्य ही है। इस प्रकार तुल्य-प्रसङ्ग होने पर भी लक्षण करने में असमर्थ होने के कारण यदि आप केवल विपर्ययपर्यवसायी स्थल में ही प्रसङ्गत्व का व्यवस्थापन करें, तो हम भी ऐसी परिभाषा (संकेत) कर सकते हैं कि जहां 'केवल परपक्ष का बाध है, वहीं प्रसङ्गत्व है और जहाँ विपर्यय में पर्यवसान हो, वहां विरोध है।' यदि हमारी यह परिभाषा न मानें, तो [विशेष न होने से] दोनों स्थलों में विरोध ही मानिये।

यदि कहें कि वहाँ की अपेक्षा विपर्यय में पर्यवसानरूप विरोध विशेष है, तो हम भी कह सकते हैं कि पराभ्युपगत व्याप्य से अनिष्ट व्यापक का प्रसञ्जन दोनों स्थलों में तुल्य होने से उक्त वैचित्र्य अकिञ्चित्कर है।

अतएव "यदि जल सहकारी से सम्पन्न हो, तो तृषा की शान्ति करे' यह सम्भावना प्रसङ्गरूप न होने से तर्क नहीं है," यह कथन भी युक्त नहीं है। कारण सम्भावना प्रसंगरूप न होकर आरोपरूप होने पर भी व्याप्य के अभ्युपगम से व्यापक के अभ्युपगम में दोनों स्थलों में कोई विशेष नहीं है।

इसीलिए 'पराभ्युपगत व्याप्य से' इसके स्थान पर 'परप्रमित व्याप्य' ऐसा निवेश कर जहाँ पर के प्रति अनिष्ट का आपादन है, परन्तु विपर्यय में पर्यवसान नहीं है, वहां तर्कलक्षण की अतिव्याप्ति का निरास करना चाहिए' यह कथन भी अयुक्त है। कारण जहां विपर्यय में अपर्यवसान है, वहाँ परमार्थतः व्याप्ति न होने पर भी

सायितर्कता निरस्येति निरस्तम् । परमार्थतो व्याप्त्यभावेऽपि पराभ्युपगम-मादाय प्रसङ्गप्रवृत्तेरुपपत्तेः ।

कथं हि परेण व्याप्यतयाऽनुमतात्तं प्रति व्यापकानुमत्या नाऽऽपतितव्यम् । नहि प्रसङ्गो वास्तवत्वं व्याप्तेरवलम्बते । किं नाम ? अभ्युपगममात्रम् । अनभ्युपगतौ वस्तुगत्या स्थितेनापि तेनाऽऽपादनाप्रवृत्तेः । अत एव परस्य प्रमाणेन व्याप्यानुमितिमुत्पाद्याप्यापादनं क्रियते ।

वस्तुगत्या व्याप्यत्वं तथात्वेनाभ्युपगतत्वं च द्वयमपि प्रसङ्गस्याङ्गमिति चेन्न । तथात्वेनाभ्युपगमस्यावश्यं प्रसङ्गाङ्गतया मन्तव्यस्य परानपेक्षस्यैव समर्थत्वे वास्तवव्याप्तत्वस्यापि प्रवेशने प्रमाणाभावात् ।

तस्माद्यः प्रसङ्गः स्वपक्षसिद्ध्यङ्गं तस्य विपर्ययापर्यवसायिता दोषायैव स्यात् । प्रसङ्गस्य तस्य विपर्ययपर्यवसानदाढर्यार्थं दण्डतयोपन्यासात्,

पर के अभ्युपगममात्र से यदि अनिष्ट का प्रसङ्ग हो, तो उसे अलक्ष्य मानना अयुक्त है ।

जब उक्त स्थल में पर व्याप्य का अभ्युपगम करता है, तब उसके प्रति व्यापक का भी आपादन क्यों न हो ? कारण प्रसङ्ग व्याप्ति के वास्तवत्व की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु व्याप्ति के अभ्युपगममात्र की अपेक्षा करता है । यदि व्याप्ति का अभ्युपगम न हो, तो वस्तुस्थित व्याप्ति से भी प्रसङ्ग नहीं होता । अत-एव जहाँ वादी विशिष्ट व्याप्ति को नहीं मानता, वहाँ भी पर के प्रति व्याप्य की अनु-मिति कराकर व्यापक का आपादन किया जाता है ।

समर्थन—वस्तुतः व्याप्ति और व्याप्ति का अभ्युपगम दोनों प्रसङ्ग के कारण हैं । अतः जहां वस्तुतः व्याप्ति नहीं है, वहां विरोधमात्र है, प्रसङ्ग नहीं । *खंडन*—व्याप्यत्वरूपेण व्याप्य के अभ्युपगम को प्रसंग का आवश्यक अंग (कारण) मान लेने पर तो वह इतर की अपेक्षा के बिना भी प्रसंग-करण में समर्थ हो सकता है । फिर वास्तव व्याप्ति को भी प्रसंग का कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है ।

तस्मात् जो प्रसङ्ग स्वपक्षसिद्धि का अङ्ग है, उसकी विपर्यय में अपर्यवसायिता दोष ही होगा । कारण उसका उपन्यास विपर्यय में पर्यवसानरूप स्वपक्ष की दृढता के लिए विपक्ष के बाधनार्थ दण्डरूप से ही होता है । जैसे—बौद्धों के मत में सत्त्व में क्षणिकत्व की व्याप्ति के साधनार्थ, 'सत्त्व रहे, पर क्षणिकत्व न रहे' यह व्यभिचार-शङ्का होने पर

सौगतानां सत्त्वक्षणिकत्वव्याप्तिसाधकविपर्ययान्यथाभावदण्डप्रसङ्गवत्। तामन्तरेण तस्य स्वपक्षसाधनाक्षमत्वात्, तस्य च व्याप्तिवास्तवत्वमपि मन्तव्यम्। अन्यथा विपर्ययेऽपि व्याप्त्यभावेन स्वपक्षसाधनाक्षमत्वादेव।

यस्तु प्रसङ्गः परपक्षबाधनाङ्गं तत्र पराभ्युपगममात्रं प्रयोजकम्। तावतैव परपक्षप्रतिक्षेपक्षमत्वेन वास्तवव्याप्तिविपर्ययपर्यवसानपर्यन्ताननुसारित्वादिति युक्तं पश्यामः। तथाच सति कथितलक्षणासङ्गतिस्तदवस्थैव।

अथ व्याप्याभ्युपगमेनानिष्टस्य व्यापकस्य प्रतीतिस्तर्क इति चेन्न। इष्टार्थसम्भावनायामव्याप्तेः। तेन व्यापकस्य प्रतीतिः स इति चेन्न। इष्टापादनेऽपि गतत्वात्।

अप्रमितस्य तथेति चेन्न। प्रथमानुमानेऽपि गतत्वात्। अनुमाने व्याप्यस्य

उसके बाधन के लिए 'यदि क्षणिकत्व न हो, तो सत्त्व भी नहीं रहेगा' ऐसा प्रसङ्ग उपन्यस्त होता है। जबतक विपर्यय में पर्यवसान न हो, तबतक वह प्रसङ्ग स्वपक्ष-साधन में समर्थ ही नहीं हो सकता। इसी तरह वहां वास्तव व्याप्ति भी माननी चाहिए, अन्यथा विपर्यय में भी व्याप्ति न होने से वह स्वपक्ष का साधक नहीं होगा।

एवञ्च जो प्रसङ्ग परपक्ष के बाधन के कारण हैं, उनमें पराभ्युगममात्र प्रयोजक है। क्योंकि पर के अभ्युपगममात्र से ही परपक्ष का खण्डन हो जाने के कारण वास्तविक व्याप्ति और विपर्ययपर्यवसान तक अनुसरण करने में कुछ भी फल न होने से व्याप्ति आदि का अननुसरण ही हमें उचित दीखता है। ऐसा मानने पर यदि तर्कलक्षण में 'विपर्ययपर्यवसायी' यह विशेषण दें, तो 'यदि ब्रह्म उपादान हो तो विकारी हो जायगा' इस स्थल में, जहाँ विपर्यय में पर्यवसान नहीं है, अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'व्याप्य के अभ्युपगम से अनिष्ट व्यापक की प्रतीति तर्क है' ऐसा कहेंगे। *खण्डन*—'यदि जल सहकारी से सम्पन्न हो, तो तृषा की शान्ति करे' यहाँ अव्याप्ति हो जायगी। यदि 'अनिष्ट' विशेषण न दें, तो भी जहाँ इष्ट वह्नि का धूम से आपादान है, वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी।।

समर्थन—'व्याप्य के अभ्युपगम से अप्रमित व्यापक की प्रतीति तर्क है' ऐसा लक्षण करेंगे। *खण्डन*—धूम से वह्नि की प्रथम अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी; कारण वह्नि अनुमिति से पूर्व अप्रमित ही है।

समर्थन—अनुमान-स्थल में धूम की प्रमा से वह्नि की अनुमिति होती है, अभ्युपगम से नहीं। लक्षण में तो अभ्युपगम का निवेश है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं

प्रमया तथा, न त्वभ्युपगमेनेति चेन्न । वस्तुगत्या व्याप्यस्य प्रमयाऽपि प्रतिवाद्यसिद्धस्य व्यापकानुमानासम्भवेन तत्राप्यभ्युपगमपर्यन्तं गन्तव्यत्वादेव ।

नन्वेवमन्यतरासिद्धं व्याप्यं प्रसाध्य अनुमानव्यवस्थापनमुच्छिन्नम् । तदप्रसाधनेऽन्यतरासिद्ध्या, तत्प्रसाधने परस्याभ्युपगन्तुरपसिद्धान्तात् । अपसिद्धान्तमनुद्भाव्य वादिना प्रसाधितात् व्याप्यात् व्यापकसाधने पर्यनुयोज्योपेक्षणादिति ।

किं तत्र तथा न स्यात्, किमत्राप्रस्तुतया तच्चिन्तया ? अन्यतरासिद्धस्य तावद्व्याप्यस्याभ्युपगमं परेणाकारयित्वैव न व्यापकसाधनमुपेयम् ।

तस्याप्रमा स इति चेन्न । मिथोविरुद्धादौ तर्काभासेऽपि गतत्वात् । आश्रयासिद्ध्यादिव्यतिरेके सतीति चेन्न । सन्दिग्धधूमदर्शनात् । यद्यत्र धूमस्तदाऽग्नि-

होगी । *खंडन*—वस्तुतः जहाँ व्याप्ति की प्रमा तो है; परन्तु प्रतिवादी व्याप्य का अभ्युपगम नहीं करता, वहाँ अनुमान नहीं होता । अतः अनुमिति में भी व्याप्य के अभ्युपगम को कारण मानना ही होगा । एवञ्च पूर्वोक्त अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है ।

समर्थन—यदि अनुमिति में व्याप्ति के अभ्युपगम को कारण मानें, तो अन्यतर के प्रति असिद्ध व्याप्य का प्रसाधनकर अनुमिति-साधन की प्रक्रिया का ही उच्छेद हो जायगा । कारण यदि व्याप्य का साधन न करें, तो उसकी अन्यतर के प्रति असिद्धि होने से अनुमिति नहीं होगी । यदि साधन करें, तो पर के लिए व्याप्य के अभ्युपगम से अपसिद्धान्त हो जायगा । उक्त अपसिद्धान्त का उद्भावन न करने पर 'वादि द्वारा साधित व्याप्य से व्यापक के साधन में पर्यनुयोज्य अपसिद्धान्त की उपेक्षारूप निग्रह हो जायगा ।

खंडन—अन्यतरासिद्ध व्याप्य-स्थल में उक्त प्रकार से अनुमान का उच्छेद निश्चित है । किन्तु उस अप्रस्तुत की चिन्ता से यहाँ क्या लाभ है ? अन्यतर के प्रति असिद्ध व्याप्य का अभ्युपगम बिना कराये व्यापक का साधन स्वीकर्तव्य नहीं है । अतः उस अनुमिति में तर्कलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी ।

समर्थन—'व्याप्य के अभ्युपगम से अप्रमित व्यापक की अप्रमा तर्क है ।' *खण्डन*—मिथो-विरुद्ध आदि तर्काभासों में अतिव्याप्ति हो जायगी । अर्थात् 'यदि शुक्तिरूप्य प्रतीयमान हो, तो वह सत् हो जायगा' और 'सत् होने पर भी यदि

मानिति सम्भावनायाः परमार्थतस्तथार्थावस्थानात्। प्रमात्वं त्यक्तुमपारयन्त्या अव्यापनात्।

तत्कालं प्रमात्वेनाप्रमीयमाण इत्यपीति चेन्न। बहुशो दत्तोत्तरत्वात्। सर्वस्य चास्य पूर्वोक्तोभयानिष्टव्यापकेष्टव्याप्योदाहरणे गतत्वेनातिव्यापकत्वात्।

तद्व्यवच्छेदार्थमारोपितस्य व्याप्यस्याभ्युपगमेनेति करणे च सिद्धेन

उसका बाध मानें, तो असत् हो जायगा' इस सत् और असत् के परस्पर विरोधरूप तर्काभास में अतिव्याप्ति हो जायगी'।

समर्थन—लक्षण में 'आश्रयासिध्याद्यिभिन्नत्व (मिथोविरुद्धादि-भिन्नत्व) का निवेश करने पर उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—संदिग्ध धूम-दर्शन से जहाँ 'यदि वहाँ धूम है तो अग्नि भी है' ऐसी सम्भावना होती है, वस्तुतः वह्नि होने से प्रमारूप उस सम्भावना में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'व्याप्य के अभ्युपगम से व्यापक की उस काल में प्रमात्वरूप से अप्रमीयमाण प्रतीति तर्क है' ऐसा कहेंगे। *खंडन*—यह लक्षण भी 'तत्-शब्दघटित होने से अननुगत हो जायगा। इसी तरह 'वादी द्वारा प्रमितत्वरूप से अप्रमीयमाण है या प्रतिवादी द्वारा?' इस विकल्प से कवलित होने से भी यह लक्षण असङ्गत है। किञ्च—जहाँ सत्ता में दोनों के व्यापक (सत्ता) अनिष्ट हैं और व्याप्य इष्ट हैं, वहां 'यदि सत्ता सद्व्यवहारविषय हो, तो सत्तावती हो जायगी' इस असत्प्रसङ्ग में अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन—'आरोपित व्याप्य के अभ्युपगम से व्यापक की प्रतीति तर्क है' ऐसा कहेंगे। उक्त स्थल में व्याप्य का आरोप नहीं, किन्तु विद्यमानता है; अतः अति-

'मिथोविरुद्धादौ' का सदसद् के परस्परविरोधरूप तर्काभास, यह अर्थ 'विद्यासागरी' का है। 'शारदाकार लिखते हैं कि "शब्दो यदि अनित्यो न स्यात्, कृतको न स्यात्' और 'शब्दो यदि नित्यो न स्यात्, श्रावणो न स्यात्' ये दोनों जो सत्प्रतिपक्ष की तरह परस्पर विरुद्ध तर्काभास हैं, उनमें अतिव्याप्ति हो जायगी। परस्पर परामर्शों का प्रतिबन्ध होने से इनकी फलभूत अनुमितियों के न होने पर भी उक्त तर्काभासों के होने में कोई बाधक नहीं है। विपर्ययापर्यवसायी तर्क-विशेष का संग्रह करने के लिए आप वस्तुसत् व्याप्ति की विवक्षा कर ही नहीं सकते, अतः उसका अभाव कहकर इस अतिव्याप्ति का वारण नहीं हो सकता।" 'मिथोविरुद्धादौ' यहाँ आदिपद से आश्रयासिध्यादि का ग्रहण है। अतएव 'आश्रयासिध्यादिव्यतिरेके सति' यह कहना संगत है।

व्याप्येन प्रसङ्गस्याव्यापनात् । तद्यथा—कार्यत्वात् यद्यदृष्टसृष्टमङ्कुरादि मीमांसकः शंसति, तदानीमविशेषेण कर्तृकार्यमपि पर्यवस्येदस्य तदिति ।

अपिच—आत्माश्रयोऽन्योन्याश्रयश्चक्रकं व्याघातोऽनवस्था प्रतिबन्दी चेत्यापाद्यैर्भिद्यमाना षट्तर्कीष्यते । स्वरूपं चैषां स्वस्याव्यवहितस्वापेक्षणमात्माश्रयः, अन्योन्यस्याऽव्यवहितान्योन्यापेक्षित्वमन्योन्याश्रयः, अन्तरितस्य तदेव द्वयमात्माश्रयोऽन्योन्याश्रयश्चक्रकम्, विरुद्धसमुच्चयो व्याघातः, उपपाद्योपपादकप्रवाहोऽनवधिरनवस्था, स्वाभ्युपगतदोषतुल्यता प्रतिबन्दी ।

तत्र आत्माश्रयस्य सम्बन्धद्वारभेदादाभासत्वम् । यथा प्रमेयत्वस्याऽऽत्मनि वृत्तौ । क्वचिन्नैवमपि । यथा—अनेककालस्थस्य घटस्य पूर्वकालवृत्त्यात्मन उत्तरकालवृत्त्यात्मानं प्रति कारणत्वे ।

व्याप्ति नहीं होगी । *खण्डन*—यदि उक्त लक्षण में आरोपितत्व व्यापक विशेषण दें, तो जहाँ मीमांसक के प्रति नैयायिक अङ्कुरादि में विद्यमान 'कार्यत्व'रूप व्याप्य से 'कर्तृसृष्टत्व'रूप व्यापक का प्रसङ्ग करता है, अर्थात् 'यदि अंकुरादि कार्य हैं तो अदृष्ट-सृष्ट के तुल्य कर्तृजन्य भी हैं' ऐसा तर्क करता है, तो उसमें अव्याप्ति हो जायगी ।

किञ्च—आपाद्य के भेद से तर्क छः प्रकार के माने गये हैं । यथा—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, व्याघात, अनवस्था और प्रतिबन्दी । इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—अपने ज्ञान के लिए जहाँ अव्यवहित पूर्वक्षण में अपने ज्ञान की अपेक्षा हो, वह आत्माश्रय है । अन्योन्याश्रय अन्योन्य द्वारा अव्यवधान से अन्योन्य की अपेक्षारूप है । व्यवधान से स्व के द्वारा स्व की अपेक्षा या व्यवधान से अन्योन्य द्वारा अन्योन्य की अपेक्षा चक्रक है । विरुद्ध दो धर्मों का एक धर्मी में समुच्चय व्याघात है । अवधि से रहित उपपाद्य-उपपादक का प्रवाह अनवस्था है । एक पक्ष द्वारा दिये गये दोष की अपर पक्ष में तुल्यता प्रतिबन्दी है ।

इनमें आत्माश्रय-दोष सम्बन्धरूप व्यापार के भेद से आभास है । जैसे—प्रमेयत्व में प्रमेयत्व के रहने से । अर्थात् घट में प्रमेयत्व घटत्वप्रकारक-प्रमाविषयत्वरूप है और प्रमेय में प्रमेयत्वप्रकारक-प्रमाविषयत्वरूप है; अतः घटप्रमा और प्रमेयत्व-प्रकारकप्रमारूप ज्ञानों के भेद होने से आत्माश्रय दोष नहीं होता । कहीं-कहीं आत्माश्रय आभास नहीं, प्रत्युत दोष ही होता है । जैसे—'अनेककालवृत्तिर्घटः' इत्याकारक ज्ञान-स्थल में उत्तरकालवृत्ति घटज्ञान के प्रति पूर्वकालवृत्ति घटज्ञान कारण होने से वहाँ आत्माश्रय दोष ही है ।

अन्योन्याश्रयस्य व्यक्तिभेदात् । यथा—ज्ञानेन संस्कारस्य, तेन च ज्ञानस्य जनने ।

चक्रकस्यापि तस्मात् । यथा—बीजेनाङ्कुरस्तेन स्तम्बः, तेन बीजं जन्यत इत्यत्र ।

व्याघातस्य उपाधिभेदात् । यथा—कालभेदादिना जननाजननादौ ।

अनवस्थायाः क्रियायै परस्परानन्त्यानपेक्षणात् । यथा—सामग्र्या कार्यजननाय स्वसामग्र्यानन्त्यानपेक्षणे । तामेतामधोधावन्तीमनवस्थामाचक्षते । क्वचिन्नैवमपि । यथा—स्वाश्रये भिन्नबुद्धिजननाय स्वगतभेदानुपजीवनादपि

व्यक्ति-भेद से अन्योन्याश्रय भी कहीं-कहीं आभास होता है। जैसे—ज्ञान से संस्कार और संस्कार से ज्ञान की उत्पत्ति में। यहां संस्कार अनुभवरूप ज्ञान से उत्पन्न होता और स्मरणरूप ज्ञान को उत्पन्न करता है; अतः अनुभव और स्मृतिरूप व्यक्तियों के भेद से अन्योन्याश्रय दोष नहीं, आभास ही है।

चक्रक भी व्यक्ति-भेद से आभास होता है। जैसे—बीज से अंकुर और अंकुर से स्तम्ब और स्तम्ब से बीज की उत्पत्ति में। यहां बीजरूप व्यक्तियों का भेद है।

व्याघात भी देश-कालरूप निमित्त-भेद से आभास होता है। जैसे—कुसूल (कोठिला) में स्थित बीज में अजनकत्व[1] और क्षेत्रस्थ बीज में जनकत्वरूप विरुद्ध दो धर्म देश और काल-भेद से रहते हैं। अतः ऐसे स्थलों में व्याघात आभास है।

जहाँ कार्योत्पत्ति में परस्पर आनन्त्य की अपेक्षा नहीं होती, वहाँ अनवस्था आभास होती है। जैसे—कार्य सामग्री से और वह सामग्री भी अपनी सामग्री से ही उत्पन्न होती है; कारण वह कादाचित्क है और जो कादाचित्क होता है, वह जन्य होता है। इस प्रकार एक से एक के जन्य होने से कार्य-कारण की अनवधि धारा होने पर भी कार्योत्पत्ति में कार्य की सामग्री को अपनी सामग्री की अपेक्षा न होने से यह अनवस्था आभास है। कारण कार्योत्पत्ति में सामग्री की सामग्री अन्यथासिद्ध हुआ करती है। पण्डित लोग इस अनवस्था को नीचे की ओर दौड़नेवाली अनवस्था कहते हैं। कहीं अनवस्था आभास नहीं भी होती। जैसे—घट और घटभेद में भिन्नत्व-व्यवहार का साम्य होने पर भी घट में भिन्नत्व-बुद्धि के लिए

1. कुसूलस्थ बीज में स्वरूपयोग्यतारूप कारणत्व होने पर भी यहाँ 'अजनकत्व' शब्द से फलोपधायकतारूप जनकत्वाभाव विवक्षित होने से वह तो उसमें नहीं ही है।

भेदस्याऽऽनन्त्ये, प्राग्लोपादिदोषात्। तामेतामूर्ध्वं धावन्तीमनवस्थामाचक्षते।

प्रतिबन्द्या विशेषात्। यथा—धूमानुमानेऽप्युपाधिशङ्काप्रतिबन्द्यां तर्कानुकूलत्वादिति।

तदेषामापादनानि तर्काभासाः कथमुक्तलक्षणेन न सङ्ग्राह्याः, सत्यपि व्याप्याद्यदोषे प्रसङ्गस्थानगतेन तेन तेन विशेषेणाऽऽभासीभूतत्वात्।

प्रसङ्गस्थाने तावतां विशेषाणामभावेनापि लक्षणं विशेषणीयमिति चेन्न।

भेदगत भेद की अपेक्षा नहीं होती। यदि उसकी अपेक्षा मानें, तो प्राग्लोप[1], विनिगमनाविरह और प्रमाणाभाव हो जायगा। पण्डित लोग इस अनवस्था को ऊपर की ओर दौड़नेवाली अनवस्था कहते हैं।

प्रतिबन्दी भी एक पक्ष में अनुकूल तर्क रहा, तो आभास हो जाती है। जैसे 'शब्दः अनित्यः कृतकत्वात्' यह अनुमिति [उपाधि-शङ्का होने से मीमांसक के मत में] संदिग्धोपाधि है। यदि नैयायिक यहां 'यदि संदिग्धोपाधित्वं दोषः स्यात्तदा धूमानुमितावपि स्यात्' इस प्रकार प्रतिबन्दी दे, तो मीमांसक कह सकता है कि धूमानुमिति में कार्य-कारणभावरूप विशेष (तर्क) है, अतः यह प्रतिबन्दी आभास है।

इन आत्माश्रय आदि के आभासों में उक्त तर्कलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। 'जो वस्तु है, वह स्वाश्रय नहीं है और परस्परापत्तिसिद्धिक भी नहीं है' इत्यादि व्याप्ति होने से ये सब तर्क ही हैं", ऐसा भी नहीं कह सकते। कारण सम्बन्ध, द्वारभेद आदि तत्-तत् विशेष से उनके आभासत्व का प्रतिपादन हम पीछे कर ही आये हैं।

समर्थन—'आभासत्व के कारण उन सभी विशेषों का जहां अभाव हो, वहाँ आरोपित व्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है' ऐसा निवेश करने पर उक्त आभास-स्थलों में अतिव्याप्ति नहीं होगी। *खण्डन*—यदि ऐसा निवेश करें, तो अन्योन्याश्रय अथवा चक्रक में आत्माश्रय के आभासत्व का प्रयोजक सम्बन्ध, द्वारभेद ही है, उसका

१. अवश्य-क्लृप्त वस्तु के स्वीकार से ही काम चल जाने पर अक्लृप्त वस्तु का अस्वीकार ही 'प्राग्लोप' है। एक कालमें सम्बद्ध अनेक पदार्थों के निर्वाह्य-निर्वाहकभावरूप सम्बन्ध का अनिश्चय ही यहाँ विनिगमनाविरहरूप से विवक्षित है। एक ही पदार्थ में पारस्परिक निर्वाहकता संभव होने पर अनेक पदार्थों की कल्पना का अभाव प्रमाणापगम है। यह विषय प्रत्यक्षादि-बाधोद्धार-प्रकरण में 'प्राग्लोपाविनिगम्यत्वं' इस कारिका (१९) में विशेष रूप से विवेचित है।

अन्योन्याश्रयाभासत्वप्रयोजकस्य व्यक्तिभेदस्याभावो नानवस्थायाम्, एवमात्माश्रयाभासत्वप्रयोजकस्य द्वारभेदस्याभावो नाऽऽत्माश्रयान्तरादाविति व्यक्तमव्यापकत्वापत्तेः।

अपिच—अपसिद्धान्तविरोधादिष्वपि तर्कलक्षणं गच्छत्कथङ्कारं वारणीयम्? यत्रैवं निग्रहे तर्कान्तराणामन्तर्भावः, तत्रैवानयोरपीति पृथक्निग्रहत्वानुपपत्तेः।

तर्क-विशेषलक्षण-खण्डनम्

आत्माश्रयादेश्च मूलव्याप्तौ प्रमाणोपगमश्चेत्तर्हि प्रामाणिकत्वान्न दोषत्वम्, न चेन्मूलशैथिल्यमित्युभयत पाशबन्धः कथं मोचनीयः।

अथोच्येत—यदेतदाश्रयत्वमाश्रयित्वं च तद्भेदे दृष्टं तद्यदि विवादाध्या-

अभाव नहीं है। अतः अन्योन्याश्रय आदि में अव्याप्ति हो जायगी। इसी प्रकार एक आत्माश्रय के आभासत्वप्रयोजक द्वार-भेद का अभाव अन्य आत्माश्रय में नहीं है, अतः वहाँ भी अव्याप्ति हो जायगी।

किंच—'यदि संस्कारस्थिरत्वं स्वीकृतं बौद्धेन तदा अपसिद्धान्तः स्यात्' इस अपसिद्धान्त के आपादन में तथा 'यदि अस्थिरत्वं कथयित्वा स्थिरत्वं कथ्यते बौद्धेन तदा वचनविरोधः स्यात्' इस वचन-विरोध के आपादन में अतिव्याप्ति भी हो जायगी। यदि इनको तर्क मान लें, तो आत्माश्रयादि के तुल्य इनकी भी तर्क में ही गणना होनी चाहिए, पृथक् निग्रह-स्थानों के रूप में नहीं। यदि तर्क होने पर भी इनकी निग्रहस्थान में गणना करें, तो आत्माश्रयादि तर्कों की भी निग्रह में ही गणना होनी चाहिए। यदि आत्माश्रयादि का किसी निग्रहस्थान में अन्तर्भाव हो, तो उसी निग्रहस्थान में अपसिद्धान्त आदि का भी अन्तर्भाव होना चाहिए, पृथक् गणना सर्वथा व्यर्थ है।

तर्क-विशेष-लक्षणों का खण्डन

किञ्च—आत्माश्रयादि तर्कों की मूल व्याप्ति में कोई प्रमाण है या नहीं? यदि है, तो प्रामाणिक होने से आत्माश्रय को दोष ही न कहना चाहिए। यदि व्याप्ति में कोई प्रमाण नहीं, तो मूल के शैथिल्य से वह तर्क ही नहीं है—इस प्रकार उभयतः पाशबन्ध (दोतरफा दोष) से पिण्ड कैसे छुड़ायेंगे?

समर्थन—'यदि स्वस्य स्वापेक्षित्वं स्यात्तदा आत्माश्रयः स्यात्' इस प्रकार हम यहाँ आत्माश्रय का आपादन नहीं करते, जिससे उसके प्रामाणिकत्व-अप्रामाणिकत्व के विकल्प

सिते त्वयोपेयते, तदा भेदः स्यादित्याकारेण आपादने नोक्तदोषापत्तिरिति। मैवम्; एकत्र द्वयस्यापि दृष्टत्वात्।

तदाश्रयत्वं तदाश्रितत्वं च मिथो भेदनियतमिति चेन्न। तन्मिथः-शब्दाभ्यां क्षारीकृतत्वात्।

एतदाश्रयत्वादेतदाश्रितत्वाद्वा नैकत्वं स्यादिति वचनभङ्ग्या आपाद्यमिति चेत्। मैवम्; यद्येतदेतदाश्रयादि स्यात्तदैतन्न स्यादिति ह्यापाद्यम्। न चैतद्युक्तम्, धर्म्यापाद्ययोर्व्याहतत्वात्।

की गुंजाइश हो। प्रत्युत यहाँ का आपादन-प्रकार यह है—'यह जो आश्रयत्व और आश्रयित्व है, वह भेद में देखा गया है, यदि उसे आप विवाद-विषय में भी मानें तो भेद हो जायगा।' इस प्रकार आत्माश्रय का आपादन करने पर उक्त दोष नहीं होगा। *खंडन*—एक ही घट में रूप की अपेक्षा आश्रयत्व और भूतल की अपेक्षा आश्रितत्व दोनों का समावेश होने से उक्त प्रकार से भी आपादन नहीं हो सकता।

समर्थन—'तदाश्रयत्व और तदाश्रितत्व भेद से नियत हैं, अर्थात् दोनों के अधिकरण भिन्न ही रहेंगे; अतः यदि वे विवाद-विषय में हों, तो भेद हो जायगा' इस प्रकार आपादन करने पर उक्त घटस्थल में व्यभिचार नहीं होगा। *खंडन*—यह कथन भी लक्षण में 'तत्' और 'मिथः' शब्दों का प्रवेश होने से खण्डित है। अर्थात् आत्माश्रयस्थलीय वस्तुमात्र में अनुगतरूप कोई धर्म नहीं है, जिसके कारण वस्तुमात्र को तद्शब्द से कहें। यदि कथञ्चित् कहें भी, तो उक्त घटस्थल में व्यभिचार तदवस्थ ही है। यदि तद्-शब्द को एकव्यक्तिपरक मानें, तो लक्षण का अनुगम नहीं होगा। इसी प्रकार मिथः-शब्द को यदि परस्परमात्राभिधायक मानें, तो इष्टापत्ति होगी; कारण हम घट-पटादि का परस्पर भेद मानते ही हैं। यदि विशेषाभिधायक मानें, तो अननुगम हो जायगा।

समर्थन—'यदि इसमें एतदाश्रयत्व और एतदाश्रितत्व दोनों हों, तो एकत्व न होगा' इस प्रकार आपादन करेंगे। अर्थात् 'तद्' या 'एतद्' शब्द एकव्यक्तिपरक ही हैं और लक्ष्यभेद से लक्षण का भेद इष्ट ही है। लक्षण-भेद होने पर भी लक्ष्य-ज्ञानरूप लक्षण का प्रयोजन सिद्ध हो ही जाता है। *खंडन*—इस तरह तो आपके आपादन का आकार यह हुआ—'यदि एतत् एतदाश्रय हो, तो एतत् न होगा।' किन्तु वह युक्त नहीं, कारण 'एतत् एतत् न होगा' इस कथन में धर्मी (एतत्) और आपाद्य या विधेय (एतद् न) दोनों में व्याघात हो जायगा।

न च वाच्यमापाद्यस्य प्रमाणबाध्यताऽनुकूलैवेति व्याघातादपि सा सम्भवन्ती न दोषमावहतीति ; यत आपाद्यापादकयोः सामानाधिकरण्यानादरेऽतिप्रसङ्गः स्यादतो विपर्ययापर्यवसायित्वमेवं स्यात् । एवं हि विपर्ययो वक्तव्यो यन्नाम ? भवति चैतदेतत्, तस्मान्नैतदाश्रय इति । न चैतदेतद् भवितुं शक्नोति, एतदित्युद्दिष्टे धर्मिण्येतत्त्वविधानासम्भवात्, उद्देश्यविधेययोः प्रकारभेदस्याभावात् ।

न च प्रसङ्गमात्रमेतद्बाधायैवास्तु, कृतमस्य विपर्ययपर्यवसानेनेति युक्तम् ।

समर्थन—आत्माश्रय आदि तर्क परपक्ष-दूषण के लिए ही हैं, उनमें आपाद्य के व्याघात आदि से जायमान प्रमाणबाध्यता आदि दोष नहीं, गुण ही हैं। *खण्डन*—एतदाश्रयत्व और एतदाश्रितत्व तो आपादक हैं और अनेकत्व आपाद्य। इन दोनों के सामानाधिकरण्य का यदि अनादर करें, तो एकत्व से अभिमत वस्तुमात्र में एकत्व का भङ्ग हो जायगा। कारण अन्यत्र स्थित उक्त आपादक से सर्वत्र भेद का आपादन हो सकेगा। इसके लिए यदि सामानाधिकरण्य का आदर करें, तो विपर्यय में पर्यवसान नहीं होगा, जिससे वह तर्काभास हो जायगा। कारण विपर्यय में पर्यवसान इसी प्रकार करेंगे कि 'एतद्घटः एतद्घटो भवति, तस्मान्न एतद्घटाश्रयः।' किन्तु यह संभव नहीं। कारण एतद्-धर्मी में एतत्त्व का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वत्र उद्देश्य-विधेय के सामानाधिकरण्य के लिए उनमें प्रकारभेद का नियम है और यहाँ प्रकारभेद है नहीं।

समर्थन—आत्माश्रय आदि केवल परपक्ष के बाधन के लिए ही हैं। अतः इनमें विपर्यय-पर्यवसान व्यर्थ है। स्वपक्षसाधनार्थ प्रयुक्त प्रसंग में ही विपर्यय-पर्यवसायित्व अपेक्षित हुआ करता है।[1] *खण्डन*—आत्माश्रयादि प्रसङ्गों के मूल में आपको भी व्याप्ति माननी ही होगी। अन्यथा मूलशैथिल्य होने से वह तर्काभास हो जायगा। एवञ्च आपादित (प्रसंजित) अनेकत्व के निषेध (एकत्व) में तद्व्यतिरेक (व्यतिरेकव्याप्ति) को प्रामाणिक अवश्य मानना चाहिए। कारण अन्वय-व्याप्ति

१. यदि कहें कि 'पर-पक्षबाधनस्थल में पर द्वारा स्वीकृत ही व्याप्ति को लेकर काम चला लेंगे; तो मूलशैथिल्य कहाँ होगा ?' तो वह भी ठीक नहीं। उसका (प्रसंग का) कभी स्वपक्षसाधनत्वेन भी उपयोग किया ही जाता है। उस समय उसमें व्याप्ति न मानें, तो मूलशैथिल्य स्पष्ट ही है। किञ्च—स्वयं व्याप्ति न मानें, तो अन्यतर द्वारा असिद्ध आपादक भी आभास का ही प्रयोजक हो जायगा।

स्वयमपि प्रसङ्गमूलस्य व्याप्तेरिष्टतया प्रसञ्जितनिषेधे तद्व्यतिरेकप्रामाणिकत्वस्य अवश्यमन्तव्यत्वापत्तेः ।

अत एव 'एतदन्यत्स्यादि'त्यपि न शक्यप्रसञ्जनम् , एतदन्यत्वस्य एतत्स्वरूप-भेदमादायैव प्रतीतिपर्यवसायितया प्रसङ्गे व्याघातादेव । विपर्ययोऽप्येतद्विशेषिता-न्यविशेषितान्यत्वविधायिनो विशेषणविशेषणताप्रविष्टमात्मानमात्मनि विधीयमानं न क्षमते ; एतदनन्यत्वस्यैतदन्यान्यत्वस्यैतत्त्वादेव अन्यत्वावधेरात्मन उपलक्षणत्वे चान्यत्वमात्रमुपलक्ष्यमाणमन्यस्मादपि अन्यत्वमादाय पर्यवस्येत् ।

स्वरूपत एव विलक्षणमन्यत्वविशेषमवधिरात्मोपलक्षयतीति च न घटते ; यतोऽन्यत्वमात्रमेवावधिविशेषैरुपधीयमानं तदन्यत्वप्रत्ययव्यवहारोपपादकं

व्यतिरेक-व्याप्ति की व्यापिका होती है और विपर्यय-पर्यवसान के बिना व्यतिरेक-व्याप्ति का ग्रह नहीं होगा ।

समर्थन—'यदि आश्रयत्व और आश्रितत्व दोनों इसमें हों, तो यह इससे अन्य हो जायगा' इस प्रकार आत्माश्रय का आपादन करें, तो कोई हानि नहीं है । *खंडन*—आपादन का यह प्रकार भी युक्त नहीं; कारण 'एतदन्यत्व' का भी एतत्-स्वरूप के भेद में ही पर्यवसान होने से 'एतत् एतदन्यत् स्यात्' इस प्रकार के प्रसङ्ग में भी धर्मी और आपाद्य में व्याघात पूर्ववत् ही है । इसी तरह इस प्रसंग का विपर्यय में पर्यवसान भी नहीं बन सकता; कारण 'एतत् एतदन्यत् न' इत्याकारक प्रसंग का एतत् में एतदन्यान्यत्व का विधान करनेवाला विपर्यय विशेषण (एतद्विशेषितान्यत्व) के विशेषणरूप से प्रविष्ट स्वात्मा (एतत्त्व) के भी विधीयमानत्व को सह नहीं सकता । कारण एतदनन्यत्व और एतदन्यान्यत्व दोनों (उद्देश्य-विधेय) एतत्त्वरूप ही हैं ।

समर्थन—'एतत् एतदन्यत् न भवति' इस विपर्यय में अन्यत्व में एतत्त्व यदि विशेषण होता, तब तो उक्त कथन युक्त न होता । किन्तु एतत्त्व उपलक्षण है, अतः उक्त कथन युक्त ही है । *खण्डन*—यदि एतद् के अर्थ घट को अन्यत्व में उपलक्षण मानें, तो उद्देश्य घट में पट से अन्यत्व होने से फिर भी 'एतत अन्यत् न' इस प्रकार विपर्यय में पर्यवसान न होगा ।

समर्थन—एतत् अन्यत्वमात्र का उपलक्षण नहीं, किन्तु अन्यत्व-विशेष अर्थात् स्वप्रतियोगिक भेद का उपलक्षण है । एवञ्च स्वप्रतियोगिक अन्यत्व का अन्यत्व एतत्-पदवाच्य उद्देश्य में होने से विपर्यय में पर्यवसान हो ही जायगा । *खण्डन*—

भवदन्यत्वव्यक्तिभेदपर्यन्तगमनं प्रमाणस्य न सहते। यदि चान्यत्वव्यक्ति-भेदोऽपि स्यात्तथापि प्रसङ्गमूलभूता व्याप्तिः सामान्याकारपुरस्कारित्वात् एतेनैवो-पधीयमानानामन्यत्वव्यक्तीनामैक्यमादाय प्रवृत्ता तथैव प्रसङ्गे विपर्यये चोपनयन्ती स्यादेवोक्तदोषालङ्घनायेति।

एवंप्रकारता चाऽऽश्रयाश्रयिभाववत् प्रकारान्तराश्रयेष्वपि आत्माश्रयोदाहरणे-ष्वतिदिश्यते।

अन्योन्याश्रयो यथा—भेदेनावगताद्भेदज्ञानोपगमे, सोऽपि त्वया कथङ्कार-

ऐसा कहा जा सकता, यदि प्रतियोगी भेद से अन्यत्व का भेद होता। किन्तु अन्यत्व का भेद है नहीं, कारण आकाश की तरह अन्यत्व एक होने पर भी घट-पटप्रति-योगिरूप उपाधियों के भिन्न होने से घटाकाश, मठाकाश की तरह 'घटो न, मठो न' इत्यादि प्रतीतियों के भेदों की उपपत्ति हो सकती है। फिर प्रतियोगी भेद से अन्यत्व का भेद क्यों माना जाय ? यदि किसी प्रकार अन्यत्वव्यक्ति का भेद मान भी लें, तब भी उपलक्षण-कल्प में निर्वाह नहीं हो सकता। कारण उक्त प्रसङ्ग का मूल (कारण) व्याप्ति सामान्यरूप से प्रवृत्त होती है। एवञ्च वह एतत्त्व से उपलक्षित अनन्त अन्यत्व-व्यक्तियों के ऐक्य का ग्रहण करके ही होगी। अतः वह एतत्त्व से उपलक्षित अन्यत्वरूप से प्रसङ्ग तथा विपर्यय में प्राप्त होगी। तथाच उक्त दोष का लंघन (निवारण) नहीं हो सकता। अर्थात् पट का अन्यत्व घट में रहने से उक्त प्रसङ्ग हो ही नहीं सकता।

इसी प्रकार 'स्वस्मात् स्वं जायते' इत्यादि आत्माश्रय-प्रकारों में भी दोष जानने चाहिए। कारण वहां भी 'स्व यदि स्व से उत्पन्न हो, तो स्व से अन्य हो जायगा' ऐसा ही आपादन-आकार होने से व्याघात और विपर्यय में अपर्यवसान स्पष्ट है।

आत्माश्रय की तरह अन्योन्याश्रय भी तात्त्विक नहीं। कारण तार्किक अन्योन्याभाव वहीं मानते हैं, जहां [अभाव भाव का प्रतियोगी रूप होने तथा प्रतियोगी से अनालिङ्गित अभाव की प्रतीति न होने से] भेदज्ञानजन्य प्रतियोगिज्ञान से भेद का ज्ञान और प्रतियोगिज्ञानजन्य भेदज्ञान से प्रतियोगी का ज्ञान माना जाता है। किन्तु आप उसका उपन्यास कैसे करेंगे ? 'यदि भेद, भेदज्ञान के अधीन जो प्रतियोगिज्ञान, उसके अधीन ज्ञान का विषय होता, तो ज्ञान का विषय न होता' इस प्रकार आपादन तो हो नहीं सकता। कारण प्रतियोगिज्ञानाधीन ज्ञान का विषय भेद अन्यत्र

मुपन्यसनीयः ? न तावत् 'यद्येतत् एतद्बोधाधीनबोधं स्यात्तदा न बुद्ध्येते'ति। तथा सति व्याप्त्यसिद्धेः, एतद्बोधाधीनबोधं यत्तद्बोधाधीनबोधस्य तस्यैवा-दृष्टचरत्वात्।

कयाचन व्याप्यव्यापकभेदकल्पनया व्यभिचाराप्रतीतचरत्वयोर्वारणेऽपि अतथाभावशङ्काखण्डकदण्डदुर्लभत्वात्।

एवमन्योन्याश्रयान्तरेऽपि।

चक्रकं च मध्ये परमन्तर्भाव्य आत्माश्रयान्योन्याश्रयावेव विपरिणमत इति तद्दोषं नातिक्रामति।

व्याघातस्तु यथा—सन्नास्तीत्यत्र। तमपि कथं प्रयोक्ष्यसे ? यदि 'यद्ययं सन् स्यात्तदानीमसन्न स्यादि'ति; तर्हि 'असन्न स्यादि'त्यस्यापि 'सन् स्यादित्य'-स्मिन्नेवार्थे पर्यवसानादभेदेन व्याप्यव्यापकभावस्यैवासिद्ध्यापत्तिः।

दृष्ट है या नहीं ? यदि दृष्ट है तो 'न बुद्ध्यते' इस आपाद्य (व्यापक) के वहाँ न होने से व्यभिचार है। यदि दृष्ट नहीं है, तो धर्मी के अज्ञान से आपाद्य (ज्ञानावि-षयत्व) तथा आपादक (भेदज्ञानाधीन जो प्रतियोगिज्ञान, तदधीन ज्ञानविषयत्व) दोनों का सामानाधिकरण्य न होने से व्याप्ति का ग्रहण (ज्ञान) ही नहीं होगा। एवञ्च शिथिल-मूल होने से वह तर्क नहीं, तर्काभास हो जायगा।

समर्थन—'जो वस्तु होती है, वह परस्पराधीनसिद्धिक नहीं होती; जैसे—घट-द्वय' इस प्रकार हम सामान्यमुखी व्याप्ति मानते ही हैं। एवञ्च विशेषरूप से भेद की अज्ञानदशा में भी व्याप्ति का ग्रह हो ही जायगा और व्यभिचार भी नहीं होगा। **खंडन**—आपादन का यह प्रकार भी युक्त नहीं। कारण 'वस्तुत्व रहे और परस्पराधीनबोधत्व का अभाव न रहे, तो क्या हानि है' इस प्रकार व्यभिचार-शङ्का होने पर उसका निवर्तक अनुकूलतर्क नहीं है।

इसी प्रकार अन्यान्य अन्योन्याश्रयों में भी दोष जानने चाहिए।

मध्य में अन्य को देकर आत्माश्रय तथा अन्योन्याश्रय ही चक्रकरूप में परिणत होता है। अतः चक्रक भी उन दोनों के दोषों का उल्लंघन नहीं कर सकता। तथाच वह भी तर्क नहीं, तर्काभास ही है।

व्याघात भी 'सन् नास्ति' इस स्थल में तार्किक बतलाते हैं। किन्तु उसका भी आपादन कैसे होगा ? 'यदि यह सत् है तो असत् नहीं है' इस प्रकार आपादन तो हो नहीं सकता। कारण 'असत् न' इसका भी फलितार्थ 'सत्' ही है और अभेद

स्वभावविरुद्धोपजीविनी च विरुद्धान्तरे तद्व्याघातनिरासादेव निरस्तप्राये। 'गौर्महिषः ततो न भवति, अगवात्मतानियता यतो महिषात्मता'इति, एष हि तयोर्विरोधः ।

अनवस्था तु यथा—सत्तायामपि सत्तान्तरमित्यनवधौ सत्ताप्रवाहे इष्यमाणे। तत्र कथं प्रत्यवस्थेयम् ? न तावत् 'यदि सत्तायां सत्ता स्यात्तदा न विश्रान्तिः स्यादि'ति ; सत्तायां सत्ताभ्युपगमस्य विश्रान्त्यभावेन सह व्याप्तिसिद्ध्यसिद्ध्योर्दोषग्रस्तत्वात्

प्रतिबन्दी च खण्डितैव ।

किञ्च—प्रमेयत्वाभिधेयत्वव्यवहार्यत्वसन्निकर्षवत्त्वाभावप्रतियोगित्वादिनामात्माश्रितत्वदर्शनात् कथमात्माश्रयताखण्डिका व्याप्तिः सव्यभिचारा न स्यात्।

में व्याप्य-व्यापकभाव या उद्देश्य-विधेयभाव नहीं होता। एवञ्च शिथिल-मूल होने से व्याघात भी तर्क नहीं, तर्काभास है ।

स्वभाव से ही विरुद्ध सत् और असत् का उपजीवन करनेवाले अन्य विरुद्ध तो सत्-असत् के व्याघात के खण्डन से ही खण्डितप्राय हैं। जैसे—'गौर्महिषः' यह व्याघात भी इसी रीति से प्रवृत्त होता है कि 'यतः अगवात्मता से नियत महिषात्मता है. अतः गौ महिष नहीं है।' एवञ्च—'गौर्महिषः' इस व्याघात का भी 'अमहिषः महिषः' इस सत्-असत् के व्याघात में ही पर्यवसान जानना चाहिए।

सत्ता में सत्ता का निरवधि प्रवाह माना जाय, तो अनवस्था हो जाती है। किन्तु उसमें भी अनिष्ट का आपादन कैसे होगा ? 'यदि सत्ता में सत्ता हो, तो कहीं विश्रान्ति नहीं होगी' इस प्रकार आपादन तो हो नहीं सकता। कारण यदि सत्ता में सत्ता के अभ्युपगमरूप आपादक और विश्रान्तिरूप आपाद्य की व्याप्ति को प्रमित मानें, तो प्रमित होने से ही वह अनवस्था दोष नहीं है। यदि वह अप्रमित है, तो प्रमाण न होने से उसका आपादन ही नहीं होगा।

प्रतिबन्दी का खण्डन द्वितीय परिच्छेद में निग्रहस्थान-खण्डन के प्रसंग में ही हो चुका है।

किञ्च—प्रमेयत्व अभिधेयत्व (वाच्यत्व), व्यवहार्यत्व, सन्निकर्षवत्त्व, भेदप्रतियोगित्व आदि धर्म आत्माश्रित देखे जाते हैं। फिर आत्माश्रय का खण्डन करनेवाली व्याप्ति में व्यभिचार क्यों न हो ?

द्वारव्यक्तिभेदस्यापि व्यभिचारिव्यतिरेकत्वात्। स्वप्रकाशवादिना स्वयमेव स्वज्ञानत्वस्य, एवमभावेऽप्यन्यमभावमस्वीकुर्वता स्वयमेव स्वाभावत्वस्य, एवं तदेव ग्राह्यं ग्राहकं चाऽऽत्मप्रतीतौ, एवं तदेव ज्ञाप्यं ज्ञप्तिकारणं च शब्दो वाचक इत्यत्र, एवं तदेव नाश्यं नाशकं च प्रध्वंसिनि, एवं तदेव सम्बन्धि सम्बन्धश्च स्वभावसम्बन्धोपगमे, इत्यादि बहुलमुपगमात् आत्माश्रयतदाभासविवेकाय किं नियामकमुपेयम्?

अन्योन्याश्रये चान्त्योपान्त्यशब्दयोरन्योन्यनाशकतायाम्, समव्याप्तिकयोश्चान्योन्यव्याप्यव्यापकतायाम्, एककार्यकारिणां चान्योन्यसहकारितायाम्, एव-

समर्थन—प्रमेयत्व आदि स्थलों में द्वार-भेद है। अर्थात् घट में घटप्रमाविषयत्व-रूप प्रमेयत्व है, अतः आत्माश्रय-खण्डक व्याप्ति में व्यभिचार नहीं है। *खण्डन*—वक्ष्यमाण (स्वप्रकाश-ज्ञानादि) स्थलों में व्यक्ति-भेद का अभाव व्यभिचरित होने और आत्माश्रय होने से व्यक्ति के ऐक्य में भी आत्माश्रय की अदोषता देखी जाती है। अतः व्यक्ति-भेद भी आत्माश्रय की आभासता का प्रयोजक नहीं है। देखिये—स्वप्रकाशवादी के मत में स्वज्ञान में ही स्वविषयकज्ञानत्व माना जाता है; इसी प्रकार अभाव में अभावान्तर न माननेवालों के मत में अभाव में स्वनिष्ठाभावत्व माना जाता है; आत्मविषयक-प्रतीतिस्थल में आत्मा में ही ज्ञाप्यत्व और ज्ञापकत्व दोनों मानते हैं; 'शब्दो वाचकः' इस वाक्य से जन्य बोधस्थल में शब्द में ही ज्ञानविषयत्व तथा ज्ञानकरणत्व माना जाता है; क्षणिकवादी के मत में एक ही पदार्थ में नाश्यत्व और नाशकत्व दोनों माने जाते हैं तथा स्वरूप को सम्बन्ध माननेवालों के यहाँ उसी स्वरूप को सम्बन्धी और सम्बन्ध दोनों स्वरूप मानते हैं। इस तरह बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अतः 'यहाँ आत्माश्रय अनाभास है और यहाँ आभास है' इस विवेक का नियामक क्या माना जायगा?

इसी प्रकार अन्त्य शब्द का नाशक उपान्त्य शब्द होता है और उपान्त्य शब्द का नाशक अन्त्य शब्द, अतः इनकी परस्पर नाशकता में; गन्ध और पृथिवीत्व आदि समव्याप्त साध्य-हेतुकस्थलों में तथा घटादि एक कार्य के कारण दण्ड, चक्र आदि के परस्पर सहकारित्व में एवं अन्यत्र भी अन्योन्याश्रय दोष में व्यभिचार देखने से अन्योन्याश्रय का खण्डन करनेवाली व्याप्ति का भङ्ग क्यों न माना जाय? ज्ञान, संस्कार आदि स्थलों में व्यक्ति-भेद विशेष

मन्यस्मिन्नपि तत्र तत्र दर्शनात्कथं न व्याप्तिभङ्गः। कश्च विशेषो यद्व्यतिरेको विशेषणमुपादीयेत।

तत्र तत्राविरोधान्नैवमिति चेत्। न ; अन्यत्र तथाभावादर्शनस्य विरोधाभ्युपगम-मूलस्याविशेषात्। तत्र तत्र तथात्वे प्रमाणसद्भाव एव विशेष इति चेत् ; तर्हि सर्वत्रानभ्युपगममूलं तथात्वे प्रमाणाभाव एवोपजीव्यो दूषणमिष्यताम्, कृतमन्योन्याश्रयेण व्यभिचरितदोषत्वेनेति।

चक्रकेऽपि 'दुःखजन्मादि'सूत्रोक्तादिषु व्यभिचारदर्शनादव्याप्तिः, विशेषव्यति-

है, अतः वहाँ अन्योन्याश्रय को आभास मानते हैं। किन्तु उक्त शब्दादि-स्थलोंमें व्यक्ति-भेदरूप विशेष भी नहीं है। फिर क्या विशेष है, जिसके होने से अन्योन्या-श्रय का आभासत्व तथा उस विशेष का अभाव लक्षण-घटक करके अन्योन्याश्रय के अनाभासत्व की व्यवस्था हो ?

समर्थन—अन्त्य-उपान्त्य शब्द-स्थल में परस्पराश्रयत्व में विरोध नहीं है और प्रतियोगी तथा भेदस्थल में परस्पराश्रयत्व में विरोध है। अतः अन्योन्याश्रय में विरोध तथा अविरोध ही विशेष है। *खण्डन*—विरोध के स्वीकार (विरोध की अदोषता) का मूल विरोध का अदर्शन है। प्रतियोगी और भेदस्थल में भी उसमें कोई विशेष नहीं है। अर्थात् अन्त्य-उपान्त्य शब्दस्थल में (परस्पराश्रित प्रतीति होने से) परस्पराश्रय में विरोध का दर्शन नहीं होता। एवञ्च वहाँ भी विरोध की अदोषता माननी चाहिए।

समर्थन—अन्त्य-उपान्त्य शब्दादि-स्थल में अन्योन्याश्रय को अनाभास मानने में प्रमाण का सद्भाव ही विशेष है। *खण्डन*—तब तो सर्वत्र अन्योन्याश्रय को दोष मानने का कारण प्रमाण का अभाव ही हुआ। अतः उपजीव्य होने से प्रमाणाभाव को ही दोष मानिये; जिसमें दोषत्व व्यभिचरित है, ऐसे अन्योन्याश्रय को दोष मानना व्यर्थ है।

चक्रक का भी 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इस न्यायसूत्रोक्त दुःखादि में व्यवधानेन परस्पर जन्यजनकभाव होने से व्यभिचार है, अतः लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। यदि कहें कि 'अन्य जन्मव्यक्ति अन्य दुःखव्यक्ति की जनिका है। इसी तरह व्यवधान से वह अन्य दुःखव्यक्ति से जन्य है, अतः व्यक्तिभेद चक्रक के आभासत्व का तथा उसका अभाव चक्रक के

रेकदर्शनदुःशक्यत्वं च । कार्यकारणभावस्य तज्जातीयतया नियतत्वेन व्यक्तिभेदस्य चक्रकानन्तर्भूतत्वात् ।

व्याघातेऽप्येकस्यैव जनकत्वाजनकत्वे तथा । न च कालभेदादिर्विशेषः; घटतत्प्रध्वंसादौ कालभेदेऽपि तादात्म्यव्याघातोपगमादेव ।

सत्प्रतिपक्षजात्योश्च को विशेषो व्याघाते येन पूर्वत्र बाध्यबाधकयोर्द्वयो-रप्याभासत्वम्, उत्तरत्र तु उत्तरस्य परं तथोपेयत इति गुरवः ।

यद्यपि प्रतिपक्षहेतुः साध्यान्तरसाधक इत्यस्ति तस्य जात्युत्तरवैधर्म्यम्,

अनाभासत्व का प्रयोजक है', तो यह कथन भी, चक्रक में व्यक्ति-भेद का अभाव-ज्ञान असंभव होने से, असङ्गत है। कारण कार्यकारणभाव दुःखादि जातीय में नियत है। अतः व्यवधान से परस्पर कार्यकारणभावरूप चक्रक के लक्षण में व्यक्ति-विषय का प्रवेश नहीं है।

एक ही बीज में अङ्कुर की जनकता और अजनकता प्रामाणिक होने से व्याघात भी आभास है।

समर्थन—जिस काल में जनकत्व हो, उसी काल में अजनकत्व का होना व्याघात है। बीज और अंकुर में काल-भेद होने से व्याघात नहीं है। *खण्डन*—जो आचार्य प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव को प्रतियोगीरूप मानते हैं, उनके प्रति काल-भेद होने पर भी आप तो 'यदि घटः प्रागभावात्मकः प्रध्वंसाभावात्मको वा स्यात् व्याघातः स्यात्' इस प्रकार व्याघात का प्रसञ्जन करते हैं। अतः लक्षण में काल के अभेद का निवेश नहीं हो सकता।

'सत्प्रतिपक्ष तथा जाति दोनों में एक-सा व्याघात होने पर भी क्या विशेष है, जिससे सत्प्रतिपक्ष में बाध्य और बाधक दोनों आभास होते हैं और जाति में केवल उत्तर ही आभास होता है'—ऐसा गुरु (प्रभाकर) ने कहा है।

समर्थन—सत्प्रतिपक्षस्थल में व्याप्ति होने से हेतु साध्य का साधक होता है और जातिस्थल में हेतु में साध्य की व्याप्ति न होने से वह साध्य का साधक नहीं होता, यही दोनों में भेद (विशेष) है। *खण्डन*—यह भेद अकिञ्चित्कर है, कारण

१. व्याघात में कोई विशेष न होने पर भी श्रीउदयनाचार्य सत्प्रतिपक्ष से जात्युत्तर को विलक्षण मानते हैं। यहाँ प्रसंगतः उनके इस मत का भी प्राभाकर (गुरु) के शब्दों से ही खण्डन करते हैं—'सत्प्रतिपक्षजात्योश्च' इत्यादि से।

तथापि 'त्वद्धेतुरसाधकः समबलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादि'त्यस्य दूषणत्वार्थमवश्यापेक्षस्य द्वाराऽऽत्मव्याघातकत्वात् साक्षाद्वा अवश्योपस्थाप्यद्वारेण वा स्वव्याघातकतायामुपयुक्तविशेषाभावः ।

न च तत्राऽऽस्तामेव व्याघातः, सत्प्रतिपक्षता तु निरवद्यैवेति शक्यं वक्तुम् । यतः शब्दादेर्नित्यत्वमेकस्मादनित्यत्वं चापरस्मादनुमानात्तथा सति किं न स्यात् । तयोर्विरोधग्राहिणः प्रमाणस्य बलादिति चेन्न । यथा नित्यत्वमनित्यत्वमित्युभयमास्तामित्याचक्ष्महे तथा 'विरुद्धमविरुद्धं चाऽऽस्तामि'त्यपि ब्रुवतोऽस्मान् कथं निवारयिष्यसि ?

दोष देने के लिए अवश्य अपेक्षणीय 'तुम्हारा हेतु, सम-बल प्रतिपक्ष से पराहत होने से असाधक है' इत्याकारक अनुमितिरूप द्वार से आत्मव्याघात दोनों स्थलों में तुल्य ही है । भेद यही है कि नैयायिक के यह कहने पर कि 'सब सत् है, अर्थक्रियाकारी होने से', बौद्ध के 'सर्व असत् है, ज्ञेय होने से' इस जातिरूप उत्तर में ज्ञेयत्व हेतु [स्व के भी ज्ञेय होने से स्व के स्वरूप रूप जो प्रतिपक्ष, उससे] साक्षात् ही व्याहत है । किन्तु 'शब्द अनित्य है, कृतक होने से' इस नैयायिक के अनुमान में 'शब्द नित्य है, केवल आकाश-गुण होने से' इस सत्प्रतिपक्ष स्थल में प्रथम हेतु समबल प्रतिपक्ष आकाशैकगुणत्व से पराहत होने के कारण उसकी असाधकता के साधन द्वारा आकाशैकगुणत्वरूप हेतु अपना भी व्याघातक है । अर्थात् जैसे दूसरे के नाश के लिए स्वयं उसकाया हुआ भूत दूसरे का नाशकर अपने नाश का भी कारण होता है, वैसे ही स्थापना-हेतु के बाधनार्थ आकाशैकगुणत्व हेतु से उत्थापित समबलप्रतिपक्ष-पराहतत्वरूप हेतु अपने नाश का भी कारण हो जाता है ।

समर्थन—व्याघात तुल्य होने पर भी व्याप्ति होने से सत्प्रतिपक्ष सत् उत्तर है तथा व्याप्ति न होने से जाति असत् उत्तर । *खण्डन*—यदि सत्प्रतिपक्ष स्थल में दोनों हेतुओं में व्याप्ति मानें, तो दोनों हेतुओं के बल पर नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों विरुद्ध धर्मों का एकत्र ज्ञान होना चाहिए ।

समर्थन—नित्यत्व, अनित्यत्व दोनों धर्मों के विरोध को विषय करनेवाले प्रमाण के बल पर दोनों का एकत्र ज्ञान नहीं होगा । *खण्डन*—जैसे दोनों हेतुओं में व्याप्ति के बल पर हम एकत्र नित्यत्व का आपादन करते हैं, वैसे ही यदि उक्त व्याप्ति के बल पर 'नित्यत्व, अनित्यत्व कहीं विरुद्ध तो कहीं अविरुद्ध हैं' ऐसा आपादन करें, तो कौन हमें रोकेगा ?

स्यादप्येवं यदि सत्प्रतिपक्षत्वमेव तत्र दोषो न स्यादिति चेत्; तर्हि मन्तव्यं प्रथमस्य हेतोः समानबलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादसाधकत्वमित्युक्तमावर्तते।

अनवस्थायां च यस्यां यस्यां सत्तायामपरापरसत्ता यायात्, तस्यास्तस्याः प्रमाणेन सिद्धौ नानवस्था दोषः स्यात्, असिद्धौ चाऽऽश्रयासिद्धविषयमापादनमिति। यदिच आत्माश्रयादिषु सर्वत्र विशेषोऽयमभिधीयते प्रमाणसिद्धत्वात्तत्र तथोपेयत इति; तर्ह्यापादनस्थाने तथाभ्युपगमाय प्रमाणं नास्तीत्युक्तं भवति। तथाच तत्र प्रमाणप्रश्नस्यावसरो न प्रसङ्गस्येति।

अप्रसङ्गात्मक-तर्कनिरूपणम्

अपरेऽपि विषयभेदात्तर्कभेदा आत्माश्रयादिवत् मन्तुमुचिताः। तद्यथा—अविनिगमः, उत्सर्गः, कल्पनागौरवलाघवे च, अनौचित्यं चेति।

विकल्पेन अन्वयावगमयोग्येऽनेकस्मिन्नभ्युपगते तदेकदेशान्वयनियम-

समर्थन—सत्प्रतिपक्षरूप दोष न होने पर व्याप्ति के बल पर साध्य की सिद्धि होती है। यहाँ तो सत्प्रतिपक्ष दोष है, अतः नित्यत्व और अनित्यत्वरूप विरुद्ध धर्मों का एकत्र अध्यास नहीं होता। *खण्डन*—तब यह मानना चाहिए कि प्रथम हेतु समानबल-प्रतिपक्ष-पराहत होने से असाधक है। यदि ऐसा मान लें, तो उक्त वेताल-न्याय से वही स्वव्याघातक भी होने से जाति से सत्प्रतिपक्ष में कुछ विशेष ही नहीं रह जायगा।

किञ्च—अनवस्था-स्थल में जिस-जिस सत्ता में अपर-अपर सत्ता का आपादन करते हैं, उस-उस सत्ता में यदि प्रमाण है, तो प्रामाणिक होने से अनवस्था दोष नहीं है। यदि प्रमाण नहीं, तो आश्रय की असिद्धि होने से अनवस्था का आपादन हो ही नहीं सकता। यदिच आत्माश्रयादि सभी स्थलों में यह विशेष कहा जाय कि 'अमुक स्थल में प्रमाणसिद्ध होने से आत्माश्रयादि दोष नहीं हैं,' तो इसका अर्थ यही होता है कि आपादन के स्थान में अमुक आत्माश्रय आदि मानने में प्रमाण नहीं है। एवञ्च प्रमाण-प्रश्न का यह स्थल है, प्रसङ्ग का नहीं।

अप्रसंगात्मक तर्क का निरूपण

विषय-भेद से आत्माश्रयादि की तरह अविनिगम, उत्सर्ग, कल्पना-गौरव, कल्पना-लाघव और अनौचित्य ये भी अन्य पांच तर्क मानने योग्य हैं।

विकल्प से अन्वययोग्य अनेक के प्रसक्त होने पर उनमें से एक के अन्वय का

निर्धारणाशक्यत्वमविनिगमः, सत्प्रतिपक्षहेत्वोरिव निर्धारयितुमशक्यान्वययोः परस्परप्रतिक्षेप एव पर्यवसानात् ।

नन्वन्यतरमादायापि प्रकृतस्योपपत्तिसम्भवेन अविनिगमस्य दोषत्वमेवानुपपन्नम् । केवलं पुंसस्तत्र यदि संशयः स्यात्स च किं न स्यादिति चेन्न। भावानवबोधात् । प्रमाणासम्भवेन क्वचिदपि विशेषः कथमभ्युपगन्तुं शक्यो यमादाय वस्तुगत्याऽप्येकस्यान्वयः स्यात् ।

नन्वेवं प्रमाणाभाव एव दोषः स्यान्न अविनिगम इति चेन्न । तस्य अविनिगमोन्नेयत्वेन अविनिगमस्यैव प्रथमोत्पन्नस्योपन्यासौचित्यात् ।

जो नियम है, उसके निर्धारण की अशक्यता अविनिगम है । जैसे—भूतत्व और मूर्तत्व दोनों में जातित्व के अन्वय की योग्यता है और दोनों को जाति मानने में साङ्कर्य दोष होगा, अतः एक को ही जाति मानना चाहिए। यहाँ अनुगत-प्रतीतिरूप जातित्वसाधक प्रमाण दोनों स्थलों में तुल्य होने से यह विकल्प होता है कि भूतत्व जाति है या मूर्तत्व ? दोनों के बीच एक में भी जातित्व का अन्वय अशक्य नहीं है, यही अविनिगम है । यहाँ सत्प्रतिपक्षि-हेतु की तरह एक के जातित्व की ग्राहक सामग्री, इतर के जातित्व की प्रतिबन्धिका हो जाती है ।

समर्थन—एक भूतत्व को जाति मान लेने पर सङ्कर-दोष का परिहार हो जाता है, अतः अविनिगम दोष ही नहीं है । अविनिगम-स्थल में पुरुष को केवल सन्देह होता है, उसकी भी निवृत्ति हो सकती है । *खण्डन*—आपने मेरे भाव को नहीं जाना । भूतत्व और मूर्तत्व दोनों के मध्य एक में कोई विशेष (जातित्वसाधक अतिशय) मानने में प्रमाण ही नहीं है । फिर किसके बल पर एक में जातित्व का अन्वय करेंगे । अर्थात् अनुगत-प्रतीतिरूप प्रमाण दोनों में तुल्य है और इससे अतिरिक्त अन्य विशेष होने में कोई प्रमाण नहीं है ।

समर्थन—यदि ऐसा है, तो 'प्रमाणाभाव' को ही दोष मानिये, 'अविनिगम' को दोष मानना व्यर्थ है । *खंडन*—प्रमाणरूप विशेष अतीन्द्रिय होने से वह अविनिगम से अनुमेय ही है । अतः प्रथम उपस्थित होने से अविनिगम ही दोष है, प्रमाणाभाव नहीं ।

१. 'प्रकृतोद्देश्यविधेयान्यतरान्वयितया तुल्यवत्त्वानेकप्रसक्तौ तावदन्वयितया तदेकदेशनिर्धारणासम्भवत्वम्' यह अविनिगम का लक्षण है ।

नन्वेवमनुमाने व्यक्त्यविनिगमो दोषः स्यादिति चेन्न। तत्रानेकव्यक्तीनामभ्युपगमसिद्ध्यभावात् सामान्योपसंहारस्यैकामेव व्यक्तिमाक्षेप्तुं सामर्थ्यात्, अविनिगमस्य चानेकाभ्युपगमे सत्युपस्थानादिति।

बाहुल्यादृष्टमपेक्ष्य बाहुल्यदृष्टतयाऽदुर्बलस्योपगमार्हता उत्सर्गः। तद्यथा—स्वस्थस्य जाग्रतो ज्ञानं प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्धारकप्रमाणानुपनिपाताविशेषेऽपि विना बाधमप्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तं प्रति स्यात्, न तु प्रामाण्यम्, यं तर्कमेतमालम्ब्याऽऽहुः—

'तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥'—इति।

द्रष्टव्योदाहरणं चैतदीश्वराभिसन्धौ वेदप्रामाण्ये तथा, यथा न सौगतोऽपि विप्रतिपत्तुमर्हति।

समर्थन—यदि अविनिगम को दोष मानें, तो धूम से पर्वत में तार्ण (तृणजन्य), पार्ण (पर्णजन्य) या काष्ठज वह्नि के बीच एक का भी अन्वय अशक्य होने से सर्वत्र अनुमिति-स्थल में अविनिगम रहेगा। एवञ्च अनुमितिमात्र का उच्छेद हो जायगा। *खण्डन*—अनुमिति-स्थल में अनेक व्यक्तियों की प्रसक्ति ही नहीं होती। कारण वह्नित्वरूप सामान्यधर्मावच्छिन्न व्याप्तिग्रह की एक व्यक्ति के आक्षेप में ही सामर्थ्य है और अविनिगम तो अनेक व्यक्तियों के प्रसक्त होने पर ही होता है।

लोक में अप्रसिद्ध की अपेक्षा अतिप्रसिद्ध अदुर्बल के स्वीकार की योग्यता उत्सर्ग[1] है। जैसे जो किसी स्वस्थ (निर्दुष्टताक्ष) और जाग्रत मनुष्य के ज्ञान को [प्रामाण्य-अप्रामाण्य के निर्णायक प्रमाणरूप विशेष न होने पर भी बाध के अभावकाल में] अप्रमाण मानते हैं, उनके प्रति उत्सर्ग दोष होता है। जो उक्त ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, उनके प्रति उत्सर्ग दोष नहीं होता। इस उत्सर्गरूप तर्क का अवलम्बनकर भट्टपाद ने चोदना-सूत्र के प्रसङ्ग में ५३ वीं कारिका द्वारा कहा है कि बोधस्वरूप होने से ही बुद्धि को उत्सर्गतः प्रामाण्य प्राप्त हो जाता है, [कारण प्रायशः ज्ञानमात्र प्रमा हुआ करता है]। किन्तु वह प्रामाण्य कहीं-कहीं विषय के अभाव से विषय या चक्षुरादिनिष्ठ दोष से बाधित भी हो जाता है।

'ईश्वराभिसन्धि' के वेद-प्रामाण्य नामक प्रकरण में उत्सर्ग का उदाहरण हमने इस प्रकार दिखलाया है, जिसमें बौद्ध भी विप्रतिपत्ति नहीं कर सकते।

१ इस तरह भूयोदर्शनरूपता या भूयः सहचाररूपता ही उत्सर्ग का स्वरूप सिद्ध होता है।

ननु बलवदेककोटिकः संशय एवोत्सर्गः, तत्कथं तर्कः स्यादिति चेन्न। उत्सर्गस्य सम्भावनायाः स्वार्थस्थित्यनुकूलतयाऽवलम्ब्यत्वात्; संशयस्य त्वनेवम्भावात्, उत्सर्गस्यैककोटिनिष्ठत्वात् संशयस्य च कोटिद्वयावगाहित्वात्।

एतेन संशयस्यैवैका बलवती या कोटिः सैवोत्सर्ग इति निरस्तम्। निर्णयोऽपि संशयस्यैव वस्तुनियतकारणजत्वरूपबलवती कोटिः स्यात्।

स्यादप्येवं यद्युत्सर्गवन्निर्णयेऽपि संशयस्यानुस्फूर्तिः स्यादिति चेन्न। उत्सर्गोदाहरणे उत्सर्गमाद्रियमाणैः संशयोच्छेदानुमतेरेव बाधाभावं सहकारिणमपेक्ष्य उत्सर्गेणार्थैक्याभाव एव प्रमाणीभवनात्। तस्माद्यथा अनवस्थादयो बाधाद् दूषणत्वं त्यजन्तस्तदभावे दूषणानि भवन्ति तथोत्सर्गेऽपि तथैवेति।

प्रश्न—हम उत्सर्ग को 'प्रायशः ज्ञानं प्रमैव स्यात्' इत्याकारक बलवान् एककोटिवाला सम्भावनारूप सन्देह ही मान लेंगे। उसको तर्क क्यों माना जाय? *उत्तर*—तथाकथित सम्भावनारूप उत्सर्ग स्वप्रयोजन (ज्ञान-प्रामाण्य) की सत्ता के साधनार्थ माना जाता है, पर संशय उभयकोटिक होने से उक्त प्रयोजन का साधन नहीं हो सकता। इसी तरह उत्सर्ग एककोटिक होता है, जब कि सन्देह कोटिद्वयावगाही हुआ करता है। अतः उत्सर्ग सन्देह नहीं, किन्तु तर्क ही है।

अतएव 'संशय की ही एक बलवती कोटि उत्सर्ग है' यह कथन भी खण्डित जानना चाहिए। प्रयोजन का साधक होने पर भी उत्सर्ग को यदि सन्देह मानें, तो निश्चय को भी वस्तु से नियत सन्निकर्षरूप कारण से जन्य सन्देह की ही एक बलवती कोटि क्यों न माना जाय?

प्रश्न—उत्सर्ग के उदाहरण में संशय की स्फूर्ति होती है, पर निश्चय में वह नहीं होती। अतः निश्चय सन्देह की बलवती कोटि नहीं हो सकता। *उत्तर*—जो उत्सर्ग का आदर करते हैं, वे उत्सर्ग के उदाहरण में संशय की स्फूर्ति नहीं, किन्तु संशय का उच्छेद ही मानते हैं। कारण बाधाभाव से सहकृत होकर उत्सर्ग ज्ञान के प्रामाण्य में प्रमाण होता है। तस्मात् जैसे बाध होने पर अनवस्था आदि अपना दूषकत्व त्याग देते हैं, पर बाधाभावस्थल में दूषक होते हैं, वैसे ही उत्सर्ग भी बाध के अभाव में प्रमाण होता ही है।

[1]सुगमासुगमयोरसुगमदुर्बलत्वं कल्पनागौरवम्, दृष्टजातीयमपेक्ष्यादृष्टजातीयं दुःखेन प्रमीयते, स्वल्पमपेक्ष्य च बह्विति अखिलजनानुभवसिद्धमेतत्। दर्शितं च विविच्येदमीश्वराभिसन्धौ। यथा—नैयायिकादिकं प्रति क्षित्यादिषु प्रतिकार्यं कर्तृणां भिन्नानामभ्युपगमापादके, यथा च सौगतं प्रति प्रत्येकं कारणानां समर्थानामनेकसमानदेशकालानामनेकनीलादिव्यक्त्युत्पादापादके चेति दूषणानुकूलमिदम्। तद्व्यतिरेकेण कल्पनालाघवं साधनानुकूलम्।

प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमसमाधेयजातीयमनौचित्यं वैयात्यनामकम्। तस्य भेदाः प्रश्नवैयात्यादयः। प्रश्नविषयमप्रमिण्वतां प्रष्टरि प्रश्नानौचित्यं प्रश्न-

सुबोध और दुर्बोध के मध्य दुर्बोध की दुर्बलता कल्पना-गौरव है। दृष्टजातीय की अपेक्षा अदृष्टजातीय तथा स्वल्प की अपेक्षा बहु पदार्थ दुःख से जाना जाता है—यह सर्वसाधारण के अनुभव से सिद्ध है। इस कल्पना-गौरव का उदाहरण 'ईश्वराभिसन्धि' नामक ग्रन्थ में विवेचनपूर्वक दिखाया गया है। जैसे—नैयायिक द्वारा कार्यत्व-हेतु से क्षित्यादि में कर्तृजन्यत्व का साधन करने पर, 'क्षित्यादि कार्य अनेक होने से अनेक कर्ताओं की सिद्धि क्यों नहीं होती?' वादी की इस आपत्ति की निवृत्ति कल्पना-गौरवरूप तर्क से होती है। इसी प्रकार बौद्धमत में 'प्रत्येक समर्थ (फलोपधायक), अनेक और समान देश-कालवाले कारणों का प्रत्येक, अनेक नीलादि-कार्यकारित्व क्यों न हो?'- इस शंका की निवृत्ति कल्पना-गौरवरूप तर्क से होती है। कल्पना-गौरव प्रतिवादी द्वारा कथित दूषण के अनुकूल है और उसका अभावरूप कल्पना-लाघव स्वपक्ष के साधन के अनुकूल है।

'प्रामाणिकों के व्यवहार का अविषय तथा समाधान के लिए अयोग्य' अनौचित्य है और अनौचित्य का ही नाम 'वैयात्य' है। अनौचित्य के भेद प्रश्न, वैयात्य आदि हैं। जो पण्डित प्रश्न के विषय को ही नहीं मानते, उनके प्रति उस 'विषय में विशेष के ज्ञानार्थ प्रश्न करना प्रश्नानौचित्य है। जैसे—प्रमाणव्यवहारी नैयायिक आदि के प्रति यदि बौद्ध यह प्रश्न करे कि 'आप जगत् को अवस्तु (असत्) तो मानते ही हैं,

1. अर्थात् जहाँ उपस्थितिकृत, शरीरकृत या सम्बन्धकृत लाघव हो, वही सुगम है और तदन्य असुगम है। असुगम की दुर्बलता का अर्थ है, प्रमाणापरिच्छेद्यता; कारण प्रमाण स्वभावत: लघु अर्थ का ही ग्रहण करता है। एवञ्च 'इदमस्माद् गुरु', 'इदमस्मात् लघु' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध स्वरूपसम्बन्ध-विशेष ही गौरव-लाघव हैं।

वैयात्यम् । यथा—अवस्तुनि विधिनिषेधयोः किमिच्छसीति पृच्छति प्रमाणव्यव-हारिणां सौगते । अत एवात्र अनौचित्यापरनामकं वैयात्यं परस्य दोषं मनसि कृत्वैके ब्रुवते—'अत्र सहृदयानां मूकतैवोचिता' इति । अपरे च—'न ह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौरः कृष्णो वेति वैयात्यं विना प्रश्नः स्यादि'ति ।

यदि च इदमनौचित्यं नाम दोषो नाभ्युपेयते, तदानीमर्थान्तरेण प्रकृतमर्थं निरस्य अर्थान्तरस्यार्थान्तरेण परिहारात् तत्परम्परामालम्बितुकामः केन दोषेण अर्थान्तरपरिहाराभासत्ववादिनि अर्थान्तरेणैव तत्परिहरणमनुचितमित्यतोऽन्येन जीयेत । अर्थान्तरनिग्रहतायां विप्रतिपन्नोऽपि प्रश्नपरम्परामालम्ब्य स्वभङ्गभयात् कथावसानमनिच्छन्तं कथं जयेत ?

न चानवस्थया जयतीति वाच्यम्; यावदुत्तरमर्थान्तरेण परिहरणे प्रश्ना-न्तरेण वा द्वयोरप्यनवस्थासाम्यात् ।

परन्तु उस असत्त्व को भावरूप या अभावरूप मानते हैं ?' तो वह प्रश्नानौचित्य है । अतएव पर के ऐसे प्रश्न में प्रश्न-वैयात्य नामक दोष मानकर एक आचार्य ने कहा है—'ऐसे प्रश्न पर सहृदय पण्डितों के लिए मौन ही उचित है ।' दूसरे आचार्य ने कहा है कि "अज्ञात देवदत्त के विषय में देवदत्त कृष्ण है या गौर ?' यह प्रश्न धृष्टता के सिवा और कुछ नहीं ।"

यदि अनौचित्य को दोष न मानें, तो प्रतिवादी का किसी भी प्रकार निग्रह न हो सकेगा । देखिये, वादी कहता है—'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् ।' प्रतिवादी इसका अर्थान्तर से यों परिहार करता है—'शब्द विभु होने से उसे कृतक कहना अज्ञान है ।' इस पर वादी कहेगा—'यह परिहार 'अर्थान्तर' होने से उचित नहीं है ।" इस पर प्रतिवादी भी चुप न रहेगा और 'फिर वह 'अर्थान्तर ही क्या है ?' इस प्रकार प्रश्नों की परम्परा चलाता ही रहेगा । अर्थात् 'अर्थान्तर' होने से परिहार को 'आभास' कहनेवाले के प्रति 'पुनः अर्थान्तर से ही परिहार अनुचित है' इस प्रकार अनौचित्य के उद्भावन से ही उक्त प्रतिवादी निगृहीत हो सकता है । किञ्च—जो स्वयं अर्थान्तर को निग्रहस्थान नहीं मानते, वे यदि पराजय के भय से प्रश्न-परम्परा का अवलम्बनकर शास्त्रार्थ की समाप्ति ही न चाहें, तो अनौचित्य से अन्य किस निग्रह से आप उन्हें परास्त करेंगे ? तस्मात् अनौचित्य अवश्य मानना चाहिए ।

प्रश्न—स्वपराजय के भय से प्रश्न-परम्परा का अवलम्बन करनेवाले पुरुष को अनवस्था से ही पराजित कर सकते हैं । *उत्तर*—अनवस्था ही क्या है, ऐसा प्रश्न होने से प्रश्न और उत्तर दोनों पक्षों में अनवस्था समान है ।

'दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने ।
काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽऽदृत ॥'

ननु कथमत्र प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमिति पृष्टेन यदि मूकत्वमालम्ब्य तथात्वं वादिनि न व्युत्पाद्यते, तदानीमप्रतिभाऽऽपतेत् । अथ तथात्वं व्युत्पाद्यते प्रश्नार्थादेः प्रमाणाविषयत्वमुपन्यस्य, तदाऽत्यन्तासद्व्यवहार्यता स्वीकृतैव स्यादिति चेत् । अत्र ब्रूमहे—मूकतैवात्र विजयायेति । न चाप्रतिभैवं प्रसज्येत; उत्तरस्याऽप्रतिपत्तिरुत्तरार्हस्येति तल्लक्षणात् ।

यदि चायं नियमो वादिना इष्यते, यदभ्रान्त्यैव तेन व्यवहर्तव्यमनुवादादन्यत्रेति; तदा मध्यस्थोद्भाव्यत्वमस्य दोषस्योपन्यस्यताम् । मध्यस्थेन ह्यपभ्रंशभाषयाऽपि यथा वादिप्रबोधनं क्रियते, तथा यद्यप्रमाणमवलम्ब्यापि क्रियते, तदा को दोषस्तस्य स्यात्, तत्र विषये तथैव तेन वादिबोधनस्य शक्य-

काव्यतत्त्वविवेचक पण्डितों में अत्यन्त समादृत आलंकारिक महिम भट्ट ने कविजनों के नेत्र-तुल्य 'व्यक्तिविवेक' नामक अपने ग्रन्थ में ध्वनिकार प्रभृति आद्य आचार्यों के इस कथन का उल्लेख करते हुए कि 'अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्' (रसभंग का कारण अनौचित्य के सिवा और कुछ भी नहीं है । सभी रसभंजक दोषों में अनौचित्य अनुस्यूत ही रहता है), इस दोष का आदर किया है ।

प्रश्न—'अनौचित्य प्रामाणिकों द्वारा अव्यवहार्य कैसे हैं ?' ऐसा प्रश्न होने पर यदि मूकता का अवलम्बन कर वादी के प्रति अनौचित्य की अव्यवहार्यता का प्रतिपादन न किया जाय, तो 'अप्रतिभा' नामक निग्रह होगा । तदर्थ यदि अनौचित्य में प्रमाणाविषयत्व का प्रतिपादनकर 'अनौचित्य की प्रामाणिक अव्यवहार्यता' का प्रतिपादन किया जाय, तो अत्यन्त असत् वस्तु में भी आपने व्यवहार्यता मान ली, कारण 'अनौचित्यं प्रामाणिकाव्यवहार्यम्, प्रमाणाविषयत्वात्' इस प्रकार शब्द-व्यवहार का विषय वह हो ही गया । *उत्तर*—अनौचित्य अव्यवहार्य कैसे है, इस प्रश्न में मूकता ही विजय का हेतु है । वहाँ मूकत्व के अवलम्बन में भी अप्रतिभा नहीं होती, कारण 'उत्तर-योग्य प्रश्न की अप्रतिपत्ति' ही अप्रतिभा है, अनौचित्य तो उत्तरार्ह ही नहीं है ।

यदि वादी इस नियम को स्वीकार करता हो कि 'अनुवाद से अन्यत्र मैं भ्रान्ति से व्यवहार नहीं करूँगा' तो मध्यस्थ को ही वहाँ अनौचित्य का उद्भावन करना चाहिए । मध्यस्थ जैसे अपभ्रंश शब्दों से (जो कि निरर्थक निग्रहस्थान से निग्रह के

त्वात् । तस्मात् मध्यस्थं प्रत्यनुत्तरदाने स्वदोषपरिहाराय प्रतिवादिनाऽपि वैयात्य-लक्षणदर्शनं कार्यम्, मध्यस्थं प्रति तस्याप्रमाणेनापि प्रतिबोधने निर्दोषत्वात् ।

ननु वादिभ्यामेव वा, वादिनि मध्यस्थेन वा, तं प्रति वादिना वाऽत्यन्ता-सद्विषये व्यवहारोपगमे कथं नासत्ख्यातिः स्वीकृता स्यात् ? किं न स्यात् । विशिष्टरूपे सम्बन्धांशे चासत्ख्यातेरन्यथाख्यातिवादिभिरप्यभ्युपगमात् ।

ननु 'वन्ध्यासुताच्छशविषाणं भिन्नमि'त्यादिषु व्यवहरतः कथं विशेष्ये विशेषणेऽपि नासत्ख्यातिरुपगन्तव्येति चेत् । न; असत्ख्यात्यभ्युपगमस्य सत्ख्यातित्वात्यागनियमोपगमविश्रान्तत्वात् । असदपि सदुपश्लिष्टमेव प्रतिभासते, न तु केवलमसत् कयाऽपि ख्यात्या समुल्लिख्यते इत्यन्यथाख्यातिवादिभिरिष्य-माणत्वात् । वन्ध्यासुताच्छशविषाणं भिन्नमिति प्रतिपत्त्राऽपि भिन्नमित्ययमंशः सामान्यतोऽन्यत्र दृष्ट एव प्रतीयते । केवलं भेदस्य सदाश्रयः प्रतियोगि चेति

प्रयोजक होते हैं) वादी का प्रबोधन करता है, वैसे ही अप्रमाण का अवलम्बन करके भी वादी का प्रबोधन करे तो क्या हानि है ? कारण मध्यस्थ वादी के प्रति अनौचित्य का प्रबोधन भ्रान्ति से ही कर सकता है, उसके लिए अभ्रान्तता से व्यवहार्यता का नियम नहीं है । तस्मात् मध्यस्थ के प्रति प्रतिवादी भी उत्तर न देने के अपने दोष (अप्रतिभा) के परिहारार्थ अनौचित्य का बोध करा ही सकता है । कारण मध्यस्थ के प्रति अप्रमाण से भी प्रतिबोधन में उसे कोई दोष, नहीं है । एवञ्च वादी के नियोग के बिना मध्यस्थ भी उसके अनौचित्य का उद्भावन कैसे करेगा, यह शंका भी नहीं रहती ।

प्रश्न—अत्यन्त असत् वादी के प्रति वादी के, वादी के प्रति मध्यस्थ के या मध्यस्थ के प्रति वादी के को व्यवहार का विषय मान लेने पर तो असत्ख्याति का स्वीकार हो जायगा । उत्तर—अन्यथाख्यातिवादी विशिष्ट अंश या सम्बन्ध-अंश में जैसे असत्ख्याति मानते हैं, वैसे ही अनौचित्य के विषय में भी असत्ख्याति मानें, तो हानि क्या है ?

प्रश्न—'वन्ध्या-सुत से शश-विषाण भिन्न है' इस स्थल में विशेष्य-विशेषण अंश में भी असत्ख्याति क्यों न मानी जाय ? उत्तर—असत्ख्याति के अस्वीकार का अर्थ है, सत्ख्याति का अत्याग । सर्वथा असत्ख्याति को न मानना उसका अर्थ नहीं है, कारण असत् भी सत् से उपश्लिष्ट ही भासता है, केवल असत् किसी ख्याति से नहीं भासता । यही तो अन्यथाख्यातिवादी भी मानते हैं । 'वन्ध्या-सुत से

यद्वस्तुतः तदसदाश्रयः प्रतियोगि च तस्येत्यन्यथा कृत्वा प्रतीयत इत्यन्यथा-ख्यातिरेवोपगता भवति ।

यथा तु विशिष्टमत्यन्तासदेव तथाऽऽश्रयप्रतियोगिनी अत्यन्तासती एव किं न प्रतिभासेते ? तावताऽपि यथोक्तान्यथाख्यात्यनुल्लङ्घनादेव ।

न चैवमसत्ख्यातिवादिनाऽपि शक्यं वक्तुम्; केवलं सदेव प्रकाशत इत्य-स्मात्पक्षाद्विपरीतं विशिष्टं सम्बन्धश्च क्वचिद्विशेषणाद्यपि अत्यन्तासद् भ्रान्त्योल्लि-ख्यत इत्येवंरूपा तावदसत्ख्यातिः परेणोपगतैव । यदि तु सदपि प्रकाशते किञ्चित्,तत्किं नासत्प्रकाशत इति । यतः परेण विकल्पः सर्वथा वस्त्वनुल्लेखी केवलमलीकमुल्लिखन् असत्ख्यात्यात्मा स्वीक्रियते ।

यदि तु यथोक्तमेव परोऽप्यभ्युपगच्छति; तदानीमनुमानप्रमाणादिवत् अत्राप्यविप्रतिपत्तिरेवेति ।

शशविषाण भिन्न है' इस स्थल में भी सामान्यतः अन्यत्र दृष्ट ही भेद प्रतीति का विषय होता है । अन्तर केवल यह है कि अन्यत्र भेद का सत् आश्रय और प्रतियोगी भासता है और प्रकृत में अन्यथा रूप से भेद का असत् प्रतियोगी और असत् आश्रय भासता है । फिर यहाँ भी अन्यथाख्याति ही क्यों न मानी जायगी ? जैसे विशिष्ट अत्यन्त असत् ही भासता है, वैसे ही उक्त प्रतीति में आश्रय आश्रय और प्रतियोगी अत्यन्त असत् ही भासते हैं, ऐसा मानने पर भी अन्यथाख्याति का उल्लंघन नहीं है ।

प्रश्न—असत्ख्यातिवादी भी कह सकता है कि "जैसे 'केवल सत् ही भासता है' इस पक्ष से विपरीत विशिष्ट, सम्बन्ध और कहीं-कहीं विशेषण भी अत्यन्त असत् ही भासते हैं, ऐसी असत्ख्याति को अन्यथाख्यातिवादी मानते हैं, वैसे ही असत् भी 'सत् से उपश्लिष्ट ही भासता है, केवल नहीं भासता । अतः सर्वज्ञान असत्ख्याति ही है ।" *उत्तर*—बौद्ध सद्वस्तु की अनवगाहिनी केवल उल्लेख करनेवाली विकल्परूप असत्ख्याति मानते हैं और अन्यथाख्यातिवादी सत्-उपश्लिष्ट ही असत भासता है, ऐसा मानते हैं । दोनों मतों में यह महान् भेद है ।

यदि कहें कि 'बौद्ध भी सत् से उपश्लिष्ट ही असत् के भान को असत्ख्याति मान लेंगे । अर्थात् जैसे किञ्चित् सत् के भासने पर भी वे अन्यथाख्याति मान लेते हैं, वैसे ही किञ्चित् असत्के भासने पर असत्ख्याति भी क्यों न मानी जाय ?', तो यह भी ठीक नहीं । कारण अनुमान के प्रामाण्य के तुल्य उक्तरूप असत्ख्याति मानने में हमें तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी, किन्तु आप बौद्धों के लिए यह अपसिद्धान्त हो जायगा ।

ननु सर्वथैवासत्ख्यातिरपि भवताऽनुमन्तव्यैव। तथाहि -'वन्ध्यासुत-शशविषाणे कूर्मरोमैवे'ति वदतः शब्दादर्थं प्रतिपादयतां किं तदणुमात्रमपि समुल्लेख्यं तत्प्रतीतेरिति चेन्न। तत्रापि तादात्म्यस्य सामान्यतोऽन्यत्र प्रतीतस्यैव असदुपहितस्य स्फुरणोपगमात्। प्रकारभेदवैशिष्ट्येन भिन्नयोरेकत्वं हि तादात्म्यम्, तच्चाऽन्यत्रास्त्येव।

तर्कसंशयाभ्यामप्रमाभ्यां जननेऽपि तत्तत्प्रमावत् मध्यस्थाद्यप्रमया तथा प्रश्नानौचित्यादिप्रमोत्पादनाविरोधः। बाधवद्भ्रमविषयातथाभावेऽपि भ्रमस्या-अप्रमात्वपारमार्थिकतावत् प्रश्नविषयासत्यत्वेऽपि प्रश्नानौचित्यसत्यतोपपत्तिरेव।

एतेन भ्रान्तिजाया धियः प्रमात्वं तथाप्यदृष्टचरमित्यपि परास्तप्रायमिति। एवमन्यत्राप्येवंविधोदाहरणे वाच्यम्।

प्रश्न—आपको सर्वथा असत्ख्याति भी अवश्य माननी होगी। देखिये—'वन्ध्या-सुत और शशविषाण कूर्मरोम ही हैं' इस शब्द का क्या अणुमात्र भी अर्थ है, जो उक्त प्रतीति का विषय हो ? *उत्तर*—सामान्यरूप से अन्यत्र प्रतीत ही असत् से उपहित तादात्म्य इस प्रतीति का विषय होता है। कारण प्रकार-भेद से विशिष्ट विभिन्न अर्थों का ऐक्य 'तादात्म्य' पदार्थ है और वह अन्यत्र सत् ही है।

किंच—तर्क तथा संशय स्वयं तो अप्रमाण हैं, फिर भी जैसे उनसे प्रमात्मक अनुमिति होती है, वैसे ही मध्यस्थ के अनौचित्यरूप विषय को विषय करनेवाली अप्रमा से भी प्रश्नानौचित्यविषयक प्रमा उत्पन्न हो ही सकती है। अथवा बाधित भ्रम का विषय भी असत् ही होता है, फिर भी उक्त भ्रम अपने में अप्रमात्व की पारमार्थिकता (प्रमा) का जनक होता ही है। इसी तरह 'शशशृङ्गमृजु वक्रं वा ?' इस प्रश्न का विषय असत् होने पर भी प्रश्नानौचित्य में सत्यत्व का अवगाहन करनेवाली प्रमा हो ही सकता है।

इसीसे 'भ्रान्ति से जायमान बुद्धि में प्रमात्व कहीं नहीं देखा गया है' यह कथन भी खंडितप्राय है। कारण पीछे अनेक उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया जा चुका है कि भ्रान्तिज बुद्धि से भी प्रमा होती है। इसी प्रकार वन्ध्यासुत, गगनारविन्द, कूर्मरोम आदि असत्ख्यातियों में सत् से उपश्लिष्ट ही असत् का भान मानना चाहिए।

न च कश्चिदुक्तप्रकारमन्यथाख्यातिसमाधानं नानुमन्तुं शक्नोति। अन्यथा कथमसत्ख्यातिवादिनो मतमपि जानीयात्, अज्ञात्वा च स्वपरमत-वैचित्र्यं वादे प्रवर्तेत।

एते सर्वेऽपि तर्काः प्रमाणविरोधे वा प्रमाणाभावे वा निष्पीडिताः प्रविशन्तो न बाधासिद्धिभ्यां भिद्यन्ते। पूर्वैरपि लोकसिद्धत्वात् व्यवहृताः। केवलमस्माभिरेव तर्कपदव्यामभिषिक्ताः, ततो न प्रबन्धेन निरस्यन्ते—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं च्छेत्तुमसाम्प्रतम्' इति।

तर्काभास-खण्डनम्

ये च परैस्तर्कदोषाः षट् स्वीक्रियन्ते—आश्रयासिद्धिः, अनुकूलत्वम्, मूलशैथिल्यम्, इष्टापादनम्, विपर्ययापर्यवसानम्, मिथोविरोधश्चेति; सोऽयं तर्कस्य दोषविभागो

'असत् भी सत् से उपश्लिष्ट ही भासता है, केवल असत् नहीं भासता और यही अन्यथाख्याति है'—कोई भी अन्यथाख्यातिवादी इस प्रकार उक्त अन्यथाख्याति के निर्वाह का अस्वीकार नहीं कर सकता। यदि अस्वीकार करे, तो असत्ख्यातिवादी के मत को कैसे जानेगा? कारण वह असत् का भान तो मानता नहीं। मेरे कथन के अनुसार तो सत् जो ख्याति, उससे उपश्लिष्ट असत् का भान होता है, अतः असत्-ख्यातिवादी का मत जानने में उसे कोई बाधक नहीं है। स्व और परमत का वैलक्षण्य बिना जाने कोई भी पुरुष वाद में प्रवृत्त ही कैसे हो सकेगा?

विचार करने पर यदि अविनिगम आदि चार तर्क प्रमाण के विरोधरूप हों, तो बाध में और यदि प्रमाण के अभावरूप हों, तो असिद्धि में अन्तर्भूत हो जाते हैं, इनसे पृथक् नहीं हैं। पूर्वाचार्यों ने भी इन तर्कों को लोकसिद्ध माना है। मैंने ही केवल इन्हें तर्क-पदवी पर आरूढ़ किया है। इसीलिए हम अतियत्न से इनका खण्डन नहीं करते। कारण विष का वृक्ष भी स्वयं बढ़ाकर स्वयं छेदन के अयोग्य होता है, ऐसा वृद्धजन कहते हैं। अर्थात् बाध और असिद्धि से पृथक् पूर्वोक्त अविनिगम आदि तर्कों की सत्ता ही नहीं है और उन दोनों का खण्डन हो ही चुका है। अतः इनका खण्डन व्यर्थ है, यह भाव है।

तर्काभासों का खण्डन

आश्रयासिद्धि, अनुकूलत्व, मूलशैथिल्य, इष्टापादन, विपर्ययापर्यवसान और मिथो-विरोध तर्क के ये पांच अन्य दोष भी आचार्यों ने माने हैं। यह दोषविभाग भी ठीक

नोपपद्यते। व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोः प्रतीतिमपेक्ष्य यथाऽनुमानं जायते तथैव तर्कोऽपि। इयान् परमनयोर्विशेषो यदनुमानं तयोः प्रमित्या जायते, तर्कस्त्ववास्तवाभ्यामपि ताभ्यां पराभ्युपगममात्रसिद्धाभ्यां भवति। तेन विमृष्यमाणः तर्कः पराभ्युपगममात्रप्रसादसिद्धपरिकरो नाऽऽश्रयासिद्धिमपि तावद्वास्तवीमनुरोद्धुमधिकरोति। ततः प्रमित्यभ्युपगमसिद्धिकृतवैचित्र्याश्रयाद्भेदादन्यो यावान् यथा च हेत्वाभासविभागः, तद्वदेव च तर्काभासविभागोऽपि न्याय्यः।

तस्मादाश्रयासिद्धिमूलशैथिल्येष्टापादनानि असिद्धिरेकैव दोषोऽनुमानवत्। तत्र अप्रमितत्वावलम्बिनी, इह त्वनभ्युपगमावलम्बिनीति विशेषः।

मिथोविरोधश्च सत्प्रतिपक्षतैव। विपर्ययापर्यवसानं तु दोष एवाऽऽपादनस्य न भवति। यन्नाम विपर्ययापर्यवसानादापादनमात्मसाधनानुकूलं न भवति, तदन्यदेव किमपि।

नहीं है। कारण व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रतीति के बल पर जैसे अनुमिति होती है, वैसे ही तर्क भी होता है। किन्तु दोनों में भेद यह है कि अनुमिति तो 'व्याप्ति-पक्षधर्मता की प्रमिति' के बल पर से होती है और तर्क अवास्तव, किन्तु 'पर के अभ्युपगम-मात्र से सिद्ध व्याप्ति-पक्षधर्मता' से भी होता है। इस प्रकार विचारने पर तर्क पर के अभ्युपगममात्ररूप प्रसाद से सिद्ध सामग्रीवाला है। अतः वह वास्तविक आश्रयासिद्धि को भी रोक नहीं सकता। तस्मात् प्रमिति और अभ्युपगम की सिद्धि के वैचित्र्य-मूलक भेदों को छोड़ जितने और जिस प्रकार के हेत्वाभास के विभाग अनुमान में होते हैं, तर्क में भी उतने ही और उसी प्रकार के तर्काभास-विभाग जानने चाहिए।

तस्मात् आश्रयासिद्धि, मूलशैथिल्य, इष्टापादन ये तीनों तर्कदोष असिद्धिरूप एक ही दोष के अन्तर्गत है, जैसा कि अनुमान में होता है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि वह असिद्धि 'अप्रमितत्व' का अवलम्बन करती है, तो तर्क में 'अभ्युपगम' मात्र का। इसी तरह मिथोविरोध सत्प्रतिपक्ष ही है। फिर, विपर्ययापर्यवसान तो तर्क का दोष ही नहीं है। जो आपादन, विपर्यय में पर्यवसान न होने से, आत्मसाधन के अनुकूल नहीं होते वे और ही कुछ दोष हैं। अर्थात् जहां पर-पक्ष में दोषमात्र देना हो वहाँ विपर्ययापर्यवसित तर्क का भी उपयोग होने से विपर्ययापर्यवसान को तर्काभास तो मान ही नहीं सकते। फिर जहां स्वपक्ष-साधनार्थ विपर्ययापर्यवसित तर्क का उपन्यास नहीं होता, वहाँ उसका कारण कुछ और ही दोष हैं, कथित तर्काभास नहीं।

बाधविरुद्धत्वव्यभिचारास्तु अनुमानवत् तर्केऽपि दोषाः पृथग्वाच्याः। बाध उत्सर्गसम्भावनादेरन्यत्रानुकूलः।

तर्कस्य सप्तममपि दोषं तर्कस्याऽऽपत्तिसाम्यं न नामोपगच्छामः, स चोभाभ्यामभ्युपगतव्याप्येनानभ्युपगतव्यापकेन प्रागेव दर्शित इत्यास्तां विस्तर इति।

सर्वखण्डन-प्रकारोपदेशः

एवंप्रकाराणि तत्तल्लक्षणेषु खण्डनान्यूहनीयानि। तदेतासु खण्डनयुक्तिषु कामपि स्थानान्तरस्थां केनापि प्रकारान्तरेणाऽऽनीय तत्सदृशीमन्यादृशीं वा स्वयमूहित्वा परैर्विविच्यमानानि पदार्थान्तराण्यपि बुद्धिमता बाधनीयानि।

अत्र चास्माभिर्दूषयितुं शङ्कितेभ्यः परपक्षप्रकारेभ्यो यदि प्रकारान्तरं कोऽपि स्वयमूहति, उक्तानां बाधकानां मध्ये क्वचित्प्रज्ञयाऽपि समाधानमभिद-

इतना ही नहीं बाध, विरोध और व्यभिचार अनुमान की तरह तर्क में भी पृथक् ही दोष हैं। उत्सर्ग तथा सम्भावनारूप तर्क से भी अन्य तर्कों में बाध अनुकूल है, अर्थात् आभासत्व का प्रयोजक नहीं है।

कुछ लोग तर्क में 'आपत्तिसाम्य'रूप सप्तम दोष भी मानते हैं। यह आपत्तिसाम्य वहाँ होता है, जहाँ दोनों पक्षों ने व्याप्य का स्वीकार किया हो और व्यापक का स्वीकार न किया हो। किन्तु इस दोष को 'यदि सत्ता सद्व्यवहारविषय हो, तो सत्तावती हो जायगी' इस स्थल में तर्क-खण्डन के प्रस्ताव में 'यत्रोभयोः समो दोषः' इत्यादि से हम पहले ही दिखा चुके हैं, अतः विस्तार व्यर्थ है।

सर्व-खण्डन-प्रकार का उपदेश

हमने विस्तार-भय से जिन लक्षणों का खण्डन नहीं किया है, उन लक्षणों में भी अस्मदुक्त खण्डन के सदृश खण्डनों की स्वयं ऊहा कर या इन्हीं खण्डन-युक्तियों के बीच अन्य स्थानस्थित किसी खण्डनयुक्ति का किसी प्रकार आनयन कर या तत्सदृश युक्तियों की ऊहा कर वादी द्वारा विवेचित अन्यान्य पदार्थों के लक्षणों का भी बुद्धिमान् खण्डन करें।

इस ग्रंथ में हमने जिन लक्षणों का खण्डन किया है, यदि वादी उनके तुल्य अन्य लक्षणों की ऊहा करे या उक्त बाधकों के बीच अपनी प्रज्ञा के बल किसीका समाधान भी कर दे और खण्डनवादी को प्रस्तुत समाधान की स्फूर्ति न हो, तो वादी द्वारा

ध्यात्। तत्र खण्डनवादिनः प्रस्तुता प्रतिक्रिया न स्फुरेत्, तदाऽपरेण प्रयुज्यमाने वाक्ये बहुपदात्मके कस्यचित्पदस्यार्थं खण्डनान्तरमवतारणीयम्। एवं तत्रापि परेण प्रज्ञाशोषणे पुनस्तथैव शाखान्तरेषु सङ्क्रमणीयमिति प्रकारेण खण्डनमये चक्रे सम्यगवधेयम्।

न च शाखान्तरसङ्क्रान्तावर्थान्तरं पतेत्; अप्रकृतत्वाभावात्। न चैकनिर्णयारम्भे अन्यसङ्क्रान्तावनौचित्यं स्यात्; 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादि'त्यादौ परेणोक्ते कृतकत्वादौ अविप्रतिपत्तव्यत्वापत्तेरन्यतरासिद्ध्याद्युच्छेदापातात्। येन हि तन्निर्वाह्यते, तदनिर्वचनीयतयाऽपि निर्वाह्याऽनिर्वचनीयतैवेति। तस्मात्—

'तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे।
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया॥'

प्रयुक्त बहुपदात्मक वाक्य में किसी पद के अर्थ का खण्डन करने के लिए खण्डनान्तर का अवतरण करना चाहिए। इसी प्रकार यदि वहां भी वादी प्रज्ञा का शोषण (निष्प्रभ) कर दे, तो पुनः उक्त प्रकार से अन्य शाखा का अवलम्बन करना चाहिए।

अन्य शाखा के अवलम्बन से अर्थान्तर भी नहीं होगा; कारण वह (अन्य शाखा) भी प्रस्तुत ही है और 'अप्रस्तुत अन्य अर्थ का अवलम्बन' ही 'अर्थान्तर' होता है। इसी प्रकार एक पदार्थ के निर्णय के आरम्भ में अन्य पदार्थ के संक्रमण से होनेवाला अनौचित्य भी यहां नहीं होगा; कारण अनौचित्य भी अप्रस्तुत अन्य के अवलम्बन में ही होता है। अन्यथा यदि प्रस्तुत विषय में भी अर्थान्तर या अनौचित्य हो, तो शब्द में कृतकत्व से अनित्यत्व-साधन के प्रस्ताव में अर्थान्तर के भय से कृतकत्व में भी विप्रतिपत्ति (जिज्ञासा) नहीं होगी। साथ ही अन्यतरासिद्धि-स्थल का भी उच्छेद हो जायगा। कारण अन्यतर के प्रति 'हेतु के असिद्धिस्थल में यदि हेतु की सिद्धि करें तो अर्थान्तर या अनौचित्य हो जायगा। फलतः साध्य के साधन के प्रस्ताव में हेतु का साधन कोई नहीं करेगा। किन्तु वस्तुतः हेतु का निरूपण प्रस्तुत ही है; कारण जिस हेतु से जो निरूपित होता है, उस हेतु के अनिर्वचनीयत्व से साध्य का अनिर्वचनीय सिद्ध होता है।

तस्मात् मदुक्तयुक्ति के तुल्य अन्य युक्तियों की ऊहा, अन्यत्र उक्त मदुक्त युक्तियों का अन्यत्र योजन तथा उन युक्तियों का खण्डन होने पर शृङ्खला-शाखान्तरारोहण—इस प्रकार वाद में मेरी खण्डन-प्रक्रिया तीन प्रकार से चक्कर काटती रहती है।

उपसंहारः

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादयत्,
त्वेतत्तर्करसोर्मिमज्जनसुखेष्वासञ्जनं सज्जनः ॥
ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम् ॥

उपसंहार

इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं यत्नपूर्वक रचना का काठिन्य हमने इसी प्रयोजन से किया है कि जो प्राज्ञम्मन्य हैं, वस्तुतः प्राज्ञ नहीं हैं तथा हठ से पढ़नेवाले हैं, वे खल-जन इस ग्रन्थ में क्रीड़ा न करें। किन्तु श्रद्धा से आराधित गुरुओं द्वारा जिन्होंने ग्रन्थ-काठिन्य विघटित कर दिया, ऐसे सज्जन विद्वान् ही मदुक्त तर्क की रस-उर्मी में मज्जन-सुख से प्रेम का लाभ करें।

कान्यकुब्ज देश के महाराज से जिन्हें दो बीड़े पान तथा उच्च आसन प्राप्त होता है, जो समाधि में आनन्द ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं तथा जिनका काव्य मधु-

१. शंका हो कि समाधि द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर तो उस व्यक्ति सारा कर्तव्य ही समाप्त हो जाता है। फिर वह ग्रन्थ-रचना कैसे करेगा? तो यह ठीक नहीं। समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला भले ही उस समय ग्रन्थ न रच पाये, किन्तु बाद में तो रच ही सकता है। ब्रह्मसाक्षात्कारी कुछ करता ही नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते। कारण जीवन्मुक्त लोग देवता और गुरु का आराधन करते पाये ही जाते हैं। आहार्य भेदज्ञान करके वे जैसा उन कामों को करते हैं, वैसे ही ग्रन्थ-रचना भी करें, तो कोई बाधा नहीं है।

इसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मसाक्षात्कार या अद्वैत-भावना के कारण श्रवण, मनन-निदिध्यासन आदि का चतुर्थाश्रमी (संन्यासी) को ही अधिकार है; श्रीहर्ष जैसे गृहस्थ यह नहीं कर सकते। कारण श्रवणादि के बिना गुरु और देवता के प्रसाद से भी मानव को अद्वैत-भावना हो सकती है। इसीलिए 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः…', 'शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः' इत्यादि श्रुतियाँ स्वरसतः संगत होती हैं। 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैत-वासना' आदि वचन भी स्पष्ट यही कहते हैं। चतुर्थाश्रम का साफल्य तो विशेष रूप से निवृत्ति-प्रियों के लिए ही हो सकता है। अतः उसका भी वैफल्य नहीं होगा।

यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याऽभ्युदीयादियम् ॥

इति कवितार्किकचक्रवर्ति-श्रीश्रीहर्षकृते खण्डनखण्डखाद्ये
सङ्कीर्णः तृतीयः परिच्छेदः ।

वर्षी है तथा तर्कों में जिनकी युक्तियाँ प्रतिवादियों को परास्त कर देती हैं उन श्री श्रीहर्ष कवि का यह ग्रन्थ पण्डितों के आनन्द के लिए प्रकट हुआ है ।

'गौरीशङ्कर'-श्रेष्ठिनाऽत्र 'खुरजा'रत्नेन काश्यां मुदा
'जोखीराम'पितामहस्य मटरूमल्ल'स्य तातस्य च ।
नामालङ्कृतनामसंस्कृतमहाविद्यालयः स्थापितः
तत्सेवाधिकृतः तदेककरणः 'चण्डीप्रसादो' द्विजः ॥ १ ॥

क्वाहं कुत्र च खण्डनस्य सुदृढग्रन्थिप्रमोकेच्छया,
प्रारम्भो विकटश्रमश्च जननीभाषानुवादस्य मे ।
यद्यप्येवमथापि पूर्णकृपया श्रीशस्य सङ्ख्यावतां
कारुण्यैकधियां विधाय करयोरेषोऽर्प्यते सादरम् ॥ २ ॥

स्वर्गीय श्रीचण्डीप्रसाद सुकुल-रचित खण्डनखण्डखाद्य का भाषानुवाद समाप्त ।



खण्डनखण्डखाद्य की अकाराद्यनुक्रमसहित कारिकाएँ

संख्या	कारिका	पृष्ठ-संख्या
१.	अथान्यः स विशेषश्चेत् तद्धीत्वं कश्चिदिष्यते । दत्तः साकारवादाय विष्टरः स्पष्टमेव तत् ॥	२१४
२.	अथोच्यते य एवार्थो यस्यां संविदि भासते । तद्वेद्यः स पृथक् नेति वेद्यावेद्यस्य लक्षणम् ॥	४६५
३.	अद्वैतागमनासीरे साधु सा भुन्वती परान् । सेवमेवार्जयत्यर्थापत्तिपत्तिपरम्परा ॥	७६
४.	अनौचित्याऽपि तर्केण दुर्बाधैवाद्वयश्रुतिः । अनारोपितमूलत्वाद् बलवत्त्वादतादृशा ॥	६१
५.	अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः । नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः ॥	१९
६.	अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका । पिनष्टि दृष्टवैषम्यं सैव, सर्वबलाधिका ॥	४२
७.	अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदव्यवस्थितौ । सत्यां स्यात्तद्व्यवस्थेति स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥	१३६
८.	अभीष्टसिद्धावपि खण्डनाना- मखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा । तत्तानि कस्मान्न यथाभिलाषं सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्वम् ॥	८२
९.	अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा । तथा चाऽऽद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वोपेक्ष्यवैशसात् ॥	६७
१०.	अर्थादुत्स्थास्नवो धर्मा नानुमात्वादयो यथा । तद्धीत्वमपि तद्वत् स्यादित्यर्थोऽनर्थमाविशेत् ॥	२१५

संख्या	कारिका	पृष्ठ-संख्या
११.	अविकल्पएकः स्थाणुः पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु । ईश्वरमुमंय परं वन्देऽनुमयाऽपि तमधिगतम् ॥	१
१२.	अविशिष्टाख्यि वैशिष्ट्ये यदि धीर्विशेत् । तद्बुद्धिधारान्तिः स्याद्वा मूलाविशिष्टता ॥	४३५
१३.	असंसर्गाग्रहस् मन्ता शंसत्यबाधिते । अत्यन्तासदसंगृह्णं संसर्गलग्नकम् ॥	६०
१४.	आगमेनानुमाने ध्यानात् प्रत्यक्षणेन च । त्रेधाऽऽत्मनि गाणानां संप्लवः स्वार्थमिष्यते ॥	२५०
१५.	आद्यधीवेद्यभेदीध्रन्यथानुपपन्नता । स्वज्ञानापेक्षणादन् बाधते नाद्वयश्रुतिम्	५९
१६	आपाततो दमद्वयवादिनीना- मद्वैतमाक्रमर्थतया श्रुतीनाम् । तत् स्वप्रकाशपर्थचिदेव भूत्वा निष्पीडितह ! निर्वहते विचारात् ॥	८१
१७.	आशामोदकतृप्ता ये चोपार्जितमोदकाः । रस-वीर्य-विपाकादि ल्यं तेषां प्रसज्यते ॥	२३
१८.	ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना । महाभयकृतत्राणा गाणां यदि जायते ॥	८१
१९.	उपपादयितुं स्तैर्मतैरशकनीययोः । अनिर्वक्तव्यतावाद-पादसेवतिस्तयोः ॥	२१५
२०.	एकोऽनेकविशेषेऽर्थे विषो यत्र लक्ष्यते । तद्विशेषान्तरान्यत्वात् षस्तत्रैव धावति ॥	१६३
२१.	एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान् गणयतः क्वचित् । आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥	६४
२२.	एतदेव परामृश्य भट्टैरिदमुदाहृतम् । लक्षणस्याभिधानं तु केनांशेनोपयुज्यते ॥	२४८
२३.	कथं सामान्यतो ज्ञाते नैव ज्ञाते विशेषतः । पद्वरोधस्त्वया कर्तुं शक्यः स्याददृयश्रुतेः ॥	६४

संख्या	कारिकाः	पृष्ठ-संख्या
२४.	गुरुर्धियमभावस्य स्थाने स्थानेऽक्तवान् । प्रसिद्ध एव लोकेऽस्मिन् बुद्धबन्धुःभाकरः ।	४३५
२५.	ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि नान्मया, प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन्ः खेलतु । श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः सादयत्, त्वेतत्तर्करसोर्मिमज्जनसुखेष्वासञ्जनं सज्जनः ॥	५८०
२६.	तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे । शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा ति मतिक्रिया ॥	५७९
२७.	तत्सहकप्रत्यभिज्ञानं यत्ते स्कारबोधकम् । सहकारि तदेवास्ताम्यातिप्रसङ्गनुत् ॥	११३
२८.	तथाहि मिथिलानाथो मुमुक्षुमः पुरा । आहेदं मिथिलादाहे न मे कञ्चन दह्यते ॥	१८६
२९.	तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न लु दुष्पठा । त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि ॥	२७१
३०.	ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्, यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम् । यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तु यस्योक्तयः, श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥	५८०
३१.	दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने । काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहि महिमाऽऽदृत ॥	५७२
३२.	धीधनाः ! बाधनायास्यास्तत प्रज्ञां प्रयच्छथ । क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥	८१
३३.	नातत्तन्मन्यसे तावन्न तत्तदपि मंस्यते । सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्ष्यते ॥	१३२
३४.	नात्यापत्त्य प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः । तद्धियस्तदुरीकारे स्वाश्रयं कश्चित्सतु ॥	२१४
३५.	नानात्वमवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि । असिद्धभेदाद् व्याघातः पतेदापादकात् कुतः ॥	६५

संख्या	कारिकाः	पृष्ठ-संख्या
३६.	पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः । बाधनादुपजीव्येन बिभेति न मनागपि ॥	८९२
३७	पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ । हेतुतत्त्वबहिर्भूत-सत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥	
३८	प्रत्येतव्यस्य वैचित्र्यं प्रत्ययोल्लेखसाक्षिकम् । धियं निवेश्य लुम्पद्भ्यो भङ्गं साक्ष्येव यच्छति ॥	४३४
३९.	प्रवृत्तेनाप्यनौचित्यमूलं येन न लूयते । तत्रानौचित्यसाम्राज्यं वैपरीत्यात्तु नात्र तत् ॥	६१
४०.	प्रश्नस्य यः स्याद्विषयः स वाच्यो वाचा तया चैष भवेन्निरुक्तः । इयं त्वयाऽप्यास्थितमेतयैव गिरा स्वपृच्छाविषयस्य वक्त्रा ॥	४१
४१.	प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत् । अनवस्थितिमाधातुरचिकित्स्या त्रिदोषता ॥	७४
४२.	प्राचोत्तरस्य नियमे प्राच एव न तेन किम् । अनाद्यनन्तयोर्नैवं विनिगन्ता प्रवाहयोः ॥	४४८
४३.	बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम् । क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम् ॥	१८६
४४.	मानापनोदनविनोदनते गिरीशे भासेव सङ्कुचितयोरुचितं तदिन्दोः । भेत्तुं भवानिशचितं दुरितं भवानि ! नम्रीभवानि घनमङ्घ्रिसरोजयोस्ते ॥	१
४५.	यथाविधं यं विषयं निजस्य प्रश्नस्य निर्वक्ति परो ययोक्त्या । वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनाऽपि तयैव वाचा स तथाविधोऽर्थः ॥	४१६
४६.	रूपान्तरेण निर्दिश्य तच्चेत्तदभिधीयते । ताद्रूप्येण तथापि स्यात् सैव सव्यभिचारता ॥	१३२

संख्या	कारिकाः	पृष्ठ-संख्या
४७.	वाच्यान्यथोपपत्तिर्वा त्याज्यो वा दृष्टताग्रहः । न ह्येकत्र समावेशश्छायातपवदेतयोः ॥	४२
४८.	विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं व्यतिरेकासमर्थनः । नैवं चेदपराद्धं ते किमन्यापोहवादिना ॥	२३९
४९.	व्याघातो यदि शङ्काऽस्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम् । व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः ॥	२७१
५०.	शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान् । धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ॥	२
५१.	समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः । का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥	२१५
५२.	सर्वत्र सत्ताऽसत्ता वा नियमेऽन्यानपेक्षया । नियामकाद्धि भावानां क्वाचित्कत्वस्य सम्भवः ॥	२४६
५३.	सुदूरधावनश्रान्ता- बाधबुद्धिपरम्परा । विनिवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पाष्णिग्राहैर्विजीयते ॥	५६
५४.	सोऽपि वा धीविशेषः किं स्वीकार्यस्तद्धियं विना । एवञ्च सोऽपि सोऽपीति नान्तः सोपानधावने ॥	२१५
५५.	हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षतयाऽऽस्थिते । किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः ॥	५९

खण्डन-खण्ड-खाद्य में उद्धृत वचनों का अनुक्रम

वचन	ग्रन्थ	ग्रन्थकार	पृष्ठ
१. अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे	श्लोकवा० (सू० २ का० ६)	श्रीकुमारिल	६०, ४२४
२. अधःशब्दनिगर्द्य किम्	पराशरस्मृति	श्रीपराशर	४५४
३. अन्ये परप्रयुक्तानाम्	श्लोकवा० (सू० ५,का०१४-२५)	श्रीकुमारिल	२७४
४. अप्रत्यक्षोपलम्भस्य	प्रमाणवार्तिक	श्रीधर्मकीर्ति	३१
५. अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा	प्रमाणवार्तिकालङ्कार	श्रीप्रज्ञाकर गुप्त	५३६
६. एकमेवाद्वितीयम्	छान्दोग्य-उप० (६।२।१)	×	४६
७. एकसाध्याविनाभावो	श्लोकवा० (बृहत्टीका)	श्रीकुमारिल	२७४
८. एवं त्रिचतुरजन्मनो	श्लोकवा० (सू०२, का० ६१)	,,	१५
९. तस्माद्बोधात्मकत्वेन	श्लोकवा० (सू०२, का० ५३)	,,	५६८
१०. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष०	न्यायसूत्र (१।१।२)	श्रीगौतम	५६३
११. द्वितीयाद्वै भयं भवति	बृहदा० (१।४।२)	×	७६
१२. नहि शास्त्राश्रया वादा	प्रमाणवार्तिक	श्रीधर्मकीर्ति	४०७
१३. निश्चितौ हि वादं कुरुतः	तात्पर्यटीका	श्रीवाचस्पति	३६५
१४. नेह नानाऽस्ति किञ्चन	बृहदा० (६।१।२१)	×	४६
१५. नैषा तर्केण मतिरापनेया	कठोप० (२।६)	×	८१
१६. परस्परविरोधे हि	कुसुमाञ्जलि (३।८)	श्रीउदयनाचार्य	४४,४२०
१७. प्रमाणवन्त्यदृष्टानि	तन्त्रवार्तिक (२।१।५)	श्रीकुमारिल	४१
१८. प्रमाणमविसंवादि	प्रमाणवार्तिक (१।३)	श्रीधर्मकीर्ति	१६४
१९. प्रत्यक्षावगतेऽपि दहने	तत्त्वोपप्लवसिंह	श्रीजयराशिभट्ट	२२४
२०. प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्	न्यायसूत्र (२।१।१६)	श्रीगौतम	३९६
२१. प्राग्दिशो विभक्तिः	अष्टाध्यायी (५।३।१)	श्रीपाणिनि	३००
२२. मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च	न्यायसूत्र (२।१।१२)	श्रीगौतम	१७५
२३. बुद्ध्या विवेचितानां तु	लङ्कावतारसूत्र (सगाथक, १६७)	श्रीबुद्धदेव	४२
२४. (अत्र ब्रूमो) य एवार्थो	प्रकरण-पञ्चिका (३)	श्रीशालिकनाथ	४६५
२५. यत्रानुकूलतर्को नास्ति	कुसुमाञ्जलि (६।७)	श्रीउदयन	३२७

२६. यत्रोभयोः समो दोषः	तन्त्रावार्तिक (शून्यवाद)	श्रीकुमारिल	३६३,५४४
२७. रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य	×	सौगत	४०७
२८. लक्षणस्याभिधानं तु	श्लोकवा० (४।२)	श्रीकुमारिल	२४८
२९. लब्धरूपं कचित्किञ्चित्	ब्रह्मसिद्धि (तर्क० २)	श्रीमण्डन मिश्र	५३६
३०. वर्णा (ते) विभक्त्यन्ताः	न्यायसूत्र (२।२।५६)	श्रीगौतम	३००
३१. वस्तुनः प्रतियोगिता	कुसुमाञ्जलि (३।२)	श्रीउदयन	५३६
३२. विभक्तिश्च	अष्टाध्यायी (१।४।१०४)	श्रीपाणिनि	३००
३३. विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य	सुभाषित	×	५७६
३४. सप्रयोजनमनुयुक्तो	न्यायभाष्य	श्रीवात्स्यायन	७
३५. सम्बद्धं वर्तमानं च	श्लोकवा० (४।८४)	श्रीकुमारिल	२३०
३६. समानमित्यनुच्चर०	न्यायवार्तिक (२।१।१६)	श्रीउद्योतकर	३६७
३७. सुप्तिङन्तं पदम्	अष्टाध्यायी (१।४।१४)	श्रीपाणिनि	३००
३८. स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य	गीता (२।४४)	श्रीवेदव्यास	८१

